श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

महर्षिवाल्मीकिप्रणीत

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण

(सचित्र, हिंदीभाषान्तरसहित)

प्रथम भाग

(बालकाण्डसे किष्किन्धाकाण्डतक)

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

नम्र निवेदन

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥
रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम् ।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ॥
वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना ॥

वेद जिस परमतत्त्वका वर्णन करते हैं, वही श्रीमन्नारायण-तत्त्व श्रीमद्रामायणमें श्रीरामरूपसे निरूपित है। वेदवेद्य परम-पुरुषोत्तमके दशरथनन्दन श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण होनेपर साक्षात् वेद ही श्रीवाल्मीकिके मुखसे श्रीरामायणरूपमें प्रकट हुए, ऐसी आस्तिकोंकी चिरकालसे मान्यता है। इसलिये श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी वेदतुल्य ही प्रतिष्ठा है। यों भी महर्षि वाल्मीकि आदिकवि हैं, अतः विश्वके समस्त कवियोंके गुरु हैं। उनका 'आदिकाव्य' श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण भूतलका प्रथम काव्य है। वह सभीके लिये पूज्य वस्तु है। भारतके लिये तो वह परम गौरवकी वस्तु है और देशकी सच्ची बहुमूल्य राष्ट्रीय निधि है। इस नाते भी वह सबके लिये संग्रह, पठन, मनन एवं श्रवण करनेकी वस्तु है। इसका एक-एक अक्षर महापातकका नाश करनेवाला है—

एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्।

यह समस्त काव्योंका बीज है—

'काव्यबीजं सनातनम्।'

(बृहद्धर्म० १ । ३० । ४७)

श्रीव्यासदेवादि सभी कवियोंने इसीका अध्ययन कर पुराण, महाभारतादिका निर्माण किया।[1] 'बृहद्धर्मपुराण'में यह बात विस्तारसे प्रतिपादित है। श्रीव्यासजीने अनेक पुराणोंमें रामायणका माहात्म्य गाया है। स्कन्दपुराणका रामायण-माहात्म्य तो इस ग्रन्थके आरम्भमें दिया ही है, कई छिट-पुट माहात्म्य अलग भी हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि व्यासजीने युधिष्ठिरके अनुरोधसे एक व्याख्या वाल्मीकिरामायणपर लिखी थी और उसकी एक हस्तलिखित प्रति अब भी प्राप्य है।[2] इसका नाम 'रामायणतात्पर्यदीपिका' है। इसका उल्लेख दीवानबहादुर रामशास्त्रीने अपनी पुस्तक 'स्टडीज़ इन रामायण'के द्वितीय खण्डमें किया है। यह पुस्तक १९४४ ई०में बड़ौदासे प्रकाशित है। द्रोणपर्वके १४३। ६६-६७ श्लोकोंमें महर्षि वाल्मीकिके युद्धकाण्डके ८१। २८ को नामोल्लेखपूर्वक श्लोक हवाला दिया गया है।[3] 'अग्निपुराण'के ५ से १३ तकके अध्यायोंमें 'वाल्मीकि'के नामोल्लेखपूर्वक रामायण-सारका वर्णन है। गरुडपुराण पूर्वखण्डके १४३वें अध्यायमें भी ठीक इन्हीं श्लोकोंमें रामायणसार कथन है। इसी प्रकार हरिवंश (विष्णुपर्व ९३ । ६-३३)में भी यदुवंशियोंद्वारा वाल्मीकिरामायणके नाटक खेलनेका उल्लेख है —

रामायणं महाकाव्यमुद्दिश्य नाटकं कृतम्।

श्रीव्यासदेवजीने वाल्मीकिकी जीवनी भी बड़ी श्रद्धासे 'स्कन्द-पुराण' वैष्णवखण्ड, वैशाखमाहात्म्य १७ से २० अध्यायोंतक, ('कल्याण सं० स्कन्दपुराणाङ्क पृ० ३७४से ३८१ तक), आवन्त्यखण्ड अवन्तीक्षेत्र माहात्म्यके २४वें अध्यायमें ('कल्याण' संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क पृ० ७०८—९), प्रभास-खण्डके २७८वें अध्यायमें (सं० स्कन्दपुराणाङ्क पृ० १०२५-७) तथा अध्यात्मरामायणके अयोध्याकाण्डमें (अ० ६ । ६४–९२) वर्णन किया है। मत्स्यपुराण १२ । ६१में वे इन्हें 'भार्गवसत्तम'से स्मरण करते हैं[4] और भागवत ५ । १८ । ५ में 'महायोगी'से।

इसी प्रकार कविकुलतिलक कालिदासने रघुवंशमें आदिकविको दो बार स्मरण किया है। एक तो—कविः कुशेध्माहरणाय यातः। निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोक-

---

१. (क) पठ रामायणं व्यास काव्यबीजं सनातनम्।
यत्र रामचरित्रं स्यात् तदहं तत्र शक्तिमान्॥
(बृहद्धर्मपुराण, प्रथम खण्ड ३० । ४७, ५१)

(ख) रामायणं पाठितं मे प्रसन्नोऽसि कृतस्त्वया।
करिष्यामि पुराणानि महाभारतमेव च॥
(बृहद्धर्मपुराण १ । ३० । ५५)

2—A curious Ms. is that of Rāmāyaṇa Tātparya-Dīpikā which is said to have been an exposition of the meaning of the Rāmāyaṇa by Vyāsa at the request of Yudhiṣṭhira.

(Studies in Rāmāyaṇa, Riddles of Rāmāyaṇa, By K. S. Ramshastri, Book II, P. I.)

३. यह श्लोक इस प्रकार है—

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यत्स्यात् कर्तव्यमेव तत्॥
(महा० उद्योग० १४३ । ६७-६८)

भट्टिकाव्यका १७ । २२ श्लोक भी इसीपर आधारित है।

४. वाल्मीकिर्यस्य चरितं चक्रे भार्गवसत्तमः।

त्वमापद्यत यस्य शोकः ॥' (१४ । ७०) इस श्लोकमें, दूसरे २ । ४ के 'पूर्वसूरिभिः' में । भवभूतिको करुणरसका आचार्य माना गया है, किंतु हम देखते हैं कि उन्हें इसकी शिक्षा आदिकविसे ही मिली है । वे भी उत्तररामचरितके दूसरे अङ्कमें 'वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि' 'मुनयस्तमेव हि पुराणब्रह्म-वादिनं प्राचेतसमृषिं··· उपासते' आदिसे उन्हींका स्मरण करते हैं । 'सुभाषितपद्धति'के निर्माता शार्ङ्गधर उनके इस ऋणको स्पष्ट व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

कवीन्द्रं नौमि वाल्मीकिं यस्य रामायणीकथाम् ।
चन्द्रिकामिव चिन्वन्ति चकोरा इव साधवः ॥

इसी तरह महाकवि भास, आचार्य शङ्कर, रामानुजादि सभी सम्प्रदायाचार्य, राजा भोज, शत्रुञ्जयमाहात्म्यकार आदि परवर्ती विद्वानोंसे लेकर हिंदीसाहित्यके प्राण गोस्वामी तुलसीदासजी-तकने 'बंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निर्मयउ' 'जान आदिकबि नामप्रतापू' 'बाल्मीकि भे ब्रह्म समाना' (रामचरितमानस), 'जहाँ बालमीकि भए व्याधतें मुनिंदु साधु 'मरा मरा' जपें सिख सुनि रिषि सातकी' (कवितावली उत्तरकाण्ड १३८ से १४०), 'कहत मुनीस महेस महातम उलटे सीधे नामको' 'महिमा उलटे नामकी मुनि कियो किरातो ।' (विनयपत्रिका १५१), 'उलटा जपत कोलते भए ऋषिराव' (बरवै रामा० ५४) 'राम बिहाइ मरा जपते बिगरी सुधरी कबि कोकिलहू की' (कवि० ७ । ८८) इत्यादि पदोंसे इनका बार बार श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है; कृतज्ञता-ज्ञापन की है ।

संक्षिप्त जीवनी

महर्षि वाल्मीकिजीको कुछ लोग निम्न जातिका बतलाते हैं । पर वाल्मीकिरामायण ७ । ९६ । १८; ७ । ९३ । १६; ७ । १११ । ११ तथा अध्यात्मरामायण ७ । ७ । ३१में इन्होंने स्वयं अपनेको प्रचेताका पुत्र कहा है ।* मनुस्मृति १ । ३५में 'प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च' प्रचेताको वशिष्ठ, नारद, पुलस्त्य, कवि आदिका भाई लिखा है । स्कन्दपुराणके वैशाख-माहात्म्यमें इन्हें जन्मान्तरका व्याध बतलाया है । इससे सिद्ध है कि जन्मान्तरमें ये व्याध थे । व्याध-जन्मके पहले भी स्तम्भ नामके श्रीवत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे । व्याध-जन्ममें शङ्ख ऋषिके सत्सङ्गसे, रामनामके जपसे ये दूसरे जन्ममें 'अग्निशर्मा' (मतान्तरसे रत्नाकर) हुए । वहाँ भी व्याधोंके सङ्गसे कुछ दिन प्राक्तन संस्कारवश व्याध-कर्ममें लगे । फिर, सप्तर्षियोंके सत्सङ्गसे मरा मरा जपकर—बाँबी पड़नेसे वाल्मीकि नामसे ख्यात हुए और वाल्मीकिरामायणकी रचना की । ('कल्याण' सं० स्कन्दपुराणाङ्क पृ० ३८१ । ७०१; १०२४); बंगलाके कृत्तिवास रामायण, मानस, अध्यात्मरामा० २ । ६ । ६४ से ९२, आनन्दरामायण राज्यकाण्ड १४ । २१–४९, भविष्य-पुराण प्रतिसर्ग० ४ । १० में भी यह कथा थोड़े हेर-फेरसे स्पष्ट है । गोस्वामी तुलसीदासजीने वस्तुतः यह कथा निराधार नहीं लिखी । अतएव इन्हें नीच जातिका मानना सर्वथा भ्रममूलक है ।

प्राचीन संस्कृत टीकाएँ

वाल्मीकिरामायणपर अगणित प्राचीन टीकाएँ हैं, यथा—१ कतक टीका (इसका नागोजी भट्ट तथा गोविन्द-राजादिने बहुत उल्लेख किया है), २—नागोजी भट्टकी तिलक, या रामाभिरामी व्याख्या, ३—गोविन्दराजकी भूषण टीका, ४—शिवसहायकी रामायण-शिरोमणि व्याख्या, (ये पूर्वोक्त तीनों टीकाएँ गुजराती प्रिंटिङ्ग प्रेस बम्बईसे एकमें ही छपी हैं ।) ५—माहेश्वर तीर्थकी तीर्थव्याख्या या तत्त्वदीप, ६—कन्दाल रामानुजकी रामानुजीयव्याख्या; (ये टीकाएँ वेंकटेश्वर प्रेस बम्बईसे छपी हैं), ७—वरदराजकृत विवेकतिलक, ८—त्र्यम्बकराज मखानीकी धर्माकूत व्याख्या (यह खण्डशः मद्रास एवं श्रीरङ्गम्से छपी है) और ९—रामानन्दतीर्थकी रामायणकूटव्याख्या । इसके अतिरिक्त चतुरर्थदीपिका, रामायणविरोधपरिहार, रामायणसेतु, तात्पर्यतरणि, शृङ्गार-सुधाकर, रामायणसप्तबिम्ब, मनोरमा आदि अनेक टीकाएँ हैं । 'रीडिंग्स इन रामायण'के अनुसार इतनी टीकाएँ और हैं—१ अहोबलकी 'वाल्मीकि-हृदय' (तनिश्लोकी) व्याख्या, उनके शिष्यकी विरोधभञ्जिनी टीका, माधवाचार्यकी रामायणतात्पर्य-निर्णय व्याख्या, श्रीअप्पय्य दीक्षितेन्द्रकी भी इसी नामकी एक अन्य व्याख्या (जिसमें उन्होंने रामायणको शिवपरक सिद्ध किया है), प्रबालमुकुन्दसूरिकी रामायणभूषण व्याख्या एवं श्रीरामभद्राश्रमकी सुबोधिनी टीका। डाक्टर एम० कृष्णमाचारीने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' में कई ऐसी टीकाओंका उल्लेख किया है, जिनके लेखकोंका पता नहीं है । उदाहरणार्थ—अमृतकतक, रामायणसारदीपिका, गुरुबाल-चित्तरञ्जिनी, विद्वन्मनोरञ्जिनी आदि । उन्होंने वरदराजाचार्यके रामायणसारसंग्रह, देवरामभट्टकी विषयपदार्थ-व्याख्या, नृसिंह शास्त्रीकी कल्पवल्लिका, वेंकटाचार्यकी रामायणार्थप्रकाशिका, वेंकटाचार्यके रामायणकथाविमर्श आदि

१. आदिकवि वाल्मीकि उस समय कुश, समिधा आदि लेने निकले थे । व्याधके द्वारा मारे गये क्रौञ्चको देखकर उन्हें बड़ा शोक हुआ और वही श्लोकरूपमें परिणत हो गया । 'ध्वन्यालोक'कार श्रीआनन्दवर्धनने भी इसीसे मिलते-जुलते शब्दोंमें कहा है—

'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ।'
(ध्वन्यालोक १ । ५)

वस्तुतः इन दोनों ही पद्योंका मूल स्वयं आदिकवि (वाल्मी० १ । २ । ४०) का ही श्लोक है, जो इस प्रकार है—

'सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ।'

* प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन ।

व्याख्याग्रन्थोंका भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कई टीकाएँ 'मध्वविलास' वाली प्रतिमें संग्रहीत हैं। ये सब तो ज्ञात संस्कृत व्याख्याएँ हैं। अज्ञात संस्कृत व्याख्याओं, हिंदीके अनेकानेक द्वैत, अद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैतादि मतावलम्बियों, आर्यसमाजकी व्याख्याओं, बंगला, मराठी, गुजराती आदि विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं तथा फ्रेंच, अंग्रेजी आदि अन्य विदेशी भाषाओंमें किये गये अनुवाद, टीका-टिप्पणियोंकी तो यहाँ कोई बात ही नहीं छेड़नी है; क्योंकि उनका अन्त ही नहीं होना है।

रामायणके काव्यगुण, अन्य विशेषताएँ

कुछ लोगोंने तो यहाँतक कहा है कि रामायणके लक्षणोंके आधारपर ही दण्डी आदिने काव्योंकी परिभाषा बतलायी। त्र्यम्बकराज मखिन्‌ने सुन्दरकाण्डकी व्याख्यामें प्रायः सभी श्लोकोंको अलंकार, रसादियुक्त मानकर काण्डनामकी सार्थकता दिखलायी है। वास्तवमें बात भी ऐसी ही है। सुन्दरका ५वाँ सर्ग तो नितान्त सुन्दर है ही, श्रीमखिन्‌ने सभीके उदाहरण भी दिये हैं। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आदिकविने किसी प्राचीन काव्यको बिना ही देखे, किसी ग्रन्थसे बिना ही सहारा लिये सर्वोत्तम काव्यका निर्माण किया। इनका प्राकृतिक चित्रण तो सुन्दर है ही, संवाद भी सर्वाधिक सुन्दर हैं। हनुमान्‌जीकी वार्तालापकुशलता सर्वत्र देखते बनती है। श्रीरामकी प्रतिपादन-शैली, दशरथजीकी सम्भाषणपद्धति, (अयोध्याकाण्ड २२ा सर्ग) किमधिकं कहीं-कहीं रावणका भी कथन (लङ्काकाण्ड १६वाँ सर्ग) बहुत सुन्दर है। इन्होंने ज्योतिष शास्त्रको भी परम प्रमाण माना है। त्रिजटाके स्वप्न, श्रीरामका यात्राकालिक मुहूर्तविचार, विभीषणद्वारा लङ्काके अपशकुनोंका प्रतिपादन (लङ्काकाण्ड१० वाँ सर्ग) आदि ज्योतिर्विज्ञानके ज्ञापक तथा समर्थक हैं। श्रीराम जब अयोध्यासे चलते हैं तो ९ ग्रह एकत्र हो जाते हैं*—इससे लङ्कायुद्ध होता है। दशरथजी श्रीरामसे ज्योतिषियोंद्वारा अपने अनिष्ट फलादेशकी बात बतलाते हैं। (अयोध्या० ४।१८)†। युद्धकाण्ड १०२।३२–३४ के श्लोकोंमें रावण-मरणके समयकी ग्रहस्थिति भी ध्येय है। युद्धकाण्ड ९१वें सर्गमें आयुर्वेद-विज्ञानकी बातें हैं। युद्ध० १८वें सर्ग तथा ६३।२ से २५ श्लोकतक राजनीतिकी अत्यन्त सारभूत अद्भुत बातें हैं। युद्धकाण्ड ७३।२४–२८ में तन्त्रशास्त्रकी भी प्रक्रियाएँ हैं। इसमें रावण तथा मेघनादको भारी तान्त्रिक दिखलाया गया है। मेघनादकी सब विजय तन्त्रमूलक है। जब वह जीवित कृष्णछागकी बलि देता है, तब तप्तकाञ्चनके तुल्य अग्निकी दक्षिणावर्त शिखाएँ उसे विजयसूचित करती हैं—'प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तकाञ्चनसंनिभः।' (६।७३।२३) रावण भी भारी तान्त्रिक है। उसकी ध्वजापर (कौल चिह्न) नरशिरकपाल—मनुष्यकी खोपड़ीका चिह्न था। (६।१००।१४) किंतु उसके पराभव आदिद्वारा ऋषि वाममार्गके इन बलि-मांस-सुरादि क्रियाओंकी असमीचीनता ही प्रदर्शित करते हैं। (गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'तजि श्रुति पंथ बाम मग चलहीं' (अयोध्या० १६८।७-८), 'कौल कामबस कृपन बिमूढ़ा' (लङ्का) आदिसे इसी बातका समर्थन किया है, भगवान् श्रीराम समयमार्गके उपासक दीखते हैं। इस तरह हमें महर्षिकी दृष्टिमें ज्योतिष, तन्त्र, आयुर्वेद, शकुन आदि शास्त्रोंकी प्राचीनता एवं समीचीनता ज्ञात होती है। वस्तुतः यही परम आस्तिककी दृष्टि होती है। धर्मशास्त्रके लिये तो यह ग्रन्थ परम प्रमाण है ही, अन्य ऐतिहासिक कथाएँ भी बहुत हैं, अर्थशास्त्रकी भी पर्याप्त सामग्री है। व्यवहार तथा आचारकी भी बातें हैं, कुशलमार्गका भी प्रदर्शन है।

पवित्र दार्शनिकता

महर्षि वाल्मीकिकी अद्भुत कविता एवं अन्यान्य महत्तामें उनकी तपस्या ही हेतु है। इसमें वाल्मीकिरामायण ही साक्षी है। 'तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्' से इस काव्यका 'तप' शब्दसे ही आरम्भ होता है और प्रथम अर्धालीमें ही दो बार 'तप' शब्द आया और 'तपस्वी' शब्दद्वारा महर्षिने एक प्रकारसे अपनी जीवनी भी लिख दी। तपद्वारा ही ब्रह्माजीका उन्होंने साक्षात् किया, रामायणकी दिव्य-काव्यताका आशीर्वाद लिया और रामचरित्रका दर्शन किया। बादमें विश्वामित्रके विचित्र तपका वर्णन, गङ्गाजी-के आगमनमें भगीरथकी अद्भुत तपस्या, चूली ऋषिकी तपस्या, भृगुकी तपस्या आदिका भी वर्णन है। इनके मतसे स्वर्गादि सभी सुखभोगोंका हेतु तप है। किमधिकं; रावणादि-के राज्य, सुख, शक्ति, आयु आदिका मूल भी तप है। श्रीराम भी शुद्ध तपस्वी हैं। वे तपस्वियोंके आश्रममें प्रवेश करते हैं। वहाँ वे वैखानस, बालखिल्य, सम्प्रक्षाल, मरीचिप (केवल चन्द्रकिरण पान करनेवाले), पत्राहारी, उन्मज्जक (सदा कण्ठतक पानीमें डूबकर तपस्या करनेवाले), पञ्चाग्निसेवी, वायुभक्षी, जलभक्षी, स्थण्डिलशायी, आकाशनिलयी एवं ऊर्ध्ववास (पर्वत, शिखर-वृक्ष, मचान आदिपर रहनेवाले) तपस्वियों-को देखते हैं। ये सभी जपमें लीन थे। (अरण्यकाण्ड ६ठा सर्ग) इनका जप सम्भवतः 'श्रीराम' मन्त्र रहा हो, क्योंकि इनमेंसे अधिकांश श्रीरामको देखते ही योगाग्निमें शरीर छोड़ देते हैं। वस्तुतः काव्यविधिसे कान्तासम्मित मधुर वाणीमें वाल्मीकिका यही दार्शनिक उपदेश है। उनका मूल तत्त्व इस प्रकार पवित्रतापूर्वक रहकर तपोऽनुष्ठान करते हुए ईश्वर-की आराधना करना एवं अधर्मसे सदा दूर रहना ही है।

---

* देखिये—दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः।
(अयोध्या० ४१। ११) पर तिलक तथा शिरोमणि-व्याख्या।

† अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः॥

श्रीरामकी परब्रह्मता

कुछ लोग रामायणमें नरचरित्र मानते हैं और श्रीरामके ईश्वरताप्रतिपादक (देखिये बालकाण्ड १५ से १८ सर्ग पुनः ७६।१७, १९; अयोध्या० १।७, अरण्य० ३।३७; सुन्दर० २१।२७।३१;५१।३८; युद्ध० ५९।११०; ९५।२५; पूरा १११ तथा ११७ वाँ सर्ग ११९।१८; ११९।३२ में सुस्पष्ट 'ब्रह्म' शब्द उत्तरका० ८।२६;५१।१२—२२; १०४।४ आदि। बङ्ग तथा पश्चिमी शाखामें भी ये सब श्लोक हैं, बल्कि कहीं-कहीं तो इससे भी अधिक है। हजारों वचनोंको प्रक्षिप्त मानते हैं। किंतु ध्यानसे पढ़नेपर श्रीरामकी ईश्वरता सर्वत्र दीखती है। गम्भीर चिन्तनके बाद तो प्रत्येक श्लोक ही श्रीरामकी अचिन्त्य शक्तिमत्ता, लोकोत्तर धर्मप्रियता, आश्रितवत्सलता एवं ईश्वरताका प्रतिपादक दीखता है। विभीषणशरणागतिके समय यद्यपि कोई भी ऐश्वर्यप्रदर्शक वचन नहीं आया, पर श्रीरामके अप्रतिम मार्दव, कपोतके आतिथ्यसत्कारके उदाहरण देने, परमर्षि कण्डुकी गाथा पढ़ने एवं अपने शरणमें आये समस्त प्राणियों-को* समस्त प्राणियोंसे अभयदान देनेके स्वाभाविक नियमको घोषित करनेके बाद प्रतिवादी सुग्रीवको विवश होकर कहना ही पड़ा कि 'धर्मज्ञ ! लोकनाथोंके शिरोमणि ! आपके इस कथनमें कोई आश्चर्य नहीं है; क्योंकि आप महान् शक्तिशाली एवं सत्पथपर आरूढ हैं—

> किमत्र चित्रं धर्मज्ञ लोकनाथशिखामणे।
> यत् त्वमार्यं प्रभाषेथाः सत्त्ववान् सत्पथे स्थितः॥
> (६ । १८ । ३६)

इसी प्रकार हनुमान्‌जीने सीताजीके सामने और रावणके सामने जो श्रीरामके गुण कहे हैं, उनमें उन्हें ईश्वर तो नहीं बतलाया, किंतु 'श्रीराममें यह सामर्थ्य है कि वे एक ही क्षणमें समस्त स्थावर-जंगमात्मक विश्वको संहृत कर दूसरे ही क्षण पुनः इस संसारका ज्यों-का-त्यों निर्माण कर सकते हैं, इस कथनमें क्या ईश्वरताका भाव स्पष्ट नहीं हो जाता ? कितनी स्पष्टता है—

> सत्यं राक्षसराजेन्द्र शृणुष्व वचनं मम।
> रामदासस्य दूतस्य वानरस्य विशेषतः॥
> सर्वांल्लोकान् सुसंहृत्य सभूतान् सचराचरान्।
> पुनरेव तथा स्रष्टुं शक्तो रामो महायशाः॥
> (वाल्मी० सुन्दरकाण्ड ५१ । ३८-३९)

सच्ची बात तो यह है कि तपस्वी वाल्मीकि 'राम' के ही जापक थे। (उनके 'मरा-मरा' जपनेकी कथाको भी बहुतोंने निर्मूल माना है, किंतु यह कथा अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड, आनन्दरामायण राज्यकाण्ड १४ तथा स्कन्दपुराणमें भी कई बार आती है, तुलसीदासजी आदिने भी लिखा है) इसीसे उन्हें तथा अन्योंको सारी सिद्धियाँ मिली थीं, अतः इसमें 'श्रीमन्नारायण' को ही काव्यरूपमें गाया है। अन्यथा तत्कालीन कन्द-मूल-फलाशी वनवासी सर्वथा निरपेक्ष तपस्वीको किसी राजाके चरित्र-वर्णनसे कोई लाभ न था। 'योगवासिष्ठ' में भी, जो उनकी दूसरी विशाल रचना है, उन्होंने गुप्तरूपसे श्रीरामका विस्तृत चरित्र गाया है। किंतु प्रथम अध्यायमें तथा अन्यत्र भी यत्र-तत्र उनके नारायणत्वका स्पष्ट प्रतिपादन कर ही दिया है। वस्तुतः प्रेमकी मधुरता उसकी गूढतामें ही है। देवताओंके सम्बन्धमें तो यह प्रसिद्धि भी है कि वे 'परोक्षप्रिय' होते हैं—'परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः' (ऐतरेय० १ । ३ । १४; बृहदा० ४ । २ । २) अतः महर्षिकी यह वर्णनप्रणाली गूढ़ प्रेमकी ही है, किंतु साधकके लिये वह सर्वत्र स्पष्ट ही है, तिरोहित नहीं है। इसपर प्रायः सैकड़ों संस्कृत व्याख्याएँ भी इसीके साक्षी हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि

वाल्मीकिका वर्णन आधुनिक ऐतिहासिक शैलीसे नहीं है, इसलिये लोग उसे इतिहासरूपमें स्वीकार नहीं करते। किंतु वाल्मीकिका संसार हजार, दो हजार वर्षोंका न था। फिर भला अरबों वर्षोंका इतिहास क्या आजके विकासके चश्मेसे पढ़ा जा सकता है ? ऐसी दशामें केवल उपयोगी व्यक्तियोंका इतिहास ही लाभदायक है। इसीलिये अपने यहाँ इतिहासकी परिभाषा ही दूसरी की गयी है—

> धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
> पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥
> (विष्णुधर्म० ३ । १५ । १)

और विस्तृत एवं दीर्घकालिक विश्वका इतिहास तो रामायण-महाभारतकी भाँति ही हो सकता है और धर्म, अर्थ, लोक-व्यवहार, परलोक-सुखकी दृष्टिसे वही लाभकर भी सिद्ध हो सकता है।

भौगोलिक विवरण

रामायणके भूगोलपर भी बहुत अनुसंधान हुआ है। 'कल्याण'का रामायणाङ्क, कनिङ्घमकी ऐन्शेन्ट डिक्शनरी, श्रीदेकी 'जागर फिकल डिक्शनरी' आदिमें इसपर बहुत अनुसंधान है। कई लोगोंने स्वतन्त्र लेख भी लिखे हैं। इसपर 'एशियाटिक सोसाइटी जर्नल'में पार्जीटरका एक महत्त्वपूर्ण लेख छपा था। 'वेद धरातल' (पं० गिरीशचन्द्र) में भी कुछ अच्छी सामग्री है। केवल 'लङ्का' पर ही कई प्रबन्ध हैं। 'सर्वेश्वर'के एक लेखमें 'मालदीप' को लङ्का सिद्ध किया है। कुछ लोग इसे ध्वस्त

* यहाँ 'सर्वभूतेभ्यः'में प्रायः सभी प्राचीन टीकाकारोंने चतुर्थी और पञ्चमी दोनों मानकर इस पदका दो बार अर्थ किया है।

मजित या दुर्जेय भी मानते हैं । वाल्मी० १ । ३२ की कौशाम्बी प्रयागसे १४ मील दक्षिण-पश्चिम कोसम गाँव है। धर्मारण्य आजकी गया है, 'महोदय' नगर कुशनाभकी कन्याओं-के कुब्ज होनेसे आगे चलकर कान्यकुब्ज, *पुनः कन्नौज हुआ, गिरिव्रज 'राजगिर' (बिहार) है । १ । २४ के मलद-करूप आरा जिलेके उत्तरी भाग हैं । कैकयदेश कुछ लोग 'गजनी' को और कुछ झेलम एवं कीकनाको कहते हैं । बालकाण्ड २ । ३,४ में आयी तमसा नदीपर वाल्मीकिजीका आश्रम था। यह उस तमसासे सर्वथा भिन्न है, जिसका उल्लेख गङ्गाके उत्तर तथा अयोध्याके दक्षिणमें मिलता है । वाल्मीकि-आश्रम-का उल्लेख २ । ५६ । १६ में भी आया है । पश्चिमोत्तरशाखीय रामायणके २ । ११४ में भी इस आश्रमका उल्लेख है। बी० एच्० वडेरने 'कल्याण' रामायणाङ्कके ४९६ पृष्ठपर इसे प्रयागसे २० मील दक्षिण लिखा है । सम्मेलनपत्रिका ४३ । २ के १३३ पृष्ठपर वाल्मीकि-आश्रम प्रयाग-झाँसीरोड और राजापुर-मानिकपुर रोडके सङ्गमपर स्थित बतलाया गया है । गोस्वामी तुलसीदासजीके मतसे इनका आश्रम 'बारिपुर दिगपुर बीच (बिलसतिभूमि), था । मूल गोसाईं-चरितकार 'दिगबारिपुरा बीच सीतामढ़ी' को वाल्मीकि-आश्रम मानते हैं। कुछ लोग कानपुरके बिठूरको भी वाल्मीकाश्रम मानते हैं ।† २ । ५६ । १६ की टीकामें कतक, तीर्थ, गोविन्दराज, शिरोमणिकार आदि इनका समाधान करते हुए लिखते हैं कि ऋषि प्रायः घूमते रहते थे । श्रीरामके वनवासके समय वे चित्रकूटके समीप तथा राज्यारोहणकालमें गङ्गातटपर (बिठूर) रहते थे । वाल्मी० ७ । ६६ । १ तथा ७ । ७१ । १४ से भी वाल्मीकाश्रम बिठूरमें ही सिद्ध होता है । अन्य विवरण प्रायः प्रस्तुत ग्रन्थकी टिप्पणियोंमें ही दिये गये हैं ।

रामायणमें राजनीति, मनोविज्ञान

वाल्मीकिकी राजनीति बहुत उच्च कोटिकी है । उसके सामने सभी राजनीतिक विचार तुच्छ प्रतीत होते हैं । हनुमान्-जी तो नीतिकी मूर्ति ही प्रतीत होते हैं । विभीषणके आनेपर श्रीराम सबसे सम्मति माँगते हैं । सुग्रीव कहते हैं कि यह शत्रु-का ही भाई है, पता नहीं क्यों अब अकस्मात् हमारी सेनामें प्रवेश पाना चाहता है । सम्भव है, अवसर पाकर उल्लू-जैसे कौओंका वध कर देता है, वैसे यह हमें भी मार डाले । प्रकृतिसे राक्षस है, इसका क्या विश्वास ! साथ ही नीति यह है कि मित्रकी भेजी हुई, मोल ली हुई तथा जंगली जातियोंकी भी सहायता ग्राह्य है, पर शत्रुकी सहायता तो सदा शङ्कनीय है । अङ्गदने भी प्रायः ऐसी ही बात कही । जाम्बवन्तने कहा कि हमें भी इसको अदेशकालमें आया देख बड़ी शङ्का हो रही है । शरभने कहा कि इसपर गुप्तचर छोड़ा जाय । अश्विपुत्र मैन्दने कहा कि इससे प्रश्न-प्रतिप्रश्न किये जायँ, जिसके उत्तरसे भाव जान लिये जायँगे ।

पर हनुमान्जीने इनका ऐसा खण्डन किया, जो आज भी अभूतपूर्व है । वे बोले—'प्रभो ! आपके समक्ष बृहस्पतिका भाषण भी तुच्छ है । पर आपकी आज्ञा शिरोधार्य है । मैं विवाद, तर्क, स्पर्धा आदिके कारण नहीं, कार्यकी गुरुताके कारण कुछ निवेदन करना चाहता हूँ ।

'आपके मन्त्रियोंमेंसे कुछने विभीषणके पीछे गुप्तचर लगानेकी राय दी है, पर गुप्तचर तो दूर रहनेवाले तथा 'अदृष्ट अज्ञातवृत्त' व्यक्तिके पीछे लगाया जाता है, यह तो प्रत्यक्ष ही सामने है, अपना नाम-काम भी स्वयं ही कह रहा है, यहाँ गुप्तचरका क्या उपयोग ? कुछ लोगोंने कहा है कि 'यह अदेशकालमें आया है,' किंतु मुझे तो लगता है कि यही इसके आनेका देशकाल है । आपके द्वारा वालीको मारा गया और सुग्रीवको अभिषिक्त सुनकर आपके परम शत्रु तथा वालीके मित्र रावणके संहारके लिये ही आया है । इससे प्रश्न करने-की बात भी दोषयुक्त दीखती है, क्योंकि उससे इसके मैत्री-भावमें बाधा पहुँचेगी और यह मित्रदूषित करनेका कार्य हो जायगा । यों तो आप कुछ भी बात करते समय इसके स्वर-भेद, आकार, मुखविक्रिया आदिसे इसकी मनःस्थिति भाँप ही लेंगे । सुतरां मैंने अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार यह कुछ निवेदन किया, प्रमाण तो स्वयं आप ही हैं । इसी तरह उनका लङ्काप्रवेशके बाद १३वें सर्गका विमर्श, सीतासे बात करनेके पहले, 'किस भाषामें किस प्रकार बात करूँ' इत्यादि परामर्श, पुनः सीतासे बातें कर वापस चलनेके समय दूतादिके कर्तव्य एवं लङ्काके बलाबलकी जानकारीके लिये किया गया ऊहापोह, सुग्रीव-को भोगलिप्त देखकर दिया गया परामर्श तथा रावणको जो उपदेश किया है, उसमें इनकी अपूर्व नीतिमत्ता, रामभक्ति, विचारप्रवणता, साधुता तथा अप्रतिम बुद्धिमत्ता प्रकट होती है । इन्हीं सब कारणोंसे उन्हें—**'बुद्धिमतां वरिष्ठम्'** कहा गया है । स्वयं श्रीराम भी बार-बार इनके भाषणचातुर्य, बुद्धि-कौशलपर चकित होते हैं । (किष्किन्धा० ४ । २५-३५; युद्धकाण्ड १) । श्रीरामकी नीतिमत्ता, साधुता, सद्गुण-सम्पन्नता तो सर्वोपरि है ही । श्रीलक्ष्मण भी कम नहीं हैं । वे मारीचको पहले ही राक्षस बतलाकर सावधान करते हैं । सीता-से बार-बार कहते हैं कि 'श्रीरामपर कोई संकट नहीं है, आप-पर ही संकट आया दीखता है । यह सब राक्षसोंकी माया है,'

---

* इसकी उत्पत्तिका एक दूसरी रोचक कथा 'कल्याण' वर्ष ३४ अङ्क १२के पृष्ठ १३८९ पर मेरे लेखमें देखें ।

† स्कन्दपुराण आवन्त्यखण्ड १ । २४में इनका आश्रम विदिशा (आजका भेलसा मध्यभारत) तथा भविष्यपुराण, प्रतिसर्गपर्व ४ । १० । ५४ में उत्पलारण्य-उत्पलावर्त (बिठूर, कानपुर) में माना है ।

इत्यादि। इसी प्रकार विभीषण आदिकी बातें भी स्थान-स्थान-पर देखते बनती हैं।

उपसंहार

इन सभी गुणोंके आकर होनेसे ही यह काव्य सर्वाधिक लोकप्रिय, अजर, अमर, दिव्य तथा कल्याणकर है। इसका प्रभाव अठारहों पुराणों, महाभारत, शत्रुंजयमाहात्म्य, रघुवंश, सेतुबन्ध, भट्टिकाव्य, महानाटक, अनर्घराघव, बालरामायण, कादम्बरी एवं बृहत्संहितापर सुस्पष्टरूपसे है। किंपधिकं संतोंके शब्दोंमें यह रामायण 'श्रीरामतनु' है। इसका पठन, मनन, अनुष्ठान साक्षात् प्रभु श्रीरामका संनिधान प्राप्त करना है।[२] हनुमान्‌जीकी प्रसन्नताके लिये इस श्रीरामचरितके गानसे बढ़कर दूसरा उपाय नहीं। (इसमें हनुमच्चरित्र भी निरुपम उज्ज्वल तथा दिव्य है।) इसलिये अनादि कालसे इसके श्रवण पठन-अनुष्ठानादिकी परम्परा है। रामलीलाका भी पहले यही आधार रहा। हम पहले यदुवंशियोंद्वारा हरिवंशमें वर्णित रामायण-नाटक खेलनेका उल्लेख कर चुके हैं। वहाँ इसका बड़ा रोचक वर्णन है। जब सुपुरमें इन्हें सफलता मिली तो वज्रनाभके वज्रपुरमें भी बुलाया गया। वहाँ इन्होंने लोमपादद्वारा श्रृंगऋषिका आनयन, पुनः दशरथ-यज्ञ, गङ्गावतरण एवं रम्भाभिसार आदि नाटक खेले।

रामायणं महाकाव्यमुद्दिश्य नाटकं कृतम्।
लोमपादो दशरथ ऋष्यश्रृङ्गं महामुनिम्॥
शान्तामप्यानयामास गणिकाभिः सहानघ।
(२। ९३। ८)

लयतालसमं श्रुत्वा गङ्गावतरणं शुभम्।
(२। ९३। २५)

यहाँ प्रद्युम्न, गद एवं साम्ब नान्दी बाजा बजा रहे थे। (नगाड़ोंकी ध्वनिको ही यहाँ नान्दी कहा गया है।) शूर नामके यादव ही 'रावण'का नाटक खेल रहे थे। (श्लोक २८) प्रद्युम्न नलकूबर बने और साम्ब विदूषक। इससे सिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्णके समयसे ही सफल रामलीला-कार्य आरम्भ था। यों तो 'खेलौं तहाँ बालकन मीला। करौं सदा रघुनायक लीला' से रामकथाकी तरह रामलीला आदिकी भी अनादिता सिद्ध है, तथापि इतिहासके विद्वानोंकी उत्सुकताके लिये यहाँ इस घटनाका उल्लेख कर दिया गया है। इसके बाद तो हनुमन्नाटक, प्रसन्न राघवनाटक, अनर्घराघव नाटक, महानाटक, बालरामायण नाटक आदि अगणित रामलीला-नाटक ग्रन्थ ही लिख डाले गये। इन सभी नाटकग्रन्थोंका एकमात्र आधार यह वाल्मीकि-रामायण ही रहा। इतना ही नहीं—इस वाल्मीकीय रामायण एवं रामकथाका प्रचार-विस्तार जावा, बाली आदि द्वीपोंतक हुआ। भारतमें इसके चार पाठ प्रचलित हैं। पश्चिमोत्तर शाखा (लाहौरका १९३१ का संस्करण), बंगशाखीय(Gorresio's edition-गोरेशियोका संस्करण), दाक्षिणात्य संस्करण, (गुजराती प्रिंटिङ्ग प्रेस बम्बईका तीन टीकावाला संस्करण तथा मध्वविलास बुकडिपो, कुम्भकोणमूका संस्करण) एवं उत्तर भारतका संस्करण (काश्मीरी संस्करण)। इनमें दाक्षिणात्य तथा औदीच्य संस्करण तो सर्वथा एक ही है। इनमें कहीं नाममात्रका भी अन्तर नहीं है। पश्चिम-पूर्ववालोंमें अध्यायोंका अन्तर है। पर उनपर कोई संस्कृत टीका नहीं मिलती। बंगशाखीयपर केवल एक लोकनाथरचित मनोरमा टीका मिलती है। इसलिये दाक्षिणात्य संस्करण (औदीच्य भी वही है ही)का ही सर्वत्र प्रचार तथा प्रामाण्य है। गीताप्रेससे भी जनताकी बहुत दिनोंसे इसकी माँग थी। अतः इसी दाक्षिणात्य पाठका टिप्पणियों तथा चित्रोंसहित शुद्ध सटीक एवं सस्ता संस्करण जनताकी सेवाके लिये प्रकाशित किया गया है। इसीके साथ एक सस्ता केवल मूलपाठका संस्करण भी प्रकाशित किया जा रहा है। केवल हिंदी जाननेवालोंके लिये अलगसे केवल हिंदीका ही एक सस्ता संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, सज्जनगण इनसे यथायोग्य लाभ उठायेंगे।

जानकीनाथ शर्मा

---

१. श्रीब्रह्माजी कहते हैं—

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति। यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति। (बाल० २। ३५-३६)

२. वाल्मीकीय रामायणके पठन, श्रवण एवं अनुष्ठानसे क्या लाभ हैं, इसे आगेके रामायणमाहात्म्य, युद्धकाण्डके १२८वें सर्गके १०४ से १२२ श्लोकोंतक अलगसे छपी हुई सुन्दरकाण्डकी भूमिका तथा बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्डके २५ से ३० अध्यायोंतक में देखना चाहिये।

श्रीहरिः

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी विषय-सूची

क—

(अयोध्याकाण्डम्)

(अरण्यकाण्डम्)

(किष्किन्धाकाण्डम्)

चित्र-सूची

(तिरंगा)

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी पाठविधि

वाल्मीकीय रामायणकी अनेक प्रकारकी पारायण-विधियाँ हैं। श्रीरामसेवाग्रन्थ, अनुष्ठानप्रकाश, स्कान्दोक्त रामायण-माहात्म्य, बृहद्धर्मपुराण तथा शाङ्कर, रामानुज, मध्व, रामानन्द आदि विभिन्न सम्प्रदायोंकी अलग-अलग विधियाँ हैं, यद्यपि उनका अन्तर साधारण है। इसी प्रकार इसके सकाम और निष्काम अनुष्ठानोंके भी भेद हैं। सबपर विस्तृत विचार यहाँ सम्भव नहीं। वाल्मीकीयके परम प्रसिद्ध नवाह्न-पारायणकी ही विधि यहाँ लिखी जा रही है।

चैत्र, माघ तथा कार्तिक शुक्ल पञ्चमीसे त्रयोदशीतक इसके नवाह्न-पारायणकी विधि है[1]। किसी पुण्यक्षेत्र, पवित्र तीर्थ, मन्दिरमें या अपने घरपर ही भगवान् विष्णु तथा तुलसीके संनिधानमें वाल्मीकि-रामायणका पाठ करना चाहिये। एतदर्थ यथासम्भव कथा-स्थानकी भूमिको संशोधन, मार्जन, लेपनादि संस्कारोंसे संस्कृतकर कदली-स्तम्भ तथा ध्वजा-पताका-वितानादिसे मण्डित कर देना चाहिये। मण्डपका मान १६ हाथ लंबा-चौड़ा हो और उसके बीचमें सर्वतोभद्रसे युक्त एक वेदी हो। अन्य वेदियाँ, कुण्ड तथा स्थण्डिल आदि भी हों। मण्डपके दक्षिण-पश्चिम भागमें वक्ता (व्यास) एवं श्रोता-का आसन हो। व्यासासनके आगे पुस्तकका आसन होना चाहिये। श्रोताओंका आसन विस्तृत हो। व्यासका आसन श्रोतासे तथा पुस्तकका आसन वक्तासे भी ऊँचा होना चाहिये।[2] फिर प्रायश्चित्त तथा नित्यकृत्य करके भगवान् श्रीरामकी प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये। अथवा पुस्तकपर ही सपरिकर सपरिच्छद श्रीसीतारामजीका अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्र, भगवती सीताजी, लक्ष्मणजी, भरतजी, शत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्जी आदिका आवाहन करना चाहिये। तत्पश्चात् समस्त उपकरणोंसे अलंकृत, पञ्चपल्लवादिसे युक्त कलश स्थापितकर स्वस्त्ययनपूर्वक गणपतिपूजन, वटुक, क्षेत्रपाल, योगिनी, मातृका, नवग्रह, तुलसी, लोकपाल, दिक्पाल आदिका पूजन तथा नान्दीश्राद्ध करके सपरिकर-सपरिच्छद भगवान् रामकी पूजा करे।

तदनन्तर काल-तिथि-गोत्र-नाम आदि बोलकर—

ॐ भूर्भुवः स्वरोम्। ममोपात्तदुरितक्षयपूर्वकं श्रीसीता-रामप्रीत्यर्थं श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेतश्रीरामचन्द्र-प्रसादसिद्ध्यर्थं च श्रीरामचन्द्रप्रसादेन सर्वाभीष्टसिद्ध्यर्थं श्री-रामचन्द्रपूजनमहं करिष्ये। श्रीवाल्मीकीयरामायणस्य पारायणं च करिष्ये, तदङ्गभूतं कलशस्थापनं स्वस्त्ययनपाठं गणपतिपूजनं वटुकक्षेत्रपालयोगिनीमातृकानवग्रहतुलसी-लोकपालदिक्पालादिपूजनं चाहं करिष्ये।

—इस प्रकार संकल्प करनेके बाद पूजन करे।

ॐ अच्युताय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ मधुसूदनाय नमः, ॐ हृषीकेशाय नमः, ॐ माधवाय नमः, ॐ त्रिविक्रमाय नमः, ॐ दामोदराय नमः, ॐ मुकुन्दाय नमः, ॐ वामनाय नमः, ॐ पद्मनाभाय नमः, ॐ केशवाय नमः, ॐ विष्णवे नमः, ॐ श्रीधराय नमः, ॐ श्रीसीतारामाभ्यां नमः।

इस प्रकार नमस्कार करके निम्न प्रकारसे पूजा करे—

श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेतं श्रीरामचन्द्रं ध्यायामि—भगवान् रामका ध्यान करे।

,, आवाहयामि—आवाहन करे।

श्रीसीतालक्ष्मणभरतशत्रुघ्नहनुमत्समेताय श्रीरामचन्द्राय नमः—रत्नसिंहासनं समर्पयामि—सिंहासन अर्पण करे।

,, पाद्यं समर्पयामि—पाद्य दे।

,, अर्घ्यं समर्पयामि—अर्घ्य दे।

,, स्नानीयं समर्पयामि—स्नान करावे।

,, आचमनीयं समर्पयामि—आचमन करावे।

,, वस्त्रं समर्पयामि—वस्त्र अर्पण करे।

,, यज्ञोपवीताभरणं समर्पयामि—यज्ञोपवीत-आभूषण दे।

,, गन्धान् समर्पयामि—चन्दन-कुङ्कुम लगावे।

,, अक्षतान् समर्पयामि—चावल चढ़ावे।

,, पुष्पाणि समर्पयामि—पुष्पमाला दे।

,, धूपमाघ्रापयामि—धूप दे।

,, दीपं दर्शयामि—दीपक दिखावे।

,, नैवेद्यं फलानि च समर्पयामि—नैवेद्य और फल अर्पण करे।

,, ताम्बूलं समर्पयामि—पान दे।

,, कर्पूरनीराजनं समर्पयामि—आरती करे।

,, छत्रचामरादि समर्पयामि—छत्र-चँवरादि अर्पण करे।

,, पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि—पुष्पाञ्जलि अर्पण करे।

,, प्रदक्षिणानमस्कारान् समर्पयामि—प्रदक्षिणा और नमस्कार करे।

---

१. चैत्रे माघे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत्।
नवाहं सुमहापुण्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः॥
पञ्चम्या दिनमारभ्य रामायणकथामृतम्।
नवाहश्रवणेनैव सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
(रामसेवाग्रन्थ)

२. श्रोतृभ्यश्च तथा वक्तुर्व्यासाद् ग्रन्थस्य चोच्चता।
(रामसेवाग्रन्थ)

तत्पश्चात् निम्न प्रकारसे पञ्चोपचारसे श्रीरामायण-ग्रन्थकी पूजा करे—

ॐ सदा श्रवणमात्रेण पापिनां सद्गतिप्रदे ।
शुभे रामकथे तुभ्यं गन्धमद्य समर्पये ॥
—इति गन्धं समर्पयामि ।

ॐ बालादिसप्तकाण्डेन सर्वलोकसुखप्रद ।
रामायण महोदार पुष्पं तेऽद्य समर्पये ॥
—इति पुष्पाणि पुष्पमालां च समर्पयामि ।

ॐ यस्यैकश्लोकपाठस्य फलं सर्वफलाधिकम् ।
तस्मै रामायणायाद्य दशाङ्गं धूपमर्पये ॥
—इति धूपमाघ्रापयामि ।

ॐ यस्य लोके प्रणेतारो वाल्मीक्यादिमहर्षयः ।
तस्मै रामचरित्राय घृतदीपं समर्पये ॥
—इति दीपं दर्शयामि ।

ॐ श्रूयते ब्रह्मणो लोके शतकोटिप्रविस्तरम् ।
रूपं रामायणस्यास्य तस्मै नैवेद्यमर्पये ॥
—इति नैवेद्यं समर्पयामि ।

पूजा करनेके बाद कर्पूरकी आरती करके चार बार प्रदक्षिणा कर पुष्पाञ्जलि अर्पण करे । फिर साष्टाङ्ग प्रणाम कर इस प्रकार नमस्कार करे—

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनाति भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥
श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसंकुलम् ।
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥

फिर देवता, ब्राह्मणादिकी पूजा कर पाठका संकल्प करके ऋष्यादिन्यास करे । अनुष्ठानप्रकाशके अनुसार कामनाभेदसे यदि पूरी रामायणका पाठ न हो सके तो अलग-अलग काण्डोंके अनुष्ठानकी भी विधि है । जैसे पुत्र-की कामनावाला बालकाण्ड पढ़े, लक्ष्मीकी इच्छावाला अयोध्या-काण्ड पढ़े । इसी प्रकार नष्टराज्यकी प्राप्तिकी इच्छावालोंको किष्किन्धाकाण्डका, सभी कामनाओंकी इच्छावालोंको सुन्दर-काण्डका और शत्रुनाशकी कामनावालोंको लङ्काकाण्डका पाठ करना चाहिये । 'बृहद्धर्मपुराण'के अनुसार इनका अन्य भी सकाम उपयोग है । वह तथा उसके न्यासादिका प्रकार आगे लिखा जायगा ।

ॐ अस्य श्रीवाल्मीकिरामायणमहामन्त्रस्य भगवान् वाल्मीकिर्ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीरामः परमात्मा देवता । अभयं सर्वभूतेभ्य इति बीजम् । अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिति शक्तिः । एतदस्त्रबलं दिव्यमिति कीलकम् । भगवान्नारायणो देव इति तत्त्वम् । धर्मात्मा सत्यसंधश्चेत्यस्त्रम् । पुरुषार्थचतुष्टय-सिद्ध्यर्थ पाठे विनियोगः ।

ॐ श्रीं रां आपदामपहर्तारमित्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ ह्रीं रीं दातारमिति तर्जनीभ्यां नमः । ॐ रों रूं सर्वसम्पदामिति मध्यमाभ्यां नमः ।
ॐ श्रीं रैं लोकाभिराममित्यनामिकाभ्यां नमः । ॐ श्रीं रौं श्रीराममिति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ रौं रः भूयो भूयो नमाम्यहमिति करतलकर-पृष्ठाभ्यां नमः ।

इन्हीं मन्त्रोंसे इसी प्रकार हृदयादि* न्यास करे । फिर—

ब्रह्मा स्वयम्भूर्भगवान् देवाश्चैव तपस्विनः ।
सिद्धिं दिशन्तु मे सर्वे देवाः सर्षिगणास्त्विह ॥

—इति दिग्बन्धः । यों कहकर चारों ओर हाथ घुमाके अन्तमें फिर इस प्रकार ध्यान करे—

वामे भूमिसुता पुरस्तु हनुमान् पश्चात् सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥
'आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥'

यह सम्पुटका मन्त्र है । इससे सम्पुटित पाठ करनेसे समस्त मनःकामनाओंकी सिद्धि होती है ।

फिर † निम्न प्रकारसे मङ्गलाचरण करके पाठ आरम्भ करना चाहिये—

---

* हृदयादि न्यासकी विधि यह है कि 'अङ्गुष्ठाभ्यां नमः' के स्थानपर 'हृदयाय नमः' कहकर पाँचों अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श किया जाय । 'तर्जनीभ्यां नमः'के स्थानपर 'शिरसे स्वाहा' कहकर सिरका अग्रभाग छुआ जाय । 'मध्यमाभ्यां नमः'के स्थानपर 'शिखायै वौषट्' कहकर शिखाका स्पर्श किया जाय । 'अनामिकाभ्यां नमः' के बदले 'कवचाय हुम्' कहकर दाहिने हाथसे बायें कंधे तथा बायें हाथसे दाहिने कंधेका स्पर्श करे । 'कनिष्ठिकाभ्यां नमः'के बदले 'नेत्रत्रयाय वौषट्' कहकर नेत्रोंका स्पर्श करे तथा 'करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः'के बदले 'अस्त्राय फट्' कहकर तीन बार ताली बजाये ।

† बृहद्धर्मपुराणके अनुसार रामायणके पारायणके पहले रामायण-कवचका भी पाठ कर लेना चाहिये । वह मङ्गलाचरणके पहले होना चाहिये । कम-से-कम प्रथम दिन इसका पाठ तो कर ही लेना चाहिये । कवच इस प्रकार है—

ॐ नमोऽष्टादशतत्त्वस्वरूपाय रामायणाय महामन्त्रस्वरूपाय । मा निषादेति मूलं शिरोऽवतु । अनुक्रमणिकाबीजं मुखमवतु । ऋष्य-शृङ्गोपाख्यानमृषिर्जिह्वामवतु । जानकीलाभोऽनुष्टुप्छन्दोऽवतु गलम् । केकय्याज्ञा देवता हृदयमवतु । सीतालक्ष्मणानुगमनश्रीरामहर्षाः प्रमाणं जठरमवतु । भगवच्छक्तिः शक्तिरवतु मे मध्यम् । शक्तिमान् धर्मो

गणपतिका ध्यान

शुक्लाम्बरधरं देवं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥
वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

गुरुकी वन्दना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

सरस्वतीका स्मरण

दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमक्षमालां दधाना
हस्तेनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।
भासा कुन्देन्दुशङ्खस्फटिकमणिनिभा भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥

वाल्मीकिजीकी वन्दना

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥
यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥

हनुमान्‌जीको नमस्कार

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥
अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम् ॥
उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥
आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥
यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ॥
मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥

श्रीरामके ध्यानका क्रम

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने संस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥
वामे भूमिसुता पुरस्तु हनुमान् पश्चात् सुमित्रासुतः
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु च ।
सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्
मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥

श्रीरामपरिकरको नमस्कार

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम् ।
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ॥
नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः॥

रामायणको नमस्कार

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥
वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामाम्भोनिधिसंगता ।
श्रीमद्रामायणी गङ्गा पुनाति भुवनत्रयम् ॥
वाल्मीकेर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।
शृण्वन् रामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥

पाठ आरम्भ करनेके बाद अध्यायके बीचमें रुकना नहीं चाहिये । रुक जानेपर फिर उसी अध्यायको आरम्भसे पढ़ना चाहिये । मध्यम स्वरसे, स्पष्ट उच्चारण करते हुए श्रद्धा तथा प्रेमसे पाठ करना चाहिये । गीत गाकर, सिर हिलाकर, जल्दबाजीसे तथा बिना अर्थ समझे पाठ करना ठीक नहीं है । संध्या-समय निम्नलिखित स्थलोंपर प्रतिदिन विश्राम करते जाना चाहिये ।

मुनीनां पालनं ममोरू रक्षतु । मारीचवचनं प्रतिपालनमवतु पादौ । सुग्रीवमैत्रमथोऽवतु स्तनौ । निर्णयो हनुमच्चेष्टावतु बाहू । कर्ता सम्पातिपक्षोद्गमोऽवतु स्कन्धौ । प्रयोजनं विभीषणराज्यं ग्रीवां ममावतु । रावणवधः स्वरूपमवतु कर्णौ । सीतोद्धारो लक्षणमवतु नासिके । अमोघस्तव संस्तवोऽवतु जीवात्मानम् । नयः काललक्षणसंवादोऽवतु नाभिम् । आचरणीयं श्रीरामादिधर्म सर्वाङ्गं ममावतु । इति रामायणेकवचम् ।

(बृहद्धर्मपुराणम् पूर्वखण्डम् २५वाँ अध्याय)

प्रथम दिन	अयोध्याकाण्डके	६ ठे सर्गकी	समाप्तिपर प्र०	विश्राम
द्वितीय ,,	,,	८०वें ,,	,, द्वितीय	,,
तृतीय ,,	अरण्यकाण्डके	२०वें ,,	,, तृतीय	,,
चतुर्थ ,,	किष्किन्धाकाण्डके	४६वें ,,	,, चतुर्थ	,,
पञ्चम ,,	सुन्दरकाण्डके	४७वें ,,	,, पञ्चम	,,
षष्ठ ,,	युद्धकाण्डके	५०वें ,,	,, षष्ठ	,,
सप्तम ,,	,,	९९वें ,,	,, सप्तम	,,
अष्टम ,,	उत्तरकाण्डके	३६वें ,,	,, अष्टम	,,

नवम ,, ,, अन्तिम सर्गके बाद पुनः युद्धकाण्डका अन्तिम सर्ग पढ़कर विश्राम करना चाहिये ।*

इसके अन्य भी विश्रामस्थल हैं । एक पारायण-क्रम ऐसा भी है, जिसमें उत्तरकाण्डका पाठ नहीं किया जाता । उसके विश्रामस्थल क्रमशः इस प्रकार हैं—

प्रथम	दिवस	बालकाण्डके	७७वें सर्गकी समाप्तिपर
द्वितीय	,,	अयोध्याकाण्डके	६०वें ,,
तृतीय	,,	,,	११९वें ,,
चतुर्थ	,,	अरण्यकाण्डके	६८वें ,,
पञ्चम	,,	किष्किन्धाकाण्डके	४९वें ,,
षष्ठ	,,	सुन्दरकाण्डके	५६वें ,,
सप्तम	,,	युद्धकाण्डके	५०वें ,,
अष्टम	,,	,,	१११वें ,,
नवम	,,	,,	१२८वें ,,

प्रतिदिन कथा-समाप्तिके समय निम्नाङ्कित श्लोकोंके द्वारा मङ्गलाशासन करके पारायण पूरा करे ।

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥
काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥
चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥
शृण्वन् रामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥
रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥
यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥
यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥
मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥
अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥
त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥
ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्याऽऽत्मना वा प्रकृतिस्वभावात् ।
करोमि यद् यत् सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पये तत् ॥

अलग-अलग काण्डोंके सकाम* पाठका ऋष्यादिन्यास इस प्रकार है—

---

* प्रथमे तु अयोध्यायाः षट्सर्गान्ते शुभा स्थितिः ।
तस्यैवाशीतिसर्गान्ते द्वितीये दिवसे स्थितिः ॥
तथा विंशतिसर्गान्ते चारण्यस्य तृतीयके ।
दिने चतुर्थे षट्चत्वारिंशत्सर्गे कथास्थितिः ॥
किष्किन्धाख्यस्य काण्डस्य पाठविद्भिरुदाहृता ।
सुसप्तचत्वारिंशत्के सर्गान्ते सुन्दरे स्थितिम् ॥
पञ्चमे दिवसे कुर्यादथ षष्ठे तथोच्यते ।
युद्धकाण्डस्य पञ्चाशत्सर्गान्ते विमला स्थितिः ॥
एकोनशतसंख्याके सर्गान्ते सप्तमे दिने ।
युद्धस्यैव तु काण्डस्य विश्रामः सम्प्रकीर्तितः ॥
तथा चोत्तरकाण्डस्य षट्त्रिंशत्सर्गपूरणे ।
अष्टमे दिवसे कृत्वा स्थितिं च नवमे दिने ॥
शेषं समाप्य युद्धस्य चान्त्यं सर्गं पुनः पठेत् ।
रामराज्यकथा यस्मिन् सर्ववाञ्छितदायिनी ॥
एवं पाठक्रमः पूर्वैराचार्यैश्च विनिर्मितः ।

(अनुष्ठानप्रकार)

* बृहद्धर्मपुराणमें अलग-अलग काण्डोंके पाठके प्रयोजन इस प्रकार बतलाये गये हैं—

अनावृष्टिर्महापीडाग्रहपीडाप्रपीडिताः ।
आदिकाण्डं पठेयुर्ये ते मुच्यन्ते ततो भयात् ॥
पुत्रजन्मविवाहादौ गुरुदर्शन एव च ।
पठेच्च शृणुयाच्चैव द्वितीयं काण्डमुत्तमम् ॥
वने राजकुले वह्निजलपीडायुतो नरः ।
पठेदारण्यकं काण्डं शृणुयाद् वा स मङ्गली ॥
मित्रलाभे तथा नष्टद्रव्यस्य च गवेषणे ।
[illegible] तत् फलं लभेत् ॥

बालकाण्डका विनियोग

ॐ अस्य श्रीबालकाण्डसहामन्त्रस्य ऋष्यश्रृङ्ग ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। दाशरथिः परमात्मा देवता। रां बीजम्। नमः शक्तिः। रामायेति कीलकम्। श्रीरामप्रीत्यर्थे बालकाण्डपारायणे विनियोगः।

अथ ऋष्यादिन्यास

ॐ ऋष्यश्रृङ्गऋषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे। ॐ दाशरथिपरमात्मदेवतायै नमः हृदि। ॐ रां बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ रामाय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ सुप्रसन्नाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ शान्तमनसे तर्जनीभ्यां नमः। ॐ सत्यसन्धाय मध्यमाभ्यां नमः। ॐ जितेन्द्रियाय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ धर्मज्ञाय नयसारज्ञाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ राज्ञे दाशरथये जयिने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

इन्हीं मन्त्रोंसे पूर्वोक्त प्रकारसे हृदयादि न्यास कर निम्न प्रकारसे ध्यान करे—

श्रीरामसाश्रितजनामरभूरुहेश-
मानन्दशुद्धमखिलामरवन्दिताङ्घ्रिम्।
सीताङ्गनासुमिलितं सततं सुमित्रा-
पुत्रान्वितं धृतधनुःशरमादिदेवम्॥

ॐ सुप्रसन्नः शान्तमनाः सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
धर्मज्ञो नयसारज्ञो राजा दाशरथिर्जयी॥

इस मन्त्रसे श्रीरामकी पूजा करे और इसीसे अथवा श्रीराम-मन्त्रसे सम्पुटित कर बालकाण्डका पाठ करे। इससे ग्रहशान्ति, ईति-भीति-शान्ति तथा पुत्रप्राप्ति सम्भव है।

अयोध्याकाण्डका विनियोग तथा ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीअयोध्याकाण्डमहामन्त्रस्य भगवान् वसिष्ठ ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। भरतो दाशरथिः परमात्मा देवता। भं बीजम्। नमः शक्तिः। भरतायेति कीलकम्। मम भरत-प्रसादसिद्ध्यर्थमयोध्याकाण्डपारायणे विनियोगः। ॐ वसिष्ठ-ऋषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुप् छन्दसे नमः मुखे। ॐ दाशरथिभरतपरमात्मदेवतायै नमः हृदि। ॐ भं बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ भरताय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ भरताय नमस्तस्मै—अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ सारज्ञाय तर्जनीभ्यां नमः। ॐ महात्मने मध्यमाभ्यां नमः। ॐ तापसाय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ अतिशान्ताय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ शत्रुघ्नसहिताय च करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

फिर इसी प्रकार हृदयादिका भी न्यास करके निम्नलिखित श्लोकानुसार ध्यान करना चाहिये—

श्रीरामपादद्वयपादुकान्तसंसक्तचित्तं कमलायताक्षम्।
श्यामं प्रसन्नवदनं कमलावदातशत्रुघ्नयुक्तमनिशं भरतं नमामि॥

भरताय नमस्तस्मै सारज्ञाय महात्मने।
तापसायातिशान्ताय शत्रुघ्नसहिताय च॥

इस मन्त्रसे पञ्चोपचारद्वारा भरतजीकी पूजा करे। चाहे तो इसी मन्त्रसे लक्ष्मी-प्राप्तिकी इच्छासे अयोध्याकाण्डका सम्पुटित पाठ करे।

अरण्यकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीमदरण्यकाण्डमहामन्त्रस्य भगवानृषिः। अनुष्टुप्छन्दः। श्रीरामो दाशरथिः परमात्मा महेन्द्रो देवता। ईं बीजम्। नमः शक्तिः। इन्द्रायेति कीलकम्। इन्द्रप्रसादसिद्ध्यर्थे अरण्यकाण्डपारायणे जपे विनियोगः। ॐ भगवदृषये नमः शिरसि। ॐ अनुष्टुप् छन्दसे नमः मुखे। ॐ दाशरथि-श्रीरामपरमात्मा महेन्द्रदेवतायै नमः हृदि। ॐ ईं बीजाय नमः गुह्ये। ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः। ॐ इन्द्राय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे।

करन्यास

ॐ सहस्रनयनाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ देवाय तर्जनीभ्यां नमः। ॐ सर्वदेवनमस्कृताय मध्यमाभ्यां नमः। ॐ दिव्य-वज्रधराय अनामिकाभ्यां नमः। ॐ महेन्द्राय कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ शचीपतये करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः।

इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस श्लोकसे ध्यान करना चाहिये।

शचीपतिं सर्वसुरेशवन्द्यं सर्वार्तिहर्तारमचिन्त्यशक्तिम्।
श्रीरामसेवानिरतं महान्तं वन्दे महेन्द्रं धृतवज्रमीड्यम्॥

फिर—

सहस्रनयनं देवं सर्वदेवनमस्कृतम्।
दिव्यवज्रधरं वन्दे महेन्द्रं च शचीपतिम्॥

इस मन्त्रसे इन्द्रकी पूजा करे और नष्ट द्रव्य-प्राप्ति आदिकी कामनासे इसीसे सम्पुटित कर पाठ करे।

किष्किन्धाकाण्डका ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीकिष्किन्धाकाण्डमहामन्त्रस्य भगवान् ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। सुग्रीवो देवता। सुं बीजम्। नमः शक्तिः।

श्राद्धेषु देवकार्येषु पठेत् सुन्दरकाण्डकम्।
शत्रोर्जये समुत्साहे जनवादे विगर्हिते॥
लङ्काकाण्डं पठेत् किं वा शृणुयात् स सुखी भवेत्।
यः पठेच्छृणुयाद् वापि काण्डमभ्युदयोत्तरम्।
आनन्दकार्ये यात्रायां स जयी परतोऽत्र च॥
मोक्षार्थी लभते मोक्षं भक्त्यर्थी भक्तिमेव च।
ज्ञानार्थी लभते ज्ञानं ब्रह्मतत्त्वोपलम्भकम्॥
(बृहद्धर्मपुराण पूर्वखण्ड अध्याय २६)

सुग्रीवेति कीलकम् । मम सुग्रीवप्रसादसिद्ध्यर्थे किष्किन्धाकाण्डपारायणे विनियोगः । ॐ भगवद्दषये नमः शिरसि । ॐ अनुष्टुप् छन्दसे नमः मुखे । ॐ सुग्रीवदेवतायै नमः हृदये । ॐ सुं बीजाय नमः गुह्ये । ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः । ॐ सुग्रीवाय कीलकाय नमः सर्वाङ्गे ।

करन्यास

ॐ सुग्रीवाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ सूर्यतनयाय तर्जनीभ्यां नमः । ॐ सर्ववानरपुङ्गवाय मध्यमाभ्यां नमः । ॐ बलवते अनामिकाभ्यां नमः । ॐ राघवसखाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ वशी राज्यं प्रयच्छतु इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान करे—

सुग्रीवमर्कतनयं कपिवर्यवन्द्य-
मारोपिताच्युतपदाम्बुजमादरेण ।
पाणिप्रहारकुशलं बलपौरुषाढ्य-
माशास्यदास्यनिपुणं हृदि भावयामि ॥

फिर सुं सुग्रीवाय नमः तथा—

सुग्रीवः सूर्यतनयः सर्ववानरपुङ्गवः ।
बलवान् राघवसखा वशी राज्यं प्रयच्छतु ॥

इस मन्त्रसे सुग्रीवकी पूजाकर—चाहे तो इसी श्लोकसे किष्किन्धाकाण्डका सम्पुटित पाठ करे ।

सुन्दरकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीमत्सुन्दरकाण्डमहामन्त्रस्य भगवान् हनुमान् ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीजगन्माता सीता देवता श्रीं बीजम् । स्वाहा शक्तिः । सीतायै कीलकम् । सीताप्रसादसिद्ध्यर्थं सुन्दरकाण्डपारायणे विनियोगः । ॐ भगवद्धनुमदृषये नमः शिरसि ।अनुष्टुप्छन्दसे नमः मुखे । श्रीजगन्मातृसीतादेवतायै नमः हृदि । श्रीं बीजाय नमः गुह्ये । स्वाहाशक्तये नमः पादयोः । सीतायै कीलकाय नमः सर्वाङ्गे ।

करन्यास

ॐ सीतायै अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ विदेहराजसुतायै तर्जनीभ्यां नमः । रामसुन्दर्यै मध्यमाभ्यां नमः । हनुमता समाश्रितायै अनामिकाभ्यां नमः । ॐ भूमिसुतायै कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ शरणं भजे करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

फिर इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान करे—

सीतामुदारचरितां विधिसाम्बविष्णु-
वन्द्यां त्रिलोकजननीं शतकल्पवल्लीम् ।
हेमैरनेकमणिरञ्जितकोटिभागै-
र्भूषाचयैरनुदिनं सहितां नमामि ॥

सुन्दरकाण्डके पाठकी विशेष विधि है कि प्रतिदिन एकोत्तरवृत्तिसे क्रमशः एक-एक सर्ग पाठ बढ़ाते हुए ग्यारहवें दिन पाठ समाप्त कर दे । १२ वें दिन अवशिष्ट दो सर्गके साथ आरम्भके १० सर्ग पढ़े जायँ, १३ वें दिन ११ से २३ तक इस तरह तीन आवृत्तिके पाठसे समस्त कार्यकी सिद्धि होती है । दूसरा क्रम है—प्रतिदिन ५ सर्ग पाठका । इसमें भी पूर्वकी भाँति १४ वें दिन अन्तके ३ तथा प्रारम्भके दो सर्गका पाठ करे । सम्पुट पाठका मन्त्र है—'श्रीसीतायै नमः ।'*

लङ्काकाण्डका विनियोग एवं ऋष्यादिन्यास

ॐ अस्य श्रीयुद्धकाण्डमहामन्त्रस्य विभीषण ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । विधाता देवता । बं बीजम् । नमः शक्तिः । विधातेति कीलकम् । श्रीधातृप्रसादसिद्ध्यर्थे युद्धकाण्डपारायणे विनियोगः । ॐ विभीषणऋषये नमः शिरसि । ॐ अनुष्टुप् छन्दसे नमः मुखे । ॐ विधातृदेवतायै नमः हृदि । ॐ बं बीजाय नमः गुह्ये । ॐ नमः शक्तये नमः पादयोः । ॐ विधातेति कीलकाय नमः सर्वाङ्गे ।

करन्यास

ॐ विधात्रे नमः अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ महादेवाय तर्जनीभ्यां नमः । ॐ भक्तानामभयप्रदाय मध्यमाभ्यां नमः । ॐ सर्वदेवप्रीतिकराय अनामिकाभ्यां नमः । ॐ भगवत्प्रियाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ ईश्वराय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

फिर इन्हीं मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

देवं विधातारमनन्तवीर्यं भक्ताभयं श्रीपरमादिदेवम् ।
सर्वामरप्रीतिकरं प्रशान्तं वन्दे सदा भूतपतिं सुभूतिम् ॥

फिर—

विधातारं महादेवं भक्तानामभयप्रदम् ।
सर्वदेवप्रीतिकरं भगवत्प्रियमीश्वरम् ॥

इस मन्त्रसे पञ्चोपचारद्वारा पूजाकर चाहे तो इसी मन्त्रसे सम्पुटित पाठ करे । इससे शत्रुपर विजय प्राप्त होती एवं अप्रतिष्ठा नष्ट होती है ।

पुनर्वसुसे प्रारम्भ कर आर्द्रातक २७ दिनोंमें भी पूर्ण रामायण-पाठकी विधि है । ४० दिनोंका भी एक पारायण होता है । नवरात्रमें भी इसके नवाह्नपाठका नियम है ।

---

* रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम । भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥
इस मन्त्रके सम्पुटसे सुन्दरकाण्डका पाठ भी किया जा सकता है ।

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमाहात्म्यम्

प्रथमोऽध्यायः

कलियुगकी स्थिति, कलिकालके मनुष्योंके उद्धारका उपाय, रामायणपाठ, उसकी महिमा, उसके श्रवणके लिये उत्तम काल आदिका वर्णन

श्रीरामः शरणं समस्तजगतां
रामं विना का गती
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं
रामाय कार्यं नमः।
रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगो
रामस्य सर्वं वशे
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे
राम त्वमेवाश्रयः * ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी समस्त संसारको शरण देनेवाले हैं। श्रीरामके बिना दूसरी कौन-सी गति है। श्रीराम कलियुगके समस्त दोषोंको नष्ट कर देते हैं; अतः श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार करना चाहिये। श्रीरामसे कालरूपी भयंकर सर्प भी डरता है। जगत्‌का सब कुछ भगवान् श्रीरामके वशमें है। श्रीराममें मेरी अखण्ड भक्ति बनी रहे। हे राम! आप ही मेरे आधार हैं ॥ १ ॥

चित्रकूटालयं राममिन्दिरानन्दमन्दिरम्।
वन्दे च परमानन्दं भक्तानामभयप्रदम् ॥ २ ॥

चित्रकूटमें निवास करनेवाले, भगवती लक्ष्मी (सीता) के आनन्दनिकेतन और भक्तोंको अभय देनेवाले परमानन्द-स्वरूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः।
नमामि देवं चिद्रूपं विशुद्धं परमं भजे ॥ ३ ॥

सम्पूर्ण जगत्‌के अभीष्ट मनोरथोंको सिद्ध करनेवाले (अथवा सृष्टि, पालन एवं संहारके द्वारा जगत्‌की व्यावहारिक सत्ताको सिद्ध करनेवाले), ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि देवता जिनके अभिन्न अंशमात्र हैं, उन परम विशुद्ध सच्चिदानन्दमय परमात्मदेव श्रीरामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ तथा उन्हींके भजन-चिन्तनमें मन लगाता हूँ ॥ ३ ॥

ऋषय ऊचुः

भगवन् सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं विदुषा त्वया।
संसारपाशबद्धानां दुःखानि सुबहूनि च ॥ ४ ॥

ऋषियोंने कहा—भगवन्! आप विद्वान् हैं, ज्ञानी हैं। हमने जो कुछ पूछा था, वह सब आपने हमें भलीभाँति बताया है। संसार-बन्धनमें बँधे हुए जीवोंके दुःख बहुत हैं ॥

एतत्संसारपाशस्यच्छेदकः कतमः स्मृतः।
कलौ वेदोक्तमार्गाश्च नश्यन्तीति त्वयोदिताः ॥ ५ ॥

इस संसारबन्धनका उच्छेद करनेवाला कौन है? आपने कहा है कि कलियुगमें वेदोक्त मार्ग नष्ट हो जायँगे ॥ ५ ॥

अधर्मनिरतानां च यातनाश्च प्रकीर्तिताः।
घोरे कलियुगे प्राप्ते वेदमार्गबहिष्कृते ॥ ६ ॥
पाखण्डत्वं प्रसिद्धं वै सर्वैश्च परिकीर्तितम्।

अधर्मपरायण पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली यातनाओंका भी आपने वर्णन किया है। घोर कलियुग आनेपर जब वेदोक्त मार्ग लुप्त हो जायँगे, उस समय पाखण्ड फैल जायगा—यह बात प्रसिद्ध है। प्रायः सभी लोगोंने ऐसी बात कही है ॥ ६½ ॥

कामार्त्ता ह्रस्वदेहाश्च लुब्धा अन्योन्यतत्पराः ॥ ७ ॥
कलौ सर्वे भविष्यन्ति स्वल्पायुर्बहुपुत्रकाः।

कलियुगके सभी लोग कामवेदनासे पीड़ित, नाटे शरीरके और लोभी होंगे तथा धर्म और ईश्वरका आश्रय छोड़कर आपसमें एक दूसरेपर ही निर्भर रहनेवाले होंगे। प्रायः सब लोग थोड़ी आयु और अधिक संतानवाले होंगे† ॥ ७½ ॥

स्त्रियः स्वपोषणपरा वेश्याचरणतत्पराः ॥ ८ ॥
पतिवाक्यमनादृत्य सदान्यगृहतत्पराः।
दुःशीलेषु करिष्यन्ति पुरुषेषु सदा स्पृहाम् ॥ ९ ॥

उस युगकी स्त्रियाँ अपने ही शरीरके पोषणमें तत्पर और वेश्याओंके समान आचरणमें प्रवृत्त होंगी। वे अपने पतिकी आज्ञाका अनादर करके सदा दूसरोंके घर जाया-आया करेंगी। दुराचारी पुरुषोंसे मिलनेकी सदैव अभिलाषा करेंगी ॥८-९॥

असद्वार्त्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः।
परुषानृतभाषिण्यो देहसंस्कारवर्जिताः ॥ १० ॥

उत्तम कुलकी स्त्रियाँ भी परपुरुषोंके निकट ओछी बातें करनेवाली होंगी, कठोर और असत्य बोलेंगी तथा शरीरको शुद्ध और सुसंस्कृत बनाये रखनेके सद्गुणोंसे वञ्चित होंगी ॥

वाचालाश्च भविष्यन्ति कलौ प्रायेण योषितः।
भिक्षवश्चापि मित्रादिस्नेहसम्बन्धयन्त्रिताः ॥ १[illegible]

कलियुगमें अधिकांश स्त्रियाँ वाचाल (व्यर्थ बक[illegible]

* इस श्लोकमें सम्बोधनसहित सभी विभक्तियोंमें 'राम' शब्दके रूप आ गये हैं।

† किसी-किसी प्रतिमें 'स्वल्पायुर्बहुपुत्रकाः' के स[illegible] 'स्वल्परायोर्बहुप्रजाः' पाठ है। इसके अनुसार कलियुगमें प्रायः[illegible] लोग थोड़े धन और अधिक संतानवाले होंगे; ऐसा अर्थ सम[illegible] चाहिये।

करनेवाली) होंगी । भिक्षासे जीवन-निर्वाह करनेवाले संन्यासी भी मित्र आदिके स्नेह-सम्बन्धमें बँधे रहनेवाले होंगे ॥ ११ ॥

अन्नोपाधिनिमित्तेन शिष्यान् बध्नन्ति लोलुपाः ।
उभाभ्यामपि पाणिभ्यां शिरःकण्डूयनं स्त्रियः ॥ १२ ॥
कुर्वन्त्यो गृहभर्तॄणामाज्ञां भेत्स्यन्त्यतन्द्रिताः ।

वे भोजनके लिये चिन्तित होनेके कारण लोभवश शिष्योंका संग्रह करेंगे । स्त्रियाँ दोनों हाथोंसे सिर खुजलाती हुई गृहपतिकी आज्ञाका जान-बूझकर उल्लङ्घन करेंगी ॥

पाखण्डालापनिरताः पाखण्डजनसङ्गिनः ॥ १३ ॥
यदा द्विजा भविष्यन्ति तदा वृद्धिं गतः कलिः ।

जब ब्राह्मण पाखण्डी लोगोंके साथ रहकर पाखण्डपूर्ण बातें करने लगें, तब जानना चाहिये कि कलियुग खूब बढ़ गया ॥ १३½ ॥

घोरे कलियुगे ब्रह्मन् जनानां पापकर्मिणाम् ॥ १४ ॥
मनःशुद्धिविहीनानां निष्कृतिश्च कथं भवेत् ।

ब्रह्मन् ! इस प्रकार घोर कलियुग आनेपर सदा पाप-परायण रहनेके कारण जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हो सकेगा, उन लोगोंकी मुक्ति कैसे होगी ? ॥ १४½ ॥

यथा तुष्यति देवेशो देवदेवो जगद्गुरुः ॥ १५ ॥
ततो वदस्व सर्वज्ञ सूत धर्मभृतां वर ।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ सर्वज्ञ सूतजी ! देवाधिदेव देवेश्वर जगद्गुरु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जिस प्रकार संतुष्ट हों, वह उपाय हमें बताइये ॥ १५½ ॥

वद सूत मुनिश्रेष्ठ सर्वमेतदशेषतः ॥ १६ ॥
कस्य नो जायते तुष्टिः सूत त्वद्वचनामृतात् ॥ १७ ॥

मुनिश्रेष्ठ सूतजी ! इन सारी बातोंपर आप पूर्णरूपसे प्रकाश डालिये । आपके वचनामृतका पान करनेसे किसको संतोष नहीं होता है ॥ १६-१७ ॥

सूत उवाच

शृणुध्वमृषयः सर्वे यदिष्टं वो वदाम्यहम् ।
...तं सनत्कुमाराय नारदेन महात्मना ॥ १८ ॥
...मायणं महाकाव्यं सर्ववेदेषु सम्मतम् ।
सर्वपापप्रशमनं दुष्टग्रहनिवारणम् ॥ १९ ॥

सूतजीने कहा—मुनिवरो ! आप सब लोग सुनिये । ...पको जो सुनना अभीष्ट है, वह मैं बताता हूँ । महात्मा ...रदजीने सनत्कुमारको जिस रामायण नामक महाकाव्यका ...न सुनाया था, वह समस्त पापोंका नाश और दुष्ट ग्रहोंकी ...का निवारण करनेवाला है । वह सम्पूर्ण वेदार्थोंकी ... अनुकूल है ॥ १८-१९ ॥

...तनाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ।
...द्रकथोपेतं सर्वकल्याणसिद्धिदम् ॥ २० ॥

...ससे समस्त दुःस्वप्नोंका नाश हो जाता है । वह ...दके योग्य तथा भोग और मोक्षरूप फल प्रदान ...रनेवाला है । उसमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी लीला-कथाका वर्णन है । वह काव्य अपने पाठक और श्रोताओंके लिये समस्त कल्याणमयी सिद्धियोंको देनेवाला है ॥ २० ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां हेतुभूतं महाफलम् ।
अपूर्वं पुण्यफलदं शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ २१ ॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंका साधक है, महान् फल देनेवाला है । यह अपूर्व काव्य पुण्यमय फल प्रदान करनेकी शक्ति रखता है । आपलोग एकाग्रचित्त होकर इसे श्रवण करें ॥ २१ ॥

महापातकयुक्तो वा युक्तो वा सर्वपातकैः ।
श्रुत्वैतदार्षं दिव्यं हि काव्यं शुद्धिमवाप्नुयात् ॥ २२ ॥
रामायणेन वर्तन्ते सुतरां ये जगद्धिताः ।
त एव कृतकृत्याश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ॥ २३ ॥

महान् पातकों अथवा सम्पूर्ण उपपातकोंसे युक्त मनुष्य भी उस ऋषिप्रणीत दिव्य काव्यका श्रवण करनेसे शुद्धि (अथवा सिद्धि) प्राप्त कर लेता है । सम्पूर्ण जगत्‌के हित-साधनमें लगे रहनेवाले जो मनुष्य सदा रामायणके अनुसार बर्ताव करते हैं, वे ही सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मको समझनेवाले और कृतार्थ हैं ॥ २२-२३ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां साधनं च द्विजोत्तमाः ।
श्रोतव्यं च सदा भक्त्या रामायणपरामृतम् ॥ २४ ॥

विप्रवरो ! रामायण धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन तथा परम अमृत-रूप है; अतः सदा भक्तिभावसे उसका श्रवण करना चाहिये ॥ २४ ॥

पुरार्जितानि पापानि नाशमायान्ति यस्य वै ।
रामायणे महाप्रीतिस्तस्य वै भवति ध्रुवम् ॥ २५ ॥

जिस मनुष्यके पूर्वजन्मोपार्जित सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, उसीका रामायणके प्रति अधिक प्रेम होता है । यह निश्चित बात है ॥ २५ ॥

रामायणे वर्तमाने पापपाशेन यन्त्रितः ।
अनादृत्य असद्गाथासक्तबुद्धिः प्रवर्तते ॥ २६ ॥

जो पापके बन्धनमें जकड़ा हुआ है, वह रामायणकी कथा आरम्भ होनेपर उसकी अवहेलना करके दूसरी-दूसरी निम्नकोटिकी बातोंमें फँस जाता है । उन असद्गाथाओंमें अपनी बुद्धिके आसक्त होनेके कारण वह तदनुरूप ही बर्ताव करने लगता है ॥ २६ ॥

रामायणं नाम परं तु काव्यं
सुपुण्यदं वै शृणुत द्विजेन्द्राः ।
यस्मिञ्छ्रुते जन्मजरादिनाशो
भवत्यदोषः स नरोऽच्युतः स्यात् ॥ २७ ॥

इसलिये द्विजेन्द्रगण ! आपलोग रामायण नामक परम पुण्यदायक उत्तम काव्यका श्रवण करें; जिसके सुननेसे जन्म, जरा और मृत्युके भयका नाश हो जाता है तथा श्रवण करने-वाला मनुष्य पाप-दोषसे रहित हो अच्युतस्वरूप हो जाता है ॥ २७ ॥

वरं वरेण्यं वरदं तु काव्यं
संतारयत्याशु च सर्वलोकम्।
संकल्पितार्थप्रदमादिकाव्यं
श्रुत्वा च रामस्य पदं प्रयाति ॥ २८ ॥

रामायण काव्य अत्यन्त उत्तम, वरणीय और मनोवाञ्छित वर देनेवाला है। वह उसका पाठ और श्रवण करनेवाले समस्त जगत्‌को शीघ्र ही संसारसागरसे पार कर देता है। उस आदिकाव्यको सुनकर मनुष्य श्रीरामचन्द्रजीके परमपदको प्राप्त कर लेता है॥

ब्रह्मेशविष्ण्वाख्यशरीरभेदै-
र्विश्वं सृजत्यत्ति च पाति यश्च।
तमादिदेवं परमं वरेण्य-
माधाय चेतस्युपयाति मुक्तिम् ॥ २९ ॥

जो ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु नामक भिन्न-भिन्न रूप धारण करके विश्वकी सृष्टि, संहार और पालन करते हैं, उन आदिदेव परमोत्कृष्ट परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीको अपने हृदय-मन्दिरमें स्थापित करके मनुष्य मोक्षका भागी होता है ॥२९॥

यो नामजात्यादिविकल्पहीनः
परावराणां परमः परः स्यात्।
वेदान्तवेद्यः स्वरुचा प्रकाशः
स वीक्ष्यते सर्वपुराणवेदैः ॥ ३० ॥

जो नाम तथा जाति आदि विकल्पोंसे रहित, कार्य-कारणसे परे, सर्वोत्कृष्ट, वेदान्त शास्त्रके द्वारा जाननेयोग्य एवं अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला परमात्मा है, उसका समस्त वेदों और पुराणोंके द्वारा साक्षात्कार होता है (इस रामायणके अनुशीलनसे भी उसीकी प्राप्ति होती है।)॥ ३०॥

ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः।
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ३१ ॥

विप्रवरो ! कार्तिक, माघ और चैत्रमासके शुक्ल पक्षमें नौ दिनोंमें रामायणकी अमृतमयी कथाका श्रवण करना चाहिये॥

इत्येवं शृणुयाद् यस्तु श्रीरामचरितं शुभम्।
सर्वान् कामानवाप्नोति परत्रामुत्र चोत्तमान् ॥ ३२ ॥

जो इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके मङ्गलमय चरित्रका श्रवण करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी अपनी समस्त उत्तम कामनाओंको प्राप्त कर लेता है ॥ ३२ ॥

त्रिसप्तकुलसंयुक्तः सर्वपापविवर्जितः।
प्रयाति रामभवनं यत्र गत्वा न शोचते ॥ ३३ ॥

वह सब पापोंसे मुक्त हो अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके साथ श्रीरामचन्द्रजीके उस परमधाममें चला जाता है, जहाँ जाकर मनुष्यको कभी शोक नहीं करना पड़ता है ॥ ३३ ॥

चैत्रे माघे कार्तिके च सिते पक्षे च वाचयेत्।
नवाहस्सु महापुण्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३४ ॥

चैत्र, माघ और कार्तिकके शुक्लपक्षमें परम पुण्यमय रामायण-कथाका नवाह-पारायण करना चाहिये तथा नौ दिनों-तक इसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये ॥ ३४ ॥

रामायणमादिकाव्यं स्वर्गमोक्षप्रदायकम्।
तस्माद् घोरे कलियुगे सर्वधर्मबहिष्कृते ॥ ३५ ॥
नवभिर्दिनैः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम्।

रामायण आदिकाव्य है। यह स्वर्ग और मोक्ष देनेवाला है, अतः सम्पूर्ण धर्मोंसे रहित घोर कलियुग आनेपर नौ दिनोंमें रामायणकी अमृतमयी कथाको श्रवण करना चाहिये ॥३५½॥

रामनामपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ॥ ३६ ॥
त एव कृतकृत्याश्च न कलिर्बाधते हि तान्।

ब्राह्मणो ! जो लोग भयंकर कलिकालमें श्रीरामनामका आश्रय लेते हैं, वे ही कृतार्थ होते हैं। कलियुग उन्हें बाधा नहीं पहुँचाता ॥ ३६½ ॥

कथा रामायणस्यापि नित्यं भवति यद्गृहे ॥ ३७ ॥
तद् गृहं तीर्थरूपं हि दुष्टानां पापनाशनम्।

जिस घरमें प्रतिदिन रामायणकी कथा होती है, वह तीर्थरूप हो जाता है। वहाँ जानेसे दुष्टोंके पापोंका नाश होता है ॥३७½॥

तावत्पापानि देहेऽस्मिन् निवसन्ति तपोधनाः ॥ ३८ ॥
यावन्न श्रूयते सम्यक् श्रीमद्रामायणं नरैः।

तपोधनो ! इस शरीरमें तभीतक पाप रहते हैं, जबतक मनुष्य श्रीरामायणकथाका भलीभाँति श्रवण नहीं करता ॥३८½॥

दुर्लभैव कथा लोके श्रीमद्रामायणोद्भवा ॥ ३९ ॥
कोटिजन्मसमुत्थेन पुण्येनैव तु लभ्यते।

संसारमें श्रीरामायणकी कथा परम दुर्लभ ही है। जब करोड़ों जन्मोंके पुण्योंका उदय होता है, तभी उसकी प्राप्ति होती है॥३९½॥

ऊर्जे माघे सिते पक्षे चैत्रे च द्विजसत्तमाः ॥ ४० ॥
यस्य श्रवणमात्रेण सौदासोऽपि विमोचितः।

श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! कार्तिक, माघ और चैत्रके शुक्लपक्षमें रामायणके श्रवणमात्रसे (राक्षसभावापन्न) सौदास भी शापमुक्त हो गये थे ॥ ४०½ ॥

गौतमशापतः प्राप्तः सौदासो राक्षसीं तनुम् ॥ ४१ ॥
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवान् पुनः।

सौदासने महर्षि गौतमके शापसे राक्षस-शरीर प्राप्त किया था। वे रामायणके प्रभावसे ही पुनः उस शाप[से] छुटकारा पा सके थे ॥ ४१½ ॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद् भक्त्या रामभक्तिपरायणः ॥ ४२ ॥
स मुच्यते महापापैः पुरुषः पातकादिभिः ॥ ४३ ॥

जो पुरुष श्रीरामचन्द्रजीकी भक्तिका आश्रय ले प्रे[मसे] इस कथाका श्रवण करता है, वह बड़े-बड़े पापों तथा [पातक] आदिसे मुक्त हो जाता है ॥ ४२-४३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये कल्पानुकीर्तनं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमार-संवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यविषयक कल्पका अनुकीर्तन नामक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः

नारद-सनत्कुमार-संवाद, सुदास या सोमदत्त नामक ब्राह्मणको राक्षसत्वकी प्राप्ति तथा रामायण-कथा-श्रवणद्वारा उससे उद्धार

ऋषय ऊचुः

कथं सनत्कुमाराय देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
प्रोक्तवान् सकलान् धर्मान् कथं तौ मिलितावुभौ ॥ १ ॥
कस्मिन् क्षेत्रे स्थितौ तात तावुभौ ब्रह्मवादिनौ ।
यदुक्तं नारदेनास्मै तत् त्वं ब्रूहि महामुने ॥ २ ॥

ऋषियोंने पूछा—महामुने ! देवर्षि नारदमुनिने सनत्कुमारजीसे रामायणसम्बन्धी सम्पूर्ण धर्मोंका किस प्रकार वर्णन किया था ? उन दोनों ब्रह्मवादी महात्माओंका किस क्षेत्रमें मिलन हुआ था ? तात ! वे दोनों कहाँ ठहरे थे ? नारदजीने उनसे जो कुछ कहा था, वह सब आप हमलोगोंको बताइये ॥ १-२ ॥

सूत उवाच

सनकाद्या महात्मानो ब्रह्मणस्तनयाः स्मृताः ।
निर्ममा निरहंकाराः सर्वे ते ह्यूर्ध्वरेतसः ॥ ३ ॥

सूतजीने कहा—मुनिवरो ! सनकादि महात्मा भगवान् ब्रह्माजीके पुत्र माने गये हैं । उनमें ममता और अहङ्कारका तो नाम भी नहीं है । वे सब-के-सब ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) हैं ॥ ३ ॥

तेषां नामानि वक्ष्यामि सनकश्च सनन्दनः ।
सनत्कुमारश्च तथा सनातन इति स्मृतः ॥ ४ ॥

मैं आपलोगोंसे उनके नाम बताता हूँ, सुनिये । सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन—ये चारों सनकादि माने गये हैं ॥ ४ ॥

विष्णुभक्ता महात्मानो ब्रह्मध्यानपरायणाः ।
सहस्रसूर्यसंकाशाः सत्यवन्तो मुमुक्षवः ॥ ५ ॥

वे भगवान् विष्णुके भक्त और महात्मा हैं । सदा ब्रह्मके चिन्तनमें लगे रहते हैं । बड़े सत्यवादी हैं । सहस्रों सूर्योंके समान तेजस्वी एवं मोक्षके अभिलाषी हैं ॥ ५ ॥

एकदा ब्रह्मणः पुत्राः सनकाद्या महौजसः ।
मेरुशृङ्गे समाजग्मुर्वीक्षितुं ब्रह्मणः सभाम् ॥ ६ ॥

एक दिन वे महातेजस्वी ब्रह्मपुत्र सनकादि ब्रह्माजीकी सभा देखनेके लिये मेरु पर्वतके शिखरपर गये ॥ ६ ॥

तत्र गङ्गां महापुण्यां विष्णुपादोद्भवां नदीम् ।
निरीक्ष्य स्नातुमुद्युक्ताः सीताख्यां प्रथितौजसः ॥ ७ ॥

वहाँ भगवान् विष्णुके चरणोंसे प्रकट हुई परम पुण्यमयी नदी, जिन्हें सीता भी कहते हैं, बह रही थीं । उनका दर्शन करके वे तेजस्वी महात्मा उनके जलमें स्नान करनेको उद्यत हुए ॥ ७ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विप्रा देवर्षिर्नारदो मुनिः ।
आजगामोच्चरन् नाम हरेर्नारायणादिकम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मणो ! इतनेमें ही देवर्षि नारदमुनि भगवान्के नारायण आदि नामोंका उच्चारण करते हुए वहाँ आ पहुँचे ॥ ८ ॥

नारायणाच्युतानन्त वासुदेव जनार्दन ।
यज्ञेश यज्ञपुरुष राम विष्णो नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥
इत्युच्चरन् हरेर्नाम पावयन्नखिलं जगत् ।
आजगाम स्तुवन् गङ्गां मुनिर्लोकैकपावनीम् ॥ १० ॥

वे 'नारायण ! अच्युत ! अनन्त ! वासुदेव ! जनार्दन ! यज्ञेश ! यज्ञपुरुष ! राम ! विष्णो ! आपको नमस्कार है ।' इस प्रकार भगवन्नामका उच्चारण करके सम्पूर्ण जगत्को पवित्र बनाते और एकमात्र लोकपावनी गङ्गाकी स्तुति करते हुए वहाँ आये ॥ ९-१० ॥

अथायान्तं समुद्वीक्ष्य सनकाद्या महौजसः ।
यथार्हमर्हणं चक्रुर्ववन्दे सोऽपि तान् मुनीन् ॥ ११ ॥

उन्हें आते देख महातेजस्वी सनकादि मुनियोंने उनकी यथोचित पूजा की तथा नारदजीने भी उन मुनियोंको मस्तक झुकाया ॥ ११ ॥

अथ तत्र सभामध्ये नारायणपरायणम् ।
सनत्कुमारः प्रोवाच नारदं मुनिपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर वहाँ मुनियोंकी सभामें सनत्कुमारजीने भगवान् नारायणके परम भक्त मुनिवर नारदसे इस प्रकार कहा ॥ १२ ॥

सनत्कुमार उवाच

सर्वज्ञोऽसि महाप्राज्ञ मुनीशानां च नारद ।
हरिभक्तिपरो यस्मात्त्वत्तो नास्त्यपरोऽधिकः ॥ १३ ॥

सनत्कुमार बोले—महाप्राज्ञ नारदजी ! आप समस्त मुनीश्वरोंमें सर्वज्ञ हैं । सदा श्रीहरिकी भक्तिमें तत्पर रहते हैं, अतः आपसे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

येनेदमखिलं जातं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
गङ्गा पादोद्भवा यस्य कथं स ज्ञायते हरिः ॥ १४ ॥
अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ।

इसलिये मैं पूछता हूँ, जिनसे समस्त चराचर जगत्की उत्पत्ति हुई है तथा ये गङ्गाजी जिनके चरणोंसे प्रकट हुई हैं, उन श्रीहरिके स्वरूपका ज्ञान कैसे होता है ? यदि आपकी हमलोगोंपर कृपा हो तो हमारे इस प्रश्नका यथार्थरूपसे विवेचन कीजिये ॥ १४½ ॥

नारद उवाच

नमः पराय देवाय परात्परतराय च ॥ १५ ॥
परात्परनिवासाय सगुणायागुणाय च ।

नारदजीने कहा—जो परसे भी परतर हैं, उन परमदेव श्रीरामको नमस्कार है । जिनका निवास-स्थान (परमधाम) उत्कृष्टसे भी उत्कृष्ट है तथा जो सगुण और निर्गुणरूप हैं, उन श्रीरामको मेरा नमस्कार है ॥ १५½ ॥

ज्ञानाज्ञानस्वरूपाय धर्माधर्मस्वरूपिणे ॥ १६ ॥
विद्याविद्यास्वरूपाय स्वस्वरूपाय ते नमः ।

ज्ञान-अज्ञान, धर्म-अधर्म तथा विद्या और अविद्या—ये सब जिनके अपने ही स्वरूप हैं तथा जो सबके आत्मरूप हैं, उन आप परमेश्वरको नमस्कार है ॥ १६½ ॥

यो दैत्यहन्ता नरकान्तकश्च
भुजाग्रमात्रेण च धर्मगोप्ता ॥ १७ ॥
भूभारसंघातविनोदकामं
नमामि देवं रघुवंशदीपम् ।

जो दैत्योंका विनाश और नरकका अन्त करनेवाले हैं, जो अपने हाथके संकेतमात्रसे अथवा अपनी भुजाओंके बलसे धर्मकी रक्षा करते हैं, पृथ्वीके भारका विनाश जिनका मनोरञ्जनमात्र है और जो उस मनोरञ्जनकी सदा अभिलाषा रखते हैं, उन रघुकुलदीप श्रीरामदेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥

आविर्भूतश्चतुर्द्धा यः कपिभिः परिवारितः ॥ १८ ॥
हतवान् राक्षसानीकं रामं दाशरथिं भजे ।

जो एक होकर भी चार स्वरूपोंमें अवतीर्ण होते हैं, जिन्होंने वानरोंको साथ लेकर राक्षससेनाका संहार किया है, उन दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजीका मैं भजन करता हूँ ॥ १८½ ॥

एवमादीन्यनेकानि चरितानि महात्मनः ॥ १९ ॥
तेषां नामानि संख्यातुं शक्यन्ते नाब्दकोटिभिः ।

भगवान् श्रीरामके ऐसे-ऐसे अनेक चरित्र हैं, जिनके नाम करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं गिनाये जा सकते हैं ॥ १९½ ॥

महिमानं तु यन्नाम्नः पारं गन्तुं न शक्यते ॥ २० ॥
मनुभिश्च मुनीन्द्रैश्च कथं तं क्षुल्लको भजेत् ।

जिनके नामकी महिमाका मनु और मुनीश्वर भी पार नहीं पा सकते, वहाँ मेरे-जैसे क्षुद्र जीवकी पहुँच कैसे हो सकती है ॥ २०½ ॥

यन्नाम्नः स्मरणेनापि महापातकिनोऽपि ये ॥ २१ ॥
पावनत्वं प्रपद्यन्ते कथं स्तोष्यामि क्षुद्रधीः ।

जिनके नामके स्मरणमात्रसे बड़े-बड़े पातकी भी पावन बन जाते हैं, उन परमात्माका स्तवन मेरे-जैसा तुच्छ बुद्धिवाला प्राणी कैसे कर सकता है ॥ २१½ ॥

रामायणपरा ये तु घोरे कलियुगे द्विजाः ॥ २२ ॥
त एव कृतकृत्याश्च तेषां नित्यं नमोऽस्तु ते ।

जो द्विज घोर कलियुगमें रामायण-कथाका आश्रय लेते हैं, वे ही कृतकृत्य हैं । उनके लिये तुम्हें सदा नमस्कार करना चाहिये ॥ २२½ ॥

ऊर्जे मासि सिते पक्षे चैत्रे माघे तथैव च ॥ २३ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

सनत्कुमारजी ! भगवान्‌की महिमाको जाननेके लिये कार्तिक, माघ और चैत्रके शुक्ल पक्षमें रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह श्रवण करना चाहिये ॥ २३½ ॥

गौतमशापतः प्राप्तः सुदासो राक्षसीं तनुम् ॥ २४ ॥
रामायणप्रभावेण विमुक्तिं प्राप्तवानसौ ।

ब्राह्मण सुदास गौतमके शापसे राक्षस-शरीरको प्राप्त हो गये थे; परंतु रामायणके प्रभावसे ही उन्हें उस शापसे छुटकारा मिला था ॥ २४½ ॥

सनत्कुमार उवाच

रामायणं केन प्रोक्तं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ २५ ॥
शप्तः कथं गौतमेन सौदासो मुनिसत्तम ।
रामायणप्रभावेण कथं भूयो विमोक्षितः ॥ २६ ॥

सनत्कुमारने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण धर्मोंका फल देनेवाली रामायणकथाका किसने वर्णन किया है ? सौदासको गौतमद्वारा कैसे शाप प्राप्त हुआ ? फिर वे रामायणके प्रभावसे किस प्रकार शापमुक्त हुए थे ? ॥ २५-२६ ॥

अनुग्राह्योऽस्मि यदि ते तत्त्वतो वक्तुमर्हसि ।
सर्वमेतदशेषेण मुने नो वक्तुमर्हसि ॥ २७ ॥
शृण्वतां वदतां चैव कथा पापविनाशिनी ।

मुने ! यदि आपका हमलोगोंपर अनुग्रह हो तो सब कुछ ठीक-ठीक बताइये । इन सारी बातोंसे हमें अवगत कराइये; क्योंकि भगवान्‌की कथा वक्ता और श्रोता दोनोंके पापोंका नाश करनेवाली है ॥ २७½ ॥

नारद उवाच

शृणु रामायणं विप्र यद् वाल्मीकिमुखोद्गतम् ॥ २८ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

नारदजीने कहा—ब्रह्मन् ! रामायणका प्रादुर्भाव महर्षि वाल्मीकिके मुखसे हुआ है । तुम उसीको श्रवण करो । रामायणकी अमृतमयी कथाका श्रवण नौ दिनोंमें करना चाहिये ॥ २८½ ॥

आस्ते कृतयुगे विप्रो धर्मकर्मविशारदः ॥ २९ ॥
सोमदत्त इति ख्यातो नाम्ना धर्मपरायणः ।

सत्ययुगमें एक ब्राह्मण थे, जिन्हें धर्म-कर्मका विशेष ज्ञान था । उनका नाम था सोमदत्त । वे सदा धर्मके पालनमें ही तत्पर रहते थे ॥ २९½ ॥

विप्रस्तु गौतमाख्येन मुनिना ब्रह्मवादिना ॥ ३० ॥
श्रावितः सर्वधर्मांश्च गङ्गातीरे मनोरमे ।
पुराणशास्त्रकथनैस्तेनासौ बोधितोऽपि च ॥ ३१ ॥
श्रुतवान् सर्वधर्मान् वै तेनोक्तानखिलानपि ।

(वे ब्राह्मण सौदास नामसे भी विख्यात थे ।) ब्राह्मणने ब्रह्मवादी गौतम मुनिसे गङ्गाजीके मनोरम तटपर सम्पूर्ण धर्मोंका उपदेश सुना था । गौतमने पुराणों और शास्त्रोंकी कथाओंद्वारा उन्हें तत्त्वका ज्ञान कराया था । सौदासने गौ[illegible] उनके बताये हुए सम्पूर्ण धर्मोंका श्रवण किया था ॥

कदाचित् परमेशाय परिचर्यापरोऽभवत् ॥ ३[illegible] ॥
उपस्थितायापि तस्मै प्रणामं न चकार सः ।

एक दिनकी बात है, सौदास परमेश्वर शिवकी आराधना में लगे हुए थे । उसी समय वहाँ उनके गुरु गौतमजी आ पहुँचे; परंतु सौदासने अपने निकट आये हुए गुरुको भी उठकर प्रणाम नहीं किया ॥ ३२½ ॥

स तु शान्तो महाबुद्धिर्गौतमस्तेजसां निधिः ॥ ३३ ॥
शास्त्रोदितानि कर्माणि करोति स मुदं ययौ ।

परम बुद्धिमान् गौतम तेजकी निधि थे, वे शिष्यके बर्तावसे रुष्ट न होकर शान्त ही बने रहे । उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मेरा शिष्य सौदास शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करता है ॥ ३३½ ॥

यस्त्वर्चितो महादेवः शिवः सर्वजगद्गुरुः ॥ ३४ ॥
गुर्ववज्ञाकृतं पापं राक्षसत्वे नियुक्तवान् ।
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेषु च कोविदः ॥ ३५ ॥

किंतु सौदासने जिनकी आराधना की थी, वे सम्पूर्ण जगत्के गुरु महादेव शिव गुरुकी अवहेलनासे होनेवाले पापको न सह सके । उन्होंने सौदासको राक्षसकी योनिमें जानेका शाप दे दिया । तब विनयकलाकोविद ब्राह्मणने हाथ जोड़कर गौतमसे कहा ॥ ३४-३५ ॥

विप्र उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वदर्शिन् सुरेश्वर ।
क्षमस्व भगवन् सर्वमपराधः कृतो मया ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण बोले—सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता ! सर्वदर्शी ! सुरेश्वर ! भगवन् ! मैंने जो अपराध किया है, वह सब आप क्षमा कीजिये ॥ ३६ ॥

गौतम उवाच

ऊर्जे मासे सिते पक्षे रामायणकथामृतम् ।
नवाह्ना चैव श्रोतव्यं भक्तिभावेन सादरम् ॥ ३७ ॥
नात्यन्तिकं भवेदेतद् द्वादशाब्दं भविष्यति ।

गौतमने कहा—वत्स ! कार्तिक मासके शुक्ल पक्षमें तुम रामायणकी अमृतमयी कथाको भक्तिभावसे आदरपूर्वक श्रवण करो । इस कथाको नौ दिनोंमें सुनना चाहिये । ऐसा करनेसे यह शाप अधिक दिनोंतक नहीं रहेगा । केवल बारह वर्षोंतक ही रह सकेगा ॥ ३७½ ॥

विप्र उवाच

केन रामायणं प्रोक्तं चरितानि तु कस्य वै ॥ ३८ ॥
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ संक्षेपाद् वक्तुमर्हसि ।
मनसा प्रीतिमापन्नो ववन्दे चरणौ गुरोः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणने पूछा—रामायणकी कथा किसने कही है ? तथा उसमें किसके चरित्रोंका वर्णन किया गया है ? महामते ! यह सब संक्षेपसे बतानेकी कृपा करें । यों कहकर मन-ही-मन प्रसन्न हो सौदासने गुरुके चरणोंमें प्रणाम [illegible] ॥ ३८-३९ ॥

गौतम उवाच

शृणु रामायणं विप्र वाल्मीकिमुनिना कृतम् ।
येन रामावतारेण राक्षसा रावणादयः ॥ ४० ॥
हतास्तु देवकार्यं हि चरितं तस्य तच्छृणु ।
कार्त्तिके च सिते पक्षे कथा रामायणस्य तु ॥ ४१ ॥
नवमेऽहनि श्रोतव्या सर्वपापप्रणाशिनी ।

गौतमने कहा—ब्रह्मन् ! [illegible] रामायणका निर्माण वाल्मीकि मुनिने किया है । जिन भगवान् श्रीरामने अवतार ग्रहण करके रावण आदि राक्षसोंका संहार किया और देवताओंका कार्य सँवारा था, उन्हींके चरित्रका रामायण-काव्यमें वर्णन है । तुम उसीका श्रवण करो ! कार्तिकमासके शुक्लपक्षमें नवें दिन अर्थात् प्रतिपदासे नवमीतक रामायणकी कथा सुननी चाहिये । वह समस्त पापोंका नाश करनेवाली है ॥ ४०-४१½ ॥

इत्युक्त्वा चार्थसम्पन्नो गौतमः स्वाश्रमं ययौ ॥ ४२ ॥
विप्रोऽपि दुःखमापन्नो राक्षसीं तनुमाश्रितः ।

ऐसा कहकर पूर्णकाम गौतम ऋषि अपने आश्रमको चले गये । इधर सोमदत्त या सुदास नामक ब्राह्मणने दुःखमग्न होकर राक्षस-शरीरका आश्रय लिया ॥ ४२½ ॥

क्षुत्पीडितः पिपासार्त्तो नित्यं क्रोधपरायणः ॥ ४३ ॥
कृष्णक्षपाद्युतिर्भीमो बभ्राम विजने वने ।

वे सदा भूख-प्याससे पीड़ित तथा क्रोधके वशीभूत रहते थे । उनके शरीरका रंग कृष्णपक्षकी रातके समान काला था । वे भयानक राक्षस होकर निर्जन वनमें भ्रमण करने लगे ॥ ४३½ ॥

मृगांश्च विविधांस्तत्र मनुष्यांश्च सरीसृपान् ॥ ४४ ॥
विहगान् प्लवगांश्चैव प्रसभात्तानभक्षयत् ।

वहाँ वे नाना प्रकारके पशुओं, मनुष्यों, साँप-बिच्छू आदि जन्तुओं, पक्षियों और वानरोंको बलपूर्वक पकड़कर खा जाते थे ॥ ४४½ ॥

अस्थिभिर्बहुभिर्विप्राः पीतरक्तकलेवरैः ॥ ४५ ॥
रक्तार्द्रप्रेतकैश्चैव तेनासीद् भूर्भयंकरी ।

ब्रह्मर्षियो ! उस राक्षसके द्वारा यह पृथ्वी बहुत-सी हड्डियों तथा लाल-पीले शरीरवाले रक्तपायी प्रेतोंसे परिपूर्ण हो अत्यन्त भयंकर दिखायी देने लगी ॥ ४५½ ॥

ऋतुत्रये स पृथिवीं शतयोजनविस्तराम् ॥ ४६ ॥
कृत्वातिदुःखितां पश्चाद्वनान्तरमगात् पुनः ।

छः महीनेमें ही सौ योजन विस्तृत भूभागको अत्यन्त दुःखित करके वह राक्षस पुनः दूसरे किसी वनमें चला गया ॥ ४६½ ॥

तत्रापि कृतवान् नित्यं नरमांसाशनं तदा ॥ ४७ ॥
जगाम नर्मदातीरे सर्वलोकभयंकरः ।

वहाँ भी वह प्रतिदिन नरमांसका भोजन करता रहा । सम्पूर्ण लोकोंके मनमें भय उत्पन्न करनेवाला वह राक्षस घूमता-घामता नर्मदाजीके तटपर जा पहुँचा ॥ ४७½ ॥

एतस्मिन्नन्तरे प्राप्तः कश्चिद् विप्रोऽतिधार्मिकः ॥ ४८ ॥
कलिङ्गदेशसम्भूतो नाम्ना गर्ग इति स्मृतः ।

इसी समय कोई अत्यन्त धर्मात्मा ब्राह्मण उधर आ निकला । उसका जन्म कलिङ्गदेशमें हुआ था । लोगोंमें वह गर्ग नामसे विख्यात था ॥ ४८½ ॥

वहन् गङ्गाजलं स्कन्धे स्तुवन् विश्वेश्वरं प्रभुम् ॥ ४९ ॥
[illegible] नामानि रामस्य समायातोऽतिहर्षितः ।

कंधेपर गङ्गाजल लिये भगवान् विश्वनाथकी स्तुति तथा श्रीरामके नामोंका गान करता हुआ वह ब्राह्मण बड़े हर्ष और उत्साहमें भरकर उस पुण्य प्रदेशमें आया था ॥ ४९½ ॥

तमायान्तं मुनिं दृष्ट्वा सुदासो नाम राक्षसः ॥ ५० ॥
प्राप्तो नः पारणेत्युक्त्वा भुजावुद्यम्य तं ययौ ।
तेन कीर्तितनामानि श्रुत्वा दूरे व्यवस्थितः ॥ ५१ ॥
अशक्तस्तं द्विजं हन्तुमिदमूचे स राक्षसः ।

गर्ग मुनिको आते देख राक्षस सुदास बोल उठा, 'हमें भोजन प्राप्त हो गया ।' ऐसा कहकर अपनी दोनों भुजाओंको ऊपर उठाये हुए वह मुनिकी ओर चला; परंतु उनके द्वारा उच्चारित होनेवाले भगवन्नामोंको सुनकर वह दूर ही खड़ा रहा । उन ब्रह्मर्षिको मारनेमें असमर्थ होकर राक्षस उनसे इस प्रकार बोला—॥ ५०-५१½ ॥

राक्षस उवाच

अहो भद्र महाभाग नमस्तुभ्यं महात्मने ॥ ५२ ॥
नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि दूरगाः ।
मया प्रभक्षिताः पूर्वं विप्राः कोटिसहस्रशः ॥ ५३ ॥

राक्षसने कहा—यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ! भद्र ! महाभाग ! आप महात्माको नमस्कार है । आप जो भगवन्नामोंका स्मरण कर रहे हैं, इतनेसे ही राक्षस भी दूर भाग जाते हैं । मैंने पहले कोटि सहस्र ब्राह्मणोंका भक्षण किया है ॥ ५२-५३ ॥

नामप्रावरणं विप्र रक्षति त्वां महाभयात् ।
नामस्मरणमात्रेण राक्षसा अपि भो वयम् ॥ ५४ ॥
परां शान्तिं समापन्ना महिमा कोऽच्युतस्य हि ।

ब्रह्मन् ! आपके पास जो नामरूपी कवच है, वही राक्षसोंके महान् भयसे आपकी रक्षा करता है । आपके द्वारा किये गये नामस्मरणमात्रसे हम राक्षसोंको भी परम शान्ति प्राप्त हो गयी । यह भगवान् अच्युतकी कैसी महिमा है ॥ ५४½ ॥

सर्वथा त्वं महाभाग रागादिरहितो द्विज ॥ ५५ ॥
रामकथाप्रभावेण पाह्यस्मात् पातकाधमात् ।

महाभाग ब्राह्मण ! आप श्रीरामकथाके प्रभावसे सर्वथा राग आदि दोषोंसे रहित हो गये हैं । अतः आप मुझे इस अधम पातकसे बचाइये ॥ ५५½ ॥

गुर्ववज्ञा मया पूर्वं कृता च मुनिसत्तम ॥ ५६ ॥
कृतश्चानुग्रहः पश्चाद् गुरुणोक्तमिदं वचः ।

मुनिश्रेष्ठ ! मैंने पूर्वकालमें अपने गुरुकी अवहेलना की थी । फिर गुरुजीने मुझपर अनुग्रह किया और यह बात कही ॥ ५६½ ॥

वाल्मीकिमुनिना पूर्वं कथा रामायणस्य च ॥ ५७ ॥
ऊर्जे मासे सिते पक्षे श्रोतव्या च प्रयत्नतः ।

'पूर्वकालमें वाल्मीकि मुनिने जो रामायणकी कथा कही है, उसका कार्तिकमासके शुक्लपक्षमें प्रयत्नपूर्वक श्रवण करना चाहिये ॥ ५७½ ॥

गुरुणापि पुनः प्रोक्तं रम्यं तु शुभदं वचः ॥ ५८ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ।

इतना कहकर गुरुदेवने पुनः यह सुन्दर एवं शुभदायक वचन कहा—'रामायणकी अमृतमयी कथा नौ दिनमें सुननी चाहिये' ॥ ५८½ ॥

तस्माद् ब्रह्मन् महाभाग सर्वशास्त्रार्थकोविद ॥ ५९ ॥
कथाश्रवणमात्रेण पाह्यस्मात् पापकर्मणः ।

अतः सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाले महाभाग ब्राह्मण ! आप मुझे रामायणकथा सुनाकर इस पापकर्मसे मेरी रक्षा कीजिये ॥ ५९½ ॥

नारद उवाच

ततो रामायणं ख्यातं राममाहात्म्यमुत्तमम् ॥ ६० ॥
निशम्य विस्मयाविष्टो बभूव द्विजसत्तमः ।
ततो विप्रः कृपाविष्टो रामनामपरायणः ॥ ६१ ॥
सुदासराक्षसं नाम चेदं वाक्यमथाब्रवीत् ।

नारदजी कहते हैं—उस समय वहाँ राक्षसके मुखसे रामायणका परिचय तथा श्रीरामके उत्तम माहात्म्यका वर्णन सुनकर द्विजश्रेष्ठ गर्ग आश्चर्यचकित हो उठे । श्रीरामका नाम ही उनके जीवनका अवलम्ब था । वे ब्राह्मणदेवता उस राक्षसके प्रति दयासे द्रवित हो गये और सुदाससे इस प्रकार बोले ॥ ६०-६१½ ॥

विप्र उवाच

राक्षसेन्द्र महाभाग मतिस्ते विमलाभवत् ॥ ६२ ॥
अस्मिन्नूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ।
शृणु त्वं राममाहात्म्यं रामभक्तिपरायण ॥ ६३ ॥

ब्राह्मणने कहा—महाभाग ! राक्षसराज ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल हो गयी है । इस समय कार्तिकमासका शुक्लपक्ष चल रहा है । इसमें रामायणकी कथा सुनो ! रामभक्तिपरायण राक्षस ! तुम श्रीरामचन्द्रजीके माहात्म्यका श्रवण करो ॥ ६२-६३ ॥

रामध्यानपराणां च कः समर्थः प्रबाधितुम् ।
रामभक्तिपरो यत्र तत्र ब्रह्मा हरिः शिवः ॥ ६४ ॥
तत्र देवाश्च सिद्धाश्च रामायणपरा नराः ।

श्रीरामचन्द्रजीके ध्यानमें तत्पर रहनेवाले मनुष्योंको बाधा पहुँचानेमें कौन समर्थ हो सकता है । जहाँ श्रीरामका भक्त है, वहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव विराजमान हैं । वहीं देवता, सिद्ध तथा रामायणका आश्रय लेनेवाले मनुष्य हैं ॥ ६४½ ॥

तस्मादूर्जे सिते पक्षे रामायणकथां शृणु ॥ ६५ ॥
नवाह्ना खलु श्रोतव्यं सावधानः सदा भव ।

अतः इस कार्तिकमासके शुक्लपक्षमें तुम रामायणकथा सुनो । नौ दिनोंतक इस कथाको सुननेका विधान है । अतः तुम सदा सावधान रहो ॥ ६५½ ॥

इत्युक्त्वा कथयामास रामायणकथां मुनिः ॥ ६६ ॥
कथाश्रवणमात्रेण राक्षसत्वमपाकृतम् ।
विसृज्य राक्षसं भावमभवद् देवतोपमः ॥ ६७ ॥

कोटिसूर्यप्रतीकाशो नारायणसमप्रभः ।
शङ्खचक्रगदापाणिर्हरेः सद्म जगाम सः ॥ ६८ ॥
स्तुवन् तं ब्राह्मणं सम्यग् जगाम हरिमन्दिरम् ॥ ६९ ॥

ऐसा कहकर गर्ग मुनिने उसे रामायणकी कथा सुनायी । कथा सुनते ही उसका राक्षसत्व दूर हो गया । राक्षस-भावका परित्याग करके वह देवताओंके समान सुन्दर, करोड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी और भगवान् नारायणके समान कान्तिमान् हो गया । अपनी चार भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म लिये वह श्रीहरिके वैकुण्ठधाममें चला गया । ब्राह्मण गर्ग मुनिकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ वह भगवान्‌के उत्तम धाममें जा पहुँचा ॥ ६६—६९ ॥

नारद उवाच

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
स तस्य महिमा तत्र ऊर्जे मासि च कीर्त्यते ॥ ७० ॥

नारदजी कहते हैं—विप्रवरो ! अतः आपलोग भी रामायणकी अमृतमयी कथा सुनिये । इसके श्रवणकी सदा ही महिमा है, किंतु कार्तिकमासमें विशेष बतायी गयी है ॥ ७० ॥

यन्नामस्मरणादेव महापातककोटिभिः ।
विमुक्तः सर्वपापेभ्यो नरो याति परां गतिम् ॥ ७१ ॥

रामायणके नामका स्मरण करनेसे ही मनुष्य करोड़ों महापातकों तथा समस्त पापोंसे मुक्त हो परमगतिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

रामायणेति यन्नाम सकृदप्युच्यते यदा ।
तदैव पापनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ७२ ॥

मनुष्य 'रामायण' इस नामका जब एक बार भी उच्चारण करता है, तभी वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है और अन्तमें भगवान् विष्णुके लोकमें चला जाता है ॥ ७२ ॥

ये पठन्ति सदाऽऽख्यानं भक्त्या शृण्वन्ति ये नराः ।
गङ्गास्नानाच्छतगुणं तेषां संजायते फलम् ॥ ७३ ॥

जो मनुष्य सदा भक्तिभावसे रामायण-कथाको पढ़ते और सुनते हैं, उन्हें गङ्गास्नानकी अपेक्षा सौगुना पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये राक्षसमोक्षणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमारसंवादके अन्तर्गत वाल्मीकीयरामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें राक्षसका उद्धारनामक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

माघमासमें रामायण-श्रवणका फल—राजा सुमति और सत्यवतीके पूर्व-जन्मका इतिहास

सनत्कुमार उवाच

अहो विप्र इदं प्रोक्तमितिहासं च नारद ।
रामायणस्य माहात्म्यं त्वं पुनर्वद विस्तरात् ॥ १ ॥

सनत्कुमारने कहा—ब्रह्मर्षि नारदजी ! आपने यह अद्भुत इतिहास सुनाया है । अब रामायणके माहात्म्यका पुनः विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

अन्यमासस्य माहात्म्यं कथयस्व प्रसादतः ।
कस्य नो जायते तुष्टिर्मुने त्वद्वचनामृतात् ॥ २ ॥

(आपने कार्तिक मासमें रामायणके श्रवणकी महिमा बतायी) अब कृपापूर्वक दूसरे मासका माहात्म्य बताइये । मुने ! आपके वचनामृतसे किसको संतोष नहीं होगा ? ॥ २ ॥

नारद उवाच

सर्वे यूयं महाभागाः कृतार्था नात्र संशयः ।
यतः प्रभावं रामस्य भक्तितः श्रोतुमुद्यताः ॥ ३ ॥

नारदजीने कहा—महात्माओ ! आप सब लोग [illegible]य ही बड़े भाग्यशाली और कृतकृत्य हैं, इसमें संशय नहीं क्योंकि आप भक्तिभावसे भगवान् श्रीरामकी महिमा [illegible]नेके लिये उद्यत हुए हैं ॥ ३ ॥

[illegible]त्म्यश्रवणं यस्य राघवस्य कृतात्मनाम् ।
[illegible]र्लभं प्राहुरत्यन्तं मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥ ४ ॥

ब्रह्मवादी मुनियोंने भगवान् श्रीरामके माहात्म्यका श्रवण पुण्यात्मा पुरुषोंके लिये परम दुर्लभ बताया है ॥ ४ ॥

शृणुध्वमृषयश्चित्रमितिहासं पुरातनम् ।
सर्वपापप्रशमनं सर्वरोगविनाशनम् ॥ ५ ॥

महर्षियो ! अब आपलोग एक विचित्र पुरातन इतिहास सुनिये, जो समस्त पापोंका निवारण और सम्पूर्ण रोगोंका विनाश करनेवाला है ॥ ५ ॥

आसीत् पुरा द्वापरे च सुमतिर्नाम भूपतिः ।
सोमवंशोद्भवः श्रीमान् सप्तद्वीपैकनायकः ॥ ६ ॥

पूर्वकालकी बात है, द्वापरमें सुमति नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं । उनका जन्म चन्द्रवंशमें हुआ था । वे श्रीसम्पन्न और सातों द्वीपोंके एकमात्र सम्राट् थे ॥ ६ ॥

धर्मात्मा सत्यसम्पन्नः सर्वसम्पद्विभूषितः ।
सदा रामकथासेवी रामपूजापरायणः ॥ ७ ॥

उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता था । वे सत्यवादी तथा सब प्रकारकी सम्पत्तियोंसे सुशोभित थे । सदा श्रीराम-कथाके सेवन और श्रीरामकी ही समाराधनामें संलग्न रहते थे ॥

रामपूजापराणां च शुश्रूषुरनहंकृतिः ।
पूज्येषु पूजानिरतः समदर्शी गुणान्वितः ॥ ८ ॥

श्रीरामकी पूजा-अर्चामें लगे रहनेवाले भक्तोंकी वे सदा सेवा करते थे । उनमें अहंकारका नाम भी नहीं था । वे पूज्य पुरुषोंके पूजनमें तत्पर रहनेवाले, समदर्शी तथा सद्गुण-सम्पन्न थे ॥ ८ ॥

सर्वभूतहितः शान्तः कृतज्ञः कीर्तिमान् नृपः ।

तस्य भार्या महाभागा सर्वलक्षणसंयुता ॥ ९ ॥

राजा सुमति समस्त प्राणियोंके हितैषी, शान्त, कृतज्ञ और यशस्वी थे। उनकी परम सौभाग्यशालिनी पत्नी भी समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित थी ॥ ९ ॥

पतिव्रता पतिप्राणा नाम्ना सत्यवती श्रुता।
तावुभौ दम्पती नित्यं रामायणपरायणौ ॥ १० ॥

उसका नाम सत्यवती था। वह पतिव्रता थी। पतिमें ही उसके प्राण बसते थे। वे दोनों पति-पत्नी सदा रामायणके ही पढ़ने और सुननेमें संलग्न रहते थे ॥ १० ॥

अन्नदानरतौ नित्यं जलदानपरायणौ।
तडागारामवाप्यादीनसंख्यातान् वितेनतुः ॥ ११ ॥

सदा अन्नका दान करते और प्रतिदिन जलदानमें प्रवृत्त रहते थे। उन्होंने असंख्य पोखरों, बगीचों और बावड़ियोंका निर्माण कराया था ॥ ११ ॥

सोऽपि राजा महाभागो रामायणपरायणः।
वाचयेच्छृणुयाद् वापि भक्तिभावेन भावितः ॥ १२ ॥

महाभाग राजा सुमति भी सदा रामायणके ही अनुशीलनमें लगे रहते थे। वे भक्तिभावसे भावित हो रामायणको ही बाँचते अथवा सुनते थे ॥ १२ ॥

एवं रामपरं नित्यं राजानं धर्मकोविदम्।
तस्य प्रियां सत्यवतीं देवा अपि सदास्तुवन् ॥ १३ ॥

इस प्रकार वे धर्मज्ञ नरेश सदा श्रीरामकी आराधनामें ही तत्पर रहते थे। उनकी प्यारी पत्नी सत्यवती भी ऐसी ही थी। देवता भी उन दोनों दम्पतिकी सदा भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे ॥ १३ ॥

विश्रुतौ त्रिषु लोकेषु दम्पती तौ हि धार्मिकौ।
आययौ बहुभिः शिष्यैर्द्रष्टुकामो विभाण्डकः ॥ १४ ॥

एक दिन उन त्रिभुवनविख्यात धर्मात्मा राजा-रानीको देखनेके लिये विभाण्डक मुनि अपने बहुत-से शिष्योंके साथ वहाँ आये ॥ १४ ॥

विभाण्डकं मुनिं दृष्ट्वा सुखमाप्तो जनेश्वरः।
प्रत्युद्ययौ सपत्नीकः पूजाभिर्बहुविस्तरम् ॥ १५ ॥

मुनिवर विभाण्डकको आया देख राजा सुमतिको बड़ा सुख मिला। वे पूजाकी विस्तृत सामग्री साथ ले पत्नीसहित उनकी अगवानीके लिये गये ॥ १५ ॥

कृतातिथ्यक्रियं शान्तं कृतासनपरिग्रहम्।
निजासनगतो भूपः प्राञ्जलिर्मुनिमब्रवीत् ॥ १६ ॥

जब मुनिका अतिथि-सत्कार सम्पन्न हो गया और वे शान्त भावसे आसनपर विराजमान हो गये, उस समय अपने आसनपर बैठे हुए भूपालने मुनिसे हाथ जोड़कर कहा ॥

राजोवाच

भगवन् कृतकृत्योऽद्य त्वदभ्यागमनेन भोः।
सतामागमनं सन्तः प्रशंसन्ति सुखावहम् ॥ १७ ॥

राजा बोले—भगवन्! आज आपके शुभागमनसे मैं कृतार्थ हो गया, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष संतोंके आगमनको सुखदायक बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं ॥ १७ ॥

यत्र स्यान्महतां प्रेम तत्र स्युः सर्वसम्पदः।
तेजः कीर्तिर्धनं पुत्र इति प्राहुर्विपश्चितः ॥ १८ ॥

जहाँ महापुरुषोंका प्रेम होता है, वहाँ सारी सम्पत्तियाँ अपने आप उपस्थित हो जाती हैं। वहाँ तेज, कीर्ति, धन और पुत्र—सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं—ऐसा विद्वान् पुरुषोंका कथन है ॥ १८ ॥

तत्र वृद्धिं गमिष्यन्ति श्रेयांस्यनुदिनं मुने।
यत्र सन्तः प्रकुर्वन्ति महतीं करुणां प्रभो ॥ १९ ॥

मुने! प्रभो! जहाँ संत-महात्मा बड़ी भारी कृपा करते हैं, वहाँ प्रतिदिन कल्याणमय साधनोंकी वृद्धि होती है ॥ १९ ॥

यो मूर्ध्नि धारयेद् ब्रह्मन् विप्रपादतलोदकम्।
स स्नातो सर्वतीर्थेषु पुण्यवान् नात्र संशयः ॥ २० ॥

ब्रह्मन्! जो अपने मस्तकपर ब्राह्मणोंका चरणोदक धारण करता है उस पुण्यात्मा पुरुषने सब तीर्थोंमें स्नान कर लिया—इसमें संशय नहीं है ॥ २० ॥

मम पुत्राश्च दाराश्च सम्पदश्च समर्पिताः।
समाज्ञापय शान्तात्मन् वयं किं करवाणि ते ॥ २१ ॥

शान्तस्वरूप महर्षे! मेरे पुत्र, पत्नी तथा सारी सम्पत्ति आपके चरणोंमें समर्पित है। आज्ञा दीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें? ॥ २१ ॥

इत्थं वदन्तं भूपं तं स निरीक्ष्य मुनीश्वरः।
स्पृशन् करेण राजानं प्रत्युवाचातिहर्षितः ॥ २२ ॥

ऐसी बातें कहते हुए राजा सुमतिकी ओर देखकर मुनीश्वर विभाण्डक बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने हाथसे राजाका स्पर्श करते हुए कहा ॥ २२ ॥

ऋषिरुवाच

राजन् यदुक्तं भवता तत्सर्वं त्वत्कुलोचितम्।
विनयावनताः सर्वे परं श्रेयो भजन्ति हि ॥ २३ ॥

ऋषि बोले—राजन्! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब तुम्हारे कुलके अनुरूप है। जो इस प्रकार विनयसे झुक जाते हैं, वे सब लोग परम कल्याणके भागी होते हैं ॥

प्रीतोऽस्मि तव भूपाल सन्मार्गपरिवर्तिनः।
स्वस्ति तेऽस्तु महाभाग यत्पृच्छामि तदुच्यताम् २४

भूपाल! तुम सन्मार्गपर चलनेवाले हो। मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। महाभाग! तुम्हारा कल्याण हो। मैं तुमसे जो कुछ पूछता हूँ, उसे बताओ ॥ २४ ॥

हरिसंतोषकान्यासन् पुराणानि बहून्यपि।
माघे मासि चोद्यतोऽसि रामायणपरायणः ॥ २५ ॥
तव भार्यापि साध्वीयं नित्यं रामपरायणा।
किमर्थमेतद् वृत्तान्तं यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ २६ ॥

यद्यपि भगवान् श्रीहरिको संतुष्ट करनेवाले बहुत-से पुराण भी थे, जिनका तुम पाठ कर सकते थे, तथापि इस माघमासमें सब प्रकारसे प्रयत्नशील होकर तुम जो रामायणके ही पारायणमें लगे हुए हो तथा तुम्हारी यह साध्वी

पत्नी भी सदा जो श्रीरामकी ही आराधनामें रत रहती है, इसका क्या कारण है ? यह वृत्तान्त यथावत् रूपसे मुझे बताओ ॥ २५-२६ ॥

राजोवाच

शृणुष्व भगवन् सर्वं यत्पृच्छसि वदामि तत् ।
आश्चर्यं यद्धि लोकानामावयोश्चरितं मुने ॥ २७ ॥

राजाने कहा—भगवन् ! सुनिये, आप जो कुछ पूछते हैं, वह सब मैं बता रहा हूँ । मुने ! हम दोनोंका चरित्र सम्पूर्ण जगत्के लिये आश्चर्यजनक है ॥ २७ ॥

अहमासं पुरा शूद्रो मालतिर्नाम सत्तम ।
कुमार्गनिरतो नित्यं सर्वलोकाहिते रतः ॥ २८ ॥

साधुशिरोमणे ! पूर्व जन्ममें मैं मालति नामक शूद्र था । सदा कुमार्गपर ही चलता और सब लोगोंके अहित-साधनमें ही संलग्न रहता था ॥ २८ ॥

पिशुनो धर्मविद्वेषी देवद्रव्यापहारकः ।
महापातकिसंसर्गी देवद्रव्योपजीवकः ॥ २९ ॥

दूसरोंकी चुगली खानेवाला, धर्मद्रोही, देवतासम्बन्धी द्रव्यका अपहरण करनेवाला तथा महापातकियोंके संसर्गमें रहनेवाला था । मैं देव-सम्पत्तिसे ही जीविका चलाता था ॥

गोघ्नश्च ब्रह्महा चौरो नित्यं प्राणिवधे रतः ।
नित्यं निष्ठुरवक्ता च पापी वेश्यापरायणः ॥ ३० ॥

गोहत्या, ब्राह्मणहत्या और चोरी करना यही अपना धंधा था । मैं सदा दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता था । प्रतिदिन दूसरोंसे कठोर बातें बोलता, पाप करता और वेश्याओंमें आसक्त रहता था ॥ ३० ॥

किञ्चित् काले स्थितो ह्येवमनादृत्य महद्वचः ।
सर्वबन्धुपरित्यक्तो दुःखी वनमुपागमम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार कुछ कालतक घरमें रहा, फिर बड़े लोगोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेके कारण मेरे सभी भाई-बन्धुओंने मुझे त्याग दिया और मैं दुखी होकर वनमें चला आया ॥ ३१ ॥

मृगमांसाशनं नित्यं तथा मार्गविरोधकृत् ।
एकाकी दुःखबहुलो न्यवसं निर्जने वने ॥ ३२ ॥

वहाँ प्रतिदिन मृगोंका मांस खाकर रहता था और काँटे आदि बिछाकर लोगोंके आने-जानेका मार्ग अवरुद्ध कर देता था । इस तरह अकेला बहुत दुःख भोगता हुआ मैं उस निर्जन वनमें रहने लगा ॥ ३२ ॥

एकदा क्षुत्परिश्रान्तो निद्राघूर्णः पिपासितः ।
वसिष्ठस्याश्रमं दैवादपश्यं निर्जने वने ॥ ३३ ॥

एक दिनकी बात है, मैं भूखा-प्यासा, थका-माँदा, निद्रासे झूमता हुआ एक निर्जन वनमें आया । वहाँ दैवयोगसे वसिष्ठजीके आश्रमपर मेरी दृष्टि पड़ी ॥ ३३ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णं तत्समीपे महत्सरः ।
पर्यन्ते वनपुष्पौघैश्छादितं तन्मुनीश्वर ॥ ३४ ॥

उस आश्रमके निकट एक विशाल सरोवर था, जिसमें हंस और कारण्डव आदि जलपक्षी छा रहे थे । मुनीश्वर ! वह सरोवर चारों ओरसे वन्य पुष्प-समूहोंद्वारा आच्छादित था ॥

अपिबं तत्र पानीयं तत्तटे विगतश्रमः ।
उन्मूल्य वृक्षमूलानि मया क्षुच्च निवारिता ॥ ३५ ॥

वहाँ जाकर मैंने पानी पिया और उसके तटपर बैठकर अपनी थकावट दूर की । फिर कुछ वृक्षोंकी जड़ें उखाड़कर उनके द्वारा अपनी भूख बुझायी ॥ ३५ ॥

वसिष्ठस्याश्रमे तत्र निवासं कृतवानहम् ।
शीर्णस्फटिकसंधानं तत्र चाहमकारिषम् ॥ ३६ ॥

वसिष्ठके उस आश्रमके पास ही मैं निवास करने लगा । टूटी-फूटी स्फटिक-शिलाओंको जोड़कर मैंने वहाँ दीवार खड़ी की ॥ ३६ ॥

पर्णैस्तृणैश्च काष्ठैश्च गृहं सम्यक् प्रकल्पितम् ।
तत्राहं व्याधसत्त्वस्थो हत्वा बहुविधान् मृगान् ॥ ३७ ॥
आजीविकां च कुर्वाणो वत्सराणां च विंशतिम् ।

फिर पत्तों, तिनकों और काष्ठोंद्वारा एक सुन्दर घर बना लिया । उसी घरमें रहकर मैं व्याधोंकी वृत्तिका आश्रय ले नाना प्रकारके मृगोंको मारकर उन्हींके द्वारा बीस वर्षोंतक अपनी जीविका चलाता रहा ॥ ३७½ ॥

अथेयमागता साध्वी विन्ध्यदेशसमुद्भवा ॥ ३८ ॥
निषादकुलसम्भूता नाम्ना कालीति विश्रुता ।
बन्धुवर्गैः परित्यक्ता दुःखिता जीर्णविग्रहा ॥ ३९ ॥

तदनन्तर मेरी ये साध्वी पत्नी वहाँ मेरे पास आयीं । पूर्वजन्ममें इनका नाम काली था । काली निषादकुलकी कन्या थी और विन्ध्यप्रदेशमें उत्पन्न हुई थी । उसके भाई-बन्धुओंने उसे त्याग दिया था । वह दुःखसे पीड़ित थी । उसका शरीर वृद्ध हो चला था ॥ ३८-३९ ॥

ब्रह्मन् क्षुत्तृट्परिश्रान्ता शोचन्ती भौक्तिकीं क्रियाम् ।
दैवयोगात् समायाता भ्रमन्ती विजने वने ॥ ४० ॥

ब्रह्मन् ! वह भूख-प्याससे शिथिल हो गयी थी और इस सोचमें पड़ी थी कि भोजनका कार्य कैसे चलेगा ? दैवयोगसे घूमती-घामती वह उसी निर्जन वनमें आ पहुँची, जिसमें मैं रहता था ॥ ४० ॥

मासे ग्रीष्मे च तापार्त्ता ह्यन्तस्तापप्रपीडिता ।
इमां दुःखवतीं दृष्ट्वा जाता मे विपुला घृणा ॥ ४१ ॥

गर्मीका महीना था । बाहर इसे धूप सता रही थी और भीतर मानसिक संताप अत्यन्त पीड़ा दे रही थी । इस दुःखिनी नारीको देखकर मेरे मनमें बड़ी दया आयी ॥ ४१ ॥

मया दत्तं जलं चास्यै मांसं वनफलं तथा ।
गतश्रमा तु सा पृष्टा मया ब्रह्मन् यथातथम् ॥ ४२ ॥

मैंने इसे पीनेके लिये जल तथा खानेके लिये मांस और जंगली फल दिये । ब्रह्मन् ! काली जब विश्राम कर चुकी, तब मैंने उससे उसका यथावत् वृत्तान्त पूछा ॥ ४२ ॥

न्यवेदयत् स्वकर्माणि तानि शृणु महामुने ।
इयं काली तु नाम्ना वै निषादकुलसम्भवा ॥ ४३ ॥

महामुने ! मेरे पूछनेपर उसने जो अपने जन्म-कर्म

निवेदन किये थे, उन्हें बताता हूँ। सुनिये—उसका नाम काली था और वह निषादकुलकी कन्या थी ॥ ४३ ॥

दाम्भिकस्य सुता विद्वन् न्यवसद् विन्ध्यपर्वते।
परस्वहारिणी नित्यं सदा पैशुन्यवादिनी ॥ ४४ ॥

विद्वन्! उसके पिताका नाम दाम्भिक (या दाविक) था। वह उसीकी पुत्री थी और विन्ध्यपर्वतपर निवास करती थी। सदा दूसरोंका धन चुराना और चुगली खाना ही उसका काम था ॥ ४४ ॥

बन्धुवर्गैः परित्यक्ता यतो हतवती पतिम्।
कान्तारे विजने ब्रह्मन् मत्समीपमुपागता ॥ ४५ ॥

एक दिन उसने अपने पतिकी हत्या कर डाली, इसीलिये भाई-बन्धुओंने उसे घरसे निकाल दिया। ब्रह्मन्! इस तरह परित्यक्ता काली उस दुर्गम एवं निर्जन वनमें मेरे पास आयी थी ॥ ४५ ॥

इत्येवं स्वकृतं कर्म सव मह्यं न्यवेदयत्।
वसिष्ठस्याश्रमे पुण्ये अहं चेयं च वै मुने ॥ ४६ ॥
दम्पतीभावमाश्रित्य स्थितौ मांसाशिनौ तदा।

उसने अपनी सारी करतूतें मुझे इसी रूपमें बतायी थीं। मुने! तब वसिष्ठजीके उस पवित्र आश्रमके निकट मैं और काली दोनों पति-पत्नीका सम्बन्ध स्वीकार करके रहने और मांसाहारसे जीवन-निर्वाह करने लगे ॥ ४६½ ॥

उद्यमार्थं गतौ चैव वसिष्ठस्याश्रमं तदा ॥ ४७ ॥
दृष्ट्वा चैव समाजं च देवर्षीणां च सत्तम।
रामायणपरा विप्रा माघे दृष्टा दिने दिने ॥ ४८ ॥

एक दिन हम दोनों जीविकाके निमित्त कुछ उद्यम करनेके लिये वहाँ वसिष्ठजीके आश्रमपर गये। महात्मन्! वहाँ देवर्षियोंका समाज जुटा हुआ था। वही देखकर हमलोग उधर गये थे। वहाँ माघमासमें प्रतिदिन ब्राह्मणलोग रामायणका पाठ करते दिखायी देते थे ॥ ४७-४८ ॥

निराहारौ च विक्रान्तौ क्षुत्पिपासाप्रपीडितौ।
अनिच्छया गतौ तत्र वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥
रामायणकथां श्रोतुं नवाह्ना चैव भक्तितः।
तत्काल एव पञ्चत्वमावयोरभवन्मुने ॥ ५० ॥

उस समय हमलोग निराहार थे और पुरुषार्थ करनेमें समर्थ होकर भी भूख-प्याससे कष्ट पा रहे थे। अतः बिना इच्छाके ही वसिष्ठजीके आश्रमपर चले गये थे। फिर लगातार नौ दिनोंतक भक्तिपूर्वक रामायणकी कथा सुननेके लिये हम दोनों वहाँ जाते रहे। मुने! उसी समय हम दोनोंकी मृत्यु हो गयी ॥ ४९-५० ॥

कर्मणा तेन तुष्टात्मा भगवान् मधुसूदनः।
स्वदूतान् प्रेषयामास मदाहरणकारणात् ॥ ५१ ॥

हमारे उस कर्मसे भगवान् मधुसूदनका मन प्रसन्न हो गया था, अतः उन्होंने हमें ले आनेके लिये दूत भेजे ॥ ५१ ॥

आरोप्य मां विमाने तु जग्मुस्ते च परं पदम्।
आवां समीपमापन्नौ देवदेवस्य चक्रिणः ॥ ५२ ॥

वे दूत हम दोनोंको विमानमें बिठाकर भगवान्‌के परम पद (उत्तम धाम) में ले गये। हम दोनों देवाधिदेव चक्रपाणिके निकट जा पहुँचे* ॥ ५२ ॥

भुक्तवन्तौ महाभोगान् यावत्कालं शृणुष्व मे।
युगकोटिसहस्राणि युगकोटिशतानि च ॥ ५३ ॥
उषित्वा रामभवने ब्रह्मलोकमुपागतौ।
तावत्कालं च तत्रापि स्थित्वेन्द्रपदमागतौ ॥ ५४ ॥

वहाँ हमने जितने समयतक बड़े-बड़े भोग भोगे थे, वह बता रहे हैं। सुनिये—कोटि सहस्र और कोटि शत युगोंतक श्रीरामधाममें निवास करके हमलोग ब्रह्मलोकमें आये। वहाँ भी उतने ही समयतक रहकर हम इन्द्रलोकमें आ गये ॥

तत्रापि तावत्कालं च भुक्त्वा भोगाननुत्तमान्।
ततः पृथ्वीं वयं प्राप्ताः क्रमेण मुनिसत्तम ॥ ५५ ॥

मुनिश्रेष्ठ! इन्द्रलोकमें भी उतने ही कालतक परम उत्तम भोग भोगनेके पश्चात् हम क्रमशः इस पृथ्वीपर आये हैं ॥

अत्रापि सम्पदतुला रामायणप्रसादतः।
अनिच्छया कृतेनापि प्राप्तमेवंविधं मुने ॥ ५६ ॥

यहाँ भी रामायणके प्रसादसे हमें अतुल सम्पत्ति प्राप्त हुई है। मुने! अनिच्छासे रामायणका श्रवण करनेपर भी हमें ऐसा फल प्राप्त हुआ है ॥ ५६ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम्।
भक्तिभावेन धर्मात्मञ्जन्ममृत्युजरापहम् ॥ ५७ ॥

धर्मात्मन्! यदि नौ दिनोंतक भक्ति-भावसे रामायणकी अमृतमयी कथा सुनी जाय तो वह जन्म, जरा और मृत्युका नाश करनेवाली होती है ॥ ५७ ॥

अवशेनापि यत्कर्म कृतं तु सुमहत्फलम्।
ददाति शृणु विप्रेन्द्र रामायणप्रसादतः ॥ ५८ ॥

विप्रवर! सुनिये, विवश होकर भी जो कर्म किया जाता है, वह रामायणके प्रसादसे परम महान् फल प्रदान करता है ॥ ५८ ॥

नारद उवाच

एतत्सर्वं निशम्यासौ विभाण्डको मुनीश्वरः।
अभिनन्द्य महीपालं प्रययौ स्वतपोवनम् ॥ ५९ ॥

नारदजी कहते हैं—यह सब सुनकर मुनीश्वर विभाण्डक राजा सुमतिका अभिनन्दन करके अपने तपोवनको चले गये ॥ ५९ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा देवदेवस्य चक्रिणः।
रामायणकथा चैव कामधेनूपमा स्मृता ॥ ६० ॥

विप्रवरो! अतः आपलोग देवाधिदेव चक्रपाणि भगवान्

* यहाँ जिस परम पदसे लौटनेका वर्णन है, वह ब्रह्मलोकसे भिन्न कोई उत्तम लोक था, जहाँ भगवान् मधुसूदनके सांनिध्य तथा श्रीरामके दर्शन-सुखका अनुभव होता था, इसे साक्षात् वैकुण्ठ या साकेत नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वहाँसे पुनरावृत्ति नहीं होती। फिर अनिच्छासे कथा-श्रवण करनेके कारण उन्हें अपुनरावर्ती लोक नहीं मिला था।

श्रीहरिकी कथा सुनिये। रामायण-कथा कामधेनुके समान अभीष्ट फल देनेवाली बतायी गयी है ॥ ६० ॥

माघे मासे सिते पक्षे रामायणं प्रयत्नतः।
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वधर्मफलप्रदम् ॥ ६१ ॥

माघमासके शुक्लपक्षमें प्रयत्नपूर्वक रामायणकी नवाहकथा सुननी चाहिये। वह सम्पूर्ण धर्मोंका फल प्रदान करनेवाली है ॥ ६१ ॥

य इदं पुण्यमाख्यानं सर्वपापप्रणाशनम्।
वाचयेच्छृणुयाद् वापि रामभक्तश्च जायते ॥ ६२ ॥

यह पवित्र आख्यान समस्त पापोंका नाश करनेवाला है। जो इसे बाँचता अथवा सुनता है, वह भगवान् श्रीरामका भक्त होता है ॥ ६२ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये माघफलानुकीर्तनं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमार-संवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें माघमासमें रामायणकथाश्रवणके फलका वर्णन नामक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः

चैत्रमासमें रामायणके पठन और श्रवणका माहात्म्य, कलिक नामक व्याध और उत्तङ्क मुनिकी कथा

नारद उवाच

अन्यमासं प्रवक्ष्यामि श्रृणुध्वं सुसमाहिताः।
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम् ॥ १ ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषिताम्।
समस्तकामफलदं सर्वव्रतफलप्रदम् ॥ २ ॥
दुःस्वप्ननाशनं धन्यं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम्।
रामायणस्य माहात्म्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ३ ॥

नारदजी कहते हैं—महर्षियो ! अब मैं रामायणके पाठ और श्रवणके लिये उपयोगी दूसरे मासका वर्णन करता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो। रामायणका माहात्म्य समस्त पापोंको हर लेनेवाला, पुण्यजनक तथा सम्पूर्ण दुःखोंका निवारण करनेवाला है। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा स्त्री—इन सबको समस्त मनोवाञ्छित फल प्रदान करनेवाला है। उससे सब प्रकारके व्रतोंका फल भी प्राप्त होता है। वह दुःस्वप्नका नाशक, धनकी प्राप्ति करानेवाला तथा भोग और मोक्षरूप फल देनेवाला है। अतः उसे प्रयत्नपूर्वक सुनना चाहिये ॥ १—३ ॥

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पठतां श्रृण्वतां चैव सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ४ ॥

इसी विषयमें विज्ञ पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं। वह इतिहास अपने पाठकों और श्रोताओंके समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ४ ॥

आसीत् पुरा कलियुगे कलिको नाम लुब्धकः।
परदारपरद्रव्यहरणे सततं रतः ॥ ५ ॥

प्राचीन कलियुगमें एक कलिक नामवाला व्याध रहता था। वह सदा परायी स्त्री और पराये धनके अपहरणमें लगा रहता था ॥ ५ ॥

परनिन्दापरो नित्यं जन्तुपीडाकरस्तथा।
हतवान् ब्राह्मणान् गावः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥

दूसरोंकी निन्दा करना उसका नित्यका काम था। वह सदा सभी जन्तुओंको पीड़ा दिया करता था। उसने कितने ही ब्राह्मणों तथा सैकड़ों, हजारों गौओंकी हत्या कर डाली थी ॥ ६ ॥

देवस्वहरणे नित्यं परस्वहरणे तथा।
तेन पापान्यनेकानि कृतानि सुमहान्ति च ॥ ७ ॥

पराये धनका तो वह नित्य अपहरण करता ही था, देवताके धनको भी हड़प लेता था। उसने अपने जीवनमें अनेक बड़े-बड़े पाप किये थे ॥ ७ ॥

न तेषां शक्यते वक्तुं संख्या वत्सरकोटिभिः।
स कदाचिन्महापापो जन्तूनामन्तकोपमः ॥ ८ ॥
सौवीरनगरं प्राप्तः सर्वैश्वर्यसमन्वितम्।
योषिद्भिर्भूषिताभिश्च सरोभिर्विमलोदकैः ॥ ९ ॥
अलंकृतं विपणिभिर्ययौ देवपुरोपमम्।

उसके पापोंकी गणना करोड़ों वर्षोंमें भी नहीं की जा सकती थी। एक समय वह महापापी व्याध, जो जीव-जन्तुओंके लिये यमराजके समान भयंकर था, सौवीरनगरमें गया। वह नगर सब प्रकारके वैभवसे सम्पन्न, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित युवतियोंद्वारा सुशोभित, स्वच्छ जलवाले सरोवरोंसे अलंकृत तथा भाँति-भाँतिकी दूकानोंसे सुसज्जित था। देवनगरके समान उसकी शोभा हो रही थी। व्याध उस नगरमें गया ॥ ८-९½ ॥

तस्योपवनमध्यस्थं रम्यं केशवमन्दिरम् ॥ १० ॥
छादितं हेमकलशैर्दृष्ट्वा व्याधो मुदं ययौ।
हराम्यत्र सुवर्णानि बहूनीति विनिश्चितः ॥ ११ ॥

सौवीरनगरके उपवनमें भगवान् केशवका बड़ा सुन्दर मन्दिर था, जो सोनेके अनेकानेक कलशोंसे ढका हुआ था। उसे देखकर व्याधको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने यह निश्चय कर लिया कि मैं यहाँसे बहुत-सा सुवर्ण चुराकर ले चलूँगा ॥ १०-११ ॥

जगाम रामभवनं कीनाशश्चौर्यलोलुपः।
तत्रापश्यद् द्विजवरं शान्तं तत्त्वार्थकोविदम् ॥ १२ ॥
परिचर्यापरं विष्णोरुत्तङ्कं तपसां निधिम्।

एकाकिनं दयालुं च निःस्पृहं ध्यानलोलुपम् ॥ १३ ॥

ऐसा निश्चय करके वह चोरीपर लट्टू रहनेवाला व्याध श्रीरामके मन्दिरमें गया। वहाँ उसने शान्त, तत्त्वार्थवेत्ता और भगवान्की आराधनामें तत्पर उत्तङ्क मुनिका दर्शन किया, जो तपस्याकी निधि थे। वे अकेले ही रहते थे। उनके हृदयमें सबके प्रति दया भरी थी। वे सब ओरसे निःस्पृह थे। उनके मनमें केवल भगवान्के ध्यानका ही लोभ बना रहता था ॥ १२-१३ ॥

दृष्ट्वासौ लुब्धको मेने तं चौर्यस्यान्तरायिणम्।
देवस्य द्रव्यजातं तु समादाय महानिशि ॥ १४ ॥

उन्हें वहाँ उपस्थित देख व्याधने उनको चोरीमें विघ्न डालनेवाला समझा। तदनन्तर जब आधी रात हुई, तब वह देवतासम्बन्धी द्रव्यसमूह लेकर चला ॥ १४ ॥

उत्तङ्कं हन्तुमारेभे उद्यतासिर्मदोद्धतः।
पादेनाक्रम्य तद्वक्षो गलं संगृह्य पाणिना ॥ १५ ॥

उस मदोन्मत्त व्याधने उत्तङ्क मुनिकी छातीको अपने एक पैरसे दबाकर हाथसे उनका गला पकड़ लिया और तलवार उठाकर उन्हें मार डालनेका उपक्रम किया ॥ १५ ॥

हन्तुं कृतमतिं व्याधं उत्तङ्को प्रेक्ष्य चाब्रवीत्।

उत्तङ्कने देखा व्याध मुझे मार डालना चाहता है तो वे उससे इस प्रकार बोले ॥ १५½ ॥

उत्तङ्क उवाच

भो भोः साधो वृथा मां त्वं हनिष्यसि निरागसम् ॥ १६ ॥

उत्तङ्कने कहा—ओ भले मानुष! तुम व्यर्थ ही मुझे मारना चाहते हो। मैं तो सर्वथा निरपराध हूँ ॥ १६ ॥

मया किमपराद्धं ते तद् वद त्वं च लुब्धक।
कृतापराधिनो लोके हिंसां कुर्वन्ति यत्नतः ॥ १७ ॥
न हिंसन्ति वृथा सौम्य सज्जना अप्यपापिनम्।

लुब्धक! बताओ तो सही, मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है? संसारमें लोग अपराधीकी ही प्रयत्नपूर्वक हिंसा करते हैं। सौम्य! सज्जन निरपराधकी व्यर्थ हिंसा नहीं करते हैं ॥ १७½ ॥

विरोधिष्वपि मूर्खेषु निरीक्ष्यावस्थितान् गुणान् ॥ १८ ॥
विरोधं नाधिगच्छन्ति सज्जनाः शान्तचेतसः।

शान्तचित्त साधु पुरुष अपने विरोधी तथा मूर्ख मनुष्योंमें भी सद्गुणोंकी स्थिति देखकर उनके साथ विरोध नहीं रखते हैं ॥ १८½ ॥

बहुधा वाच्यमानोऽपि यो नरः क्षमयान्वितः ॥ १९ ॥
तमुत्तमं नरं प्राहुर्विष्णोः प्रियतरं तथा ॥ २० ॥

जो मनुष्य बारंबार दूसरोंकी गाली सुनकर भी क्षमाशील बना रहता है, वह उत्तम कहलाता है। उसे भगवान् विष्णुका अत्यन्त प्रियजन बताया गया है ॥ १९-२० ॥

सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभी करोति मुखं कुठारस्य ॥ २१ ॥

दूसरोंके हित-साधनमें लगे रहनेवाले साधुजन किसीके द्वारा अपने विनाशका समय उपस्थित होनेपर भी उसके स[illegible] वैर नहीं करते। चन्दनका वृक्ष अपनेको काटनेपर भी कुठा[illegible] की धारको सुवासित ही करता है ॥ २१ ॥

अहो विधिर्वै बलवान् बाधते बहुधा जनान्।
सर्वसङ्गविहीनोऽपि बाध्यते तु दुरात्मना ॥ २२ ॥

अहो! विधाता बड़ा बलवान् है। वह लोगोंको नान[illegible] प्रकारसे कष्ट देता रहता है। जो सब प्रकारके संगसे रहित हैं, उसे भी दुरात्मा मनुष्य सताया करते हैं ॥ २२ ॥

अहो निष्कारणं लोके बाधन्ते दुर्जना जनान्।
धीवराः पिशुना व्याधा लोकेऽकारणवैरिणः ॥ २३ ॥

अहो! दुष्ट जन इस संसारमें बहुत-से जीवोंको बिना किसी अपराधके ही पीड़ा देते हैं। मल्लाह मछलियोंके, जो चुगलखोर सज्जनोंके और व्याध मृगोंके इस जगत्में [illegible] अकारण वैरी होते हैं ॥ २३ ॥

अहो बलवती माया मोहयत्यखिलं जगत्।
पुत्रमित्रकलत्राद्यैः सर्वदुःखेन योज्यते ॥ २४ ॥

अहो! माया बड़ी प्रबल है। यह सम्पूर्ण जगत्को मोहमें डाल देती है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके द्वारा सबको सब प्रकारके दुःखोंसे संयुक्त कर देती है ॥ २४ ॥

परद्रव्यापहारेण कलत्रं पोषितं च यत्।
अन्ते तत् सर्वमुत्सृज्य एक एव प्रयाति वै ॥ २५ ॥

मनुष्य पराये धनका अपहरण करके जो अपनी स्त्री आदिका पोषण करता है, वह किस कामका; क्योंकि अन्तमें उन सबको छोड़कर वह अकेला ही परलोककी राह लेता है ॥ २५ ॥

मम माता मम पिता मम भार्या ममात्मजाः।
ममेदमिति जन्तूनां ममता बाधते वृथा ॥ २६ ॥

'मेरी माता, मेरे पिता, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र तथा मेरा यह घरबार'—इस प्रकार ममता व्यर्थ ही प्राणियोंको कष्ट देती रहती है ॥ २६ ॥

यावदर्पयति द्रव्यं तावद् भवति बान्धवः।
अर्जितं तु धनं सर्वं भुञ्जन्ते बान्धवाः सदा ॥ २७ ॥
दुःखमेकतमा मूढस्तत्पापफलमश्नुते।

मनुष्य जबतक कमाकर धन देता है, तभीतक लोग उसके भाई-बन्धु बने रहते हैं और उसके कमाये हुए धनको सारे बन्धु-बान्धव सदा भोगते रहते हैं; किंतु मूर्ख मनुष्य अपने किये हुए पापके फलरूप दुःखको अकेला ही भोगता है ॥ २७½ ॥

इति ब्रुवाणं तमृषिं विमृश्य भयविह्वलः ॥ २८ ॥
कलिकः प्राञ्जलिः प्राह क्षमस्वेति पुनः पुनः।

उत्तङ्कमुनि जब इस प्रकार कह रहे थे, तब उनकी बातोंपर विचार करके कलिक नामक व्याध भयसे व्याकुल हो उठा और हाथ जोड़कर बारंबार कहने लगा—'प्रभो! मेरे अपराधको क्षमा कीजिये' ॥ २८½ ॥

तत्सङ्गस्य प्रभावेण हरिसंनिधिमात्रतः ॥ २९ ॥

पापो लुब्धकश्च सानुतापोऽभवद् ध्रुवम् ।

उन महात्माके संगके प्रभावसे तथा भगवान्‌का निश्चय मिल जानेसे उस लुब्धकके सारे पाप नष्ट हो गये और उसके मनमें निश्चय ही बड़ा पश्चात्ताप होने लगा ॥ २९½ ॥

मया कृतानि पापानि महान्ति सुबहूनि च ॥ ३० ॥
तानि सर्वाणि नष्टानि विप्रेन्द्र तव दर्शनात् ।

वह बोला—'विप्रवर ! मैंने जीवनमें बहुत-से बड़े-बड़े पाप किये हैं; किंतु वे सब आपके दर्शनमात्रसे नष्ट हो गये ॥

अहं वै पापधीर्नित्यं महापापं समाचरन् ॥ ३१ ॥
कथं मे निष्कृतिर्भूयात् कं यामि शरणं विभो ।

'प्रभो ! मेरी बुद्धि सदा पापमें ही डूबी रहती थी । मैंने निरन्तर बड़े-बड़े पापोंका ही आचरण किया है । उनसे मेरा उद्धार किस प्रकार होगा ? मैं किसकी शरणमें जाऊँ ॥

पूर्वजन्मार्जितैः पापैर्लुब्धकत्वमवाप्तवान् ॥ ३२ ॥
अत्रापि पापजालानि कृत्वा कां गतिमाप्नुयाम् ।

'पूर्वजन्मके किये हुए पापोंके फलसे मुझे व्याध होना पड़ा है, यहाँ भी मैंने पापोंके ही जाल बटोरे हैं । ये पाप करके मैं किस गतिको प्राप्त होऊँगा ?' ॥ ३२½ ॥

इति वाक्यं समाकर्ण्य कलिकस्य महात्मनः ॥ ३३ ॥
उत्तङ्को नाम विप्रर्षिरिदं वाक्यमथाब्रवीत् ।

महामना कलिककी यह बात सुनकर ब्रह्मर्षि उत्तङ्क इस प्रकार बोले ॥ ३३½ ॥

उत्तङ्क उवाच

साधु साधु महाप्राज्ञ मतिस्ते विमलोज्ज्वला ॥ ३४ ॥
यस्मात् संसारदुःखानां नाशोपायमभीप्ससि ।

उत्तङ्कने कहा—महामते व्याध ! तुम धन्य हो, धन्य हो, तुम्हारी बुद्धि बड़ी निर्मल और उज्ज्वल है; क्योंकि तुम संसारसम्बन्धी दुःखोंके नाशका उपाय जानना चाहते हो ॥ ३४½ ॥

चैत्रे मासि सिते पक्षे कथा रामायणस्य च ॥ ३५ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्या भक्तिभावेन सादरम् ।
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३६ ॥

चैत्रमासके शुक्लपक्षमें तुम्हें भक्तिभावसे आदरपूर्वक रामायणकी नवाह कथा सुननी चाहिये । उसके श्रवणमात्रसे मनुष्य समस्त पापोंसे छुटकारा पा जाता है ॥ ३५-३६ ॥

तस्मिन् क्षणेऽसौ कलिको लुब्धको वीतकल्मषः ।
रामायणकथां श्रुत्वा सद्यः पञ्चत्वमागतः ॥ ३७ ॥

उस समय कलिक व्याधके सारे पाप नष्ट हो गये । वह रामायणकी कथा सुनकर तत्काल मृत्युको प्राप्त हो गया ॥ ३७ ॥

उत्तङ्कः पतितं वीक्ष्य लुब्धकं तं दयापरः ।
एतद् दृष्ट्वा विस्मितश्च अस्तौषीत् कमलापतिम् ॥ ३८ ॥

व्याधको धरतीपर पड़ा हुआ देख दयालु उत्तङ्क मुनि बड़े विस्मित हुए । फिर उन्होंने भगवान् कमलापतिका स्तवन किया ॥ ३८ ॥

कथां रामायणस्यापि श्रुत्वा च वीतकल्मषः ।
दिव्यं विमानमारुह्य मुनिमेतदथाब्रवीत् ॥ ३९ ॥

रामायणकी कथा सुनकर निष्पाप हुआ व्याध दिव्य विमानपर आरूढ़ हो उत्तङ्क मुनिसे इस प्रकार बोला—॥ ३९ ॥

विमुक्तस्त्वत्प्रसादेन महापातकसंकटात् ।
तस्मान्नतोऽस्मि ते विद्वन् यत् कृतं तत् क्षमस्व मे ॥

'विद्वन् ! आपके प्रसादसे मैं महापातकोंके संकटसे मुक्त हो गया । अतः मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ । मैंने जो किया है, मेरे उस अपराधको आप क्षमा कीजिये' ॥ ४० ॥

सूत उवाच

इत्युक्त्वा देवकुसुमैर्मुनिश्रेष्ठमवाकिरत् ।
प्रदक्षिणात्रयं कृत्वा नमस्कारं चकार ह ॥ ४१ ॥

सूतजी कहते हैं—ऐसा कहकर कलिकने मुनिश्रेष्ठ उत्तङ्कपर देवकुसुमोंकी वर्षा की और तीन बार उनकी परिक्रमा करके उन्हें बारंबार नमस्कार किया ॥ ४१ ॥

ततो विमानमारुह्य सर्वकामसमन्वितम् ।
अप्सरोगणसंकीर्णं प्रपेदे हरिमन्दिरम् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् अप्सराओंसे भरे हुए सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न विमानपर आरूढ़ हो वह श्रीहरिके परम धाममें जा पहुँचा ॥ ४२ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्राः कथां रामायणस्य च ।
चैत्रे मासि सिते पक्षे श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥ ४३ ॥
नवाह्ना किल रामस्य रामायणकथामृतम् ।

अतः विप्रवरो ! आप सब लोग रामायणकी कथा सुनें । चैत्रमासके शुक्लपक्षमें प्रयत्नपूर्वक रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह-पारायण अवश्य सुनना चाहिये ॥४३½॥

तस्मादृतुषु सर्वेषु हितकृद्धरिपूजकः ॥ ४४ ॥
ईप्सितं मनसा यद्यत् तदाप्नोति न संशयः ।

इसलिये रामायण सभी ऋतुओंमें हितकारक है । इसके द्वारा भगवान्‌की पूजा करनेवाला पुरुष मनसे जो-जो चाहता है, उसे निःसंदेह प्राप्त कर लेता है ॥ ४४½ ॥

सनत्कुमार यत् पृष्टं तत् सर्वं गदितं मया ॥ ४५ ॥
रामायणस्य माहात्म्यं किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि ॥ ४६ ॥

सनत्कुमार ! तुमने जो रामायणका माहात्म्य पूछा था, वह सब मैंने बता दिया । अब और क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ४५-४६ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये चैत्रमासफलानुकीर्तनं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें नारद-सनत्कुमार-संवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसंगमें चैत्रमासमें रामायण सुननेके फलका वर्णन नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः

रामायणके नवाहश्रवणकी विधि, महिमा तथा फलका वर्णन

सूत उवाच

रामायणस्य माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीतो मुनीश्वरः ।
सनत्कुमारः पप्रच्छ नारदं मुनिसत्तमम् ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—रामायणका यह माहात्म्य सुनकर मुनीश्वर सनत्कुमार बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने मुनिश्रेष्ठ नारदजीसे पुनः जिज्ञासा की ॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच

रामायणस्य माहात्म्यं कथितं वै मुनीश्वर ।
इदानीं श्रोतुमिच्छामि विधिं रामायणस्य च ॥ २ ॥

सनत्कुमार बोले—मुनीश्वर ! आपने रामायणका माहात्म्य कहा । अब मैं उसकी विधि सुनना चाहता हूँ ॥२॥

एतच्चापि महाभाग मुने तत्त्वार्थकोविद ।
कृपया परयाविष्टो यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

महाभाग मुने ! आप तत्त्वार्थ-ज्ञानमें कुशल हैं; अतः अत्यन्त कृपापूर्वक इस विषयको यथार्थरूपसे बतायें ॥ ३ ॥

नारद उवाच

रामायणविधिं चैव शृणुध्वं सुसमाहिताः ।
सर्वलोकेषु विख्यातं स्वर्गमोक्षविवर्धनम् ॥ ४ ॥

नारदजीने कहा—महर्षियो ! तुमलोग एकाग्रचित्त होकर रामायणकी वह विधि सुनो, जो सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है । वह स्वर्ग तथा मोक्ष-सम्पत्तिकी वृद्धि करनेवाली है ॥ ४ ॥

विधानं तस्य वक्ष्यामि शृणुध्वं गदतो मम ।
रामायणकथां कुर्वन् भक्तिभावेन भावितः ॥ ५ ॥

मैं रामायणकथा-श्रवणका विधान बता रहा हूँ; तुम सब लोग उसे सुनो । रामायणकथाका अनुष्ठान करनेवाले वक्ता एवं श्रोताको भक्तिभावसे भावित होकर उस विधानका पालन करना चाहिये ॥ ५ ॥

येन चीर्णेन पापानां कोटिकोटिः प्रणश्यति ।
चैत्रे माघे कार्तिके च पञ्चम्यामथवाऽऽरभेत् ॥ ६ ॥

उस विधिका पालन करनेसे करोड़ों पाप नष्ट हो जाते हैं । चैत्र, माघ तथा कार्तिकमासके शुक्लपक्षकी पञ्चमी तिथिको कथा आरम्भ करनी चाहिये ॥ ६ ॥

संकल्पं तु ततः कुर्यात् स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ।
अहोभिर्नवभिः श्राव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ७ ॥

पहले स्वस्तिवाचन करके फिर यह संकल्प करे कि 'हम नौ दिनोंतक रामायणकी अमृतमयी कथा सुनेंगे' ॥ ७ ॥

अद्य प्रभृत्यहं राम शृणोमि त्वत्कथामृतम् ।
प्रत्यहं पूर्णतामेतु तव राम प्रसादतः ॥ ८ ॥

फिर भगवान्से प्रार्थना करे—'श्रीराम ! आजसे प्रतिदिन मैं आपकी अमृतमयी कथा सुनूँगा । यह आपके कृपा-प्रसादसे परिपूर्ण हो' ॥ ८ ॥

प्रत्यहं दन्तशुद्धिं च अपामार्गस्य शाखया ।
कृत्वा स्नायीत विधिवद् रामभक्तिपरायणः ॥ ९ ॥

नित्यप्रति अपामार्गकी शाखासे दन्तशुद्धि करके राम-भक्तिमें तत्पर हो विधिपूर्वक स्नान करे ॥ ९ ॥

स्वयं च बन्धुभिः सार्द्धं शृणुयात् प्रयतेन्द्रियः ।
स्नानं कृत्वा यथाचारं दन्तधावनपूर्वकम् ॥ १० ॥
शुक्लाम्बरधरः शुद्धो गृहमागत्य वाग्यतः ।
प्रक्षाल्य पादावाचम्य स्मरेन्नारायणं प्रभुम् ॥ ११ ॥

अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखकर भाई-बन्धुओंके साथ स्वयं कथा सुने । पहले अपने कुलाचारके अनुसार दन्तधावनपूर्वक स्नान करके श्वेत वस्त्र धारण करे और शुद्ध हो घर आकर मौनभावसे दोनों पैर धोनेके पश्चात् आचमन करके भगवान् नारायणका स्मरण करे ॥ १०-११ ॥

नित्यं देवार्चनं कृत्वा पश्चात् संकल्पपूर्वकम् ।
रामायणपुस्तकं च अर्चयेद् भक्तिभावतः ॥ १२ ॥

फिर प्रतिदिन देवपूजन करके संकल्पपूर्वक भक्तिभावसे रामायण ग्रन्थकी पूजा करे ॥ १२ ॥

आवाहनासनाद्यैश्च गन्धपुष्पादिभिर्व्रती ।
ॐ नमो नारायणायेति पूजयेद् भक्तितत्परः ॥ १३ ॥

व्रती पुरुष आवाहन, आसन, गन्ध, पुष्प आदिके द्वारा 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रसे भक्तिपरायण होकर पूजन करे ॥ १३ ॥

एकवारं द्विवारं वा त्रिवारं वापि शक्तितः ।
होमं कुर्यात् प्रयत्नेन सर्वपापनिवृत्तये ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार एक, दो या तीन बार प्रयत्नपूर्वक होम करे ॥ १४ ॥

एवं यः प्रयतः कुर्याद् रामायणविधिं तथा ।
स याति विष्णुभवनं पुनरावृत्तिदुर्लभम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार जो मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर रामायणकी विधिका अनुष्ठान करता है, वह भगवान् विष्णुके धाममें जाता है; जहाँसे लौटकर वह फिर इस संसारमें नहीं आता ॥ १५ ॥

रामायणव्रतधरो धर्मकारी च सत्तमः ।
चाण्डालं पतितं वापि वस्त्रान्नेनापि नार्चयेत् ॥ १६ ॥

जो रामायणसम्बन्धी व्रतको धारण करनेवाला तथा धर्मात्मा है, वह श्रेष्ठ पुरुष चाण्डाल अथवा पतित मनुष्यका सत्कार न करे ॥ १६ ॥

नास्तिकान् भिन्नमर्यादान् निन्दकान् पिशुनानपि ।
रामायणव्रतपरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ १७ ॥

जो नास्तिक, धर्ममर्यादाको तोड़नेवाले, परनिन्दक और चुगलखोर हैं, उनका रामायणव्रतधारी पुरुष वाणीमात्रसे भी आदर न करे ॥ १७ ॥

कुण्डाशिनं गायकं च तथा देवलकाशनम् ।
भिषजं काव्यकर्तारं देवद्विजविरोधिनम् ॥ १८ ॥

अन्नलोलुपं चैव परस्त्रीनिरतं तथा।
रामायणव्रतपरो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥ १९ ॥

जो पतिके जीवित रहते ही परपुरुषके समागमसे माता-द्वारा उत्पन्न किया जाता है, उस जारज पुत्रको 'कुण्ड' कहते हैं। ऐसे कुण्डके यहाँ जो भोजन करता है, जो गीत गाकर जीविका चलाता है, देवतापर चढ़ी हुई वस्तुका उपभोग करनेवाले मनुष्यका अन्न खाता है, वैद्य है, लोगोंकी मिथ्या प्रशंसामें कविता लिखता है, देवताओं तथा ब्राह्मणोंका विरोध करता है, पराये अन्नका लोभी है और पर-स्त्रीमें आसक्त रहता है, ऐसे मनुष्यका भी रामायणव्रती पुरुष वाणीमात्रसे भी आदर न करे ॥ १८-१९ ॥

इत्येवमादिभिः शुद्धो वशी सर्वहिते रतः।
रामायणपरो भूत्वा परां सिद्धिं गमिष्यति ॥ २० ॥

इस प्रकारके दोषोंसे दूर एवं शुद्ध होकर जितेन्द्रिय एवं सबके हितमें तत्पर रहते हुए जो रामायणका आश्रय लेता है, वह परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

नास्ति गङ्गासमं तीर्थं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति विष्णुसमो देवो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २१ ॥

गङ्गाके समान तीर्थ, माताके तुल्य गुरु, भगवान् विष्णुके सदृश देवता तथा रामायणसे बढ़कर कोई उत्तम वस्तु नहीं है ॥ २१ ॥

नास्ति वेदसमं शास्त्रं नास्ति शान्तिसमं सुखम्।
नास्ति शान्तिपरं ज्योतिर्नास्ति रामायणात् परम् ॥ २२ ॥

वेदके समान शास्त्र, शान्तिके समान सुख, शान्तिसे बढ़कर ज्योति तथा रामायणसे उत्कृष्ट कोई काव्य नहीं है ॥ २२ ॥

नास्ति क्षमासमं सारं नास्ति कीर्तिसमं धनम्।
नास्ति ज्ञानसमो लाभो नास्ति रामायणात् परम् ॥ २३ ॥

क्षमाके सदृश बल, कीर्तिके समान धन, ज्ञानके सदृश लाभ तथा रामायणसे बढ़कर कोई उत्तम ग्रन्थ नहीं है ॥ २३ ॥

तदन्ते वेदविदुषे गां दद्याच्च सदक्षिणाम्।
रामायणं पुस्तकं च वस्त्रालंकारणादिकम् ॥ २४ ॥

रामायणकथाके अन्तमें वेदज्ञ वाचकको दक्षिणासहित गौका दान करे। उन्हें रामायणकी पुस्तक तथा वस्त्र और आभूषण आदि दे ॥ २४ ॥

रामायणपुस्तकं यो वाचकाय प्रयच्छति।
स याति विष्णुभवनं यत्र गत्वा न शोचति ॥ २५ ॥

जो वाचकको रामायणकी पुस्तक देता है, वह भगवान् विष्णुके धाममें जाता है; जहाँ जाकर उसे कभी शोक नहीं करना पड़ता ॥ २५ ॥

नवाहजफलं कर्तुः शृणु धर्मविदां वर।
पञ्चम्यां तु समारभ्य रामायणकथामृतम् ॥ २६ ॥
कथाश्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।

धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ सनत्कुमार! रामायणकी नवाहकथा सुननेसे यजमानको जो फल प्राप्त होता है, उसे सुनो। पञ्चमी तिथिको रामायणकी अमृतमयी कथाको आरम्भ करके उसके श्रवणमात्रसे मनुष्य सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २६½ ॥

यदि द्वयं कृतं तस्य पुण्डरीकफलं लभेत् ॥ २७ ॥
व्रतधारी तु श्रवणं यः कुर्यात् स जितेन्द्रियः।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य द्विगुणं फलमश्नुते ॥ २८ ॥
चतुःकृत्वः श्रुतं येन कथितं मुनिसत्तमाः।
स लभेत् परमं पुण्यमग्निष्टोमाष्टसम्भवम् ॥ २९ ॥

यदि दो बार यह कथा श्रवण की गयी तो श्रोताको पुण्डरीकयज्ञका फल मिलता है। जो जितेन्द्रिय पुरुष व्रत-धारणपूर्वक रामायणकथाको श्रवण करता है, वह दो अश्वमेध यज्ञोंका फल पाता है। मुनिवरो! जिसने चार बार इस कथाका श्रवण किया है, वह आठ अग्निष्टोमके परम पुण्यफलका भागी होता है ॥ २७—२९ ॥

पञ्चकृत्वो व्रतमिदं कृतं येन महात्मना।
अत्यग्निष्टोमजं पुण्यं द्विगुणं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३० ॥

जिस महामनस्वी पुरुषने पाँच बार रामायणकथा-श्रवणका व्रत पूरा कर लिया है, वह अत्यग्निष्टोम यज्ञके द्विगुण पुण्यफलका भागी होता है ॥ ३० ॥

एवं व्रतं च षड्वारं कुर्याद् यस्तु समाहितः।
अग्निष्टोमस्य यज्ञस्य फलमष्टगुणं लभेत् ॥ ३१ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर इस प्रकार छः बार रामायणकथाके व्रतका अनुष्ठान पूरा कर लेता है, वह अग्निष्टोम यज्ञके आठगुने फलका भागी होता है ॥ ३१ ॥

नारी वा पुरुषः कुर्यादष्टकृत्वो मुनीश्वराः।
नरमेधस्य यज्ञस्य फलं पञ्चगुणं लभेत् ॥ ३२ ॥

मुनीश्वरो! स्त्री हो या पुरुष, जो आठ बार रामायण-कथाको सुन लेता है, वह नरमेध यज्ञका पाँचगुना फल पाता है ॥ ३२ ॥

नरो वाप्यथ नारी वा नववारं समाचरेत्।
गोमेधसवजं पुण्यं स लभेत् त्रिगुणं नरः ॥ ३३ ॥

जो स्त्री या पुरुष नौ बार इस व्रतका आचरण करता है, उसे तीन गोमेध-यज्ञका पुण्यफल प्राप्त होता है ॥ ३३ ॥

रामायणं तु यः कुर्याच्छान्तात्मा प्रयतेन्द्रियः।
स याति परमानन्दं यत्र गत्वा न शोचति ॥ ३४ ॥

जो पुरुष शान्तचित्त और जितेन्द्रिय होकर रामायणयज्ञका अनुष्ठान करता है, वह उस परमानन्दमय धाममें जाता है, जहाँ जाकर उसे कभी शोक नहीं करना पड़ता ॥ ३४ ॥

रामायणपरो नित्यं गङ्गास्नानपरायणः।
धर्ममार्गप्रवक्तारो मुक्ता एवं न संशयः ॥ ३५ ॥

जो प्रतिदिन रामायणका पाठ अथवा श्रवण करता है, गङ्गा नहाता है और धर्ममार्गका उपदेश देता है; ऐसे लोग संसारसागरसे मुक्त ही हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ३५ ॥

यतीनां ब्रह्मचारिणां प्रवीराणां च सत्तमाः।
नवाह्ना किल श्रोतव्या कथा रामायणस्य च ॥ ३६ ॥

महात्माओ! यतियों, ब्रह्मचारियों तथा प्रवीरोंको भी

रामायणकी नवाहकथा सुननी चाहिये ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा नरो रामकथामतिदीप्तोऽतिभक्तितः ।
ब्रह्मणः पदमासाद्य तत्रैव परिमोदते ॥ ३७ ॥

रामकथाको अत्यन्त भक्तिपूर्वक सुनकर मनुष्य महान् तेजसे उद्दीप्त हो उठता है और ब्रह्मलोकमें जाकर वहीं आनन्दका अनुभव करता है ॥ ३७ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ।
श्रोतॄणां च परं श्राव्यं पवित्राणामनुत्तमम् ॥ ३८ ॥

इसलिये विप्रेन्द्रगण ! आपलोग रामायणकी अमृतमयी कथा सुनिये । श्रोताओंके लिये यह सर्वोत्तम श्रवणीय वस्तु है और पवित्रोंमें भी परम उत्तम है ॥ ३८ ॥

नाशनं धन्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ।
श्रद्धया युक्तः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ॥ ३९ ॥
मुच्यते सद्यो ह्युपपातककोटिभिः ।
प्रयोक्तव्यं गुह्याद्गुह्यतमं तु यत् ॥ ४० ॥

स्वप्नको नष्ट करनेवाली यह कथा धन्य है । इसे र्वक सुनना चाहिये । जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर एक श्लोक या आधा श्लोक भी पढ़ता है, वह तत्काल करोड़ों उपपातकोंसे छुटकारा पा जाता है । यह गुह्यसे भी त्तम वस्तु है, इसे सत्पुरुषोंको ही सुनाना चाहिये ॥३९-४०॥

चयेद् रामभवने पुण्यक्षेत्रे च संसदि ।
द्विषरतानां च दम्भाचाररतात्मनाम् ॥ ४१ ॥
कवञ्चकवृत्तीनां न ब्रूयादिदमुत्तमम् ।

भगवान् श्रीरामके मन्दिरमें अथवा किसी पुण्यक्षेत्रमें, पुरुषोंकी सभामें रामायणकथाका प्रवचन करना चाहिये । ब्रह्मद्रोही, पाखण्डपूर्ण आचारमें तत्पर तथा लोगोंको ठगनेवाली वृत्तिसे युक्त हैं, उन्हें यह परम उत्तम कथा नहीं सुनानी चाहिये ॥ ४१½ ॥

त्यक्तकामादिदोषाणां रामभक्तिरतात्मनाम् ॥ ४२ ॥
गुरुभक्तिरतानां च वक्तव्यं मोक्षसाधनम् ।

जो काम आदि दोषोंका त्याग कर चुके हैं, जिनका मन रामभक्तिमें अनुरक्त रहता है तथा जो गुरुजनोंकी सेवामें तत्पर हैं, उन्हींके समक्ष यह मोक्षकी साधनभूत कथा बाँचनी चाहिये । ४२½ ॥

सर्वदेवमयो रामः स्मृतश्चार्तिप्रणाशनः ॥ ४३ ॥
सद्भक्तवत्सलो देवो भक्त्या तुष्यति नान्यथा ।

श्रीराम सर्वदेवमय माने गये हैं । वे आर्त प्राणियोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं तथा श्रेष्ठ भक्तोंपर सदा ही स्नेह रखते हैं । वे भगवान् भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं, दूसरे किसी उपायसे नहीं ॥ ४३½ ॥

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते वा स्मृतेऽपि वा ॥ ४४ ॥
विमुक्तपातकः सोऽपि परमं पदमश्नुते ।

मनुष्य विवश होकर भी उनके नामका कीर्तन अथवा स्मरण कर लेनेपर समस्त पातकोंसे मुक्त हो परमपदका भागी होता है ॥ ४४½ ॥

संसारघोरकान्तारदावाग्निर्मधुसूदनः ॥ ४५ ॥
स्मर्तॄणां सर्वपापानि नाशयत्याशु सत्तमाः ।

महात्माओ ! भगवान् मधुसूदन संसाररूपी भयंकर एवं दुर्गम वनको भस्म करनेके लिये दावानलके समान हैं । वे अपना स्मरण करनेवाले मनुष्योंके समस्त पापोंका शीघ्र ही नाश कर देते हैं ॥ ४५½ ॥

तदर्थकमिदं पुण्यं काव्यं श्राव्यमनुत्तमम् ॥ ४६ ॥
श्रवणात् पठनाद् वापि सर्वपापविनाशकृत् ।

इस पवित्र काव्यके प्रतिपाद्य विषय वे ही हैं, अतः यह परम उत्तम काव्य सदा ही श्रवण करने योग्य है । इसका श्रवण अथवा पाठ करनेसे यह समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ॥ ४६½ ॥

यस्य रामरसे प्रीतिर्वर्तते भक्तिसंयुता ॥ ४७ ॥
स एव कृतकृत्यश्च सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।

जिसकी श्रीराम-रसमें प्रीति एवं भक्ति है, वही सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थज्ञानमें निपुण और कृतकृत्य है ॥ ४७½ ॥

तदर्जितं तपः पुण्यं तत्सत्यं सफलं द्विजाः ॥ ४८ ॥
यदर्थश्रवणे प्रीतिरन्यथा न हि वर्तते ।

ब्राह्मणो ! उसीकी उपार्जित की हुई तपस्या पवित्र, सत्य और सफल है; क्योंकि रामरसमें प्रीति हुए बिना रामायणके अर्थ-श्रवणमें प्रेम नहीं होता है ॥ ४८½ ॥

रामायणपरा ये तु रामनामपरायणाः ॥ ४९ ॥
त एव कृतकृत्याश्च घोरे कलियुगे द्विजाः ।

जो द्विज इस भयंकर कलिकालमें रामायण तथा श्रीराम-नामका सहारा लेते हैं, वे ही कृतकृत्य हैं ॥ ४९½ ॥

नवाह्ना किल श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ५० ॥
ते कृतज्ञा महात्मानस्तेभ्यो नित्यं नमो नमः ।

रामायणकी इस अमृतमयी कथाका नवाह श्रवण करना चाहिये । जो महात्मा ऐसा करते हैं, वे कृतज्ञ हैं । उन्हें प्रतिदिन मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ ५०½ ॥

रामनामैव नामैव नामैव मम जीवनम् ॥ ५१ ॥
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।

श्रीरामका नाम—केवल श्रीराम-नाम ही मेरा जीवन है । कलियुगमें और किसी उपायसे जीवोंकी सद्गति नहीं होती, नहीं होती, नहीं होती ॥ ५१½ ॥

सूत उवाच

एवं सनत्कुमारस्तु नारदेन महात्मना ॥ ५२ ॥
सम्यक् प्रबोधितः सद्यः परां निर्वृतिमाप ह ।

सूतजी कहते हैं—महात्मा नारदजीके द्वारा इस प्रकार ज्ञानोपदेश पाकर सनत्कुमारजीको तत्काल ही परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी ॥ ५२½ ॥

तस्माच्छृणुध्वं विप्रेन्द्रा रामायणकथामृतम् ॥ ५३ ॥
नवाह्ना किल श्रोतव्यं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।

अतः विप्रवरो ! तुम सब लोग रामायणकी अमृतमयी कथा सुनो । रामायणको नौ दिनोंमें ही सुनना चाहिये । ऐसा

करनेवाला समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ५३½ ॥

श्रुत्वा चैतन्महाकाव्यं वाचकं यस्तु पूजयेत् ॥ ५४ ॥
तस्य विष्णुः प्रसन्नः स्याच्छ्रिया सह द्विजोत्तमाः ।

द्विजोत्तमो ! इस महान् काव्यको सुनकर जो वाचककी पूजा करता है, उसपर लक्ष्मीसहित भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं ॥ ५४½ ॥

वाचके प्रीतिमापन्ने ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ५५ ॥
प्रीता भवन्ति विप्रेन्द्रा नात्र कार्या विचारणा ।

विप्रेन्द्रगण ! वाचकके प्रसन्न होनेपर ब्रह्मा, विष्णु और महादेवजी प्रसन्न हो जाते हैं । इस विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये ॥ ५५½ ॥

रामायणवाचकाय गावो वासांसि काञ्चनम् ॥ ५६ ॥
रामायणपुस्तकं च दद्याद् वित्तानुसारतः ।

रामायणके वाचकको अपने वैभवके अनुसार गौ, वस्त्र, सुवर्ण तथा रामायणकी पुस्तक आदि वस्तुएँ देनी चाहिये ॥

तस्य पुण्यफलं वक्ष्ये शृणुध्वं सुसमाहिताः ॥ ५७ ॥
न बाधन्ते ग्रहास्तस्य भूतवेतालकादयः ।
तस्यैव सर्वश्रेयांसि वर्द्धन्ते चरिते श्रुते ॥ ५८ ॥

उस दानका पुण्यफल बता रहा हूँ, आपलोग एकाग्रचित्त होकर सुनें । उस दाताको ग्रह तथा भूत-वेताल आदि कभी बाधा नहीं पहुंचाते । श्रीरामचरित्रका श्रवण करनेपर श्रोताके सम्पूर्ण श्रेयकी वृद्धि होती है ॥ ५७-५८ ॥

न चाग्निर्बाधते तस्य न चौरादिभयं तथा ।
एतज्जन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमुच्यते ॥ ५९ ॥
सप्तवंशसमेतस्तु देहान्ते मोक्षमाप्नुयात् ।

उसे न तो अग्निकी बाधा प्राप्त होती है और न चोर आदिका भय ही । वह इस जन्ममें उपार्जित किये हुए समस्त पापोंसे तत्काल मुक्त हो जाता है । वह इस शरीरका अन्त होनेपर अपनी सात पीढ़ियोंके साथ मोक्षका भागी होता है ॥ ५९½ ॥

इत्येतद्वः समाख्यातं नारदेन प्रभाषितम् ॥ ६० ॥
सनत्कुमारमुनये पृच्छते भक्तितः पुरा ।

पूर्वकालमें सनत्कुमार मुनिके भक्तिपूर्वक पूछनेपर नारदजीने उनसे जो कुछ कहा था, वह सब मैंने आपलोगोंको बता दिया ॥ ६०½ ॥

रामायणमादिकाव्यं सर्ववेदार्थसम्मतम् ॥ ६१ ॥
सर्वपापहरं पुण्यं सर्वदुःखनिबर्हणम् ।
समस्तपुण्यफलदं सर्वयज्ञफलप्रदम् ॥ ६२ ॥

रामायण आदिकाव्य है । यह सम्पूर्ण वेदार्थोंकी सम्मतिके अनुकूल है । इसके द्वारा समस्त पापोंका निवारण हो जाता है । यह पुण्यमय काव्य सम्पूर्ण दुःखोंका विनाशक तथा समस्त पुण्यों और यज्ञोंका फल देनेवाला है ॥ ६१-६२ ॥

ये पठन्त्यत्र विबुधाः श्लोकं श्लोकार्द्धमेव च ।
न तेषां पापबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥ ६३ ॥

जो विद्वान् इसके एक या आधे श्लोकका भी पाठ करते हैं उन्हें कभी पापोंका बन्धन नहीं प्राप्त होता ॥ ६३ ॥

रामार्पितमिदं पुण्यं काव्यं तु सर्वकामदम् ।
भक्त्या शृण्वन्ति विन्दन्ति तेषां पुण्यफलं शृणु ॥ ६४ ॥

श्रीरामको समर्पित किया हुआ यह पुण्यकाव्य सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला है । जो लोग भक्तिपूर्वक इसे सुनते और समझते हैं, उनको प्राप्त होनेवाले पुण्यफलका वर्णन सुनो ॥ ६४ ॥

शतजन्मार्जितैः पापैः सद्य एव विमोचिताः ।
सहस्रकुलसंयुक्तैः प्रयान्ति परमं पदम् ॥ ६५ ॥

वे लोग सौ जन्मोंमें उपार्जित किये हुए पापोंसे तत्काल मुक्त हो अपनी हजारों पीढ़ियोंके साथ परम पदको प्राप्त होते हैं ॥ ६५ ॥

किं तीर्थैर्गोप्रदानैर्वा किं तपोभिः किमध्वरैः ।
अहन्यहनि रामस्य कीर्तनं परिशृण्वताम् ॥ ६६ ॥

जो प्रतिदिन श्रीरामका कीर्तन सुनते हैं, उनके लिये तीर्थसेवन, गोदान, तपस्या तथा यज्ञोंकी क्या आवश्यकता है ॥

चैत्रे माघे कार्तिके च रामायणकथामृतम् ।
नवैरहोभिः श्रोतव्यं रामायणकथामृतम् ॥ ६७ ॥

चैत्र, माघ तथा कार्तिकमें रामायणकी अमृतमयी कथाका नवाह-पारायण सुनना चाहिये ॥ ६७ ॥

रामप्रसादजनकं रामभक्तिविवर्धनम् ।
सर्वपापक्षयकरं सर्वसम्पद्विवर्द्धनम् ॥ ६८ ॥

रामायण श्रीरामचन्द्रजीकी प्रसन्नता प्राप्त करानेवाला श्रीरामभक्तिको बढ़ानेवाला, समस्त पापोंका विनाशक तथा सभी सम्पत्तियोंकी वृद्धि करनेवाला है ॥ ६८ ॥

यस्त्वेतच्छृणुयाद् वापि पठेद् वा सुसमाहितः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ६९ ॥

जो एकाग्रचित्त होकर रामायणको सुनता अथवा पढ़ता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान् विष्णुके लोकमें जाता है ॥ ६९ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे उत्तरखण्डे नारदसनत्कुमारसंवादे रामायणमाहात्म्ये फलानुकीर्तनं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीस्कन्दपुराणके उत्तरखण्डमें श्रीनारद-सनत्कुमार-संवादके अन्तर्गत रामायणमाहात्म्यके प्रसङ्गमें फलका वर्णन नामक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तम श्रीराम

॥ श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ॥

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

बालकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

नारदजीका वाल्मीकि मुनिको संक्षेपसे श्रीरामचरित्र सुनाना

ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम् ॥ १ ॥

तपस्वी वाल्मीकिजीने तपस्या और स्वाध्यायमें लगे हुए विद्वानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर नारदजीसे पूछा—॥ १ ॥

को न्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः ॥ २ ॥

'[मुने !] इस समय इस संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता और दृढप्रतिज्ञ कौन है ? ॥ २ ॥

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः ॥ ३ ॥

'सदाचारसे युक्त, समस्त प्राणियोंका हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली और एकमात्र प्रियदर्शन (सुन्दर) पुरुष कौन है ? ॥ ३ ॥

आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे ॥ ४ ॥

'मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान् और किसीकी भी निन्दा नहीं करनेवाला कौन है ? तथा संग्राममें कुपित होनेपर किससे देवता भी डरते हैं ॥ ४ ॥

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम् ॥ ५ ॥

'महर्षे ! मैं यह सुनना चाहता हूँ, इसके लिये मुझे बड़ी उत्सुकता है और आप ऐसे पुरुषको जाननेमें समर्थ हैं' ॥५॥

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

महर्षि वाल्मीकिके इस वचनको सुनकर तीनों लोकोंका ज्ञान रखनेवाले नारदजीने उन्हें सम्बोधित करके कहा, अच्छा सुनिये और फिर प्रसन्नतापूर्वक बोले—॥ ६ ॥

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ॥ ७ ॥

'मुने ! आपने जिन बहुत-से दुर्लभ गुणोंका वर्णन किया है, उनसे युक्त पुरुषको मैं विचार करके कहता हूँ, आप सुनें ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी ॥ ८ ॥

'इक्ष्वाकुके वंशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें रामनामसे विख्यात हैं, वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः ॥ ९ ॥

'वे बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, शोभायमान तथा शत्रुसंहारक हैं। उनके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, ग्रीवा शङ्खके समान और ठोढ़ी मांसल (पुष्ट) है ॥ ९ ॥

महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥ १० ॥

'उनकी छाती चौड़ी तथा धनुष बड़ा है, गलेके नीचेकी हड्डी (हँसली) मांससे छिपी हुई है। वे शत्रुओंका दमन करनेवाले हैं। भुजाएँ घुटनेतक लंबी हैं, मस्तक सुन्दर है, ललाट भव्य और चाल मनोहर है ॥ १० ॥

समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥ ११ ॥

'उनका शरीर [अधिक ऊँचा या नाटा न होकर] मध्यम और सुडौल है, देहका रंग चिकना है। वे बड़े प्रतापी हैं। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ है, आँखें बड़ी-बड़ी हैं। वे शोभायमान और शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न हैं ॥ ११ ॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥ १२ ॥

'धर्मके ज्ञाता, सत्यप्रतिज्ञ तथा प्रजाके हित-साधनमें लगे रहनेवाले हैं। वे यशस्वी, ज्ञानी, पवित्र, जितेन्द्रिय और मनको एकाग्र रखनेवाले हैं ॥ १२ ॥

प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥ १३ ॥

'प्रजापतिके समान पालक, श्रीसम्पन्न, वैरिविध्वंसक और जीवों तथा धर्मके रक्षक हैं ॥ १३ ॥

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥ १४ ॥

'स्वधर्म और स्वजनोंके पालक, वेद-वेदाङ्गोंके तत्त्ववेत्ता तथा धनुर्वेदमें प्रवीण हैं ॥ १४ ॥

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥ १५ ॥

'वे अखिल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञ, स्मरणशक्तिसे युक्त और प्रतिभासम्पन्न हैं । अच्छे विचार और उदार हृदयवाले वे श्रीरामचन्द्रजी बातचीत करनेमें चतुर तथा समस्त लोकोंके प्रिय हैं ॥ १५ ॥

सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥ १६ ॥

जैसे नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार सदा रामसे साधु पुरुष मिलते रहते हैं । वे आर्य एवं सबमें समान भाव रखनेवाले हैं, उनका दर्शन सदा ही प्रिय मालूम होता है ॥ १६ ॥

स च सर्वगुणोपेतः कौसल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥ १७ ॥

'सम्पूर्ण गुणोंसे युक्त वे श्रीरामचन्द्रजी अपनी माता कौसल्याके आनन्द बढ़ानेवाले हैं, गम्भीरतामें समुद्र और धैर्यमें हिमालयके समान हैं ॥ १७ ॥

विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥ १८ ॥
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ।

'वे विष्णुभगवान्‌के समान बलवान् हैं । उनका दर्शन चन्द्रमाके समान मनोहर प्रतीत होता है । वे क्रोधमें कालाग्निके समान और क्षमामें पृथिवीके सदृश हैं, त्यागमें कुबेर और सत्यमें द्वितीय धर्मराजके समान हैं ॥ १८½ ॥

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १९ ॥
ज्येष्ठं ज्येष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम् ।
प्रकृतीनां हितैर्युक्तं प्रकृतिप्रियकाम्यया ॥ २० ॥
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत् प्रीत्या महीपतिः ।

'इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त और सत्य पराक्रमवाले सद्गुणशाली अपने प्रियतम ज्येष्ठ पुत्रको, जो प्रजाके हितमें संलग्न रहनेवाले थे, प्रजावर्गका हित करनेकी इच्छासे राजा दशरथने प्रेमवश युवराजपदपर अभिषिक्त करना चाहा १९-२०½

तस्याभिषेकसम्भारान् दृष्ट्वा भार्याथ कैकयी ॥ २१ ॥
पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत ।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम् ॥ २२ ॥

'तदनन्तर रामके राज्याभिषेककी तैयारियाँ देखकर रानी कैकेयीने, जिसे पहले ही वर दिया जा चुका था, राजासे यह वर माँगा कि रामका निर्वासन (वनवास) और भरतका राज्याभिषेक हो ॥ २१-२२ ॥

स सत्यवचनाद् राजा धर्मपाशेन संयतः ।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम् ॥ २३ ॥

'राजा दशरथने सत्य वचनके कारण धर्म-बन्धनमें बँधकर प्यारे पुत्र रामको वनवास दे दिया ॥ २३ ॥

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन् ।
पितुर्वचननिर्देशात् कैकेय्याः प्रियकारणात् ॥ २४ ॥

'कैकेयीका प्रिय करनेके लिये पिताकी आज्ञाके अनुसार उनकी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए वीर रामचन्द्र वनको चले २४

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ।
स्नेहाद् विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ २५ ॥
भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन् ।

'तब सुमित्राके आनन्द बढ़ानेवाले विनयशील लक्ष्मणजीने भी, जो अपने बड़े भाई रामको बहुत ही प्रिय थे, अपने सुबन्धुत्वका परिचय देते हुए स्नेहवश वनको जानेवाले बन्धुवर रामका अनुसरण किया ॥ २५½ ॥

रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता ॥ २६ ॥
जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता ।
सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः ॥ २७ ॥
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा ।
पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च ॥ २८ ॥

'और जनकके कुलमें उत्पन्न सीता भी, जो अवतीर्ण हुई देवमायाकी भाँति सुन्दरी, समस्त शुभलक्षणोंसे विभूषित, स्त्रियोंमें उत्तम, रामकी प्राणोंके समान प्रियतमा पत्नी तथा सदा ही पतिका हित चाहनेवाली थी, रामचन्द्रजीके पीछे चली; जैसे चन्द्रमाके पीछे रोहिणी चलती है । उस समय पिता दशरथ-[ने अपना सारथि भेजकर] और पुरवासी मनुष्योंने [स्वयं साथ जाकर] दूरतक उनका अनुसरण किया ॥ २६-२८ ॥

शृङ्गवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत् ।
गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम् ॥ २९ ॥

'फिर शृङ्गवेरपुरमें गङ्गा-तटपर अपने प्रिय निषादराज गुहके पास पहुँचकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने सारथिको [अयोध्याके लिये] विदा कर दिया ॥ २९ ॥

गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया ।
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ॥ ३० ॥
चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात् ।
रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः ॥ ३१ ॥
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन् सुखम् ।

'निषादराज गुह, लक्ष्मण और सीताके साथ राम—ये चारों एक वनसे दूसरे वनमें गये । मार्गमें बहुत जलोंवाली अनेकों नदियोंको पार करके [भरद्वाजके आश्रमपर पहुँचे और गुहको वहीं छोड़] भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे चित्रकूट-पर्वतपर गये । वहाँ वे तीनों देवता और गन्धर्वोंके समान वनमें नाना प्रकारकी लीलाएँ करते हुए एक रमणीय पर्णकुटी बनाकर उसमें सानन्द रहने लगे ॥ ३०-३१½ ॥

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा ॥ ३२ ॥
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन् सुतम् ।

'रामके चित्रकूट चले जानेपर पुत्रशोकसे पीडित राजा दशरथ उस समय पुत्रके लिये [उसका नाम ले-लेकर] विलाप करते हुए स्वर्गगामी हुए ॥ ३२½ ॥

गते तु तस्मिन् भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः ॥ ३३ ॥
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद् राज्यं महाबलः ।
स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः ॥ ३४ ॥

'उनके स्वर्गगमनके पश्चात् वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणों-द्वारा राज्यसंचालनके लिये नियुक्त किये जानेपर भी महाबल-शाली वीर भरतने राज्यकी कामना न करके पूज्य रामको प्रसन्न करनेके लिये वनको ही प्रस्थान किया ॥ ३३-३४ ॥

गत्वा तु स महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
अयाचद् भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः ॥ ३५ ॥
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं वचोऽब्रवीत् ।

'वहाँ पहुँचकर सद्भावनायुक्त भरतजीने अपने बड़े भाई सत्यपराक्रमी महात्मा रामसे याचना की और यों कहा—'धर्मज्ञ ! आप ही राजा हों' ॥ ३५½ ॥

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः सुमहायशाः ॥ ३६ ॥
न चैच्छत् पितुरादेशाद् राज्यं रामो महाबलः ।
पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः ॥ ३७ ॥
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः ।

'परंतु महान् यशस्वी परम उदार प्रसन्नमुख महाबली रामने भी पिताके आदेशका पालन करते हुए राज्यकी अभिलाषा न की और उन भरताग्रजने राज्यके लिये न्यास (चिह्न) रूपमें अपनी खड़ाऊँ भरतको देकर उन्हें बार-बार आग्रह करके लौटा दिया ॥ ३६-३७½ ॥

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन् ॥ ३८ ॥
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं रामागमनकाङ्क्षया ।

'अपनी अपूर्ण इच्छाको लेकर ही भरतने रामके चरणोंका स्पर्श किया और रामके आगमनकी प्रतीक्षा करते हुए वे नन्दिग्राममें राज्य करने लगे ॥ ३८½ ॥

गते तु भरते श्रीमान् सत्यसंधो जितेन्द्रियः ॥ ३९ ॥
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च ।
तत्रागमनमेकाग्रो दण्डकान् प्रविवेश ह ॥ ४० ॥

'भरतके लौट जानेपर सत्यप्रतिज्ञ जितेन्द्रिय श्रीमान् रामने वहाँपर पुनः नागरिक जनोंका आना-जाना देखकर [उनसे बचनेके लिये] एकाग्रभावसे दण्डकारण्यमें प्रवेश किया ॥ ३९-४० ॥

प्रविश्य तु महारण्यं रामो राजीवलोचनः ।
विराधं राक्षसं हत्वा शरभङ्गं ददर्श ह ॥ ४१ ॥
सुतीक्ष्णं चाप्यगस्त्यं च अगस्त्यभ्रातरं तथा ।

'उस महान् वनमें पहुँचनेपर कमललोचन रामने विराध नामक राक्षसको मारकर शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य मुनि तथा अगस्त्यके भ्राताका दर्शन किया ॥ ४१½ ॥

अगस्त्यवचनाच्चैव जग्राहैन्द्रं शरासनम् ॥ ४२ ॥
खड्गं च परमप्रीतस्तूणी चाक्षयसायकौ ।

'फिर अगस्त्य मुनिके कहनेसे उन्होंने ऐन्द्र धनुष, एक खड्ग और दो तूणीर, जिनमें बाण कभी नहीं घटते थे, प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किये ॥ ४२½ ॥

वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह ॥ ४३ ॥
ऋषयोऽभ्यागमन् सर्वे वधायासुररक्षसाम् ।

'एक दिन वनमें वनचरोंके साथ रहनेवाले श्रीरामके पास असुर तथा राक्षसोंके वधके लिये निवेदन करनेको वहाँके सभी ऋषि आये ॥ ४३½ ॥

स तेषां प्रतिशुश्राव राक्षसानां तदा वने ॥ ४४ ॥
प्रतिज्ञातश्च रामेण वधः संयति रक्षसाम् ।
ऋषीणामग्निकल्पानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ४५ ॥

'उस समय वनमें श्रीरामने दण्डकारण्यवासी अग्निके समान तेजस्वी उन ऋषियोंको राक्षसोंके मारनेका वचन दिया और संग्राममें उनके वधकी प्रतिज्ञा की ॥ ४४-४५ ॥

तेन तत्रैव वसता जनस्थाननिवासिनी ।
विरूपिता शूर्पणखा राक्षसी कामरूपिणी ॥ ४६ ॥

'वहाँ ही रहते हुए श्रीरामने इच्छानुसार रूप बनानेवाली जनस्थाननिवासिनी शूर्पणखा नामकी राक्षसीको [लक्ष्मणके द्वारा उसकी नाक कटाकर] कुरूप कर दिया ॥ ४६ ॥

ततः शूर्पणखावाक्यादुद्युक्तान् सर्वराक्षसान् ।
खरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम् ॥ ४७ ॥
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान् ।

'तब शूर्पणखाके कहनेसे चढ़ाई करनेवाले सभी राक्षसोंको और खर, दूषण, त्रिशिरा तथा उनके पृष्ठपोषक असुरोंको रामने युद्धमें मार डाला ॥ ४७½ ॥

वने तस्मिन् निवसता जनस्थाननिवासिनाम् ॥ ४८ ॥
रक्षसां निहतान्यासन् सहस्राणि चतुर्दश ।

'उस वनमें निवास करते हुए उन्होंने जनस्थानवासी चौदह हजार राक्षसोंका वध किया ॥ ४८½ ॥

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ ४९ ॥
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम् ।

'तदनन्तर अपने कुटुम्बका वध सुनकर रावण नामक राक्षस क्रोधसे मूर्छित हो उठा और उसने मारीच राक्षससे सहायता माँगी ॥ ४९½ ॥

वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः ॥ ५० ॥
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते ।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं रावणः कालचोदितः ॥ ५१ ॥
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा ।

'यद्यपि मारीचने यह कहकर कि 'रावण ! उस बलवान् रामके साथ तुम्हारा विरोध ठीक नहीं है' रावणको अनेकों बार मना किया; परंतु कालकी प्रेरणासे रावणने मारीचके वाक्योंको टाल दिया और उसके साथ ही रामके आश्रमपर गया ॥ ५०-५१½ ॥

तेन मायाविना दूरमपवाह्य नृपात्मजौ ॥ ५२ ॥
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम् ।

'मायावी मारीचके द्वारा उसने दोनों राजकुमारोंको आश्रमसे दूर हटा दिया और स्वयं रामकी पत्नी सीताका अपहरण कर लिया, [जाते समय मार्गमें विघ्न डालनेके कारण उसने] जटायुनामक गृध्रका वध किया ॥ ५२½ ॥

गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम् ॥ ५३ ॥
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ।

'तत्पश्चात् जटायुको आहत देखकर और [उसीके मुखसे] सीताका हरण सुनकर रामचन्द्रजी शोकसे पीड़ित होकर विलाप करने लगे, उस समय उनकी सभी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठी थीं ॥ ५३½ ॥

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम् ॥ ५४ ॥
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं संददर्श ह ।
कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५५ ॥
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः ।

'फिर उसी शोकमें पड़े हुए उन्होंने जटायु गृध्रका अग्निसंस्कार किया और वनमें सीताको ढूँढ़ते हुए कबन्ध नामक राक्षसको देखा, जो शरीरसे विकृत तथा भयंकर दीखनेवाला था । महाबाहु रामने उसे मारकर उसका भी दाह किया, अतः वह स्वर्गको चला गया ॥ ५४-५५½ ॥

स चास्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम् ॥ ५६ ॥
श्रमणां धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघव ।

'जाते समय उसने रामसे धर्मचारिणी शबरीका पता बतलाया और कहा—'रघुनन्दन ! आप धर्मपरायणा संन्यासिनी शबरीके आश्रमपर जाइये' ॥ ५६½ ॥

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः ॥ ५७ ॥
शबर्या पूजितः सम्यग् रामो दशरथात्मजः ।

'शत्रुहन्ता महान् तेजस्वी दशरथकुमार राम शबरीके यहाँ गये, उसने इनका भलीभाँति पूजन किया ॥ ५७½ ॥

[प]म्पातीरे हनुमता सङ्गतो वानरेण ह ॥ ५८ ॥
[हनु]मद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः ।

'फिर वे पम्पासरके तटपर हनुमान् नामक वानरसे मिले [और] उन्हींके कहनेसे सुग्रीवसे भी मेल किया ॥ ५८½ ॥

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसद्रामो महाबलः ॥ ५९ ॥
आदितस्तद् यथावृत्तं सीतायाश्च विशेषतः ।

'तदनन्तर महाबलवान् रामने आदिसे ही लेकर जो कुछ हुआ था वह और विशेषतः सीताका वृत्तान्त सुग्रीवसे कह सुनाया ॥ ५९½ ॥

सुग्रीवश्चापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः ॥ ६० ॥
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम् ।

'वानर सुग्रीवने रामकी सारी बातें सुनकर उनके साथ प्रेमपूर्वक अग्निको साक्षी बनाकर मित्रता की ॥ ६०½ ॥

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति ॥ ६१ ॥
रामायावेदितं सर्वं प्रणयाद् दुःखितेन च ।

'उसके बाद वानरराज सुग्रीवने स्नेहवश वालीके साथ वैर होनेकी सारी बातें रामसे दुखी होकर बतलायीं ॥६१½॥

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति ॥ ६२ ॥
वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः ।
सुग्रीवः शङ्कितश्चासीन्नित्यं वीर्येण राघवे ॥ ६३ ॥

'उस समय रामने वालीको मारनेकी प्रतिज्ञा की, तब वानर सुग्रीवने वहाँ वालीके बलका वर्णन किया; क्योंकि सुग्रीवको रामके बलके विषयमें बराबर शङ्का बनी रहती थी ॥ ६२-६३ ॥

राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम् ।
दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम् ॥ ६४ ॥

'रामकी प्रतीतिके लिये उन्होंने दुन्दुभि दैत्यका महान् पर्वतके समान विशाल शरीर दिखलाया ॥ ६४ ॥

उत्स्मयित्वा महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः ।
पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप सम्पूर्णं दशयोजनम् ॥ ६५ ॥

'महाबली महाबाहु श्रीरामने तनिक मुसकराकर उस अस्थिसमूहको देखा और पैरके अँगूठेसे उसे दस योजन दूर फेंक दिया ॥ ६५ ॥

बिभेद च पुनस्तालान् सप्तैकेन महेषुणा ।
गिरिं रसातलं चैव जनयन् प्रत्ययं तदा ॥ ६६ ॥

'फिर एक ही महान् बाणसे उन्होंने अपना विश्वास दिलाते हुए सात तालवृक्षोंको और पर्वत तथा रसातलको बींध डाला ॥ ६६ ॥

ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः ।
किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां तदा ॥ ६७ ॥

'तदनन्तर रामके इस कार्यसे महाकपि सुग्रीव मन-ही-मन प्रसन्न हुए और उन्हें रामपर विश्वास हो गया । फिर वे उनके साथ किष्किन्धा गुहामें गये ॥ ६७ ॥

ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः ।
तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः ॥ ६८ ॥
अनुमान्य तदा तारां सुग्रीवेण समागतः ।
निजघान च तत्रैनं शरेणैकेन राघवः ॥ ६९ ॥

'वहाँपर सुवर्णके समान पिङ्गलवर्णवाले वीरवर सुग्रीवने गर्जना की, उस महानादको सुनकर वानरराज वाली अपनी पत्नी ताराको आश्वासन देकर तत्काल घरसे बाहर निकला और सुग्रीवसे भिड़ गया। वहाँ रामने वालीको एक ही बाणसे मार गिराया ॥ ६८-६९ ॥

ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे।
सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत् ॥ ७० ॥

'सुग्रीवके कथनानुसार उस संग्राममें वालीको मारकर उसके राज्यपर रामने सुग्रीवको ही बिठा दिया ॥ ७० ॥

स च सर्वान् समानीय वानरान् वानरर्षभः।
दिशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम् ॥ ७१ ॥

'तब उन वानरराजने भी सभी वानरोंको बुलाकर जानकीका पता लगानेके लिये उन्हें चारों दिशाओंमें भेजा ॥ ७१ ॥

ततो गृध्रस्य वचनात् सम्पातेर्हनुमान् बली।
शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम् ॥ ७२ ॥

'तत्पश्चात् सम्पातिनामक गृध्रके कहनेसे बलवान् हनुमान्‌जी सौ योजन विस्तारवाले क्षार समुद्रको कूदकर लाँघ गये ॥ ७२ ॥

तत्र लङ्कां समासाद्य पुरीं रावणपालिताम्।
ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम् ॥ ७३ ॥

'वहाँ रावणपालित लङ्कापुरीमें पहुँचकर उन्होंने अशोकवाटिकामें सीताको चिन्तामग्न देखा ॥ ७३ ॥

निवेदयित्वाभिज्ञानं प्रवृत्तिं विनिवेद्य च।
समाश्वास्य च वैदेहीं मर्दयामास तोरणम् ॥ ७४ ॥

'तब उन विदेहनन्दिनीको अपनी पहचान देकर रामका संदेश सुनाया और उन्हें सान्त्वना देकर उन्होंने वाटिकाका द्वार तोड़ डाला ॥ ७४ ॥

पञ्च सेनाग्रगान् हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि।
शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागमत् ॥ ७५ ॥

'फिर पाँच सेनापतियों और सात मन्त्रिकुमारोंकी हत्या कर वीर अक्षकुमारका भी कचूमर निकाला, इसके बाद वे [जान-बूझकर] पकड़े गये ॥ ७५ ॥

अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद् वरात्।
मर्षयन् राक्षसान् वीरो यन्त्रिणस्तान् यदृच्छया॥ ७६॥

'ब्रह्माजीके वरदानसे अपनेको ब्रह्मपाशसे छूटा हुआ जानकर भी वीर हनुमान्‌जीने अपनेको बाँधनेवाले उन राक्षसोंका अपराध स्वेच्छानुसार सह लिया ॥ ७६ ॥

ततो दग्ध्वा पुरीं लङ्कामृते सीतां च मैथिलीम्।
रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः ॥ ७७ ॥

'तत्पश्चात् मिथिलेशकुमारी सीताके [स्थानके] अतिरिक्त समस्त लङ्काको जलाकर वे महाकपि हनुमान्‌जी रामको प्रिय संदेश सुनानेके लिये लङ्कासे लौट आये ॥ ७७ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम्।
न्यवेदयदमेयात्मा दृष्टा सीतेति तत्त्वतः ॥ ७८ ॥

'अपरिमित बुद्धिशाली हनुमान्‌जीने वहाँ जा महात्मा रामकी प्रदक्षिणा करके यों सत्य निवेदन किया—'मैंने सीताजीका दर्शन किया है' ॥ ७८ ॥

ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः।
समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः ॥ ७९ ॥

'इसके अनन्तर सुग्रीवके साथ भगवान् रामने महासागरके तटपर जाकर सूर्यके समान तेजस्वी बाणोंसे समुद्रको क्षुब्ध किया ॥ ७९ ॥

दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितां पतिः।
समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत् ॥ ८० ॥

'तब नदीपति समुद्रने अपनेको प्रकट कर दिया, फिर समुद्रके ही कहनेसे रामने नलसे पुल निर्माण कराया ॥ ८० ॥

तेन गत्वा पुरीं लङ्कां हत्वा रावणमाहवे।
रामः सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत् ॥ ८१ ॥

'उसी पुलसे लङ्कापुरीमें जाकर रावणको मारा, फिर सीताके मिलनेपर रामको बड़ी लज्जा हुई ॥ ८१ ॥

तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि।
अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती ॥ ८२ ॥

'तब भरी सभामें सीताके प्रति वे मर्मभेदी वचन कहने लगे। उनकी इस बातको न सह सकनेके कारण साध्वी सीता अग्निमें प्रवेश कर गयीं ॥ ८२ ॥

ततोऽग्निवचनात् सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम्।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ ८३ ॥
सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः।

'इसके बाद अग्निके कहनेसे उन्होंने सीताको निष्कलङ्क माना। महात्मा रामचन्द्रजीके इस महान् कर्मसे देवता और ऋषियोंसहित चराचर त्रिभुवन संतुष्ट हो गया ॥ ८३½ ॥

बभौ रामः सम्प्रहृष्टः पूजितः सर्वदैवतैः ॥ ८४ ॥
अभिषिच्य च लङ्कायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह ॥ ८५ ॥

'फिर सभी देवताओंसे पूजित होकर राम बहुत ही प्रसन्न हुए और राक्षसराज विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त करके कृतार्थ हो गये। उस समय निश्चिन्त होनेके कारण उनके आनन्दका ठिकाना न रहा ॥ ८४-८५ ॥

देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान्।
अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः ॥ ८६ ॥

'यह सब हो जानेपर राम देवताओंसे वर पाकर और मरे हुए वानरोंको जीवन दिलाकर अपने सभी साथियोंके साथ पुष्पकविमानपर चढ़कर अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए ॥

भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
भरतस्यान्तिके रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत् ॥ ८७ ॥

'भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचकर सबको आराम देनेवाले सत्यपराक्रमी रामने भरतके पास हनुमान्‌को भेजा ॥ ८७ ॥

पुनराख्यायिकां जल्पन् सुग्रीवसहितस्तदा।
पुष्पकं तत् समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा ॥ ८८ ॥

'फिर सुग्रीवके साथ कथा-वार्ता कहते हुए पुष्पकारूढ हो वे नन्दिग्रामको गये ॥ ८८ ॥

नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः।
रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान् ॥ ८९ ॥

'निष्पाप रामचन्द्रजीने नन्दिग्राममें अपनी जटा कटाकर भाइयोंके साथ, सीताको पानेके अनन्तर, पुनः अपना राज्य प्राप्त किया है ॥ ८९ ॥

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ॥ ९० ॥

'अब रामके राज्यमें लोग प्रसन्न, सुखी, संतुष्ट, पुष्ट, धार्मिक तथा रोग-व्याधिसे मुक्त रहेंगे, उन्हें दुर्भिक्षका भय न होगा ॥ ९० ॥

न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः ॥ ९१ ॥

'कोई कहीं भी अपने पुत्रकी मृत्यु नहीं देखेंगे, स्त्रियाँ विधवा न होंगी, सदा ही पतिव्रता होंगी ॥ ९१ ॥

न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।
न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा ॥ ९२ ॥

'आग लगनेका किंचित् भी भय न होगा, कोई प्राणी जलमें नहीं डूबेंगे, वात और ज्वरका भय थोड़ा भी नहीं रहेगा ॥ ९२ ॥

न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च ॥ ९३ ॥
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा।

'क्षुधा तथा चोरीका डर भी जाता रहेगा, सभी नगर और राष्ट्र धन-धान्यसम्पन्न होंगे। सत्ययुगकी भाँति सभी लोग सदा प्रसन्न रहेंगे ॥ ९३½ ॥

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ॥ ९४ ॥
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम्।
असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः ॥ ९५ ॥

राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः।
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ॥ ९६ ॥

'महायशस्वी राम बहुत-से सुवर्णोंकी दक्षिणावाले सौ अश्वमेध यज्ञ करेंगे, उनमें विधिपूर्वक विद्वानोंको दस हजार करोड़ (एक खरब) गौ और ब्राह्मणोंको अपरिमित धन देंगे तथा सौगुने राजवंशोंकी स्थापना करेंगे। संसारमें चारों वर्णोंको वे अपने-अपने धर्ममें नियुक्त रखेंगे ॥ ९४—९६ ॥

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥ ९७ ॥

'फिर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य करनेके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजी अपने परमधामको पधारेंगे ॥ ९७ ॥

इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।
यः पठेद् रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९८ ॥

'वेदोंके समान पवित्र, पापनाशक और पुण्यमय इस रामचरितको जो पढ़ेगा, वह सब पापोंसे मुक्त हो जायगा ॥

एतदाख्यानमायुष्यं पठन् रामायणं नरः।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ ९९ ॥

'आयु बढ़ानेवाली इस रामायणकथाको पढ़नेवाला मनुष्य मृत्युके अनन्तर पुत्र, पौत्र तथा अन्य परिजनवर्गके साथ ही स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होगा ॥ ९९ ॥

पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्
स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।
वणिग्जनः पुण्यफलत्वमीया-
ज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात् ॥ १०० ॥

'इसे ब्राह्मण पढ़े तो विद्वान् हो, क्षत्रिय पढ़ता हो तो पृथ्वीका राज्य प्राप्त करे, वैश्यको व्यापारमें लाभ हो और शूद्र भी प्रतिष्ठा प्राप्त करे' ॥ १०० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

रामायण काव्यका उपक्रम—तमसाके तटपर क्रौञ्चवधसे संतप्त हुए महर्षि वाल्मीकिके शोकका श्लोक रूपमें प्रकट होना तथा ब्रह्माजीका उन्हें रामचरित्रमय काव्यके निर्माणका आदेश देना

नारदस्य तु तद् वाक्यं श्रुत्वा वाक्यविशारदः।
पूजयामास धर्मात्मा सहशिष्यो महामुनिम् ॥ १ ॥

'देवर्षि नारदजीके उपर्युक्त वचन सुनकर वाक्यविशारद धर्मात्मा ऋषि वाल्मीकिजीने अपने शिष्योंसहित उन महामुनिका पूजन किया ॥ १ ॥

यथावत् पूजितस्तेन देवर्षिर्नारदस्तथा।

आपृच्छ्यैवाभ्यनुज्ञातः स जगाम विहायसम् ॥ २ ॥

वाल्मीकिजीसे यथावत् सम्मानित हो देवर्षि नारदजीने जानेके लिये उनसे आज्ञा माँगी और उनसे अनुमति मिल जानेपर वे आकाशमार्गसे चले गये ॥ २ ॥

**स मुहूर्तं गते तस्मिन् देवलोकं मुनिस्तदा ।
जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरतः ॥ ३ ॥**

उनके देवलोक पधारनेके दो ही घड़ी बाद वाल्मीकिजी तमसा नदीके तटपर गये, जो गङ्गाजीसे अधिक दूर नहीं था ॥ ३ ॥

**स तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥ ४ ॥**

तमसाके तटपर पहुँचकर वहाँके घाटको कीचड़से रहित देख मुनिने अपने पास खड़े हुए शिष्यसे कहा—॥ ४ ॥

**अकर्दममिदं तीर्थं भरद्वाज निशामय ।
रमणीयं प्रसन्नाम्बु सन्मनुष्यमनो यथा ॥ ५ ॥**

'भरद्वाज ! देखो, यहाँका घाट बड़ा सुन्दर है । इसमें कीचड़का नाम नहीं है । यहाँका जल वैसा ही स्वच्छ है, जैसा सत्पुरुषका मन होता है ॥ ५ ॥

**न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ।
इदमेवावगाहिष्ये तमसातीर्थमुत्तमम् ॥ ६ ॥**

'तात ! यहीं कलश रख दो और मुझे मेरा वल्कल दो । मैं तमसाके इसी उत्तम तीर्थमें स्नान करूँगा' ॥ ६ ॥

**एवमुक्तो भरद्वाजो वाल्मीकेन महात्मना ।
प्रायच्छत मुनेस्तस्य वल्कलं नियतो गुरोः ॥ ७ ॥**

महात्मा वाल्मीकिके ऐसा कहनेपर नियमपरायण शिष्य भरद्वाजने अपने गुरु मुनिवर वाल्मीकिको वल्कल-वस्त्र दिया ॥ ७ ॥

**स शिष्यहस्तादादाय वल्कलं नियतेन्द्रियः ।
विचचार ह पश्यंस्तत् सर्वतो विपुलं वनम् ॥ ८ ॥**

शिष्यके हाथसे वल्कल लेकर वे जितेन्द्रिय मुनि वहाँके विशाल वनकी शोभा देखते हुए सब ओर विचरने लगे ॥८॥

**तस्याभ्याशे तु मिथुनं चरन्तमनपायिनम् ।
ददर्श भगवांस्तत्र क्रौञ्चयोश्चारुनिःस्वनम् ॥ ९ ॥**

उनके पास ही क्रौञ्च पक्षियोंका एक जोड़ा, जो कभी एक दूसरेसे अलग नहीं होता था, विचर रहा था । वे दोनों पक्षी बड़ी मधुर बोली बोलते थे । भगवान् वाल्मीकिने पक्षियोंके उस जोड़ेको वहाँ देखा ॥ ९ ॥

**तस्मात् तु मिथुनादेकं पुमांसं पापनिश्चयः ।
जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्यतः ॥ १० ॥**

उसी समय पापपूर्ण विचार रखनेवाले एक निषादने, जो समस्त जन्तुओंका अकारण वैरी था, वहाँ आकर पक्षियोंके उस जोड़ेमेंसे एक—नर पक्षीको मुनिके देखते-देखते बाणसे मार डाला ॥ १० ॥

**तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले ।
भार्या तु निहतं दृष्ट्वा रुराव करुणां गिरम् ॥ ११ ॥**

वह पक्षी खूनसे लथपथ होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा और पंख फड़फड़ाता हुआ तड़पने लगा । अपने पतिकी हत्या हुई देख उसकी भार्या क्रौञ्ची करुणाजनक स्वरमें चीत्कार कर उठी ॥ ११ ॥

**वियुक्ता पतिना तेन द्विजेन सहचारिणा ।
ताम्रशीर्षेण मत्तेन पत्त्रिणा सहितेन वै ॥ १२ ॥**

उत्तम पंखोंसे युक्त वह पक्षी सदा अपनी भार्याके साथ-साथ विचरता था । उसके मस्तकका रंग ताँबेके समान लाल था और वह कामसे मतवाला हो गया था । ऐसे पतिसे वियुक्त होकर क्रौञ्ची बड़े दुःखसे रो रही थी ॥ १२ ॥

**तथाविधं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम् ।
ऋषेर्धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत ॥ १३ ॥**

निषादने जिसे मार गिराया था, उस नर पक्षीकी वह दुर्दशा देख उन धर्मात्मा ऋषिको बड़ी दया आयी ॥ १३॥

**ततः करुणवेदित्वादधर्मोऽयमिति द्विजः ।
निशाम्य रुदतीं क्रौञ्चीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥**

स्वभावतः करुणाका अनुभव करनेवाले ब्रह्मर्षिने 'यह अधर्म हुआ है' ऐसा निश्चय करके रोती हुई क्रौञ्चीकी ओर देखते हुए निषादसे इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ १५ ॥**

'निषाद ! तुझे नित्य-निरन्तर—कभी भी शान्ति न मिले; क्योंकि तूने इस क्रौञ्चके जोड़ेमेंसे एककी, जो कामसे मोहित हो रहा था, बिना किसी अपराधके ही हत्या कर डाली' ॥१५॥

**तस्यैवं ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदि वीक्षतः ।
शोकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया ॥ १६ ॥**

ऐसा कहकर जब उन्होंने इसपर विचार किया, तब उनके मनमें यह चिन्ता हुई कि 'अहो ! इस पक्षीके शोकसे पीड़ित होकर मैंने यह क्या कह डाला' ॥ १६ ॥

**चिन्तयन् स महाप्राज्ञश्चकार मतिमान्मतिम् ।
शिष्यं चैवाब्रवीद् वाक्यमिदं स मुनिपुङ्गवः ॥ १७ ॥**

यही सोचते हुए महाज्ञानी और परम बुद्धिमान् मुनिवर वाल्मीकि एक निश्चयपर पहुँच गये और अपने शिष्यसे इस प्रकार बोले—॥ १७ ॥

**पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः ।
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा ॥ १८ ॥**

'तात ! शोकसे पीड़ित हुए मेरे मुखसे जो वाक्य निकल पड़ा है, यह चार चरणोंमें आबद्ध है । इसके प्रत्येक

चरणमें बराबर-बराबर (यानी आठ-आठ) अक्षर हैं तथा इसे वीणाके लयपर गाया भी जा सकता है; अतः मेरा यह वचन श्लोकरूप (अर्थात् श्लोक नामक छन्दमें आबद्ध काव्यरूप या यशःस्वरूप) होना चाहिये, अन्यथा नहीं' ॥ १८ ॥

शिष्यस्तु तस्य ब्रुवतो मुनेर्वाक्यमनुत्तमम् ।
प्रतिजग्राह संतुष्टस्तस्य तुष्टोऽभवन्मुनिः ॥ १९ ॥

मुनिकी यह उत्तम बात सुनकर उनके शिष्य भरद्वाजको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने उनका समर्थन करते हुए कहा—'हाँ, आपका यह वाक्य श्लोकरूप ही होना चाहिये।' शिष्यके इस कथनसे मुनिको विशेष संतोष हुआ ॥ १९ ॥

सोऽभिषेकं ततः कृत्वा तीर्थे तस्मिन् यथाविधि ।
तमेव चिन्तयन्नर्थमुपावर्तत वै मुनिः ॥ २० ॥

तत्पश्चात् उन्होंने उत्तम तीर्थमें विधिपूर्वक स्नान किया और उसी विषयका विचार करते हुए वे आश्रमकी ओर लौट पड़े ॥ २० ॥

भरद्वाजस्ततः शिष्यो विनीतः श्रुतवान् गुरोः ।
कलशं पूर्णमादाय पृष्ठतोऽनुजगाम ह ॥ २१ ॥

फिर उनका विनीत एवं शास्त्रज्ञ शिष्य भरद्वाज भी वह जलसे भरा हुआ कलश लेकर गुरुजीके पीछे-पीछे चला ॥२१॥

स प्रविश्याश्रमपदं शिष्येण सह धर्मवित् ।
उपविष्टः कथाश्चान्याश्चकार ध्यानमास्थितः ॥ २२ ॥

शिष्यके साथ आश्रममें पहुँचकर धर्मज्ञ ऋषि वाल्मीकिजी आसनपर बैठे और दूसरी-दूसरी बातें करने लगे; परंतु उनका ध्यान उस श्लोककी ओर ही लगा था ॥ २२ ॥

आजगाम ततो ब्रह्मा लोककर्ता स्वयं प्रभुः ।
चतुर्मुखो महातेजा द्रष्टुं तं मुनिपुङ्गवम् ॥ २३ ॥

इतनेहीमें अखिल विश्वकी सृष्टि करनेवाले, सर्वसमर्थ, महातेजस्वी चतुर्मुख ब्रह्माजी मुनिवर वाल्मीकिसे मिलनेके लिये स्वयं उनके आश्रमपर आये ॥ २३ ॥

वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः ।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा तस्थौ परमविस्मितः ॥ २४ ॥

उन्हें देखते ही महर्षि वाल्मीकि सहसा उठकर खड़े हो गये। वे मन और इन्द्रियोंको वशमें रखकर अत्यन्त विस्मित हो हाथ जोड़े चुपचाप कुछ कालतक खड़े ही रह गये, कुछ बोल न सके ॥ २४ ॥

पूजयामास तं देवं पाद्यार्घ्यासनवन्दनैः ।
प्रणम्य विधिवच्चैनं पृष्ट्वा चैव निरामयम् ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने पाद्य, अर्घ्य, आसन और स्तुति आदिके द्वारा भगवान् ब्रह्माजीका पूजन किया और उनके चरणोंमें विधिवत् प्रणाम करके उनसे कुशल-समाचार पूछा ॥ २५ ॥

अथोपविश्य भगवानासने परमार्चिते ।
वाल्मीकये च ऋषये संदिदेशासनं ततः ॥ २६ ॥

भगवान् ब्रह्माने एक परम उत्तम आसनपर विराजमान होकर वाल्मीकि मुनिको भी आसन ग्रहण करनेकी आज्ञा दी ॥

ब्रह्मणा समनुज्ञातः सोऽप्युपाविशदासने ।
उपविष्टे तदा तस्मिन् साक्षाल्लोकपितामहे ॥ २७ ॥
तद्गतेनैव मनसा वाल्मीकिर्ध्यानमास्थितः ।
पापात्मना कृतं कष्टं वैरग्रहणबुद्धिना ॥ २८ ॥
यत् तादृशं चारुरवं क्रौञ्चं हन्यादकारणात् ।

ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर वे भी आसनपर बैठे। उस समय साक्षात् लोकपितामह ब्रह्मा सामने बैठे हुए थे तो भी वाल्मीकिका मन उस क्रौञ्चपक्षीवाली घटनाकी ओर ही लगा रहा। वे उसीके विषयमें सोचने लगे—'ओह ! जिसकी बुद्धि वैरभावको ग्रहण करनेमें ही लगी रहती है, उस पापात्मा व्याधने बिना किसी अपराधके ही वैसे मनोहर कलरव करनेवाले क्रौञ्च पक्षीके प्राण ले लिये ॥ २७-२८½ ॥

शोचन्नेव पुनः क्रौञ्चीमुपश्लोकमिमं जगौ ॥ २९ ॥
पुनरन्तर्गतमना भूत्वा शोकपरायणः ।

यही सोचते-सोचते उन्होंने क्रौञ्चीके आर्तनादको सुनकर निषादको लक्ष्य करके जो श्लोक कहा था, उसीको फिर ब्रह्माजीके सामने दुहराया। उसे दुहराते ही फिर उनके मनमें अपने दिये हुए शापके अनौचित्यका ध्यान आया। तब वे शोक और चिन्तामें डूब गये ॥ २९½ ॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा प्रहसन् मुनिपुङ्गवम् ॥ ३० ॥
श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नात्र कार्या विचारणा ।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्मन् प्रवृत्तेयं सरस्वती ॥ ३१ ॥

ब्रह्माजी उनकी मनःस्थितिको समझकर हँसने लगे और मुनिवर वाल्मीकिसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! तुम्हारे मुँहसे निकला हुआ यह छन्दोबद्ध वाक्य श्लोकरूप ही होगा। इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरे संकल्प अथवा प्रेरणासे ही तुम्हारे मुँहसे ऐसी वाणी निकली है ॥ ३०-३१ ॥

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम ।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः ॥ ३२ ॥
वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम् ।

'मुनिश्रेष्ठ ! तुम श्रीरामके सम्पूर्ण चरित्रका वर्णन करो। परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीराम संसारमें सबसे बड़े धर्मात्मा और धीर पुरुष हैं। तुमने नारदजीके मुँहसे जैसा सुना है, उसीके अनुसार उनके चरित्रका चित्रण करो ॥ ३२½ ॥

रहस्यं च प्रकाशं च यद् वृत्तं तस्य धीमतः ॥ ३३ ॥
रामस्य सहसौमित्रे राक्षसानां च सर्वशः ।
वैदेह्याश्चैव यद् वृत्तं प्रकाशं यदि वा रहः ॥ ३४ ॥

तच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति ।

'बुद्धिमान् श्रीरामका जो गुप्त या प्रकट वृत्तान्त है तथा लक्ष्मण, सीता और राक्षसोंके जो सम्पूर्ण गुप्त या प्रकट चरित्र हैं, वे सब अज्ञात होनेपर भी तुम्हें ज्ञात हो जायँगे ॥ ३३-३४½ ॥

न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति ॥ ३५ ॥
कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम् ।

'इस काव्यमें अङ्कित तुम्हारी कोई भी बात झूठी नहीं होगी; इसलिये तुम श्रीरामचन्द्रजीकी परम पवित्र एवं मनोरम कथाको श्लोकबद्ध करके लिखो ॥ ३५½ ॥

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ॥ ३६ ॥
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।

'इस पृथ्वीपर जबतक नदियों और पर्वतोंकी सत्ता रहेगी, तबतक संसारमें रामायणकथाका प्रचार होता रहेगा ॥ ३६½ ॥

यावद् रामस्य च कथा त्वत्कृता प्रचरिष्यति ॥ ३७ ॥
तावदूर्ध्वमधश्च त्वं मल्लोकेषु निवत्स्यसि ।

'जबतक तुम्हारी बनायी हुई श्रीरामकथाका लोकमें प्रचार रहेगा, तबतक तुम इच्छानुसार ऊपर-नीचे तथा मेरे लोकोंमें निवास करोगे' ॥ ३७½ ॥

इत्युक्त्वा भगवान् ब्रह्मा तत्रैवान्तरधीयत ।
ततः सशिष्यो भगवान् मुनिर्विस्मयमाययौ ॥ ३८ ॥

ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्माजी वहीं अन्तर्धान हो गये । उनके वहीं अन्तर्धान होनेसे शिष्योंसहित भगवान् वाल्मीकि मुनिको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ३८ ॥

तस्य शिष्यास्ततः सर्वे जगुः श्लोकमिमं पुनः ।
मुहुर्मुहुः प्रीयमाणाः प्राहुश्च भृशविस्मिताः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उनके सभी शिष्य अत्यन्त प्रसन्न होकर बार-बार इस श्लोकका गान करने लगे तथा परम विस्मित हो परस्पर इस प्रकार कहने लगे—॥ ३९ ॥

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥ ४० ॥

'हमारे गुरुदेव महर्षिने क्रौञ्चपक्षीके दुःखसे दुखी होकर जिस समान अक्षरोंवाले चार चरणोंसे युक्त वाक्यका गान किया था, वह था तो उनके हृदयका शोक; किंतु उनकी वाणीद्वारा उच्चारित होकर श्लोकरूप हो गया' ॥ ४० ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता महर्षेर्भावितात्मनः ।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम् ॥ ४१ ॥

इधर शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि वाल्मीकिके मनमें यह विचार हुआ कि मैं ऐसे ही श्लोकोंमें सम्पूर्ण रामायणकाव्यकी रचना करूँ ॥ ४१ ॥

उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमै-
स्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो
यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः ॥ ४२ ॥

यह सोचकर उदार दृष्टिवाले उन यशस्वी महर्षिने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रको लेकर हजारों श्लोकोंसे युक्त महाकाव्यकी रचना की, जो उनके यशको बढ़ानेवाला है। इसमें श्रीरामके उदार चरित्रोंका प्रतिपादन करनेवाले मनोहर पदोंका प्रयोग किया गया है ॥ ४२ ॥

तदुपगतसमाससंधियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ४३ ॥

महर्षि वाल्मीकिके बनाये हुए इस काव्यमें तत्पुरुष आदि समासों, दीर्घ-गुण आदि संधियों और प्रकृति-प्रत्ययके सम्बन्धका यथायोग्य निर्वाह हुआ है। इसकी रचनामें समता (पतत्प्रकर्ष आदि दोषोंका अभाव) है, पदोंमें माधुर्य है और अर्थमें प्रसाद-गुणकी अधिकता है । भावुकजनो ! इस प्रकार शास्त्रीय पद्धतिके अनुकूल बने हुए इस रघुवर-चरित्र और रावण-वधके प्रसङ्गको ध्यान देकर सुनो ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

वाल्मीकि मुनिद्वारा रामायणकाव्यमें निबद्ध विषयोंका संक्षेपसे उल्लेख

श्रुत्वा वस्तु समग्रं तद्धर्मार्थसहितं हितम् ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद् वृत्तं तस्य धीमतः ॥ १ ॥

नारदजीके मुखसे धर्म, अर्थ एवं कामरूपी फलसे युक्त, हितकर (मोक्षदायक) तथा प्रकट और गुप्त—सम्पूर्ण रामचरित्रको, जो रामायण महाकाव्यकी प्रधान कथावस्तु था, सुनकर महर्षि वाल्मीकिजी बुद्धिमान् श्रीरामके उस जीवन-वृत्तका पुनः भलीभाँति साक्षात्कार करनेके लिये प्रयत्न करने लगे ॥ १ ॥

उपस्पृश्योदकं सम्यङ्मुनिः स्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणान्वेषते गतिम् ॥ २ ॥

---

१. काव्य या यशरूप ।

वे पूर्वाग्र कुशोंके आसनपर बैठ गये और विधिवत् आचमन करके हाथ जोड़े हुए स्थिर भावसे स्थित हो योगधर्म (समाधि) के द्वारा श्रीराम आदिके चरित्रोंका अनुसंधान करने लगे ॥ २ ॥

रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत् प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥ ३ ॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्यावच्च चेष्टितम् ।
तत् सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् सम्प्रपश्यति ॥ ४ ॥

श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तथा राज्य और रानियोंसहित राजा दशरथसे सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बातें थीं—हँसना, बोलना, चलना और राज्यपालन आदि जितनी चेष्टाएँ हुईं—उन सबका महर्षिने अपने योगधर्मके बलसे भलीभाँति साक्षात्कार किया ॥ ३-४ ॥

स्त्रीतृतीयेन च तथा यत् प्राप्तं चरता वने ।
सत्यसंधेन रामेण तत् सर्वं चान्ववेक्षत ॥ ५ ॥

सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मण और सीताके साथ वनमें विचरते समय जो-जो लीलाएँ की थीं, वे सब उनकी दृष्टिमें आ गयीं ॥ ५ ॥

ततः पश्यति धर्मात्मा तत् सर्वं योगमास्थितः ।
पुरा यत् तत्र निर्वृत्तं पाणावामलकं यथा ॥ ६ ॥

योगका आश्रय लेकर उन धर्मात्मा महर्षिने पूर्वकालमें जो-जो घटनाएँ घटित हुई थीं, उन सबको वहाँ हाथपर रखे हुए आँवलेकी तरह प्रत्यक्ष देखा ॥ ६ ॥

तत् सर्वं तत्त्वतो दृष्ट्वा धर्मेण स महामतिः ।
अभिरामस्य रामस्य तत् सर्वं कर्तुमुद्यतः ॥ ७ ॥

सबके मनको प्रिय लगनेवाले भगवान् श्रीरामके सम्पूर्ण चरित्रोंका योगधर्म (समाधि) के द्वारा यथार्थरूपसे निरीक्षण करके महाबुद्धिमान् महर्षि वाल्मीकिने उन सबको महाकाव्यका रूप देनेकी चेष्टा की ॥ ७ ॥

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम् ।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम् ॥ ८ ॥
स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महात्मना ।
रघुवंशस्य चरितं चकार भगवान् मुनिः ॥ ९ ॥

महात्मा नारदजीने पहले जैसा वर्णन किया था, उसीके क्रमसे भगवान् वाल्मीकिमुनिने रघुवंशविभूषण श्रीरामके चरित्रविषयक रामायण काव्यका निर्माण किया । जैसे समुद्र सब रत्नोंकी निधि है, उसी प्रकार यह महाकाव्य गुण, अलङ्कार एवं ध्वनि आदि रत्नोंका भण्डार है । इतना ही नहीं, यह सम्पूर्ण श्रुतियोंके सारभूत अर्थका प्रतिपादक होनेके कारण सबके कानोंको प्रिय लगनेवाला तथा सभीके चित्तको आकृष्ट करनेवाला है । यह धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी गुणों (फलों) से युक्त तथा इनका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन एवं दान करनेवाला है ॥ ८-९ ॥

जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् ।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥ १० ॥

श्रीरामके जन्म, उनके महान् पराक्रम, उनकी सर्वानुकूलता, लोकप्रियता, क्षमा, सौम्यभाव तथा सत्यशीलताका इस महाकाव्यमें महर्षिने वर्णन किया ॥ १० ॥

नाना चित्राः कथाश्चान्या विश्वामित्रसहायने ।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥ ११ ॥

विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मणके जानेपर जो उनके द्वारा नाना प्रकारकी विचित्र लीलाएँ तथा अद्भुत बातें घटित हुईं, उन सबका इसमें महर्षिने वर्णन किया । श्रीरामद्वारा मिथिलामें धनुषके तोड़े जाने तथा जनकनन्दिनी सीता और उर्मिला आदिके विवाहका भी इसमें चित्रण किया ॥ ११ ॥

रामरामविवादं च गुणान् दाशरथेस्तथा ।
तथाभिषेकं रामस्य कैकेय्या दुष्टभावताम् ॥ १२ ॥
विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम् ।
राज्ञः शोकं विलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥ १३ ॥
प्रकृतीनां विषादं च प्रकृतीनां विसर्जनम् ।
निषादाधिपसंवादं सूतोपावर्तनं तथा ॥ १४ ॥

श्रीराम-परशुराम-संवाद, दशरथनन्दन श्रीरामके गुण, उनके अभिषेक, कैकेयीकी दुष्टता, श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न, उनके वनवास, राजा दशरथके शोक-विलाप और परलोक-गमन, प्रजाओंके विषाद, साथ जानेवाली प्रजाओंको मार्गमें छोड़ने, निषादराज गुहके साथ बात करने तथा सूत सुमन्तको अयोध्या लौटाने आदिका भी इसमें उल्लेख किया ॥ १२—१४ ॥

गङ्गायाश्चापि संतारं भरद्वाजस्य दर्शनम् ।
भरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्य दर्शनम् ॥ १५ ॥
वास्तुकर्म निवेशं च भरतागमनं तथा ।
प्रसादनं च रामस्य पितुश्च सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
पादुकाग्र्याभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम् ।
दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥ १७ ॥
दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेन समागमम् ।
अनसूयासमाख्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥ १८ ॥
दर्शनं चाप्यगस्त्यस्य धनुषो ग्रहणं तथा ।
शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ॥ १९ ॥
वधं खरत्रिशिरसोरुत्थानं रावणस्य च ।
मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ॥ २० ॥
राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिबर्हणम् ।
कबन्धदर्शनं चैव पम्पायाश्चापि दर्शनम् ॥ २१ ॥

शबरीदर्शनं चैव फलमूलाशनं तथा।
प्रलापं चैव पम्पायां हनूमद्दर्शनं तथा ॥ २२ ॥
ऋष्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम्।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥ २३ ॥
वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम्।
ताराविलापं समयं वर्षरात्रनिवासनम् ॥ २४ ॥
कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम्।
दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥ २५ ॥
अङ्गुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम्।
प्रायोपवेशनं चैव सम्पातेश्चापि दर्शनम् ॥ २६ ॥
पर्वतारोहणं चैव सागरस्यापि लङ्घनम्।
समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्य च दर्शनम् ॥ २७ ॥
राक्षसीतर्जनं चैव च्छायाग्राहस्य दर्शनम्।
सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम् ॥ २८ ॥
रात्रौ लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम्।
आपानभूमिगमनमवरोधस्य दर्शनम् ॥ २९ ॥
दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम्।
अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापि दर्शनम् ॥ ३० ॥
अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चापि भाषणम्।
राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम् ॥ ३१ ॥
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च।
राक्षसीविद्रवं चैव किंकराणां निबर्हणम् ॥ ३२ ॥
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम्।
प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा ॥ ३३ ॥
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं तथा।
संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम् ॥ ३४ ॥
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम्।
विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम् ॥ ३५ ॥
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम्।
रावणस्य विनाशं च सीतावाप्तिमरेः पुरे ॥ ३६ ॥
विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य च दर्शनम्।
अयोध्यायाश्च गमनं भरद्वाजसमागमम् ॥ ३७ ॥
प्रेषणं वायुपुत्रस्य भरतेन समागमम्।
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम्।
स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥ ३८ ॥
अनागतं च यत् किंचिद् रामस्य वसुधातले।
तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकिर्भगवानृषिः ॥ ३९ ॥

श्रीराम आदिका गङ्गाके पार जाना, भरद्वाज मुनिका दर्शन करना, भरद्वाजमुनिकी आज्ञा लेकर चित्रकूट जाना और वहाँकी नैसर्गिक शोभाका अवलोकन करना, चित्रकूटमें कुटिया बनाना, उसमें निवास करना, वहाँ भरतका श्रीरामसे मिलनेके लिये आना, उन्हें अयोध्या लौट चलनेके लिये प्रसन्न करना (मनाना), श्रीरामद्वारा पिताको जलाञ्जलि-दान, भरतद्वारा अयोध्याके राजसिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ पादुकाओंका अभिषेक एवं स्थापन, नन्दिग्राममें भरतका निवास, श्रीरामका दण्डकारण्यमें गमन, उनके द्वारा विराधका वध, शरभङ्गमुनिका दर्शन, सुतीक्ष्णके साथ समागम, अनसूयाके साथ सीतादेवीकी कुछ कालतक स्थिति, उनके द्वारा सीताको अङ्गराग-समर्पण, श्रीराम आदिके द्वारा अगस्त्यका दर्शन, उनके दिये हुए वैष्णव धनुषका ग्रहण, शूर्पणखाका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा उसका विरूपकरण (उसकी नाक और कानका छेदन), श्रीरामद्वारा खर-दूषण और त्रिशिराका वध, शूर्पणखाके उत्तेजित करनेसे रावणका श्रीरामसे बदला लेनेके लिये उठना, श्रीरामद्वारा मारीचका वध, रावणद्वारा विदेहनन्दिनी सीताका हरण, सीताके लिये श्रीरघुनाथजीका विलाप, रावणद्वारा गृध्रराज जटायुका वध, श्रीराम और लक्ष्मणकी कबन्धसे भेंट, उनके द्वारा पम्पासरोवरका अवलोकन, श्रीरामका शबरीसे मिलना और उसके दिये हुए फल-मूलको ग्रहण करना, श्रीरामका सीताके लिये प्रलाप, पम्पासरोवरके निकट हनुमान्‌जीसे भेंट, श्रीराम और लक्ष्मणका हनुमान्‌जीके साथ ऋष्यमूक पर्वतपर जाना, वहाँ सुग्रीवके साथ भेंट करना, उन्हें अपने बलका विश्वास दिलाना और उनसे मित्रता स्थापित करना, वाली और सुग्रीवका युद्ध, श्रीरामद्वारा वालीका विनाश, सुग्रीवको राज्य-समर्पण, अपने पति वालीके लिये ताराका विलाप, शरत्कालमें सीताकी खोज करानेके लिये सुग्रीवकी प्रतिज्ञा, श्रीरामका बरसातके दिनोंमें माल्यवान् पर्वतके प्रस्रवण नामक शिखरपर निवास, रघुकुलसिंह श्रीरामका सुग्रीवके प्रति क्रोध-प्रदर्शन, सुग्रीवद्वारा सीताकी खोजके लिये वानरसेनाका संग्रह, सुग्रीवका सम्पूर्ण दिशाओंमें वानरोंको भेजना और उन्हें पृथ्वीके द्वीप-समुद्र आदि विभागोंका परिचय देना, श्रीरामका सीताके विश्वासके लिये हनुमान्‌जीको अपनी अँगूठी देना, वानरोंको ऋक्ष-बिल (स्वयंप्रभा-गुफा) का दर्शन, उनका प्रायोपवेशन (प्राणत्यागके लिये अनशन), सम्पातीसे उनकी भेंट और बातचीत, समुद्रलङ्घनके लिये हनुमान्‌जीका महेन्द्र पर्वतपर चढ़ना, समुद्रको लाँघना, समुद्रके कहनेसे ऊपर उठे हुए मैनाकका दर्शन करना, इनको राक्षसीका डाँटना, हनुमान्-द्वारा छायाग्राहिणी सिंहिकाका दर्शन एवं निधन, लङ्काके आधार-भूत पर्वत (त्रिकूट) का दर्शन, रात्रिके समय लङ्कामें प्रवेश, अकेला होनेके कारण अपने कर्तव्यका विचार करना, रावणके मद्यपान-स्थानमें जाना, उसके अन्तःपुरकी स्त्रियोंको देखना, हनुमान्‌जीका रावणको देखना, पुष्पकविमानका निरीक्षण करना, अशोकवाटिकामें जाना और सीताजीके दर्शन करना, पहचानके लिये सीताजीको अँगूठी देना और उनसे बातचीत करना, राक्षसियोंद्वारा सीताको डाँट-फटकार, त्रिजटाको श्रीरामके लिये शुभसूचक स्वप्नका दर्शन, सीताका हनुमान्-

जीको चूड़ामणि प्रदान करना, हनुमान्‌जीका अशोकवाटिकाके वृक्षोंको तोड़ना, राक्षसियोंका भागना, रावणके सेवकोंका हनुमान्‌जीके द्वारा संहार, वायुनन्दन हनुमान्‌का बन्दी होकर रावणकी सभामें जाना, उनके द्वारा गर्जन और लङ्काका दाह, फिर लौटती बार समुद्रको लाँघना, वानरोंका मधुवनमें आकर मधुपान करना, हनुमान्‌जीका श्रीरामचन्द्रजीको आश्वासन देना और सीताजीकी दी हुई चूड़ामणि समर्पित करना, सेनासहित सुग्रीवके साथ श्रीरामकी लङ्कायात्राके समय समुद्रसे भेंट, नलका समुद्रपर सेतु बाँधना, उसी सेतुके द्वारा वानरसेनाका समुद्रके पार जाना, रातको वानरोंका लङ्कापर चारों ओरसे घेरा डालना, विभीषणके साथ श्रीरामका मैत्री-सम्बन्ध होना, विभीषणका श्रीरामको रावणके वधका उपाय बताना, कुम्भकर्णका निधन, मेघनादका वध, रावणका विनाश, सीताकी प्राप्ति, शत्रुनगरी लङ्कामें विभीषणका अभिषेक, श्रीरामद्वारा पुष्पकविमानका अवलोकन, उसके द्वारा दल-बलसहित उनका अयोध्याके लिये प्रस्थान, श्रीरामका भरद्वाजमुनिसे मिलना, वायुपुत्र हनुमान्‌को दूत बनाकर भरतके पास भेजना तथा अयोध्यामें आकर भरतसे मिलना, श्रीरामके राज्याभिषेकका उत्सव, फिर श्रीरामका सारी वानरसेनाको विदा करना, अपने राष्ट्रकी प्रजाको प्रसन्न रखना तथा उनकी प्रसन्नताके लिये ही विदेहनन्दिनी सीताको वनमें त्याग देना इत्यादि वृत्तान्तोंको एवं इस पृथ्वीपर श्रीरामका जो कुछ भविष्य चरित्र था, उसको भी भगवान् वाल्मीकिमुनिने अपने उत्कृष्ट महाकाव्यमें अङ्कित किया ॥१५—३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

महर्षि वाल्मीकिका चौबीस हजार श्लोकोंसे युक्त रामायण काव्यका निर्माण करके उसे लव-कुशको पढ़ाना, मुनिमण्डलीमें रामायणगान करके लव और कुशका प्रशंसित होना तथा अयोध्यामें श्रीरामद्वारा सम्मानित हो उन दोनोंका रामदरबारमें रामायणगान सुनाना

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने जब वनसे लौटकर राज्यका शासन अपने हाथमें ले लिया, उसके बाद भगवान् वाल्मीकिमुनिने उनके सम्पूर्ण चरित्रके आधारपर विचित्र पद और अर्थसे युक्त रामायण काव्यका निर्माण किया ॥ १ ॥

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान् पञ्च षट्काण्डानि तथोत्तरम् ॥ २ ॥

इसमें महर्षिने चौबीस हजार श्लोक, पाँच सौ सर्ग तथा उत्तरसहित सात काण्डोंका प्रतिपादन किया है ॥ २ ॥

कृत्वा तु तन्महाप्राज्ञः सभविष्यं सहोत्तरम्।
चिन्तयामास को न्वेतत् प्रयुञ्जीयादिति प्रभुः ॥ ३ ॥

भविष्य तथा उत्तरकाण्डसहित समस्त रामायण पूर्ण कर लेनेके पश्चात् सामर्थ्यशाली, महाज्ञानी महर्षिने सोचा कि कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो इस महाकाव्यको पढ़कर जनसमुदायमें सुना सके ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य महर्षेर्भावितात्मनः।
अगृह्णीतां ततः पादौ मुनिवेषौ कुशीलवौ ॥ ४ ॥

शुद्ध अन्तःकरणवाले उन महर्षिके इस प्रकार विचार करते ही मुनिवेशमें रहनेवाले राजकुमार कुश और लवने आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ४ ॥

कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ ॥ ५ ॥
स तु मेधाविनौ दृष्ट्वा वेदेषु परिनिष्ठितौ।
वेदोपबृंहणार्थाय तावग्राहयत प्रभुः ॥ ६ ॥
काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः ॥ ७ ॥

राजकुमार कुश और लव दोनों भाई धर्मके ज्ञाता और यशस्वी थे। उनका स्वर बड़ा ही मधुर था और वे मुनिके आश्रमपर ही रहते थे। उनकी धारणाशक्ति अद्भुत थी और वे दोनों ही वेदोंमें पारंगत हो चुके थे। भगवान् वाल्मीकिने उनकी ओर देखा और उन्हें सुयोग्य समझकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले उन महर्षिने वेदार्थका विस्तारके साथ ज्ञान करानेके लिये उन्हें सीताके चरित्रसे युक्त सम्पूर्ण रामायण नामक महाकाव्यका, जिसका दूसरा नाम पौलस्त्यवध अथवा दशाननवध था, अध्ययन कराया ॥ ५—७ ॥

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम् ॥ ८ ॥
रसैः शृङ्गारकरुणहास्यरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम् ॥ ९ ॥

वह महाकाव्य पढ़ने और गानेमें भी मधुर, द्रुत, मध्य और विलम्बित—इन तीनों गतियोंसे अन्वित षड्ज आदि सातों स्वरोंसे युक्त, वीणा बजाकर स्वर और तालके साथ गाने

योग्य तथा शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक तथा वीर आदि सभी रसोंसे अनुप्राणित है। दोनों भाई कुश और लव उस महाकाव्यको पढ़कर उसका गान करने लगे॥ ८-९॥

तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ।
भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ॥ १०॥

वे दोनों भाई गान्धर्व विद्या (संगीत-शास्त्र) के तत्त्वज्ञ, स्थान[1] और मूर्च्छना[2]के जानकार, मधुर स्वरसे सम्पन्न तथा गन्धर्वोंके समान मनोहर रूपवाले थे॥ १०॥

रूपलक्षणसम्पन्नौ मधुरस्वरभाषिणौ।
बिम्बादिवोत्थितौ बिम्बौ रामदेहात् तथापरौ॥ ११॥

सुन्दर रूप और शुभ लक्षण उनकी सहज सम्पत्ति थे। वे दोनों भाई बड़े मधुर स्वरसे वार्तालाप करते थे। जैसे बिम्बसे प्रतिबिम्ब प्रकट होते हैं, उसी प्रकार श्रीरामके शरीरसे उत्पन्न हुए वे दोनों राजकुमार दूसरे युगल श्रीराम ही प्रतीत होते थे॥ ११॥

तौ राजपुत्रौ कार्त्स्न्येन धर्म्यमाख्यानमुत्तमम्।
वाचोविधेयं तत्सर्वं कृत्वा काव्यमनिन्दितौ॥ १२॥
ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुः सुसमाहितौ॥ १३॥

वे दोनों राजपुत्र सब लोगोंकी प्रशंसाके पात्र थे, उन्होंने उस धर्मानुकूल उत्तम उपाख्यानमय सम्पूर्ण काव्यको जिह्वाग्र कर लिया था और जब कभी ऋषियों, ब्राह्मणों तथा साधुओंका समागम होता था, उस समय उनके बीचमें बैठकर वे दोनों तत्त्वज्ञ बालक एकाग्रचित्त हो रामायणका गान किया करते थे॥ १२-१३॥

महात्मानौ महाभागौ सर्वलक्षणलक्षितौ।
तौ कदाचित् समेतानामृषीणां भावितात्मनाम्॥ १४॥
मध्येसभं समीपस्थाविदं काव्यमगायताम्।
तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे बाष्पपर्याकुलेक्षणाः॥ १५॥
साधु साध्विति तावूचुः परं विस्मयमागताः।
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः॥ १६॥

एक दिनकी बात है, बहुत-से शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंकी मण्डली एकत्र हुई थी। उसमें महान् सौभाग्यशाली तथा समस्त शुभ लक्षणोंसे सुशोभित महामनस्वी कुश और लव भी उपस्थित थे। उन्होंने बीच सभामें उन महात्माओंके समीप बैठकर उस रामायण काव्यका गान किया। उसे सुनकर सभी मुनियोंके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वे अत्यन्त विस्मय-विमुग्ध होकर उन्हें साधुवाद देने लगे। मुनि धर्मवत्सल तो होते ही हैं; वह धार्मिक उपाख्यान सुनकर उन सबके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई॥ १४—१६॥

प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायमानौ कुशीलवौ।
अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानां च विशेषतः॥ १७॥

वे रामायण-कथाके गायक कुमार कुश और लवकी, जो प्रशंसाके ही योग्य थे, इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—'अहो! इन बालकोंके गीतमें कितना माधुर्य है। श्लोकोंकी मधुरता तो और भी अद्भुत है॥ १७॥

चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।
प्रविश्य तावुभौ सुष्ठु तथाभावमगायताम्॥ १८॥
सहितौ मधुरं रक्तं सम्पन्नं स्वरसम्पदा।

'यद्यपि इस काव्यमें वर्णित घटना बहुत दिनों पहले हो चुकी है तो भी इन दोनों बालकोंने इस सभामें प्रवेश करके एक साथ ऐसे सुन्दर भावसे स्वरसम्पन्न, रागयुक्त मधुर गान किया है कि वे पहलेकी घटनाएँ भी प्रत्यक्ष-सी दिखायी देने लगी हैं—मानो अभी-अभी आँखोंके सामने घटित हो रही हों'॥ १८½॥

एवं प्रशस्यमानौ तौ तपःश्लाघ्यैर्महर्षिभिः॥ १९॥
संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम्।

इस प्रकार उत्तम तपस्यासे युक्त महर्षिगण उन दोनों कुमारोंकी प्रशंसा करते और वे उनसे प्रशंसित होकर अत्यन्त मधुर रागसे रामायणका गान करते थे॥ १९½॥

प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ॥ २०॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद् ददौ ताभ्यां महायशाः।
अन्यः कृष्णाजिनमदाद् यज्ञसूत्रं तथापरः॥ २१॥

उनके गानसे संतुष्ट हुए किसी मुनिने उठकर उन्हें पुरस्कारके रूपमें एक कलश प्रदान किया। किसी दूसरे महायशस्वी महर्षिने प्रसन्न होकर उन दोनोंको वल्कल वस्त्र दिया। किसीने काला मृगचर्म भेंट किया तो किसीने यज्ञोपवीत॥ २०-२१॥

---

१. स्थान शब्दसे यहाँ मन्द्र, मध्यम औरताररूप त्रिविध, स्वरोंकी उत्पत्तिका स्थान बताया गया है। हृदयकी ग्रन्थिसे ऊपर और कपोलफलकसे नीचे जो प्राणोंके संचारका स्थान है, उसीको स्थान कहते हैं; उनके तीन भेद हैं—हृदय, कण्ठ और सिर। उसके पुनः तीन-तीन भेद होते हैं—मन्द्र, मध्य और तार; जैसा कि शाण्डिल्यका वचन है—

यदूर्ध्वं हृदयग्रन्थेः कपोलफलकादधः।
प्राणसंचारणस्थानं स्थानमित्यभिधीयते॥
उरः कण्ठः शिरश्चेति तत्पुनस्त्रिविधं भवेत्।
मन्द्रं मध्यं च तारं च ... ...॥

२. जहाँ स्वर पूर्ण होते हैं, उस स्थानको मूर्छना कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

यत्रैव स्युः स्वराः पूर्णा मूर्छना सेत्युदाहृता।

वैजयन्ती कोशके अनुसार वीणा आदिके वादनको मूर्छना कहते हैं—'वादने मूर्छना प्रोक्ता।'

कश्चित् कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः।
बृसीमन्यस्तदा प्रादात् कौपीनमपरो मुनिः॥ २२॥
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः।
काषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः॥ २३॥

एकने कमण्डलु दिया तो दूसरे महामुनिने मुञ्जकी मेखला भेंट की। तीसरेने आसन और चौथेने कौपीन प्रदान किया। किसी अन्य मुनिने हर्षमें भरकर उन दोनों बालकोंके लिये कुठार अर्पित किया। किसीने गेरुआ वस्त्र दिया तो किसी मुनिने चीर भेंट किया॥ २२-२३॥

जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः।
यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित् काष्ठभारं तथापरः॥ २४॥
औदुम्बरीं बृसीमन्यः स्वस्ति केचित् तदावदन्।
आयुष्यमपरे प्राहुर्मुदा तत्र महर्षयः॥ २५॥
ददुश्चैवं वरान् सर्वे मुनयः सत्यवादिनः।

किसी दूसरेने आनन्दमग्न होकर जटा बाँधनेके लिये रस्सी दी तो किसीने समिधा बाँधकर लानेके लिये डोरी प्रदान की। एक ऋषिने यज्ञपात्र दिया तो दूसरेने काष्ठभार समर्पित किया। किसीने गूलरकी लकड़ीका बना हुआ पीढ़ा अर्पित किया। कुछ लोग उस समय आशीर्वाद देने लगे—'बच्चो! तुम दोनोंका कल्याण हो।' दूसरे महर्षि प्रसन्नतापूर्वक बोल उठे—'तुम्हारी आयु बढ़े।' इस प्रकार सभी सत्यवादी मुनियोंने उन दोनोंको नाना प्रकारके वर दिये॥ २४—२५½॥

आश्चर्यमिदमाख्यानं मुनिना सम्प्रकीर्तितम्॥ २६॥
परं कवीनामाधारं समाप्तं च यथाक्रमम्।

महर्षि वाल्मीकिद्वारा वर्णित यह आश्चर्यमय काव्य परवर्ती कवियोंके लिये श्रेष्ठ आधारशिला है। श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण चरित्रोंका क्रमशः वर्णन करते हुए इसकी समाप्ति की गयी है॥ २६½॥

अभिगीतमिदं गीतं सर्वगीतिषु कोविदौ॥ २७॥
आयुष्यं पुष्टिजननं सर्वश्रुतिमनोहरम्।

सम्पूर्ण गीतोंके विशेषज्ञ राजकुमारो! यह काव्य आयु एवं पुष्टि प्रदान करनेवाला तथा सबके कान और मनको मोहनेवाला मधुर संगीत है। तुम दोनोंने बड़े सुन्दर ढंगसे इसका गान किया है॥ २७½॥

प्रशस्यमानौ सर्वत्र कदाचित् तत्र गायकौ॥ २८॥
रथ्यासु राजमार्गेषु ददर्श भरताग्रजः।
स्ववेश्म चानीय ततो भ्रातरौ स कुशीलवौ॥ २९॥
पूजयामास पूजार्हौ रामः शत्रुनिबर्हणः।
आसीनः काञ्चने दिव्ये स च सिंहासने प्रभुः॥ ३०॥
उपोपविष्टैः सचिवैर्भ्रातृभिश्च समन्वितः।
दृष्ट्वा तु रूपसम्पन्नौ विनीतौ भ्रातरावुभौ॥ ३१॥
उवाच लक्ष्मणं रामः शत्रुघ्नं भरतं तथा।
श्रूयतामेतदाख्यानमनयोर्देववर्चसोः॥ ३२॥
विचित्रार्थपदं सम्यग्गायकौ समचोदयत्।

एक समय सर्वत्र प्रशंसित होनेवाले राजकुमार कुश और लव अयोध्याकी गलियों और सड़कोंपर रामायणके श्लोकोंका गान करते हुए विचर रहे थे। इसी समय उनके ऊपर भरतके बड़े भाई श्रीरामकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने उन समादरयोग्य बन्धुओंको अपने घर बुलाकर उनका यथोचित सम्मान किया। तदनन्तर शत्रुओंका संहार करनेवाले श्रीराम सुवर्णमय दिव्य सिंहासनपर विराजमान हुए। उनके मन्त्री और भाई भी उनके पास ही बैठे थे। उन सबके साथ सुन्दर रूपवाले उन दोनों विनयशील भाइयोंकी ओर देखकर श्रीरामचन्द्रजीने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे कहा—ये देवताके समान तेजस्वी दोनों कुमार विचित्र अर्थ और पदोंसे युक्त मधुर काव्य बड़े सुन्दर ढंगसे गाकर सुनाते हैं। तुम सब लोग इसे सुनो।' यों कहकर उन्होंने उन दोनों भाइयोंको गानेकी आज्ञा दी॥ २८—३२½॥

तौ चापि मधुरं रक्तं स्वञ्चितायतनिःस्वनम्॥ ३३॥
तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम्।
ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च।
श्रोत्राश्रयसुखं गेयं तद् बभौ जनसंसदि॥ ३४॥

आज्ञा पाकर वे दोनों भाई वीणाके लयके साथ अपने मनके अनुकूल तार (उच्च) एवं मधुर स्वरमें राग अलापते हुए रामायण काव्यका गान करने लगे। उनका उच्चारण इतना स्पष्ट था कि सुनते ही अर्थका बोध हो जाता था। उनका गान सुनकर श्रोताओंके समस्त अङ्गोंमें हर्षजनित रोमाञ्च हो आया तथा उन सबके मन और आत्मामें आनन्दकी तरंगें उठने लगीं। उस जनसभामें होनेवाला वह गान सबकी श्रवणेन्द्रियोंको अत्यन्त सुखद प्रतीत होता था॥ ३३-३४॥

इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ।
ममापि तद् भूतिकरं प्रचक्षते
महानुभावं चरितं निबोधत॥ ३५॥

उस समय श्रीरामने अपने भाइयोंका ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—'ये दोनों कुमार मुनि होकर भी राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न हैं। संगीतमें कुशल होनेके साथ ही महान् तपस्वी हैं। ये जिस चरित्रका—प्रबन्धकाव्यका गान करते हैं, वह शब्दार्थालङ्कार, उत्तम गुण एवं सुन्दर रीति आदिसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त प्रभावशाली है। मेरे लिये भी अभ्युदयकारक है; ऐसा वृद्ध पुरुषोंका कथन है। अतः तुम सब लोग ध्यान देकर इसे सुनो'॥ ३५॥

ततस्तु तौ रामवचःप्रचोदिता-
वगायतां मार्गविधानसम्पदा।
स चापि रामः परिषद्गतः शनै-
र्बुभूषयासक्तमना बभूव ॥ ३६ ॥

तदनन्तर श्रीरामकी आज्ञासे प्रेरित हो वे दोनों भाई मार्गविधानकी रीतिसे रामायणका गान करने लगे। सभामें बैठे हुए भगवान् श्रीराम भी धीरे-धीरे उनका गान सुननेमें तन्मय हो गये ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथद्वारा सुरक्षित अयोध्यापुरीका वर्णन

सर्वा पूर्वमियं येषामासीत् कृत्स्ना वसुंधरा।
प्रजापतिमुपादाय नृपाणां जयशालिनाम् ॥ १ ॥
येषां स सगरो नाम सागरो येन खानितः।
षष्टिपुत्रसहस्राणि यं यान्तं पर्यवारयन् ॥ २ ॥
इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम् ॥ ३ ॥

यह सारी पृथ्वी पूर्वकालमें प्रजापति मनुसे लेकर अबतक जिस वंशके विजयशाली नरेशोंके अधिकारमें रही है, जिन्होंने समुद्रको खुदवाया था और जिन्हें यात्राकालमें साठ हजार पुत्र घेरकर चलते थे, वे महाप्रतापी राजा सगर जिनके कुलमें उत्पन्न हुए, इन्हीं इक्ष्वाकुवंशी महात्मा राजाओंकी कुलपरम्परामें रामायण नामसे प्रसिद्ध इस महान् ऐतिहासिक काव्यकी अवतारणा हुई है ॥ १—३ ॥

तदिदं वर्तयिष्यावः सर्वं निखिलमादितः।
धर्मकामार्थसहितं श्रोतव्यमनसूयता ॥ ४ ॥

हम दोनों आदिसे अन्ततक इस सारे काव्यका पूर्णरूपसे गान करेंगे। इसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है; अतः आपलोग दोषदृष्टिका परित्याग करके इसका श्रवण करें ॥ ४ ॥

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥ ५ ॥

कोशल नामसे प्रसिद्ध एक बहुत बड़ा जनपद है, जो सरयू नदीके किनारे बसा हुआ है। वह प्रचुर धन-धान्यसे सम्पन्न, सुखी और समृद्धिशाली है ॥ ५ ॥

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥ ६ ॥

उसी जनपदमें अयोध्या नामकी एक नगरी है, जो समस्त लोकोंमें विख्यात है। उस पुरीको स्वयं महाराज मनुने बनवाया और बसाया था ॥ ६ ॥

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥ ७ ॥

वह शोभाशालिनी महापुरी बारह योजन लंबी और तीन योजन चौड़ी थी। वहाँ बाहरके जनपदोंमें जानेका जो विशाल राजमार्ग था, वह उभयपार्श्वमें विविध वृक्षावलियोंसे विभूषित होनेके कारण सुस्पष्टतया अन्य मार्गोंसे विभक्त जान पड़ता था ॥ ७ ॥

राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः ॥ ८ ॥

सुन्दर विभागपूर्वक बना हुआ महान् राजमार्ग उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहा था। उसपर खिले हुए फूल बिखेरे जाते थे तथा प्रतिदिन उसपर जलका छिड़काव होता था ॥८॥

तां तु राजा दशरथो महाराष्ट्रविवर्धनः।
पुरीमावासयामास दिवि देवपतिर्यथा ॥ ९ ॥

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रने अमरावतीपुरी बसायी थी, उसी प्रकार धर्म और न्यायके बलसे अपने महान् राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले राजा दशरथने अयोध्यापुरीको पहलेकी अपेक्षा विशेषरूपसे बसाया था ॥ ९ ॥

कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषितां सर्वशिल्पिभिः ॥ १० ॥

वह पुरी बड़े-बड़े फाटकों और किवाड़ोंसे सुशोभित थी। उसके भीतर पृथक्-पृथक् बाजारें थीं। वहाँ सब प्रकारके यन्त्र और अस्त्र-शस्त्र संचित थे। उस पुरीमें सभी कलाओंके शिल्पी निवास करते थे ॥ १० ॥

सूतमागधसम्बाधां श्रीमतीमतुलप्रभाम्।
उच्चाट्टालध्वजवतीं शतघ्नीशतसंकुलाम् ॥ ११ ॥

स्तुति-पाठ करनेवाले सूत और वंशावलीका बखान करनेवाले मागध वहाँ भरे हुए थे। वह पुरी सुन्दर शोभासे

१. गान दो प्रकारके होते हैं—मार्ग और देशी। भिन्न-भिन्न देशोंकी प्राकृत भाषामें गाये जानेवाले गानको देशी कहते हैं और समूचे राष्ट्रमें प्रसिद्ध संस्कृत आदि भाषाका आश्रय लेकर गाया हुआ गान मार्गके नामसे प्रसिद्ध है। कुमार कुश और लव संस्कृत भाषाका आश्रय लेकर इसीकी रीतिसे गा रहे थे।

सम्पन्न थी। उसकी सुषमाकी कहीं तुलना नहीं थी। वहाँ ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएँ थीं, जिनके ऊपर ध्वज फहराते थे। सैकड़ों शतघ्नियों (तोपों) से वह पुरी व्याप्त थी ॥ ११ ॥

वधूनाटकसंघैश्च संयुक्तां सर्वतः पुरीम्।
उद्यानाम्रवणोपेतां महतीं सालमेखलाम् ॥ १२ ॥

उस पुरीमें ऐसी बहुत-सी नाटक-मण्डलियाँ थीं, जिनमें केवल स्त्रियाँ ही नृत्य एवं अभिनय करती थीं। उस नगरीमें चारों ओर उद्यान तथा आमोंके बगीचे थे। लंबाई और चौड़ाईकी दृष्टिसे वह पुरी बहुत विशाल थी तथा साखूके वन उसे सब ओरसे घेरे हुए थे ॥ १२ ॥

दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्।
वाजिवारणसम्पूर्णां गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा ॥ १३ ॥

उसके चारों ओर गहरी खाई खुदी थी, जिसमें प्रवेश करना या जिसे लाँघना अत्यन्त कठिन था। वह नगरी दूसरोंके लिये सर्वथा दुर्गम एवं दुर्जय थी। घोड़े, हाथी, गाय-बैल, ऊँट तथा गदहे आदि उपयोगी पशुओंसे वह पुरी भरी-पूरी थी ॥ १३ ॥

सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्।
नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम् ॥ १४ ॥

कर देनेवाले सामन्त नरेशोंके समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे। विभिन्न देशोंके निवासी वैश्य उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे ॥ १४ ॥

प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्।
कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥ १५ ॥

वहाँके महलोंका निर्माण नाना प्रकारके रत्नोंसे हुआ था। वे गगनचुम्बी प्रासाद पर्वतोंके समान जान पड़ते थे। उनसे उस पुरीकी बड़ी शोभा हो रही थी। बहुसंख्यक कूटागारों (गुप्तगृहों अथवा स्त्रियोंके क्रीडाभवनों) से परिपूर्ण वह नगरी इन्द्रकी अमरावतीके समान जान पड़ती थी ॥ १५ ॥

चित्रामष्टापदाकारां वरनारीगणायुताम्।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम् ॥ १६ ॥

उसकी शोभा विचित्र थी। उसके महलोंपर सोनेका पानी चढ़ाया गया था (अथवा वह पुरी द्यूतफलकके[1] आकारमें बसायी गयी थी)। श्रेष्ठ एवं सुन्दरी नारियोंके समूह उस पुरीकी शोभा बढ़ाते थे। वह सब प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी तथा सतमहले प्रासादोंसे सुशोभित थी ॥ १६ ॥

गृहगाढामविच्छिद्रां समभूमौ निवेशिताम्।
शालितण्डुलसम्पूर्णामिक्षुकाण्डरसोदकाम् ॥ १७ ॥

पुरवासियोंके घरोंसे उसकी आबादी इतनी घनी हो गयी थी कि कहीं थोड़ा-सा भी अवकाश नहीं दिखायी देता था। उसे समतल भूमिपर बसाया गया था। वह नगरी जड़हन धानके चावलोंसे भरपूर थी। वहाँका जल इतना मीठा या स्वादिष्ट था, मानो ईखका रस हो ॥ १७ ॥

दुन्दुभीभिर्मृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा।
नादितां भृशमत्यर्थं पृथिव्यां तामनुत्तमाम् ॥ १८ ॥

भूमण्डलकी वह सर्वोत्तम नगरी दुन्दुभि, मृदङ्ग, वीणा, पणव आदि वाद्योंकी मधुर ध्वनिसे अत्यन्त गूँजती रहती थी ॥ १८ ॥

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि।
सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम् ॥ १९ ॥

देवलोकमें तपस्यासे प्राप्त हुए सिद्धोंके विमानकी भाँति उस पुरीका भूमण्डलमें सर्वोत्तम स्थान था। वहाँके सुन्दर महल बहुत अच्छे ढंगसे बनाये और बसाये गये थे। उनके भीतरी भाग बहुत ही सुन्दर थे। बहुत-से श्रेष्ठ पुरुष उस पुरीमें निवास करते थे ॥ १९ ॥

ये च बाणैर्न विध्यन्ति विविक्तमपरापरम्।
शब्दवेध्यं च विततं लघुहस्ता विशारदाः ॥ २० ॥
सिंहव्याघ्रवराहाणां मत्तानां नदतां वने।
हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्बलाद् बाहुबलैरपि ॥ २१ ॥
तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः।
पुरीमावासयामास राजा दशरथस्तदा ॥ २२ ॥

जो अपने समूहसे बिछुड़कर असहाय हो गया हो, जिसके आगे-पीछे कोई न हो (अर्थात् जो पिता और पुत्र दोनोंसे हीन हो) तथा जो शब्दवेधी बाणद्वारा बेधने योग्य हों अथवा युद्धसे हारकर भागे जा रहे हों, ऐसे पुरुषोंपर जो लोग बाणोंका प्रहार नहीं करते, जिनके सधे-सधाये हाथ शीघ्रतापूर्वक लक्ष्यवेध करनेमें समर्थ हैं, अस्त्र-शस्त्रोंके प्रयोगमें कुशलता प्राप्त कर चुके हैं तथा जो वनमें गर्जते हुए मतवाले सिंहों, व्याघ्रों और सूअरोंको तीखे शस्त्रोंसे एवं भुजाओंके बलसे भी बलपूर्वक मार डालनेमें समर्थ हैं, ऐसे सहस्रों महारथी वीरोंसे अयोध्यापुरी भरी-पूरी थी। उसे महाराज दशरथने बसाया और पाला था ॥ २०—२२ ॥

तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां
द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगैः।
सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभि-
र्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः ॥ २३ ॥

अग्निहोत्री, शम-दम आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न तथा छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके पारङ्गत विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण

[1] १. गोविन्दराजकी टीकामें अष्टापदका अर्थ शारिफल या द्यूतफलक किया गया है। वह चौकी जिसपर पासा बिछाया या खेला जाय, द्यूतफलक कहलाती है। पुरीके बीचमें राजमहल था। उसके चारों ओर राजवीथियाँ थीं और बीचमें खाली जगहें थीं। यही 'अष्टापदाकारा' का भाव है।

उस पुरीको सदा घेरे रहते थे। वे सहस्रोंका **दान** करनेवाले और सत्यमें तत्पर रहनेवाले थे। ऐसे महर्षिकल्प **महात्मा**ओं तथा ऋषियोंसे अयोध्यापुरी सुशोभित थी तथा राजा दशरथ उसकी रक्षा करते थे॥ २३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५॥

षष्ठः सर्गः

राजा दशरथके शासनकालमें अयोध्या और वहाँके नागरिकोंकी उत्तम स्थितिका वर्णन

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः॥ १॥
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥ २॥
बलवान् निहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः।
धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रवैश्रवणोपमः॥ ३॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता॥ ४॥

उस अयोध्यापुरीमें रहकर राजा दशरथ प्रजावर्गका पालन करते थे। वे वेदोंके विद्वान् तथा सभी उपयोगी वस्तुओंका संग्रह करनेवाले थे। दूरदर्शी और महान् तेजस्वी थे। नगर और जनपदकी प्रजा उनसे बहुत प्रेम रखती थी। वे इक्ष्वाकुकुलके अतिरथी[1] वीर थे। यज्ञ करनेवाले, धर्मपरायण और जितेन्द्रिय थे। महर्षियोंके समान दिव्य गुणसम्पन्न राजर्षि थे। उनकी तीनों लोकोंमें ख्याति थी। वे बलवान्, शत्रुहीन, मित्रोंसे युक्त एवं इन्द्रियविजयी थे। धन और अन्य वस्तुओंके संचयकी दृष्टिसे इन्द्र और कुबेरके समान जान पड़ते थे। जैसे महातेजस्वी प्रजापति मनु सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते थे। उसी प्रकार महाराज दशरथ भी करते थे॥ १—४॥

तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती॥ ५॥

धर्म, अर्थ और कामका सम्पादन करनेवाले कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए वे सत्यप्रतिज्ञ नरेश उस श्रेष्ठ अयोध्यापुरीका उसी तरह पालन करते थे, जैसे इन्द्र अमरावतीपुरीका॥ ५॥

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥ ६॥

उस उत्तम नगरमें निवास करनेवाले सभी मनुष्य प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभ, सत्यवादी तथा अपने-अपने धनसे संतुष्ट रहनेवाले थे॥ ६॥

नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधनधान्यवान्॥ ७॥

उस श्रेष्ठ पुरीमें कोई भी ऐसा कुटुम्बी नहीं था, जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओंका संग्रह अधिक मात्रामें न हो, जिसके धर्म, अर्थ और काममय पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों तथा जिसके पास गाय-बैल, घोड़े, धन-धान्य आदिका अभाव हो॥ ७॥

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥ ८॥

अयोध्यामें कहीं भी कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक मनुष्य देखनेको भी नहीं मिलता था॥ ८॥

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥ ९॥

वहाँ सभी स्त्री-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्न रहनेवाले तथा शील और सदाचारकी दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति निर्मल थे॥ ९॥

नाकुण्डली नामुकुटी नास्रग्वी नाल्पभोगवान्।
नामृष्टो न नलिप्ताङ्गो नासुगन्धश्च विद्यते॥ १०॥

वहाँ कोई भी कुण्डल, मुकुट और पुष्पहारसे शून्य नहीं था। किसीके पास भोग-सामग्रीकी कमी नहीं थी। कोई भी ऐसा नहीं था, जो नहा-धोकर साफ-सुथरा न हो, जिसके अङ्गोंमें चन्दनका लेप न हुआ हो तथा जो सुगन्धसे वञ्चित हो॥ १०॥

नामृष्टभोजी नादाता नाप्यनङ्गदनिष्कधृक्।
नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते नाप्यनात्मवान्॥ ११॥

अपवित्र अन्न भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मनको काबूमें न रखनेवाला मनुष्य तो वहाँ कोई दिखायी ही नहीं देता था। कोई भी ऐसा पुरुष देखनेमें नहीं आता था, जो बाजूबन्द, निष्क (स्वर्णपदक या मोहर) तथा हाथका आभूषण (कड़ा आदि) धारण न किये हो॥

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः॥ १२॥

अयोध्यामें कोई भी ऐसा नहीं था, जो अग्निहोत्र और

[1] १. जो दस हजार महारथियोंके साथ अकेला ही युद्ध करनेमें समर्थ हो, वह 'अतिरथी' कहलाता है।

यज्ञ न करता हो; जो क्षुद्र, चोर, सदाचारशून्य अथवा वर्णसंकर हो ॥ १२ ॥

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः ।
दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे ॥ १३ ॥

वहाँ निवास करनेवाले ब्राह्मण सदा अपने कर्मोंमें लगे रहते, इन्द्रियोंको वशमें रखते, दान और स्वाध्याय करते तथा प्रतिग्रहसे बचे रहते थे ॥ १३ ॥

नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः ।
नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥ १४ ॥

वहाँ कहीं एक भी ऐसा द्विज नहीं था, जो नास्तिक, असत्यवादी, अनेक शास्त्रोंके ज्ञानसे रहित, दूसरोंके दोष ढूँढ़नेवाला, साधनमें असमर्थ और विद्याहीन हो ॥ १४ ॥

नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः ।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन ॥ १५ ॥

उस पुरीमें वेदके छहों अङ्गोंको न जाननेवाला, व्रतहीन, सहस्रोंसे कम दान देनेवाला, दीन, विक्षिप्त-चित्त अथवा दुखी भी कोई नहीं था ॥ १५ ॥

कश्चिन्नरो वा नारी वा नाश्रीमान् नाप्यरूपवान् ।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नापि राजन्यभक्तिमान् ॥ १६ ॥

अयोध्यामें कोई भी स्त्री या पुरुष ऐसा नहीं देखा जा सकता था, जो श्रीहीन, रूपरहित तथा राजभक्तिसे शून्य हो ॥ १६ ॥

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः ।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥ १७ ॥

ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके लोग देवता और अतिथियोंके पूजक, कृतज्ञ, उदार, शूरवीर और पराक्रमी थे ॥ १७ ॥

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः ।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे ॥ १८ ॥

उस श्रेष्ठ नगरमें निवास करनेवाले सब मनुष्य दीर्घायु तथा धर्म और सत्यका आश्रय लेनेवाले थे। वे सदा स्त्री-पुत्र और पौत्र आदि परिवारके साथ सुखसे रहते थे ॥ १८ ॥

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः ।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः ॥ १९ ॥

क्षत्रिय ब्राह्मणोंका मुँह जोहते थे, वैश्य क्षत्रियोंकी आज्ञाका पालन करते थे और शूद्र अपने कर्तव्यका पालन करते हुए उपर्युक्त तीनों वर्णोंकी सेवामें संलग्न रहते थे ॥१९॥

सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपररक्षिता ।
यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता ॥ २० ॥

इक्ष्वाकुकुलके स्वामी राजा दशरथ अयोध्यापुरीकी रक्षा उसी प्रकार करते थे, जैसे बुद्धिमान् महाराज मनुने पूर्वकालमें उसकी रक्षा की थी ॥ २० ॥

योधानामग्निकल्पानां पेशलानाममर्षिणाम् ।
सम्पूर्णा कृतविद्यानां गुहा केसरिणामिव ॥ २१ ॥

शौर्यकी अधिकताके कारण अग्निके समान दुर्धर्ष, कुटिलतासे रहित, अपमानको सहन करनेमें असमर्थ तथा अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता योद्धाओंके समुदायसे वह पुरी उसी तरह भरी-पूरी रहती थी, जैसे पर्वतोंकी गुफा सिंहोंके समूहसे परिपूर्ण होती है ॥ २१ ॥

काम्बोजविषये जातैर्बाह्लीकैश्च हयोत्तमैः ।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः ॥ २२ ॥

काम्बोज और बाह्लीक देशमें उत्पन्न हुए उत्तम घोड़ोंसे, वनायु देशके अश्वोंसे तथा सिन्धुनदके निकट पैदा होनेवाले दरियाई घोड़ोंसे, जो इन्द्रके अश्व उच्चैःश्रवाके समान श्रेष्ठ थे, अयोध्यापुरी भरी रहती थी ॥ २२ ॥

विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि ।
मदान्वितैरतिबलैर्मातङ्गैः पर्वतोपमैः ॥ २३ ॥

विन्ध्य और हिमालय पर्वतोंमें उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त बलशाली पर्वताकार मदमत्त गजराजोंसे भी वह नगरी परिपूर्ण रहती थी ॥ २३ ॥

ऐरावतकुलीनैश्च महापद्मकुलैस्तथा ।
अञ्जनादपि निष्क्रान्तैर्वामनादपि च द्विपैः ॥ २४ ॥

ऐरावतकुलमें उत्पन्न, महापद्मके वंशमें पैदा हुए तथा अञ्जन और वामन नामक दिग्गजोंसे भी प्रकट हुए हाथी उस पुरीकी पूर्णतामें सहायक हो रहे थे ॥ २४ ॥

भद्रैर्मन्द्रैर्मृगैश्चैव भद्रमन्द्रमृगैस्तथा ।
भद्रमन्द्रैर्भद्रमृगैर्मृगमन्द्रैश्च सा पुरी ॥ २५ ॥
नित्यमत्तैः सदा पूर्णा नागैरचलसंनिभैः ।
सा योजने द्वे च भूयः सत्यनामा प्रकाशते ।
यस्यां दशरथो राजा वसञ्जगदपालयत् ॥ २६ ॥

हिमालय पर्वतपर उत्पन्न भद्रजातिके, विन्ध्यपर्वतपर उत्पन्न हुए मन्द्रजातिके तथा सह्यपर्वतपर पैदा हुए मृग जातिके हाथी भी वहाँ मौजूद थे। भद्र, मन्द्र और मृग—इन तीनोंके मेलसे उत्पन्न हुए संकर जातिके, भद्र और मन्द्र—इन दो जातियोंके मेलसे पैदा हुए संकर जातिके, भद्र और मृग जातिके संयोगसे उत्पन्न संकर जातिके तथा मृग और मन्द्र—इन दो जातियोंके सम्मिश्रणसे पैदा हुए पर्वताकार गजराज भी, जो सदा मदोन्मत्त रहते थे, उस पुरीमें भरे हुए थे। (तीन योजनके विस्तारवाली अयोध्यामें) दो योजन-की भूमि तो ऐसी थी, जहाँ पहुँचकर किसीके लिये भी युद्ध करना असम्भव था, इसलिये वह पुरी 'अयोध्या' इस सत्य एवं सार्थक नामसे प्रकाशित होती थी; जिसमें रहते हुए राजा दशरथ इस जगत्‌का (अपने राज्यका) पालन करते थे ॥२५-२६॥

तां पुरीं स महातेजा राजा दशरथो महान् ।
शशास शमितामित्रो नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ २७ ॥

जैसे चन्द्रमा नक्षत्रलोकका शासन करते हैं, उसी प्रकार महातेजस्वी महाराज दशरथ अयोध्यापुरीका शासन करते थे । उन्होंने अपने समस्त शत्रुओंको नष्ट कर दिया था ॥ २७ ॥

तां सत्यनामां दृढतोरणार्गलां
गृहैर्विचित्रैरुपशोभितां शिवाम् ।
पुरीमयोध्यां नृसहस्रसंकुलां
शशास वै शक्रसमो महीपतिः ॥ २८ ॥

जिसका अयोध्या नाम सत्य एवं सार्थक था, जिसके दरवाजे और अर्गला सुदृढ़ थे, जो विचित्र गृहोंसे सदा सुशोभित होती थी, सहस्रों मनुष्योंसे भरी हुई उस कल्याणमयी पुरीका इन्द्रतुल्य तेजस्वी राजा दशरथ न्यायपूर्वक शासन करते थे ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

राजमन्त्रियोंके गुण और नीतिका वर्णन

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाकोः सुमहात्मनः ।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ॥ १ ॥
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः ॥ २ ॥

इक्ष्वाकुवंशी वीर महामना महाराज दशरथके मन्त्रिजनोचित गुणोंसे सम्पन्न आठ मन्त्री थे, जो मन्त्रके तत्त्वको जाननेवाले और बाहरी चेष्टा देखकर ही मनके भावको समझ लेनेवाले थे । वे सदा ही राजाके प्रिय एवं हितमें लगे रहते थे । इसीलिये उनका यश बहुत फैला हुआ था । वे सभी शुद्ध आचार-विचारसे युक्त थे और राजकीय कार्योंमें निरन्तर संलग्न रहते थे ॥ १-२ ॥

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः ।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित् ॥ ३ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और आठवें सुमन्त्र, जो अर्थशास्त्रके ज्ञाता थे ॥ ३ ॥

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे ॥ ४ ॥
सुयज्ञोऽप्यथ जाबालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः ।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुस्तथा कात्यायनो द्विजः ॥ ५ ॥

ऋषियोंमें श्रेष्ठतम वसिष्ठ और वामदेव—ये दो महर्षि राजाके माननीय ऋत्विज (पुरोहित) थे । इनके सिवा सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, दीर्घायु मार्कण्डेय और विप्रवर कात्यायन भी महाराजके मन्त्री थे ॥ ४-५ ॥

एतैर्ब्रह्मर्षिभिर्नित्यमृत्विजस्तस्य पौर्वकाः ।
विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः ॥ ६ ॥
श्रीमन्तश्च महात्मानः शस्त्रज्ञा दृढविक्रमाः ।
कीर्तिमन्तः प्रणिहिता यथावचनकारिणः ॥ ७ ॥
तेजःक्षमायशःप्राप्ताः स्मितपूर्वाभिभाषिणः ।
क्रोधात् कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृतं वचः ॥ ८ ॥

इन ब्रह्मर्षियोंके साथ राजाके पूर्वपरम्परागत ऋत्विज भी सदा मन्त्रीका कार्य करते थे । वे सब-के-सब विद्वान् होनेके कारण विनयशील, सलज्ज, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, महात्मा, शस्त्रविद्याके ज्ञाता, सुदृढ़ पराक्रमी, यशस्वी, समस्त राजकार्योंमें सावधान, राजाकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेवाले, तेजस्वी, क्षमाशील, कीर्तिमान् तथा मुसकराकर बात करनेवाले थे । वे कभी काम, क्रोध या स्वार्थके वशीभूत होकर झूठ नहीं बोलते थे ॥ ६—८ ॥

तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा ।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम् ॥ ९ ॥

अपने या शत्रुपक्षके राजाओंकी कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी । दूसरे राजा क्या करते हैं, क्या कर चुके हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी बातें गुप्तचरोंद्वारा उन्हें मालूम रहती थीं ॥ ९ ॥

कुशला व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः ।
प्राप्तकालं यथा दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि ॥ १० ॥

वे सभी व्यवहारकुशल थे । उनके सौहार्दकी अनेक अवसरोंपर परीक्षा ली जा चुकी थी । वे मौका पड़नेपर अपने पुत्रको भी उचित दण्ड देनेमें भी नहीं हिचकते थे ॥ १० ॥

कोशसंग्रहणे युक्ता बलस्य च परिग्रहे ।
अहितं चापि पुरुषं न हिंस्युरविदूषकम् ॥ ११ ॥

कोषके संचय तथा चतुरंगिणी सेनाके संग्रहमें सदा लगे रहते थे । शत्रुने भी यदि अपराध न किया हो तो वे उसकी हिंसा नहीं करते थे ॥ ११ ॥

वीराश्च नियतोत्साहा राजशास्त्रमनुष्ठिताः ।
शुचीनां रक्षितारश्च नित्यं विषयवासिनाम् ॥ १२ ॥

उन सबमें सदा शौर्य एवं उत्साह भरा रहता था । वे राजनीतिके अनुसार कार्य करते तथा अपने राज्यके भीतर रहनेवाले सत्पुरुषोंकी सदा रक्षा करते थे ॥ १२ ॥

ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन्।
सुतीक्ष्णदण्डाः सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम् ॥ १३ ॥

ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको कष्ट न पहुँचाकर न्यायोचित धनसे राजाका खजाना भरते थे। वे अपराधी पुरुषके बलाबलको देखकर उसके प्रति तीक्ष्ण अथवा मृदु दण्डका प्रयोग करते थे ॥ १३ ॥

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम्।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित् ॥ १४ ॥
क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत् ॥ १५ ॥

उन सबके भाव शुद्ध और विचार एक थे। उनकी जानकारीमें अयोध्यापुरी अथवा कोसलराज्यके भीतर कहीं एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो मिथ्यावादी, दुष्ट और परस्त्रीलम्पट हो। सम्पूर्ण राष्ट्र और नगरमें पूर्ण शान्ति छायी रहती थी ॥ १४-१५ ॥

सुवाससः सुवेषाश्च ते च सर्वे शुचिव्रताः।
हितार्थाश्च नरेन्द्रस्य जाग्रतो नयचक्षुषा ॥ १६ ॥

उन मन्त्रियोंके वस्त्र और वेष स्वच्छ एवं सुन्दर होते थे। वे उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा राजाके हितैषी थे। नीतिरूपी नेत्रोंसे देखते हुए सदा सजग रहते थे ॥ १६ ॥

गुरोर्गुणगृहीताश्च प्रख्याताश्च पराक्रमैः।
विदेशेष्वपि विज्ञाताः सर्वतो बुद्धिनिश्चयाः ॥ १७ ॥

अपने गुणोंके कारण वे सभी मन्त्री गुरुतुल्य समादरणीय राजाके अनुग्रहपात्र थे। अपने पराक्रमोंके कारण उनकी सर्वत्र ख्याति थी। विदेशोंमें भी सब लोग उन्हें जानते थे। वे सभी बातोंमें बुद्धिद्वारा भलीभाँति विचार करके किसी निश्चयपर पहुँचते थे ॥ १७ ॥

अभितो गुणवन्तश्च न चासन् गुणवर्जिताः।
संधिविग्रहतत्त्वज्ञाः प्रकृत्या सम्पदान्विताः ॥ १८ ॥

समस्त देशों और कालोंमें वे गुणवान् ही सिद्ध होते थे, गुणहीन नहीं। संधि और विग्रहके उपयोग और अवसरका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान था। वे स्वभावसे ही सम्पत्तिशाली (दैवी सम्पत्तिसे युक्त) थे ॥ १८ ॥

मन्त्रसंवरणे शक्ताः शक्ताः सूक्ष्मासु बुद्धिषु।
नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः ॥ १९ ॥

उनमें राजकीय मन्त्रणाको गुप्त रखनेकी पूर्ण शक्ति थी। वे सूक्ष्मविषयका विचार करनेमें कुशल थे। नीतिशास्त्रमें उनकी विशेष जानकारी थी तथा वे सदा ही प्रिय लगनेवाली बात बोलते थे ॥ १९ ॥

ईदृशैस्तैरमात्यैश्च राजा दशरथोऽनघः।
उपपन्नो गुणोपेतैरन्वशासद् वसुन्धराम् ॥ २० ॥

ऐसे गुणवान् मन्त्रियोंके साथ रहकर निष्पाप राजा दशरथ उस भूमण्डलका शासन करते थे ॥ २० ॥

अवेक्ष्यमाणश्चारेण प्रजा धर्मेण रक्षयन्।
प्रजानां पालनं कुर्वन्नधर्मं परिवर्जयन् ॥ २१ ॥

वे गुप्तचरोंके द्वारा अपने और शत्रु-राज्यके वृत्तान्तोंपर दृष्टि रखते थे, प्रजाका धर्मपूर्वक पालन करते थे तथा प्रजापालन करते हुए अधर्मसे दूर ही रहते थे ॥ २१ ॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु वदान्यः सत्यसंगरः।
स तत्र पुरुषव्याघ्रः शशास पृथिवीमिमाम् ॥ २२ ॥

उनकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि थी। वे उदार और सत्यप्रतिज्ञ थे। पुरुषसिंह राजा दशरथ अयोध्यामें ही रहकर इस पृथ्वीका शासन करते थे ॥ २२ ॥

नाध्यगच्छद्विशिष्टं वा तुल्यं वा शत्रुमात्मनः।
मित्रवान्नतसामन्तः प्रतापहतकण्टकः।
स शशास जगद् राजा दिवि देवपतिर्यथा ॥ २३ ॥

उन्हें कभी अपनेसे बड़ा अथवा अपने समान भी कोई शत्रु नहीं मिला। उनके मित्रोंकी संख्या बहुत थी। सभी सामन्त उनके चरणोंमें मस्तक झुकाते थे। उनके प्रतापसे राज्यके सारे कण्टक (शत्रु एवं चोर आदि) नष्ट हो गये थे। जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें रहकर तीनों लोकोंका पालन करते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ अयोध्यामें रहकर सम्पूर्ण जगत्का शासन करते थे ॥ २३ ॥

तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहिते निविष्टै-
र्वृतोऽनुरक्तैः कुशलैः समर्थैः।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्त-
स्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्कः ॥ २४ ॥

उनके मन्त्री मन्त्रणाको गुप्त रखने तथा राज्यके हित-साधनमें संलग्न रहते थे। वे राजाके प्रति अनुरक्त, कार्यकुशल और शक्तिशाली थे। जैसे सूर्य अपनी तेजोमयी किरणोंके साथ उदित होकर प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ उन तेजस्वी मन्त्रियोंसे घिरे रहकर बड़ी शोभा पाते थे ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

राजाका पुत्रके लिये अश्वमेधयज्ञ करनेका प्रस्ताव और मन्त्रियों तथा ब्राह्मणोंद्वारा उनका अनुमोदन

तस्य चैवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः ॥ १ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंको जाननेवाले महात्मा राजा दशरथ ऐसे प्रभावशाली होते हुए भी पुत्रके लिये सदा चिन्तित रहते थे । उनके वंशको चलानेवाला कोई पुत्र नहीं था ॥ १ ॥

चिन्तयानस्य तस्यैवं बुद्धिरासीन्महात्मनः ।
सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ॥ २ ॥

उसके लिये चिन्ता करते-करते एक दिन उन महामनस्वी नरेशके मनमें यह विचार हुआ कि मैं पुत्र-प्राप्तिके लिये अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान क्यों न करूँ ? ॥ २ ॥

स निश्चितां मतिं कृत्वा यष्टव्यमिति बुद्धिमान् ।
मन्त्रिभिः सह धर्मात्मा सर्वैरपि कृतात्मभिः ॥ ३ ॥
ततोऽब्रवीन्महातेजाः सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तम ।
शीघ्रमानय मे सर्वान् गुरूंस्तान् सपुरोहितान् ॥ ४ ॥

अपने समस्त शुद्ध बुद्धिवाले मन्त्रियोंके साथ परामर्श-पूर्वक यज्ञ करनेका ही निश्चित विचार करके उन महातेजस्वी, बुद्धिमान् एवं धर्मात्मा राजाने सुमन्त्रसे कहा—'मन्त्रिप्रवर ! तुम मेरे समस्त गुरुजनों एवं पुरोहितोंको यहाँ शीघ्र बुला ले आओ' ॥ ३-४ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ।
समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान् ॥ ५ ॥

तब शीघ्रतापूर्वक पराक्रम प्रकट करनेवाले सुमन्त्र तुरंत जाकर उन समस्त वेदविद्याके पारंगत मुनियोंको वहाँ बुला लाये ॥ ५ ॥

सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ।
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चाप्यन्ये द्विजोत्तमाः ॥ ६ ॥
तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ।
इदं धर्मार्थसहितं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कुलपुरोहित वसिष्ठ तथा और भी जो श्रेष्ठ ब्राह्मण थे, उन सबकी पूजा करके धर्मात्मा राजा दशरथने धर्म और अर्थसे युक्त यह मधुर वचन कहा—॥ ६-७ ॥

मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम् ।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम ॥ ८ ॥

'महर्षियो ! मैं सदा पुत्रके लिये विलाप करता रहता हूँ । उसके बिना इस राज्य आदिसे मुझे सुख नहीं मिलता; अतः मैंने यह निश्चय किया है कि मैं पुत्र-प्राप्तिके लिये अश्वमेधद्वारा भगवान्‌का यजन करूँ ॥ ८ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
कथं प्राप्स्याम्यहं कामं बुद्धिरत्र विचिन्त्यताम् ॥ ९ ॥

'मेरी इच्छा है कि शास्त्रोक्त विधिसे इस यज्ञका अनुष्ठान करूँ; अतः किस प्रकार मुझे मेरी मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त होगी ? इसका विचार आपलोग यहाँ करें' ॥ ९ ॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ।
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखेरितम् ॥ १० ॥

राजाके ऐसा कहनेपर वसिष्ठ आदि सब ब्राह्मणोंने 'बहुत अच्छा' कहकर उनके मुखसे कहे गये पूर्वोक्त वचनकी प्रशंसा की ॥ १० ॥

ऊचुश्च परमप्रीताः सर्वे दशरथं वचः ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ११ ॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव ॥ १२ ॥
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ।

फिर वे सभी अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा दशरथसे बोले—'महाराज ! यज्ञ-सामग्रीका संग्रह किया जाय । भूमण्डलमें भ्रमणके लिये यज्ञसम्बन्धी अश्व छोड़ा जाय तथा सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण किया जाय । तुम यज्ञद्वारा सर्वथा अपनी इच्छाके अनुरूप पुत्र प्राप्त कर लोगे; क्योंकि पुत्रके लिये तुम्हारे हृदयमें ऐसी धार्मिक बुद्धिका उदय हुआ है' ॥ ११–१२½ ॥

ततस्तुष्टोऽभवद् राजा श्रुत्वैतद् द्विजभाषितम् ॥ १३ ॥
अमात्यानब्रवीद् राजा हर्षव्याकुललोचनः ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह ॥ १४ ॥
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥ १५ ॥
शान्तयश्चापि वर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि ।
शक्यः प्राप्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ॥ १६ ॥
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे ।
छिद्रं हि मृगयन्ते स्म विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ॥ १७ ॥

ब्राह्मणोंका यह कथन सुनकर राजा बहुत संतुष्ट हुए । हर्षसे उनके नेत्र चञ्चल हो उठे । वे अपने मन्त्रियोंसे बोले—'गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार यज्ञकी सामग्री यहाँ एकत्र की जाय । शक्तिशाली वीरोंके संरक्षणमें उपाध्यायसहित अश्वको छोड़ा जाय । सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण हो । शास्त्रोक्त विधिके अनुसार क्रमशः शान्तिकर्मका विस्तार किया जाय (जिससे विघ्नोंका निवारण हो) । यदि इस श्रेष्ठ यज्ञमें कष्टप्रद अपराध बन जानेका भय न हो तो सभी राजा इसका सम्पादन कर सकते हैं; परंतु ऐसा होना कठिन

है; क्योंकि विद्वान् ब्रह्मराक्षस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये छिद्र ढूँढ़ा करते हैं ॥ १३—१७ ॥

विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ॥ १८ ॥
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः साधनेष्विति ।

'विधिहीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला यजमान तत्काल नष्ट हो जाता है; अतः मेरा यह यज्ञ जिस तरह विधिपूर्वक सम्पन्न हो सके, वैसा उपाय किया जाय । तुम सब लोग ऐसे साधन प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ॥ १८½ ॥

तथेति चाब्रुवन् सर्वे मन्त्रिणः प्रतिपूजिताः ॥ १९ ॥
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथापूर्वं निशम्य ते ।

राजाके द्वारा सम्मानित हुए समस्त मन्त्री पूर्ववत् उनके वचनोंको सुनकर बोले—'बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा' ॥

तथा द्विजास्ते धर्मज्ञा वर्धयन्तो नृपोत्तमम् ॥ २० ॥
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ।

इसी प्रकार वे सभी धर्मज्ञ ब्राह्मण भी नृपश्रेष्ठ दशरथको बधाई देते हुए उनकी आज्ञा लेकर जैसे आये थे, वैसे ही फिर लौट गये ॥ २०½ ॥

विसर्जयित्वा तान् विप्रान् सचिवानिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
ऋत्विग्भिरुप संदिष्टो यथावत् क्रतुराप्यताम् ।

उन ब्राह्मणोंको विदा करके राजाने मन्त्रियोंसे कहा—'पुरोहितोंके उपदेशके अनुसार इस यज्ञको विधिवत् पूर्ण करना चाहिये' ॥ २१½ ॥

इत्युक्त्वा नृपशार्दूलः सचिवान् समुपस्थितान् ॥ २२ ॥
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महामतिः ।

वहाँ उपस्थित हुए मन्त्रियोंसे ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् नृपश्रेष्ठ 'दशरथ उन्हें विदा करके अपने महलमें चले गये ॥

ततः स गत्वा ताः पत्नीर्नरेन्द्रो हृदयंगमाः ॥ २३ ॥
उवाच दीक्षां विशत यक्ष्येऽहं सुतकारणात् ।

वहाँ जाकर नरेशने अपनी प्यारी पत्नियोंसे कहा—'देवियो ! दीक्षा ग्रहण करो । मैं पुत्रके लिये यज्ञ करूँगा' ॥ २३½ ॥

तासां तेनातिकान्तेन वचनेन सुवर्चसाम् ।
मुखपद्मान्यशोभन्त पद्मानीव हिमात्यये ॥ २४ ॥

उस मनोहर वचनसे उन सुन्दर कान्तिवाली रानियोंके मुखकमल वसन्तऋतुमें विकसित होनेवाले पङ्कजोंके समान खिल उठे और अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

सुमन्त्रका राजाको ऋष्यशृङ्ग मुनिको बुलानेकी सलाह देते हुए उनके अङ्गदेशमें जाने और शान्तासे विवाह करनेका प्रसङ्ग सुनाना

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत् ।
श्रूयतां तत् पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम् ॥ १ ॥

पुत्रके लिये अश्वमेध यज्ञ करनेकी बात सुनकर सुमन्त्रने राजासे एकान्तमें कहा—''महाराज ! एक पुराना इतिहास सुनिये । मैंने पुराणमें भी इसका वर्णन सुना है ॥ १ ॥

ऋत्विग्भिरुपदिष्टोऽयं पुरावृत्तो मया श्रुतः ।
सनत्कुमारो भगवान् पूर्वं कथितवान् कथाम् ॥ २ ॥
ऋषीणां संनिधौ राजंस्तव पुत्रागमं प्रति ।

''ऋत्विजोंने पुत्र-प्राप्तिके लिये इस अश्वमेधरूप उपायका उपदेश किया है; परंतु मैंने इतिहासके रूपमें कुछ विशेष बात सुनी है । राजन् ! पूर्वकालमें भगवान् सनत्कुमारने ऋषियोंके निकट एक कथा सुनायी थी । वह आपकी पुत्रप्राप्तिसे सम्बन्ध रखनेवाली है ॥ २½ ॥

काश्यपस्य च पुत्रोऽस्ति विभाण्डक इति श्रुतः ॥ ३ ॥
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति ।
स वने नित्यसंवृद्धो मुनिर्वनचरः सदा ॥ ४ ॥

''उन्होंने कहा था, मुनिवरो ! महर्षि काश्यपके विभाण्डक नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र हैं । उनके भी एक पुत्र होगा, जिसकी लोगोंमें ऋष्यशृङ्ग नामसे प्रसिद्धि होगी । वे ऋष्यशृङ्ग मुनि सदा वनमें ही रहेंगे और वनमें ही सदा लालन-पालन पाकर वे बड़े होंगे ॥ ३-४ ॥

नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पित्रनुवर्तनात् ।
द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः ॥ ५ ॥
लोकेषु प्रथितं राजन् विप्रैश्च कथितं सदा ।

''सदा पिताके ही साथ रहनेके कारण विप्रवर ऋष्यशृङ्ग दूसरे किसीको नहीं जानेंगे । राजन् ! लोकमें ब्रह्मचर्यके दो रूप विख्यात हैं और ब्राह्मणोंने सदा उन दोनों स्वरूपोंका वर्णन किया है । एक तो है दण्ड, मेखला आदि धारणरूप मुख्य ब्रह्मचर्य और दूसरा है ऋतुकालमें पत्नी-समागमरूप गौण ब्रह्मचर्य । उन महात्माके द्वारा उक्त दोनों प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन होगा ॥ ५½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समभिवर्तत ॥ ६ ॥
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम् ।

"इस प्रकार रहते हुए मुनिका समय अग्नि तथा यशस्वी पिताकी सेवामें ही व्यतीत होगा ॥ ६½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान् ॥ ७ ॥
अङ्गेषु प्रथितो राजा भविष्यति महाबलः ।
तस्य व्यतिक्रमाद् राज्ञो भविष्यति सुदारुणा ॥ ८ ॥
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोकभयावहा ।

"उसी समय अङ्गदेशमें रोमपाद नामक एक बड़े प्रतापी और बलवान् राजा होंगे; उनके द्वारा धर्मका उल्लङ्घन हो जानेके कारण उस देशमें घोर अनावृष्टि हो जायगी, जो सब लोगोंको अत्यन्त भयभीत कर देगी ॥ ७-८½ ॥

अनावृष्ट्यां तु वृत्तायां राजा दुःखसमन्वितः ॥ ९ ॥
ब्राह्मणाञ्छ्रुतसंवृद्धान् समानीय प्रवक्ष्यति ।
भवन्तः श्रुतकर्माणो लोकचारित्रवेदिनः ॥ १० ॥
समादिशन्तु नियमं प्रायश्चित्तं यथा भवेत् ।

"वर्षा बंद हो जानेसे राजा रोमपादको भी बहुत दुःख होगा । वे शास्त्रज्ञानमें बढ़े-चढ़े ब्राह्मणोंको बुलाकर कहेंगे—'विप्रवरो ! आपलोग वेदशास्त्रके अनुसार कर्म करनेवाले तथा लोगोंके आचार-विचारको जाननेवाले हैं; अतः कृपा करके मुझे ऐसा कोई नियम बताइये, जिससे मेरे पापका प्रायश्चित्त हो जाय' ॥ ९-१०½ ॥

इत्युक्तास्ते ततो राज्ञा सर्वे ब्राह्मणसत्तमाः ॥ ११ ॥
वक्ष्यन्ति ते महीपालं ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

"राजाके ऐसा कहनेपर वे वेदोंके पारङ्गत विद्वान्—सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें इस प्रकार सलाह देंगे—॥ ११½ ॥

विभाण्डकसुतं राजन् सर्वोपायैरिहानय ॥ १२ ॥
आनाय्य तु महीपाल ऋष्यशृङ्गं सुसत्कृतम् ।
विभाण्डकसुतं राजन् ब्राह्मणं वेदपारगम् ।
प्रयच्छ कन्यां शान्तां वै विधिना सुसमाहितः ॥ १३ ॥

"राजन् ! विभाण्डकके पुत्र ऋष्यशृङ्ग वेदोंके पारगामी विद्वान् हैं । भूपाल ! आप सभी उपायोंसे उन्हें यहाँ ले आइये । बुलाकर उनका भलीभाँति सत्कार कीजिये । फिर एकाग्रचित्त हो वैदिक विधिके अनुसार उनके साथ अपनी कन्या शान्ताका विवाह कर दीजिये' ॥ १२-१३ ॥

तेषां तु वचनं श्रुत्वा राजा चिन्तां प्रपत्स्यते ।
केनोपायेन वै शक्यमिहानेतुं स वीर्यवान् ॥ १४ ॥

उनकी बात सुनकर राजा इस चिन्तामें पड़ जायँगे कि किस उपायसे उन शक्तिशाली महर्षिको यहाँ लाया जा सकता है ॥ १४ ॥

ततो राजा विनिश्चित्य सह मन्त्रिभिरात्मवान् ।
पुरोहितममात्यांश्च प्रेषयिष्यति सत्कृतान् ॥ १५ ॥

"फिर वे मनस्वी नरेश मन्त्रियोंके साथ निश्चय करके अपने पुरोहित और मन्त्रियोंको सत्कारपूर्वक वहाँ भेजेंगे ॥ १५ ॥

ते तु राज्ञो वचः श्रुत्वा व्यथिता विनताननाः ।
न गच्छेम ऋषेर्भीता अनुनेष्यन्ति तं नृपम् ॥ १६ ॥

राजाकी बात सुनकर वे मन्त्री और पुरोहित मुँह लटकाकर दुखी हो यों कहने लगेंगे कि 'हम महर्षिसे डरते हैं, इसलिये वहाँ नहीं जायँगे ।' यों कहकर वे राजासे बड़ी अनुनय-विनय करेंगे ॥ १६ ॥

वक्ष्यन्ति चिन्तयित्वा ते तस्योपायांश्च तान् क्षमान् ।
आनेष्यामो वयं विप्रं न च दोषो भविष्यति ॥ १७ ॥

"इसके बाद सोच-विचारकर वे राजाको योग्य उपाय बतायेंगे और कहेंगे कि 'हम उन ब्राह्मणकुमारको किसी उपायसे यहाँ ले आयेंगे । ऐसा करनेसे कोई दोष नहीं घटित होगा' ॥ १७ ॥

एवमङ्गाधिपेनैव गणिकाभिर्ऋषेः सुतः ।
आनीतोऽवर्षयद् देवः शान्ता चास्मै प्रदीयते ॥ १८ ॥

"इस प्रकार वेश्याओंकी सहायतासे अङ्गराज मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको अपने यहाँ बुलायेंगे । उनके आते ही इन्द्रदेव उस राज्यमें वर्षा करेंगे । फिर राजा उन्हें अपनी पुत्री शान्ता समर्पित कर देंगे ॥ १८ ॥

ऋष्यशृङ्गस्तु जामाता पुत्रांस्तव विधास्यति ।
सनत्कुमारकथितमेतावद् व्याहृतं मया ॥ १९ ॥

"इस तरह ऋष्यशृङ्ग आपके जमाता हुए । वे ही आपके लिये पुत्रोंको सुलभ करानेवाले यज्ञकर्मका सम्पादन करेंगे । यह सनत्कुमारजीकी कही हुई बात मैंने आपसे निवेदन की है" ॥ १९ ॥

अथ हृष्टो दशरथः सुमन्त्रं प्रत्यभाषत ।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन सोच्यताम् ॥ २० ॥

यह सुनकर राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने सुमन्त्रसे कहा—'मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको वहाँ जिस प्रकार और जिस उपायसे बुलाया गया, वह स्पष्टरूपसे बताओ' ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

अङ्गदेशमें ऋष्यशृङ्गके आने तथा शान्ताके साथ विवाह होनेके प्रसङ्गका कुछ विस्तारके साथ वर्णन

सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा ।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन मन्त्रिभिः ।
तन्मे निगदितं सर्वं शृणु मे मन्त्रिभिः सह ॥ १ ॥

राजाकी आज्ञा पाकर उस समय सुमन्त्रने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—"राजन्! रोमपादके मन्त्रियोंने ऋष्यशृङ्गको वहाँ जिस प्रकार और जिस उपायसे बुलाया था, वह सब मैं बता रहा हूँ। आप मन्त्रियोंसहित मेरी बात सुनिये ॥१॥

रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः ।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिचिन्तितः ॥ २ ॥

"उस समय अमात्योंसहित पुरोहितने राजा रोमपादसे कहा—'महाराज! हमलोगोंने एक उपाय सोचा है, जिसे काममें लानेसे किसी भी विघ्न-बाधाके आनेकी सम्भावना नहीं है ॥ २ ॥

ऋष्यशृङ्गो वनचरस्तपःस्वाध्यायसंयुतः ।
अनभिज्ञस्तु नारीणां विषयाणां सुखस्य च ॥ ३ ॥

"ऋष्यशृङ्गमुनि सदा वनमें ही रहकर तपस्या और स्वाध्यायमें लगे रहते हैं। वे स्त्रियोंको पहचानते तक नहीं हैं और विषयोंके सुखसे भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रियार्थैरभिमतैर्नरचित्तप्रमाथिभिः ।
पुरमानाययिष्यामः क्षिप्रं चाध्यवसीयताम् ॥ ४ ॥

"हम मनुष्योंके चित्तको मथ डालनेवाले मनोवाञ्छित विषयोंका प्रलोभन देकर उन्हें अपने नगरमें ले आयेंगे; अतः इसके लिये शीघ्र प्रयत्न किया जाय ॥ ४ ॥

गणिकास्तत्र गच्छन्तु रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
प्रलोभ्य विविधोपायैरानेष्यन्तीह सत्कृताः ॥ ५ ॥

"यदि सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित मनोहर रूपवाली वेश्याएँ वहाँ जायँ तो वे भाँति-भाँतिके उपायोंसे उन्हें लुभाकर इस नगरमें ले आयेंगी; अतः इन्हें सत्कारपूर्वक भेजना चाहिये'॥

श्रुत्वा तथेति राजा च प्रत्युवाच पुरोहितम् ।
पुरोहितो मन्त्रिणश्च तदा चक्रुश्च ते तथा ॥ ६ ॥

"यह सुनकर राजाने पुरोहितको उत्तर दिया, बहुत अच्छा, आपलोग ऐसा ही करें।' आज्ञा पाकर पुरोहित और मन्त्रियोंने उस समय वैसी ही व्यवस्था की ॥ ६ ॥

वारमुख्यास्तु तच्छ्रुत्वा वनं प्रविविशुर्महत् ।
आश्रमस्याविदूरेऽस्मिन् यत्नं कुर्वन्ति दर्शने ॥ ७ ॥

"तब नगरकी मुख्य-मुख्य वेश्याएँ राजाका आदेश सुनकर उस महान् वनमें गयीं और मुनिके आश्रमसे थोड़ी ही दूरपर ठहरकर उनके दर्शनका उद्योग करने लगीं ॥ ७ ॥

ऋषेः पुत्रस्य धीरस्य नित्यमाश्रमवासिनः ।
पितुः स नित्यसंतुष्टो नातिचक्राम चाश्रमात् ॥ ८ ॥

"मुनिकुमार ऋष्यशृङ्ग बड़े ही धीर स्वभावके थे। सदा आश्रममें ही रहा करते थे। उन्हें सर्वदा अपने पिताके पास रहनेमें ही अधिक सुख मिलता था। अतः वे कभी आश्रमके बाहर नहीं निकलते थे ॥ ८ ॥

न तेन जन्मप्रभृति दृष्टपूर्वं तपस्विना ।
स्त्री वा पुमान् वा यच्चान्यत् सत्त्वं नगरराष्ट्रजम् ॥ ९ ॥

"उन तपस्वी ऋषिकुमारने जन्मसे लेकर उस समयतक पहले कभी न तो कोई स्त्री देखी थी और न पिताके सिवा दूसरे किसी पुरुषका ही दर्शन किया था। नगर या राष्ट्रके गाँवोंमें उत्पन्न हुए दूसरे-दूसरे प्राणियोंको भी वे नहीं देख पाये थे ॥ ९ ॥

ततः कदाचित् तं देशमाजगाम यदृच्छया ।
विभाण्डकसुतस्तत्र ताश्चापश्यद् वराङ्गनाः ॥ १० ॥

"तदनन्तर एक दिन विभाण्डककुमार ऋष्यशृङ्ग अकस्मात् घूमते-फिरते उस स्थानपर चले आये, जहाँ वे वेश्याएँ ठहरी हुई थीं। वहाँ उन्होंने उन सुन्दरी वनिताओंको देखा ॥१०॥

ताश्चित्रवेषाः प्रमदा गायन्त्यो मधुरस्वरम् ।
ऋषिपुत्रमुपागम्य सर्वा वचनमब्रुवन् ॥ ११ ॥

"उन प्रमदाओंका वेष बड़ा ही सुन्दर और अद्भुत था। वे मीठे स्वरमें गा रही थीं। ऋषिकुमारको आया देख सभी उनके पास चली आयीं और इस प्रकार पूछने लगीं—॥ ११ ॥

कस्त्वं किं वर्तसे ब्रह्मञ्ज्ञातुमिच्छामहे वयम् ।
एकस्त्वं विजने दूरे वने चरसि शंस नः ॥ १२ ॥

"ब्रह्मन्! आप कौन हैं? क्या करते हैं? तथा इस निर्जन वनमें आश्रमसे इतनी दूर आकर अकेले क्यों विचर रहे हैं? यह हमें बताइये। हमलोग इस बातको जानना चाहती हैं' ॥ १२ ॥

अदृष्टरूपास्तास्तेन काम्यरूपा वने स्त्रियः ।
हार्दात्तस्य मतिर्जाता आख्यातुं पितरं स्वकम् ॥ १३ ॥

"ऋष्यशृङ्गने वनमें कभी स्त्रियोंका रूप नहीं देखा था और वे स्त्रियाँ तो अत्यन्त कमनीय रूपसे सुशोभित थीं; अतः उन्हें देखकर उनके मनमें स्नेह उत्पन्न हो गया। इसलिये उन्होंने उनसे अपने पिताका परिचय देनेका विचार किया ॥ १३ ॥

पिता विभाण्डकोऽस्माकं तस्याहं सुत औरसः ।
ऋष्यशृङ्ग इति ख्यातं नाम कर्म च मे भुवि ॥ १४ ॥

''वे बोले—'मेरे पिताका नाम विभाण्डक मुनि है। मैं उनका औरस पुत्र हूँ। मेरा ऋष्यशृङ्ग नाम और तपस्या आदि कर्म इस भूमण्डलमें प्रसिद्ध है ॥ १४ ॥

इहाश्रमपदोऽस्माकं समीपे शुभदर्शनाः।
करिष्ये वोऽत्र पूजां वै सर्वेषां विधिपूर्वकम् ॥ १५ ॥

''यहाँ पास ही मेरा आश्रम है। आपलोग देखनेमें परम सुन्दर हैं। (अथवा आपका दर्शन मेरे लिये शुभकारक है।) आप मेरे आश्रमपर चलें। वहाँ मैं आप सब लोगोंकी विधिपूर्वक पूजा करूँगा' ॥ १५ ॥

ऋषिपुत्रवचः श्रुत्वा सर्वासां मतिरास वै।
तदाश्रमपदं द्रष्टुं जग्मुः सर्वास्ततोऽङ्गनाः ॥ १६ ॥

''ऋषिकुमारकी यह बात सुनकर सब उनसे सहमत हो गयीं। फिर वे सब सुन्दरी स्त्रियाँ उनका आश्रम देखनेके लिये वहाँ गयीं ॥ १६ ॥

गतानां तु ततः पूजामृषिपुत्रश्चकार ह।
इदमर्घ्यमिदं पाद्यमिदं मूलं फलं च नः ॥ १७ ॥

''वहाँ जानेपर ऋषिकुमारने 'यह अर्घ्य है, यह पाद्य है तथा यह भोजनके लिये फल-मूल प्रस्तुत है' ऐसा कहते हुए उन सबका विधिवत् पूजन किया ॥ १७ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां सर्वा एव समुत्सुकाः।
ऋषेर्भीताश्च शीघ्रं तु गमनाय मतिं दधुः ॥ १८ ॥

''ऋषिकी पूजा स्वीकार करके वे सभी वहाँसे चली जानेको उत्सुक हुईं। उन्हें विभाण्डक मुनिका भय लग रहा था, इसलिये उन्होंने शीघ्र ही वहाँसे चली जानेका विचार किया ॥ १८ ॥

अस्माकमपि मुख्यानि फलानीमानि हे द्विज।
गृहाण विप्र भद्रं ते भक्षयस्व च मा चिरम् ॥ १९ ॥

''वे बोलीं—'ब्रह्मन्! हमारे पास भी ये उत्तम-उत्तम फल हैं। विप्रवर! इन्हें ग्रहण कीजिये। आपका कल्याण हो। इन फलोंको शीघ्र ही खा लीजिये, विलम्ब न कीजिये' ॥ १९ ॥

ततस्तास्तं समालिङ्ग्य सर्वा हर्षसमन्विताः।
मोदकान् प्रददुस्तस्मै भक्ष्यांश्च विविधाञ्छुभान् ॥ २० ॥

''ऐसा कहकर उन सबने हर्षमें भरकर ऋषिका आलिङ्गन किया और उन्हें खाने योग्य भाँति-भाँतिके उत्तम पदार्थ तथा बहुत-सी मिठाइयाँ दीं ॥ २० ॥

तानि चास्वाद्य तेजस्वी फलानीति स्म मन्यते।
अनास्वादितपूर्वाणि वने नित्यनिवासिनाम् ॥ २१ ॥

''उनका रसास्वादन करके उन तेजस्वी ऋषिने समझा कि ये भी फल ही हैं; क्योंकि उस दिनके पहले उन्होंने कभी वैसे पदार्थ नहीं खाये थे। भला, सदा वनमें रहनेवालोंके लिये वैसी वस्तुओंके स्वाद लेनेका अवसर ही कहाँ है ॥ २१ ॥

आपृच्छ्य च तदा विप्रं व्रतचर्यां निवेद्य च।
गच्छन्ति स्मापदेशात्ता भीतास्तस्य पितुः स्त्रियः ॥ २२ ॥

''तत्पश्चात् उनके पिता विभाण्डक मुनिके डरसे डरी हुई वे स्त्रियाँ व्रत और अनुष्ठानकी बात बता उन ब्राह्मणकुमारसे पूछकर उसी बहाने वहाँसे चली गयीं ॥ २२ ॥

गतासु तासु सर्वासु काश्यपस्यात्मजो द्विजः।
अस्वस्थहृदयश्चासीद् दुःखाच्च परिवर्तते ॥ २३ ॥

''उन सबके चले जानेपर काश्यपकुमार ब्राह्मण ऋष्यशृङ्ग मन-ही-मन व्याकुल हो उठे और बड़े दुःखसे इधर-उधर टहलने लगे ॥ २३ ॥

ततोऽपरेद्युस्तं देशमाजगाम स वीर्यवान्।
विभाण्डकसुतः श्रीमान् मनसाचिन्तयन्मुहुः ॥ २४ ॥
मनोज्ञा यत्र ता दृष्टा वारमुख्याः स्वलंकृताः।

''तदनन्तर दूसरे दिन फिर मनसे उन्हींका बारंबार चिन्तन करते हुए शक्तिशाली विभाण्डककुमार श्रीमान् ऋष्यशृङ्ग उसी स्थानपर गये, जहाँ पहले दिन उन्होंने वस्त्र और आभूषणोंसे सजी हुई उन मनोहर रूपवाली वेश्याओंको देखा था ॥ २४½ ॥

दृष्ट्वैव च ततो विप्रमायान्तं हृष्टमानसाः ॥ २५ ॥
उपसृत्य ततः सर्वास्तास्तमूचुरिदं वचः।
एह्याश्रमपदं सौम्य अस्माकमिति चाब्रुवन् ॥ २६ ॥

''ब्राह्मण ऋष्यशृङ्गको आते देख तुरंत ही उन वेश्याओंका हृदय प्रसन्नतासे खिल उठा। वे सब-की-सब उनके पास जाकर उनसे इस प्रकार कहने लगीं—''सौम्य! आओ, आज हमारे आश्रमपर चलो ॥ २५-२६ ॥

चित्राण्यत्र बहूनि स्युर्मूलानि च फलानि च।
तत्राप्येष विशेषेण विधिर्हि भविता ध्रुवम् ॥ २७ ॥

''यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके फल-मूल बहुत मिलते हैं तथापि वहाँ भी निश्चय ही इन सबका विशेषरूपसे प्रबन्ध हो सकता है' ॥ २७ ॥

श्रुत्वा तु वचनं तासां सर्वासां हृदयंगमम्।
गमनाय मतिं चक्रे तं च निन्युस्तथा स्त्रियः ॥ २८ ॥

''उन सबके मनोहर वचन सुनकर ऋष्यशृङ्ग उनके साथ जानेको तैयार हो गये और वे स्त्रियाँ उन्हें अङ्गदेशमें ले गयीं ॥ २८ ॥

तत्र चानीयमाने तु विप्रे तस्मिन् महात्मनि।
ववर्ष सहसा देवो जगत् प्रह्लादयंस्तदा ॥ २९ ॥

''उन महात्मा ब्राह्मणके अङ्गदेशमें आते ही इन्द्रने सम्पूर्ण जगत्‌को प्रसन्न करते हुए सहसा पानी बरसाना आरम्भ कर दिया ॥ २९ ॥

वर्षेणैवागतं विप्रं तापसं स नराधिपः।
प्रत्युद्गम्य मुनिं प्रह्वः शिरसा च महीं गतः ॥ ३० ॥

''वर्षासे ही राजाको अनुमान हो गया कि वे तपस्वी ब्राह्मण-कुमार आ गये। फिर बड़ी विनयके साथ राजाने उनकी

अगवानी की और पृथ्वीपर मस्तक टेककर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया ॥ ३० ॥

अर्घ्यं च प्रददौ तस्मै न्यायतः सुसमाहितः ।
वव्रे प्रसादं विप्रेन्द्रात्मा विप्रं मन्युराविशेत् ॥ ३१ ॥

"फिर एकाग्रचित्त होकर उन्होंने ऋषिको अर्घ्य निवेदन किया तथा उन विप्रशिरोमणिसे वरदान माँगा, 'भगवन् ! आप और आपके पिताजीका कृपा-प्रसाद मुझे प्राप्त हो ।' ऐसा उन्होंने इसलिये किया कि कहीं कपटपूर्वक यहाँतक लाये जानेका रहस्य जान लेनेपर विप्रवर ऋष्यश्रृङ्ग अथवा विभाण्डकमुनिके मनमें मेरे प्रति क्रोध न हो ॥ ३१ ॥

अन्तःपुरं प्रवेश्यास्मै कन्यां दत्त्वा यथाविधि ।
शान्तां शान्तेन मनसा राजा हर्षमवाप सः ॥ ३२ ॥

"तत्पश्चात् ऋष्यश्रृङ्गको अन्तःपुरमें ले जाकर उन्होंने शान्तचित्तसे अपनी कन्या शान्ताका उनके साथ विधिपूर्वक विवाह कर दिया। ऐसा करके राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३२ ॥

एवं स न्यवसत् तत्र सर्वकामैः सुपूजितः ।
ऋष्यश्रृङ्गो महातेजाः शान्तया सह भार्यया ॥ ३३ ॥

"इस प्रकार महातेजस्वी ऋष्यश्रृङ्ग राजासे पूजित हो सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग प्राप्त कर अपनी धर्मपत्नी शान्ताके साथ वहाँ रहने लगे" ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें दशवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

सुमन्त्रके कहनेसे राजा दशरथका सपरिवार अङ्गराजके यहाँ जाकर वहाँसे शान्ता और ऋष्यश्रृङ्गको अपने घर ले आना

भूय एव हि राजेन्द्र श्रृणु मे वचनं हितम् ।
यथा स देवप्रवरः कथयामास बुद्धिमान् ॥ १ ॥

तदनन्तर सुमन्त्रने फिर कहा—"राजेन्द्र ! आप पुनः मुझसे अपने हितकी वह बात सुनिये, जिसे देवताओंमें श्रेष्ठ बुद्धिमान् सनत्कुमारजीने ऋषियोंको सुनाया था ॥ १ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातो भविष्यति सुधार्मिकः ।
नाम्ना दशरथो राजा श्रीमान् सत्यप्रतिश्रवः ॥ २ ॥

"उन्होंने कहा था—इक्ष्वाकुवंशमें दशरथ नामसे प्रसिद्ध एक परम धार्मिक सत्यप्रतिज्ञ राजा होंगे ॥ २ ॥

अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति ।
कन्या चास्य महाभागा शान्ता नाम भविष्यति ॥ ३ ॥
पुत्रस्त्वङ्गस्य राज्ञस्तु रोमपाद इति श्रुतः ।
तं स राजा दशरथो गमिष्यति महायशाः ॥ ४ ॥
अनपत्योऽस्मि धर्मात्मञ्शान्ताभर्ता मम क्रतुम् ।
आहरेत त्वयाऽऽज्ञप्तः संतानार्थं कुलस्य च ॥ ५ ॥

"उनकी अङ्गराजके साथ मित्रता होगी। अङ्गराजके एक परम सौभाग्यशालिनी कन्या होगी, जिसका नाम होगा 'शान्ता'। अङ्गदेशके राजकुमारका नाम होगा 'रोमपाद'। महायशस्वी राजा दशरथ उनके पास जायँगे और कहेंगे—'धर्मात्मन् ! मैं संतानहीन हूँ। यदि आप आज्ञा दें तो शान्ताके पति ऋष्यश्रृङ्ग मुनि चलकर मेरा यज्ञ करा दें। इससे मुझे पुत्रकी प्राप्ति होगी और मेरे वंशकी रक्षा हो जायगी' ॥ ३–५ ॥

श्रुत्वा राज्ञोऽथ तद् वाक्यं मनसा स विचिन्त्य च ।
प्रदास्यते पुत्रवन्तं शान्ताभर्तारमात्मवान् ॥ ६ ॥

"राजाकी यह बात सुनकर मन-ही-मन उसपर विचार करके मनस्वी राजा रोमपाद शान्ताके पुत्रवान् पतिको उनके साथ भेज देंगे ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य च तं विप्रं स राजा विगतज्वरः ।
आहरिष्यति तं यज्ञं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ७ ॥

"ब्राह्मण ऋष्यश्रृङ्गको पाकर राजा दशरथकी सारी चिन्ता दूर हो जायगी और वे प्रसन्न-चित्त होकर उस यज्ञका अनुष्ठान करेंगे ॥ ७ ॥

तं च राजा दशरथो यशस्कामः कृताञ्जलिः ।
ऋष्यश्रृङ्गं द्विजश्रेष्ठं वरयिष्यति धर्मवित् ॥ ८ ॥
यज्ञार्थं प्रसवार्थं च स्वर्गार्थं च नरेश्वरः ।
लभते च स तं कामं द्विजमुख्याद् विशाम्पतिः ॥ ९ ॥

"यशकी इच्छा रखनेवाले धर्मज्ञ राजा दशरथ हाथ जोड़कर द्विजश्रेष्ठ ऋष्यश्रृङ्गका यज्ञ, पुत्र और स्वर्गके लिये वरण करेंगे तथा वे प्रजापालक नरेश उन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षिसे अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लेंगे ॥ ८-९ ॥

पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वभूतेषु विश्रुताः ॥ १० ॥

"राजाके चार पुत्र होंगे, जो अप्रमेय पराक्रमी, वंशकी मर्यादा बढ़ानेवाले और सर्वत्र विख्यात होंगे ॥ १० ॥

एवं स देवप्रवरः पूर्वं कथितवान् कथाम् ।
सनत्कुमारो भगवान् पुरा देवयुगे प्रभुः ॥ ११ ॥

"महाराज ! पहले सत्ययुगमें शक्तिशाली देवप्रवर भगवान् सनत्कुमारजीने ऋषियोंके समक्ष ऐसी कथा कही थी ॥

स त्वं पुरुषशार्दूल समानय सुसत्कृतम्।
स्वयमेव महाराज गत्वा सबलवाहनः ॥ १२॥

"पुरुषसिंह महाराज! इसलिये आप स्वयं ही सेना और सवारियोंके साथ अङ्गदेशमें जाकर मुनिकुमार ऋष्यशृङ्गको सत्कारपूर्वक यहाँ ले आइये" ॥ १२ ॥

सुमन्त्रस्य वचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथोऽभवत्।
अनुमान्य वसिष्ठं च सूतवाक्यं निशाम्य च ॥ १३॥
सान्तःपुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः।

सुमन्त्रका वचन सुनकर राजा दशरथको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने मुनिवर वसिष्ठजीको भी सुमन्त्रकी बातें सुनायीं और उनकी आज्ञा लेकर रनिवासकी रानियों तथा मन्त्रियोंके साथ अङ्गदेशके लिये प्रस्थान किया, जहाँ विप्रवर ऋष्यशृङ्ग निवास करते थे ॥ १३½ ॥

वनानि सरितश्चैव व्यतिक्रम्य शनैः शनैः ॥ १४॥
अभिचक्राम तं देशं यत्र वै मुनिपुङ्गवः।

मार्गमें अनेकानेक वनों और नदियोंको पार करके वे धीरे-धीरे उस देशमें जा पहुँचे, जहाँ मुनिवर ऋष्यशृङ्ग विराजमान थे ॥ १४½ ॥

आसाद्य तं द्विजश्रेष्ठं रोमपादसमीपगम् ॥ १५॥
ऋषिपुत्रं ददर्शाथो दीप्यमानमिवानलम्।

वहाँ पहुँचनेपर उन्हें द्विजश्रेष्ठ ऋष्यशृङ्ग रोमपादके पास ही बैठे दिखायी दिये। वे ऋषिकुमार प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ते थे ॥ १५½ ॥

ततो राजा यथायोग्यं पूजां चक्रे विशेषतः ॥ १६॥
सखित्वात् तस्य वै राज्ञः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
रोमपादेन चाख्यातमृषिपुत्राय धीमते ॥ १७॥
सख्यं सम्बन्धकं चैव तदा तं प्रत्यपूजयत्।

तदनन्तर राजा रोमपादने मित्रताके नाते अत्यन्त प्रसन्न हृदयसे महाराज दशरथका शास्त्रोक्त विधिके अनुसार विशेषरूपसे पूजन किया और बुद्धिमान् ऋषिकुमार ऋष्यशृङ्गको राजा दशरथके साथ अपनी मित्रताकी बात बतायी। उसपर उन्होंने भी राजाका सम्मान किया ॥ १६-१७½ ॥

एवं सुसत्कृतस्तेन सहोषित्वा नरर्षभः ॥ १८॥
सप्ताष्टदिवसान् राजा राजानमिदमब्रवीत्।
शान्ता तव सुता राजन् सह भर्त्रा विशाम्पते ॥ १९॥
मदीयं नगरं यातु कार्यं हि महदुद्यतम्।

इस प्रकार भलीभाँति आदर-सत्कार पाकर नरश्रेष्ठ राजा दशरथ रोमपादके साथ वहाँ सात-आठ दिनोंतक रहे। इसके बाद वे अङ्गराजसे बोले—'प्रजापालक नरेश! तुम्हारी पुत्री शान्ता अपने पतिके साथ मेरे नगरमें पदार्पण करे; क्योंकि वहाँ एक महान् आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है' ॥ १८-१९½ ॥

तथेति राजा संश्रुत्य गमनं तस्य धीमतः ॥ २०॥
उवाच वचनं विप्र गच्छ त्वं सह भार्यया।
ऋषिपुत्रः प्रतिश्रुत्य तथेत्याह नृपं तदा ॥ २१॥

राजा रोमपादने 'बहुत अच्छा' कहकर उन बुद्धिमान् महर्षिका जाना स्वीकार कर लिया और ऋष्यशृङ्गसे कहा—'विप्रवर! आप शान्ताके साथ महाराज दशरथके यहाँ जाइये।' राजाकी आज्ञा पाकर उन ऋषिपुत्रने 'तथास्तु' कहकर राजा दशरथको अपने चलनेकी स्वीकृति दे दी ॥

स नृपेणाभ्यनुज्ञातः प्रययौ सह भार्यया।
तावन्योन्याञ्जलिं कृत्वा स्नेहात्संश्लिष्य चोरसा ॥ २२॥
ननन्दतुर्दशरथो रोमपादश्च वीर्यवान्।
ततः सुहृदमापृच्छ्य प्रस्थितो रघुनन्दनः ॥ २३॥

राजा रोमपादकी अनुमति ले ऋष्यशृङ्गने पत्नीके साथ वहाँसे प्रस्थान किया। उस समय शक्तिशाली राजा रोमपाद और दशरथने एक-दूसरेको हाथ जोड़कर स्नेहपूर्वक छातीसे लगाया तथा अभिनन्दन किया। फिर मित्रसे विदा ले रघुकुलनन्दन दशरथ वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २२-२३ ॥

पौरेषु प्रेषयामास दूतान् वै शीघ्रगामिनः।
क्रियतां नगरं सर्वं क्षिप्रमेव स्वलंकृतम् ॥ २४॥
धूपितं सिक्तसम्मृष्टं पताकाभिरलंकृतम्।

उन्होंने पुरवासियोंके पास अपने शीघ्रगामी दूत भेजे और कहलाया कि 'समस्त नगरको शीघ्र ही सुसज्जित किया जाय। सर्वत्र धूपकी सुगन्ध फैले। नगरकी सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर पानीका छिड़काव कर दिया जाय तथा सारा नगर ध्वजा-पताकाओंसे अलंकृत हो' ॥ २४½ ॥

ततः प्रहृष्टाः पौरास्ते श्रुत्वा राजानमागतम् ॥ २५॥
तथा चक्रुश्च तत् सर्वं राज्ञा यत् प्रेषितं तदा।

राजाका आगमन सुनकर पुरवासी बड़े प्रसन्न हुए। महाराजने उनके लिये जो संदेश भेजा था, उसका उन्होंने उस समय पूर्णरूपसे पालन किया ॥ २५½ ॥

ततः स्वलंकृतं राजा नगरं प्रविवेश ह ॥ २६॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्ह्रादैः पुरस्कृत्वा द्विजर्षभम्।

तदनन्तर राजा दशरथने शङ्ख और दुन्दुभि आदि वाद्योंकी ध्वनिके साथ विप्रवर ऋष्यशृङ्गको आगे करके अपने सजे-सजाये नगरमें प्रवेश किया ॥ २६½ ॥

ततः प्रमुदिताः सर्वे दृष्ट्वा वै नागरा द्विजम् ॥ २७॥
प्रवेश्यमानं सत्कृत्य नरेन्द्रेणेन्द्रकर्मणा।
यथा दिवि सुरेन्द्रेण सहस्राक्षेण काश्यपम् ॥ २८॥

उन द्विजकुमारका दर्शन करके सभी नगरनिवासी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्द्रके समान पराक्रमी नरेन्द्र दशरथके साथ पुरीमें प्रवेश करते हुए ऋष्यशृङ्गका उसी प्रकार

सत्कार किया, जैसे देवताओंने स्वर्गमें सहस्राक्ष इन्द्रके साथ प्रवेश करते हुए कश्यपनन्दन वामनजीका समादर किया था ॥ २७-२८ ॥

अन्तःपुरं प्रवेश्यैनं पूजां कृत्वा च शास्त्रतः।
कृतकृत्यं तदात्मानं मेने तस्योपवाहनात् ॥ २९ ॥

ऋषिको अन्तःपुरमें ले जाकर राजाने शास्त्रविधिके अनुसार उनका पूजन किया और उनके निकट आ जानेसे अपनेको कृतकृत्य माना ॥ २९ ॥

अन्तःपुराणि सर्वाणि शान्तां दृष्ट्वा तथागताम्।
सह भर्त्रा विशालाक्षीं प्रीत्यानन्दमुपागमन् ॥ ३० ॥

विशाललोचना शान्ताको इस प्रकार अपने पतिके साथ उपस्थित देख अन्तःपुरकी सभी रानियोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे आनन्दमग्न हो गयीं ॥ ३० ॥

पूज्यमाना तु ताभिः सा राज्ञा चैव विशेषतः।
उवास तत्र सुखिता कञ्चित् कालं सहद्विजा ॥ ३१ ॥

शान्ता भी उन रानियोंसे तथा विशेषतः महाराज दशरथके द्वारा आदर-सत्कार पाकर वहाँ कुछ कालतक अपने पति विप्रवर ऋष्यशृङ्गके साथ बड़े सुखसे रही ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये बालकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

राजाका ऋषियोंसे यज्ञ करानेके लिये प्रस्ताव, ऋषियोंका राजाको और राजाका मन्त्रियोंको यज्ञकी आवश्यक तैयारी करनेके लिये आदेश देना

ततः काले बहुतिथे कस्मिंश्चित् सुमनोहरे।
वसन्ते समनुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत् ॥ १ ॥

तदनन्तर बहुत समय बीत जानेके पश्चात् कोई परम मनोहर—दोषरहित समय प्राप्त हुआ। उस समय वसन्त ऋतुका आरम्भ हुआ था। राजा दशरथने उसी शुभ समयमें यज्ञ आरम्भ करनेका विचार किया ॥ १ ॥

ततः प्रणम्य शिरसा तं विप्रं देववर्णिनम्।
यज्ञाय वरयामास संतानार्थं कुलस्य च ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने देवोपम कान्तिवाले विप्रवर ऋष्यशृङ्गको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और वंशपरम्पराकी रक्षाके लिये पुत्र-प्राप्तिके निमित्त यज्ञ करानेके उद्देश्यसे उनका वरण किया ॥ २ ॥

तथेति च स राजानमुवाच वसुधाधिपम्।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ॥ ३ ॥
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्।

ऋष्यशृङ्गने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी प्रार्थना स्वीकार की और उन पृथ्वीपति नरेशसे कहा—'राजन्! यज्ञकी सामग्री एकत्र कराइये। भूमण्डलमें भ्रमणके लिये आपका यज्ञसम्बन्धी अश्व छोड़ा जाय और सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण किया जाय' ॥ ३½ ॥

ततोऽब्रवीन्नृपो वाक्यं ब्राह्मणान् वेदपारगान् ॥ ४ ॥
सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः।
सुयज्ञं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ॥ ५ ॥
पुरोहितं वसिष्ठं च ये चान्ये द्विजसत्तमाः।

तब राजाने कहा—'सुमन्त्र! तुम शीघ्र ही वेदविद्याके पारंगत ब्राह्मणों तथा ब्रह्मवादी ऋत्विजोंको बुला ले आओ। सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, पुरोहित वसिष्ठ तथा अन्य जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उन सबको बुलाओ' ॥ ४-५½ ॥

ततः सुमन्त्रस्त्वरितं गत्वा त्वरितविक्रमः ॥ ६ ॥
समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान्।

तब शीघ्रगामी सुमन्त्र तुरंत जाकर वेदविद्याके पारगामी उन समस्त ब्राह्मणोंको बुला लाये ॥ ६½ ॥

तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥ ७ ॥
धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्।

धर्मात्मा राजा दशरथने उन सबका पूजन किया और उनसे धर्म तथा अर्थसे युक्त मधुर वचन कहा— ॥ ७½ ॥

मम तातप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम् ॥ ८ ॥
पुत्रार्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।

'महर्षियो! मैं पुत्रके लिये निरन्तर संतप्त रहता हूँ। उसके बिना इस राज्य आदिसे भी मुझे सुख नहीं मिलता है। अतः मैंने यह विचार किया है कि पुत्रके लिये अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करूँ ॥ ८½ ॥

तदहं यष्टुमिच्छामि हयमेधेन कर्मणा ॥ ९ ॥
ऋषिपुत्रप्रभावेण कामान् प्राप्स्यामि चाप्यहम्।

'इसी संकल्पके अनुसार मैं अश्वमेध यज्ञका आरम्भ करना चाहता हूँ। मुझे विश्वास है कि ऋषिपुत्र ऋष्यशृङ्गके प्रभावसे मैं अपनी सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लूँगा' ॥ ९½ ॥

ततः साध्विति तद्वाक्यं ब्राह्मणाः प्रत्यपूजयन् ॥ १० ॥
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे पार्थिवस्य मुखाच्च्युतम्।

'राजा दशरथके मुखसे निकले हुए इस वचनकी वसिष्ठ आदि सब ब्राह्मणोंने 'साधु-साधु' कहकर बड़ी सराहना की ॥ १०½ ॥

ऋष्यश्रृङ्गपुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा ॥ ११ ॥
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगश्च विमुच्यताम् ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ॥ १२ ॥

इसके बाद ऋष्यश्रृङ्ग आदि सब महर्षियोंने उस समय राजा दशरथसे पुनः यह बात कही—'महाराज ! यज्ञ-सामग्रीका संग्रह किया जाय, यज्ञसम्बन्धी अश्व छोड़ा जाय तथा सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण किया जाय ॥ ११-१२ ॥

सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रांश्चतुरोऽमितविक्रमान् ।
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता ॥ १३ ॥

'तुम यज्ञद्वारा सर्वथा चार अमित पराक्रमी पुत्र प्राप्त करोगे; क्योंकि पुत्रके लिये तुम्हारे मनमें ऐसे धार्मिक विचारका उदय हुआ है' ॥ १३ ॥

ततः प्रीतोऽभवद् राजा श्रुत्वा तु द्विजभाषितम् ।
अमात्यानब्रवीद् राजा हर्षेणेदं शुभाक्षरम् ॥ १४ ॥

ब्राह्मणोंकी यह बात सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने बड़े हर्षके साथ अपने मन्त्रियोंसे यह शुभ अक्षरोंवाली बात कही— ॥ १४ ॥

गुरूणां वचनाच्छीघ्रं सम्भाराः सम्भ्रियन्तु मे ।
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वः सोपाध्यायो विमुच्यताम् ॥ १५ ॥

'गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार तुमलोग शीघ्र ही मेरे लिये यज्ञकी सामग्री जुटा दो। शक्तिशाली वीरोंके संरक्षणमें यज्ञिय अश्व छोड़ा जाय और उसके साथ प्रधान ऋत्विज भी रहें ॥ १५ ॥

सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम् ।
शान्तयश्चाभिवर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि ॥ १६ ॥

सरयूके उत्तर तटपर यज्ञभूमिका निर्माण हो, शास्त्रोक्त विधिके अनुसार क्रमशः शान्तिकर्म—पुण्याहवाचन आदिका विस्तारपूर्वक अनुष्ठान किया जाय, जिससे विघ्नोंका निवारण हो ॥ १६ ॥

शक्यः कर्तुमयं यज्ञः सर्वेणापि महीक्षिता ।
नापराधो भवेत् कष्टो यद्यस्मिन् क्रतुसत्तमे ॥ १७ ॥

यदि इस श्रेष्ठ यज्ञमें कष्टप्रद अपराध बन जानेका भय न हो तो सभी राजा इसका सम्पादन कर सकते हैं ॥ १७ ॥

छिद्रं हि मृगयन्त्येते विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः ।
विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति ॥ १८ ॥

'परंतु ऐसा होना कठिन है; क्योंकि ये विद्वान् ब्रह्म-राक्षस यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये छिद्र ढूँढ़ा करते हैं। विधिहीन यज्ञका अनुष्ठान करनेवाला यजमान तत्काल नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

तद् यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते ।
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेष्विह ॥ १९ ॥

'अतः मेरा यह यज्ञ जिस तरह विधिपूर्वक सम्पूर्ण हो सके वैसा उपाय किया जाय। तुम सब लोग ऐसे साधन प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो' ॥ १९ ॥

तथेति च ततः सर्वे मन्त्रिणः प्रत्यपूजयन् ।
पार्थिवेन्द्रस्य तद् वाक्यं यथाज्ञप्तमकुर्वत ॥ २० ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर सभी मन्त्रियोंने राजराजेश्वर दशरथके उस कथनका आदर किया और उनकी आज्ञाके अनुसार सारी व्यवस्था की ॥ २० ॥

ततो द्विजास्ते धर्मज्ञमस्तुवन् पार्थिवर्षभम् ।
अनुज्ञातास्ततः सर्वे पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् उन ब्राह्मणोंने भी धर्मज्ञ नृपश्रेष्ठ दशरथकी प्रशंसा की और उनकी आज्ञा पाकर सब जैसे आये थे, वैसे ही फिर चले गये ॥ २१ ॥

गतेषु तेषु विप्रेषु मन्त्रिणस्तान् नराधिपः ।
विसर्जयित्वा स्वं वेश्म प्रविवेश महामतिः ॥ २२ ॥

उन ब्राह्मणोंके चले जानेपर मन्त्रियोंको भी विदा करके वे महाबुद्धिमान् नरेश अपने महलमें गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

राजाका वसिष्ठजीसे यज्ञकी तैयारीके लिये अनुरोध, वसिष्ठजीद्वारा इसके लिये सेवकोंकी नियुक्ति और सुमन्त्रको राजाओंकी बुलाहटके लिये आदेश, समागत राजाओंका सत्कार तथा पत्नियोंसहित राजा दशरथका यज्ञकी दीक्षा लेना

पुनः प्राप्ते वसन्ते तु पूर्णः संवत्सरोऽभवत् ।
प्रसवार्थं गतो यष्टुं हयमेधेन वीर्यवान् ॥ १ ॥

वर्तमान वसन्त ऋतुके बीतनेपर जब पुनः दूसरा वसन्त आया, तबतक एक वर्षका समय पूरा हो गया। उस समय शक्तिशाली राजा दशरथ संतानके लिये अश्वमेध यज्ञकी दीक्षा लेनेके निमित्त वसिष्ठजीके समीप गये ॥ १ ॥

अभिवाद्य वसिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम्॥ २॥

वसिष्ठजीको प्रणाम करके राजाने न्यायतः उनका पूजन किया और पुत्र-प्राप्तिका उद्देश्य लेकर उन द्विजश्रेष्ठ मुनिसे यह विनययुक्त बात कही—॥ २॥

यज्ञो मे क्रियतां ब्रह्मन् यथोक्तं मुनिपुङ्गव।
यथा न विघ्नाः क्रियन्ते यज्ञाङ्गेषु विधीयताम्॥ ३॥

'ब्रह्मन्! मुनिप्रवर! आप शास्त्रविधिके अनुसार मेरा यज्ञ करावें और यज्ञके अङ्गभूत अश्व-संचारण आदिमें ब्रह्मराक्षस आदि जिस तरह विघ्न न डाल सकें, वैसा उपाय कीजिये॥ ३॥

भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान्।
वोढव्यो भवता चैव भारो यज्ञस्य चोद्यतः॥ ४॥

'आपका मुझपर विशेष स्नेह है, आप मेरे सुहृद्—अकारण हितैषी, गुरु और परम महान् हैं। यह जो यज्ञका भार उपस्थित हुआ है, इसको आप ही वहन कर सकते हैं'॥

तथेति च स राजानमब्रवीद् द्विजसत्तमः।
करिष्ये सर्वमेवैतद् भवता यत् समर्थितम्॥ ५॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर विप्रवर वसिष्ठ मुनि राजासे इस प्रकार बोले—'नरेश्वर! तुमने जिसके लिये प्रार्थना की है, वह सब मैं करूँगा'॥ ५॥

ततोऽब्रवीद् द्विजान् वृद्धान् यज्ञकर्मसुनिष्ठितान्।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान्॥ ६॥
कर्मान्तिकाञ्शिल्पकारान् वर्धकीन् खनकानपि।
गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान्॥ ७॥
तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान् सुबहुश्रुतान्।
यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात्॥ ८॥

तदनन्तर वसिष्ठजीने यज्ञसम्बन्धी कर्मोंमें निपुण तथा यज्ञविषयका शिल्पकर्ममें कुशल, परम धर्मात्मा, बूढ़े ब्राह्मणों, यज्ञकर्म समाप्त होनेतक उसमें सेवा करनेवाले सेवकों, शिल्पकारों, बढ़इयों, भूमिखोदनेवालों, ज्योतिषियों, कारीगरों, नटों, नर्तकों, विशुद्ध शास्त्रवेत्ताओं तथा बहुश्रुत पुरुषोंको बुलाकर उनसे कहा—'तुमलोग महाराजकी आज्ञासे यज्ञकर्मके लिये आवश्यक प्रबन्ध करो॥ ६—८॥

इष्टका बहुसाहस्री शीघ्रमानीयतामिति।
उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः॥ ९॥

'शीघ्र ही कई हजार ईंटें लायी जायँ। राजाओंके ठहरनेके लिये उनके योग्य अन्न-पान आदि अनेक उपकरणोंसे युक्त बहुत-से महल बनाये जायँ॥ ९॥

ब्राह्मणावसथाश्चैव कर्तव्याः शतशः शुभाः।
भक्ष्यान्नपानैर्बहुभिः समुपेताः सुनिष्ठिताः॥ १०॥

'ब्राह्मणोंके रहनेके लिये भी सैकड़ों सुन्दर घर बनाये जाने चाहिये। वे सभी गृह बहुत-से भोजनीय अन्न-पान आदि उपकरणोंसे युक्त तथा आँधी-पानी आदिके निवारणमें समर्थ हों॥ १०॥

तथा पौरजनस्यापि कर्तव्याश्च सुविस्तराः।
आगतानां सुदूराच्च पार्थिवानां पृथक् पृथक्॥ ११॥

'इसी तरह पुरवासियोंके लिये भी विस्तृत मकान बनने चाहिये। दूरसे आये हुए भूपालोंके लिये पृथक्-पृथक् महल बनाये जायँ॥ ११॥

वाजिवारणशालाश्च तथा शय्यागृहाणि च।
भटानां महदावासा वैदेशिकनिवासिनाम्॥ १२॥

'घोड़े और हाथियोंके लिये भी शालाएँ बनायी जायँ। साधारण लोगोंके सोनेके लिये भी घरोंकी व्यवस्था हो। विदेशी सैनिकोंके लिये भी बड़ी-बड़ी छावनियाँ बननी चाहिये॥ १२॥

आवासा बहुभक्ष्या वै सर्वकामैरुपस्थिताः।
तथा पौरजनस्यापि जनस्य बहुशोभनम्॥ १३॥
दातव्यमन्नं विधिवत् सत्कृत्य न तु लीलया।

'जो घर बनाये जायँ, उनमें खाने-पीनेकी प्रचुर सामग्री संचित रहे। उनमें सभी मनोवाञ्छित पदार्थ सुलभ हों तथा नगरवासियोंको भी बहुत सुन्दर अन्न भोजनके लिये देना चाहिये। वह भी विधिवत् सत्कारपूर्वक दिया जाय; अवहेलना करके नहीं॥ १३½॥

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः॥ १४॥
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि।

'ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे सभी वर्णके लोग भलीभाँति सत्कृत हो सम्मान प्राप्त करें। काम और क्रोधके वशीभूत होकर भी किसीका अनादर नहीं करना चाहिये॥ १४½॥

यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा॥ १५॥
तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम्।

'जो शिल्पी मनुष्य यज्ञकर्मकी आवश्यक तैयारीमें लगे हों, [illegible] तो बड़े-छोटेका खयाल रखकर विशेषरूपसे समादर करना चाहिये॥ १५½॥

ये स्युः सम्पूजिताः सर्वे वसुभिर्भोजनेन च॥ १६॥
यथा सर्वं सुविहितं न किंचित् परिहीयते।
तथा भवन्तः कुर्वन्तु प्रीतियुक्तेन चेतसा॥ १७॥

'जो सेवक या कारीगर धन और भोजन आदिके द्वारा सम्मानित किये जाते हैं, वे सब परिश्रमपूर्वक कार्य करते हैं। उनका किया हुआ सारा कार्य सुन्दर ढंगसे सम्पन्न होता है। उनका कोई काम बिगड़ने नहीं पाता; अतः तुम सब लोग प्रसन्नचित्त होकर ऐसा ही करो'॥ १६-१७॥

ततः सर्वे समागम्य वसिष्ठमिदमब्रुवन्।
यथेष्टं तत् सुविहितं न किंचित् परिहीयते॥ १८॥
यथोक्तं तत् करिष्यामो न किंचित् परिहास्यते।

तब वे सब लोग वसिष्ठजीसे मिलकर बोले—'आपको जैसा अभीष्ट है, उसके अनुसार ही करनेके लिये अच्छी व्यवस्था की जायगी। कोई भी काम बिगड़ने नहीं पायेगा। आपने जैसा कहा है, हमलोग वैसा ही करेंगे। उसमें कोई त्रुटि नहीं आने देंगे ॥ १८½ ॥

ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥
निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः ।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः ॥२०॥

तदनन्तर वसिष्ठजीने सुमन्त्रको बुलाकर कहा—'इस पृथ्वीपर जो-जो धार्मिक राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सहस्रों शूद्र हैं, उन सबको इस यज्ञमें आनेके लिये निमन्त्रित करो ॥

समानयस्व सत्कृत्य सर्वदेशेषु मानवान् ।
मिथिलाधिपतिं शूरं जनकं सत्यवादिनम् ॥ २१ ॥
तमानय महाभागं स्वयमेव सुसत्कृतम् ।
पूर्वं सम्बन्धिनं ज्ञात्वा ततः पूर्वं ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

'सब देशोंके अच्छे लोगोंको सत्कारपूर्वक यहाँ ले आओ। मिथिलाके स्वामी शूरवीर महाभाग जनक सत्यवादी नरेश हैं। उनको अपना पुराना सम्बन्धी जानकर तुम स्वयं ही जाकर उन्हें बड़े आदर-सत्कारके साथ यहाँ ले आओ; इसीलिये पहले तुम्हें यह बात बता देता हूँ ॥ २१-२२ ॥

तथा काशिपतिं स्निग्धं सततं प्रियवादिनम् ।
सद्वृत्तं देवसंकाशं स्वयमेवानयस्व ह ॥ २३ ॥

'इसी प्रकार काशीके राजा अपने स्नेही मित्र हैं और सदा प्रिय वचन बोलनेवाले हैं। वे सदाचारी तथा देवताओंके तुल्य तेजस्वी हैं; अतः उन्हें भी स्वयं ही जाकर ले आओ ॥ २३ ॥

तथा केकयराजानं वृद्धं परमधार्मिकम् ।
श्वशुरं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २४ ॥

'केकयदेशके बूढ़े राजा बड़े धर्मात्मा हैं, वे राजसिंह महाराज दशरथके श्वशुर हैं; अतः उन्हें भी पुत्रसहित यहाँ ले आओ ॥ २४ ॥

अङ्गेश्वरं महेष्वासं रोमपादं सुसत्कृतम् ।
वयस्यं राजसिंहस्य सपुत्रं तमिहानय ॥ २५ ॥

'अङ्गदेशके स्वामी महाधनुर्धर राजा रोमपाद हमारे महाराजके मित्र हैं, अतः उन्हें पुत्रसहित यहाँ सत्कारपूर्वक ले आओ ॥ २५ ॥

तथा कोसलराजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम् ।
मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ॥ २६ ॥
प्राप्तिज्ञं परमोदारं सत्कृतं पुरुषर्षभम् ।

'कोसलराज भानुमान्को भी सत्कारपूर्वक ले आओ। मगधदेशके राजा प्राप्तिज्ञको, जो शूरवीर, सर्वशास्त्रविशारद, परम उदार तथा पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं, स्वयं जाकर सत्कारपूर्वक बुला ले आओ ॥ २६½ ॥

राज्ञः शासनमादाय चोदयस्व नृपर्षभान् ।
प्राचीनान् सिन्धुसौवीरान् सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान् ॥

'महाराजकी आज्ञा लेकर तुम पूर्वदेशके श्रेष्ठ नरेशोंको तथा सिन्धु-सौवीर एवं सुराष्ट्र देशके भूपालोंको यहाँ आनेके लिये निमन्त्रण दो ॥ २७ ॥

दाक्षिणात्यान् नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह ।
सन्ति स्निग्धाश्च ये चान्ये राजानः पृथिवीतले ॥ २८ ॥
तानानय यथा क्षिप्रं सानुगान् सहबान्धवान् ।
एतान् दूतैर्महाभागैरानयस्व नृपाज्ञया ॥ २९ ॥

'दक्षिण भारतके समस्त नरेशोंको भी आमन्त्रित करो। इस भूतलपर और भी जो-जो नरेश महाराजके प्रति स्नेह रखते हैं, उन सबको सेवकों और सगे-सम्बन्धियोंसहित यथासम्भव शीघ्र बुला लो। महाराजकी आज्ञासे बड़भागी दूतोंद्वारा इन सबके पास बुलावा भेज दो' ॥ २८-२९ ॥

वसिष्ठवाक्यं तच्छ्रुत्वा सुमन्त्रस्त्वरितं तदा ।
व्यादिशत् पुरुषांस्तत्र राज्ञामानयने शुभान् ॥ ३० ॥

वसिष्ठका यह वचन सुनकर सुमन्त्रने तुरंत ही अच्छे पुरुषोंको राजाओंकी बुलाहटके लिये जानेका आदेश दे दिया ॥ ३० ॥

स्वयमेव हि धर्मात्मा प्रयातो मुनिशासनात् ।
सुमन्त्रस्त्वरितो भूत्वा समानेतुं महामतिः ॥ ३१ ॥

परम बुद्धिमान् धर्मात्मा सुमन्त्र वसिष्ठ मुनिकी आज्ञासे खास-खास राजाओंको बुलानेके लिये स्वयं ही गये ॥ ३१ ॥

ते च कर्मान्तिकाः सर्वे वसिष्ठाय महर्षये ।
सर्वं निवेदयन्ति स्म यज्ञे यदुपकल्पितम् ॥ ३२ ॥

यज्ञकर्मकी व्यवस्थाके लिये जो सेवक नियुक्त किये गये थे, उन सबने आकर उस समयतक यज्ञसम्बन्धी जो-जो कार्य सम्पन्न हो गया था, उस सबकी सूचना महर्षि वसिष्ठको दी ॥ ३२ ॥

ततः प्रीतो द्विजश्रेष्ठस्तान् सर्वान् मुनिरब्रवीत् ।
अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलयापि वा ॥ ३३ ॥
अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः ।

यह सुनकर वे द्विजश्रेष्ठ मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन सबसे बोले—'भद्र पुरुषो ! किसीको जो कुछ देना हो, उसे अवहेलना या अनादरपूर्वक नहीं देना चाहिये; क्योंकि अनादरपूर्वक दिया हुआ दान दाताको नष्ट कर देता है—इसमें संशय नहीं है' ॥ ३३½ ॥

ततः कैश्चिदहोरात्रैरुपयाता महीक्षितः ॥ ३४ ॥
बहूनि रत्नान्यादाय राज्ञो दशरथस्य ह ।

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद राजा लोग महाराज दशरथके

लिये बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर अयोध्यामें आये ॥ ३४½ ॥

ततो वसिष्ठः सुप्रीतो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
उपयाता नरव्याघ्र राजानस्तव शासनात् ।
मयापि सत्कृताः सर्वे यथार्हं राजसत्तम ॥ ३६ ॥

इससे वसिष्ठजीको बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने राजासे कहा—'पुरुषसिंह ! तुम्हारी आज्ञासे राजालोग यहाँ आ गये । नृपश्रेष्ठ ! मैंने भी यथायोग्य उन सबका सत्कार किया है ॥ ३५-३६ ॥

यज्ञियं च कृतं सर्वं पुरुषैः सुसमाहितैः ।
निर्यातु च भवान् यष्टुं यज्ञायतनमन्तिकात् ॥ ३७ ॥

'हमारे कार्यकर्ताओंने पूर्णतः सावधान रहकर यज्ञके लिये सारी तैयारी की है । अब तुम भी यज्ञ करनेके लिये यज्ञमण्डपके समीप चलो ॥ ३७ ॥

सर्वकामैरुपहृतैरुपेतं वै समन्ततः ।
द्रष्टुमर्हसि राजेन्द्र मनसेव विनिर्मितम् ॥ ३८ ॥

'राजेन्द्र ! यज्ञमण्डपमें सब ओर सभी वाञ्छनीय वस्तुएँ एकत्र कर दी गयी हैं । आप स्वयं चलकर देखें । यह मण्डप इतना शीघ्र तैयार किया गया है, मानो मनके संकल्पसे ही बन गया हो' ॥ ३८ ॥

तथा वसिष्ठवचनादृष्यश्रृङ्गस्य चोभयोः ।
दिवसे शुभनक्षत्रे निर्यातो जगतीपतिः ॥ ३९ ॥

मुनिवर वसिष्ठ तथा ऋष्यश्रृङ्ग दोनोंके आदेशसे शुभ नक्षत्रवाले दिनको राजा दशरथ यज्ञके लिये राजभवनसे निकले ॥ ३९ ॥

ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः ।
ऋष्यश्रृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा ॥ ४० ॥
यज्ञवाटं गताः सर्वे यथाशास्त्रं यथाविधि ।
श्रीमांश्च सह पत्नीभी राजा दीक्षामुपाविशत् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि सभी श्रेष्ठ द्विजोंने यज्ञमण्डपमें जाकर ऋष्यश्रृङ्गको आगे करके शास्त्रोक्त विधिके अनुसार यज्ञकर्मका आरम्भ किया । पत्नियोंसहित श्रीमान् अवध-नरेशने यज्ञकी दीक्षा ली ॥ ४०-४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

महाराज दशरथके द्वारा अश्वमेध यज्ञका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान

अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते तुरङ्गमे ।
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत ॥ १ ॥

इधर वर्ष पूरा होनेपर यज्ञसम्बन्धी अश्व भूमण्डलमें भ्रमण करके लौट आया । फिर सरयू नदीके उत्तर तटपर राजाका यज्ञ आरम्भ हुआ ॥ १ ॥

ऋष्यश्रृङ्गं पुरस्कृत्य कर्म चक्रुर्द्विजर्षभाः ।
अश्वमेधे महायज्ञे राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः ॥ २ ॥

महामनस्वी राजा दशरथके उस अश्वमेध नामक महायज्ञमें ऋष्यश्रृङ्गको आगे करके श्रेष्ठ ब्राह्मण यज्ञसम्बन्धी कर्म करने लगे ॥ २ ॥

कर्म कुर्वन्ति विधिवद् याजका वेदपारगाः ।
यथाविधि यथान्यायं परिक्रामन्ति शास्त्रतः ॥ ३ ॥

यज्ञ करानेवाले सभी ब्राह्मण वेदोंके पारंगत विद्वान् थे; अतः वे न्याय तथा विधिके अनुसार सब कर्मोंका उचित रीतिसे सम्पादन करते थे और शास्त्रके अनुसार किस क्रमसे किस समय कौन-सी क्रिया करनी चाहिये, इसको स्मरण रखते हुए प्रत्येक कर्ममें प्रवृत्त होते थे ॥ ३ ॥

प्रवर्ग्यं शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः ।
चक्रुश्च विधिवत् सर्वमधिकं कर्म शास्त्रतः ॥ ४ ॥

ब्राह्मणोंने प्रवर्ग्य (अश्वमेधके अङ्गभूत कर्मविशेष)को शास्त्र (विधि, मीमांसा और कल्पसूत्र)के अनुसार सम्पादन करके उपसद नामक इष्टि-विशेषका भी शास्त्रके अनुसार ही अनुष्ठान किया । तत्पश्चात् शास्त्रीय उपदेशसे अधिक जो अतिदेशतः प्राप्त कर्म है, उस सबका भी विधिवत् सम्पादन किया ॥ ४ ॥

अभिपूज्य तदा हृष्टाः सर्वे चक्रुर्यथाविधि ।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

तदनन्तर तत्तत् कर्मोंके अङ्गभूत देवताओंका पूजन करके हर्षमें भरे हुए उन सभी मुनिवरोंने विधिपूर्वक प्रातः-सवन आदि (अर्थात् प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन तथा तृतीय सवन) कर्म किये ॥ ५ ॥

ऐन्द्रश्च विधिवद् दत्तो राजा चाभिषुतोऽनघः ।
मध्यन्दिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम् ॥ ६ ॥

इन्द्र देवताको विधिपूर्वक हविष्यका भाग अर्पित किया गया । पापनिवर्तक राजा सोम (सोमलता)* का रस निकाला गया । फिर क्रमशः माध्यन्दिनसवनका कार्य प्रारम्भ हुआ ॥ ६ ॥

* इस विषयमें सूत्रकारका वचन है—सोमं राजानं दृषदि निधाय ··· दृषद्भिरभिहन्यात् अर्थात् राजा सोम (सोमलता) को पत्थरपर रखकर ··· पत्थरसे कूँचे ।

तृतीयसवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः।
चक्रुस्ते शास्त्रतो दृष्ट्वा यथा ब्राह्मणपुङ्गवाः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने शास्त्रसे देख-भालकर मनस्वी राजा दशरथके तृतीय सवनकर्मका भी विधिवत् सम्पादन किया ॥ ७ ॥

आह्वयाञ्चक्रिरे तत्र शक्रादीन् विबुधोत्तमान्।
ऋष्यशृङ्गादयो मन्त्रैः शिक्षाक्षरसमन्वितैः ॥ ८ ॥

ऋष्यशृङ्ग आदि महर्षियोंने वहाँ अभ्यासकालमें सीखे गये अक्षरोंसे युक्त—स्वर और वर्णसे सम्पन्न मन्त्रोंद्वारा इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओंका आवाहन किया ॥ ८ ॥

गीतिभिर्मधुरैः स्निग्धैर्मन्त्राह्वानैर्यथार्हतः।
होतारो ददुरावाह्य हविर्भागान् दिवौकसाम् ॥ ९ ॥

मधुर एवं मनोरम सामगानके लयमें गाये हुए आह्वान-मन्त्रोंद्वारा देवताओंका आवाहन करके होताओंने उन्हें उनके योग्य हविष्यके भाग समर्पित किये ॥ ९ ॥

न चाहुतमभूत् तत्र स्खलितं वा न किंचन।
दृश्यते ब्रह्मवत् सर्वं क्षेमयुक्तं हि चक्रिरे ॥ १० ॥

उस यज्ञमें कोई अयोग्य अथवा विपरीत आहुति नहीं पड़ी। कहीं कोई भूल नहीं हुई—अनजानमें भी कोई कर्म छूटने नहीं पाया; क्योंकि वहाँ सारा कर्म मन्त्रोच्चारणपूर्वक सम्पन्न होता दिखायी देता था। महर्षियोंने सब कर्म क्षेमयुक्त एवं निर्विघ्न परिपूर्ण किये ॥ १० ॥

न तेष्वहःसु श्रान्तो वा क्षुधितो वा न दृश्यते।
नाविद्वान् ब्राह्मणः कश्चिन्नाशतानुचरस्तथा ॥ ११ ॥

यज्ञके दिनोंमें कोई भी ऋत्विज थका-माँदा या भूखा-प्यासा नहीं दिखायी देता था। उसमें कोई भी ब्राह्मण ऐसा नहीं था, जो विद्वान् न हो अथवा जिसके सौसे कम शिष्य या सेवक रहे हों ॥ ११ ॥

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते ॥ १२ ॥

उस यज्ञमें प्रतिदिन ब्राह्मण भोजन करते थे (क्षत्रिय और वैश्य भी भोजन पाते थे) तथा शूद्रोंको भी भोजन उपलब्ध होता था। तापस और श्रमण भी भोजन करते थे ॥ १२ ॥

वृद्धाश्च व्याधिताश्चैव स्त्रीबालाश्च तथैव च।
अनिशं भुञ्जमानानां न तृप्तिरुपलभ्यते ॥ १३ ॥

बूढ़े, रोगी, स्त्रियाँ तथा बच्चे भी यथेष्ट भोजन पाते थे। भोजन इतना स्वादिष्ट होता था कि निरन्तर खाते रहनेपर भी किसीका मन नहीं भरता था ॥ १३ ॥

दीयतां दीयतामन्नं वासांसि विविधानि च।
इति संचोदितास्तत्र तथा चक्रुरनेकशः ॥ १४ ॥

'अन्न दो, नाना प्रकारके वस्त्र दो', अधिकारियोंकी ऐसी आज्ञा पाकर कार्यकर्ता लोग बारंबार वैसा ही करते थे ॥ १४ ॥

अन्नकूटाश्च दृश्यन्ते बहवः पर्वतोपमाः।
दिवसे दिवसे तत्र सिद्धस्य विधिवत् तदा ॥ १५ ॥

वहाँ प्रतिदिन विधिवत् पके हुए अन्नके बहुत-से पर्वतों-जैसे ढेर दिखायी देते थे ॥ १५ ॥

नानादेशादनुप्राप्ताः पुरुषाः स्त्रीगणास्तथा।
अन्नपानैः सुविहितास्तस्मिन् यज्ञे महात्मनः ॥ १६ ॥

महामनस्वी राजा दशरथके उस यज्ञमें नाना देशोंसे आये हुए स्त्री-पुरुष अन्न-पानद्वारा भलीभाँति तृप्त किये गये थे ॥ १६ ॥

अन्नं हि विधिवत्स्वादु प्रशंसन्ति द्विजर्षभाः।
अहो तृप्ताः स्म भद्रं ते इति शुश्राव राघवः ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ ब्राह्मण 'भोजन विधिवत् बनाया गया है। बहुत स्वादिष्ट है'—ऐसा कहकर अन्नकी प्रशंसा करते थे। भोजन करके उठे हुए लोगोंके मुखसे राजा सदा यही सुनते थे कि 'हमलोग खूब तृप्त हुए। आपका कल्याण हो' ॥ १७ ॥

स्वलंकृताश्च पुरुषा ब्राह्मणान् पर्यवेषयन्।
उपासन्ते च तानन्ये सुमृष्टमणिकुण्डलाः ॥ १८ ॥

वस्त्र-आभूषणोंसे अलंकृत हुए पुरुष ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे और उन लोगोंकी जो दूसरे लोग सहायता करते थे, उन्होंने भी विशुद्ध मणिमय कुण्डल धारण कर रक्खे थे ॥

कर्मान्तरे तदा विप्रा हेतुवादान् बहूनपि।
प्राहुः सुवाग्मिनो धीराः परस्परजिगीषया ॥ १९ ॥

एक सवन समाप्त करके दूसरे सवनके आरम्भ होनेसे पूर्व जो अवकाश मिलता था, उसमें उत्तम वक्ता धीर ब्राह्मण एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे बहुतेरे युक्तिवाद उपस्थित करते हुए शास्त्रार्थ करते थे ॥ १९ ॥

दिवसे दिवसे तत्र संस्तरे कुशला द्विजाः।
सर्वकर्माणि चक्रुस्ते यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ २० ॥

उस यज्ञमें नियुक्त हुए कर्मकुशल ब्राह्मण प्रतिदिन शास्त्रके अनुसार सब कार्योंका सम्पादन करते थे ॥ २० ॥

नाषडङ्गविदत्रासीन्नाव्रतो नावहुश्रुतः।
सदस्यास्तस्य वै राज्ञो नावादकुशलो द्विजः ॥ २१ ॥

राजाके उस यज्ञमें कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो व्याकरण आदि छहों अङ्गोंका ज्ञाता न हो, जिसने ब्रह्मचर्यव्रत-का पालन न किया हो तथा जो बहुश्रुत न हो। वहाँ कोई ऐसा द्विज नहीं था, जो वाद-विवादमें कुशल न हो ॥ २१ ॥

प्राप्ते यूपोच्छ्रये तस्मिन् षड् बैल्वाः खादिरास्तथा।
तावन्तो बिल्वसहिताः पर्णिनश्च तथा परे ॥ २२ ॥

जब यूप खड़ा करनेका समय आया, तब बेलकी लकड़ीके छः यूप गाड़े गये। उतने ही खैरके यूप खड़े किये गये तथा पलाशके भी उतने ही यूप थे, जो बिल्वनिर्मित यूपोंके साथ खड़े किये गये थे ॥ २२ ॥

श्लेष्मातकमयो दिष्टो देवदारुमयस्तथा ।
द्वावेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ ॥ २३ ॥

बहेड़ेके वृक्षका एक यूप अश्वमेध यज्ञके लिये विहित है। देवदारुके बने हुए यूपका भी विधान है; परंतु उसकी संख्या न एक है न छः। देवदारुके दो ही यूप विहित हैं। दोनों बाँहें फैला देनेपर जितनी दूरी होती है उतनी ही दूरपर वे दोनों स्थापित किये गये थे ॥ २३ ॥

कारिताः सर्व एवैते शास्त्रज्ञैर्यज्ञकोविदैः ।
शोभार्थं तस्य यज्ञस्य काञ्चनालंकृता भवन् ॥ २४ ॥

यज्ञकुशल-शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंने ही इन सब यूपोंका निर्माण कराया था। उस यज्ञकी शोभा बढ़ानेके लिये उन सबमें सोना जड़ा गया था ॥ २४ ॥

एकविंशतियूपास्ते एकविंशत्यरत्नयः ।
वासोभिरेकविंशद्भिरेकैकं समलंकृताः ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त इक्कीस यूप इक्कीस-इक्कीस अरत्नि[१] (पाँच सौ चार अङ्गुल) ऊँचे बनाये गये थे। उन सबको पृथक्-पृथक् इक्कीस कपड़ोंसे अलंकृत किया गया था ॥ २५ ॥

विन्यस्ता विधिवत् सर्वे शिल्पिभिः सुकृता दृढाः ।
अष्टास्रयः सर्व एव श्लक्ष्णरूपसमन्विताः ॥ २६ ॥

कारीगरोंद्वारा अच्छी तरह बनाये गये वे सभी सुदृढ़ यूप विधिपूर्वक स्थापित किये गये थे। वे सब-के-सब आठ कोणोंसे सुशोभित थे। उनकी आकृति सुन्दर एवं चिकनी थी ॥ २६ ॥

आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः ।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि ॥ २७ ॥

उन्हें वस्त्रोंसे ढक दिया गया था और पुष्प-चन्दनसे उनकी पूजा की गयी थी। जैसे आकाशमें तेजस्वी सप्तर्षियोंकी शोभा होती है, उसी प्रकार यज्ञमण्डपमें वे दीप्तिमान् यूप सुशोभित होते थे ॥ २७ ॥

इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः ।
चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शिल्पकर्मणि ॥ २८ ॥

सूत्रग्रन्थोंमें बताये अनुसार ठीक मापसे ईंटें तैयार करायी गयी थीं। उन ईंटोंके द्वारा यज्ञसम्बन्धी शिल्पिकर्म-में कुशल ब्राह्मणोंने अग्निका चयन किया था ॥ २८ ॥

स चित्यो राजसिंहस्य संचितः कुशलैर्द्विजैः ।
गरुडो रुक्मपक्षो वै त्रिगुणोऽष्टादशात्मकः ॥ २९ ॥

राजसिंह महाराज दशरथके यज्ञमें चयनद्वारा सम्पादित अग्निकी कर्मकाण्डकुशल ब्राह्मणोंद्वारा शास्त्रविधिके अनुसार स्थापना की गयी। उस अग्निकी आकृति दोनों पंख और पुच्छ फैलाकर नीचे देखते हुए पूर्वाभिमुख खड़े हुए गरुड़की-सी प्रतीत होती थी। सोनेकी ईंटोंसे पंखका निर्माण होनेसे उस गरुड़के पंख सुवर्णमय दिखायी देते थे। प्रकृत-अवस्थामें चित्य-अग्निके छः प्रस्तार होते हैं; किंतु अश्वमेध यज्ञमें उसका प्रस्तार तीनगुना हो जाता है। इसलिये वह गरुड़ाकृति अग्नि अठारह प्रस्तारोंसे युक्त थी ॥ २९ ॥

नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम् ।
उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः ॥ ३० ॥

वहाँ पूर्वोक्त यूपोंमें शास्त्रविहित पशु, सर्प और पक्षी विभिन्न देवताओंके उद्देश्यसे बाँधे गये थे ॥ ३० ॥

शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये ।
ऋषिभिः सर्वमेवैतन्नियुक्तं शास्त्रतस्तदा ॥ ३१ ॥

शामित्र कर्ममें यज्ञिय अश्व तथा कूर्म आदि जलचर जन्तु जो वहाँ लाये गये थे, ऋषियोंने उन सबको शास्त्रविधिके अनुसार पूर्वोक्त यूपोंमें बाँध दिया ॥ ३१ ॥

पशूनां त्रिशतं तत्र यूपेषु नियतं तदा ।
अश्वरत्नोत्तमं तत्र राज्ञो दशरथस्य ह ॥ ३२ ॥

उस समय उन यूपोंमें तीन सौ पशु बँधे हुए थे तथा राजा दशरथका वह उत्तम अश्वरत्न भी वहीं बाँधा गया था ॥ ३२ ॥

कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः ।
कृपाणैर्विससारैनं त्रिभिः परमया मुदा ॥ ३३ ॥

रानी कौसल्याने वहाँ प्रोक्षण आदिके द्वारा सब ओरसे उस अश्वका संस्कार करके बड़ी प्रसन्नताके साथ तीन तलवारोंसे उसका स्पर्श किया ॥ ३३ ॥

पतत्त्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा ।
अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ॥ ३४ ॥

तदनन्तर कौसल्या देवीने सुस्थिर चित्तसे धर्मपालनकी इच्छा रखकर उस अश्वके निकट एक रात निवास किया ॥

होताध्वर्युस्तथोद्गाता हस्तेन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्त्याथ वावातामपरां तथा ॥ ३५ ॥

तत्पश्चात् होता, अध्वर्यु और उद्गाताने राजाकी (क्षत्रिय-जातीय) महिषी 'कौसल्या,' (वैश्यजातीय स्त्री) 'वावाता' तथा (शूद्रजातीय स्त्री) 'परिवृत्ति'—इन सबके हाथसे उस अश्वका स्पर्श कराया* ॥ ३५ ॥

पतत्त्रिणस्तस्य वपामुद्धृत्य नियतेन्द्रियः ।
ऋत्विक्परमसम्पन्नः श्रपयामास शास्त्रतः ॥ ३६ ॥

इसके बाद परम चतुर जितेन्द्रिय ऋत्विक्ने विधिपूर्वक अश्वकन्दके गूदेको निकालकर शास्त्रोक्त रीतिसे पकाया ॥ ३६ ॥

धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः ।
यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः ॥ ३७ ॥

१. तथा च सूत्रम्—'चतुर्विंशत्यङ्गुलयोऽरत्निः' अर्थात् एक अरत्नि चौबीस अङ्गुलके बराबर होता है।

* जातिके अनुसार नाम अलग-अलग होते हैं। दशरथके तो कौसल्या, कैकेयी और सुमित्रा तीनों क्षत्रिय जातिकी ही थीं।

तत्पश्चात् उस गूदेकी आहुति दी गयी। राजा दशरथने अपने पापको दूर करनेके लिये ठीक समयपर आकर विधिपूर्वक उसके धूएँकी गन्धको सूँघा ॥ ३७ ॥

हयस्य यानि चाङ्गानि तानि सर्वाणि ब्राह्मणाः।
अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः ॥३८॥

उस अश्वमेध यज्ञके अङ्गभूत जो-जो हवनीय पदार्थ थे, उन सबको लेकर समस्त सोलह ऋत्विज ब्राह्मण अग्निमें विधिवत् आहुति देने लगे ॥ ३८ ॥

प्लक्षशाखासु यज्ञानामन्येषां क्रियते हविः।
अश्वमेधस्य यज्ञस्य वैतसो भाग इष्यते ॥३९॥

अश्वमेधके अतिरिक्त अन्य यज्ञोंमें जो हवि दी जाती है, वह पाकरकी शाखाओंमें रखकर दी जाती है; परंतु अश्वमेध यज्ञका हविष्य बेंतकी चटाईमें रखकर देनेका नियम है ॥

त्र्यहोऽश्वमेधः संख्यातः कल्पसूत्रेण ब्राह्मणैः।
चतुष्टोममहस्तस्य प्रथमं परिकल्पितम् ॥ ४० ॥
उक्थ्यं द्वितीयं संख्यातमतिरात्रं तथोत्तरम्।
कारितास्तत्र बहवो विहिताः शास्त्रदर्शनात् ॥ ४१ ॥

कल्पसूत्र और ब्राह्मणग्रन्थोंके द्वारा अश्वमेधके तीन सवनीय दिन बताये गये हैं। उनमेंसे प्रथम दिन जो सवन होता है, उसे चतुष्टोम ('अग्निष्टोम') कहा गया है। द्वितीय दिवस-साध्य सवनको 'उक्थ्य' नाम दिया गया है तथा तीसरे दिन जिस सवनका अनुष्ठान होता है, उसे 'अतिरात्र' कहते हैं। उसमें शास्त्रीय दृष्टिसे विहित बहुत-से दूसरे-दूसरे क्रतु भी सम्पन्न किये गये ॥ ४०-४१ ॥

ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ।
अभिजिद्विश्वजिच्चैवमाप्तोर्यामो महाक्रतुः ॥ ४२ ॥

ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम यज्ञ, दो बार अतिरात्र यज्ञ, पाँचवाँ अभिजित्, छठा विश्वजित् तथा सातवें-आठवें आप्तोर्याम—ये सब-के-सब महाक्रतु माने गये हैं, जो अश्वमेधके उत्तरकालमें सम्पादित हुए ॥ ४२ ॥

प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिशं स्वकुलवर्धनः।
अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दक्षिणां दिशम् ॥ ४३ ॥

अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले राजा दशरथने यज्ञ पूर्ण होनेपर होताको दक्षिणारूपमें अयोध्यासे पूर्व दिशाका सारा राज्य सौंप दिया, अध्वर्युको पश्चिम दिशा तथा ब्रह्माको दक्षिण दिशाका राज्य दे दिया ॥ ४३ ॥

उद्गात्रे तु तथोदीचीं दक्षिणैषा विनिर्मिता।
अश्वमेधे महायज्ञे स्वयंभूविहिते पुरा ॥ ४४ ॥

इसी तरह उद्गाताको उत्तर दिशाकी सारी भूमि दे दी। पूर्वकालमें भगवान् ब्रह्माजीने जिसका अनुष्ठान किया था, उस अश्वमेध नामक महायज्ञमें ऐसी ही दक्षिणाका विधान किया गया है* ॥ ४४ ॥

क्रतुं समाप्य तु तदा न्यायतः पुरुषर्षभः।
ऋत्विग्भ्यो हि ददौ राजा धरां तां कुलवर्धनः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार विधिपूर्वक यज्ञ समाप्त करके अपने कुलकी वृद्धि करनेवाले पुरुषशिरोमणि राजा दशरथने ऋत्विजोंको सारी पृथ्वी दान कर दी ॥ ४५ ॥

एवं दत्त्वा प्रहृष्टोऽभूच्छ्रीमानिक्ष्वाकुनन्दनः।
ऋत्विजस्त्वब्रुवन् सर्वे राजानं गतकिल्बिषम् ॥ ४६ ॥

यों दान देकर इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीमान् महाराज दशरथके हर्षकी सीमा न रही, परंतु समस्त ऋत्विज उन निष्पाप नरेशसे इस प्रकार बोले— ॥ ४६ ॥

भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति।
न भूम्या कार्यमस्माकं नहि शक्ताः स्म पालने ॥ ४७ ॥

'महाराज! अकेले आप ही इस सम्पूर्ण पृथ्वीकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। हममें इसके पालनकी शक्ति नहीं है; अतः भूमिसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है ॥ ४७ ॥

रताः स्वाध्यायकरणे वयं नित्यं हि भूमिप।
निष्क्रयं किंचिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति ॥ ४८ ॥

'भूमिपाल! हम तो सदा वेदोंके स्वाध्यायमें ही लगे रहते हैं (इस भूमिका पालन हमसे नहीं हो सकता); अतः आप हमें यहाँ इस भूमिका कुछ निष्क्रय (मूल्य) ही दे दें ॥ ४८ ॥

मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम्।
तत् प्रयच्छ नृपश्रेष्ठ धरण्या न प्रयोजनम् ॥ ४९ ॥

'नृपश्रेष्ठ! मणि, रत्न, सुवर्ण, गौ अथवा जो भी वस्तु यहाँ उपस्थित हो, वही हमें दक्षिणारूपसे दे दीजिये। इस धरतीसे हमें कोई प्रयोजन नहीं है' ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो नरपतिर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
गवां शतसहस्राणि दश तेभ्यो ददौ नृपः ॥ ५० ॥
दशकोटिं सुवर्णस्य रजतस्य चतुर्गुणम्।

वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंके ऐसा कहनेपर राजाने उन्हें दस लाख गौएँ प्रदान कीं। दस करोड़ स्वर्णमुद्रा तथा उससे चौगुनी रजतमुद्रा अर्पित की ॥ ५०½ ॥

ऋत्विजस्तु ततः सर्वे प्रददुः सहिता वसु ॥ ५१ ॥
ऋष्यशृङ्गाय मुनये वसिष्ठाय च धीमते।

---

* 'प्रजापतिरश्वमेधमसृजत (प्रजापतिने अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया।)', इस श्रुतिके द्वारा यह सूचित होता है कि पूर्वकालमें ब्रह्माजीने इस महायज्ञका अनुष्ठान किया था। इसमें दक्षिणारूपसे प्रत्येक दिशाके दानका विधान कल्पसूत्रद्वारा किया गया है। यथा—'प्रतिदिशं दक्षिणां ददाति प्राची दिग्घोतुर्दक्षिणा ब्रह्मणः प्रतीच्यध्वर्योरुदीच्युद्गातुः' ॥

तब उन समस्त ऋत्विजोंने एक साथ होकर वह सारा धन मुनिवर ऋष्यश्रृङ्ग तथा बुद्धिमान् वसिष्ठको सौंप दिया ॥ ५१½ ॥

ततस्ते न्यायतः कृत्वा प्रविभागं द्विजोत्तमाः ॥ ५२ ॥
सुप्रीतमनसः सर्वे प्रत्यूचुर्मुदिता भृशम् ।

तदनन्तर उन दोनों महर्षियोंके सहयोगसे उस धनका न्यायपूर्वक बँटवारा करके वे सभी श्रेष्ठ ब्राह्मण मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'महाराज ! इस दक्षिणासे हम लोग बहुत संतुष्ट हैं' ॥ ५२½ ॥

ततः प्रसर्पकेभ्यस्तु हिरण्यं सुसमाहितः ॥ ५३ ॥
जाम्बूनदं कोटिसंख्यं ब्राह्मणेभ्यो ददौ तदा ।

इसके बाद एकाग्रचित्त होकर राजा दशरथने अभ्यागत ब्राह्मणोंको एक करोड़ जाम्बूनद सुवर्णकी मुद्राएँ बाँटीं ॥५३½॥

दरिद्राय द्विजायाथ हस्ताभरणमुत्तमम् ॥ ५४ ॥
कस्मैचिद् याचमानाय ददौ राघवनन्दनः ।

[सारा धन दे देनेके बाद जब कुछ नहीं बच रहा, तब] एक दरिद्र ब्राह्मणने आकर राजासे धनकी याचना की । उस समय उन रघुकुलनन्दन नरेशने उसे अपने हाथका उत्तम आभूषण उतारकर दे दिया ॥ ५४½ ॥

ततः प्रीतेषु विधिवद् द्विजेषु द्विजवत्सलः ॥ ५५ ॥
प्रणाममकरोत् तेषां हर्षव्याकुलितेन्द्रियः ।

तत्पश्चात् जब सभी ब्राह्मण विधिवत् संतुष्ट हो गये, उस समय उनपर स्नेह रखनेवाले नरेशने उन सबको प्रणाम किया । प्रणाम करते समय उनकी सारी इन्द्रियाँ हर्षसे विह्वल हो रही थीं ॥ ५५½ ॥

तस्याशिषोऽथ विविधा ब्राह्मणैः समुदाहृताः ॥ ५६ ॥
उदारस्य नृवीरस्य धरण्यां पतितस्य च ।

पृथ्वीपर पड़े हुए उन उदार नरवीरको ब्राह्मणोंने नाना प्रकारके आशीर्वाद दिये ॥ ५६½ ॥

ततः प्रीतमना राजा प्राप्य यज्ञमनुत्तमम् ॥ ५७ ॥
पापापहं स्वर्नयनं दुस्तरं पार्थिवर्षभैः ।

तदनन्तर उस परम उत्तम यज्ञका पुण्यफल पाकर राजा दशरथके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई । वह यज्ञ उनके सब पापोंका नाश करनेवाला तथा उन्हें स्वर्गलोकमें पहुँचानेवाला था । साधारण राजाओंके लिये उस यज्ञको आदिसे अन्ततक पूर्ण कर लेना बहुत ही कठिन था ॥ ५७½ ॥

ततोऽब्रवीदृष्यश्रृङ्गं राजा दशरथस्तदा ॥ ५८ ॥
कुलस्य वर्धनं तत् तु कर्तुमर्हसि सुव्रत ।

यज्ञ समाप्त होनेपर राजा दशरथने ऋष्यश्रृङ्गसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर ! अब जो कर्म मेरी कुलपरम्पराको बढ़ानेवाला हो, उसका सम्पादन आपको करना चाहिये' ॥ ५८½ ॥

तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः ।
भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वारस्ते कुलोद्वहाः ॥ ५९ ॥

तब द्विजश्रेष्ठ ऋष्यश्रृङ्ग 'तथास्तु' कहकर राजासे बोले—'राजन् ! आपके चार पुत्र होंगे, जो इस कुलके भारको वहन करनेमें समर्थ होंगे' ॥ ५९ ॥

स तस्य वाक्यं मधुरं निशम्य
प्रणम्य तस्मै प्रयतो नृपेन्द्रः ।
जगाम हर्षं परमं महात्मा
तमृष्यश्रृङ्गं पुनरप्युवाच ॥ ६० ॥

उनका यह मधुर वचन सुनकर मन और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाले महामना महाराज दशरथ उन्हें प्रणाम करके बड़े हर्षको प्राप्त हुए तथा उन्होंने ऋष्यश्रृङ्गको पुनः पुत्र-प्राप्ति करानेवाले कर्मका अनुष्ठान करनेके लिये प्रेरित किया ॥ ६० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

ऋष्यश्रृङ्गद्वारा राजा दशरथके पुत्रेष्टि यज्ञका आरम्भ, देवताओंकी प्रार्थनासे ब्रह्माजीका रावणके वधका उपाय ढूँढ़ निकालना तथा भगवान् विष्णुका देवताओंको आश्वासन देना

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किंचिदिदमुत्तरम् ।
लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत् ॥ १ ॥

महात्मा ऋष्यश्रृङ्ग बड़े मेधावी और वेदोंके ज्ञाता थे । उन्होंने थोड़ी देरतक ध्यान लगाकर अपने भावी कर्तव्यका निश्चय किया । फिर ध्यानसे विरत हो वे राजासे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात् ।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः ॥ २ ॥

'महाराज ! मैं आपको पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये अथर्ववेदके मन्त्रोंसे पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करूँगा । वेदोक्त विधिके अनुसार अनुष्ठान करनेपर वह यज्ञ अवश्य सफल होगा' ॥ २ ॥

ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात् ।
जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ३ ॥

यह कहकर उन तेजस्वी ऋषिने पुत्रप्राप्तिके उद्देश्यसे पुत्रेष्टि नामक यज्ञ प्रारम्भ किया और श्रौतविधिके अनुसार अग्निमें आहुति डाली ॥ ३ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
भागप्रतिग्रहार्थं वै समवेता यथाविधि ॥ ४ ॥

तब देवता, सिद्ध, गन्धर्व और महर्षिगण विधिके अनुसार अपना-अपना भाग ग्रहण करनेके लिये उस यज्ञमें एकत्र हुए ॥ ४ ॥

ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः।
अब्रुवँल्लोककर्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः ॥ ५ ॥

उस यज्ञ-सभामें क्रमशः एकत्र होकर (दूसरोंकी दृष्टिसे अदृश्य रहते हुए) सब देवता लोककर्ता ब्रह्माजीसे इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः।
सर्वान् नो बाधते वीर्याच्छासितुं तं न शक्नुमः ॥ ६ ॥

'भगवन् ! रावण नामक राक्षस आपका कृपाप्रसाद पाकर अपने बलसे हम सब लोगोंको बड़ा कष्ट दे रहा है। हममें इतनी शक्ति नहीं ह कि अपने पराक्रमसे उसको दबा सकें ॥ ६ ॥

त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवंस्तदा।
मानयन्तश्च तं नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे ॥ ७ ॥

'प्रभो ! आपने प्रसन्न होकर उसे वर दे दिया है। तबसे हमलोग उस वरका सदा समादर करते हुए उसके सारे अपराधोंको सहते चले आ रहे हैं ॥ ७ ॥

उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥ ८ ॥

'उसने तीनों लोकोंके प्राणियोंका नाकों दम कर रखा है। वह दुष्टात्मा जिनको कुछ ऊँची स्थितिमें देखता है, उन्हीं-के साथ द्वेष करने लगता है। देवराज इन्द्रको परास्त करने-की अभिलाषा रखता है ॥ ८ ॥

ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुरांस्तदा।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥ ९ ॥

'आपके वरदानसे मोहित होकर वह इतना उद्दण्ड हो गया है कि ऋषियों, यक्षों, गन्धर्वों, असुरों तथा ब्राह्मणोंको पीड़ा देता और उनका अपमान करता फिरता है ॥ ९ ॥

नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥ १० ॥

'सूर्य उसको ताप नहीं पहुँचा सकते। वायु उसके पास जोरसे नहीं चलती तथा जिसकी उत्ताल तरङ्गें सदा ऊपर-नीचे होती रहती हैं, वह समुद्र भी रावणको देखकर भयके मारे स्तब्ध-सा हो जाता है—उसमें कम्पन नहीं होता ॥ १० ॥

तन्महन्नो भयं तस्माद् राक्षसाद् घोरदर्शनात्।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्तुमर्हसि ॥ ११ ॥

'वह राक्षस देखनेमें भी बड़ा भयंकर है। उससे हमें महान् भय प्राप्त हो रहा है; अतः भगवन् ! उसके वधके लिये आपको कोई-न-कोई उपाय अवश्य करना चाहिये' ॥ ११ ॥

एवमुक्तः सुरैः सर्वैश्चिन्तयित्वा ततोऽब्रवीत्।
हन्तायं विदितस्तस्य वधोपायो दुरात्मनः ॥ १२ ॥
तेन गन्धर्वयक्षाणां देवतानां च रक्षसाम्।
अवध्योऽस्मीति वागुक्ता तथेत्युक्तं च तन्मया ॥ १३ ॥

समस्त देवताओंके ऐसा कहनेपर ब्रह्माजी कुछ सोचकर बोले—'देवताओ ! लो, उस दुरात्माके वधका उपाय मेरी समझमें आ गया। उसने वर माँगते समय यह बात कही थी कि मैं गन्धर्व, यक्ष, देवता तथा राक्षसोंके हाथसे न मारा जाऊँ। मैंने भी 'तथास्तु' कहकर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली ॥ १२-१३ ॥

नाकीर्तयदवज्ञानात् तद् रक्षो मानुषांस्तदा।
तस्मात् स मानुषाद् वध्यो मृत्युर्नान्योऽस्य विद्यते १४

'मनुष्योंको तो वह तुच्छ समझता था, इसलिये उनके प्रति अवहेलना होनेके कारण उनसे अवध्य होनेका वरदान नहीं माँगा। इसलिये अब मनुष्यके हाथसे ही उसका वध होगा। मनुष्यके सिवा दूसरा कोई उसकी मृत्युका कारण नहीं है' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा प्रियं वाक्यं ब्रह्मणा समुदाहृतम्।
देवा महर्षयः सर्वे प्रहृष्टास्तेऽभवंस्तदा ॥ १५ ॥

ब्रह्माजीकी कही हुई यह प्रिय बात सुनकर उस समय समस्त देवता और महर्षि बड़े प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः ॥ १६ ॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः ॥ १७ ॥
ब्रह्मणा च समागत्य तत्र तस्थौ समाहितः।

इसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु भी मेघके ऊपर स्थित हुए सूर्यकी भाँति गरुड़पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे। उनके शरीरपर पीताम्बर और हाथोंमें शङ्ख, चक्र एवं गदा आदि आयुध शोभा पा रहे थे। उनकी दोनों भुजाओंमें तपाये हुए सुवर्णके बने केयूर प्रकाशित हो रहे थे। उस समय सम्पूर्ण देवताओंने उनकी वन्दना की और वे ब्रह्माजीसे मिलकर सावधानीके साथ सभामें विराजमान हो गये ॥ १६–१७½ ॥

तमब्रुवन् सुराः सर्वे समभिष्टूय संनताः ॥ १८ ॥
त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया।

तब समस्त देवताओंने विनीत भावसे उनकी स्तुति करके

कहा—'सर्वव्यापी परमेश्वर ! हम तीनों लोकोंके हितकी कामनासे आपके ऊपर एक महान् कार्यका भार दे रहे हैं ॥

राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो ॥ १९ ॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।
अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥ २० ॥
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥ २१ ॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम् ।

'प्रभो ! अयोध्याके राजा दशरथ धर्मज्ञ, उदार तथा महर्षियोंके समान तेजस्वी हैं । उनके तीन रानियाँ हैं, जो ह्री, श्री और कीर्ति—इन तीन देवियोंके समान हैं । विष्णुदेव ! आप अपने चार स्वरूप बनाकर राजाकी उन तीनों रानियोंके गर्भसे पुत्ररूपमें अवतार ग्रहण कीजिये । इस प्रकार मनुष्य-रूपमें प्रकट होकर आप संसारके लिये प्रबल कण्टकरूप रावणको, जो देवताओंके लिये अवध्य है, समरभूमिमें मार डालिये ॥ १९—२१½ ॥

स हि देवान् सगन्धर्वान् सिद्धांश्च ऋषिसत्तमान् ॥ २२
राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योद्रेकेण बाधते ।

'वह मूर्ख राक्षस रावण अपने बढ़े हुए पराक्रमसे देवता, गन्धर्व, सिद्ध तथा श्रेष्ठ महर्षियोंको बहुत कष्ट दे रहा है ॥

ऋषयश्च ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ २३ ॥
क्रीडन्तो नन्दनवने रौद्रेण विनिपातिताः ।

'उस रौद्र निशाचरने ऋषियोंको तथा नन्दनवनमें क्रीड़ा करनेवाले गन्धर्वों और अप्सराओंको भी स्वर्गसे भूमिपर गिरा दिया है ॥ २३½ ॥

वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ॥ २४ ॥
सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः ।

'इसलिये मुनियोंसहित हम सब सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष तथा देवता उसके वधके लिये आपकी शरणमें आये हैं ॥ २४½ ॥

त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परंतप ॥ २५ ॥
वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु ।

'शत्रुओंको सन्ताप देनेवाले देव ! आप ही हम सब लोगोंकी परमगति हैं, अतः इन देवद्रोहियोंका वध करनेके लिये आप मनुष्यलोकमें अवतार लेनेका निश्चय कीजिये' ॥

एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ॥ २६ ॥
पितामहपुरोगांस्तान् सर्वलोकनमस्कृतः ।
अब्रवीत् त्रिदशान् सर्वान् समेतान् धर्मसंहितान् ॥ २७ ॥

उनके इस प्रकार स्तुति करनेपर सर्वलोकवन्दित देवप्रवर देवाधिदेव भगवान् विष्णुने वहाँ एकत्र हुए उन समस्त ब्रह्मा आदि धर्मपरायण देवताओंसे कहा—॥ २६-२७ ॥

भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम् ।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम् ॥ २८ ॥
हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम् ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥ २९ ॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् ।

'देवगण ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम भयको त्याग दो । मैं तुम्हारा हित करनेके लिये रावणको पुत्र, पौत्र, अमात्य, मन्त्री और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मार डालूँगा । देवताओं तथा ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा' ॥ २८-२९½ ॥

एवं दत्त्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान् ॥ ३० ॥
मानुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ।

देवताओंको ऐसा वर देकर मनस्वी भगवान् विष्णुने मनुष्यलोकमें पहले अपनी जन्मभूमिके सम्बन्धमें विचार किया ॥

ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ॥ ३१ ॥
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ।

इसके बाद कमलनयन श्रीहरिने अपनेको चार स्वरूपोंमें प्रकट करके राजा दशरथको पिता बनानेका निश्चय किया ॥ ३१½ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वाः सरुद्राः साप्सरोगणाः ।
स्तुतिभिर्दिव्यरूपाभिस्तुष्टुवुर्मधुसूदनम् ॥ ३२ ॥

तब देवता, ऋषि, गन्धर्व, रुद्र तथा अप्सराओंने दिव्य स्तुतियोंके द्वारा भगवान् मधुसूदनका स्तवन किया ॥ ३२ ॥

तमुद्धतं रावणमुग्रतेजसं
प्रवृद्धदर्पं त्रिदशेश्वरद्विषम् ।
विरावणं साधुतपस्विकण्टकं
तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥ ३३ ॥

वे कहने लगे—'प्रभो ! रावण बड़ा उद्दण्ड है । उसका तेज अत्यन्त उग्र और घमंड बहुत बढ़ा-चढ़ा है । वह देवराज इन्द्रसे सदा द्वेष रखता है । तीनों लोकोंको रुलाता है, साधुओं और तपस्वी जनोंके लिये तो वह बहुत बड़ा कण्टक है; अतः तापसोंको भय देनेवाले उस भयानक राक्षस-की आप जड़ उखाड़ डालिये ॥ ३३ ॥

तमेव हत्वा सबलं सबान्धवं
विरावणं रावणमुग्रपौरुषम् ।
स्वर्लोकमागच्छ गतज्वरश्चिरं
सुरेन्द्रगुप्तं गतदोषकल्मषम् ॥ ३४ ॥

'उपेन्द्र ! सारे जगत्‌को रुलानेवाले उस उग्र पराक्रमी रावणको सेना और बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट करके अपनी स्वाभाविक निश्चिन्तताके साथ अपने ही द्वारा सुरक्षित उस चिरन्तन वैकुण्ठधाममें आ जाइये; जिसे राग-द्वेष आदि दोषोंका कलुष कभी छू नहीं पाता है' ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

देवताओंका श्रीहरिसे रावणवधके लिये मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेको कहना, राजाके पुत्रेष्टि यज्ञमें अग्निकुण्डसे प्राजापत्य पुरुषका प्रकट होकर खीर अर्पण करना और उसे खाकर रानियोंका गर्भवती होना

ततो नारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः।
जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर उन श्रेष्ठ देवताओंद्वारा इस प्रकार रावण-वधके लिये नियुक्त होनेपर सर्वव्यापी नारायणने रावणवधके उपायको जानते हुए भी देवताओंसे यह मधुर वचन कहा—॥

उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः।
यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम्॥ २॥

'देवगण! राक्षसराज रावणके वधके लिये कौन-सा उपाय है, जिसका आश्रय लेकर मैं महर्षियोंके लिये कण्टक-रूप उस निशाचरका वध करूँ?' ॥ २॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्विष्णुमव्ययम्।
मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे॥ ३॥

उनके इस तरह पूछनेपर सब देवता उन अविनाशी भगवान् विष्णुसे बोले—'प्रभो! आप मनुष्यका रूप धारण करके युद्धमें रावणको मार डालिये ॥ ३॥

स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिंदमः।
येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः॥ ४॥

'उस शत्रुदमन निशाचरने दीर्घकालतक तीव्र तपस्या की थी, जिससे सब लोगोंके पूर्वज लोकस्रष्टा ब्रह्माजी उसपर प्रसन्न हो गये ॥ ४॥

संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात्॥ ५॥

'उसपर संतुष्ट हुए भगवान् ब्रह्माने उस राक्षसको यह वर दिया कि तुम्हें नाना प्रकारके प्राणियोंमेंसे मनुष्यके सिवा और किसीसे भय नहीं है ॥ ५॥

अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः।
एवं पितामहात् तस्माद् वरदानेन गर्वितः॥ ६॥

'पूर्वकालमें वरदान लेते समय उस राक्षसने मनुष्योंको दुर्बल समझकर उनकी अवहेलना कर दी थी। इस प्रकार पितामहसे मिले हुए वरदानके कारण उसका घमंड बढ़ गया है ॥ ६॥

उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्युपकर्षति।
तस्मात् तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परंतप॥ ७॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले देव! वह तीनों लोकोंको पीड़ा देता और स्त्रियोंका भी अपहरण कर लेता है; अतः उसका वध मनुष्यके हाथसे ही निश्चित हुआ है' ॥ ७॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान्।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम्॥ ८॥

समस्त जीवात्माओंको वशमें रखनेवाले भगवान् विष्णुने देवताओंकी यह बात सुनकर अवतारकालमें राजा दशरथको ही पिता बनानेकी इच्छा की ॥ ८॥

स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन् काले महाद्युतिः।
अयजत् पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः॥ ९॥

उसी समय वे शत्रुसूदन महातेजस्वी नरेश पुत्रहीन होनेके कारण पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे थे ॥ ९॥

स कृत्वा निश्चयं विष्णुरामन्त्र्य च पितामहम्।
अन्तर्धानं गतो देवैः पूज्यमानो महर्षिभिः॥ १०॥

उन्हें पिता बनानेका निश्चय करके भगवान् विष्णु पितामहकी अनुमति ले देवताओं और महर्षियोंसे पूजित हो वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ १०॥

ततो वै यजमानस्य पावकादतुलप्रभम्।
प्रादुर्भूतं महद् भूतं महावीर्यं महाबलम्॥ ११॥

तत्पश्चात् पुत्रेष्टि यज्ञ करते हुए राजा दशरथके यज्ञमें अग्निकुण्डसे एक विशालकाय पुरुष प्रकट हुआ। उसके शरीरमें इतना प्रकाश था, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी। उसका बल-पराक्रम महान् था ॥ ११॥

कृष्णं रक्ताम्बरधरं रक्तास्यं दुन्दुभिस्वनम्।
स्निग्धहर्यक्षतनुजश्मश्रुप्रवरमूर्धजम्॥ १२॥

उसकी अङ्गकान्ति काले रंगकी थी। उसने अपने शरीरपर लाल वस्त्र धारण कर रक्खा था। उसका मुख भी लाल ही था। उसकी वाणीसे दुन्दुभिके समान गम्भीर ध्वनि प्रकट होती थी। उसके रोम, दाढ़ी-मूँछ और बड़े-बड़े केश चिकने और सिंहके समान थे ॥ १२॥

शुभलक्षणसम्पन्नं दिव्याभरणभूषितम्।
शैलशृङ्गसमुत्सेधं दृप्तशार्दूलविक्रमम्॥ १३॥

वह शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित, शैलशिखरके समान ऊँचा तथा गर्वीले सिंहके समान चलनेवाला था ॥ १३॥

दिवाकरसमाकारं दीप्तानलशिखोपमम्।
तप्तजाम्बूनदमयीं राजतान्तपरिच्छदाम्॥ १४॥
दिव्यपायससम्पूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम्।
प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव॥ १५॥

उसकी आकृति सूर्यके समान तेजोमयी थी। वह प्रज्वलित अग्निकी लपटोंके समान देदीप्यमान हो रहा था। उसके हाथमें तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णकी बनी हुई परात थी, जो चाँदीके ढक्कनसे ढँकी हुई थी। वह (परात) थाली बहुत बड़ी थी और दिव्य खीरसे भरी हुई थी। उसे उस पुरुषने स्वयं अपनी दोनों भुजाओंपर इस तरह उठा रखा था, मानो कोई रसिक अपनी प्रियतमा पत्नीको अङ्कमें लिये हुए हो। वह अद्भुत परात मायामयी-सी जान पड़ती थी ॥ १४-१५ ॥

समवेक्ष्याब्रवीद् वाक्यमिदं दशरथं नृपम्।
प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप ॥ १६ ॥

उसने राजा दशरथकी ओर देखकर कहा—'नरेश्वर! मुझे प्रजापतिलोकका पुरुष जानो। मैं प्रजापतिकी ही आज्ञासे यहाँ आया हूँ' ॥ १६ ॥

ततः परं तदा राजा प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किमहं करवाणि ते ॥ १७ ॥

तब राजा दशरथने हाथ जोड़कर उससे कहा—'भगवन्! आपका स्वागत है। कहिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' ॥ १७ ॥

अथो पुनरिदं वाक्यं प्राजापत्यो नरोऽब्रवीत्।
राजन्नर्चयता देवानद्य प्राप्तमिदं त्वया ॥ १८ ॥

फिर उस प्राजापत्य पुरुषने पुनः यह बात कही—'राजन्! तुम देवताओंकी आराधना करते हो; इसीलिये तुम्हें आज यह वस्तु प्राप्त हुई है ॥ १८ ॥

इदं तु नृपशार्दूल पायसं देवनिर्मितम्।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धन्यमारोग्यवर्धनम् ॥ १९ ॥

'नृपश्रेष्ठ! यह देवताओंकी बनायी हुई खीर है, जो संतानकी प्राप्ति करानेवाली है। तुम इसे ग्रहण करो। यह धन और आरोग्यकी भी वृद्धि करनेवाली है ॥ १९ ॥

भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप ॥ २० ॥

'राजन्! यह खीर अपनी योग्य पत्नियोंको दो और कहो—'तुमलोग इसे खाओ।' ऐसा करनेपर उनके गर्भसे आपको अनेक पुत्रोंकी प्राप्ति होगी, जिनके लिये तुम यह यज्ञ कर रहे हो' ॥ २० ॥

तथेति नृपतिः प्रीतः शिरसा प्रतिगृह्य ताम्।
पात्रीं देवान्नसम्पूर्णां देवदत्तां हिरण्मयीम् ॥ २१ ॥
अभिवाद्य च तद्भूतमद्भुतं प्रियदर्शनम्।
मुदा परमया युक्तश्चकाराभिप्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

राजाने प्रसन्नतापूर्वक 'बहुत अच्छा' कहकर उस दिव्य पुरुषकी दी हुई देवान्नसे परिपूर्ण सोनेकी थालीको लेकर उसे अपने मस्तकपर धारण किया। फिर उस अद्भुत एवं प्रियदर्शन पुरुषको प्रणाम करके बड़े आनन्दके साथ उसकी परिक्रमा की ॥ २१-२२ ॥

ततो दशरथः प्राप्य पायसं देवनिर्मितम्।
बभूव परमप्रीतः प्राप्य वित्तमिवाधनः ॥ २३ ॥
ततस्तदद्भुतप्रख्यं भूतं परमभास्वरम्।
संवर्तयित्वा तत् कर्म तत्रैवान्तरधीयत ॥ २४ ॥

इस प्रकार देवताओंकी बनायी हुई उस खीरको पाकर राजा दशरथ बहुत प्रसन्न हुए, मानो निर्धनको धन मिल गया हो। इसके बाद वह परम तेजस्वी अद्भुत पुरुष अपना वह काम पूरा करके वहीं अन्तर्धान हो गया ॥ २३-२४ ॥

हर्षरश्मिभिरुद्द्योतं तस्यान्तःपुरमाबभौ।
शारदस्याभिरामस्य चन्द्रस्येव नभोंऽशुभिः ॥ २५ ॥

उस समय राजाके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ हर्षोल्लाससे बढ़ी हुई कान्तिमयी किरणोंसे प्रकाशित हो ठीक उसी तरह शोभा पाने लगीं, जैसे शरत्कालके नयनाभिराम चन्द्रमाकी रम्य रश्मियोंसे उद्भासित होनेवाला आकाश सुशोभित होता है ॥

सोऽन्तःपुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत्।
पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः ॥ २६ ॥

राजा दशरथ वह खीर लेकर अन्तःपुरमें गये और कौसल्यासे बोले—'देवी! यह अपने लिये पुत्रकी प्राप्ति करनेवाली खीर ग्रहण करो' ॥ २६ ॥

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः ॥ २७ ॥

ऐसा कहकर नरेशने उस समय उस खीरका आधा भाग महारानी कौसल्याको दे दिया। फिर बचे हुए आधेका आधा भाग रानी सुमित्राको अर्पण किया ॥ २७ ॥

कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात्।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम् ॥ २८ ॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महामतिः।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक् ॥ २९ ॥

उन दोनोंको देनेके बाद जितनी खीर बच रही उसका आधा भाग तो उन्होंने पुत्रप्राप्तिके उद्देश्यसे कैकेयीको दे दिया। तत्पश्चात् उस खीरका जो अवशिष्ट आधा भाग था, उस अमृतोपम भागको महाबुद्धिमान् नरेशने कुछ सोच-विचारकर पुनः सुमित्राको ही अर्पित कर दिया। इस प्रकार राजाने अपनी सभी रानियोंको अलग-अलग खीर बाँट दी ॥ २८-२९ ॥

ताश्चैवं पायसं प्राप्य नरेन्द्रस्योत्तमस्त्रियः।
सम्मानं मेनिरे सर्वाः प्रहर्षोदितचेतसः ॥ ३० ॥

महाराजकी उन सभी साध्वी रानियोंने उनके हाथसे वह खीर पाकर अपना सम्मान समझा। उनके चित्तमें अत्यन्त हर्षोल्लास छा गया ॥ ३० ॥

ततस्तु ताः प्राश्य तमुत्तमस्त्रियो
महीपतेरुत्तमपायसं पृथक्।
हुताशनादित्यसमानतेजसो-
ऽचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा॥ ३१॥

उस उत्तम खीरको खाकर महाराजकी उन तीनों साध्वी महारानियोंने शीघ्र ही पृथक्-पृथक् गर्भ धारण किया। उनके वे गर्भ अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी थे॥ ३१॥

ततस्तु राजा प्रतिवीक्ष्य ताः स्त्रियः
प्ररूढगर्भाः प्रतिलब्धमानसः।
बभूव हृष्टस्त्रिदिवे यथा हरिः
सुरेन्द्रसिद्धर्षिगणाभिपूजितः॥ ३२॥

तदनन्तर अपनी उन रानियोंको गर्भवती देख राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने समझा, मेरा मनोरथ सफल हो गया। जैसे स्वर्गमें इन्द्र, सिद्ध तथा ऋषियोंसे पूजित हो श्रीहरि प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार भूतलमें देवेन्द्र, सिद्ध तथा महर्षियोंसे सम्मानित हो राजा दशरथ संतुष्ट हुए थे॥ ३२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षोडशः सर्गः॥ १६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १६॥

सप्तदशः सर्गः

ब्रह्माजीकी प्रेरणासे देवता आदिके द्वारा विभिन्न वानरयूथपतियोंकी उत्पत्ति

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम्॥ १॥

जब भगवान् विष्णु महामनस्वी राजा दशरथके पुत्रभावको प्राप्त हो गये, तब भगवान् ब्रह्माजीने सम्पूर्ण देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः॥ २॥
मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमान् जवे।
नयज्ञान् बुद्धिसम्पन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान्॥ ३॥
असंहार्यानुपायज्ञान् दिव्यसंहननान्वितान्।
सर्वास्त्रगुणसम्पन्नानमृतप्राशनानिव॥ ४॥

'देवगण! भगवान् विष्णु सत्यप्रतिज्ञ, वीर और हम सब लोगोंके हितैषी हैं। तुमलोग उनके सहायकरूपसे ऐसे पुत्रोंकी सृष्टि करो, जो बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, माया जाननेवाले, शूरवीर, वायुके समान वेगशाली, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, विष्णुतुल्य पराक्रमी, किसीसे परास्त न होनेवाले, तरह-तरहके उपायोंके जानकार, दिव्य शरीरधारी तथा अमृतभोजी देवताओंके समान सब प्रकारकी अस्त्रविद्याके गुणोंसे सम्पन्न हों॥ २—४॥

अप्सरस्सु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च।
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च॥ ५॥
किन्नरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान्॥ ६॥

'प्रधान-प्रधान अप्सराओं, गन्धर्वोंकी स्त्रियों, यक्ष और नागोंकी कन्याओं, रीछोंकी स्त्रियों, विद्याधरियों, किन्नरियों तथा वानरियोंके गर्भसे वानररूपमें अपने ही तुल्य पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करो॥ ५-६॥

पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुङ्गवः।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत॥ ७॥

'मैंने पहलेसे ही ऋक्षराज जाम्बवान्की सृष्टि कर रखी है। एक बार मैं जँभाई ले रहा था, उसी समय वह सहसा मेरे मुँहसे प्रकट हो गया'॥ ७॥

ते तथोक्ता भगवता तत् प्रतिश्रुत्य शासनम्।
जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः॥ ८॥

भगवान् ब्रह्माके ऐसा कहनेपर देवताओंने उनकी आज्ञा स्वीकार की और वानररूपमें अनेकानेक पुत्र उत्पन्न किये॥

ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः।
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः॥ ९॥

महात्मा, ऋषि, सिद्ध, विद्याधर, नाग और चारणोंने भी वनमें विचरनेवाले वानर-भालुओंके रूपमें वीर पुत्रोंको जन्म दिया॥ ९॥

वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमात्मजम्।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः॥ १०॥

देवराज इन्द्रने वानरराज वालीको पुत्ररूपमें उत्पन्न किया, जो महेन्द्र पर्वतके समान विशालकाय और बलिष्ठ था। तपनेवालोंमें श्रेष्ठ भगवान् सूर्यने सुग्रीवको जन्म दिया॥ १०॥

बृहस्पतिस्त्वजनयत् तारं नाम महाकपिम्।
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम्॥ ११॥

बृहस्पतिने तार नामक महाकाय वानरको उत्पन्न किया, जो समस्त वानरसरदारोंमें परम बुद्धिमान् और श्रेष्ठ था॥ ११॥

धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरो गन्धमादनः।
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम्॥ १२॥

तेजस्वी वानर गन्धमादन कुबेरका पुत्र था। विश्वकर्माने नल नामक महान् वानरको जन्म दिया॥ १२॥

पावकस्य सुतः श्रीमान् नीलोऽग्निसदृशप्रभः।
तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वीर्यवान्॥ १३॥

अग्निके समान तेजस्वी श्रीमान् नील साक्षात् अग्निदेव-

का ही पुत्र था। वह पराक्रमी वानर तेज, यश और बल-वीर्यमें सबसे बढ़कर था ॥ १३ ॥

रूपद्रविणसम्पन्नावश्विनौ रूपसम्मतौ।
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वयम् ॥ १४ ॥

रूप-वैभवसे सम्पन्न, सुन्दर रूपवाले दोनों अश्विनीकुमारोंने स्वयं ही मैन्द और द्विविदको जन्म दिया था ॥ १४ ॥

वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम्।
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबलः ॥ १५ ॥

वरुणने सुषेण नामक वानरको उत्पन्न किया और महाबली पर्जन्यने शरभको जन्म दिया ॥ १५ ॥

मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान् नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे ॥ १६ ॥

हनुमान् नामवाले ऐश्वर्यशाली वानर वायुदेवताके औरस पुत्र थे। उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ था। वे तेज चलनेमें गरुड़के समान थे ॥ १६ ॥

सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधोद्यताः ॥ १७ ॥

सभी श्रेष्ठ वानरोंमें वे सबसे अधिक बुद्धिमान् और बलवान् थे। इस प्रकार कई हजार वानरोंकी उत्पत्ति हुई। वे सभी रावणका वध करनेके लिये उद्यत रहते थे ॥ १७ ॥

अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः।
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः ॥ १८ ॥

उनके बलकी कोई सीमा नहीं थी। वे वीर, पराक्रमी और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। गजराजों और पर्वतोंके समान महाकाय तथा महाबली थे ॥ १८ ॥

ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञिरे।
यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रमः ॥ १९ ॥
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथक्।
गोलाङ्गूलेषु चोत्पन्नाः किंचिदुन्नतविक्रमाः ॥ २० ॥

रीछ, वानर तथा गोलाङ्गूल (लंगूर) जातिके वीर शीघ्र ही उत्पन्न हो गये। जिस देवताका जैसा रूप, वेष और पराक्रम था, उससे उसीके समान पृथक्-पृथक् पुत्र उत्पन्न हुआ। लंगूरोंमें जो देवता उत्पन्न हुए, वे देवावस्थाकी अपेक्षा भी कुछ अधिक पराक्रमी थे ॥ १९-२० ॥

ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किन्नरीषु च।
देवा महर्षिगन्धर्वास्तार्क्ष्ययक्षा यशस्विनः ॥ २१ ॥
नागाः किंपुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरगाः।
बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रशः ॥ २२ ॥

कुछ वानर रीछ जातिकी माताओंसे तथा कुछ किन्नरियोंसे उत्पन्न हुए। देवता, महर्षि, गन्धर्व, गरुड़, यशस्वी यक्ष, नाग, किम्पुरुष, सिद्ध, विद्याधर तथा सर्प जातिके बहुसंख्यक व्यक्तियोंने अत्यन्त हर्षमें भरकर सहस्रों पुत्र उत्पन्न किये ॥ २१-२२ ॥

चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः।
वानरान् सुमहाकायान् सर्वान् वै वनचारिणः ॥ २३ ॥

देवताओंका गुण गानेवाले वनवासी चारणोंने बहुत-से वीर, विशालकाय वानरपुत्र उत्पन्न किये। वे सब जंगली फल-मूल खानेवाले थे ॥ २३ ॥

अप्सरस्सु च मुख्यासु तथा विद्याधरीषु च।
नागकन्यासु च तदा गन्धर्वीणां तनूषु च।
कामरूपबलोपेता यथाकामविचारिणः ॥ २४ ॥

मुख्य-मुख्य अप्सराओं, विद्याधरियों, नागकन्याओं तथा गन्धर्व-पत्नियोंके गर्भसे भी इच्छानुसार रूप और बलसे युक्त तथा स्वेच्छानुसार सर्वत्र विचरण करनेमें समर्थ वानरपुत्र उत्पन्न हुए ॥ २४ ॥

सिंहशार्दूलसदृशा दर्पेण च बलेन च।
शिलाप्रहरणाः सर्वे सर्वे पर्वतयोधिनः ॥ २५ ॥

वे दर्प और बलमें सिंह और व्याघ्रोंके समान थे। पत्थरकी चट्टानोंसे प्रहार करते और पर्वत उठाकर लड़ते थे ॥ २५ ॥

नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः।
विचालयेयुः शैलेन्द्रान् भेदयेयुः स्थिरान् द्रुमान् ॥ २६ ॥

वे सभी नख और दाँतोंसे भी शस्त्रोंका काम लेते थे। उन सबको सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान था। वे पर्वतोंको भी हिला सकते थे और स्थिरभावसे खड़े हुए वृक्षोंको भी तोड़ डालनेकी शक्ति रखते थे ॥ २६ ॥

क्षोभयेयुश्च वेगेन समुद्रं सरितां पतिम्।
दारयेयुः क्षितिं पद्भ्यामाप्लवेयुर्महार्णवान् ॥ २७ ॥

अपने वेगसे सरिताओंके स्वामी समुद्रको भी क्षुब्ध कर सकते थे। उनमें पैरोंसे पृथ्वीको विदीर्ण कर डालनेकी शक्ति थी। वे महासागरोंको भी लाँघ सकते थे ॥ २७ ॥

नभस्तलं विशेयुश्च गृह्णीयुरपि तोयदान्।
गृह्णीयुरपि मातङ्गान् मत्तान् प्रव्रजतो वने ॥ २८ ॥

वे चाहें तो आकाशमें घुस जायँ, बादलोंको हाथोंसे पकड़ लें तथा वनमें वेगसे चलते हुए मतवाले गजराजोंको भी बन्दी बना लें ॥ २८ ॥

नर्दमानांश्च नादेन पातयेयुर्विहङ्गमान्।
ईदृशानां प्रसूतानि हरीणां कामरूपिणाम् ॥ २९ ॥
शतं शतसहस्राणि यूथपानां महात्मनाम्।
ते प्रधानेषु यूथेषु हरीणां हरियूथपाः ॥ ३० ॥

घोर शब्द करते हुए आकाशमें उड़नेवाले पक्षियोंको भी वे अपने सिंहनादसे गिरा सकते थे। ऐसे बलशाली और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले महाकाय वानर यूथपति

करोड़ोंकी संख्यामें उत्पन्न हुए थे। वे वानरोंके प्रधान यूथोंके भी यूथपति थे ॥ २९-३० ॥

बभूवुर्यूथपश्रेष्ठान् वीरांश्चाजनयन् हरीन्।
अन्ये ऋक्षवतः प्रस्थानुपतस्थुः सहस्रशः ॥ ३१ ॥

उन यूथपतियोंने भी ऐसे वीर वानरोंको उत्पन्न किया था, जो यूथपोंसे भी श्रेष्ठ थे। वे और ही प्रकारके वानर थे—इन प्राकृत वानरोंसे विलक्षण थे। उनमेंसे सहस्रों वानर-यूथपति ऋक्षवान् पर्वतके शिखरोंपर निवास करने लगे ॥ ३१ ॥

अन्ये नानाविधाञ्छैलान् काननानि च भेजिरे।
सूर्यपुत्रं च सुग्रीवं शक्रपुत्रं च वालिनम् ॥ ३२ ॥
भ्रातरावुपतस्थुस्ते सर्वे च हरियूथपाः।
नलं नीलं हनूमन्तमन्यांश्च हरियूथपान् ॥ ३३ ॥
ते तार्क्ष्यबलसम्पन्नाः सर्वे युद्धविशारदाः।
विचरन्तोऽर्दयन् सर्वान् सिंहव्याघ्रमहोरगान् ॥ ३४ ॥

दूसरोंने नाना प्रकारके पर्वतों और जंगलोंका आश्रय लिया। इन्द्रकुमार वाली और सूर्यनन्दन सुग्रीव ये दोनों भाई थे। समस्त वानरयूथपति उन दोनों भाइयोंकी सेवामें उपस्थित रहते थे। इसी प्रकार वे नल-नील, हनुमान् तथा अन्य वानर सरदारोंका आश्रय लेते थे। वे सभी गरुड़के समान बलशाली तथा युद्धकी कलामें निपुण थे। वे वनमें विचरते समय सिंह, व्याघ्र और बड़े-बड़े नाग आदि समस्त वनजन्तुओंको रौंद डालते थे ॥ ३२—३४ ॥

महाबलो महाबाहुर्वाली विपुलविक्रमः।
जुगोप भुजवीर्येण ऋक्षगोपुच्छवानरान् ॥ ३५ ॥

महाबाहु वाली महान् बलसे सम्पन्न तथा विशेष पराक्रमी थे। उन्होंने अपने बाहुबलसे रीछों, लंगूरों तथा अन्य वानरोंकी रक्षा की थी ॥ ३५ ॥

तैरियं पृथिवी शूरैः सपर्वतवनार्णवा।
कीर्णा विविधसंस्थानैर्नानाव्यञ्जनलक्षणैः ॥ ३६ ॥

उन सबके शरीर और पार्थक्यसूचक लक्षण नाना प्रकारके थे। वे शूरवीर वानर पर्वत, वन और समुद्रोंसहित समस्त भूमण्डलमें फैल गये ॥ ३६ ॥

तैर्मेघवृन्दाचलकूटसंनिभै-
र्महाबलैर्वानरयूथपाधिपैः।
बभूव भूर्भीमशरीररूपैः
समावृता रामसहायहेतोः ॥ ३७ ॥

वे वानरयूथपति मेघसमूह तथा पर्वतशिखरके समान विशालकाय थे। उनका बल महान् था। उनके शरीर और रूप भयंकर थे। भगवान् श्रीरामकी सहायताके लिये प्रकट हुए उन वानर वीरोंसे यह सारी पृथ्वी भर गयी थी ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

राजाओं तथा ऋष्यशृङ्गको विदा करके राजा दशरथका रानियोंसहित पुरीमें आगमन; श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके जन्म, संस्कार, शील-स्वभाव एवं सद्गुण, राजाके दरबारमें विश्वामित्रका आगमन और उनका सत्कार

निर्वृत्ते तु क्रतौ तस्मिन् हयमेधे महात्मनः।
प्रतिगृह्यामरा भागान् प्रतिजग्मुर्यथागतम् ॥ १ ॥

महामना राजा दशरथका यज्ञ समाप्त होनेपर देवतालोग अपना-अपना भाग ले जैसे आये थे, वैसे लौट गये ॥ १ ॥

समाप्तदीक्षानियमः पत्नीगणसमन्वितः।
प्रविवेश पुरीं राजा सभृत्यबलवाहनः ॥ २ ॥

दीक्षाका नियम समाप्त होनेपर राजा अपनी पत्नियोंको साथ ले सेवक, सैनिक और सवारियोंसहित पुरीमें प्रविष्ट हुए ॥ २ ॥

यथार्हं पूजितास्तेन राज्ञा च पृथिवीश्वराः।
मुदिताः प्रययुर्देशान् प्रणम्य मुनिपुङ्गवम् ॥ ३ ॥

भिन्न-भिन्न देशोंके राजा भी (जो उनके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये आये थे) महाराज दशरथद्वारा यथावत् सम्मानित हो मुनिवर वसिष्ठ तथा ऋष्यशृङ्गको प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये ॥ ३ ॥

श्रीमतां गच्छतां तेषां स्वगृहाणि पुरात् ततः।
बलानि राज्ञां शुभ्राणि प्रहृष्टानि चकाशिरे ॥ ४ ॥

अयोध्यापुरीसे अपने घरको जाते हुए उन श्रीमान् नरेशोंके शुभ्र सैनिक अत्यन्त हर्षमग्न होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

गतेषु पृथिवीशेषु राजा दशरथः पुनः।
प्रविवेश पुरीं श्रीमान् पुरस्कृत्य द्विजोत्तमान् ॥ ५ ॥

उन राजाओंके विदा हो जानेपर श्रीमान् महाराज दशरथने श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको आगे करके अपनी पुरीमें प्रवेश किया ॥ ५ ॥

शान्तया प्रययौ सार्धमृष्यशृङ्गः सुपूजितः।
अनुगम्यमानो राज्ञा च सानुयात्रेण धीमता ॥ ६ ॥

राजाद्वारा अत्यन्त सम्मानित हो ऋष्यशृङ्ग मुनि भी शान्ताके साथ अपने स्थानको चले गये। उस समय सेवकों-सहित बुद्धिमान् महाराज दशरथ कुछ दूरतक उनके पीछे-पीछे उन्हें पहुँचाने गये थे ॥ ६ ॥

एवं विसृज्य तान् सर्वान् राजा सम्पूर्णमानसः ।
उवास सुखितस्तत्र पुत्रोत्पत्तिं विचिन्तयन् ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन सब अतिथियोंको विदा करके सफल-मनोरथ हुए राजा दशरथ पुत्रोत्पत्तिकी प्रतीक्षा करते हुए वहाँ बड़े सुखसे रहने लगे ॥ ७ ॥

ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः ।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ॥ ८ ॥
नक्षत्रेऽदितिदैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु ।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ॥ ९ ॥
प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ॥ १० ॥

यज्ञ-समाप्तिके पश्चात् जब छः ऋतुएँ बीत गयीं, तब बारहवें मासमें चैत्रके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिको पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्नमें कौसल्यादेवीने दिव्य लक्षणोंसे युक्त, सर्वलोकवन्दित जगदीश्वर श्रीरामको जन्म दिया। उस समय (सूर्य, मङ्गल, शनि, गुरु और शुक्र—ये) पाँच ग्रह अपने-अपने उच्च स्थानमें विद्यमान थे तथा लग्नमें चन्द्रमाके साथ बृहस्पति विराजमान थे ॥ ८–१० ॥

विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम् ।
लोहिताक्षं महाबाहुं रक्तोष्ठं दुन्दुभिस्वनम् ॥ ११ ॥

वे विष्णुस्वरूप हविष्य या खीरके आधे भागसे प्रकट हुए थे। कौसल्याके महाभाग पुत्र श्रीराम इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले थे। उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लालिमा थी। उनके ओठ लाल, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और स्वर दुन्दुभिके शब्दके समान गम्भीर था ॥ ११ ॥

कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ १२ ॥

उस अमिततेजस्वी पुत्रसे महारानी कौसल्याकी बड़ी शोभा हुई, ठीक उसी तरह, जैसे सुरश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्रसे देवमाता अदिति सुशोभित हुई थीं ॥ १२ ॥

भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ।
साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः ॥ १३ ॥

तदनन्तर कैकेयीसे सत्यपराक्रमी भरतका जन्म हुआ, जो साक्षात् भगवान् विष्णुके (स्वरूपभूत पायस—खीर-के) चतुर्थांशसे भी न्यून भागसे प्रकट हुए थे। ये समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे ॥ १३ ॥

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ ॥ १४ ॥

इसके बाद रानी सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन दो पुत्रोंको जन्म दिया। ये दोनों वीर साक्षात् भगवान् विष्णुके अर्धभागसे सम्पन्न और सब प्रकारके अस्त्रोंकी विद्यामें कुशल थे ॥ १४ ॥

पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ॥ १५ ॥

भरत सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। उनका जन्म पुष्य नक्षत्र तथा मीन लग्नमें हुआ था। सुमित्राके दोनों पुत्र आश्लेषा नक्षत्र और कर्कलग्नमें उत्पन्न हुए थे। उस समय सूर्य अपने उच्च स्थानमें विराजमान थे ॥ १५ ॥

राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक् ।
गुणवन्तोऽनुरूपाश्च रुच्या प्रोष्ठपदोपमाः ॥ १६ ॥

राजा दशरथके ये चारों महामनस्वी पुत्र पृथक्-पृथक् गुणोंसे सम्पन्न और सुन्दर थे। ये भाद्रपदा नामक चार तारोंके समान कान्तिमान् थे* ॥ १६ ॥

जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खात् पतत् ॥ १७ ॥

इनके जन्मके समय गन्धर्वोंने मधुर गीत गाये। अप्सराओंने नृत्य किया। देवताओंकी दुन्दुभियाँ बजने लगीं तथा आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी ॥ १७ ॥

उत्सवश्च महानासीदयोध्यायां जनाकुलः ।
रथ्याश्च जनसम्बाधा नटनर्तकसंकुलाः ॥ १८ ॥

अयोध्यामें बहुत बड़ा उत्सव हुआ। मनुष्योंकी भारी भीड़ एकत्र हुई। गलियाँ और सड़कें लोगोंसे खचाखच भरी थीं। बहुत-से नट और नर्तक वहाँ अपनी कलाएँ दिखा रहे थे ॥ १८ ॥

गायनैश्च विराविण्यो वादनैश्च तथापरैः ।
विरेजुर्विपुलास्तत्र सर्वरत्नसमन्विताः ॥ १९ ॥

वहाँ सब ओर गाने-बजानेवाले तथा दूसरे लोगोंके शब्द गूँज रहे थे। दीन-दुखियोंके लिये लुटाये गये सब प्रकारके रत्न वहाँ बिखरे पड़े थे ॥ १९ ॥

प्रदेयांश्च ददौ राजा सूतमागधवन्दिनाम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ वित्तं गोधनानि सहस्रशः ॥ २० ॥

राजा दशरथने सूत, मागध और वन्दीजनोंको देने योग्य पुरस्कार दिये तथा ब्राह्मणोंको धन एवं सहस्रों गोधन प्रदान किये ॥ २० ॥

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत् ।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम् ॥ २१ ॥
सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा ।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा ॥ २२ ॥

* प्रोष्ठपदा कहते हैं—भाद्रपदा नक्षत्रको। उसके दो भेद हैं—पूर्वभाद्रपदा और उत्तरभाद्रपदा। इन दोनोंमें दो-दो तारे हैं। ये सब ज्योतिष-शास्त्रमें प्रसिद्ध हैं। (रा० सि०)

ग्यारह दिन बीतनेपर महाराजने बालकोंका नामकरण-संस्कार किया*। उस समय महर्षि वसिष्ठने प्रसन्नताके साथ सबके नाम रखे। उन्होंने ज्येष्ठ पुत्रका नाम 'राम' रखा। श्रीराम महात्मा (परमात्मा) थे। कैकेयीकुमारका नाम भरत तथा सुमित्राके एक पुत्रका नाम लक्ष्मण और दूसरेका शत्रुघ्न निश्चित किया ॥ २१-२२ ॥

ब्राह्मणान् भोजयामास पौरजानपदानपि।
अददद् ब्राह्मणानां च रत्नौघममलं बहु ॥ २३ ॥

राजाने ब्राह्मणों, पुरवासियों तथा जनपदवासियोंको भी भोजन कराया। ब्राह्मणोंको बहुत-से उज्ज्वल रत्नसमूह दान किये ॥ २३ ॥

तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्।
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ॥ २४ ॥

महर्षि वसिष्ठने समय-समयपर राजासे उन बालकोंके जातकर्म आदि सभी संस्कार करवाये थे। उन सबमें श्रीरामचन्द्रजी ज्येष्ठ होनेके साथ ही अपने कुलकी कीर्ति-ध्वजाको फहरानेवाली पताकाके समान थे। वे अपने पिताकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाले थे ॥ २४ ॥

बभूव भूयो भूतानां स्वयम्भूरिव सम्मतः।
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः ॥ २५ ॥

सभी भूतोंके लिये वे स्वयम्भू ब्रह्माजीके समान विशेष प्रिय थे। राजाके सभी पुत्र वेदोंके विद्वान् और शूरवीर थे। सब-के-सब लोकहितकारी कार्योंमें संलग्न रहते थे ॥ २५ ॥

सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः।
तेषामपि महातेजा रामः सत्यपराक्रमः ॥ २६ ॥
इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः ॥ २७ ॥
धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः।

सभी ज्ञानवान् और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे। उनमें भी सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी सबसे अधिक तेजस्वी और सब लोगोंके विशेष प्रिय थे। वे निष्कलङ्क चन्द्रमाके समान शोभा पाते थे। उन्होंने हाथीके कंधे और घोड़ेकी पीठपर बैठने तथा रथ हाँकनेकी कलामें भी सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त किया था। वे सदा धनुर्वेदका अभ्यास करते और पिताजीकी सेवामें लगे रहते थे ॥ २६-२७½ ॥

बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः ॥ २८ ॥
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यशः।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरतः ॥ २९ ॥

लक्ष्मीकी वृद्धि करनेवाले लक्ष्मण बाल्यावस्थासे ही श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अत्यन्त अनुराग रखते थे। वे अपने बड़े भाई लोकाभिराम श्रीरामका सदा ही प्रिय करते थे और शरीरसे भी उनकी सेवामें ही जुटे रहते थे ॥ २८-२९ ॥

लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिःप्राण इवापरः।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ॥ ३० ॥
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना।

शोभासम्पन्न लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीके लिये बाहर विचरनेवाले दूसरे प्राणके समान थे। पुरुषोत्तम श्रीरामको उनके बिना नींद भी नहीं आती थी। यदि उनके पास उत्तम भोजन लाया जाता तो श्रीरामचन्द्रजी उसमेंसे लक्ष्मणको दिये बिना नहीं खाते थे ॥ ३०½ ॥

यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघवः ॥ ३१ ॥
अथैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनुः परिपालयन्।
भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः ॥ ३२ ॥
प्राणैः प्रियतरो नित्यं तस्य चासीत् तथा प्रियः।

जब श्रीरामचन्द्रजी घोड़ेपर चढ़कर शिकार खेलनेके लिये जाते, उस समय लक्ष्मण धनुष लेकर उनके शरीरकी रक्षा करते हुए पीछे-पीछे जाते थे। इसी प्रकार लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न भरतजीको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय थे और वे भी भरतजीको सदा प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते थे ॥ ३१-३२½ ॥

स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथः प्रियैः ॥ ३३ ॥
बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः।

इन चार महान् भाग्यशाली प्रिय पुत्रोंसे राजा दशरथको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती थी, ठीक वैसे ही जैसे चार देवताओं (दिक्पालों) से ब्रह्माजीको प्रसन्नता होती है ॥

ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः ॥ ३४ ॥
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः।
तेषामेवंप्रभावाणां सर्वेषां दीप्ततेजसाम् ॥ ३५ ॥
पिता दशरथो हृष्टो ब्रह्मा लोकाधिपो यथा।

वे सब बालक जब समझदार हुए, तब समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो गये। वे सभी लज्जाशील, यशस्वी, सर्वज्ञ और दूरदर्शी थे। ऐसे प्रभावशाली और अत्यन्त तेजस्वी उन सभी पुत्रोंकी प्राप्तिसे राजा दशरथ लोकेश्वर ब्रह्माकी भाँति बहुत प्रसन्न थे ॥ ३४-३५½ ॥

ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः ॥ ३६ ॥
पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः।

वे पुरुषसिंह राजकुमार प्रतिदिन वेदोंके स्वाध्याय,

* रामायणतिलकके निर्माताने मूलके एकादशाह शब्दको सूतकके अन्तिम दिनका उपलक्षण माना है। उनका कहना है कि यदि ऐसा न माना जाय तो 'क्षत्रियस्य द्वादशाहं सूतकम्' (क्षत्रियको बारह दिनोंका सूतक लगता है) इस स्मृतिवाक्यसे विरोध होगा; अतः रामजन्मके बारह दिन बीत जानेके बाद तेरहवें दिन राजाने नामकरण-संस्कार किया—ऐसा मानना चाहिये।

पिताकी सेवा तथा धनुर्वेदके अभ्यासमें दत्त-चित्त रहते थे ॥ ३६½ ॥

अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥ ३७ ॥
चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः ॥ ३८ ॥
अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।

एक दिन धर्मात्मा राजा दशरथ पुरोहित तथा बन्धु-बान्धवोंके साथ बैठकर पुत्रोंके विवाहके विषयमें विचार कर रहे थे । मन्त्रियोंके बीचमें विचार करते हुए उन महामना नरेशके यहाँ महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र पधारे ॥

स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह ॥ ३९ ॥
शीघ्रमाख्यात मां प्राप्तं कौशिकं गाधिनः सुतम् ।

वे राजासे मिलना चाहते थे । उन्होंने द्वारपालोंसे कहा—'तुमलोग शीघ्र जाकर महाराजको यह सूचना दो कि कुशिकवंशी गाधिपुत्र विश्वामित्र आये हैं' ॥ ३९½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य राज्ञो वेश्म प्रदुद्रुवुः ॥ ४० ॥
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे तेन वाक्येन चोदिताः ।

उनकी यह बात सुनकर वे द्वारपाल दौड़े हुए राजाके दरबारमें गये । वे सब विश्वामित्रके उस वाक्यसे प्रेरित होकर मन-ही-मन घबराये हुए थे ॥ ४०½ ॥

ते गत्वा राजभवनं विश्वामित्रमृषिं तदा ॥ ४१ ॥
प्राप्तमावेदयामासुर्नृपायेक्ष्वाकवे तदा ।

राजाके दरबारमें पहुँचकर उन्होंने इक्ष्वाकुकुलनन्दन अवधनरेशसे कहा—'महाराज ! महर्षि विश्वामित्र पधारे हैं' ॥ ४१½ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥ ४२ ॥
प्रत्युज्जगाम संहृष्टो ब्रह्माणमिव वासवः ।

उनकी वह बात सुनकर राजा सावधान हो गये । उन्होंने पुरोहितको साथ लेकर बड़े हर्षके साथ उनकी अगवानी की, मानो देवराज इन्द्र ब्रह्माजीका स्वागत कर रहे हों ॥

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम् ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत् ।

विश्वामित्रजी कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे । वे अपने तेजसे प्रज्वलित हो रहे थे । उनका दर्शन करके राजाका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और उन्होंने महर्षिको अर्घ्य निवेदन किया ॥ ४३½ ॥

स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ४४ ॥
कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम् ।

राजाका वह अर्घ्य शास्त्रीय विधिके अनुसार स्वीकार करके महर्षिने उनसे कुशल-मङ्गल पूछा ॥ ४४½ ॥

पुरे कोशे जनपदे बान्धवेषु सुहृत्सु च ॥ ४५ ॥
कुशलं कौशिको राज्ञः पर्यपृच्छत् सुधार्मिकः ।

धर्मात्मा विश्वामित्रने क्रमशः राजाके नगर, खजाना, राज्य, बन्धु-बान्धव तथा मित्रवर्ग आदिके विषयमें कुशलप्रश्न किया—॥ ४५½ ॥

अपि ते संनताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः ॥ ४६ ॥
दैवं च मानुषं चैव कर्म ते साध्वनुष्ठितम् ।

'राजन् ! आपके राज्यकी सीमाके निकट रहनेवाले शत्रु राजा आपके समक्ष नतमस्तक तो हैं ? आपने उनपर विजय तो प्राप्त की है न ? आपके यज्ञयाग आदि देवकर्म और अतिथि-सत्कार आदि मनुष्यकर्म तो अच्छी तरह सम्पन्न होते हैं न ? ॥ ४६½ ॥

वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुङ्गवः ॥ ४७ ॥
ऋषींश्च तान् यथान्यायं महाभाग उवाच ह ।

इसके बाद महाभाग मुनिवर विश्वामित्रने वसिष्ठजी तथा अन्यान्य ऋषियोंसे मिलकर उन सबका यथावत् कुशल-समाचार पूछा ॥ ४७½ ॥

ते सर्वे हृष्टमनसस्तस्य राज्ञो निवेशनम् ॥ ४८ ॥
विविशुः पूजितास्तेन निषेदुश्च यथार्हतः ।

फिर वे सब लोग प्रसन्नचित्त होकर राजाके दरबारमें गये और उनके द्वारा पूजित हो यथायोग्य आसनोंपर बैठे ॥

अथ हृष्टमना राजा विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ ४९ ॥
उवाच परमोदारो हृष्टस्तमभिपूजयन् ।

तदनन्तर प्रसन्नचित्त परम उदार राजा दशरथने पुलकित होकर महामुनि विश्वामित्रकी प्रशंसा करते हुए कहा—॥४९½॥

यथामृतस्य सम्प्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥ ५० ॥
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै ।
प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदयः ॥ ५१ ॥
तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ।
कं च ते परमं कामं करोमि किमु हर्षितः ॥ ५२ ॥

'महामुने ! जैसे किसी मरणधर्मा मनुष्यको अमृतकी प्राप्ति हो जाय, निर्जल प्रदेशमें पानी बरस जाय, किसी संतान-हीनको अपने अनुरूप पत्नीके गर्भसे पुत्र प्राप्त हो जाय, खोयी हुई निधि मिल जाय तथा किसी महान् उत्सवसे हर्षका उदय हो, उसी प्रकार आपका यहाँ शुभागमन हुआ है । ऐसा मैं मानता हूँ । आपका स्वागत है । आपके मनमें कौन-सी उत्तम कामना है, जिसको मैं हर्षके साथ पूर्ण करूँ ? ॥५०—५२॥

पात्रभूतोऽसि मे ब्रह्मन् दिष्ट्या प्राप्तोऽसि मानद ।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ॥ ५३ ॥

'ब्रह्मन् ! आप मुझसे सब प्रकारकी सेवा लेने योग्य उत्तम पात्र हैं । मानद ! मेरा अहोभाग्य है, जो आपने यहाँतक पधारनेका कष्ट उठाया । आज मेरा जन्म सफल और जीवन धन्य हो गया ॥ ५३ ॥

यस्माद् विप्रेन्द्रमद्राक्षं सुप्रभाता निशा मम।
पूर्वं राजर्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः ॥५४॥
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया।
तदद्भुतमभूद् विप्र पवित्रं परमं मम ॥५५॥

'मेरी बीती हुई रात सुन्दर प्रभात दे गयी, जिससे मैंने आज आप ब्राह्मणशिरोमणिका दर्शन किया। पूर्वकालमें आप राजर्षि शब्दसे उपलक्षित होते थे, फिर तपस्यासे अपनी अद्भुत प्रभाको प्रकाशित करके आपने ब्रह्मर्षिका पद पाया; अतः आप राजर्षि और ब्रह्मर्षि दोनों ही रूपोंमें मेरे पूजनीय हैं। आपका जो यहाँ मेरे समक्ष शुभागमन हुआ है, यह परम पवित्र और अद्भुत है ॥ ५४-५५ ॥

शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव संदर्शनात् प्रभो।
ब्रूहि यत् प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति ॥५६॥

'प्रभो! आपके दर्शनसे आज मेरा घर तीर्थ हो गया। मैं अपने आपको पुण्यक्षेत्रोंकी यात्रा करके आया हुआ मानता हूँ। बताइये, आप क्या चाहते हैं? आपके शुभागमनका शुभ उद्देश्य क्या है? ॥ ५६ ॥

इच्छाम्यनुगृहीतोऽहं त्वदर्थं परिवृद्धये।
कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि सुव्रत ॥५७॥

उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! मैं चाहता हूँ कि आपकी कृपासे अनुगृहीत होकर आपके अभीष्ट मनोरथको जान लूँ और अपने अभ्युदयके लिये उसकी पूर्ति करूँ। 'कार्य सिद्ध होगा या नहीं' ऐसे संशयको अपने मनमें स्थान न दीजिये ॥ ५७ ॥

कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान् मम।
मम चायमनुप्राप्तो महानभ्युदयो द्विज।
तवागमनजः कृत्स्नो धर्मश्चानुत्तमो द्विज ॥५८॥

'आप जो भी आज्ञा देंगे, मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगा; क्योंकि सम्माननीय अतिथि होनेके नाते आप मुझ गृहस्थके लिये देवता हैं। ब्रह्मन्! आज आपके आगमनसे मुझे सम्पूर्ण धर्मोंका उत्तम फल प्राप्त हो गया। यह मेरे महान् अभ्युदयका अवसर आया है' ॥ ५८ ॥

इति हृदयसुखं निशम्य वाक्यं
श्रुतिसुखमात्मवता विनीतमुक्तम्।
प्रथितगुणयशा गुणैर्विशिष्टः
परमऋषिः परमं जगाम हर्षम् ॥५९॥

मनस्वी नरेशके कहे हुए ये विनययुक्त वचन, जो हृदय और कानोंको सुख देनेवाले थे, सुनकर विख्यात गुण और यशवाले, शम-दम आदि सद्गुणोंसे सम्पन्न महर्षि विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुए ॥ ५९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

विश्वामित्रके मुखसे श्रीरामको साथ ले जानेकी माँग सुनकर राजा दशरथका दुःखित एवं मूर्छित होना

तच्छ्रुत्वा राजसिंहस्य वाक्यमद्भुतविस्तरम्।
हृष्टरोमा महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथका यह अद्भुत विस्तारसे युक्त वचन सुनकर महातेजस्वी विश्वामित्र पुलकित हो उठे और इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

सदृशं राजशार्दूल तवैव भुवि नान्यतः।
महावंशप्रसूतस्य वसिष्ठव्यपदेशिनः ॥ २ ॥

राजसिंह! ये बातें आपके ही योग्य हैं। इस पृथ्वीपर दूसरेके मुखसे ऐसे उदार वचन निकलनेकी सम्भावना नहीं है। क्यों न हो, आप महान् कुलमें उत्पन्न हैं और वसिष्ठ-जैसे ब्रह्मर्षि आपके उपदेशक हैं ॥ २ ॥

यत् तु मे हृद्गतं वाक्यं तस्य कार्यस्य निश्चयम्।
कुरुष्व राजशार्दूल भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ३ ॥

'अच्छा, अब जो बात मेरे हृदयमें है, उसे सुनिये। नृपश्रेष्ठ! सुनकर उस कार्यको अवश्य पूर्ण करनेका निश्चय कीजिये। आपने मेरा कार्य सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है। इस प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाइये ॥ ३ ॥

अहं नियममातिष्ठे सिद्ध्यर्थं पुरुषर्षभ।
तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥

'पुरुषप्रवर! मैं सिद्धिके लिये एक नियमका अनुष्ठान करता हूँ। उसमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले दो राक्षस विघ्न डाल रहे हैं ॥ ४ ॥

व्रते तु बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ ५ ॥

'मेरे इस नियमका अधिकांश कार्य पूर्ण हो चुका है। अब उसकी समाप्तिके समय वे दो राक्षस आ धमके हैं। उनके नाम हैं मारीच और सुबाहु। वे दोनों बलवान् और सुशिक्षित हैं ॥ ५ ॥

तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तामभ्यवर्षताम्।
अवधूते तथाभूते तस्मिन् नियमनिश्चये ॥ ६ ॥

कृतश्रमो निरुत्साहस्तस्माद् देशादपाक्रमे ।

'उन्होंने मेरी यज्ञवेदीपर रक्त और मांसकी वर्षा कर दी है। इस प्रकार उस समाप्तप्राय नियममें विघ्न पड़ जानेके कारण मेरा परिश्रम व्यर्थ गया और मैं उत्साहहीन होकर उस स्थानसे चला आया ॥ ६½ ॥

न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥ ७ ॥

'पृथ्वीनाथ! उनके ऊपर अपने क्रोधका प्रयोग करूँ—उन्हें शाप दे दूँ, ऐसा विचार मेरे मनमें नहीं आता है ॥ ७ ॥

तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते ।
स्वपुत्रं राजशार्दूल रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ८ ॥
काकपक्षधरं वीरं ज्येष्ठं मे दातुमर्हसि ।

'क्योंकि वह नियम ही ऐसा है, जिसको आरम्भ कर देनेपर किसीको शाप नहीं दिया जाता; अतः नृपश्रेष्ठ! आप अपने काकपच्छधारी, सत्यपराक्रमी, शूरवीर ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको मुझे दे दें ॥ ८½ ॥

शक्तो ह्येष मया गुप्तो दिव्येन स्वेन तेजसा ॥ ९ ॥
राक्षसा ये विकर्तारस्तेषामपि विनाशने ।
श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ॥१०॥

'ये मुझसे सुरक्षित रहकर अपने दिव्य तेजसे उन विघ्नकारी राक्षसोंका नाश करनेमें समर्थ हैं। मैं इन्हें अनेक प्रकारका श्रेय प्रदान करूँगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ९-१० ॥

त्रयाणामपि लोकानां येन ख्यातिं गमिष्यति ।
न च तौ राममासाद्य शक्तौ स्थातुं कथंचन ॥ ११ ॥

'उस श्रेयको पाकर ये तीनों लोकोंमें विख्यात होंगे। श्रीरामके सामने आकर वे दोनों राक्षस किसी तरह ठहर नहीं सकते ॥ ११ ॥

न च तौ राघवादन्यो हन्तुमुत्सहते पुमान् ।
वीर्योत्सिक्तौ हि तौ पापौ कालपाशवशं गतौ ॥ १२ ॥
रामस्य राजशार्दूल न पर्याप्तौ महात्मनः ।

'इन रघुनन्दनके सिवा दूसरा कोई पुरुष उन राक्षसोंको मारनेका साहस नहीं कर सकता। नृपश्रेष्ठ! अपने बलका घमंड रखनेवाले वे दोनों पापी निशाचर कालपाशके अधीन हो गये हैं; अतः महात्मा श्रीरामके सामने नहीं टिक सकते ॥ १२½ ॥

न च पुत्रगतं स्नेहं कर्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १३ ॥
अहं ते प्रतिजानामि हतौ तौ विद्धि राक्षसौ ।

'भूपाल! आप पुत्रविषयक स्नेहको सामने न लाइये। मैं आपसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि उन दोनों राक्षसोंको इनके हाथसे मरा हुआ ही समझिये ॥ १३½ ॥

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ १४ ॥
वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे तपसि स्थिताः ।

'सत्यपराक्रमी महात्मा श्रीराम क्या हैं—यह मैं जानता हूँ। महातेजस्वी वसिष्ठजी तथा ये अन्य तपस्वी भी जानते हैं ॥

यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परमं भुवि ॥ १५ ॥
स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि ।

'राजेन्द्र! यदि आप इस भूमण्डलमें धर्म-लाभ और उत्तम यशको स्थिर रखना चाहते हों तो श्रीरामको मुझे दे दीजिये ॥ १५½ ॥

यद्यभ्यनुज्ञां काकुत्स्थ ददते तव मन्त्रिणः ॥ १६ ॥
वसिष्ठप्रमुखाः सर्वे ततो रामं विसर्जय ।

'ककुत्स्थनन्दन! यदि वसिष्ठ आदि आपके सभी मन्त्री आपको अनुमति दें तो आप श्रीरामको मेरे साथ विदा कर दीजिये ॥ १६½ ॥

अभिप्रेतमसंसक्तमात्मजं दातुमर्हसि ॥ १७ ॥
दशरात्रं हि यज्ञस्य रामं राजीवलोचनम् ।

'मुझे रामको ले जाना अभीष्ट है। ये भी बड़े होनेके कारण अब आसक्तिरहित हो गये हैं; अतः आप यज्ञके अवशिष्ट दस दिनोंके लिये अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामको मुझे दे दीजिये ॥ १७½ ॥

नात्येति कालो यज्ञस्य यथायं मम राघव ॥ १८ ॥
तथा कुरुष्व भद्रं ते मा च शोके मनः कृथाः ।

'रघुनन्दन! आप ऐसा कीजिये जिससे मेरे यज्ञका समय व्यतीत न हो जाय। आपका कल्याण हो। आप अपने मनको शोक और चिन्तामें न डालिये' ॥ १८½ ॥

इत्येवमुक्त्वा धर्मात्मा धर्मार्थसहितं वचः ॥ १९ ॥
विरराम महातेजा विश्वामित्रो महामतिः ।

यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन कहकर धर्मात्मा, महातेजस्वी, परमबुद्धिमान् विश्वामित्रजी चुप हो गये ॥ १९½ ॥

स तन्निशम्य राजेन्द्रो विश्वामित्रवचः शुभम् ॥ २० ॥
शोकेन महताविष्टश्चचाल च मुमोह च ।

विश्वामित्रका यह शुभ वचन सुनकर महाराज दशरथको पुत्र-वियोगकी आशङ्कासे महान् दुःख हुआ। वे उससे पीड़ित हो सहसा काँप उठे और बेहोश हो गये ॥ २०½ ॥

लब्धसंज्ञस्तदोत्थाय व्यषीदत भयान्वितः ॥ २१ ॥
इति हृदयमनोविदारणं
मुनिवचनं तदतीव शुश्रुवान् ।
नरपतिरभवन्महान् महात्मा
व्यथितमनाः प्रचचाल चासनात् ॥ २२ ॥

थोड़ी देर बाद जब उन्हें होश हुआ, तब वे भयभीत हो विषाद करने लगे। विश्वामित्र मुनिका वचन राजाके हृदय और मनको विदीर्ण करनेवाला था। उसे सुनकर उनके मनमें बड़ी व्यथा हुई। वे महामनस्वी महाराज अपने आसनसे विचलित हो मूर्च्छित हो गये ॥ २१-२२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

राजा दशरथका विश्वामित्रको अपना पुत्र देनेसे इनकार करना और विश्वामित्रका कुपित होना

तच्छ्रुत्वा राजशार्दूलो विश्वामित्रस्य भाषितम्।
मुहूर्तमिव निःसंज्ञः संज्ञावानिदमब्रवीत्॥ १॥

विश्वामित्रजीका वचन सुनकर नृपश्रेष्ठ दशरथ दो घड़ीके लिये संज्ञाशून्य-से हो गये। फिर सचेत होकर इस प्रकार बोले—॥ १॥

ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः॥ २॥

'महर्षे! मेरा कमलनयन राम अभी पूरे सोलह वर्षका भी नहीं हुआ है। मैं इसमें राक्षसोंके साथ युद्ध करनेकी योग्यता नहीं देखता॥ २॥

इयमक्षौहिणी सेना यस्याहं पतिरीश्वरः।
अनया सहितो गत्वा योद्धाहं तैर्निशाचरैः॥ ३॥

'यह मेरी अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं पालक और स्वामी भी हूँ। इस सेनाके साथ मैं स्वयं ही चलकर उन निशाचरोंके साथ युद्ध करूँगा॥ ३॥

इमे शूराश्च विक्रान्ता भृत्या मेऽस्त्रविशारदाः।
योग्या रक्षोगणैर्योद्धुं न रामं नेतुमर्हसि॥ ४॥

'ये मेरे शूरवीर सैनिक, जो अस्त्रविद्यामें कुशल और पराक्रमी हैं, राक्षसोंके साथ जूझनेकी योग्यता रखते हैं; अतः इन्हें ही ले जाइये; रामको ले जाना उचित नहीं होगा॥ ४॥

अहमेव धनुष्पाणिर्गोप्ता समरमूर्धनि।
यावत्प्राणान् धरिष्यामि तावद् योत्स्ये निशाचरैः॥५॥

'मैं स्वयं ही हाथमें धनुष ले युद्धके मुहानेपर रहकर आपके यज्ञकी रक्षा करूँगा और जबतक इस शरीरमें प्राण रहेंगे तबतक निशाचरोंके साथ लड़ता रहूँगा॥ ५॥

निर्विघ्ना व्रतचर्या सा भविष्यति सुरक्षिता।
अहं तत्र गमिष्यामि न रामं नेतुमर्हसि॥ ६॥

'मेरे द्वारा सुरक्षित होकर आपका नियमानुष्ठान बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण होगा; अतः मैं ही वहाँ आपके साथ चलूँगा। आप रामको न ले जाइये॥ ६॥

बालो ह्यकृतविद्यश्च न च वेत्ति बलाबलम्।
न चास्त्रबलसंयुक्तो न च युद्धविशारदः॥ ७॥

'मेरा राम अभी बालक है। इसने अभीतक युद्धकी विद्या ही नहीं सीखी है। यह दूसरेके बलाबलको नहीं जानता है। न तो यह अस्त्र-बलसे सम्पन्न है और न युद्धकी कलामें निपुण ही॥ ७॥

न चासौ रक्षसां योग्यः कूटयुद्धा हि राक्षसाः।
विप्रयुक्तो हि रामेण मुहूर्तमपि नोत्सहे॥ ८॥
जीवितुं मुनिशार्दूल न रामं नेतुमर्हसि।
यदि वा राघवं ब्रह्मन् नेतुमिच्छसि सुव्रत॥ ९॥
चतुरङ्गसमायुक्तं मया सह च तं नय।

'अतः यह राक्षसोंसे युद्ध करने योग्य नहीं है; क्योंकि राक्षस मायासे—छल-कपटसे युद्ध करते हैं। इसके सिवा रामसे वियोग हो जानेपर मैं दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता। मुनिश्रेष्ठ! इसलिये आप मेरे रामको न ले जाइये। अथवा ब्रह्मन्! यदि आपकी इच्छा रामको ही ले जानेकी हो तो चतुरङ्गिणी सेनाके साथ मैं भी चलता हूँ। मेरे साथ इसे ले चलिये॥ ८-९½॥

षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक॥ १०॥
कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि।

'कुशिकनन्दन! मेरी अवस्था साठ हजार वर्षकी हो गयी। इस बुढ़ापेमें बड़ी कठिनाईसे मुझे पुत्रकी प्राप्ति हुई है, अतः आप रामको न ले जाइये॥ १०½॥

चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम॥ ११॥
ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि।

'धर्मप्रधान राम मेरे चारों पुत्रोंमें ज्येष्ठ है; इसलिये उसपर मेरा प्रेम सबसे अधिक है; अतः आप रामको न ले जाइये॥

किंवीर्या राक्षसास्ते च कस्य पुत्राश्च के च ते॥ १२॥
कथं प्रमाणाः के चैतान् रक्षन्ति मुनिपुङ्गव।
कथं च प्रतिकर्तव्यं तेषां रामेण रक्षसाम्॥ १३॥

'वे राक्षस कैसे पराक्रमी हैं, किसके पुत्र हैं और कौन हैं? उनका डील-डौल कैसा है? मुनीश्वर! उनकी रक्षा कौन करते हैं? राम उन राक्षसोंका सामना कैसे कर सकता है?॥ १२-१३॥

मामकैर्वा बलैर्ब्रह्मन् मया वा कूटयोधिनाम्।
सर्वं मे शंस भगवन् कथं तेषां मया रणे॥ १४॥
स्थातव्यं दुष्टभावानां वीर्योत्सिक्ता हि राक्षसाः।

'ब्रह्मन्! मेरे सैनिकोंको या स्वयं मुझे ही उन माया-योधी राक्षसोंका प्रतीकार कैसे करना चाहिये? भगवन्! ये सारी बातें आप मुझे बताइये। उन दुष्टोंके साथ युद्धमें मुझे कैसे खड़ा होना चाहिये? क्योंकि राक्षस बड़े बलाभिमानी होते हैं'॥ १४½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत॥ १५॥
पौलस्त्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः।
स ब्रह्मणा दत्तवरस्त्रैलोक्यं बाधते भृशम्॥ १६॥
महाबलो महावीर्यो राक्षसैर्बहुभिर्वृतः।

श्रूयते च महाराज रावणो राक्षसाधिपः ॥ १७ ॥
साक्षाद्वैश्रवणभ्राता पुत्रो विश्रवसो मुनेः ।

राजा दशरथकी इस बातको सुनकर विश्वामित्रजी बोले—'महाराज ! रावण नामसे प्रसिद्ध एक राक्षस है, जो महर्षि पुलस्त्यके कुलमें उत्पन्न हुआ है । उसे ब्रह्माजीसे मुँहमाँगा वरदान प्राप्त हुआ है; जिससे महान् बलशाली और महापराक्रमी होकर बहुसंख्यक राक्षसोंसे घिरा हुआ वह निशाचर तीनों लोकोंके निवासियोंको अत्यन्त कष्ट दे रहा है । सुना जाता है कि राक्षसराज रावण विश्रवा मुनिका औरस पुत्र तथा साक्षात् कुबेरका भाई है ॥ १५—१७½ ॥

यदा न खलु यज्ञस्य विघ्नकर्ता महाबलः ॥ १८ ॥
तेन संचोदितौ तौ तु राक्षसौ च महाबलौ ।
मारीचश्च सुबाहुश्च यज्ञविघ्नं करिष्यतः ॥ १९ ॥

'वह महाबली निशाचर इच्छा रहते हुए भी स्वयं आकर यज्ञमें विघ्न नहीं डालता (अपने लिये इसे तुच्छ कार्य समझता है); इसलिये उसकी प्रेरणासे दो महान् बलवान् राक्षस मारीच और सुबाहु यज्ञोंमें विघ्न डाला करते हैं' ॥ १८-१९ ॥

इत्युक्तो मुनिना तेन राजोवाच मुनिं तदा ।
नहि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः ॥ २० ॥

विश्वामित्र मुनिके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ उनसे इस प्रकार बोले—'मुनिवर ! मैं उस दुरात्मा रावणके सामने युद्धमें नहीं ठहर सकता ॥ २० ॥

स त्वं प्रसादं धर्मज्ञ कुरुष्व मम पुत्रके ।
मम चैवाल्पभाग्यस्य दैवतं हि भवान् गुरुः ॥ २१ ॥

'धर्मज्ञ महर्षे ! आप मेरे पुत्रपर तथा मुझ मन्दभागी दशरथपर भी कृपा कीजिये; क्योंकि आप मेरे देवता तथा गुरु हैं ॥

देवदानवगन्धर्वा यक्षाः पतगपन्नगाः ।
न शक्ता रावणं सोढुं किं पुनर्मानवा युधि ॥ २२ ॥

'युद्धमें रावणका वेग तो देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, गरुड़ और नाग भी नहीं सह सकते; फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ॥ २२ ॥

स तु वीर्यवतां वीर्यमादत्ते युधि रावणः ।
तेन चाहं न शक्तोऽस्मि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥ २३ ॥
सबलो वा मुनिश्रेष्ठ सहितो वा ममात्मजैः ।

'मुनिश्रेष्ठ ! रावण समराङ्गणमें बलवानोंके बलका अपहरण कर लेता है, अतः मैं अपनी सेना और पुत्रोंके साथ रहकर भी उससे तथा उसके सैनिकोंसे युद्ध करनेमें असमर्थ हूँ ॥ २३½ ॥

कथमप्यमरप्रख्यं संग्रामाणामकोविदम् ॥ २४ ॥
बालं मे तनयं ब्रह्मन् नैव दास्यामि पुत्रकम् ।

'ब्रह्मन् ! यह मेरा देवोपम पुत्र युद्धकी कलासे सर्वथा अनभिज्ञ है । इसकी अवस्था भी अभी बहुत थोड़ी है; इसलिये मैं इसे किसी तरह नहीं दूँगा ॥ २४½ ॥

अथ कालोपमौ युद्धे सुतौ सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २५ ॥
यज्ञविघ्नकरौ तौ ते नैव दास्यामि पुत्रकम् ।
मारीचश्च सुबाहुश्च वीर्यवन्तौ सुशिक्षितौ ॥ २६ ॥

'मारीच और सुबाहु सुप्रसिद्ध दैत्य सुन्द और उपसुन्दके पुत्र हैं । वे दोनों युद्धमें यमराजके समान हैं । यदि वे ही आपके यज्ञमें विघ्न डालनेवाले हैं तो मैं उनका सामना करनेके लिये अपने पुत्रको नहीं दूँगा; क्योंकि वे दोनों प्रबल पराक्रमी और युद्धविषयक उत्तम शिक्षासे सम्पन्न हैं ॥ २५-२६ ॥

तयोरन्यतरं योद्धुं यास्यामि ससुहृद्गणः ।
अन्यथा त्वनुनेष्यामि भवन्तं सहबान्धवः ॥ २७ ॥

'मैं उन दोनोंमेंसे किसी एकके साथ युद्ध करनेके लिये अपने सुहृदोंके साथ चलूँगा; अन्यथा—यदि आप मुझे न ले जाना चाहें तो मैं भाई-बन्धुओंसहित आपसे अनुनय-विनय करूँगा कि आप रामको छोड़ दें' ॥ २७ ॥

इति नरपतिजल्पनाद् द्विजेन्द्रं
कुशिकसुतं सुमहान् विवेश मन्युः ।
सुहुत इव मखेऽग्निराज्यसिक्तः
समभवदुज्ज्वलितो महर्षिवह्निः ॥२८॥

राजा दशरथके ऐसे वचन सुनकर विप्रवर कुशिकनन्दन विश्वामित्रके मनमें महान् क्रोधका आवेश हो आया, जैसे यज्ञशालामें अग्निको भलीभाँति आहुति देकर घीकी धारासे अभिषिक्त कर दिया जाय और वह प्रज्वलित हो उठे, उसी तरह अग्नितुल्य तेजस्वी महर्षि विश्वामित्र भी क्रोधसे जल उठे ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

विश्वामित्रके रोषपूर्ण वचन तथा वसिष्ठका राजा दशरथको समझाना

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य स्नेहपर्याकुलाक्षरम् ।
समन्युः कौशिको वाक्यं प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

राजा दशरथकी बातके एक-एक अक्षरमें पुत्रके प्रति स्नेह भरा हुआ था, उसे सुनकर महर्षि

विश्वामित्र कुपित हो उनसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि ।
राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः ॥ २ ॥

'राजन् ! पहले मेरी माँगी हुई वस्तुके देनेकी प्रतिज्ञा करके अब तुम उसे तोड़ना चाहते हो । प्रतिज्ञाका यह त्याग रघुवंशियोंके योग्य तो नहीं है । यह बर्ताव तो इस कुलके विनाशका सूचक है ॥ २ ॥

यदीदं ते क्षमं राजन् गमिष्यामि यथागतम् ।
मिथ्याप्रतिज्ञः काकुत्स्थ सुखी भव सुहृद्वृतः ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! यदि तुम्हें ऐसा ही उचित प्रतीत होता है तो मैं जैसे आया था, वैसे ही लौट जाऊँगा । ककुत्स्थकुलके रत्न ! अब तुम अपनी प्रतिज्ञा झूठी करके हितैषी सुहृदोंसे घिरे रहकर सुखी रहो' ॥ ३ ॥

तस्य रोषपरीतस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
चचाल वसुधा कृत्स्ना देवानां च भयं महत् ॥ ४ ॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रके कुपित होते ही सारी पृथ्वी काँप उठी और देवताओंके मनमें महान् भय समा गया ॥ ४ ॥

त्रस्तरूपं तु विज्ञाय जगत् सर्वं महानृषिः ।
नृपतिं सुव्रतो धीरो वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

उनके रोषसे सारे संसारको ध्वस्त हुआ जान उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धीरचित्त महर्षि वसिष्ठने राजासे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले जातः साक्षाद् धर्म इवापरः ।
धृतिमान् सुव्रतः श्रीमान् न धर्मं हातुमर्हसि ॥ ६ ॥

'महाराज ! आप इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके कुलमें साक्षात् दूसरे धर्मके समान उत्पन्न हुए हैं । धैर्यवान्, उत्तम व्रतके पालक तथा श्रीसम्पन्न हैं । आपको अपने धर्मका परित्याग नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥

त्रिषु लोकेषु विख्यातो धर्मात्मा इति राघवः ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व नाधर्मं वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥

''रघुकुलभूषण दशरथ बड़े धर्मात्मा हैं', यह बात तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है । अतः आप अपने धर्मका ही पालन कीजिये; अधर्मका भार सिरपर न उठाइये ॥ ७ ॥

प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः ।
इष्टापूर्तवधो भूयात् तस्माद् रामं विसर्जय ॥ ८ ॥

''मैं अमुक कार्य करूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके भी जो उस वचनका पालन नहीं करता, उसके यज्ञ-यागादि इष्ट तथा बावली-तालाब बनवाने आदि पूर्त कर्मोंके पुण्यका नाश हो जाता है, अतः आप श्रीरामको विश्वामित्रजीके साथ भेज दीजिये ॥ ८ ॥

कृतास्त्रमकृतास्त्रं वा नैनं शक्ष्यन्ति राक्षसाः ।
गुप्तं कुशिकपुत्रेण ज्वलनेनामृतं यथा ॥ ९ ॥

'ये अस्त्रविद्या जानते हों या न जानते हों, राक्षस इनका सामना नहीं कर सकते । जैसे प्रज्वलित अग्निद्वारा सुरक्षित अमृतपर कोई हाथ नहीं लगा सकता, उसी प्रकार कुशिकनन्दन विश्वामित्रसे सुरक्षित हुए श्रीरामका वे राक्षस कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते ॥ ९ ॥

एष विग्रहवान् धर्म एष वीर्यवतां वरः ।
एष विद्याधिको लोके तपसश्च परायणम् ॥ १० ॥

'ये श्रीराम तथा महर्षि विश्वामित्र साक्षात् धर्मकी मूर्ति हैं । ये बलवानोंमें श्रेष्ठ हैं । विद्याके द्वारा ही ये संसारमें सबसे बढ़े-चढ़े हैं । तपस्याके तो ये विशाल भण्डार ही हैं ॥

एषोऽस्त्रान् विविधान् वेत्ति त्रैलोक्ये सचराचरे ।
नैनमन्यः पुमान् वेत्ति न च वेत्स्यन्ति केचन ॥ ११ ॥

'चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंमें जो नाना प्रकारके अस्त्र हैं, उन सबको ये जानते हैं । इन्हें मेरे सिवा दूसरा कोई पुरुष न तो अच्छी तरह जानता है और न कोई जानेंगे ही ॥

न देवा नर्षयः केचिन्नामरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ १२ ॥

'देवता, ऋषि, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर तथा बड़े-बड़े नाग भी इनके प्रभावको नहीं जानते हैं ॥ १२ ॥

सर्वास्त्राणि कृशाश्वस्य पुत्राः परमधार्मिकः ।
कौशिकाय पुरा दत्ता यदा राज्यं प्रशासति ॥ १३ ॥

'प्रायः सभी अस्त्र प्रजापति कृशाश्वके परम धर्मात्मा पुत्र हैं । उन्हें प्रजापतिने पूर्वकालमें कुशिकनन्दन विश्वामित्रको, जब कि वे राज्यशासन करते थे, समर्पित कर दिया था ॥ १३ ॥

तेऽपि पुत्राः कृशाश्वस्य प्रजापतिसुतासुताः ।
नैकरूपा महावीर्या दीप्तिमन्तो जयावहाः ॥ १४ ॥

'कृशाश्वके वे पुत्र प्रजापति दक्षकी दो पुत्रियोंकी संतानें हैं । उनके अनेक रूप हैं । वे सब-के-सब महान् शक्तिशाली, प्रकाशमान और विजय दिलानेवाले हैं ॥ १४ ॥

जया च सुप्रभा चैव दक्षकन्ये सुमध्यमे ।
ते सूतेऽस्त्राणि शस्त्राणि शतं परमभास्वरम् ॥ १५ ॥

'प्रजापति दक्षकी दो सुन्दरी कन्याएँ हैं, उनके नाम हैं जया और सुप्रभा । उन दोनोंने एक सौ परम प्रकाशमान अस्त्र-शस्त्रोंको उत्पन्न किया है ॥ १५ ॥

पञ्चाशतं सुताँल्लेभे जया लब्धवरा वरान् ।
वधायासुरसैन्यानामप्रमेयानरूपिणः ॥ १६ ॥

'उनमेंसे जयाने वर पाकर पचास श्रेष्ठ पुत्रोंको प्राप्त किया है, जो अपरिमित शक्तिशाली और रूपरहित हैं । वे सब-के-सब असुरोंकी सेनाओंका वध करनेके लिये प्रकट हुए हैं ॥ १६ ॥

सुप्रभाजनयच्चापि पुत्रान् पञ्चाशतं पुनः ।
संहारान् नाम दुर्धर्षान् दुराक्रामान् बलीयसः ॥ १७ ॥

'फिर सुप्रभाने भी संहार नामक पचास पुत्रोंको जन्म दिया, जो अत्यन्त दुर्जय हैं। उनपर आक्रमण करना किसीके लिये भी सर्वथा कठिन है तथा वे सब-के-सब अत्यन्त बलिष्ठ हैं ॥ १७ ॥

तानि चास्त्राणि वेत्त्येष यथावत् कुशिकात्मजः ।
अपूर्वाणां च जनने शक्तो भूयश्च धर्मवित् ॥ १८ ॥

'ये धर्मज्ञ कुशिकनन्दन उन सब अस्त्र-शस्त्रोंको अच्छी तरह जानते हैं। जो अस्त्र अबतक उपलब्ध नहीं हुए हैं, उनको भी उत्पन्न करनेकी उनमें पूर्ण शक्ति है ॥ १८ ॥

तेनास्य मुनिमुख्यस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः ।
न किञ्चिदस्त्यविदितं भूतं भव्यं च राघव ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! इसलिये इन मुनिश्रेष्ठ धर्मज्ञ महात्मा विश्वामित्रजीसे भूत या भविष्यकी कोई बात छिपी नहीं है ॥

एवंवीर्यो महातेजा विश्वामित्रो महायशाः ।
न रामगमने राजन् संशयं गन्तुमर्हसि ॥ २० ॥

'राजन् ! ये महातेजस्वी, महायशस्वी विश्वामित्र ऐसे प्रभावशाली हैं । अतः इनके साथ रामको भेजनेमें आप किसी प्रकारका संदेह न करें ॥ २० ॥

तेषां निग्रहणे शक्तः स्वयं च कुशिकात्मजः ।
तव पुत्रहितार्थाय त्वामुपेत्याभियाचते ॥ २१ ॥

'महर्षि कौशिक स्वयं भी उन राक्षसोंका संहार करनेमें समर्थ हैं; किंतु ये आपके पुत्रका कल्याण करना चाहते हैं, इसीलिये यहाँ आकर आपसे याचना कर रहे हैं' ॥ २१ ॥

इति मुनिवचनात् प्रसन्नचित्तो
रघुवृषभश्च मुमोद पार्थिवाग्र्यः ।
गमनमभिरुरोच राघवस्य
प्रथितयशाः कुशिकात्मजाय बुद्ध्या॥ २२ ॥

महर्षि वसिष्ठके इस वचनसे विख्यात यशवाले रघुकुल-शिरोमणि नृपश्रेष्ठ दशरथका मन प्रसन्न हो गया। वे आनन्द-मग्न हो गये और बुद्धिसे विचार करनेपर विश्वामित्रजीकी प्रसन्नताके लिये उनके साथ श्रीरामका जाना उन्हें रुचिके अनुकूल प्रतीत होने लगा ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

राजा दशरथका स्वस्तिवाचनपूर्वक राम-लक्ष्मणको मुनिके साथ भेजना, मार्गमें उन्हें विश्वामित्रसे बला और अतिबला नामक विद्याकी प्राप्ति

तथा वसिष्ठे ब्रुवति राजा दशरथः स्वयम् ।
प्रहृष्टवदनो राममाजुहाव सलक्ष्मणम् ॥ १ ॥
कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च ।
पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमन्त्रितम् ॥ २ ॥

वसिष्ठके ऐसा कहनेपर राजा दशरथका मुख प्रसन्नता-से खिल उठा । उन्होंने स्वयं ही लक्ष्मणसहित श्रीरामको अपने पास बुलाया । फिर माता कौसल्या, पिता दशरथ और पुरोहित वसिष्ठने स्वस्तिवाचन करनेके पश्चात् उनका यात्रासम्बन्धी मङ्गलकार्य सम्पन्न किया—श्रीरामको मङ्गल-सूचक मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित किया गया ॥ १-२ ॥

स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा ।
ददौ कुशिकपुत्राय सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ ३ ॥

तदनन्तर राजा दशरथने पुत्रका मस्तक सूँघकर अत्यन्त प्रसन्नचित्तसे उसको विश्वामित्रको सौंप दिया ॥ ३ ॥

ततो वायुः सुखस्पर्शो नीरजस्को ववौ तदा ।
विश्वामित्रगतं रामं दृष्ट्वा राजीवलोचनम् ॥ ४ ॥
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषः प्रयाते तु महात्मनि ॥ ५ ॥

उस समय धूलरहित सुखदायिनी वायु चलने लगी । कमलनयन श्रीरामको विश्वामित्रजीके साथ जाते देख देवताओंने आकाशसे वहाँ फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा की । देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं । महात्मा श्रीरामकी यात्राके समय शङ्खों और नगाड़ोंकी ध्वनि होने लगी ॥ ४-५ ॥

विश्वामित्रो ययावग्रे ततो रामो महायशाः ।
काकपक्षधरो धन्वी तं च सौमित्रिरन्वगात् ॥ ६ ॥

आगे-आगे विश्वामित्र, उनके पीछे काकपक्षधारी महा-यशस्वी श्रीराम तथा उनके पीछे सुमित्राकुमार लक्ष्मण जा रहे थे ॥ ६ ॥

कलापिनौ धनुष्पाणी शोभयानौ दिशो दश ।
विश्वामित्रं महात्मानं त्रिशीर्षाविव पन्नगौ ॥ ७ ॥

उन दोनों भाइयोंने पीठपर तरकस बाँध रखे थे । उनके हाथोंमें धनुष शोभा पा रहे थे तथा वे दोनों दसों दिशाओंको सुशोभित करते हुए महात्मा विश्वामित्रके पीछे तीन-तीन फन-वाले दो सर्पोंके समान चल रहे थे । एक ओर कंधेपर धनुष, दूसरी ओर पीठपर तूणीर और बीचमें मस्तक—इन्हीं तीनोंकी तीन फनसे उपमा दी गयी है ॥ ७ ॥

अनुजग्मतुरक्षुद्रौ पितामहमिवाश्विनौ ।
अनुयातौ श्रिया दीप्तौ शोभयन्तावनिन्दितौ ॥ ८ ॥

उनका स्वभाव उच्च एवं उदार था। अपनी अनुपम कान्तिसे प्रकाशित होनेवाले वे दोनों अनिन्द्य-सुन्दर राजकुमार सब ओर शोभाका प्रसार करते हुए विश्वामित्रजीके पीछे उसी तरह जा रहे थे, जैसे ब्रह्माजीके पीछे दोनों अश्विनीकुमार चलते हैं ॥ ८ ॥

तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ ।
बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती ॥ ९ ॥
कुमारौ चारुवपुषौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
अनुयातौ श्रिया दीप्तौ शोभयेतामनिन्दितौ ॥ १० ॥
स्थाणुं देवमिवाचिन्त्यं कुमाराविव पावकी ।

वे दोनों भाई कुमार श्रीराम और लक्ष्मण वस्त्र और आभूषणोंसे अच्छी तरह अलंकृत थे। उनके हाथोंमें धनुष थे। उन्होंने अपने हाथोंकी अङ्गुलियोंमें गोहटीके चमड़ेके बने हुए दस्ताने पहन रखे थे। उनके कटिप्रदेशमें तलवारें लटक रही थीं। उनके श्रीअङ्ग बड़े मनोहर थे। वे महातेजस्वी श्रेष्ठ वीर अद्भुत कान्तिसे उद्भासित हो सब ओर अपनी शोभा फैलाते हुए कुशिकपुत्र विश्वामित्रका अनुसरण कर रहे थे। उस समय वे दोनों वीर अचिन्त्य शक्तिशाली स्थाणुदेव (महादेव) के पीछे चलनेवाले दो अग्निकुमार स्कन्द और विशाखकी भाँति शोभा पाते थे ॥ ९-१०½ ॥

अध्यर्धयोजनं गत्वा सरय्वा दक्षिणे तटे ॥ ११ ॥
रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १२ ॥

अयोध्यासे डेढ़ योजन दूर जाकर सरयूके दक्षिण तटपर विश्वामित्रने मधुर वाणीमें रामको सम्बोधित किया और कहा— 'वत्स राम ! अब सरयूके जलसे आचमन करो। इस आवश्यक कार्यमें विलम्ब न हो ॥ ११-१२ ॥

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा ।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥ १३ ॥

'बला और अतिबला नामसे प्रसिद्ध इस मन्त्र-समुदायको ग्रहण करो। इसके प्रभावसे तुम्हें कभी श्रम (थकावट) का अनुभव नहीं होगा। ज्वर (रोग या चिन्ताजनित कष्ट) नहीं होगा। तुम्हारे रूपमें किसी प्रकारका विकार या उलट-फेर नहीं होने पायेगा ॥ १३ ॥

न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः ।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥ १४ ॥

'सोते समय अथवा असावधानीकी अवस्थामें भी राक्षस तुम्हारे ऊपर आक्रमण नहीं कर सकेंगे। इस भूतलपर बाहुबलमें तुम्हारी समानता करनेवाला कोई न होगा ॥ १४ ॥

त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत् सदृशस्तव ।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव ॥ १५ ॥

'तात ! रघुकुलनन्दन राम ! बला और अतिबलाका अभ्यास करनेसे तीनों लोकोंमें तुम्हारे समान कोई नहीं रह जायगा ॥ १५ ॥

न सौभाग्ये न दाक्षिण्ये न ज्ञाने बुद्धिनिश्चये ।
नोत्तरे प्रतिवक्तव्ये समो लोके तवानघ ॥ १६ ॥

'अनघ ! सौभाग्य, चातुर्य, ज्ञान और बुद्धिसम्बन्धी निश्चयमें तथा किसीके प्रश्नका उत्तर देनेमें भी कोई तुम्हारी तुलना नहीं कर सकेगा ॥ १६ ॥

एतद्विद्याद्वये लब्धे न भवेत् सदृशस्तव ।
बला चातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ॥ १७ ॥

'इन दोनों विद्याओंके प्राप्त हो जानेपर कोई तुम्हारी समानता नहीं कर सकेगा; क्योंकि ये बला और अतिबला नामक विद्याएँ सब प्रकारके ज्ञानकी जननी हैं ॥ १७ ॥

क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव ॥ १८ ॥
गृहाण सर्वलोकस्य गुप्तये रघुनन्दन ।

'नरश्रेष्ठ श्रीराम ! तात रघुनन्दन ! बला और अतिबलाका अभ्यास कर लेनेपर तुम्हें भूख-प्यासका भी कष्ट नहीं होगा; अतः रघुकुलको आनन्दित करनेवाले राम ! तुम सम्पूर्ण जगत्‌की रक्षाके लिये इन दोनों विद्याओंको ग्रहण करो ॥१८½॥

विद्याद्वयमधीयाने यशश्चाथ भवेद् भुवि ।
पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजःसमन्विते ॥ १९ ॥

'इन दोनों विद्याओंका अध्ययन कर लेनेपर इस भूतलपर तुम्हारे यशका विस्तार होगा। ये दोनों विद्याएँ ब्रह्माजीकी तेजस्विनी पुत्रियाँ हैं ॥ १९ ॥

प्रदातुं तव काकुत्स्थ सदृशस्त्वं हि पार्थिव ।
कामं बहुगुणाः सर्वे त्वय्येते नात्र संशयः ॥ २० ॥
तपसा सम्भृते चैते बहुरूपे भविष्यतः ।

'ककुत्स्थनन्दन ! मैंने इन दोनोंको तुम्हें देनेका विचार किया है। राजकुमार ! तुम्हीं इनके योग्य पात्र हो। यद्यपि तुममें इस विद्याको प्राप्त करने योग्य बहुत-से गुण हैं अथवा सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं, इसमें संशय नहीं है तथापि मैंने तपोबलसे इनका अर्जन किया है। अतः मेरी तपस्यासे परिपूर्ण होकर ये तुम्हारे लिये बहुरूपिणी होंगी—अनेक प्रकारके फल प्रदान करेंगी' ॥ २०½ ॥

ततो रामो जलं स्पृष्ट्वा प्रहृष्टवदनः शुचिः ॥ २१ ॥
प्रतिजग्राह ते विद्ये महर्षेर्भावितात्मनः ।

तब श्रीराम आचमन करके पवित्र हो गये। उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने उन शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षिसे वे दोनों विद्याएँ ग्रहण कीं ॥ २१½ ॥

विद्यासमुदितो रामः शुशुभे भीमविक्रमः ॥ २२ ॥

सहस्ररश्मिर्भगवाञ्शरदीव दिवाकरः ।

विद्यासे सम्पन्न होकर भयङ्कर पराक्रमी श्रीराम सहस्रों किरणोंसे युक्त शरत्कालीन भगवान् सूर्यके समान शोभा पाने लगे ॥ २२½ ॥

गुरुकार्याणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे ॥ २३ ॥
ऊषुस्तां रजनीं तत्र सरय्वां सुसुखं त्रयः ।

तत्पश्चात् श्रीरामने विश्वामित्रजीकी सारी गुरुजनोचित सेवाएँ करके हर्षका अनुभव किया । फिर वे तीनों वहाँ सरयूके तटपर रातमें सुखपूर्वक रहे ॥ २३½ ॥

दशरथनृपसूनुसत्तमाभ्यां
तृणशयनेऽनुचिते तदोषिताभ्याम् ।
कुशिकसुतवचोऽनुलालिताभ्यां
सुखमिव सा विबभौ विभावरी च ॥ २४ ॥

राजा दशरथके वे दोनों श्रेष्ठ राजकुमार उस समय वहाँ तृणकी शय्यापर, जो उनके योग्य नहीं थी, सोये थे । महर्षि विश्वामित्र अपनी वाणीद्वारा उन दोनोंके प्रति लाड़-प्यार प्रकट कर रहे थे । इससे उन्हें वह रात बड़ी सुखमयी-सी प्रतीत हुई ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

विश्वामित्रसहित श्रीराम और लक्ष्मणका सरयू-गङ्गासंगमके समीप पुण्य आश्रममें रातको ठहरना

प्रभातायां तु शर्वर्यां विश्वामित्रो महामुनिः ।
अभ्यभाषत काकुत्स्थौ शयानौ पर्णसंस्तरे ॥ १ ॥

जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब महामुनि विश्वामित्रने तिनकों और पत्तोंके बिछौनेपर सोये हुए उन दोनों ककुत्स्थवंशी राजकुमारोंसे कहा—॥ १ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम् ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ राम ! तुम्हारे-जैसे पुत्रको पाकर महारानी कौसल्या सुपुत्रजननी कही जाती हैं । यह देखो, प्रातःकालकी संध्याका समय हो रहा है; उठो और प्रतिदिन किये जानेवाले देवसम्बन्धी कार्योंको पूर्ण करो ॥ २ ॥

तस्यर्षेः परमोदारं वचः श्रुत्वा नरोत्तमौ ।
स्नात्वा कृतोदकौ वीरौ जेपतुः परमं जपम् ॥ ३ ॥

महर्षिका यह परम उदार वचन सुनकर उन दोनों नरश्रेष्ठ वीरोंने स्नान करके देवताओंका तर्पण किया और फिर वे परम उत्तम जपनीय मन्त्र गायत्रीका जप करने लगे ॥ ३ ॥

कृताह्निकौ महावीर्यौ विश्वामित्रं तपोधनम् ।
अभिवाद्यातिसंहृष्टौ गमनायाभितस्थतुः ॥ ४ ॥

नित्यकर्म समाप्त करके महापराक्रमी श्रीराम और लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हो तपोधन विश्वामित्रको प्रणाम करके वहाँसे आगे जानेको उद्यत हो गये ॥ ४ ॥

तौ प्रयान्तौ महावीर्यौ दिव्यां त्रिपथगां नदीम् ।
ददृशाते ततस्तत्र सरय्वाः संगमे शुभे ॥ ५ ॥

जाते-जाते उन महाबली राजकुमारोंने गङ्गा और सरयूके शुभ सङ्गमपर पहुँचकर वहाँ दिव्य त्रिपथगा नदी गङ्गाजीका दर्शन किया ॥ ५ ॥

तत्राश्रमपदं पुण्यमृषीणां भावितात्मनाम् ।
बहुवर्षसहस्राणि तप्यतां परमं तपः ॥ ६ ॥

सङ्गमके पास ही शुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षियोंका एक पवित्र आश्रम था, जहाँ वे कई हजार वर्षोंसे तीव्र तपस्या करते थे ॥ ६ ॥

तं दृष्ट्वा परमप्रीतौ राघवौ पुण्यमाश्रमम् ।
ऊचतुस्तं महात्मानं विश्वामित्रमिदं वचः ॥ ७ ॥

उस पवित्र आश्रमको देखकर रघुकुलरत्न श्रीराम और लक्ष्मण बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने महात्मा विश्वामित्रसे यह बात कही—॥ ७ ॥

कस्यायमाश्रमः पुण्यः को न्वस्मिन् वसते पुमान् ।
भगवञ्छ्रोतुमिच्छावः परं कौतूहलं हि नौ ॥ ८ ॥

'भगवन् ! यह किसका पवित्र आश्रम है ? और इसमें कौन पुरुष निवास करता है ? यह हम दोनों सुनना चाहते हैं । इसके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है' ॥ ८ ॥

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रहस्य मुनिपुङ्गवः ।
अब्रवीच्छ्रूयतां राम यस्यायं पूर्व आश्रमः ॥ ९ ॥

उन दोनोंका यह वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र हँसते हुए बोले—'राम ! यह आश्रम पहले जिसके अधिकारमें रहा है, उसका परिचय देता हूँ, सुनो ॥ ९ ॥

कन्दर्पो मूर्तिमानासीत् काम इत्युच्यते बुधैः ।
तपस्यन्तमिह स्थाणुं नियमेन समाहितम् ॥ १० ॥

'विद्वान् पुरुष जिसे काम कहते हैं, वह कन्दर्प पूर्वकालमें मूर्तिमान् था—शरीर धारण करके विचरता था । उन दिनों भगवान् स्थाणु (शिव) इसी आश्रममें चित्तको एकाग्र करके नियमपूर्वक तपस्या करते थे ॥ १० ॥

कृतोद्वाहं तु देवेशं गच्छन्तं समरुद्गणम् ।
धर्षयामास दुर्मेधा हुंकृतश्च महात्मना ॥ ११ ॥

'एक दिन समाधिसे उठकर देवेश्वर शिव मरुद्गणोंके

साथ कहीं जा रहे थे। उसी समय दुर्बुद्धि कामने उनपर आक्रमण किया। यह देख महात्मा शिवने हुङ्कार करके उसे रोका॥ ११॥

अवध्यातश्च रुद्रेण चक्षुषा रघुनन्दन।
व्यशीर्यन्त शरीरात् स्वात् सर्वगात्राणि दुर्मतेः॥ १२॥

'रघुनन्दन! भगवान् रुद्रने रोषभरी दृष्टिसे अवहेलनापूर्वक उसकी ओर देखा; फिर तो उस दुर्बुद्धिके सारे अङ्ग उसके शरीरसे जीर्ण-शीर्ण होकर गिर गये॥ १२॥

तत्र गात्रं हतं तस्य निर्दग्धस्य महात्मनः।
अशरीरः कृतः कामः क्रोधाद् देवेश्वरेण ह॥ १३॥

'वहाँ दग्ध हुए महामना कन्दर्पका शरीर नष्ट हो गया। देवेश्वर रुद्रने अपने क्रोधसे कामको अङ्गहीन कर दिया॥१३॥

अनङ्ग इति विख्यातस्तदाप्रभृति राघव।
स चाङ्गविषयः श्रीमान् यत्राङ्गं स मुमोच ह॥ १४॥

'राम! तभीसे वह 'अनङ्ग' नामसे विख्यात हुआ। शोभाशाली कन्दर्पने जहाँ अपना अङ्ग छोड़ा था, वह प्रदेश अङ्गदेशके नामसे विख्यात हुआ॥ १४॥

तस्यायमाश्रमः पुण्यस्तस्येमे मुनयः पुरा।
शिष्या धर्मपरा वीर तेषां पापं न विद्यते॥ १५॥

'यह उन्हीं महादेवजीका पुण्य आश्रम है। वीर! ये मुनिलोग पूर्वकालमें उन्हीं स्थाणुके धर्मपरायण शिष्य थे। इनका सारा पाप नष्ट हो गया है॥ १५॥

इहाद्य रजनीं राम वसेम शुभदर्शन।
पुण्ययोः सरितोर्मध्ये श्वस्तरिष्यामहे वयम्॥ १६॥

'शुभदर्शन राम! आजकी रातमें हमलोग यहीं इन पुण्य-सलिला सरिताओंके बीचमें निवास करें। कल सबेरे इन्हें पार करेंगे॥ १६॥

अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम्।
इह वासः परोऽस्माकं सुखं वत्स्यामहे निशाम्॥ १७॥
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम।

'हम सब लोग पवित्र होकर इस पुण्य आश्रममें चलें। यहाँ रहना हमारे लिये बहुत उत्तम होगा। नरश्रेष्ठ! यहाँ स्नान करके जप और हवन करनेके बाद हम रातमें बड़े सुखसे रहेंगे'॥ १७½॥

तेषां संवदतां तत्र तपोदीर्घेण चक्षुषा॥ १८॥
विज्ञाय परमप्रीता मुनयो हर्षमागमन्।

वे लोग वहाँ इस प्रकार आपसमें बातचीत कर ही रहे थे कि उस आश्रममें निवास करनेवाले मुनि तपस्याद्वारा प्राप्त हुई दूर दृष्टिसे उनका आगमन जानकर मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। उनके हृदयमें हर्षजनित उल्लास छा गया॥ १८½॥

अर्घ्यं पाद्यं तथाऽऽतिथ्यं निवेद्य कुशिकात्मजे॥ १९॥
रामलक्ष्मणयोः पश्चादकुर्वन्नतिथिक्रियाम्।

उन्होंने विश्वामित्रजीको अर्घ्य, पाद्य और अतिथि-सत्कारकी सामग्री अर्पित करनेके बाद श्रीराम और लक्ष्मणका भी आतिथ्य किया॥ १९½॥

सत्कारं समनुप्राप्य कथाभिरभिरञ्जयन्॥ २०॥
यथार्हमजपन् संध्यामृषयस्ते समाहिताः।

यथोचित सत्कार करके उन मुनियोंने इन अतिथियोंका भाँति-भाँतिकी कथा-वार्ताओंद्वारा मनोरञ्जन किया। फिर उन महर्षियोंने एकाग्रचित्त होकर यथावत् संध्यावन्दन एवं जप किया॥ २०½॥

तत्र वासिभिरानीता मुनिभिः सुव्रतैः सह॥ २१॥
न्यवसन् सुसुखं तत्र कामाश्रमपदे तथा।

तदनन्तर वहाँ रहनेवाले मुनियोंने अन्य उत्तम व्रतधारी मुनियोंके साथ विश्वामित्र आदिको शयनके लिये उपयुक्त स्थानमें पहुँचा दिया। सम्पूर्ण कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले उस पुण्य आश्रममें उन विश्वामित्र आदिने बड़े सुखसे निवास किया॥ २१½॥

कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ।
रमयामास धर्मात्मा कौशिको मुनिपुङ्गवः॥ २२॥

धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने उन मनोहर राजकुमारोंका सुन्दर कथाओंद्वारा मनोरञ्जन किया॥ २२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः॥ २३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २३॥

चतुर्विंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका गङ्गापार होते समय विश्वामित्रजीसे जलमें उठती हुई तुमुलध्वनिके विषयमें प्रश्न करना, विश्वामित्रजीका उन्हें इसका कारण बताना तथा मलद, करूष एवं ताड़का वनका (परिचय देते हुए इन्हें ताटकावधके लिये) आज्ञा प्रदान करना

ततः प्रभाते विमले कृताह्निकमरिन्दमौ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य नद्यास्तीरमुपागतौ॥ १॥

तदनन्तर निर्मल प्रभातकालमें नित्यकर्मसे निवृत्त हुए विश्वामित्रजीको आगे करके शत्रुदमन वीर श्रीराम

और लक्ष्मण गङ्गानदीके तटपर आये ॥ १ ॥

ते च सर्वे महात्मानो मुनयः संशितव्रताः ।
उपस्थाप्य शुभां नावं विश्वामित्रमथाब्रुवन् ॥ २ ॥

उस समय उत्तम व्रतका पालन करनेवाले उन पुण्या-श्रमनिवासी महात्मा मुनियोंने एक सुन्दर नाव मँगवाकर विश्वामित्रजीसे कहा—॥ २ ॥

आरोहतु भवान् नावं राजपुत्रपुरस्कृतः ।
अरिष्टं गच्छ पन्थानं मा भूत् कालस्यपर्ययः ॥ ३ ॥

'महर्षे ! आप इन राजकुमारोंको आगे करके इस नाव-पर बैठ जाइये और मार्गको निर्विघ्नतापूर्वक तै कीजिये, जिससे विलम्ब न हो' ॥ ३ ॥

विश्वामित्रस्तथेत्युक्त्वा तानृषीन् प्रतिपूज्य च ।
ततार सहितस्ताभ्यां सरितं सागरङ्गमाम् ॥ ४ ॥

विश्वामित्रजीने 'बहुत अच्छा' कहकर उन महर्षियोंकी सराहना की और वे श्रीराम तथा लक्ष्मणके साथ समुद्र-गामिनी गङ्गानदीको पार करने लगे ॥ ४ ॥

तत्र शुश्राव वै शब्दं तोयसंरम्भवर्धितम् ।
मध्यमागम्य तोयस्य तस्य शब्दस्य निश्चयम् ॥ ५ ॥
ज्ञातुकामो महातेजाः सह रामः कनीयसा ।

गङ्गाकी बीच धारामें आनेपर छोटे भाईसहित महा-तेजस्वी श्रीरामको दो जलोंके टकरानेकी बड़ी भारी आवाज सुनायी देने लगी । 'यह कैसी आवाज है ? क्यों तथा कहाँसे आ रही है ?' इस बातको निश्चितरूपसे जाननेकी इच्छा उनके भीतर जाग उठी ॥ ५½ ॥

अथ रामः सरिन्मध्ये पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥ ६ ॥
वारिणो भिद्यमानस्य किमयं तुमुलो ध्वनिः ।

तब श्रीरामने नदीके मध्यभागमें मुनिवर विश्वामित्रसे पूछा—'जलके परस्पर मिलनेसे यहाँ ऐसी तुमुल ध्वनि क्यों हो रही है ?' ॥ ६½ ॥

राघवस्य वचः श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितम् ॥ ७ ॥
कथयामास धर्मात्मा तस्य शब्दस्य निश्चयम् ।

श्रीरामचन्द्रजीके वचनमें इस रहस्यको जाननेकी उत्कण्ठा भरी हुई थी । उसे सुनकर धर्मात्मा विश्वामित्रने उस महान् शब्द (तुमुलध्वनि) का सुनिश्चित कारण बताते हुए कहा—॥ ७½ ॥

कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः ।

'नरश्रेष्ठ राम ! कैलासपर्वतपर एक सुन्दर सरोवर है । उसे ब्रह्माजीने अपने मानसिक संकल्पसे प्रकट किया था । मनके द्वारा प्रकट होनेसे ही वह उत्तम सरोवर 'मानस' कहलाता है ॥ ८½ ॥

तस्मात् सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते ॥ ९ ॥
सरःप्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता ।

उस सरोवरसे एक नदी निकली है, जो अयोध्यापुरीसे सटकर बहती है । ब्रह्मसरसे निकलनेके कारण वह पवित्र नदी सरयूके नामसे विख्यात है ॥ ९½ ॥

तस्यायमतुलः शब्दो जाह्नवीमभिवर्तते ॥ १० ॥
वारिसंक्षोभजो राम प्रणामं नियतः कुरु ।

उसीका जल गङ्गाजीमें मिल रहा है । दो नदियोंके जलों-के संघर्षसे ही यह भारी आवाज हो रही है; जिसकी कहीं तुलना नहीं है । राम ! तुम अपने मनको संयममें रखकर इस संगमके जलको प्रणाम करो' ॥ १०½ ॥

ताभ्यां तु तावुभौ कृत्वा प्रणाममतिधार्मिकौ ॥ ११ ॥
तीरं दक्षिणमासाद्य जग्मतुर्लघुविक्रमौ ।

यह सुनकर उन दोनों अत्यन्त धर्मात्मा भाइयोंने उन दोनों नदियोंको प्रणाम किया और गङ्गाके दक्षिण किनारेपर उतरकर वे दोनों बन्धु जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए चलने लगे ॥ ११½ ॥

स वनं घोरसंकाशं दृष्ट्वा नरवरात्मजः ॥ १२ ॥
अविप्रहतमैक्ष्वाकः पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ।

उस समय इक्ष्वाकुनन्दन राजकुमार श्रीरामने अपने सामने एक भयङ्कर वन देखा, जिसमें मनुष्योंके आने-जानेका कोई चिह्न नहीं था । उसे देखकर उन्होंने मुनिवर विश्वामित्र-से पूछा—॥ १२½ ॥

अहो वनमिदं दुर्गं झिल्लिकागणसंयुतम् ॥ १३ ॥
भैरवैः श्वापदैः कीर्णं शकुन्तैर्दारुणारवैः ।
नानाप्रकारैः शकुनैर्वाश्यद्भिर्भैरवस्वनैः ॥ १४ ॥

'गुरुदेव ! यह वन तो बड़ा ही अद्भुत एवं दुर्गम है । यहाँ चारों ओर झिल्लियोंके झनकार सुनायी देती है । भयानक हिंसक जन्तु भरे हुए हैं । भयङ्कर बोली बोलनेवाले पक्षी सब ओर फैले हुए हैं । नाना प्रकारके विहंगम भीषण स्वरमें चहचहा रहे हैं ॥ १३-१४ ॥

सिंहव्याघ्रवराहैश्च वारणैश्चापि शोभितम् ।
धवाश्वकर्णककुभैर्बिल्वतिन्दुकपाटलैः ॥ १५ ॥
संकीर्णं बदरीभिश्च किं न्विदं दारुणं वनम् ।

सिंह, व्याघ्र, सूअर और हाथी भी इस जंगलकी शोभा बढ़ा रहे हैं । धव (धौरा), अश्वकर्ण (एक प्रकारके शाल-वृक्ष), ककुभ (अर्जुन), बेल, तिन्दुक (तेन्दू), पाटल (पाड़र) तथा बेरके वृक्षोंसे भरा हुआ यह भयङ्कर वन क्या है ?—इसका क्या नाम है ?' ॥ १५½ ॥

तमुवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १६ ॥
श्रूयतां वत्स काकुत्स्थ यस्यैतद् दारुणं वनम् ।

तब महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्रने उनसे कहा—'वत्स ! ककुत्स्थनन्दन ! यह भयङ्कर वन जिसके अधिकारमें रहा है, उसका परिचय सुनो ॥ १६½ ॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम ॥ १७ ॥
मलदाश्च करूषाश्च देवनिर्माणनिर्मितौ ।

'नरश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें यहाँ दो समृद्धिशाली जनपद थे—मलद और करूष । ये दोनों देश देवताओंके प्रयत्नसे निर्मित हुए थे ॥ १७½ ॥

पुरा वृत्रवधे राम मलेन समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥
क्षुधा चैव सहस्राक्षं ब्रह्महत्या समाविशत् ।

'राम ! पहलेकी बात है, वृत्रासुरका वध करनेके पश्चात् देवराज इन्द्र मलसे लिप्त हो गये । क्षुधाने भी उन्हें धर दबाया और उनके भीतर ब्रह्महत्या प्रविष्ट हो गयी ॥ १८½ ॥

तमिन्द्रं मलिनं देवा ऋषयश्च तपोधनाः ॥ १९ ॥
कलशैः स्नापयामासुर्मलं चास्य प्रमोचयन् ।

'तब देवताओं तथा तपोधन ऋषियोंने मलिन इन्द्रको यहाँ गङ्गाजलसे भरे हुए कलशोंद्वारा नहलाया तथा उनके मल (और कारूष—क्षुधा) को छुड़ा दिया ॥ १९½ ॥

इह भूम्यां मलं दत्त्वा देवाः कारूषमेव च ॥ २० ॥
शरीरजं महेन्द्रस्य ततो हर्षं प्रपेदिरे ।

'इस भूभागमें देवराज इन्द्रके शरीरसे उत्पन्न हुए मल और कारूषको देकर देवतालोग बड़े प्रसन्न हुए ॥ २०½ ॥

निर्मलो निष्करूषश्च शुद्ध इन्द्रो यथाभवत् ॥ २१ ॥
ततो देशस्य सुप्रीतो वरं प्रादादनुत्तमम् ।
इमौ जनपदौ स्फीतौ ख्यातिं लोके गमिष्यतः ॥ २२ ॥
मलदाश्च करूषाश्च ममाङ्गमलधारिणौ ।

'इन्द्र पूर्ववत् निर्मल, निष्करूष (क्षुधाहीन) एवं शुद्ध हो गये । तब उन्होंने प्रसन्न होकर इस देशको यह उत्तम वर प्रदान किया—'ये दो जनपद लोकमें मलद और करूष नामसे विख्यात होंगे । मेरे अङ्गजनित मलको धारण करनेवाले ये दोनों देश बड़े समृद्धिशाली होंगे' ॥ २१-२२½ ॥

साधु साध्विति तं देवाः पाकशासनमब्रुवन् ॥ २३ ॥
देशस्य पूजां तां दृष्ट्वा कृतां शक्रेण धीमता ।

'बुद्धिमान् इन्द्रके द्वारा की गयी उस देशकी वह पूजा देखकर देवताओंने पाकशासनको बारंबार साधुवाद दिया ॥

एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिंदम ॥ २४ ॥
मलदाश्च करूषाश्च मुदिता धनधान्यतः ।

'शत्रुदमन ! मलद और करूष—ये दोनों जनपद दीर्घकालतक समृद्धिशाली; धन-धान्यसे सम्पन्न तथा सुखी रहे हैं ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षिणी कामरूपिणी ॥ २५ ॥
बलं नागसहस्रस्य धारयन्ती तदा ह्यभूत् ।

'कुछ कालके अनन्तर यहाँ इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली एक यक्षिणी आयी, जो अपने शरीरमें एक हजार हाथियोंका बल धारण करती है ॥ २५½ ॥

ताटका नाम भद्रं ते भार्या सुन्दस्य धीमतः ॥ २६ ॥
मारीचो राक्षसः पुत्रो यस्याः शक्रपराक्रमः ।
वृत्तबाहुर्महाशीर्षो विपुलास्यतनुर्महान् ॥ २७ ॥

'उसका नाम ताटका है । वह बुद्धिमान् सुन्द नामक दैत्यकी पत्नी है । तुम्हारा कल्याण हो । मारीच नामक राक्षस, जो इन्द्रके समान पराक्रमी है, उस ताटकाका ही पुत्र है । उसकी भुजाएँ गोल, मस्तक बहुत बड़ा, मुँह फैला हुआ और शरीर विशाल है ॥ २६-२७ ॥

राक्षसो भैरवाकारो नित्यं त्रासयते प्रजाः ।
इमौ जनपदौ नित्यं विनाशयति राघव ॥ २८ ॥
मलदांश्च करूषांश्च ताटका दुष्टचारिणी ।

'वह भयानक आकारवाला राक्षस यहाँकी प्रजाको सदा ही त्रास पहुँचाता रहता है । रघुनन्दन ! वह दुराचारिणी ताटका भी सदा मलद और करूष—इन दोनों जनपदोंका विनाश करती रहती है ॥ २८½ ॥

सेयं पन्थानमावृत्य वसत्यत्यर्धयोजने ॥ २९ ॥
अत एव च गन्तव्यं ताटकाया वनं यतः ।
स्वबाहुबलमाश्रित्य जहीमां दुष्टचारिणीम् ॥ ३० ॥

'वह यक्षिणी डेढ़ योजन (छः कोस) तकके मार्गको घेरकर इस वनमें रहती है; अतः हमलोगोंको जिस ओर ताटका-वन है, उधर ही चलना चाहिये । तुम अपने बाहुबलका सहारा लेकर इस दुराचारिणीको मार डालो ॥

मन्नियोगादिमं देशं कुरु निष्कण्टकं पुनः ।
नहि कश्चिदिमं देशं शक्तो ह्यागन्तुमीदृशम् ॥ ३१ ॥

'मेरी आज्ञासे इस देशको पुनः निष्कण्टक बना दो । यह देश ऐसा रमणीय है तो भी इस समय कोई यहाँ आ नहीं सकता है ॥ ३१ ॥

यक्षिण्या घोरया राम उत्सादितमसह्यया ।
एतत्ते सर्वमाख्यातं यथैतद् दारुणं वनम् ।
यक्ष्या चोत्सादितं सर्वमद्यापि न निवर्तते ॥ ३२ ॥

'राम ! उस असह्य एवं भयानक यक्षिणीने इस देशको उजाड़ कर डाला है । यह वन ऐसा भयङ्कर क्यों है, यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया । उस यक्षिणीने ही इस सारे देशको उजाड़ दिया है और वह आज भी अपने उस क्रूर कर्मसे निवृत्त नहीं हुई है' ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे ताटकाकी उत्पत्ति, विवाह एवं शाप आदिका प्रसङ्ग सुनाकर उन्हें ताटका-वधके लिये प्रेरित करना

अथ तस्याप्रमेयस्य मुनेर्वचनमुत्तमम्।
श्रुत्वा पुरुषशार्दूलः प्रत्युवाच शुभां गिरम्॥ १॥

अपरिमित प्रभावशाली विश्वामित्र मुनिका यह उत्तम वचन सुनकर पुरुषसिंह श्रीरामने यह शुभ बात कही—॥ १॥

अल्पवीर्या यदा यक्षी श्रूयते मुनिपुङ्गव।
कथं नागसहस्रस्य धारयत्यबला बलम्॥ २॥

'मुनिश्रेष्ठ! जब वह यक्षिणी एक अबला सुनी जाती है, तब तो उसकी शक्ति थोड़ी ही होनी चाहिये; फिर वह एक हजार हाथियोंका बल कैसे धारण करती है?' ॥ २॥

इत्युक्तं वचनं श्रुत्वा राघवस्यामितौजसः।
हर्षयञ्श्लक्ष्णया वाचा सलक्ष्मणमरिंदमम्॥ ३॥
विश्वामित्रोऽब्रवीद् वाक्यं शृणु येन बलोत्कटा।
वरदानकृतं वीर्यं धारयत्यबला बलम्॥ ४॥

अमिततेजस्वी श्रीरघुनाथके कहे हुए इस वचनको सुनकर विश्वामित्रजी अपनी मधुर वाणीद्वारा लक्ष्मणसहित शत्रुदमन श्रीरामको हर्ष प्रदान करते हुए बोले—'रघुनन्दन! जिस कारणसे ताटका अधिक बलशालिनी हो गयी है, वह बताता हूँ, सुनो। उसमें वरदानजनित बलका उदय हुआ है; अतः वह अबला होकर भी बल धारण करती है (सबला हो गयी है)॥ ३-४॥

पूर्वमासीन्महायक्षः सुकेतुर्नाम वीर्यवान्।
अनपत्यः शुभाचारः स च तेपे महत्तपः॥ ५॥

पूर्वकालकी बात है, सुकेतु नामसे प्रसिद्ध एक महान् यक्ष थे। वे बड़े पराक्रमी और सदाचारी थे; परंतु उन्हें कोई संतान नहीं थी; इसलिये उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की॥ ५॥

पितामहस्तु सुप्रीतस्तस्य यक्षपतेस्तदा।
कन्यारत्नं ददौ राम ताटकां नाम नामतः॥ ६॥

'श्रीराम! यक्षराज सुकेतुकी उस तपस्यासे ब्रह्माजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सुकेतुको एक कन्यारत्न प्रदान किया, जिसका नाम ताटका था॥ ६॥

ददौ नागसहस्रस्य बलं चास्याः पितामहः।
न त्वेव पुत्रं यक्षाय ददौ चासौ महायशाः॥ ७॥

ब्रह्माजीने ही उस कन्याको एक हजार हाथियोंके समान बल दे दिया; परंतु उन महायशस्वी पितामहने उस यक्षको पुत्र नहीं ही दिया (उसके संकल्पके अनुसार पुत्र प्राप्त हो जानेपर उसके द्वारा जनताका अत्यधिक उत्पीड़न होता, यही सोचकर ब्रह्माजीने पुत्र नहीं दिया)॥ ७॥

तां तु बालां विवर्धन्तीं रूपयौवनशालिनीम्।
जम्भपुत्राय सुन्दाय ददौ भार्यां यशस्विनीम्॥ ८॥

'धीरे-धीरे वह यक्ष-बालिका बढ़ने लगी और बढ़कर रूप-यौवनसे सुशोभित होने लगी। उस अवस्थामें सुकेतुने अपनी उस यशस्विनी कन्याको जम्भपुत्र सुन्दके हाथमें उसकी पत्नीके रूपमें दे दिया॥ ८॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य यक्षी पुत्रं व्यजायत।
मारीचं नाम दुर्धर्षं यः शापाद् राक्षसोऽभवत्॥ ९॥

'कुछ कालके बाद उस यक्षी ताटकाने मारीच नामसे प्रसिद्ध एक दुर्जय पुत्रको जन्म दिया, जो अगस्त्य मुनिके शापसे राक्षस हो गया॥ ९॥

सुन्दे तु निहते राम अगस्त्यमृषिसत्तमम्।
ताटका सहपुत्रेण प्रधर्षयितुमिच्छति॥ १०॥

'श्रीराम! अगस्त्यने ही शाप देकर ताटकापति सुन्दको भी मार डाला। उसके मारे जानेपर ताटका पुत्रसहित जाकर मुनिवर अगस्त्यको भी मौतके घाट उतार देनेकी इच्छा करने लगी॥

भक्षार्थं जातसंरम्भा गर्जन्ती साभ्यधावत।
आपतन्तीं तु तां दृष्ट्वा अगस्त्यो भगवानृषिः॥ ११॥
राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः।

'वह कुपित हो मुनिको खा जानेके लिये गर्जना करती हुई दौड़ी। उसे आती देख भगवान् अगस्त्य मुनिने मारीचसे कहा—'तू देवयोनि-रूपका परित्याग करके राक्षसभावको प्राप्त हो जा'॥ ११½॥

अगस्त्यः परमामर्षस्ताटकामपि शप्तवान्॥ १२॥
पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना।
इदं रूपं विहायाशु दारुणं रूपमस्तु ते॥ १३॥

'फिर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए ऋषिने ताटकाको भी शाप दे दिया—'तू विकराल मुखवाली नरभक्षिणी राक्षसी हो जा। तू है तो महायक्षी; परंतु अब शीघ्र ही इस रूपको त्यागकर तेरा भयङ्कर रूप हो जाय'॥ १२-१३॥

सैषा शापकृतामर्षा ताटका क्रोधमूर्च्छिता।
देशमुत्सादयत्येनमगस्त्याचरितं शुभम्॥ १४॥

'इस प्रकार शाप मिलनेके कारण ताटकाका अमर्ष और भी बढ़ गया। वह क्रोधसे मूर्च्छित हो उठी और उन दिनों अगस्त्यजी जहाँ रहते थे, उस सुन्दर देशको उजाड़ने लगी॥ १४॥

एनां राघव दुर्वृत्तां यक्षीं परमदारुणाम् ।
गोब्राह्मणहितार्थाय जहि दुष्टपराक्रमाम् ॥ १५ ॥

'रघुनन्दन ! तुम गौओं और ब्राह्मणोंका हित करनेके लिये दुष्ट पराक्रमवाली इस परम भयङ्कर दुराचारिणी यक्षीका वध कर डालो ॥ १५ ॥

नह्येनां शापसंसृष्टां कश्चिदुत्सहते पुमान् ।
निहन्तुं त्रिषु लोकेषु त्वामृते रघुनन्दन ॥ १६ ॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले वीर ! इस शापग्रस्त ताटकाको मारनेके लिये तीनों लोकोंमें तुम्हारे सिवा दूसरा कोई पुरुष समर्थ नहीं है ॥ १६ ॥

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम ।
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥ १७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुम स्त्री-हत्याका विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना । एक राजपुत्रको चारों वर्णोंके हितके लिये स्त्री-हत्या भी करनी पड़े तो उससे मुँह नहीं मोड़ना चाहिये ॥१७॥

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात् ।
पातकं वा सदोषं वा कर्तव्यं रक्षता सदा ॥ १८ ॥

'प्रजापालक नरेशको प्रजाजनोंकी रक्षाके लिये क्रूरतापूर्ण या क्रूरतारहित, पातकयुक्त अथवा सदोष कर्म भी करना पड़े तो कर लेना चाहिये । यह बात उसे सदा ही ध्यानमें रखनी चाहिये ॥ १८ ॥

राज्यभारनियुक्तानामेष धर्मः सनातनः ।
अधर्म्यां जहि काकुत्स्थ धर्मो ह्यस्यां न विद्यते ॥ १९ ॥

'जिनके ऊपर राज्यके पालनका भार है, उनका तो यह सनातन धर्म है । ककुत्स्थकुलनन्दन ! ताटका महापापिनी है । उसमें धर्मका लेशमात्र भी नहीं है; अतः उसे मार डालो ॥ १९ ॥

श्रूयते हि पुरा शक्रो विरोचनसुतां नृप ।
पृथिवीं हन्तुमिच्छन्तीं मन्थरामभ्यसूदयत् ॥ २० ॥

'नरेश्वर ! सुना जाता है कि पूर्वकालमें विरोचनकी पुत्री मन्थरा सारी पृथ्वीका नाश कर डालना चाहती थी । उसके इस विचारको जानकर इन्द्रने उसका वध कर डाला ॥ २० ॥

विष्णुना च पुरा राम भृगुपत्नी पतिव्रता ।
अनिन्द्रं लोकमिच्छन्ती काव्यमाता निषूदिता ॥ २१ ॥

'श्रीराम ! प्राचीन कालमें शुक्राचार्यकी माता तथा भृगुकी पतिव्रता पत्नी त्रिभुवनको इन्द्रसे शून्य कर देना चाहती थी । यह जानकर भगवान् विष्णुने उनको मार डाला ॥ २१ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभी राजपुत्रैर्महात्मभिः ।
अधर्मसहिता नार्यो हताः पुरुषसत्तमैः ।
तस्मादेनां घृणां त्यक्त्वा जहि मच्छासनान्नृप ॥ २२ ॥

'इन्होंने तथा अन्य बहुत-से महामनस्वी पुरुषप्रवर राजकुमारोंने पापचारिणी स्त्रियोंका वध किया है । नरेश्वर ! अतः तुम भी मेरी आज्ञासे दया अथवा घृणाको त्यागकर इस राक्षसीको मार डालो' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्‌विंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा ताटकाका वध

मुनेर्वचनमक्लीबं श्रुत्वा नरवरात्मजः ।
राघवः प्राञ्जलिर्भूत्वा प्रत्युवाच दृढव्रतः ॥ १ ॥

मुनिके ये उत्साहभरे वचन सुनकर दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजकुमार श्रीरामने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—॥ १ ॥

पितुर्वचननिर्देशात् पितुर्वचनगौरवात् ।
वचनं कौशिकस्येति कर्तव्यमविशङ्कया ॥ २ ॥
अनुशिष्टोऽस्म्ययोध्यायां गुरुमध्ये महात्मना ।
पित्रा दशरथेनाहं नावज्ञेयं हि तद्वचः ॥ ३ ॥

'भगवन् ! अयोध्यामें मेरे पिता महामना महाराज दशरथ-ने अन्य गुरुजनोंके बीच मुझे यह उपदेश दिया था कि 'बेटा ! तुम पिताके कहनेसे पिताके वचनोंका गौरव रखनेके लिये कुशिकनन्दन विश्वामित्रकी आज्ञाका निःशङ्क होकर पालन करना । कभी भी उनकी बातकी अवहेलना न करना' ॥ २-३ ॥

सोऽहं पितुर्वचः श्रुत्वा शासनाद् ब्रह्मवादिनः ।
करिष्यामि न संदेहस्ताटकावधमुत्तमम् ॥ ४ ॥

'अतः मैं पिताजीके उस उपदेशको सुनकर आप ब्रह्मवादी महात्माकी आज्ञासे ताटकावधसम्बन्धी कार्यको उत्तम मानकर करूँगा—इसमें संदेह नहीं है ॥ ४ ॥

गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च ।
तव चैवाप्रमेयस्य वचनं कर्तुमुद्यतः ॥ ५ ॥

'गौ, ब्राह्मण तथा समूचे देशका हित करनेके लिये मैं आप-जैसे अनुपम प्रभावशाली महात्माके आदेशका पालन करनेको सब प्रकारसे तैयार हूँ' ॥ ५ ॥

एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये बद्ध्वा मुष्टिमरिंदमः ।
ज्याघोषमकरोत् तीव्रं दिशः शब्देन नादयन् ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन श्रीरामने धनुषके मध्यभागमें मुट्ठी बाँधकर उसे जोरसे पकड़ा और उसकी प्रत्यञ्चापर तीव्र

टङ्कार दी । उसकी आवाजसे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं ॥ ६ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तास्ताटकावनवासिनः ।
ताटका च सुसंक्रुद्धा तेन शब्देन मोहिता ॥ ७ ॥

उस शब्दसे ताटकावनमें रहनेवाले समस्त प्राणी थर्रा उठे । ताटका भी उस टङ्कार-घोषसे पहले तो किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठी; परंतु फिर कुछ सोचकर अत्यन्त क्रोधमें भर गयी ॥

तं शब्दमभिनिध्याय राक्षसी क्रोधमूर्च्छिता ।
श्रुत्वा चाभ्यद्रवत् क्रुद्धा यत्र शब्दो विनिःसृतः ॥ ८ ॥

उस शब्दको सुनकर वह राक्षसी क्रोधसे अचेत-सी हो गयी थी । उसे सुनते ही वह जहाँसे आवाज आयी थी, उसी दिशाकी ओर रोषपूर्वक दौड़ी ॥ ८ ॥

तां दृष्ट्वा राघवः क्रुद्धां विकृतां विकृताननाम् ।
प्रमाणेनातिवृद्धां च लक्ष्मणं सोऽभ्यभाषत ॥ ९ ॥

उसके शरीरकी ऊँचाई बहुत अधिक थी । उसकी मुखाकृति विकृत दिखायी देती थी । क्रोधमें भरी हुई उस विकराल राक्षसीकी ओर दृष्टिपात करके श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—॥ ९ ॥

पश्य लक्ष्मण यक्षिण्या भैरवं दारुणं वपुः ।
भिद्येरन् दर्शनादस्या भीरूणां हृदयानि च ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! देखो तो सही, इस यक्षिणीका शरीर कैसा दारुण एवं भयङ्कर है । इसके दर्शनमात्रसे भीरु पुरुषोंके हृदय विदीर्ण हो सकते हैं ॥ १० ॥

एतां पश्य दुराधर्षां मायाबलसमन्विताम् ।
विनिवृत्तां करोम्यद्य हृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ ११ ॥

'मायाबलसे सम्पन्न होनेके कारण यह अत्यन्त दुर्जय हो रही है । देखो, मैं अभी इसके कान और नाक काटकर इसे पीछे लौटनेको विवश किये देता हूँ ॥ ११ ॥

न ह्येनामुत्सहे हन्तुं स्त्रीस्वभावेन रक्षिताम् ।
वीर्यं चास्या गतिं चैव हन्यामिति हि मे मतिः ॥ १२ ॥

'यह अपने स्त्रीस्वभावके कारण रक्षित है; अतः मुझे इसे मारनेमें उत्साह नहीं है । मेरा विचार यह है कि मैं इसके बल-पराक्रम तथा गमनशक्तिको नष्ट कर दूँ (अर्थात् इसके हाथ-पैर काट डालूँ)' ॥ १२ ॥

एवं ब्रुवाणे रामे तु ताटका क्रोधमूर्च्छिता ।
उद्यम्य बाहुं गर्जन्ती राममेवाभ्यधावत ॥ १३ ॥

श्रीराम इस प्रकार कह ही रहे थे कि क्रोधसे अचेत हुई ताटका वहाँ आ पहुँची और एक बाँह उठाकर गर्जना करती हुई उन्हींकी ओर झपटी ॥ १३ ॥

विश्वामित्रस्तु ब्रह्मर्षिर्हुंकारेणाभिभर्त्स्य ताम् ।
स्वस्ति राघवयोरस्तु जयं चैवाभ्यभाषत ॥ १४ ॥

यह देख ब्रह्मर्षि विश्वामित्रने अपने हुंकारके द्वारा उसे डाँटकर कहा—'रघुकुलके इन दोनों राजकुमारोंका कल्याण हो । इनकी विजय हो' ॥ १४ ॥

उद्धून्वाना रजो घोरं ताटका राघवावुभौ ।
रजोमेघेन महता मुहूर्तं सा व्यमोहयत् ॥ १५ ॥

तब ताटकाने उन दोनों रघुवंशी वीरोंपर भयङ्कर धूल उड़ाना आरम्भ किया । वहाँ धूलका विशाल बादल-सा छा गया । उसके द्वारा उसने श्रीराम और लक्ष्मणको दो घड़ीतक मोहमें डाल दिया ॥ १५ ॥

ततो मायां समास्थाय शिलावर्षेण राघवौ ।
अवाकिरत् सुमहता ततश्चुक्रोध राघवः ॥ १६ ॥

तत्पश्चात् मायाका आश्रय लेकर वह उन दोनों भाइयोंपर पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा करने लगी, यह देख रघुनाथजी उसपर कुपित हो उठे ॥ १६ ॥

शिलावर्षं महत् तस्याः शरवर्षेण राघवः ।
प्रतिवार्योपधावन्त्याः करौ चिच्छेद पत्रिभिः ॥ १७ ॥

रघुवीरने अपनी बाणवर्षाके द्वारा उसकी बड़ी भारी शिलावृष्टिको रोककर अपनी ओर आती हुई उस निशाचरीके दोनों हाथ तीखे सायकोंसे काट डाले ॥ १७ ॥

ततश्छिन्नभुजां श्रान्तामभ्याशे परिगर्जतीम् ।
सौमित्रिरकरोत् क्रोधाद्धृतकर्णाग्रनासिकाम् ॥ १८ ॥

दोनों भुजाएँ कट जानेसे थकी हुई ताटका उनके निकट खड़ी होकर जोर-जोरसे गर्जना करने लगी । यह देख सुमित्राकुमार लक्ष्मणने क्रोधमें भरकर उसके नाक-कान काट लिये ॥ १८ ॥

कामरूपधरा सा तु कृत्वा रूपाण्यनेकशः ।
अन्तर्धानं गता यक्षी मोहयन्ती स्वमायया ॥ १९ ॥

परंतु वह तो इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली यक्षिणी थी; अतः अनेक प्रकारके रूप बनाकर अपनी मायासे श्रीराम और लक्ष्मणको मोहमें डालती हुई अदृश्य हो गयी ॥ १९ ॥

अश्मवर्षं विमुञ्चन्ती भैरवं विचचार सा ।
ततस्तावश्मवर्षेण कीर्यमाणौ समन्ततः ॥ २० ॥
दृष्ट्वा गाधिसुतः श्रीमानिदं वचनमब्रवीत् ।
अलं ते घृणया राम पापैषा दुष्टचारिणी ॥ २१ ॥
यज्ञविघ्नकरी यक्षी पुरा वर्धेत मायया ।
वध्यतां तावदेवैषा पुरा संध्या प्रवर्तते ॥ २२ ॥
रक्षांसि संध्याकाले तु दुर्धर्षाणि भवन्ति हि ।

अब वह पत्थरोंकी भयङ्कर वर्षा करती हुई आकाशमें विचरने लगी । श्रीराम और लक्ष्मणपर चारों ओरसे प्रस्तरोंकी वृष्टि होती देख तेजस्वी गाधिनन्दन विश्वामित्रने इस प्रकार कहा—'श्रीराम ! इसके ऊपर तुम्हारा दया करना व्यर्थ है ।

यह बड़ी पापिनी और दुराचारिणी है। सदा यज्ञोंमें विघ्न डाला करती है। यह अपनी मायासे पुनः प्रबल हो उठे, इसके पहले ही इसे मार डालो। अभी संध्याकाल आना चाहता है, इसके पहले ही यह कार्य हो जाना चाहिये; क्योंकि संध्याके समय राक्षस दुर्जय हो जाते हैं' ॥ २०—२२½ ॥

इत्युक्तः स तु तां यक्षीमश्मवृष्ट्याभिवर्षिणीम् ॥ २३ ॥
दर्शयञ्शब्दवेधित्वं तां रुरोध स सायकैः ।

विश्वामित्रजीके ऐसा कहनेपर श्रीरामने शब्दवेधी बाण चलानेकी शक्तिका परिचय देते हुए बाण मारकर प्रस्तरोंकी वर्षा करनेवाली उस यक्षिणीको सब ओरसे अवरुद्ध कर दिया ॥ २३½ ॥

सा रुद्धा बाणजालेन मायाबलसमन्विता ॥ २४ ॥
अभिदुद्राव काकुत्स्थं लक्ष्मणं च विनेदुषी ।
तामापतन्तीं वेगेन विक्रान्तामशनीमिव ॥ २५ ॥
शरेणोरसि विव्याध सा पपात ममार च ।

उनके बाण-समूहसे घिर जानेपर मायाबलसे युक्त वह यक्षिणी जोर-जोरसे गर्जना करती हुई श्रीराम और लक्ष्मणके ऊपर टूट पड़ी। उसे चलाये हुए इन्द्रके वज्रकी भाँति वेगसे आती देख श्रीरामने एक बाण मारकर उसकी छाती चीर डाली। तब ताटका पृथ्वीपर गिरी और मर गयी ॥२४–२५½॥

तां हतां भीमसंकाशां दृष्ट्वा सुरपतिस्तदा ॥ २६ ॥
साधु साध्विति काकुत्स्थं सुराश्चाप्यभिपूजयन् ।

उस भयङ्कर राक्षसीको मारी गयी देख देवराज इन्द्र तथा देवताओंने श्रीरामको साधुवाद देते हुए उनकी सराहना की ॥ २६½ ॥

उवाच परमप्रीतः सहस्राक्षः पुरन्दरः ॥ २७ ॥
सुराश्च सर्वे संहृष्टा विश्वामित्रमथाब्रुवन् ।

उस समय सहस्रलोचन इन्द्र तथा समस्त देवताओंने अत्यन्त प्रसन्न एवं हर्षोत्फुल्ल होकर विश्वामित्रजीसे कहा—॥२७½॥

मुने कौशिक भद्रं ते सेन्द्राः सर्वे मरुद्गणाः ॥ २८ ॥
तोषिताः कर्मणानेन स्नेहं दर्शय राघवे ।

'मुने ! कुशिकनन्दन ! आपका कल्याण हो। आपने इस कार्यसे इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंको संतुष्ट किया है। अब रघुकुलतिलक श्रीरामपर आप अपना स्नेह प्रकट कीजिये ॥ २८½ ॥

प्रजापतेः कृशाश्वस्य पुत्रान् सत्यपराक्रमान् ॥ २९ ॥
तपोबलभृतो ब्रह्मन् राघवाय निवेदय ।

'ब्रह्मन् ! प्रजापति कृशाश्वके अस्त्र-रूपधारी पुत्रोंको, जो सत्य-पराक्रमी तथा तपोबलसे सम्पन्न हैं, श्रीरामको समर्पित कीजिये ॥ २९½ ॥

पात्रभूतश्च ते ब्रह्मंस्तवानुगमने रतः ॥ ३० ॥
कर्तव्यं सुमहत् कर्म सुराणां राजसूनुना ।

'विप्रवर ! ये आपके अस्त्रदानके सुयोग्य पात्र हैं तथा आपके अनुसरण (सेवा-शुश्रूषा) में तत्पर रहते हैं। राजकुमार श्रीरामके द्वारा देवताओंका महान् कार्य सम्पन्न होनेवाला है' ॥ ३०½ ॥

एवमुक्त्वा सुराः सर्वे जग्मुर्हृष्टा विहायसम् ॥ ३१ ॥
विश्वामित्रं पूजयन्तस्ततः संध्या प्रवर्तते ।

ऐसा कहकर सभी देवता विश्वामित्रजीकी प्रशंसा करते हुए प्रसन्नतापूर्वक आकाशमार्गसे चले गये। तत्पश्चात् संध्या हो गयी ॥ ३१½ ॥

ततो मुनिवरः प्रीतस्ताटकावधतोषितः ॥ ३२ ॥
मूर्ध्नि राममुपाघ्राय इदं वचनमब्रवीत् ।

तदनन्तर ताटकावधसे संतुष्ट हुए मुनिवर विश्वामित्रने श्रीरामचन्द्रजीका मस्तक सूँघकर उनसे यह बात कही—॥३२½॥

इहाद्य रजनीं राम वसाम शुभदर्शन ॥ ३३ ॥
श्वः प्रभाते गमिष्यामस्तदाश्रमपदं मम ।

'शुभदर्शन राम ! आजकी रातमें हमलोग यहीं निवास करें ! कल सवेरे अपने आश्रमपर चलेंगे' ॥ ३३½ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा हृष्टो दशरथात्मजः ॥ ३४ ॥
उवास रजनीं तत्र ताटकाया वने सुखम् ।

विश्वामित्रजीकी यह बात सुनकर दशरथकुमार श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने ताटकावनमें रहकर वह रात्रि बड़े सुखसे व्यतीत की ॥ ३४½ ॥

मुक्तशापं वनं तच्च तस्मिन्नेव तदाहनि ।
रमणीयं विबभ्राज यथा चैत्ररथं वनम् ॥ ३५ ॥

उसी दिन वह वन शापमुक्त होकर रमणीय शोभासे सम्पन्न हो गया और चैत्ररथवनकी भाँति अपनी मनोहर छटा दिखाने लगा ॥ ३५ ॥

निहत्य तां यक्षसुतां स रामः
प्रशस्यमानः सुरसिद्धसंघैः ।
उवास तस्मिन् मुनिना सहैव
प्रभातवेलां प्रतिबोध्यमानः ॥ ३६ ॥

यक्षकन्या ताटकाका वध करके श्रीरामचन्द्रजी देवताओं तथा सिद्धसमूहोंकी प्रशंसाके पात्र बन गये। उन्होंने प्रातःकालकी प्रतीक्षा करते हुए विश्वामित्रजीके साथ ताटकावनमें निवास किया ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा श्रीरामको दिव्यास्त्र-दान

अथ तां रजनीमुष्य विश्वामित्रो महायशाः ।
प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुरस्वरम् ॥ १ ॥

ताटकावनमें वह रात बिताकर महायशस्वी विश्वामित्र हँसते हुए मीठे स्वरमें श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ १ ॥

परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ॥ २ ॥

'महायशस्वी राजकुमार ! तुम्हारा कल्याण हो । ताटका-वधके कारण मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ; अतः बड़ी प्रसन्नताके साथ तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र दे रहा हूँ ॥ २ ॥

देवासुरगणान् वापि सगन्धर्वोरगान् भुवि ।
यैरमित्रान् प्रसह्याजौ वशीकृत्य जयिष्यसि ॥ ३ ॥

'इनके प्रभावसे तुम अपने शत्रुओंको—चाहे वे देवता, असुर, गन्धर्व अथवा नाग ही क्यों न हों, रणभूमिमें बलपूर्वक अपने अधीन करके उनपर विजय पा जाओगे ॥ ३ ॥

तानि दिव्यानि भद्रं ते ददाम्यस्त्राणि सर्वशः ।
दण्डचक्रं महद् दिव्यं तव दास्यामि राघव ॥ ४ ॥
धर्मचक्रं ततो वीर कालचक्रं तथैव च ।
विष्णुचक्रं तथात्युग्रमैन्द्रं चक्रं तथैव च ॥ ५ ॥

'रघुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । आज मैं तुम्हें वे सभी दिव्यास्त्र दे रहा हूँ । वीर ! मैं तुमको दिव्य एवं महान् दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र तथा अत्यन्त भयंकर ऐन्द्र चक्र दूँगा ॥ ४-५ ॥

वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठ शैवं शूलवरं तथा ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरश्चैव ऐषीकमपि राघव ॥ ६ ॥
ददामि ते महाबाहो ब्राह्ममस्त्रमनुत्तमम् ।

'नरश्रेष्ठ ! राघव ! इन्द्रका वज्रास्त्र, शिवका श्रेष्ठ त्रिशूल तथा ब्रह्माजीका ब्रह्मशिरनामक अस्त्र भी दूँगा । महाबाहो ! साथ ही तुम्हें ऐषीकास्त्र तथा परम उत्तम ब्रह्मास्त्र भी प्रदान करता हूँ ॥ ६½ ॥

गदे द्वे चैव काकुत्स्थ मोदकीशिखरी शुभे ॥ ७ ॥
प्रदीप्ते नरशार्दूल प्रयच्छामि नृपात्मज ।
धर्मपाशमहं राम कालपाशं तथैव च ॥ ८ ॥
वारुणं पाशमस्त्रं च ददाम्यहमनुत्तमम् ।

'ककुत्स्थकुलभूषण ! इनके सिवा दो अत्यन्त उज्ज्वल और सुन्दर गदाएँ, जिनके नाम मोदकी और शिखरी हैं, मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ । पुरुषसिंह राजकुमार राम ! धर्मपाश, कालपाश और वरुणपाश भी बड़े उत्तम अस्त्र हैं । इन्हें भी आज तुम्हें अर्पित करता हूँ ॥ ७-८½ ॥

अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन ॥ ९ ॥
ददामि चास्त्रं पैनाकमस्त्रं नारायणं तथा ।

'रघुनन्दन ! सूखी और गीली दो प्रकारकी अशनि तथा पिनाक एवं नारायणास्त्र भी तुम्हें दे रहा हूँ ॥ ९½ ॥

आग्नेयमस्त्रं दयितं शिखरं नाम नामतः ॥ १० ॥
वायव्यं प्रथमं नाम ददामि तव चानघ ।

'अग्निका प्रिय आग्नेय-अस्त्र, जो शिखरास्त्रके नामसे भी प्रसिद्ध है, तुम्हें अर्पण करता हूँ । अनघ ! अस्त्रोंमें प्रधान जो वायव्यास्त्र है, वह भी तुम्हें दे रहा हूँ ॥ १०½ ॥

अस्त्रं हयशिरो नाम क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ११ ॥
शक्तिद्वयं च काकुत्स्थ ददामि तव राघव ।

'ककुत्स्थकुलभूषण राघव ! हयशिरा नामक अस्त्र, क्रौञ्च-अस्त्र तथा दो शक्तियोंको भी तुम्हें देता हूँ ॥ ११½ ॥

कङ्कालं मुसलं घोरं कापालमथ किङ्किणीम् ॥ १२ ॥
वधार्थं रक्षसां यानि ददाम्येतानि सर्वशः ।

'कङ्काल, घोर मूसल, कपाल तथा किङ्किणी आदि सब अस्त्र, जो राक्षसोंके वधमें उपयोगी होते हैं, तुम्हें दे रहा हूँ ॥

वैद्याधरं महास्त्रं च नन्दनं नाम नामतः ॥ १३ ॥
असिरत्नं महाबाहो ददामि नृवरात्मज ।

महाबाहु राजकुमार ! नन्दन नामसे प्रसिद्ध विद्याधरोंका महान् अस्त्र तथा उत्तम खड्ग भी तुम्हें अर्पित करता हूँ ॥

गान्धर्वमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ॥ १४ ॥
प्रस्वापनं प्रशमनं दद्मि सौम्यं च राघव ।

'रघुनन्दन ! गन्धर्वोंका प्रिय सम्मोहन नामक अस्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन तथा सौम्य अस्त्र भी देता हूँ ॥ १४½ ॥

वर्षणं शोषणं चैव संतापनविलापने ॥ १५ ॥
मादनं चैव दुर्धर्षं कन्दर्पदयितं तथा ।
गान्धर्वमस्त्रं दयितं मानवं नाम नामतः ॥ १६ ॥
पैशाचमस्त्रं दयितं मोहनं नाम नामतः ।
प्रतीच्छ नरशार्दूल राजपुत्र महायशः ॥ १७ ॥

'महायशस्वी पुरुषसिंह राजकुमार ! वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन तथा कामदेवका प्रिय दुर्जय अस्त्र मादन, गन्धर्वोंका प्रिय मानवास्त्र तथा पिशाचोंका प्रिय मोहनास्त्र भी मुझसे ग्रहण करो ॥ १५–१७ ॥

तामसं नरशार्दूल सौमनं च महाबलम् ।
संवर्तं चैव दुर्धर्षं मौसलं च नृपात्मज ॥ १८ ॥
सत्यमस्त्रं महाबाहो तथा मायामयं परम् ।
सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोऽपकर्षणम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ राजपुत्र महाबाहु राम ! तामस, महाबली सौमन, संवर्त, दुर्जय, मौसल, सत्य और मायामय उत्तम अस्त्र भी तुम्हें अर्पण करता हूँ। सूर्यदेवताका तेजःप्रभ नामक अस्त्र, जो शत्रुके तेजका नाश करनेवाला है, तुम्हें अर्पित करता हूँ ॥ १८-१९ ॥

सोमास्त्रं शिशिरं नाम त्वाष्ट्रमस्त्रं सुदारुणम् ।
दारुणं च भगस्यापि शीतेषुमथ मानवम् ॥ २० ॥

'सोम देवताका शिशिर नामक अस्त्र, त्वष्टा (विश्वकर्मा) का अत्यन्त दारुण अस्त्र, भगदेवताका भी भयंकर अस्त्र तथा मनुका शीतेषु नामक अस्त्र भी तुम्हें देता हूँ ॥ २० ॥

एतान् राम महाबाहो कामरूपान् महाबलान् ।
गृहाण परमोदारान् क्षिप्रमेव नृपात्मज ॥ २१ ॥

'महाबाहु राजकुमार श्रीराम ! ये सभी अस्त्र इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, महान् बलसे सम्पन्न तथा परम उदार हैं। तुम शीघ्र ही इन्हें ग्रहण करो' ॥ २१ ॥

स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा ।
ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम् ॥ २२ ॥

ऐसा कहकर मुनिवर विश्वामित्रजी उस समय स्नान आदिसे शुद्ध हो पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये और अत्यन्त प्रसन्नताके साथ उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको उन सभी उत्तम अस्त्रोंका उपदेश दिया ॥ २२ ॥

सर्वसंग्रहणं येषां दैवतैरपि दुर्लभम् ।
तान्यस्त्राणि तदा विप्रो राघवाय न्यवेदयत् ॥ २३ ॥

जिन अस्त्रोंका पूर्णरूपसे संग्रह करना देवताओंके लिये भी दुर्लभ है, उन सबको विप्रवर विश्वामित्रजीने श्रीरामचन्द्रजीको समर्पित कर दिया ॥ २३ ॥

जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः ।
उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम् ॥ २४ ॥
ऊचुश्च मुदिता रामं सर्वे प्राञ्जलयस्तदा ।
इमे च परमोदार किंकरास्तव राघव ॥ २५ ॥
यद्यदिच्छसि भद्रं ते तत्सर्वं करवाम वै ।

बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने ज्यों ही जप आरम्भ किया, त्यों ही वे सभी परम पूज्य दिव्यास्त्र स्वतः आकर श्रीरघुनाथजीके पास उपस्थित हो गये और अत्यन्त हर्षमें भरकर उस समय श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहने लगे—'परम उदार रघुनन्दन ! आपका कल्याण हो । हम सब आपके किङ्कर हैं। आप हमसे जो-जो सेवा लेना चाहेंगे, वह सब हम करनेको तैयार रहेंगे ॥ २४–२५½ ॥

ततो रामः प्रसन्नात्मा तैरित्युक्तो महाबलैः ॥ २६ ॥
प्रतिगृह्य च काकुत्स्थः समालभ्य च पाणिना ।
मानसा मे भविष्यध्वमिति तान्यभ्यचोदयत् ॥ २७ ॥

उन महान् प्रभावशाली अस्त्रोंके इस प्रकार कहनेपर श्रीरामचन्द्रजी मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें ग्रहण करनेके पश्चात् हाथसे उनका स्पर्श करके बोले—'आप सब मेरे मनमें निवास करें' ॥ २६-२७ ॥

ततः प्रीतमना रामो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
अभिवाद्य महातेजा गमनायोपचक्रमे ॥ २८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामने प्रसन्नचित्त होकर महामुनि विश्वामित्रको प्रणाम किया और आगेकी यात्रा आरम्भ की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

विश्वामित्रका श्रीरामको अस्त्रोंकी संहारविधि बताना तथा उन्हें अन्यान्य अस्त्रोंका उपदेश करना, श्रीरामका एक आश्रम एवं यज्ञस्थानके विषयमें मुनिसे प्रश्न

प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि प्रहृष्टवदनः शुचिः ।
गच्छन्नेव च काकुत्स्थो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

उन अस्त्रोंको ग्रहण करके परम पवित्र श्रीरामका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा था । वे चलते-चलते ही विश्वामित्रसे बोले—॥ १ ॥

गृहीतास्त्रोऽस्मि भगवन् दुराधर्षः सुरैरपि ।
अस्त्राणां त्वहमिच्छामि संहारान् मुनिपुङ्गव ॥ २ ॥

'भगवन् ! आपकी कृपासे इन अस्त्रोंको ग्रहण करके मैं देवताओंके लिये भी दुर्जय हो गया हूँ। मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं अस्त्रोंकी संहारविधि जानना चाहता हूँ' ॥ २ ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रो महातपाः ।
संहारान् व्याजहाराथ धृतिमान् सुव्रतः शुचिः ॥ ३ ॥

ककुत्स्थकुलतिलक श्रीरामके ऐसा कहनेपर महातपस्वी, धैर्यवान्, उत्तम व्रतधारी और पवित्र विश्वामित्र मुनिने उन्हें अस्त्रोंकी संहारविधिका उपदेश दिया ॥ ३ ॥

सत्यवन्तं सत्यकीर्तिं धृष्टं रभसमेव च ।
प्रतिहारतरं नाम पराङ्मुखमवाङ्मुखम् ॥ ४ ॥
लक्ष्यालक्ष्याविमौ चैव दृढनाभसुनाभकौ ।
दशाक्षशतवक्त्रौ च दशशीर्षशतोदरौ ॥ ५ ॥
पद्मनाभमहानाभौ दुन्दुनाभस्वनाभकौ ।

ज्योतिषं शकुनं चैव नैरास्यविमलावुभौ ॥ ६ ॥
यौगंधरविनिद्रौ च दैत्यप्रमथनौ तथा।
शुचिबाहुर्महाबाहुर्निष्कलिर्विरुचस्तथा।
सार्चिमाली धृतिमाली वृत्तिमान् रुचिरस्तथा ॥ ७ ॥
पित्र्यः सौमनसश्चैव विधूतमकरावुभौ।
परवीरं रतिं चैव धनधान्यौ च राघव ॥ ८ ॥
कामरूपं कामरुचिं मोहमावरणं तथा।
जृम्भकं सर्पनाथं च पन्थानवरुणौ तथा ॥ ९ ॥
कृशाश्वतनयान् राम भास्वरान् कामरूपिणः।
प्रतीच्छ मम भद्रं ते पात्रभूतोऽसि राघव ॥ १० ॥

तदनन्तर वे बोले—'रघुकुलनन्दन राम! तुम्हारा कल्याण हो! तुम अस्त्रविद्याके सुयोग्य पात्र हो; अतः निम्नाङ्कित अस्त्रोंको भी ग्रहण करो—सत्यवान्, सत्यकीर्ति, धृष्ट, रभस, प्रतिहारतर, प्राङ्मुख, अवाङ्मुख, लक्ष्य, अलक्ष्य, दृढनाभ, सुनाभ, दशाक्ष, शतवक्त्र, दशशीर्ष, शतोदर, पद्मनाभ, महानाभ, दुन्दुनाभ, स्वनाभ, ज्योतिष, शकुन, नैरास्य, विमल, दैत्यनाशक, यौगंधर और विनिद्र, शुचिबाहु, महाबाहु, निष्कलि, विरुच, सार्चिमाली, धृतिमाली, वृत्तिमान्, रुचिर, पित्र्य, सौमनस, विधूत, मकर, परवीर, रति, धन, धान्य, कामरूप, कामरुचि, मोह, आवरण, जृम्भक, सर्पनाथ, पन्थान और वरुण—ये सभी प्रजापति कृशाश्वके पुत्र हैं। ये इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले तथा परम तेजस्वी हैं। तुम इन्हें ग्रहण करो' ॥ ४—१० ॥

बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रहृष्टेनान्तरात्मना।
दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुखप्रदाः ॥ ११ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्न मनसे उन अस्त्रोंको ग्रहण किया। उन मूर्तिमान् अस्त्रोंके शरीर दिव्य तेजसे उद्भासित हो रहे थे। वे अस्त्र जगत्को सुख देनेवाले थे ॥ ११ ॥

केचिदङ्गारसदृशाः केचिद् धूमोपमास्तथा।
चन्द्रार्कसदृशाः केचित् प्रह्वाञ्जलिपुटास्तथा ॥ १२ ॥

उनमेंसे कितने ही अङ्गारोंके समान तेजस्वी थे। कितने ही धूमके समान काले प्रतीत होते थे तथा कुछ अस्त्र सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान थे। वे सब-के-सब हाथ जोड़कर श्रीरामके समक्ष खड़े हुए ॥ १२ ॥

रामं प्राञ्जलयो भूत्वाब्रुवन् मधुरभाषिणः।
इमे स्म नरशार्दूल शाधि किं करवाम ते ॥ १३ ॥

उन्होंने अञ्जलि बाँधे मधुर वाणीमें श्रीरामसे इस प्रकार कहा—'पुरुषसिंह! हमलोग आपके दास हैं। आज्ञा कीजिये, हम आपकी क्या सेवा करें' ॥ १३ ॥

गम्यतामिति तानाह यथेष्टं रघुनन्दनः।
मानसाः कार्यकालेषु साहाय्यं मे करिष्यथ ॥ १४ ॥

तब रघुकुलनन्दन रामने उनसे कहा—'इस समय तो आपलोग अपने अभीष्ट स्थानको जायँ; परंतु आवश्यकताके समय मेरे मनमें स्थित होकर सदा मेरी सहायता करते रहें' ॥ १४ ॥

अथ ते राममामन्त्र्य कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
एवमस्त्विति काकुत्स्थमुक्त्वा जग्मुर्यथागतम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् वे श्रीरामकी परिक्रमा करके उनसे विदा ले उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करनेकी प्रतिज्ञा करके जैसे आये थे, वैसे चले गये ॥ १५ ॥

स च तान् राघवो ज्ञात्वा विश्वामित्रं महामुनिम्।
गच्छन्नेवाथ मधुरं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
किमेतन्मेघसंकाशं पर्वतस्याविदूरतः।
वृक्षखण्डमितो भाति परं कौतूहलं हि मे ॥ १७ ॥

इस प्रकार उन अस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करके श्रीरघुनाथजीने चलते-चलते ही महामुनि विश्वामित्रसे मधुर वाणीमें पूछा—'भगवन्! सामनेवाले पर्वतके पास ही जो यह मेघोंकी घटाके समान सघन वृक्षोंसे भरा स्थान दिखायी देता है, क्या है? उसके विषयमें जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा हो रही है ॥ १६-१७ ॥

दर्शनीयं मृगाकीर्णं मनोहरमतीव च।
नानाप्रकारैः शकुनैर्वल्गुभाषैरलंकृतम् ॥ १८ ॥

'यह दर्शनीय स्थान मृगोंके झुंडसे भरा हुआ होनेके कारण अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है। नाना प्रकारके पक्षी अपनी मधुर शब्दावलीसे इस स्थानकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ १८ ॥

निःसृताः स्मो मुनिश्रेष्ठ कान्ताराद् रोमहर्षणात्।
अनया त्ववगच्छामि देशस्य सुखवत्तया ॥ १९ ॥

'मुनिश्रेष्ठ! इस प्रदेशकी इस सुखमयी स्थितिसे यह जान पड़ता है कि अब हमलोग उस रोमाञ्चकारी दुर्गम ताटकावनसे बाहर निकल आये हैं ॥ १९ ॥

सर्वं मे शंस भगवन् कस्याश्रमपदं त्विदम्।
सम्प्राप्ता यत्र ते पापा ब्रह्मघ्ना दुष्टचारिणः ॥ २० ॥
तव यज्ञस्य विघ्नाय दुरात्मानो महामुने।
भगवंस्तस्य को देशः सा यत्र तव याज्ञिकी ॥ २१ ॥
रक्षितव्या क्रिया ब्रह्मन् मया वध्याश्च राक्षसाः।
एतत् सर्वं मुनिश्रेष्ठ श्रोतुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥ २२ ॥

'भगवन्! मुझे सब कुछ बताइये! यह किसका आश्रम है? भगवन्! महामुने! जहाँ आपकी यज्ञक्रिया हो रही है, जहाँ वे पापी, दुराचारी, ब्रह्महत्यारे, दुरात्मा राक्षस

आपके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये आया करते हैं और जहाँ मुझे यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसोंके वधका कार्य करना है, उस आपके आश्रमका कौन-सा देश है ? ब्रह्मन् ! मुनिश्रेष्ठ प्रभो ! यह सब मैं सुनना चाहता हूँ ॥ २०—२२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

विश्वामित्रजीका श्रीरामसे सिद्धाश्रमका पूर्ववृत्तान्त बताना और उन दोनों भाइयोंके साथ अपने आश्रमपर पहुँचकर पूजित होना

अथ तस्याप्रमेयस्य वचनं परिपृच्छतः ।
विश्वामित्रो महातेजा व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

अपरिमित प्रभावशाली भगवान् श्रीरामका वचन सुनकर महातेजस्वी विश्वामित्रने उनके प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया—॥ १ ॥

इह राम महाबाहो विष्णुर्देवनमस्कृतः ।
वर्षाणि सुबहूनीह तथा युगशतानि च ॥ २ ॥
तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः ।
एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

'महाबाहु श्रीराम ! पूर्वकालमें यहाँ देववन्दित भगवान् विष्णुने बहुत वर्षों एवं सौ युगोंतक तपस्याके लिये निवास किया था । उन्होंने यहाँ बहुत बड़ी तपस्या की थी । यह स्थान महात्मा वामनका—वामन अवतार धारण करनेको उद्यत हुए श्रीविष्णुका अवतार-ग्रहणसे पूर्व आश्रम था ॥२-३॥

सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः ।
एतस्मिन्नेव काले तु राजा वैरोचनिर्बलिः ॥ ४ ॥
निर्जित्य दैवतगणान् सेन्द्रान् सहमरुद्गणान् ।
कारयामास तद्राज्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ॥ ५ ॥

'इसकी सिद्धाश्रमके नामसे प्रसिद्धि थी; क्योंकि यहाँ महातपस्वी विष्णुको सिद्धि प्राप्त हुई थी । जब वे तपस्या करते थे, उसी समय विरोचनकुमार राजा बलिने इन्द्र और मरुद्गणोंसहित समस्त देवताओंको पराजित करके उनका राज्य अपने अधिकारमें कर लिया था । वे तीनों लोकोंमें विख्यात हो गये थे ॥ ४-५ ॥

यज्ञं चकार सुमहानसुरेन्द्रो महाबलः ।
बलेस्तु यजमानस्य देवाः साग्निपुरोगमाः ।
समागम्य स्वयं चैव विष्णुमूचुरिहाश्रमे ॥ ६ ॥

'उन महाबली महान् असुरराजने एक यज्ञका आयोजन किया । उधर बलि यज्ञमें लगे हुए थे, इधर अग्नि आदि देवता स्वयं इस आश्रममें पधारकर भगवान् विष्णुसे बोले—॥ ६ ॥

बलिर्वैरोचनिर्विष्णो यजते यज्ञमुत्तमम् ।
असमाप्तव्रते तस्मिन् स्वकार्यमभिपद्यताम् ॥ ७ ॥

''सर्वव्यापी परमेश्वर ! विरोचनकुमार बलि एक उत्तम यज्ञका अनुष्ठान कर रहे हैं । उनका वह यज्ञ-सम्बन्धी नियम पूर्ण होनेसे पहले ही हमें अपना कार्य सिद्ध कर लेना चाहिये ॥ ७ ॥

ये चैनमभिवर्तन्ते याचितार इतस्ततः ।
यच्च यत्र यथावच्च सर्वं तेभ्यः प्रयच्छति ॥ ८ ॥

''इस समय जो भी याचक इधर-उधरसे आकर उनके यहाँ याचनाके लिये उपस्थित होते हैं, वे गो, भूमि और सुवर्ण आदि सम्पत्तियोंमेंसे जिस वस्तुको भी लेना चाहते हैं, उनको वे सारी वस्तुएँ राजा बलि यथावत् रूपसे अर्पित करते हैं ॥ ८ ॥

स त्वं सुरहितार्थाय मायायोगमुपाश्रितः ।
वामनत्वं गतो विष्णो कुरु कल्याणमुत्तमम् ॥ ९ ॥

''अतः विष्णो ! आप देवताओंके हितके लिये अपनी योगमायाका आश्रय ले वामनरूप धारण करके उस यज्ञमें जाइये और हमारा उत्तम कल्याण-साधन कीजिये' ॥ ९ ॥

एतस्मिन्नन्तरे राम कश्यपोऽग्निसमप्रभः ।
अदित्या सहितो राम दीप्यमान इवौजसा ॥ १० ॥
देवीसहायो भगवान् दिव्यं वर्षसहस्रकम् ।
व्रतं समाप्य वरदं तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ ११ ॥

'श्रीराम ! इसी समय अग्निके समान तेजस्वी महर्षि कश्यप धर्मपत्नी अदितिके साथ अपने तेजसे प्रकाशित होते हुए वहाँ आये । वे एक सहस्र दिव्य वर्षोंतक चालू रहनेवाले महान् व्रतको अदितिदेवीके साथ ही समाप्त करके आये थे । उन्होंने वरदायक भगवान् मधुसूदनकी इस प्रकार स्तुति की—॥ १०-११ ॥

तपोमयं तपोराशिं तपोमूर्तिं तपात्मकम् ।
तपसा त्वां सुतप्तेन पश्यामि पुरुषोत्तमम् ॥ १२ ॥

''भगवन् ! आप तपोमय हैं । तपस्याकी राशि हैं । तप आपका स्वरूप है । आप ज्ञानस्वरूप हैं । मैं भलीभाँति तपस्या करके उसके प्रभावसे आप पुरुषोत्तमका दर्शन कर रहा हूँ ॥ १२ ॥

शरीरे तव पश्यामि जगत् सर्वमिदं प्रभो।
त्वमनादिरनिर्देश्यस्त्वामहं शरणं गतः ॥ १३ ॥

"प्रभो ! मैं इस सारे जगत्‌को आपके शरीरमें स्थित देखता हूँ। आप अनादि हैं। देश, काल और वस्तुकी सीमासे परे होनेके कारण आपका इदमित्थंरूपसे निर्देश नहीं किया जा सकता। मैं आपकी शरणमें आया हूँ" ॥ १३ ॥

तमुवाच हरिः प्रीतः कश्यपं गतकल्मषम्।
वरं वरय भद्रं ते वरार्होऽसि मतो मम ॥ १४ ॥

'कश्यपजीके सारे पाप धुल गये थे। भगवान् श्रीहरिने अत्यन्त प्रसन्न होकर उनसे कहा—'महर्षे! तुम्हारा कल्याण हो। तुम अपनी इच्छाके अनुसार कोई वर माँगो; क्योंकि तुम मेरे विचारसे वर पानेके योग्य हो' ॥ १४ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य मारीचः कश्यपोऽब्रवीत्।
अदित्या देवतानां च मम चैवानुयाचितम् ॥ १५ ॥
वरं वरद सुप्रीतो दातुमर्हसि सुव्रत।
पुत्रत्वं गच्छ भगवन्नदित्या मम चानघ ॥ १६ ॥

'भगवान्‌का यह वचन सुनकर मरीचिनन्दन कश्यपने कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले वरदायक परमेश्वर ! सम्पूर्ण देवताओंकी, अदितिकी तथा मेरी भी आपसे एक ही बातके लिये बारंबार याचना है। आप अत्यन्त प्रसन्न होकर मुझे वह एक ही वर प्रदान करें। भगवन्! निष्पाप नारायणदेव ! आप मेरे और अदितिके पुत्र हो जायँ ॥१५-१६॥

भ्राता भव यवीयांस्त्वं शक्रस्यासुरसूदन।
शोकार्तानां तु देवानां साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १७ ॥

"असुरसूदन ! आप इन्द्रके छोटे भाई हों और शोकसे पीड़ित हुए इन देवताओंकी सहायता करें ॥ १७ ॥

अयं सिद्धाश्रमो नाम प्रसादात् ते भविष्यति।
सिद्धे कर्मणि देवेश उत्तिष्ठ भगवन्नितः ॥ १८ ॥

"देवेश्वर ! भगवन् ! आपकी कृपासे यह स्थान सिद्धाश्रमके नामसे विख्यात होगा। अब आपका तपरूप कार्य सिद्ध हो गया है; अतः यहाँसे उठिये' ॥ १८ ॥

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत् ॥ १९ ॥

'तदनन्तर महातेजस्वी भगवान् विष्णु अदितिदेवीके गर्भसे प्रकट हुए और वामनरूप धारण करके विरोचनकुमार बलिके पास गये ॥ १९ ॥

त्रीन् पदानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम्।
आक्रम्य लोकाँल्लोकार्थी सर्वलोकहिते रतः ॥ २० ॥
महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः ॥ २१ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर रहनेवाले भगवान् विष्णु बलिके अधिकारसे त्रिलोकीका राज्य ले लेना चाहते थे; अतः उन्होंने तीन पग भूमिके लिये याचना करके उनसे भूमि-दान ग्रहण किया और तीनों लोकोंको आक्रान्त करके उन्हें पुनः देवराज इन्द्रको लौटा दिया। महातेजस्वी श्रीहरिने अपनी शक्तिसे बलिका निग्रह करके त्रिलोकीको पुनः इन्द्रके अधीन कर दिया ॥ २०-२१ ॥

तेनैव पूर्वमाक्रान्त आश्रमः श्रमनाशनः।
मयापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते ॥ २२ ॥

'उन्हीं भगवान्‌ने पूर्वकालमें यहाँ निवास किया था; इसलिये यह आश्रम सब प्रकारके श्रम (दुःख-शोक) का नाश करनेवाला है। उन्हीं भगवान् वामनमें भक्ति होनेके कारण मैं भी इस स्थानको अपने उपयोगमें लाता हूँ ॥२२॥

एनमाश्रममायान्ति राक्षसा विघ्नकारिणः।
अत्र ते पुरुषव्याघ्र हन्तव्या दुष्टचारिणः ॥ २३ ॥

'इसी आश्रमपर मेरे यज्ञमें विघ्न डालनेवाले राक्षस आते हैं। पुरुषसिंह ! यहीं तुम्हें उन दुराचारियोंका वध करना है ॥ २३ ॥

अद्य गच्छामहे राम सिद्धाश्रममनुत्तमम्।
तदाश्रमपदं तात तवाप्येतद् यथा मम ॥ २४ ॥

'श्रीराम ! अब हमलोग उस परम उत्तम सिद्धाश्रममें पहुँच रहे हैं। तात ! वह आश्रम जैसे मेरा है, वैसे ही तुम्हारा भी है' ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतो गृह्य रामं सलक्ष्मणम्।
प्रविशन्नाश्रमपदं व्यरोचत महामुनिः।
शशीव गतनीहारः पुनर्वसुसमन्वितः ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर महामुनिने बड़े प्रेमसे श्रीराम और लक्ष्मणके हाथ पकड़ लिये और उन दोनोंके साथ आश्रममें प्रवेश किया। उस समय पुनर्वसु नामक दो नक्षत्रोंके बीचमें स्थित तुषाररहित चन्द्रमाकी भाँति उनकी शोभा हुई ॥ २५ ॥

तं दृष्ट्वा मुनयः सर्वे सिद्धाश्रमनिवासिनः।
उत्पत्योत्पत्य सहसा विश्वामित्रमपूजयन् ॥ २६ ॥
यथार्हं चक्रिरे पूजां विश्वामित्राय धीमते।
तथैव राजपुत्राभ्यामकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥ २७ ॥

विश्वामित्रजीको आया देख सिद्धाश्रममें रहनेवाले सभी तपस्वी उछलते-कूदते हुए सहसा उनके पास आये और सबने मिलकर उन बुद्धिमान् विश्वामित्रजीकी यथोचित पूजा की। इसी प्रकार उन्होंने उन दोनों राजकुमारोंका भी अतिथि-सत्कार किया ॥ २६-२७ ॥

मुहूर्तमथ विश्रान्तौ राजपुत्रावरिंदमौ।
प्राञ्जली मुनिशार्दूलमूचतू रघुनन्दनौ ॥ २८ ॥

दो घड़ीतक विश्राम करनेके बाद रघुकुलको आनन्द

देनेवाले शत्रुदमन राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण हाथ जोड़कर मुनिवर विश्वामित्रसे बोले—॥ २८ ॥

अद्यैव दीक्षां प्रविश भद्रं ते मुनिपुंगव।
सिद्धाश्रमोऽयं सिद्धः स्यात् सत्यमस्तु वचस्तव ॥ २९ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! आप आज ही यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करें। आपका कल्याण हो। यह सिद्धाश्रम वास्तवमें यथानाम तथागुण सिद्ध हो और राक्षसोंके वधके विषयमें आपकी कही हुई बात सच्ची हो' ॥ २९ ॥

एवमुक्तो महातेजा विश्वामित्रो महानृषिः।
प्रविवेश तदा दीक्षां नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३० ॥

कुमारावपि तां रात्रिमुषित्वा सुसमाहितौ।
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां संध्यामुपास्य च ॥ ३१ ॥
प्रशुची परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम् ॥ ३२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्र जितेन्द्रियभावसे नियमपूर्वक यज्ञकी दीक्षामें प्रविष्ट हुए। वे दोनों राजकुमार भी सावधानीके साथ रात व्यतीत करके सबेरे उठे और स्नान आदिसे शुद्ध हो प्रातःकालकी संध्योपासना तथा नियमपूर्वक सर्वश्रेष्ठ गायत्रीमन्त्रका जप करने लगे। जप पूरा होनेपर उन्होंने अग्निहोत्र करके बैठे हुए विश्वामित्रजीके चरणोंमें वन्दना की ॥ ३०—३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

श्रीरामद्वारा विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा तथा राक्षसोंका संहार

अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिंदमौ।
देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः ॥ १ ॥

तदनन्तर देश और कालको जाननेवाले शत्रुदमन राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण जो देश और कालके अनुसार बोलने योग्य वचनके मर्मज्ञ थे, कौशिक मुनिसे इस प्रकार बोले—॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छावो यस्मिन् काले निशाचरौ।
संरक्षणीयौ तौ ब्रूहि नातिवर्तेत तत्क्षणम् ॥ २ ॥

'भगवन् ! अब हम दोनों यह सुनना चाहते हैं कि किस समय उन दोनों निशाचरोंका आक्रमण होता है ? जब कि हमें उन दोनोंको यज्ञभूमिमें आनेसे रोकना है। कहीं ऐसा न हो, असावधानीमें ही वह समय हाथसे निकल जाय; अतः उसे बता दीजिये' ॥ २ ॥

एवं ब्रुवाणौ काकुत्स्थौ त्वरमाणौ युयुत्सया।
सर्वे ते मुनयः प्रीताः प्रशशंसुर्नृपात्मजौ ॥ ३ ॥

ऐसी बात कहकर युद्धकी इच्छासे उतावले हुए उन दोनों ककुत्स्थवंशी राजकुमारोंकी ओर देखकर वे सब मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन दोनों बन्धुओंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ ३ ॥

अद्यप्रभृति षड्रात्रं रक्षतां राघवौ युवाम्।
दीक्षां गतो ह्येष मुनिर्मौनित्वं च गमिष्यति ॥ ४ ॥

वे बोले—'ये मुनिवर विश्वामित्रजी यज्ञकी दीक्षा ले चुके हैं; अतः अब मौन रहेंगे। आप दोनों रघुवंशी वीर सावधान होकर आजसे छः रातोंतक इनके यज्ञकी रक्षा करते रहें ॥४॥

तौ तु तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रौ यशस्विनौ।
अनिद्रं षडहोरात्रं तपोवनमरक्षताम् ॥ ५ ॥

मुनियोंका यह वचन सुनकर वे दोनों यशस्वी राजकुमार लगातार छः दिन और छः राततक उस तपोवनकी रक्षा करते रहे; इस बीचमें उन्होंने नींद भी नहीं ली ॥ ५ ॥

उपासांचक्रतुर्वीरौ यत्तौ परमधन्विनौ।
ररक्षतुर्मुनिवरं विश्वामित्रमरिंदमौ ॥ ६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले वे परम धनुर्धर वीर सतत सावधान रहकर मुनिवर विश्वामित्रके पास खड़े हो उनकी (और उनके यज्ञकी) रक्षामें लगे रहे ॥ ६ ॥

अथ काले गते तस्मिन् षष्ठेऽहनि तदागते।
सौमित्रिमब्रवीद् रामो यत्तो भव समाहितः ॥ ७ ॥

इस प्रकार कुछ काल बीत जानेपर जब छठा दिन आया, तब श्रीरामने सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! तुम अपने चित्तको एकाग्र करके सावधान हो जाओ' ॥ ७ ॥

रामस्यैवं ब्रुवाणस्य त्वरितस्य युयुत्सया।
प्रजज्वाल ततो वेदिः सोपाध्यायपुरोहिता ॥ ८ ॥

युद्धकी इच्छासे शीघ्रता करते हुए श्रीराम इस प्रकार कह ही रहे थे कि उपाध्याय (ब्रह्मा), पुरोहित (उपद्रष्टा) तथा अन्यान्य ऋत्विजोंसे घिरी हुई यज्ञकी वेदी सहसा प्रज्वलित हो उठी (वेदीका यह जलना राक्षसोंके आगमनका सूचक उत्पात था) ॥ ८ ॥

सदर्भचमसस्रुक्का ससमित्कुसुमोच्चया।
विश्वामित्रेण सहिता वेदिर्जज्वाल सर्त्विजा ॥ ९ ॥

इसके बाद कुश, चमस, स्रुक्, समिधा और फूलोंके ढेरसे सुशोभित होनेवाली विश्वामित्र तथा ऋत्विजोंसहित जो यज्ञकी वेदी थी, उसपर आहवनीय अग्नि प्रज्वलित हुई

(अग्निका यह प्रज्वलन यज्ञके उद्देश्यसे हुआ था) ॥ ९ ॥

मन्त्रवच्च यथान्यायं यज्ञोऽसौ सम्प्रवर्तते ।
आकाशे च महाञ्छब्दः प्रादुरासीद् भयानकः ॥ १० ॥

फिर तो शास्त्रीय विधिके अनुसार वेद-मन्त्रोंके उच्चारण-पूर्वक उस यज्ञका कार्य आरम्भ हुआ । इसी समय आकाशमें बड़े जोरका शब्द हुआ, जो बड़ा ही भयानक था ॥ १० ॥

आवार्य गगनं मेघो यथा प्रावृषि दृश्यते ।
तथा मायां विकुर्वाणौ राक्षसावभ्यधावताम् ॥ ११ ॥
मारीचश्च सुबाहुश्च तयोरनुचरास्तथा ।
आगम्य भीमसंकाशा रुधिरौघानवासृजन् ॥ १२ ॥

जैसे वर्षाकालमें मेघोंकी घटा सारे आकाशको घेरकर छायी हुई दिखायी देती है, उसी प्रकार मारीच और सुबाहु नामक राक्षस सब ओर अपनी माया फैलाते हुए यज्ञमण्डपकी ओर दौड़े आ रहे थे । उनके अनुचर भी साथ थे । उन भयंकर राक्षसोंने वहाँ आकर रक्तकी धाराएँ बरसाना आरम्भ कर दिया ॥ ११-१२ ॥

तां तेन रुधिरौघेण वेदीं वीक्ष्य समुक्षिताम् ।
सहसाभिद्रुतो रामस्तानपश्यत् ततो दिवि ॥ १३ ॥
तावापतन्तौ सहसा दृष्ट्वा राजीवलोचनः ।
लक्ष्मणं त्वभिसम्प्रेक्ष्य रामो वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

रक्तके उस प्रवाहसे यज्ञ-वेदीके आस-पासकी भूमिको भींगी हुई देख श्रीरामचन्द्रजी सहसा दौड़े और इधर-उधर दृष्टि डालनेपर उन्होंने उन राक्षसोंको आकाशमें स्थित देखा । मारीच और सुबाहुको सहसा आते देख कमलनयन श्रीरामने लक्ष्मणकी ओर देखकर कहा—॥ १३-१४ ॥

पश्य लक्ष्मण दुर्वृत्तान् राक्षसान् पिशिताशनान् ।
मानवास्त्रसमाधूताननिलेन यथा घनान् ॥ १५ ॥
करिष्यामि न संदेहो नोत्सहे हन्तुमीदृशान् ।

'लक्ष्मण ! वह देखो, मांस भक्षण करनेवाले दुराचारी राक्षस आ पहुँचे । मैं मानवास्त्रसे इन सबको उसी प्रकार मार भगाऊँगा, जैसे वायुके वेगसे बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । मेरे इस कथनमें तनिक भी संदेह नहीं है । ऐसे कायरोंको मैं मारना नहीं चाहता' ॥ १५½ ॥

इत्युक्त्वा वचनं रामश्चापे संधाय वेगवान् ॥ १६ ॥
मानवं परमोदारमस्त्रं परमभास्वरम् ।
चिक्षेप परमक्रुद्धो मारीचोरसि राघवः ॥ १७ ॥

ऐसा कहकर वेगशाली श्रीरामने अपने धनुषपर परम उदार मानवास्त्रका संधान किया । वह अस्त्र अत्यन्त तेजस्वी था । श्रीरामने बड़े रोषमें भरकर मारीचकी छातीमें उस बाणका प्रहार किया ॥ १६-१७ ॥

स तेन परमास्त्रेण मानवेन समाहतः ।
सम्पूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागरसम्प्लवे ॥ १८ ॥

उस उत्तम मानवास्त्रका गहरा आघात लगनेसे मारीच पूरे सौ योजनकी दूरीपर समुद्रके जलमें जा गिरा ॥ १८ ॥

विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम् ।
निरस्तं दृश्य मारीचं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १९ ॥

शीतेषु नामक मानवास्त्रसे पीड़ित हो मारीच अचेत-सा होकर चक्कर काटता हुआ दूर चला जा रहा है । यह देख श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—॥ १९ ॥

पश्य लक्ष्मण शीतेषुं मानवं मनुसंहितम् ।
मोहयित्वा नयत्येनं न च प्राणैर्वियुज्यते ॥ २० ॥

'लक्ष्मण ! देखो, मनुके द्वारा प्रयुक्त शीतेषु नामक मानवास्त्र इस राक्षसको मूर्छित करके दूर लिये जा रहा है, किंतु उसके प्राण नहीं ले रहा है ॥ २० ॥

इमानपि वधिष्यामि निर्घृणान् दुष्टचारिणः ।
राक्षसान् पापकर्मस्थान् यज्ञघ्नान् रुधिराशनान् ॥ २१ ॥

'अब यज्ञमें विघ्न डालनेवाले इन दूसरे निर्दय, दुराचारी पापकर्मी एवं रक्तभोजी राक्षसोंको भी मार गिराता हूँ' ॥ २१ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं चाशु लाघवं दर्शयन्निव ।
विगृह्य सुमहच्चास्त्रमाग्नेयं रघुनन्दनः ॥ २२ ॥
सुबाहूरसि चिक्षेप स विद्धः प्रापतद् भुवि ।
शेषान् वायव्यमादाय निजघान महायशाः ।
राघवः परमोदारो मुनीनां मुदमावहन् ॥ २३ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर रघुनन्दन श्रीरामने अपने हाथकी फुर्ती दिखाते हुए-से शीघ्र ही महान् आग्नेयास्त्रका संधान करके उसे सुबाहुकी छातीपर चलाया । उसकी चोट लगते ही वह मरकर पृथ्वीपर गिर पड़ा । फिर महायशस्वी परम उदार रघुवीरने वायव्यास्त्र लेकर शेष निशाचरोंका भी संहार कर डाला और मुनियोंको परम आनन्द प्रदान किया ॥ २२-२३ ॥

स हत्वा राक्षसान् सर्वान् यज्ञघ्नान् रघुनन्दनः ।
ऋषिभिः पूजितस्तत्र यथेन्द्रो विजये पुरा ॥ २४ ॥

इस प्रकार रघुकुलनन्दन श्रीराम यज्ञमें विघ्न डालनेवाले समस्त राक्षसोंका वध करके वहाँ ऋषियोंद्वारा उसी प्रकार सम्मानित हुए जैसे पूर्वकालमें देवराज इन्द्र असुरोंपर विजय पाकर महर्षियोंद्वारा पूजित हुए थे ॥ २४ ॥

अथ यज्ञे समाप्ते तु विश्वामित्रो महामुनिः ।
निरीतिका दिशो दृष्ट्वा काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

यज्ञ समाप्त होनेपर महामुनि विश्वामित्रने सम्पूर्ण दिशाओंको विघ्न-बाधाओंसे रहित देख श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—॥

कृतार्थोऽस्मि महाबाहो कृतं गुरुवचस्त्वया ।
सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीर महायशः ।
स हि रामं प्रशस्यैवं ताभ्यां संध्यामुपागमत् ॥ २६ ॥

'महाबाहो ! मैं तुम्हें पाकर कृतार्थ हो गया । तुमने

गुरुकी आज्ञाका पूर्णरूपसे पालन किया । महायशस्वी वीर ! तुमने इस सिद्धाश्रमका नाम सार्थक कर दिया ।' इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीकी प्रशंसा करके मुनिने उन दोनों भाइयोंके साथ संध्योपासना की ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम, लक्ष्मण तथा ऋषियोंसहित विश्वामित्रका मिथिलाको प्रस्थान तथा मार्गमें संध्याके समय शोणभद्रतटपर विश्राम

अथ तां रजनीं तत्र कृतार्थौ रामलक्ष्मणौ ।
ऊषतुर्मुदितौ वीरौ प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १ ॥

तदनन्तर (विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा करके) कृतकृत्य हुए श्रीराम और लक्ष्मणने उस यज्ञशालामें ही वह रात बितायी । उस समय वे दोनों वीर बड़े प्रसन्न थे । उनका हृदय हर्षोल्लाससे परिपूर्ण था ॥ १ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियौ ।
विश्वामित्रमृषींश्चान्यान् सहिताविभिजग्मतुः ॥ २ ॥

रात बीतनेपर जब प्रातःकाल आया, तब वे दोनों भाई पूर्वाह्णकालके नित्य-नियमसे निवृत्त हो विश्वामित्र मुनि तथा अन्य ऋषियोंके पास साथ-साथ गये ॥ २ ॥

अभिवाद्य मुनिश्रेष्ठं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
ऊचतुः परमोदारं वाक्यं मधुरभाषिणौ ॥ ३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रको प्रणाम किया और मधुर भाषामें यह परम उदार वचन कहा—॥ ३ ॥

इमौ स्म मुनिशार्दूल किंकरौ समुपागतौ ।
आज्ञापय मुनिश्रेष्ठ शासनं करवाव किम् ॥ ४ ॥

'मुनिप्रवर ! हम दोनों किङ्कर आपकी सेवामें उपस्थित हैं। मुनिश्रेष्ठ ! आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें ?' ॥ ४ ॥

एवमुक्ते तयोर्वाक्ये सर्व एव महर्षयः ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य रामं वचनमब्रुवन् ॥ ५ ॥

उन दोनोंके ऐसा कहनेपर वे सभी महर्षि विश्वामित्रको आगे करके श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ ५ ॥

मैथिलस्य नरश्रेष्ठ जनकस्य भविष्यति ।
यज्ञः परमधर्मिष्ठस्तत्र यास्यामहे वयम् ॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मिथिलाके राजा जनकका परम धर्ममय यज्ञ प्रारम्भ होनेवाला है । उसमें हम सब लोग जायँगे ॥ ६ ॥

त्वं चैव नरशार्दूल सहास्माभिर्गमिष्यसि ।
अद्भुतं च धनूरत्नं तत्र त्वं द्रष्टुमर्हसि ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह ! तुम्हें भी हमारे साथ वहाँ चलना है । वहाँ एक बड़ा ही अद्भुत धनुषरत्न है । तुम्हें उसे देखना चाहिये ॥ ७ ॥

तद्धि पूर्वं नरश्रेष्ठ दत्तं सदसि दैवतैः ।
अप्रमेयबलं घोरं मखे परमभास्वरम् ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर ! पहले कभी यज्ञमें पधारे हुए देवताओंने जनकके किसी पूर्वपुरुषको वह धनुष दिया था । वह कितना प्रबल और भारी है, इसका कोई माप-तोल नहीं है । वह बहुत ही प्रकाशमान एवं भयंकर है ॥ ८ ॥

नास्य देवा न गन्धर्वा नासुरा न च राक्षसाः ।
कर्तुमारोपणं शक्ता न कथंचन मानुषाः ॥ ९ ॥

'मनुष्योंकी तो बात ही क्या है । देवता, गन्धर्व, असुर तथा राक्षस भी किसी तरह उसकी प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा पाते ॥ ९ ॥

धनुषस्तस्य वीर्यं हि जिज्ञासन्तो महीक्षितः ।
न शेकुरारोपयितुं राजपुत्रा महाबलाः ॥ १० ॥

'उस धनुषकी शक्तिका पता लगानेके लिये कितने ही महाबली राजा और राजकुमार आये; किंतु कोई भी उसे चढ़ा न सके ॥ १० ॥

तद्धनुर्नरशार्दूल मैथिलस्य महात्मनः ।
तत्र द्रक्ष्यसि काकुत्स्थ यज्ञं च परमाद्भुतम् ॥ ११ ॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन पुरुषसिंह राम ! वहाँ चलनेसे तुम महामना मिथिलानरेशके उस धनुषको तथा उनके परम अद्भुत यज्ञको भी देख सकोगे ॥ ११ ॥

तद्धि यज्ञफलं तेन मैथिलेनोत्तमं धनुः ।
याचितं नरशार्दूल सुनाभं सर्वदैवतैः ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मिथिलानरेशने अपने यज्ञके फलरूपमें उस उत्तम धनुषको माँगा था; अतः सम्पूर्ण देवताओं तथा भगवान् शङ्करने उन्हें वह धनुष प्रदान किया था । उस धनुषका मध्यभाग, जिसे मुट्ठीसे पकड़ा जाता है, बहुत ही सुन्दर है ॥ १२ ॥

आयागभूतं नृपतेस्तस्य वेश्मनि राघव ।
अर्चितं विविधैर्गन्धैर्धूपैश्चागुरुगन्धिभिः ॥ १३ ॥

'रघुनन्दन ! राजा जनकके महलमें वह धनुष पूजनीय देवताकी भाँति प्रतिष्ठित है और नाना प्रकारके गन्ध, धूप तथा अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंसे उसकी पूजा होती है' ॥

एवमुक्त्वा मुनिवरः प्रस्थानमकरोत् तदा ।
सर्षिसङ्घः सकाकुत्स्थ आमन्त्र्य वनदेवताः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर मुनिवर विश्वामित्रजीने वन-देवताओंसे आज्ञा ली और ऋषिमण्डली तथा राम-लक्ष्मणके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ १४ ॥

स्वस्ति वोऽस्तु गमिष्यामि सिद्धः सिद्धाश्रमादहम् ।
उत्तरे जाह्नवीतीरे हिमवन्तं शिलोच्चयम् ॥ १५ ॥

चलते समय उन्होंने वनदेवताओंसे कहा—'मैं अपना यज्ञकार्य सिद्ध करके इस सिद्धाश्रमसे जा रहा हूँ। गङ्गाके उत्तर तटपर होता हुआ हिमालयपर्वतकी उपत्यकामें जाऊँगा। आपलोगोंका कल्याण हो' ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलः कौशिकः स तपोधनः ।
उत्तरां दिशमुद्दिश्य प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर तपस्याके धनी मुनिश्रेष्ठ कौशिकने उत्तर दिशाकी ओर प्रस्थान आरम्भ किया ॥ १६ ॥

तं व्रजन्तं मुनिवरमन्वगादनुसारिणाम् ।
शकटीशतमात्रं तु प्रयाणे ब्रह्मवादिनाम् ॥ १७ ॥

उस समय प्रस्थानके समय यात्रा करते हुए मुनिवर विश्वामित्रके पीछे उनके साथ जानेवाले ब्रह्मवादी महर्षियोंकी सौ गाड़ियाँ चलीं ॥ १७ ॥

मृगपक्षिगणाश्चैव सिद्धाश्रमनिवासिनः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ १८ ॥

सिद्धाश्रममें निवास करनेवाले मृग और पक्षी भी तपोधन विश्वामित्रके पीछे-पीछे जाने लगे ॥ १८ ॥

निवर्तयामास ततः सर्षिसङ्घः स पक्षिणः ।
ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ॥ १९ ॥
वासं चक्रुर्मुनिगणाः शोणाकूले समाहिताः ।
तेऽस्तं गते दिनकरे स्नात्वा हुतहुताशनाः ॥ २० ॥

कुछ दूर जानेपर ऋषिमण्डलीसहित विश्वामित्रने उन पशु-पक्षियोंको लौटा दिया। फिर दूरतकका मार्ग तै कर लेनेके बाद जब सूर्य अस्ताचलको जाने लगे, तब उन ऋषियोंने पूर्ण सावधान रहकर शोणभद्रके तटपर पड़ाव डाला। जब सूर्यदेव अस्त हो गये, तब स्नान करके उन सबने अग्निहोत्रका कार्य पूर्ण किया ॥ १९-२० ॥

विश्वामित्रं पुरस्कृत्य निषेदुरमितौजसः ।
रामोऽपि सहसौमित्रिर्मुनींस्तानभिपूज्य च ॥ २१ ॥
अग्रतो निषसादाथ विश्वामित्रस्य धीमतः ।

इसके बाद वे सभी अमिततेजस्वी ऋषि मुनिवर विश्वामित्रको आगे करके बैठे; फिर लक्ष्मणसहित श्रीराम भी उन ऋषियोंका आदर करते हुए बुद्धिमान् विश्वामित्रजीके सामने बैठ गये ॥ २१½ ॥

अथ रामो महातेजा विश्वामित्रं तपोधनम् ॥ २२ ॥
पप्रच्छ मुनिशार्दूलं कौतूहलसमन्वितम् ।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीरामने तपस्याके धनी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे कौतूहलपूर्वक पूछा—॥ २२½ ॥

भगवन् को न्वयं देशः समृद्धवनशोभितः ॥ २३ ॥
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ।

'भगवन् ! यह हरे-भरे समृद्धिशाली वनसे सुशोभित देश कौन-सा है ? मैं इसका परिचय सुनना चाहता हूँ। आपका कल्याण हो। आप मुझे ठीक-ठीक इसका रहस्य बताइये' ॥ २३½ ॥

नोदितो रामवाक्येन कथयामास सुव्रतः ।
तस्य देशस्य निखिलमृषिमध्ये महातपाः ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रश्नसे प्रेरित होकर उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महातपस्वी विश्वामित्रने ऋषिमण्डलीके बीच उस देशका पूर्णरूपसे परिचय देना प्रारम्भ किया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

ब्रह्मपुत्र कुशके चार पुत्रोंका वर्णन, शोणभद्र-तटवर्ती प्रदेशको वसुकी भूमि बताना, कुशनाभकी सौ कन्याओंका वायुके कोपसे 'कुब्जा' होना

ब्रह्मयोनिर्महानासीत् कुशो नाम महातपाः ।
अक्लिष्टव्रतधर्मज्ञः सज्जनप्रतिपूजकः ॥ १ ॥

(विश्वामित्रजी कहते हैं—) श्रीराम ! पूर्वकालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक महातपस्वी राजा हो गये हैं। वे साक्षात् ब्रह्माजीके पुत्र थे। उनका प्रत्येक व्रत एवं संकल्प बिना किसी क्लेश या कठिनाईके ही पूर्ण होता था। वे धर्मके ज्ञाता, सत्पुरुषोंका आदर करनेवाले और महान् थे ॥ १ ॥

स महात्मा कुलीनायां युक्तायां सुमहाबलान् ।
वैदर्भ्यां जनयामास चतुरः सदृशान् सुतान् ॥ २ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न विदर्भदेशकी राजकुमारी उनकी

पत्नी थी। उसके गर्भसे उन महात्मा नरेशने चार पुत्र उत्पन्न किये, जो उन्हींके समान थे ॥ २ ॥

कुशाम्बं कुशनाभं च असूर्तरजसं वसुम्।
दीप्तियुक्तान् महोत्साहान् क्षत्रधर्मचिकीर्षया ॥ ३ ॥
तानुवाच कुशः पुत्रान् धर्मिष्ठान् सत्यवादिनः।
क्रियतां पालनं पुत्रा धर्मं प्राप्स्यथ पुष्कलम् ॥ ४ ॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—कुशाम्ब, कुशनाभ, असूर्तरजस* तथा वसु। ये सब-के-सब तेजस्वी तथा महान् उत्साही थे। राजा कुशने 'प्रजारक्षणरूप' क्षत्रिय-धर्मके पालनकी इच्छासे अपने उन धर्मिष्ठ तथा सत्यवादी पुत्रोंसे कहा—'पुत्रो! प्रजाका पालन करो, इससे तुम्हें धर्मका पूरा-पूरा फल प्राप्त होगा' ॥ ३-४ ॥

कुशस्य वचनं श्रुत्वा चत्वारो लोकसत्तमाः।
निवेशं चक्रिरे सर्वे पुराणां नृवरास्तदा ॥ ५ ॥

अपने पिता महाराज कुशकी यह बात सुनकर उन चारों लोकशिरोमणि नरश्रेष्ठ राजकुमारोंने उस समय अपने-अपने लिये पृथक्-पृथक् नगर निर्माण कराया ॥ ५ ॥

कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत् पुरीम्।
कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम् ॥ ६ ॥

महातेजस्वी कुशाम्बने 'कौशाम्बी' पुरी बसायी (जिसे आजकल 'कोसम' कहते हैं)। धर्मात्मा कुशनाभने 'महोदय' नामक नगरका निर्माण कराया ॥ ६ ॥

असूर्तरजसो नाम धर्मारण्यं महामतिः।
चक्रे पुरवरं राजा वसुनाम गिरिव्रजम् ॥ ७ ॥

परम बुद्धिमान् असूर्तरजसने 'धर्मारण्य' नामक एक श्रेष्ठ नगर बसाया तथा राजा वसुने 'गिरिव्रज' नगरकी स्थापना की ॥

एषा वसुमती नाम वसोस्तस्य महात्मनः।
एते शैलवराः पञ्च प्रकाशन्ते समन्ततः ॥ ८ ॥

महात्मा वसुकी यह 'गिरिव्रज' नामक राजधानी वसुमतीके नामसे प्रसिद्ध हुई। इसके चारों ओर ये पाँच श्रेष्ठ पर्वत सुशोभित होते हैं† ॥ ८ ॥

सुमागधी नदी रम्या मागधान् विश्रुताऽऽययौ।
पञ्चानां शैलमुख्यानां मध्ये मालेव शोभते ॥ ९ ॥

यह रमणीय (सोन) नदी दक्षिण-पश्चिमकी ओरसे बहती हुई मगध देशमें आयी है, इसलिये यहाँ 'सुमागधी' नामसे विख्यात हुई है। यह इन पाँच श्रेष्ठ पर्वतोंके बीचमें मालाकी भाँति सुशोभित हो रही है ॥ ९ ॥

सैषा हि मागधी राम वसोस्तस्य महात्मनः।
पूर्वाभिचरिता राम सुक्षेत्रा सस्यमालिनी ॥ १० ॥

श्रीराम! इस प्रकार 'मागधी' नामसे प्रसिद्ध हुई यह सोन नदी पूर्वोक्त महात्मा वसुसे सम्बन्ध रखती है। रघुनन्दन! यह दक्षिण-पश्चिमसे आकर पूर्वोत्तर दिशाकी ओर प्रवाहित हुई है। इसके दोनों तटोंपर सुन्दर क्षेत्र (उपजाऊ खेत) हैं, अतः यह सदा सस्य-मालाओंसे अलंकृत (हरी-भरी खेतीसे सुशोभित) रहती है ॥ १० ॥

कुशनाभस्तु राजर्षिः कन्याशतमनुत्तमम्।
जनयामास धर्मात्मा घृताच्यां रघुनन्दन ॥ ११ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम! धर्मात्मा राजर्षि कुशनाभने घृताची अप्सराके गर्भसे परम उत्तम सौ कन्याओंको जन्म दिया ॥ ११ ॥

तास्तु यौवनशालिन्यो रूपवत्यः स्वलंकृताः।
उद्यानभूमिमागम्य प्रावृषीव शतह्रदाः ॥ १२ ॥
गायन्त्यो नृत्यमानाश्च वादयन्त्यस्तु राघव।
आमोदं परमं जग्मुर्वराभरणभूषिताः ॥ १३ ॥

वे सब-की-सब सुन्दर रूप-लावण्यसे सुशोभित थीं। धीरे-धीरे युवावस्थाने आकर उनके सौन्दर्यको और भी बढ़ा दिया। रघुवीर! एक दिन वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित हो वे सभी राजकन्याएं उद्यान-भूमिमें आकर वर्षाऋतुमें प्रकाशित होनेवाली विद्युन्मालाओंकी भाँति शोभा पाने लगीं। सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत हुई वे अङ्गनाएं गाती-बजाती और नृत्य करती हुई वहाँ परम आमोद-प्रमोदमें मग्न हो गयीं ॥ १२-१३ ॥

अथ ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो रूपेणाप्रतिमा भुवि।
उद्यानभूमिमागम्य तारा इव घनान्तरे ॥ १४ ॥

उनके सभी अङ्ग बड़े मनोहर थे। इस भूतलपर उनके रूप-सौन्दर्यकी कहीं भी तुलना नहीं थी। उस उद्यानमें आकर वे बादलोंके ओटमें कुछ-कुछ छिपी हुई तारिकाओंके समान शोभा पा रही थीं ॥ १४ ॥

ताः सर्वा गुणसम्पन्ना रूपयौवनसंयुताः।
दृष्ट्वा सर्वात्मको वायुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उस समय उत्तम गुणोंसे सम्पन्न तथा रूप और यौवनसे सुशोभित उन सब राजकन्याओंको देखकर सर्वस्वरूप वायु देवताने उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

---

* रामायणशिरोमणि नामक व्याख्याके निर्माताने 'अमूर्तिरजस' पाठ माना है। महाभारतके अनुसार इनका नाम 'अमूर्तरयस' या 'अमूर्तरया' था। (वन० ९५। १७) यहाँ इनके द्वारा धर्मारण्य नामक नगर बसानेका उल्लेख है। यह नगर धर्मारण्य नामक तीर्थभूत वनमें था। यह वन गयाके आस-पासका ही प्रदेश है। अमूर्तरयाके पुत्र गयने ही गया नामक नगर बसाया था। अतः धर्मारण्य और गयाकी एकता सिद्ध होती है। महाभारत वनपर्व (८४। ८५) में गयाके ब्रह्मसरोवरको धर्मारण्यसे सुशोभित बताया गया है। (वन० ८२। ४७) धर्मारण्यमें पितृ-पूजनकी महत्ता बतायी गयी है।

† महाभारत सभापर्व (२१। १—१०) में इन पाँचों पर्वतोंके नाम इस प्रकार वर्णित हैं—(१) विपुल, (२) वराह, (३) वृषभ (ऋषभ), (४) ऋषिगिरि (मातङ्ग) तथा (५) चैत्यक।

अहं वः कामये सर्वा भार्या मम भविष्यथ ।
मानुषस्त्यज्यतां भावो दीर्घमायुरवाप्स्यथ ॥ १६ ॥

'सुन्दरियो ! मैं तुम सबको अपनी प्रेयसीके रूपमें प्राप्त करना चाहता हूँ । तुम सब मेरी भार्याएँ बनोगी । अब मनुष्य-भावका त्याग करो और मुझे अङ्गीकार करके देवाङ्गनाओंकी भाँति दीर्घ आयु प्राप्त कर लो ॥ १६ ॥

चलं हि यौवनं नित्यं मानुषेषु विशेषतः ।
अक्षयं यौवनं प्राप्ता अमर्यश्च भविष्यथ ॥ १७ ॥

'विशेषतः मानव-शरीरमें जवानी कभी स्थिर नहीं रहती—प्रतिक्षण क्षीण होती जाती है । मेरे साथ सम्बन्ध हो जानेपर तुमलोग अक्षय यौवन प्राप्त करके अमर हो जाओगी' ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा वायोरक्लिष्टकर्मणः ।
अपहास्य ततो वाक्यं कन्याशतमथाब्रवीत् ॥ १८ ॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले वायुदेवका यह कथन सुनकर वे सौ कन्याएँ अवहेलनापूर्वक हँसकर बोलीं—॥ १८ ॥

अन्तश्चरसि भूतानां सर्वेषां सुरसत्तम ।
प्रभावज्ञाश्च ते सर्वाः किमर्थमवमन्यसे ॥ १९ ॥

'सुरश्रेष्ठ ! आप प्राणवायुके रूपमें समस्त प्राणियोंके भीतर विचरते हैं (अतः सबके मनकी बातें जानते हैं; आपको यह मालूम होगा कि हमारे मनमें आपके प्रति कोई आकर्षण नहीं है) । हम सब बहिनें आपके अनुपम प्रभावको भी जानती हैं (तो भी हमारा आपके प्रति अनुराग नहीं है); ऐसी दशामें यह अनुचित प्रस्ताव करके आप हमारा अपमान किसलिये कर रहे हैं ? ॥ १९ ॥

कुशनाभसुता देव समस्ताः सुरसत्तम ।
स्थानाच्च्यावयितुं देवं रक्षामस्तु तपो वयम् ॥ २० ॥

'देव ! देवशिरोमणे ! हम सब-की-सब राजर्षि कुशनाभकी कन्याएँ हैं । देवता होनेपर भी आपको शाप देकर वायुपदसे भ्रष्ट कर सकती हैं; किंतु ऐसा करना नहीं चाहतीं; क्योंकि हम अपने तपको सुरक्षित रखती हैं ॥ २० ॥

मा भूत् स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम् ।
अवमन्य स्वधर्मेण स्वयं वरमुपास्महे ॥ २१ ॥

'दुर्मते ! वह समय कभी न आवे, जब कि हम अपने सत्यवादी पिताकी अवहेलना करके कामवश या अत्यन्त अधर्मपूर्वक स्वयं ही वर ढूँढ़ने लगें ॥ २१ ॥

पिता हि प्रभुरस्माकं दैवतं परमं च सः ।
यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति ॥ २२ ॥

'हमलोगोंपर हमारे पिताजीका प्रभुत्व है, वे हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ देवता हैं । पिताजी हमें जिसके हाथमें दे देंगे, वही हमारा पति होगा' ॥ २२ ॥

तासां तु वचनं श्रुत्वा हरिः परमकोपनः ।
प्रविश्य सर्वगात्राणि बभञ्ज भगवान् प्रभुः ॥ २३ ॥
अरत्निमात्राकृतयो भग्नगात्रा भयार्दिताः ।

उनकी यह बात सुनकर वायुदेव अत्यन्त कुपित हो उठे । उन ऐश्वर्यशाली प्रभुने उनके भीतर प्रविष्ट हो सब अङ्गोंको मोड़कर टेढ़ा कर दिया । शरीर मुड़ जानेके कारण वे कुबड़ी हो गयीं । उनकी आकृति मुट्ठी बँधे हुए एक हाथके बराबर हो गयी । वे भयसे व्याकुल हो उठीं ॥२३½॥

ताः कन्या वायुना भग्ना विविशुर्नृपतेर्गृहम् ।
प्रविश्य च सुसम्भ्रान्ताः सलज्जाः साम्रलोचनाः । २४ ।

वायुदेवके द्वारा कुबड़ी की हुई उन कन्याओंने राजभवनमें प्रवेश किया । प्रवेश करके वे लज्जित और उद्विग्न हो गयीं । उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धाराएँ बहने लगीं ॥ २४ ॥

स च ता दयिता भग्नाः कन्याः परमशोभनाः ।
दृष्ट्वा दीनास्तदा राजा सम्भ्रान्त इदमब्रवीत् ॥ २५ ॥

अपनी परम सुन्दरी प्यारी पुत्रियोंको कुब्जताके कारण अत्यन्त दयनीय दशामें पड़ी देख राजा कुशनाभ घबरा गये और इस प्रकार बोले—॥ २५ ॥

किमिदं कथ्यतां पुत्र्यः को धर्ममवमन्यते ।
कुब्जाः केन कृताः सर्वाश्चेष्टन्त्यो नाभिभाषथ ।
एवं राजा विनिःश्वस्य समाधिं संदधे ततः ॥ २६ ॥

'पुत्रियो ! यह क्या हुआ ? बताओ । कौन प्राणी धर्मकी अवहेलना करता है ? किसने तुम्हें कुबड़ी बना दिया, जिससे तुम तड़प रही हो, किंतु कुछ बताती नहीं हो ।' यों कहकर राजाने लंबी साँस खींची और उनका उत्तर सुननेके लिये वे सावधान होकर बैठ गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

राजा कुशनाभद्वारा कन्याओंके धैर्य एवं क्षमाशीलताकी प्रशंसा, ब्रह्मदत्तकी उत्पत्ति तथा उनके साथ कुशनाभकी कन्याओंका विवाह

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कुशनाभस्य धीमतः ।
शिरोभिश्चरणौ स्पृष्ट्वा कन्याशतमभाषत ॥ १ ॥

बुद्धिमान् महाराज कुशनाभका वह वचन सुनकर उन सौ कन्याओंने पिताके चरणोंमें सिर रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

वायुः सर्वात्मको राजन् प्रधर्षयितुमिच्छति ।

अशुभं मार्गमास्थाय न धर्मं प्रत्यवेक्षते ॥ २ ॥

राजन् ! सर्वत्र संचार करनेवाले वायुदेव अशुभ मार्गका अवलम्बन करके हमपर बलात्कार करना चाहते थे। धर्मपर उनकी दृष्टि नहीं थी ॥ २ ॥

पितृमत्यः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः ।
पितरं नो वृणीष्व त्वं यदि नो दास्यते तव ॥ ३ ॥

हमने उनसे कहा—'देव ! आपका कल्याण हो, हमारे पिता विद्यमान हैं, हम स्वच्छन्द नहीं हैं । आप पिताजीके पास जाकर हमारा वरण कीजिये । यदि वे हमें आपको सौंप देंगे तो हम आपकी हो जायँगी' ॥ ३ ॥

तेन पापानुबन्धेन वचनं न प्रतीच्छता ।
एवं ब्रुवन्त्यः सर्वाः स्म वायुनाभिहता भृशम् ॥ ४ ॥

परंतु उनका मन तो पापसे बँधा हुआ था । उन्होंने हमारी बात नहीं मानी । हम सब बहिनें ये ही धर्मसंगत बातें कह रही थीं, तो भी उन्होंने हमें गहरी चोट पहुँचायी—बिना अपराधके ही हमें पीड़ा दी ॥ ४ ॥

तासां तु वचनं श्रुत्वा राजा परमधार्मिकः ।
प्रत्युवाच महातेजाः कन्याशतमनुत्तमम् ॥ ५ ॥

उनकी बात सुनकर परम धर्मात्मा महातेजस्वी राजाने उन अपनी परम उत्तम सौ कन्याओंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ५ ॥

क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्तव्यं सुमहत् कृतम् ।
ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं मम ॥ ६ ॥

'पुत्रियो ! क्षमाशील महापुरुष ही जिसे कर सकते हैं, वही क्षमा तुमने भी की है । यह तुमलोगोंके द्वारा महान् कार्य सम्पन्न हुआ है । तुम सबने एकमत होकर जो मेरे कुलकी मर्यादापर ही दृष्टि रक्खी है—कामभावको अपने मनमें स्थान नहीं दिया है—यह भी तुमने बहुत बड़ा काम किया है ॥६॥

अलंकारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा ।
दुष्करं तच्च वै क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषतः ॥ ७ ॥
यादृशी वः क्षमा पुत्र्यः सर्वासामविशेषतः ।

'स्त्री हो या पुरुष, उसके लिये क्षमा ही आभूषण है । पुत्रियो ! तुम सब लोगोंमें समानरूपसे जैसी क्षमा या सहिष्णुता है, वह विशेषतः देवताओंके लिये भी दुष्कर ही है ॥ ७½ ॥

क्षमा दानं क्षमा सत्यं क्षमा यज्ञाश्च पुत्रिकाः ॥ ८ ॥
क्षमा यशः क्षमा धर्मः क्षमायां विष्ठितं जगत् ।

'पुत्रियो ! क्षमा दान है, क्षमा सत्य है, क्षमा यज्ञ है, क्षमा यश है और क्षमा धर्म है, क्षमापर ही यह सम्पूर्ण जगत् टिका हुआ है' ॥ ८½ ॥

विसृज्य कन्याः काकुत्स्थ राजा त्रिदशविक्रमः ॥ ९ ॥
मन्त्रज्ञो मन्त्रयामास प्रदानं सह मन्त्रिभिः ।
देशे काले च कर्तव्यं सदृशे प्रतिपादनम् ॥ १० ॥

ककुत्स्थकुलनन्दन श्रीराम ! देवतुल्य पराक्रमी राजा कुशनाभने कन्याओंसे ऐसा कहकर उन्हें अन्तःपुरमें जानेकी आज्ञा दे दी और मन्त्रणाके तत्त्वको जाननेवाले उन नरेशने स्वयं मन्त्रियोंके साथ बैठकर कन्याओंके विवाहके विषयमें विचार आरम्भ किया । विचारणीय विषय यह था कि 'किस देशमें किस समय और किस सुयोग्य वरके साथ उनका विवाह किया जाय ?' ॥ ९-१० ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चूली नाम महाद्युतिः ।
ऊर्ध्वरेताः शुभाचारो ब्राह्मं तप उपागमत् ॥ ११ ॥

उन्हीं दिनों चूली नामसे प्रसिद्ध एक महातेजस्वी, सदाचारी एवं ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) मुनि वेदोक्त तपका अनुष्ठान कर रहे थे (अथवा ब्रह्मचिन्तनरूप तपस्यामें संलग्न थे) ॥ ११ ॥

तपस्यन्तमृषिं तत्र गन्धर्वी पर्युपासते ।
सोमदा नाम भद्रं ते ऊर्मिलातनया तदा ॥ १२ ॥

श्रीराम ! तुम्हारा भला हो, उस समय एक गन्धर्वकुमारी वहाँ रहकर उन तपस्वी मुनिकी उपासना (अनुग्रहकी इच्छासे सेवा) करती थी । उसका नाम था सोमदा । वह ऊर्मिलाकी पुत्री थी ॥ १२ ॥

सा च तं प्रणता भूत्वा शुश्रूषणपरायणा ।
उवास काले धर्मिष्ठा तस्यास्तुष्टोऽभवद् गुरुः ॥ १३ ॥

वह प्रतिदिन मुनिको प्रणाम करके उनकी सेवामें लगी रहती थी तथा धर्ममें स्थित रहकर समय-समयपर सेवाके लिये उपस्थित होती थी; इससे उसके ऊपर वे गौरवशाली मुनि बहुत संतुष्ट हुए ॥ १३ ॥

स च तां कालयोगेन प्रोवाच रघुनन्दन ।
परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते किं करोमि तव प्रियम् ॥ १४ ॥

रघुनन्दन ! शुभ समय आनेपर चूलीने उस गन्धर्वकन्यासे कहा—'शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो, मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ । बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य सिद्ध करूँ' ॥ १४ ॥

परितुष्टं मुनिं ज्ञात्वा गन्धर्वी मधुरस्वरम् ।
उवाच परमप्रीता वाक्यज्ञा वाक्यकोविदम् ॥ १५ ॥

मुनिको संतुष्ट जानकर गन्धर्व-कन्या बहुत प्रसन्न हुई । वह बोलनेकी कला जानती थी; उसने वाणीके मर्मज्ञ मुनिसे मधुर स्वरमें इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

लक्ष्म्या समुदितो ब्राह्म्या ब्रह्मभूतो महातपाः ।
ब्राह्मेण तपसा युक्तं पुत्रमिच्छामि धार्मिकम् ॥ १६ ॥

'महर्षे ! आप ब्राह्मी सम्पत्ति (ब्रह्मतेज) से सम्पन्न होकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, अतएव आप महान् तपस्वी

हैं। मैं आपसे ब्राह्म तप (ब्रह्म-ज्ञान एवं वेदोक्त तप) से युक्त धर्मात्मा पुत्र प्राप्त करना चाहती हूँ ॥ १६ ॥

अपतिश्चास्मि भद्रं ते भार्या चास्मि न कस्यचित्।
ब्राह्मेणोपगतायाश्च दातुमर्हसि मे सुतम् ॥ १७ ॥

'मुने ! आपका भला हो। मेरे कोई पति नहीं है। मैं न तो किसीकी पत्नी हुई हूँ और न आगे होऊँगी। आपकी सेवामें आयी हूँ; आप अपने ब्राह्मबल (तपःशक्ति) से मुझे पुत्र प्रदान करें' ॥ १७ ॥

तस्याः प्रसन्नो ब्रह्मर्षिर्ददौ ब्राह्ममनुत्तमम्।
ब्रह्मदत्त इति ख्यातं मानसं चूलिनः सुतम् ॥ १८ ॥

उस गन्धर्वकन्याकी सेवासे संतुष्ट हुए ब्रह्मर्षि चूलीने उसे परम उत्तम ब्राह्मतपसे सम्पन्न पुत्र प्रदान किया। वह उनके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुआ मानस पुत्र था। उसका नाम 'ब्रह्मदत्त' हुआ ॥ १८ ॥

स राजा ब्रह्मदत्तस्तु पुरीमध्यवसत् तदा।
काम्पिल्यां परया लक्ष्म्या देवराजो यथा दिवम् ॥ १९ ॥

(कुशनाभके यहाँ जब कन्याओंके विवाहका विचार चल रहा था) उस समय राजा ब्रह्मदत्त उत्तम लक्ष्मीसे सम्पन्न हो 'काम्पिल्या' नामक नगरीमें उसी तरह निवास करते थे, जैसे स्वर्गकी अमरावतीपुरीमें देवराज इन्द्र ॥ १९ ॥

स बुद्धिं कृतवान् राजा कुशनाभः सुधार्मिकः।
ब्रह्मदत्ताय काकुत्स्थ दातुं कन्याशतं तदा ॥ २० ॥

ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! तब परम धर्मात्मा राजा कुशनाभने ब्रह्मदत्तके साथ अपनी सौ कन्याओंको ब्याह देनेका निश्चय किया ॥ २० ॥

तमाहूय महातेजा ब्रह्मदत्तं महीपतिः।
ददौ कन्याशतं राजा सुप्रीतेनान्तरात्मना ॥ २१ ॥

महातेजस्वी भूपाल राजा कुशनाभने ब्रह्मदत्तको बुलाकर अत्यन्त प्रसन्न चित्तसे उन्हें अपनी सौ कन्याएँ सौंप दीं ॥

यथाक्रमं तदा पाणिं जग्राह रघुनन्दन।
ब्रह्मदत्तो महीपालस्तासां देवपतिर्यथा ॥ २२ ॥

रघुनन्दन ! उस समय देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी पृथ्वीपति ब्रह्मदत्तने क्रमशः उन सभी कन्याओंका पाणिग्रहण किया ॥ २२ ॥

स्पृष्टमात्रे तदा पाणौ विकुब्जा विगतज्वराः।
युक्तं परमया लक्ष्म्या बभौ कन्याशतं तदा ॥ २३ ॥

विवाहकालमें उन कन्याओंके हाथोंका ब्रह्मदत्तके हाथसे स्पर्श होते ही वे सब-की-सब कन्याएँ कुब्जत्वदोषसे रहित, नीरोग तथा उत्तम शोभासे सम्पन्न प्रतीत होने लगीं ॥ २३ ॥

स दृष्ट्वा वायुना मुक्ताः कुशनाभो महीपतिः।
बभूव परमप्रीतो हर्षं लेभे पुनः पुनः ॥ २४ ॥

वातरोगके रूपमें आये हुए वायुदेवने उन कन्याओंको छोड़ दिया—यह देख पृथ्वीपति राजा कुशनाभ बड़े प्रसन्न हुए और बारंबार हर्षका अनुभव करने लगे ॥ २४ ॥

कृतोद्वाहं तु राजानं ब्रह्मदत्तं महीपतिम्।
सदारं प्रेषयामास सोपाध्यायगणं तदा ॥ २५ ॥

भूपाल राजा ब्रह्मदत्तका विवाह-कार्य सम्पन्न हो जानेपर महाराज कुशनाभने उन्हें पत्नियों तथा पुरोहितोंसहित आदरपूर्वक विदा किया ॥ २५ ॥

सोमदापि सुतं दृष्ट्वा पुत्रस्य सदृशीं क्रियाम्।
यथान्यायं च गन्धर्वी स्नुषास्ताः प्रत्यनन्दत।
स्पृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च ताः कन्याः कुशनाभं प्रशस्य च ॥ २६ ॥

गन्धर्वी सोमदाने अपने पुत्रको तथा उसके योग्य विवाह-सम्बन्धको देखकर अपनी उन पुत्रवधुओंका यथोचितरूपसे अभिनन्दन किया। उसने एक-एक करके उन सभी राजकन्याओंको हृदयसे लगाया और महाराज कुशनाभकी सराहना करके वहाँसे प्रस्थान किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

गाधिकी उत्पत्ति, कौशिकीकी प्रशंसा, विश्वामित्रजीका कथा बंद करके आधी रातका वर्णन करते हुए सबको सोनेकी आज्ञा देकर शयन करना

कृतोद्वाहे गते तस्मिन् ब्रह्मदत्ते च राघव।
अपुत्रः पुत्रलाभाय पौत्रीमिष्टिमकल्पयत् ॥ १ ॥

रघुनन्दन ! विवाह करके जब राजा ब्रह्मदत्त चले गये, तब पुत्रहीन महाराज कुशनाभने श्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १ ॥

इष्ट्यां तु वर्तमानायां कुशनाभं महीपतिम्।
उवाच परमोदारः कुशो ब्रह्मसुतस्तदा ॥ २ ॥

उस यज्ञके होते समय परम उदार ब्रह्मकुमार महाराज कुशने भूपाल कुशनाभसे कहा—॥ २ ॥

पुत्रस्ते सदृशः पुत्र भविष्यति सुधार्मिकः।
गाधिं प्राप्स्यसि तेन त्वं कीर्तिं लोके च शाश्वतीम् ॥ ३ ॥

'बेटा ! तुम्हें अपने समान ही परम धर्मात्मा पुत्र प्राप्त

होगा। तुम 'गाधि' नामक पुत्र प्राप्त करोगे और उसके द्वारा तुम्हें संसारमें अक्षय कीर्ति उपलब्ध होगी' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा कुशो राम कुशनाभं महीपतिम्।
जगामाकाशमाविश्य ब्रह्मलोकं सनातनम्॥ ४ ॥

श्रीराम ! पृथ्वीपति कुशनाभसे ऐसा कहकर राजर्षि कुश आकाशमें प्रविष्ट हो सनातन ब्रह्मलोकको चले गये ॥४॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कुशनाभस्य धीमतः।
जज्ञे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः॥ ५ ॥

कुछ कालके पश्चात् बुद्धिमान् राजा कुशनाभके यहाँ परम धर्मात्मा 'गाधि' नामक पुत्रका जन्म हुआ ॥ ५ ॥

स पिता मम काकुत्स्थ गाधिः परमधार्मिकः।
कुशवंशप्रसूतोऽस्मि कौशिको रघुनन्दन॥ ६ ॥

ककुत्स्थकुलभूषण रघुनन्दन ! वे परम धर्मात्मा राजा गाधि मेरे पिता थे। मैं कुशके कुलमें उत्पन्न होनेके कारण 'कौशिक' कहलाता हूँ ॥ ६ ॥

पूर्वजा भगिनी चापि मम राघव सुव्रता।
नाम्ना सत्यवती नाम ऋचीके प्रतिपादिता॥ ७ ॥

राघव ! मेरे एक ज्येष्ठ बहिन भी थी, जो उत्तम व्रतका पालन करनेवाली थी। उसका नाम सत्यवती था। वह ऋचीक मुनिको ब्याही गयी थी ॥ ७ ॥

सशरीरा गता स्वर्गं भर्तारमनुवर्तिनी।
कौशिकी परमोदारा प्रवृत्ता च महानदी॥ ८ ॥

अपने पतिका अनुसरण करनेवाली सत्यवती शरीरसहित स्वर्गलोकको चली गयी थी। वही परम उदार महानदी कौशिकीके रूपमें भी प्रकट होकर इस भूतलपर प्रवाहित होती है ॥ ८ ॥

दिव्या पुण्योदका रम्या हिमवन्तमुपाश्रिता।
लोकस्य हितकार्यार्थं प्रवृत्ता भगिनी मम॥ ९ ॥

मेरी वह बहिन जगत्‌के हितके लिये हिमालयका आश्रय लेकर नदीरूपमें प्रवाहित हुई। वह पुण्यसलिला दिव्य नदी बड़ी रमणीय है ॥ ९ ॥

ततोऽहं हिमवत्पार्श्वे वसामि नियतः सुखम्।
भगिन्यां स्नेहसंयुक्तः कौशिक्यां रघुनन्दन॥ १० ॥

रघुनन्दन ! मेरा अपनी बहिन कौशिकीके प्रति बहुत स्नेह है; अतः मैं हिमालयके निकट उसीके तटपर नियमपूर्वक बड़े सुखसे निवास करता हूँ ॥ १० ॥

सा तु सत्यवती पुण्या सत्ये धर्मे प्रतिष्ठिता।
पतिव्रता महाभागा कौशिकी सरितां वरा॥ ११ ॥

पुण्यमयी सत्यवती सत्य धर्ममें प्रतिष्ठित है। वह परम सौभाग्यशालिनी पतिव्रता देवी यहाँ सरिताओंमें श्रेष्ठ कौशिकीके रूपमें विद्यमान है ॥ ११ ॥

अहं हि नियमाद् राम हित्वा तां समुपागतः।
सिद्धाश्रममनुप्राप्तः सिद्धोऽस्मि तव तेजसा॥ १२ ॥

श्रीराम ! मैं यज्ञसम्बन्धी नियमकी सिद्धिके लिये ही अपनी बहिनका सांनिध्य छोड़कर सिद्धाश्रम (बक्सर) में आया था। अब तुम्हारे तेजसे मुझे वह सिद्धि प्राप्त हो गयी है ॥

एषा राम ममोत्पत्तिः स्वस्य वंशस्य कीर्तिता।
देशस्य हि महाबाहो यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥ १३ ॥

महाबाहु श्रीराम ! तुमने मुझसे जो पूछा था, उसके उत्तरमें मैंने तुम्हें शोणभद्रतटवर्ती देशका परिचय देते हुए यह अपनी तथा अपने कुलकी उत्पत्ति बतायी है ॥ १३ ॥

गतोऽर्धरात्रः काकुत्स्थ कथाः कथयतो मम।
निद्रामभ्येहि भद्रं ते मा भूद् विघ्नोऽध्वनीह नः॥ १४ ॥

काकुत्स्थ ! मेरे कथा कहते-कहते आधी रात बीत गयी। अब थोड़ी देर नींद ले लो। तुम्हारा कल्याण हो। मैं चाहता हूँ कि अधिक जागरणके कारण हमारी यात्रामें विघ्न न पड़े ॥

निष्पन्दास्तरवः सर्वे निलीना मृगपक्षिणः।
नैशेन तमसा व्याप्ता दिशश्च रघुनन्दन॥ १५ ॥

सारे वृक्ष निष्कम्प जान पड़ते हैं—इनका एक पत्ता भी नहीं हिलता है। पशु-पक्षी अपने-अपने वासस्थानमें छिपकर बसेरे लेते हैं। रघुनन्दन ! रात्रिके अन्धकारसे सम्पूर्ण दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं ॥ १५ ॥

शनैर्विसृज्यते संध्या नभो नेत्रैरिवावृतम्।
नक्षत्रतारागहनं ज्योतिर्भिरवभासते॥ १६ ॥

धीरे-धीरे संध्या दूर चली गयी। नक्षत्रों तथा ताराओंसे भरा हुआ आकाश (सहस्राक्ष इन्द्रकी भाँति) सहस्रों ज्योतिर्मय नेत्रोंसे व्याप्त-सा होकर प्रकाशित हो रहा है ॥१६॥

उत्तिष्ठते च शीतांशुः शशी लोकतमोनुदः।
ह्लादयन् प्राणिनां लोके मनांसि प्रभया स्वया॥ १७ ॥

सम्पूर्ण लोकका अन्धकार दूर करनेवाले शीतरश्मि चन्द्रमा अपनी प्रभासे जगत्‌के प्राणियोंके मनको आह्लाद प्रदान करते हुए उदित हो रहे हैं* ॥ १७ ॥

नैशानि सर्वभूतानि प्रचरन्ति ततस्ततः।
यक्षराक्षससङ्घाश्च रौद्राश्च पिशिताशनाः॥ १८ ॥

रातमें विचरनेवाले समस्त प्राणी—यक्ष-राक्षसोंके समुदाय तथा भयंकर पिशाच इधर-उधर विचर रहे हैं ॥ १८ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम महामुनिः।
साधुसाध्विति ते सर्वे मुनयो ह्यभ्यपूजयन्॥ १९ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र चुप हो

---

* इस वर्णनसे जान पड़ता है कि उस रात्रिको कृष्णपक्षकी तृतीया तिथि थी।

गये । उस समय सभी मुनियोंने साधुवाद देकर विश्वामित्रजी-की भूरि-भूरि प्रशंसा की—॥ १९ ॥

कुशिकानामयं वंशो महान् धर्मपरः सदा ।
ब्रह्मोपमा महात्मानः कुशवंश्या नरोत्तमाः ॥ २० ॥

'कुशपुत्रोंका यह वंश सदा ही महान् धर्मपरायण रहा है । कुशवंशी महात्मा श्रेष्ठ मानव ब्रह्माजीके समान तेजस्वी हुए हैं ॥ २० ॥

विशेषेण भवानेव विश्वामित्र महायशः ।
कौशिकी सरितां श्रेष्ठा कुलोद्योतकरी तव ॥ २१ ॥

'महायशस्वी विश्वामित्रजी ! अपने वंशमें सबसे बड़े महात्मा आप ही हैं तथा सरिताओंमें श्रेष्ठ कौशिकी भी आपके कुलकी कीर्तिको प्रकाशित करनेवाली है' ॥ २१ ॥

मुदितैर्मुनिशार्दूलैः प्रशस्तः कुशिकात्मजः ।
निद्रामुपागमच्छ्रीमानस्तंगत इवांशुमान् ॥ २२ ॥

इस प्रकार आनन्दमग्न हुए उन मुनिवरोंद्वारा प्रशंसित श्रीमान् कौशिकमुनि अस्त हुए सूर्यकी भाँति नींद लेने लगे ॥ २२ ॥

रामोऽपि सहसौमित्रिः किंचिदागतविस्मयः ।
प्रशस्य मुनिशार्दूलं निद्रां समुपसेवते ॥ २३ ॥

वह कथा सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामको भी कुछ विस्मय हो आया । वे भी मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रकी सराहना करके नींद लेने लगे ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

शोणभद्र पार करके विश्वामित्र आदिका गङ्गाजीके तटपर पहुँचकर वहाँ रात्रिवास करना तथा श्रीरामके पूछनेपर विश्वामित्रजीका उन्हें गङ्गाजीकी उत्पत्तिकी कथा सुनाना

उपास्य रात्रिशेषं तु शोणाकूले महर्षिभिः ।
निशायां सुप्रभातायां विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

महर्षियोंसहित विश्वामित्रने रात्रिके शेषभागमें शोणभद्रके तटपर शयन किया । जब रात बीती और प्रभात हुआ, तब वे श्रीरामचन्द्रजीसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

सुप्रभाता निशा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते गमनायाभिरोचय ॥ २ ॥

'श्रीराम ! रात बीत गयी । सबेरा हो गया । तुम्हारा कल्याण हो, उठो, उठो और चलनेकी तैयारी करो' ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतपूर्वाह्णिकक्रियः ।
गमनं रोचयामास वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ ३ ॥

मुनिकी बात सुनकर पूर्वाह्णकालका नित्यनियम पूर्ण करके श्रीराम चलनेको तैयार हो गये और इस प्रकार बोले—॥३॥

अयं शोणः शुभजलोऽगाधः पुलिनमण्डितः ।
कतरेण पथा ब्रह्मन् संतरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

'ब्रह्मन् ! शुभ जलसे परिपूर्ण तथा अपने तटोंसे सुशोभित होनेवाला यह शोणभद्र तो अथाह जान पड़ता है । हमलोग किस मार्गसे चलकर इसे पार करेंगे ?' ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ।
एष पन्था मयोद्दिष्टो येन यान्ति महर्षयः ॥ ५ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर विश्वामित्र बोले—'जिस मार्गसे महर्षिगण शोणभद्रको पार करते हैं, उसका मैंने पहलेसे ही निश्चय कर रखा है, वह मार्ग यह है' ॥ ५ ॥

एवमुक्ता महर्षयो विश्वामित्रेण धीमता ।
पश्यन्तस्ते प्रयाता वै वनानि विविधानि च ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर वे महर्षि नाना प्रकारके वनोंकी शोभा देखते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ६ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं गतेऽर्धदिवसे तदा ।
जाह्नवीं सरितां श्रेष्ठां ददृशुर्मुनिसेविताम् ॥ ७ ॥

बहुत दूरका मार्ग तै कर लेनेपर दोपहर होते-होते उन सब लोगोंने मुनिजनसेवित, सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीके तटपर पहुँचकर उनका दर्शन किया ॥ ७ ॥

तां दृष्ट्वा पुण्यसलिलां हंससारससेविताम् ।
बभूवुर्मुनयः सर्वे मुदिताः सहराघवाः ॥ ८ ॥

हंसों तथा सारसोंसे सेवित पुण्यसलिला भागीरथीका दर्शन करके श्रीरामचन्द्रजीके साथ समस्त मुनि बहुत प्रसन्न हुए ॥ ८ ॥

तस्यास्तीरे तदा सर्वे चक्रुर्वासपरिग्रहम् ।
ततः स्नात्वा यथान्यायं संतर्प्य पितृदेवताः ॥ ९ ॥
हुत्वा चैवाग्निहोत्राणि प्राश्य चामृतवद्धविः ।
विविशुर्जाह्नवीतीरे शुभा मुदितमानसाः ॥ १० ॥
विश्वामित्रं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ।

उस समय सबने गङ्गाजीके तटपर डेरा डाला । फिर विधिवत् स्नान करके देवताओं और पितरोंका तर्पण किया । उसके बाद अग्निहोत्र करके अमृतके समान मीठे हविष्यका भोजन किया । तदनन्तर वे सभी कल्याणकारी

महर्षि प्रसन्नचित्त हो महात्मा विश्वामित्रको चारों ओरसे घेरकर गङ्गाजीके तटपर बैठ गये ॥ ९-१०½ ॥

विष्ठिताश्च यथान्यायं राघवौ च यथार्हतः।
सम्प्रहृष्टमना रामो विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ११ ॥

जब वे सब मुनि स्थिरभावसे विराजमान हो गये और श्रीराम तथा लक्ष्मण भी यथायोग्य स्थानपर बैठ गये, तब श्रीरामने प्रसन्नचित्त होकर विश्वामित्रजीसे पूछा—॥ ११ ॥

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि गङ्गां त्रिपथगां नदीम्।
त्रैलोक्यं कथमाक्रम्य गता नदनदीपतिम् ॥ १२ ॥

'भगवन्! मैं यह सुनना चाहता हूँ कि तीन मार्गोंसे प्रवाहित होनेवाली नदी ये गङ्गाजी किस प्रकार तीनों लोकोंमें घूमकर नदों और नदियोंके स्वामी समुद्रमें जा मिली हैं?' ॥

चोदितो रामवाक्येन विश्वामित्रो महामुनिः।
वृद्धिं जन्म च गङ्गाया वक्तुमेवोपचक्रमे ॥ १३ ॥

श्रीरामके इस प्रश्नद्वारा प्रेरित हो महामुनि विश्वामित्रने गङ्गाजीकी उत्पत्ति और वृद्धिकी कथा कहना आरम्भ किया—॥

शैलेन्द्रो हिमवान् राम धातूनामाकरो महान्।
तस्य कन्याद्वयं राम रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १४ ॥

'श्रीराम! हिमवान् नामक एक पर्वत है, जो समस्त पर्वतोंका राजा तथा सब प्रकारके धातुओंका बहुत बड़ा खजाना है। हिमवान्की दो कन्याएँ हैं, जिनके सुन्दर रूपकी इस भूतलपर कहीं तुलना नहीं है ॥ १४ ॥

या मेरुदुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा।
नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया ॥ १५ ॥

'मेरु पर्वतकी मनोहारिणी पुत्री मेना हिमवान्की प्यारी पत्नी है। सुन्दर कटिप्रदेशवाली मेना ही उन दोनों कन्याओंकी जननी हैं ॥ १५ ॥

तस्यां गङ्गेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता।
उमा नाम द्वितीयाभूत् कन्या तस्यैव राघव ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन! मेनाके गर्भसे जो पहली कन्या उत्पन्न हुई, वही ये गङ्गाजी हैं। ये हिमवान्की ज्येष्ठ पुत्री हैं। हिमवान्की ही दूसरी कन्या, जो मेनाके गर्भसे उत्पन्न हुई, उमा नामसे प्रसिद्ध हैं ॥ १६ ॥

अथ ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया।
शैलेन्द्रं वरयामासुर्गङ्गां त्रिपथगां नदीम् ॥ १७ ॥

'कुछ कालके पश्चात् सब देवताओंने देवकार्यकी सिद्धिके लिये ज्येष्ठकन्या गङ्गाजीको, जो आगे चलकर स्वर्गसे त्रिपथगा नदीके रूपमें अवतीर्ण हुई, गिरिराज हिमालयसे माँगा ॥ १७ ॥

ददौ धर्मेण हिमवांस्तनयां लोकपावनीम्।
स्वच्छन्दपथगां गङ्गां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥ १८ ॥

'हिमवान्ने त्रिभुवनका हित करनेकी इच्छासे स्वच्छन्द पथपर विचरनेवाली अपनी लोकपावनी पुत्री गङ्गाको धर्मपूर्वक उन्हें दे दिया ॥ १८ ॥

प्रतिगृह्य त्रिलोकार्थे त्रिलोकहितकाङ्क्षिणः।
गङ्गामादाय तेऽगच्छन् कृतार्थेनान्तरात्मना ॥ १९ ॥

'तीनों लोकोंके हितकी इच्छावाले देवता त्रिभुवनकी भलाईके लिये ही गङ्गाजीको लेकर मन-ही-मन कृतार्थताका अनुभव करते हुए चले गये ॥ १९ ॥

या चान्या शैलदुहिता कन्याऽऽसीद् रघुनन्दन।
उग्रं सुव्रतमास्थाय तपस्तेपे तपोधना ॥ २० ॥

'रघुनन्दन! गिरिराजकी जो दूसरी कन्या उमा थीं, वे उत्तम एवं कठोर व्रतका पालन करती हुई घोर तपस्यामें लग गयीं। उन्होंने तपोमय धनका संचय किया ॥ २० ॥

उग्रेण तपसा युक्तां ददौ शैलवरः सुताम्।
रुद्रायाप्रतिरूपाय उमां लोकनमस्कृताम् ॥ २१ ॥

'गिरिराजने उग्र तपस्यामें संलग्न हुई अपनी वह विश्ववन्दिता पुत्री उमा अनुपम प्रभावशाली भगवान् रुद्रको ब्याह दी ॥ २१ ॥

एते ते शैलराजस्य सुते लोकनमस्कृते।
गङ्गा च सरितां श्रेष्ठा उमादेवी च राघव ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन! इस प्रकार सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गा तथा भगवती उमा—ये दोनों गिरिराज हिमालयकी कन्याएँ हैं। सारा संसार इनके चरणोंमें मस्तक झुकाता है ॥ २२ ॥

एतत् ते सर्वमाख्यातं यथा त्रिपथगामिनी।
खं गता प्रथमं तात गतिं गतिमतां वर ॥ २३ ॥
सैषा सुरनदी रम्या शैलेन्द्रतनया तदा।
सुरलोकं समारूढा विपापा जलवाहिनी ॥ २४ ॥

'गतिशीलोंमें श्रेष्ठ तात श्रीराम! गङ्गाजीकी उत्पत्तिके विषयमें ये सारी बातें मैंने तुम्हें बता दीं। ये त्रिपथगामिनी कैसे हुईं? यह भी सुन लो! पहले तो ये आकाशमार्गमें गयी थीं। तत्पश्चात् ये गिरिराजकुमारी गङ्गा रमणीया देवनदीके रूपमें देवलोकमें आरूढ़ हुई थीं। फिर जलरूपमें प्रवाहित हो लोगोंके पाप दूर करती हुई रसातलमें पहुँची थीं' ॥ २३-२४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

देवताओंका शिव-पार्वतीको सुरतक्रीडासे निवृत्त करना तथा उमादेवीका देवताओं और पृथ्वीको शाप देना

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन्नुभौ राघवलक्ष्मणौ।
प्रतिनन्द्य कथां वीरावूचतुर्मुनिपुङ्गवम्॥ १॥

विश्वामित्रजीकी बात समाप्त होनेपर श्रीराम और लक्ष्मण दोनों वीरोंने उनकी कही हुई कथाका अभिनन्दन करके मुनिवर विश्वामित्रसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

धर्मयुक्तमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया।
दुहितुः शैलराजस्य ज्येष्ठाया वक्तुमर्हसि।
विस्तरं विस्तरज्ञोऽसि दिव्यमानुषसम्भवम्॥ २॥

'ब्रह्मन्! आपने यह बड़ी उत्तम धर्मयुक्त कथा सुनायी। अब आप गिरिराज हिमवान्‌की ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाके दिव्यलोक तथा मनुष्यलोकसे सम्बन्ध होनेका वृत्तान्त विस्तारके साथ सुनाइये; क्योंकि आप विस्तृत वृत्तान्तके ज्ञाता हैं॥ २॥

त्रीन् पथो हेतुना केन प्लावयेल्लोकपावनी।
कथं गङ्गा त्रिपथगा विश्रुता सरिदुत्तमा॥ ३॥

'लोकको पवित्र करनेवाली गङ्गा किस कारणसे तीन मार्गोंमें प्रवाहित होती हैं? सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाकी 'त्रिपथगा' नामसे प्रसिद्धि क्यों हुई?॥ ३॥

त्रिषु लोकेषु धर्मज्ञ कर्मभिः कैः समन्विता।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे विश्वामित्रस्तपोधनः॥ ४॥
निखिलेन कथां सर्वामृषिमध्ये न्यवेदयत्।

'धर्मज्ञ महर्षे! तीनों लोकोंमें वे अपनी तीन धाराओंके द्वारा कौन-कौन-से कार्य करती हैं?' श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर तपोधन विश्वामित्रने मुनिमण्डलीके बीच गङ्गाजीसे सम्बन्ध रखनेवाली सारी बातें पूर्णरूपसे कह सुनायीं—॥

पुरा राम कृतोद्वाहः शितिकण्ठो महातपाः॥ ५॥
दृष्ट्वा च भगवान् देवीं मैथुनायोपचक्रमे।

'श्रीराम! पूर्वकालमें महातपस्वी भगवान् नीलकण्ठने उमादेवीके साथ विवाह करके उनको नववधूके रूपमें अपने निकट आयी देख उनके साथ रति-क्रीडा आरम्भ की॥ ५½॥

तस्य संक्रीडमानस्य महादेवस्य धीमतः।
शितिकण्ठस्य देवस्य दिव्यं वर्षशतं गतम्॥ ६॥

'परम बुद्धिमान् महान् देवता भगवान् नीलकण्ठके उमादेवीके साथ क्रीडा-विहार करते सौ दिव्य वर्ष बीत गये॥ ६॥

न चापि तनयो राम तस्यामासीत् परंतप।
सर्वे देवाः समुद्युक्ताः पितामहपुरोगमाः॥ ७॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीराम! इतने वर्षोंतक विहारके बाद भी महादेवजीके उमादेवीके गर्भसे कोई पुत्र नहीं हुआ। यह देख ब्रह्मा आदि सभी देवता उन्हें रोकनेका उद्योग करने लगे॥ ७॥

यदिहोत्पद्यते भूतं कस्तत् प्रतिसहिष्यति।
अभिगम्य सुराः सर्वे प्रणिपत्येदमब्रुवन्॥ ८॥

'उन्होंने सोचा—इतने दीर्घकालके पश्चात् यदि रुद्रके तेजसे उमादेवीके गर्भसे कोई महान् प्राणी प्रकट हो भी जाय तो कौन उसके तेजको सहन करेगा? यह विचारकर सब देवता भगवान् शिवके पास जा उन्हें प्रणाम करके यों बोले—॥ ८॥

देवदेव महादेव लोकस्यास्य हिते रत।
सुराणां प्रणिपातेन प्रसादं कर्तुमर्हसि॥ ९॥

''इस लोकके हितमें तत्पर रहनेवाले देवदेव महादेव! देवता आपके चरणोंमें मस्तक झुकाते हैं। इससे प्रसन्न होकर आप इन देवताओंपर कृपा करें॥ ९॥

न लोका धारयिष्यन्ति तव तेजः सुरोत्तम।
ब्राह्मेण तपसा युक्तो देव्या सह तपश्चर॥ १०॥

''सुरश्रेष्ठ! ये लोक आपके तेजको नहीं धारण कर सकेंगे; अतः आप क्रीडासे निवृत्त हो वेदबोधित तपस्यासे युक्त होकर उमादेवीके साथ तप कीजिये॥ १०॥

त्रैलोक्यहितकामार्थं तेजस्तेजसि धारय।
रक्ष सर्वानिमाँल्लोकान् नालोकं कर्तुमर्हसि॥ ११॥

''तीनों लोकोंके हितकी कामनासे अपने तेज (वीर्य) को तेजःस्वरूप अपने आपमें ही धारण कीजिये। इन सब लोकोंकी रक्षा कीजिये। लोकोंका विनाश न कर डालिये'॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकमहेश्वरः।
बाढमित्यब्रवीत् सर्वान् पुनश्चेदमुवाच ह॥ १२॥

'देवताओंकी यह बात सुनकर सर्वलोकमहेश्वर शिवने 'बहुत अच्छा' कहकर उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया; फिर उनसे इस प्रकार कहा—॥ १२॥

धारयिष्याम्यहं तेजस्तेजसैव सहोमया।
त्रिदशाः पृथिवी चैव निर्वाणमधिगच्छतु॥ १३॥

''देवताओ! उमासहित मैं अर्थात् हम दोनों अपने तेजसे ही तेजको धारण कर लेंगे। पृथ्वी आदि सभी लोकोंके निवासी शान्ति लाभ करें॥ १३॥

यदिदं क्षुभितं स्थानान्मम तेजो ह्यनुत्तमम्।
धारयिष्यति कस्तन्मे ब्रुवन्तु सुरसत्तमाः॥ १४॥

''किंतु सुरश्रेष्ठगण! यदि मेरा यह सर्वोत्तम तेज

(वीर्य) क्षुब्ध होकर अपने स्थानसे स्खलित हो जाय, तो उसे कौन धारण करेगा ?—यह मुझे बताओ' ॥ १४ ॥

एवमुक्तास्ततो देवाः प्रत्यूचुर्वृषभध्वजम् ।
यत्तेजः क्षुभितं ह्यद्य तद्धरा धारयिष्यति ॥ १५ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर देवताओंने वृषभध्वज भगवान् शिवसे कहा—'भगवन् ! आज आपका जो तेज क्षुब्ध होकर गिरेगा, उसे यह पृथ्वीदेवी धारण करेगी' ॥ १५ ॥

एवमुक्तः सुरपतिः प्रमुमोच महाबलः ।
तेजसा पृथिवी येन व्याप्ता सगिरिकानना ॥ १६ ॥

'देवताओंका यह कथन सुनकर महाबली देवेश्वर शिवने अपना तेज छोड़ा, जिससे पर्वत और वनोंसहित यह सारी पृथ्वी व्याप्त हो गयी ॥ १६ ॥

ततो देवाः पुनरिदमूचुश्चापि हुताशनम् ।
आविश त्वं महातेजो रौद्रं वायुसमन्वितः ॥ १७ ॥

'तब देवताओंने अग्निदेवसे कहा—'अग्ने ! तुम वायुके सहयोगसे भगवान् शिवके इस महान् तेजको अपने भीतर रख लो' ॥ १७ ॥

तदग्निना पुनर्व्याप्तं संजातं श्वेतपर्वतम् ।
दिव्यं शरवणं चैव पावकादित्यसंनिभम् ॥ १८ ॥

'अग्निसे व्याप्त होनेपर वह तेज श्वेत पर्वतके रूपमें परिणत हो गया । साथ ही वहाँ दिव्य सरकंडोंका वन भी प्रकट हुआ, जो अग्नि और सूर्यके समान तेजस्वी प्रतीत होता था ॥

यत्र जातो महातेजाः कार्तिकेयोऽग्निसम्भवः ।
अथोमां च शिवं चैव देवाः सर्षिगणास्तथा ॥ १९ ॥
पूजयामासुरत्यर्थं सुप्रीतमनसस्तदा ।

'उसी वनमें अग्निजनित महातेजस्वी कार्तिकेयका प्रादुर्भाव हुआ । तदनन्तर ऋषियोंसहित देवताओंने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर देवी उमा और भगवान् शिवका बड़े भक्तिभावसे पूजन किया ॥ १९½ ॥

अथ शैलसुता राम त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ २० ॥
समन्युरशपत् सर्वान् क्रोधसंरक्तलोचना ।

'श्रीराम ! इसके बाद गिरिराजनन्दिनी उमाके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । उन्होंने समस्त देवताओंको रोषपूर्वक शाप दे दिया । वे बोलीं—॥ २०½ ॥

यस्मान्निवारिता चाहं संगता पुत्रकाम्यया ॥ २१ ॥
अपत्यं स्वेषु दारेषु नोत्पादयितुमर्हथ ।
अद्यप्रभृति युष्माकमप्रजाः सन्तु पत्नयः ॥ २२ ॥

''देवताओ ! मैंने पुत्रप्राप्तिकी इच्छासे पतिके साथ समागम किया था, परंतु तुमने मुझे रोक दिया । अतः अब तुमलोग भी अपनी पत्नियोंसे संतान उत्पन्न करने योग्य नहीं रह जाओगे । आजसे तुम्हारी पत्नियाँ संतानोत्पादन नहीं कर सकेंगी—संतानहीन हो जायँगी' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वा सुरान् सर्वाञ्शशाप पृथिवीमपि ।
अवने नैकरूपा त्वं बहुभार्या भविष्यसि ॥ २३ ॥

'सब देवताओंसे ऐसा कहकर उमादेवीने पृथिवीको भी शाप दिया—'भूमे ! तेरा एक रूप नहीं रह जायगा । तू बहुतोंकी भार्या होगी ॥ २३ ॥

न च पुत्रकृतां प्रीतिं मत्क्रोधकलुषीकृता ।
प्राप्स्यसि त्वं सुदुर्मेधो मम पुत्रमनिच्छती ॥ २४ ॥

''खोटी बुद्धिवाली पृथ्वी ! तू चाहती थी कि मेरे पुत्र न हो । अतः मेरे क्रोधसे कलुषित होकर तू भी पुत्रजनित सुख या प्रसन्नताका अनुभव न कर सकेगी' ॥ २४ ॥

तान् सर्वान् पीडितान् दृष्ट्वा सुरान् सुरपतिस्तदा ।
गमनायोपचक्राम दिशं वरुणपालिताम् ॥ २५ ॥

'उन सब देवताओंको उमादेवीके शापसे पीडित देख देवेश्वर भगवान् शिवने उस समय पश्चिम दिशाकी ओर प्रस्थान कर दिया ॥ २५ ॥

स गत्वा तप आतिष्ठत् पार्श्वे तस्योत्तरे गिरेः ।
हिमवत्प्रभवे श्रृङ्गे सह देव्या महेश्वरः ॥ २६ ॥

'वहाँसे जाकर हिमालय पर्वतके उत्तर भागमें उसीके एक शिखरपर उमादेवीके साथ भगवान् महेश्वर तप करने लगे ॥ २६ ॥

एष ते विस्तरो राम शैलपुत्र्या निवेदितः ।
गङ्गायाः प्रभवं चैव श्रृणु मे सहलक्ष्मण ॥ २७ ॥

'लक्ष्मणसहित श्रीराम ! यह मैंने तुम्हें गिरिराज हिमवान्‌की छोटी पुत्री उमादेवीका विस्तृत वृत्तान्त बताया है । अब मुझसे गङ्गाके प्रादुर्भावकी कथा सुनो' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

गङ्गासे कार्तिकेयकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग

तप्यमाने तदा देवे सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
सेनापतिमभीप्सन्तः पितामहमुपागमन् ॥ १ ॥

जब महादेवजी तपस्या कर रहे थे, उस समय इन्द्र और अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता अपने लिये

सेनापतिकी इच्छा लेकर ब्रह्माजीके पास आये ॥ १ ॥

ततोऽब्रुवन् सुराः सर्वे भगवन्तं पितामहम् ।
प्रणिपत्य सुराराम सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ॥ २ ॥

देवताओंको आराम देनेवाले श्रीराम ! इन्द्र और अग्नि-सहित समस्त देवताओंने भगवान् ब्रह्माको प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

येन सेनापतिर्देव दत्तो भगवता पुरा ।
स तपः परमास्थाय तप्यते स्म सहोमया ॥ ३ ॥

'प्रभो ! पूर्वकालमें जिन भगवान् महेश्वरने हमें (बीज-रूपसे) सेनापति प्रदान किया था, वे उमादेवीके साथ उत्तम तपका आश्रय लेकर तपस्या करते हैं ॥ ३ ॥

यदत्रानन्तरं कार्यं लोकानां हितकाम्यया ।
संविधत्स्व विधानज्ञ त्वं हि नः परमा गतिः ॥ ४ ॥

'विधि-विधानके ज्ञाता पितामह ! अब लोकहितके लिये जो कर्तव्य प्राप्त हो, उसको पूर्ण कीजिये; क्योंकि आप ही हमारे परम आश्रय हैं' ॥ ४ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ।
सान्त्वयन् मधुरैर्वाक्यैस्त्रिदशानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

देवताओंकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजीने मधुर वचनोंद्वारा उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥

शैलपुत्र्या यदुक्तं तन्न प्रजाः स्वासु पत्निषु ।
तस्या वचनमक्लिष्टं सत्यमेव न संशयः ॥ ६ ॥

'देवताओ ! गिरिराजकुमारी पार्वतीने जो शाप दिया है, उसके अनुसार तुम्हें अपनी पत्नियोंके गर्भसे अब कोई संतान नहीं होगी । उमादेवीकी वाणी अमोघ है; अतः वह सत्य होकर ही रहेगी; इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

इयमाकाशगङ्गा च यस्यां पुत्रं हुताशनः ।
जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिंदमम् ॥ ७ ॥

'ये हैं उमाकी बड़ी बहिन आकाशगङ्गा, जिनके गर्भमें शङ्करजीके उस तेजको स्थापित करके अग्निदेव एक ऐसे पुत्रको जन्म देंगे, जो देवताओंके शत्रुओंका दमन करनेमें समर्थ सेनापति होगा ॥ ७ ॥

ज्येष्ठा शैलेन्द्रदुहिता मानयिष्यति तं सुतम् ।
उमायास्तद्बहुमतं भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥

'ये गङ्गा गिरिराजकी ज्येष्ठ पुत्री हैं, अतः अपनी छोटी बहिनके उस पुत्रको अपने ही पुत्रके समान मानेंगी । उमाको भी यह बहुत प्रिय लगेगा । इसमें संशय नहीं है' ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य कृतार्था रघुनन्दन ।
प्रणिपत्य सुराः सर्वे पितामहमपूजयन् ॥ ९ ॥

रघुनन्दन ! ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर सब देवता कृतकृत्य हो गये । उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम करके उनका पूजन किया ॥ ९ ॥

ते गत्वा परमं राम कैलासं धातुमण्डितम् ।
अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः ॥ १० ॥

श्रीराम ! विविध धातुओंसे अलंकृत उत्तम कैलास पर्वतपर जाकर उन सम्पूर्ण देवताओंने अग्निदेवको पुत्र उत्पन्न करनेके कार्यमें नियुक्त किया ॥ १० ॥

देवकार्यमिदं देव समाधत्स्व हुताशन ।
शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज ॥ ११ ॥

वे बोले—'देव ! हुताशन ! यह देवताओंका कार्य है, इसे सिद्ध कीजिये । भगवान् रुद्रके उस महान् तेजको अब आप गङ्गाजीमें स्थापित कर दीजिये' ॥ ११ ॥

देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः ।
गर्भं धारय वै देवि देवतानामिदं प्रियम् ॥ १२ ॥

तब देवताओंसे 'बहुत अच्छा' कहकर अग्निदेव गङ्गाजी-के निकट आये और बोले—'देवि ! आप इस गर्भको धारण करें । यह देवताओंका प्रिय कार्य है' ॥ १२ ॥

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् ।
स तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवशीर्यत ॥ १३ ॥

अग्निदेवकी यह बात सुनकर गङ्गादेवीने दिव्यरूप धारण कर लिया । उनकी यह महिमा—यह रूप-वैभव देखकर अग्निदेवने उस रुद्र-तेजको उनके सब ओर बिखेर दिया ॥

समन्ततस्तदा देवीमभ्यषिञ्चत पावकः ।
सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ॥ १४ ॥

रघुनन्दन ! अग्निदेवने जब गङ्गादेवीको सब ओरसे उस रुद्र-तेजद्वारा अभिषिक्त कर दिया, तब गङ्गाजीके सारे स्रोत उससे परिपूर्ण हो गये ॥ १४ ॥

तमुवाच ततो गङ्गा सर्वदेवपुरोगमम् ।
अशक्ता धारणे देव तेजस्तव समुद्धतम् ॥ १५ ॥
दह्यमानाग्निना तेन सम्प्रव्यथितचेतना ।

तब गङ्गाने समस्त देवताओंके अग्रगामी अग्निदेवसे इस प्रकार कहा—'देव ! आपके द्वारा स्थापित किये गये इस बढ़े हुए तेजको धारण करनेमें मैं असमर्थ हूँ । इसकी आँचसे जल रही हूँ और मेरी चेतना व्यथित हो गयी है' ॥ १५½ ॥

अथाब्रवीदिदं गङ्गां सर्वदेवहुताशनः ॥ १६ ॥
इह हैमवते पार्श्वे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम् ।

तब सम्पूर्ण देवताओंके हविष्यको भोग लगानेवाले अग्नि-देवने गङ्गादेवीसे कहा—'देवि ! हिमालय पर्वतके पार्श्वभागमें इस गर्भको स्थापित कर दीजिये' ॥ १६½ ॥

श्रुत्वा त्वग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम् ॥ १७ ॥
उत्ससर्ज महातेजाः स्रोतोभ्यो हि तदानघ ।

निष्पाप रघुनन्दन ! अग्निकी यह बात सुनकर महातेजस्विनी गङ्गाने उस अत्यन्त प्रकाशमान गर्भको अपने स्रोतोंसे निकालकर यथोचित स्थानमें रख दिया ॥ १७½ ॥

यदस्या निर्गतं तस्मात् तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥ १८ ॥
काञ्चनं धरणीं प्राप्तं हिरण्यमतुलप्रभम् ।
ताम्रं कार्ष्णायसं चैव तैक्ष्ण्याद्देवाभिजायत ॥ १९ ॥

गङ्गाके गर्भसे जो तेज निकला, वह तपाये हुए जाम्बूनद नामक सुवर्णके समान कान्तिमान् दिखायी देने लगा (गङ्गा सुवर्णमय मेरुगिरिसे प्रकट हुई हैं, अतः उनका बालक भी वैसे ही रूप-रंगका हुआ)। पृथ्वीपर जहाँ वह तेजस्वी गर्भ स्थापित हुआ, वहाँकी भूमि तथा प्रत्येक वस्तु सुवर्णमयी हो गयी। उसके आस-पासका स्थान अनुपम प्रभासे प्रकाशित होनेवाला रजत हो गया। उस तेजकी तीक्ष्णतासे ही दूरवर्ती भूभागकी वस्तुएँ ताँबे और लोहेके रूपमें परिणत हो गयीं ॥

मलं तस्याभवत् तत्र त्रपु सीसकमेव च ।
तदेतद्धरणीं प्राप्य नानाधातुरवर्धत ॥ २० ॥

उस तेजस्वी गर्भका जो मल था, वही वहाँ राँगा और सीसा हुआ। इस प्रकार पृथ्वीपर पड़कर वह तेज नाना प्रकारके धातुओंके रूपमें वृद्धिको प्राप्त हुआ ॥ २० ॥

निक्षिप्तमात्रे गर्भे तु तेजोभिरभिरञ्जितम् ।
सर्वं पर्वतसंनद्धं सौवर्णमभवद् वनम् ॥ २१ ॥

पृथ्वीपर उस गर्भके रखे जाते ही उसके तेजसे व्याप्त होकर पूर्वोक्त श्वेतपर्वत और उससे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वन सुवर्णमय होकर जगमगाने लगा ॥ २१ ॥

जातरूपमिति ख्यातं तदाप्रभृति राघव ।
सुवर्णं पुरुषव्याघ्र हुताशनसमप्रभम् ।
तृणवृक्षलतागुल्मं सर्वं भवति काञ्चनम् ॥ २२ ॥

पुरुषसिंह रघुनन्दन ! तभीसे अग्निके समान प्रकाशित होनेवाले सुवर्णका नाम जातरूप हो गया; क्योंकि उसी समय सुवर्णका तेजस्वी रूप प्रकट हुआ था। उस गर्भके सम्पर्कसे वहाँका तृण, वृक्ष, लता और गुल्म—सब कुछ सोनेका हो गया ॥ २२ ॥

तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सह मरुद्गणाः ।
क्षीरसम्भावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयन् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इन्द्र और मरुद्गणोंसहित सम्पूर्ण देवताओंने वहाँ उत्पन्न हुए कुमारको दूध पिलानेके लिये छहों कृत्तिकाओंको नियुक्त किया ॥ २३ ॥

ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम् ।
ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः ॥ २४ ॥

तब उन कृत्तिकाओंने 'यह हम सबका पुत्र हो' ऐसी उत्तम शर्त रखकर और इस बातका निश्चित विश्वास लेकर उस नवजात बालकको अपना दूध प्रदान किया ॥ २४ ॥

ततस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन् ।
पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः ॥ २५ ॥

उस समय सब देवता बोले—'यह बालक कार्तिकेय कहलायेगा और तुम लोगोंका त्रिभुवनविख्यात पुत्र होगा—इसमें संशय नहीं है' ॥ २५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्रवे ।
स्नापयन् परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथानलम् ॥ २६ ॥

देवताओंका यह अनुकूल वचन सुनकर शिव और पार्वतीसे स्कन्दित (स्खलित) तथा गङ्गाद्वारा गर्भस्राव होनेपर प्रकट हुए अग्निके समान उत्तम प्रभासे प्रकाशित होनेवाले उस बालकको कृत्तिकाओंने नहलाया ॥ २६ ॥

स्कन्द इत्यब्रुवन् देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्रवे ।
कार्तिकेयं महाबाहुं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम् ॥ २७ ॥

ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम ! अग्नितुल्य तेजस्वी महाबाहु कार्तिकेय गर्भस्रावकालमें स्कन्दित हुए थे; इसलिये देवताओंने उन्हें स्कन्द कहकर पुकारा ॥ २७ ॥

प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानामनुत्तमम् ।
षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः ॥ २८ ॥

तदनन्तर कृत्तिकाओंके स्तनोंमें परम उत्तम दूध प्रकट हुआ। उस समय स्कन्दने अपने छः मुख प्रकट करके उन छहोंका एक साथ ही स्तनपान किया ॥ २८ ॥

गृहीत्वा क्षीरमेकाह्ना सुकुमारवपुस्तदा ।
अजयत् स्वेन वीर्येण दैत्यसैन्यगणान् विभुः ॥ २९ ॥

एक ही दिन दूध पीकर उस सुकुमार शरीरवाले शक्तिशाली कुमारने अपने पराक्रमसे दैत्योंकी सारी सेनाओंपर विजय प्राप्त की ॥ २९ ॥

सुरसेनागणपतिमभ्यषिञ्चन्महाद्युतिम् ।
ततस्तममराः सर्वे समेत्याग्निपुरोगमाः ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् अग्नि आदि सब देवताओंने मिलकर उन महातेजस्वी स्कन्दका देवसेनापतिके पदपर अभिषेक किया ॥ ३० ॥

एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
कुमारसम्भवश्चैव धन्यः पुण्यस्तथैव च ॥ ३१ ॥

श्रीराम ! यह मैंने तुम्हें गङ्गाजीके चरित्रको विस्तारपूर्वक बताया है; साथ ही कुमार कार्तिकेयके जन्मका भी प्रसङ्ग सुनाया है, जो श्रोताको धन्य एवं पुण्यात्मा बनानेवाला है ॥

भक्तश्च यः कार्तिकेये काकुत्स्थ भुवि मानवः ।
आयुष्मान् पुत्रपौत्रैश्च स्कन्दसालोक्यतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

काकुत्स्थ ! इस पृथ्वीपर जो मनुष्य कार्तिकेयमें भक्तिभाव रखता है, वह इस लोकमें दीर्घायु तथा पुत्र-पौत्रोंसे सम्पन्न हो मृत्युके पश्चात् स्कन्दके लोकमें जाता है ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा सगरके पुत्रोंकी उत्पत्ति तथा यज्ञकी तैयारी

तां कथां कौशिको रामे निवेद्य मधुराक्षराम् ।
पुनरेवापरं वाक्यं काकुत्स्थमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीने मधुर अक्षरोंसे युक्त वह कथा श्रीरामको सुनाकर फिर उनसे दूसरा प्रसङ्ग इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

अयोध्याधिपतिर्वीर पूर्वमासीन्नराधिपः ।
सगरो नाम धर्मात्मा प्रजाकामः स चाप्रजः ॥ २ ॥

'वीर ! पहलेकी बात है, अयोध्यामें सगर नामसे प्रसिद्ध एक धर्मात्मा राजा राज्य करते थे । उन्हें कोई पुत्र नहीं था; अतः वे पुत्र-प्राप्तिके लिये सदा उत्सुक रहा करते थे ॥ २ ॥

वैदर्भदुहिता राम केशिनी नाम नामतः ।
ज्येष्ठा सगरपत्नी सा धर्मिष्ठा सत्यवादिनी ॥ ३ ॥

'श्रीराम ! विदर्भराजकुमारी केशिनी राजा सगरकी ज्येष्ठ पत्नी थी । वह बड़ी धर्मात्मा और सत्यवादिनी थी ॥ ३ ॥

अरिष्टनेमेर्दुहिता सुपर्णभगिनी तु सा ।
द्वितीया सगरस्यासीत् पत्नी सुमतिसंज्ञिता ॥ ४ ॥

'सगरकी दूसरी पत्नीका नाम सुमति था । वह अरिष्टनेमि कश्यपकी पुत्री तथा गरुडकी बहिन थी ॥ ४ ॥

ताभ्यां सह महाराजः पत्नीभ्यां तप्तवांस्तपः ।
हिमवन्तं समासाद्य भृगुप्रस्रवणे गिरौ ॥ ५ ॥

'महाराज सगर अपनी उन दोनों पत्नियोंके साथ हिमालय पर्वतपर जाकर भृगुप्रस्रवण नामक शिखरपर तपस्या करने लगे ॥

अथ वर्षशते पूर्णे तपसाऽऽराधितो मुनिः ।
सगराय वरं प्रादाद् भृगुः सत्यवतां वरः ॥ ६ ॥

'सौ वर्ष पूर्ण होनेपर उनकी तपस्याद्वारा प्रसन्न हुए सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ महर्षि भृगुने राजा सगरको वर दिया ॥६॥

अपत्यलाभः सुमहान् भविष्यति तवानघ ।
कीर्तिं चाप्रतिमां लोके प्राप्स्यसे पुरुषर्षभ ॥ ७ ॥

'निष्पाप नरेश ! तुम्हें बहुत-से पुत्रोंकी प्राप्ति होगी । पुरुषप्रवर ! तुम इस संसारमें अनुपम कीर्ति प्राप्त करोगे ॥७॥

एका जनयिता तात पुत्रं वंशकरं तव ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि अपरा जनयिष्यति ॥ ८ ॥

'तात ! तुम्हारी एक पत्नी तो एक ही पुत्रको जन्म देगी, जो अपनी वंशपरम्पराका विस्तार करनेवाला होगा तथा दूसरी पत्नी साठ हजार पुत्रोंकी जननी होगी ॥ ८ ॥

भाषमाणं महात्मानं राजपुत्र्यौ प्रसाद्य तम् ।
ऊचतुः परमप्रीते कृताञ्जलिपुटे तदा ॥ ९ ॥

'महात्मा भृगु जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय उन दोनों राजकुमारियों (रानियों)ने उन्हें प्रसन्न करके स्वयं भी अत्यन्त आनन्दित हो दोनों हाथ जोड़कर पूछा— ॥

एकः कस्याः सुतो ब्रह्मन् का बहूञ्जनयिष्यति ।
श्रोतुमिच्छावहे ब्रह्मन् सत्यमस्तु वचस्तव ॥ १० ॥

'ब्रह्मन् ! किस रानीके एक पुत्र होगा और कौन बहुत-से पुत्रोंकी जननी होगी ? हम दोनों यह सुनना चाहती हैं । आपकी वाणी सत्य हो' ॥ १० ॥

तयोस्तद् वचनं श्रुत्वा भृगुः परमधार्मिकः ।
उवाच परमां वाणीं स्वच्छन्दोऽत्र विधीयताम् ॥ ११ ॥
एको वंशकरो वास्तु बहवो वा महाबलाः ।
कीर्तिमन्तो महोत्साहाः का वा कं वरमिच्छति ॥ १२ ॥

'उन दोनोंकी यह बात सुनकर परम धर्मात्मा भृगुने उत्तम वाणीमें कहा—'देवियो ! तुमलोग यहाँ अपनी इच्छा प्रकट करो । तुम्हें वंश चलानेवाला एक ही पुत्र प्राप्त हो अथवा महान् बलवान, यशस्वी एवं अत्यन्त उत्साही बहुत-से पुत्र ? इन दो वरोंमेंसे किस वरको कौन-सी रानी ग्रहण करना चाहती है ? ॥ ११-१२ ॥

मुनेस्तु वचनं श्रुत्वा केशिनी रघुनन्दन ।
पुत्रं वंशकरं राम जग्राह नृपसंनिधौ ॥ १३ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम ! मुनिका यह वचन सुनकर केशिनीने राजा सगरके समीप वंश चलानेवाले एक ही पुत्रका वर ग्रहण किया ॥ १३ ॥

षष्टिं पुत्रसहस्राणि सुपर्णभगिनी तदा ।
महोत्साहान् कीर्तिमतो जग्राह सुमतिः सुतान् ॥ १४ ॥

'तब गरुड़की बहिन सुमतिने महान् उत्साही और यशस्वी साठ हजार पुत्रोंको जन्म देनेका वर प्राप्त किया ॥१४॥

प्रदक्षिणमृषिं कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य तम् ।
जगाम स्वपुरं राजा सभार्यो रघुनन्दन ॥ १५ ॥

'रघुनन्दन ! तदनन्तर रानियोंसहित राजा सगरने महर्षिकी परिक्रमा करके उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और अपने नगरको प्रस्थान किया ॥ १५ ॥

अथ काले गते तस्य ज्येष्ठा पुत्रं व्यजायत ।
असमञ्ज इति ख्यातं केशिनी सगरात्मजम् ॥ १६ ॥

'कुछ काल व्यतीत होनेपर बड़ी रानी केशिनीने सगरके औरस पुत्र 'असमञ्ज' को जन्म दिया ॥ १६ ॥

सुमतिस्तु नरव्याघ्र गर्भतुम्बं व्यजायत ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि तुम्बभेदाद् विनिःसृताः ॥ १७ ॥

'पुरुषसिंह ! (छोटी रानी) सुमतिने तूँबीके आकारका एक गर्भपिण्ड उत्पन्न किया । उसको फोड़नेसे साठ हजार बालक निकले ॥ १७ ॥

घृतपूर्णेषु कुम्भेषु धात्र्यस्तान् समवर्धयन् ।
कालेन महता सर्वे यौवनं प्रतिपेदिरे ॥ १८ ॥

'उन्हें घीसे भरे हुए घड़ोंमें रखकर धाइयाँ उनका पालन-पोषण करने लगीं। धीरे-धीरे जब बहुत दिन बीत गये, तब वे सभी बालक युवावस्थाको प्राप्त हुए ॥ १८ ॥

अथ दीर्घेण कालेन रूपयौवनशालिनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्याभवंस्तदा ॥ १९ ॥

'इस तरह दीर्घकालके पश्चात् राजा सगरके रूप और युवावस्थासे सुशोभित होनेवाले साठ हजार पुत्र तैयार हो गये ॥ १९ ॥

स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठ सगरस्यात्मसम्भवः ।
बालान् गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन ॥ २० ॥
प्रक्षिप्य प्राहसन्नित्यं मज्जतस्तान् निरीक्ष्य वै ।

'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! सगरका ज्येष्ठ पुत्र असमञ्ज नगरके बालकोंको पकड़कर सरयूके जलमें फेंक देता और जब वे डूबने लगते, तब उनकी ओर देखकर हँसा करता ॥ २०½ ॥

एवं पापसमाचारः सज्जनप्रतिबाधकः ॥ २१ ॥
पौराणामहिते युक्तः पित्रा निर्वासितः पुरात् ।

'इस प्रकार पापाचारमें प्रवृत्त होकर जब वह सत्पुरुषोंको पीड़ा देने और नगर-निवासियोंका अहित करने लगा, तब पिताने उसे नगरसे बाहर निकाल दिया ॥ २१½ ॥

तस्य पुत्रोंऽशुमान् नाम असमञ्जस्य वीर्यवान् ॥ २२ ॥
सम्मतः सर्वलोकस्य सर्वस्यापि प्रियंवदः ।

'असमञ्जके पुत्रका नाम था अंशुमान् । वह बड़ा ही पराक्रमी, सबसे मधुर वचन बोलनेवाला तथा सब लोगोंको प्रिय था ॥ २२½ ॥

ततः कालेन महता मतिः समभिजायत ॥ २३ ॥
सगरस्य नरश्रेष्ठ यजेयमिति निश्चिता ।

'नरश्रेष्ठ ! कुछ कालके अनन्तर महाराज सगरके मनमें यह निश्चित विचार हुआ कि 'मैं यज्ञ करूँ' ॥ २३½ ॥

स कृत्वा निश्चयं राजा सोपाध्यायगणस्तदा ।
यज्ञकर्मणि वेदज्ञो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ २४ ॥

'यह दृढ़ निश्चय करके वे वेदवेत्ता नरेश अपने उपाध्यायोंके साथ यज्ञ करनेकी तैयारीमें लग गये' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

इन्द्रके द्वारा राजा सगरके यज्ञसम्बन्धी अश्वका अपहरण, सगरपुत्रोंद्वारा सारी पृथ्वीका भेदन तथा देवताओंका ब्रह्माजीको यह सब समाचार बताना

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा कथान्ते रघुनन्दनः ।
उवाच परमप्रीतो मुनिं दीप्तमिवानलम् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीकी कही हुई कथा सुनकर श्रीरामचन्द्रजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कथाके अन्तमें अग्नितुल्य तेजस्वी विश्वामित्र मुनिसे कहा—॥ १ ॥

श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते विस्तरेण कथामिमाम् ।
पूर्वजो मे कथं ब्रह्मन् यज्ञं वै समुपाहरत् ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! आपका कल्याण हो। मैं इस कथाको विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ। मेरे पूर्वज महाराज सगरने किस प्रकार यज्ञ किया था ?' ॥ २ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा कौतूहलसमन्वितः ।
विश्वामित्रस्तु काकुत्स्थमुवाच प्रहसन्निव ॥ ३ ॥

उनकी वह बात सुनकर विश्वामित्रजीको बड़ा कौतूहल हुआ। वे यह सोचकर कि मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसीके लिये ये प्रश्न कर रहे हैं, जोर-जोरसे हँस पड़े। हँसते हुए-से ही उन्होंने श्रीरामसे कहा—॥ ३ ॥

श्रूयतां विस्तरो राम सगरस्य महात्मनः ।
शंकरश्वशुरो नाम्ना हिमवानिति विश्रुतः ॥ ४ ॥
विन्ध्यपर्वतमासाद्य निरीक्षेते परस्परम् ।
तयोर्मध्ये समभवद् यज्ञः स पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥

'राम ! तुम महात्मा सगरके यज्ञका विस्तारपूर्वक वर्णन सुनो। पुरुषोत्तम ! शंकरजीके श्वशुर हिमवान् नामसे विख्यात पर्वत विन्ध्याचलतक पहुँचकर तथा विन्ध्यपर्वत हिमवान्तक पहुँचकर दोनों एक दूसरेको देखते हैं (इन दोनोंके बीचमें दूसरा कोई ऐसा ऊँचा पर्वत नहीं है; जो दोनोंके पारस्परिक दर्शनमें बाधा उपस्थित कर सके) । इन्हीं दोनों पर्वतोंके बीच आर्यावर्तकी पुण्यभूमिमें उस यज्ञका अनुष्ठान हुआ था ॥ ४-५ ॥

स हि देशो नरव्याघ्र प्रशस्तो यज्ञकर्मणि ।
तस्याश्वचर्यां काकुत्स्थ दृढधन्वा महारथः ॥ ६ ॥
अंशुमानकरोत् तात सगरस्य मते स्थितः ।

'पुरुषसिंह ! वही देश यज्ञ करनेके लिये उत्तम माना गया है। तात ककुत्स्थनन्दन ! राजा सगरकी आज्ञासे यज्ञिय अश्वकी रक्षाका भार सुदृढ़ धनुर्धर महारथी अंशुमान्ने स्वीकार किया था ॥ ६½ ॥

तस्य पर्वणि तं यज्ञं यजमानस्य वासवः ॥ ७ ॥

राक्षसीं तनुमास्थाय यज्ञियाश्वमपाहरत् ।

'परंतु पर्वके दिन यज्ञमें लगे हुए राजा सगरके यज्ञ-सम्बन्धी घोड़ेको इन्द्रने राक्षसका रूप धारण करके चुरा लिया ॥ ७½ ॥

ह्रियमाणे तु काकुत्स्थ तस्मिन्नश्वे महात्मनः ॥ ८ ॥
उपाध्यायगणाः सर्वे यजमानमथाब्रुवन् ।
अयं पर्वणि वेगेन यज्ञियाश्वोऽपनीयते ॥ ९ ॥
हर्तारं जहि काकुत्स्थ हयश्चैवोपनीयताम् ।
यज्ञच्छिद्रं भवत्येतत् सर्वेषामशिवाय नः ॥ १० ॥
तत् तथा क्रियतां राजन् यज्ञोऽच्छिद्रः कृतो भवेत् ।

'काकुत्स्थ ! महामना सगरके उस अश्वका अपहरण होते समय समस्त ऋत्विजोंने यजमान सगरसे कहा—'ककुत्स्थनन्दन ! आज पर्वके दिन कोई इस यज्ञसम्बन्धी अश्वको चुराकर बड़े वेगसे लिये जा रहा है । आप चोरको मारिये और घोड़ा वापस लाइये, नहीं तो यज्ञमें विघ्न पड़ जायगा और वह हम सब लोगोंके लिये अमङ्गलका कारण होगा । राजन् ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे यह यज्ञ बिना किसी विघ्न-बाधाके परिपूर्ण हो' ॥ ८—१०½ ॥

सोपाध्यायवचः श्रुत्वा तस्मिन् सदसि पार्थिवः ॥ ११ ॥
षष्टिं पुत्रसहस्राणि वाक्यमेतदुवाच ह ।
गतिं पुत्रा न पश्यामि रक्षसां पुरुषर्षभाः ॥ १२ ॥
मन्त्रपूतैर्महाभागैरास्थितो हि महाक्रतुः ।

'उस यज्ञ-सभामें बैठे हुए राजा सगरने उपाध्यायोंकी बात सुनकर अपने साठ हजार पुत्रोंसे कहा—'पुरुषप्रवर पुत्रो ! यह महान् यज्ञ वेदमन्त्रोंसे पवित्र अन्तःकरणवाले महाभाग महात्माओंद्वारा सम्पादित हो रहा है; अतः यहाँ राक्षसोंकी पहुँच हो, ऐसा मुझे नहीं दिखायी देता (अतः यह अश्व चुरानेवाला कोई देवकोटिका पुरुष होगा) ॥

तद् गच्छथ विचिन्वध्वं पुत्रका भद्रमस्तु वः ॥ १३ ॥
समुद्रमालिनीं सर्वां पृथिवीमनुगच्छथ ।
एकैकं योजनं पुत्रा विस्तारमभिगच्छत ॥ १४ ॥
यावत् तुरगसंदर्शस्तावत् खनत मेदिनीम् ।
तमेव हयहर्तारं मार्गमाणा ममाज्ञया ॥ १५ ॥

'अतः पुत्रो ! तुमलोग जाओ, घोड़ेकी खोज करो । तुम्हारा कल्याण हो । समुद्रसे घिरी हुई इस सारी पृथ्वीको छान डालो । एक-एक योजन विस्तृत भूमिको बाँटकर उसका चप्पा-चप्पा देख डालो । जबतक घोड़ेका पता न लग जाय, तबतक मेरी आज्ञासे इस पृथ्वीको खोदते रहो । इस खोदनेका एक ही लक्ष्य है—उस अश्वके चोरको ढूँढ़ निकालना १३—१५

दीक्षितः पौत्रसहितः सोपाध्यायगणस्त्वहम् ।
इह स्थास्यामि भद्रं वो यावत् तुरगदर्शनम् ॥ १६ ॥

'मैं यज्ञकी दीक्षा ले चुका हूँ, अतः स्वयं उसे ढूँढ़नेके लिये नहीं जा सकता; इसलिये जबतक उस अश्वका दर्शन न हो, तबतक मैं उपाध्यायों और पौत्र अंशुमान्‌के साथ यहीं रहूँगा' ॥ १६ ॥

ते सर्वे हृष्टमनसो राजपुत्रा महाबलाः ।
जग्मुर्महीतलं राम पितुर्वचनयन्त्रिताः ॥ १७ ॥

'श्रीराम ! पिताके आदेशरूपी बन्धनसे बँधकर वे सभी महाबली राजकुमार मन-ही-मन हर्षका अनुभव करते हुए भूतलपर विचरने लगे ॥ १७ ॥

गत्वा तु पृथिवीं सर्वामदृष्ट्वा तं महाबलाः ।
योजनायामविस्तारमेकैको धरणीतलम् ।
बिभिदुः पुरुषव्याघ्रा वज्रस्पर्शसमैर्भुजैः ॥ १८ ॥

'सारी पृथ्वीका चक्कर लगानेके बाद भी उस अश्वको न देखकर उन महाबली पुरुषसिंह राजपुत्रोंने प्रत्येकके हिस्सेमें एक-एक योजन भूमिका बँटवारा करके अपनी भुजाओंद्वारा उसे खोदना आरम्भ किया । उनकी उन भुजाओंका स्पर्श वज्रके स्पर्शकी भाँति दुस्सह था ॥ १८ ॥

शूलैरशनिकल्पैश्च हलैश्चापि सुदारुणैः ।
भिद्यमाना वसुमती ननाद रघुनन्दन ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! उस समय वज्रतुल्य शूलों और अत्यन्त दारुण हलोंद्वारा सब ओरसे विदीर्ण की जाती हुई वसुधा आर्तनाद करने लगी ॥ १९ ॥

नागानां वध्यमानानामसुराणां च राघव ।
राक्षसानां दुराधर्ष सत्त्वानां निनदोऽभवत् ॥ २० ॥

'रघुवीर ! उन राजकुमारोंद्वारा मारे जाते हुए नागों, असुरों, राक्षसों तथा दूसरे-दूसरे प्राणियोंका भयंकर आर्तनाद गूँजने लगा ॥ २० ॥

योजनानां सहस्राणि षष्टिं तु रघुनन्दन ।
बिभिदुर्धरणीं राम रसातलमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम ! उन्होंने साठ हजार योजनकी भूमि खोद डाली । मानो वे सर्वोत्तम रसातल-का अनुसंधान कर रहे हों ॥ २१ ॥

एवं पर्वतसम्बाधं जम्बूद्वीपं नृपात्मजाः ।
खनन्तो नृपशार्दूल सर्वतः परिचक्रमुः ॥ २२ ॥

नृपश्रेष्ठ राम ! इस प्रकार पर्वतोंसे युक्त जम्बूद्वीपकी भूमि खोदते हुए वे राजकुमार सब ओर चक्कर लगाने लगे ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सासुराः सहपन्नगाः ।
सम्भ्रान्तमनसः सर्वे पितामहमुपागमन् ॥ २३ ॥

'इसी समय गन्धर्वों, असुरों और नागोंसहित सम्पूर्ण देवता मन-ही-मन घबरा उठे और ब्रह्माजीके पास गये ॥२३॥

ते प्रसाद्य महात्मानं विषण्णवदनास्तदा ।
ऊचुः परमसंत्रस्ताः पितामहमिदं वचः ॥ २४ ॥

उनके मुखपर विषाद छा रहा था । वे भयसे अत्यन्त

संत्रस्त हो गये थे । उन्होंने महात्मा ब्रह्माजीको प्रसन्न करके इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

भगवन् पृथिवी सर्वा खन्यते सगरात्मजैः ।
बहवश्च महात्मानो वध्यन्ते जलचारिणः ॥ २५ ॥

''भगवन् ! सगरके पुत्र इस सारी पृथ्वीको खोदे डालते हैं और बहुत-से महात्माओं तथा जलचारी जीवोंका वध कर रहे हैं ॥ २५ ॥

अयं यज्ञहरोऽस्माकमनेनाश्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिंसन्ति सगरात्मजाः ॥ २६ ॥

''यह हमारे यज्ञमें विघ्न डालनेवाला है । यह हमारा अश्व चुराकर ले जाता है, ऐसा कहकर वे सगरके पुत्र समस्त प्राणियोंकी हिंसा कर रहे हैं'' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

सगर-पुत्रोंके भावी विनाशकी सूचना देकर ब्रह्माजीका देवताओंको शान्त करना, सगरके पुत्रोंका पृथ्वीको खोदते हुए कपिलजीके पास पहुँचना और उनके रोषसे जलकर भस्म होना

देवतानां वचः श्रुत्वा भगवान् वै पितामहः ।
प्रत्युवाच सुसंत्रस्तान् कृतान्तबलमोहितान् ॥ १ ॥

देवताओंकी बात सुनकर भगवान् ब्रह्माजीने कितने ही प्राणियोंका अन्त करनेवाले सगर-पुत्रोंके बलसे मोहित एवं भयभीत हुए उन देवताओंसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

यस्येयं वसुधा कृत्स्ना वासुदेवस्य धीमतः ।
महिषी माधवस्यैषा स एव भगवान् प्रभुः ॥ २ ॥
कापिलं रूपमास्थाय धारयत्यनिशं धराम् ।
तस्य कोपाग्निना दग्धा भविष्यन्ति नृपात्मजाः ॥ ३ ॥

'देवगण ! यह सारी पृथ्वी जिन भगवान् वासुदेवकी वस्तु है तथा जिन भगवान् लक्ष्मीपतिकी यह रानी है, वे ही सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि कपिल मुनिका रूप धारण करके निरन्तर इस पृथ्वीको धारण करते हैं । उनकी कोपाग्निसे ये सारे राजकुमार जलकर भस्म हो जायँगे ॥ २-३ ॥

पृथिव्याश्चापि निर्भेदो दृष्ट एव सनातनः ।
सगरस्य च पुत्राणां विनाशो दीर्घदर्शिनाम् ॥ ४ ॥

'पृथ्वीका यह भेदन सनातन है—प्रत्येक कल्पमें अवश्यम्भावी है । (श्रुतियों और स्मृतियोंमें आये हुए सागर आदि शब्दोंसे यह बात सुस्पष्ट ज्ञात होती है ।) इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुषोंने सगरके पुत्रोंका भावी विनाश भी देखा ही है; अतः इस विषयमें शोक करना अनुचित है' ॥ ४ ॥

पितामहवचः श्रुत्वा त्रयस्त्रिंशदरिंदमाः ।
देवाः परमसंहृष्टाः पुनर्जग्मुर्यथागतम् ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीका यह कथन सुनकर शत्रुओंका दमन करनेवाले तैंतीस देवता बड़े हर्षमें भरकर जैसे आये थे, उसी तरह पुनः लौट गये ॥ ५ ॥

सगरस्य च पुत्राणां प्रादुरासीन्महास्वनः ।
पृथिव्यां भिद्यमानायां निर्घातसमनिःस्वनः ॥ ६ ॥

सगरपुत्रोंके हाथसे जब पृथ्वी खोदी जा रही थी, उस समय उससे वज्रपातके समान बड़ा भयंकर शब्द होता था ॥

ततो भित्त्वा महीं सर्वां कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
सहिताः सागराः सर्वे पितरं वाक्यमब्रुवन् ॥ ७ ॥

इस तरह सारी पृथ्वी खोदकर तथा उसकी परिक्रमा करके वे सभी सगर-पुत्र पिताके पास खाली हाथ लौट आये और बोले—॥ ७ ॥

परिक्रान्ता मही सर्वा सत्त्ववन्तश्च सूदिताः ।
देवदानवरक्षांसि पिशाचोरगपन्नगाः ॥ ८ ॥
न च पश्यामहेऽश्वं ते अश्वहर्तारमेव च ।
किं करिष्याम भद्रं ते बुद्धिरत्र विचार्यताम् ॥ ९ ॥

'पिताजी ! हमने सारी पृथ्वी छान डाली । देवता, दानव, राक्षस, पिशाच और नाग आदि बड़े-बड़े बलवान् प्राणियोंको मार डाला । फिर भी हमें न तो कहीं घोड़ा दिखायी दिया और न घोड़ेका चुरानेवाला ही । आपका भला हो । अब हम क्या करें ? इस विषयमें आप ही कोई उपाय सोचिये' ॥ ८-९ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां राजसत्तमः ।
समन्युरब्रवीद् वाक्यं सगरो रघुनन्दनः ॥ १० ॥

'रघुनन्दन ! पुत्रोंका यह वचन सुनकर राजाओंमें श्रेष्ठ सगरने उनसे कुपित होकर कहा—॥ १० ॥

भूयः खनत भद्रं वो विभेद्य वसुधातलम् ।
अश्वहर्तारमासाद्य कृतार्थाश्च निवर्तत ॥ ११ ॥

'जाओ, फिरसे सारी पृथ्वी खोदो और इसे विदीर्ण करके घोड़ेके चोरका पता लगाओ । चोरतक पहुँचकर काम पूरा होनेपर ही लौटना' ॥ ११ ॥

पितुर्वचनमासाद्य सगरस्य महात्मनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि रसातलमभिद्रवन् ॥ १२ ॥

अपने महात्मा पिता सगरकी यह आज्ञा शिरोधार्य करके वे साठ हजार राजकुमार रसातलकी ओर बढ़े (और रोषमें भरकर पृथ्वी खोदने लगे) ॥ १२ ॥

खन्यमाने ततस्तस्मिन् ददृशुः पर्वतोपमम् ।
दिशागजं विरूपाक्षं धारयन्तं महीतलम् ॥ १३ ॥

उस खुदाईके समय ही उन्हें एक पर्वताकार दिग्गज दिखायी दिया, जिसका नाम विरूपाक्ष है । वह इस भूतलको धारण किये हुए था ॥ १३ ॥

सपर्वतवनां कृत्स्नां पृथिवीं रघुनन्दन ।
धारयामास शिरसा विरूपाक्षो महागजः ॥ १४ ॥

रघुनन्दन ! महान् गजराज विरूपाक्षने पर्वत और वनों-सहित इस सम्पूर्ण पृथ्वीको अपने मस्तकपर धारण कर रक्खा था ॥ १४ ॥

यदा पर्वणि काकुत्स्थ विश्रमार्थं महागजः ।
खेदाच्चालयते शीर्षं भूमिकम्पस्तदा भवेत् ॥ १५ ॥

काकुत्स्थ ! वह महान् दिग्गज जिस समय थककर विश्रामके लिये अपने मस्तकको इधर-उधर हटाता था, उस समय भूकम्प होने लगता था ॥ १५ ॥

ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा दिशापालं महागजम् ।
मानयन्तो हि ते राम जग्मुर्भित्त्वा रसातलम् ॥ १६ ॥

श्रीराम ! पूर्व दिशाकी रक्षा करनेवाले विशाल गजराज विरूपाक्षकी परिक्रमा करके उसका सम्मान करते हुए वे सगरपुत्र रसातलका भेदन करके आगे बढ़ गये ॥ १६ ॥

ततः पूर्वां दिशं भित्त्वा दक्षिणां बिभिदुः पुनः ।
दक्षिणस्यामपि दिशि ददृशुस्ते महागजम् ॥ १७ ॥

पूर्व दिशाका भेदन करनेके पश्चात् वे पुनः दक्षिण दिशाकी भूमिको खोदने लगे । दक्षिण दिशामें भी उन्हें एक महान् दिग्गज दिखायी दिया ॥ १७ ॥

महापद्मं महात्मानं सुमहत्पर्वतोपमम् ।
शिरसा धारयन्तं गां विस्मयं जग्मुरुत्तमम् ॥ १८ ॥

उसका नाम था महापद्म । महान् पर्वतके समान ऊँचा वह विशालकाय गजराज अपने मस्तकपर पृथ्वीको धारण करता था । उसे देखकर उन राजकुमारोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १८ ॥

ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा सगरस्य महात्मनः ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि पश्चिमां बिभिदुर्दिशम् ॥ १९ ॥

महात्मा सगरके वे साठ हजार पुत्र उस दिग्गजकी परिक्रमा करके पश्चिम दिशाकी भूमिका भेदन करने लगे ॥

पश्चिमायामपि दिशि महान्तमचलोपमम् ।
दिशागजं सौमनसं ददृशुस्ते महाबलाः ॥ २० ॥

पश्चिम दिशामें भी उन महाबली सगरपुत्रोंने महान् पर्वताकार दिग्गज सौमनसका दर्शन किया ॥ २० ॥

ते तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चापि निरामयम् ।
खनन्तः समुपाक्रान्ता दिशं सोमवतीं तदा ॥ २१ ॥

उसकी भी परिक्रमा करके उसका कुशल-समाचार पूछकर वे सभी राजकुमार भूमि खोदते हुए उत्तर दिशामें जा पहुँचे ॥ २१ ॥

उत्तरस्यां रघुश्रेष्ठ ददृशुर्हिमपाण्डुरम् ।
भद्रं भद्रेण वपुषा धारयन्तं महीमिमाम् ॥ २२ ॥

रघुश्रेष्ठ ! उत्तर दिशामें उन्हें हिमके समान श्वेतभद्र नामक दिग्गज दिखायी दिया, जो अपने कल्याणमय शरीरसे इस पृथ्वीको धारण किये हुए था ॥ २२ ॥

समालभ्य ततः सर्वे कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि बिभिदुर्वसुधातलम् ॥ २३ ॥

उसका कुशल-समाचार पूछकर राजा सगरके वे सभी साठ हजार पुत्र उसकी परिक्रमा करनेके पश्चात् भूमि खोदनेके काममें जुट गये ॥ २३ ॥

ततः प्रागुत्तरां गत्वा सागराः प्रथितां दिशम् ।
रोषादभ्यखनन् सर्वे पृथिवीं सगरात्मजाः ॥ २४ ॥

तदनन्तर सुविख्यात पूर्वोत्तर दिशामें जाकर उन सगर-कुमारोंने एक साथ होकर रोषपूर्वक पृथ्वीको खोदना आरम्भ किया ॥ २४ ॥

ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः ।
ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम् ॥ २५ ॥

इस बार उन सभी महामना, महाबली एवं भयानक वेगशाली राजकुमारोंने वहाँ सनातन वासुदेवस्वरूप भगवान् कपिलको देखा ॥ २५ ॥

हयं च तस्य देवस्य चरन्तमविदूरतः ।
प्रहर्षमतुलं प्राप्ताः सर्वे ते रघुनन्दन ॥ २६ ॥

राजा सगरके यज्ञका वह घोड़ा भी भगवान् कपिलके पास ही चर रहा था । रघुनन्दन ! उसे देखकर उन सबको अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥

ते तं यज्ञहनं ज्ञात्वा क्रोधपर्याकुलेक्षणाः ।
खनित्रलाङ्गलधरा नानावृक्षशिलाधराः ॥ २७ ॥

भगवान् कपिलको अपने यज्ञमें विघ्न डालनेवाला जानकर उनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं । उन्होंने अपने हाथोंमें खंती, हल और नाना प्रकारके वृक्ष एवं पत्थरोंके टुकड़े ले रखे थे ॥ २७ ॥

अभ्यधावन्त संक्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रुवन् ।
अस्माकं त्वं हि तुरगं यज्ञियं हृतवानसि ॥ २८ ॥
दुर्मेधस्त्वं हि सम्प्राप्तान् विद्धि नः सगरात्मजान् ।

वे अत्यन्त रोषमें भरकर उनकी ओर दौड़े और बोले— 'अरे ! खड़ा रह, खड़ा रह । तू ही हमारे यज्ञके घोड़ेको

यहाँ चुरा लाया है । दुर्बुद्धे ! अब हम आ गये । तू समझ ले, हम महाराज सगरके पुत्र हैं' ॥ २८½ ॥

श्रुत्वा तद् वचनं तेषां कपिलो रघुनन्दन ॥ २९ ॥
रोषेण महताविष्टो हुङ्कारमकरोत् तदा ।

रघुनन्दन ! उनकी बात सुनकर भगवान् कपिलको बड़ा रोष हुआ और उस रोषके आवेशमें ही उनके मुँहसे एक हुंकार निकल पड़ा ॥ २९½ ॥

ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना ।
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थ सगरात्मजाः ॥ ३० ॥

श्रीराम ! उस हुंकारके साथ ही उन अनन्त प्रभावशाली महात्मा कपिलने उन सभी सगरपुत्रोंको जलाकर राखका ढेर कर दिया ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

सगरकी आज्ञासे अंशुमान्‌का रसातलमें जाकर घोड़ेको ले आना और अपने चाचाओंके निधनका समाचार सुनाना

पुत्रांश्चिरगताञ्ज्ञात्वा सगरो रघुनन्दन ।
नप्तारमब्रवीद् राजा दीप्यमानं स्वतेजसा ॥ १ ॥

रघुनन्दन ! 'पुत्रोंको गये बहुत दिन हो गये'—ऐसा जानकर राजा सगरने अपने पौत्र अंशुमान्‌से, जो अपने तेजसे देदीप्यमान हो रहा था, इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

शूरश्च कृतविद्यश्च पूर्वैस्तुल्योऽसि तेजसा ।
पितॄणां गतिमन्विच्छ येन चाश्वोपवाहितः ॥ २ ॥

'वत्स ! तुम शूरवीर, विद्वान् तथा अपने पूर्वजोंके तुल्य तेजस्वी हो । तुम भी अपने चाचाओंके पथका अनुसरण करो और उस चोरका पता लगाओ, जिसने मेरे यज्ञ-सम्बन्धी अश्वका अपहरण कर लिया है ॥ २ ॥

अन्तर्भौमानि सत्त्वानि वीर्यवन्ति महान्ति च ।
तेषां तु प्रतिघातार्थं सासिं गृह्णीष्व कार्मुकम् ॥ ३ ॥

'देखो, पृथ्वीके भीतर बड़े-बड़े बलवान् जीव रहते हैं; अतः उनसे टक्कर लेनेके लिये तुम तलवार और धनुष भी लेते जाओ ॥ ३ ॥

अभिवाद्याभिवाद्यांस्त्वं हत्वा विघ्नकरानपि ।
सिद्धार्थः संनिवर्तस्व मम यज्ञस्य पारगः ॥ ४ ॥

'जो वन्दनीय पुरुष हों, उन्हें प्रणाम करना और जो तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेवाले हों, उनको मार डालना । ऐसा करते हुए सफलमनोरथ होकर लौटो और मेरे इस यज्ञको पूर्ण कराओ' ॥ ४ ॥

एवमुक्तोंऽशुमान् सम्यक् सगरेण महात्मना ।
धनुरादाय खड्गं च जगाम लघुविक्रमः ॥ ५ ॥

महात्मा सगरके ऐसा कहनेपर शीघ्रतापूर्वक पराक्रम कर दिखानेवाला वीरवर अंशुमान् धनुष और तलवार लेकर चल दिया ॥ ५ ॥

स खातं पितृभिर्मार्गमन्तर्भौमं महात्मभिः ।
प्रापद्यत नरश्रेष्ठ तेन राज्ञाभिचोदितः ॥ ६ ॥

नरश्रेष्ठ ! उसके महामनस्वी चाचाओंने पृथ्वीके भीतर जो मार्ग बना दिया था, उसीपर वह राजा सगरसे प्रेरित होकर गया ॥ ६ ॥

देवदानवरक्षोभिः पिशाचपतगोरगैः ।
पूज्यमानं महातेजा दिशागजमपश्यत ॥ ७ ॥

वहाँ उस महातेजस्वी वीरने एक दिग्गजको देखा, जिसकी देवता, दानव, राक्षस, पिशाच, पक्षी और नाग—सभी पूजा कर रहे थे ॥ ७ ॥

स तं प्रदक्षिणं कृत्वा पृष्ट्वा चैव निरामयम् ।
पितॄन् स परिपप्रच्छ वाजिहर्तारमेव च ॥ ८ ॥

उसकी परिक्रमा करके कुशल-मङ्गल पूछकर अंशुमान्‌ने उस दिग्गजसे अपने चाचाओंका समाचार तथा अश्व चुरानेवालेका पता पूछा ॥ ८ ॥

दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्युवाच महामतिः ।
आसमञ्ज कृतार्थस्त्वं सहाश्वः शीघ्रमेष्यसि ॥ ९ ॥

उसका प्रश्न सुनकर परम बुद्धिमान् दिग्गजने इस प्रकार उत्तर दिया—'असमंज-कुमार ! तुम अपना कार्य सिद्ध करके घोड़ेसहित शीघ्र लौट आओगे' ॥ ९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सर्वानेव दिशागजान् ।
यथाक्रमं यथान्यायं प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १० ॥

उसकी यह बात सुनकर अंशुमान्‌ने क्रमशः सभी दिग्गजोंसे न्यायानुसार उक्त प्रश्न पूछना आरम्भ किया ॥ १० ॥

तैश्च सर्वैर्दिशापालैर्वाक्यज्ञैर्वाक्यकोविदैः ।
पूजितः सहयश्चैवागन्तासीत्यभिचोदितः ॥ ११ ॥

वाक्यके मर्मको समझने तथा बोलनेमें कुशल उन समस्त

दिग्गजोंने अंशुमान्‌का सत्कार किया और यह शुभ कामना प्रकट की कि तुम घोड़ेसहित लौट आओगे ॥ ११ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा जगाम लघुविक्रमः ।
भस्मराशीकृता यत्र पितरस्तस्य सागराः ॥ १२ ॥

उनका यह आशीर्वाद सुनकर अंशुमान् शीघ्रतापूर्वक पैर बढ़ाता हुआ उस स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ उसके चाचा सगरपुत्र राखके ढेर हुए पड़े थे ॥ १२ ॥

स दुःखवशमापन्नस्त्वसमञ्जसुतस्तदा ।
चुक्रोश परमार्तस्तु वधात् तेषां सुदुःखितः ॥ १३ ॥

उनके वधसे असमंजपुत्र अंशुमान्‌को बड़ा दुःख हुआ। वह शोकके वशीभूत हो अत्यन्त आर्तभावसे फूट-फूटकर रोने लगा ॥ १३ ॥

यज्ञियं च हयं तत्र चरन्तमविदूरतः ।
ददर्श पुरुषव्याघ्रो दुःखशोकसमन्वितः ॥ १४ ॥

दुःख-शोकमें डूबे हुए पुरुषसिंह अंशुमान्‌ने अपने यज्ञ-सम्बन्धी अश्वको भी वहाँ पास ही चरते देखा ॥ १४ ॥

स तेषां राजपुत्राणां कर्तुकामो जलक्रियाम् ।
स जलार्थी महातेजा न चापश्यज्जलाशयम् ॥ १५ ॥

महातेजस्वी अंशुमान्‌ने उन राजकुमारोंको जलाञ्जलि देनेके लिये जलकी इच्छा की; किंतु वहाँ कहीं भी कोई जलाशय नहीं दिखायी दिया ॥ १५ ॥

विसार्य निपुणां दृष्टिं ततोऽपश्यत् खगाधिपम् ।
पितॄणां मातुलं राम सुपर्णमनिलोपमम् ॥ १६ ॥

श्रीराम ! तब उसने दूरतककी वस्तुओंको देखनेमें समर्थ अपनी दृष्टिको फैलाकर देखा। उस समय उसे वायुके समान वेगशाली पक्षिराज गरुड़ दिखायी दिये, जो उसके चाचाओं (सगरपुत्रों) के मामा थे ॥ १६ ॥

स चैनमब्रवीद् वाक्यं वैनतेयो महाबलः ।
मा शुचः पुरुषव्याघ्र वधोऽयं लोकसम्मतः ॥ १७ ॥

महाबली विनतानन्दन गरुड़ने अंशुमान्‌से कहा—'पुरुषसिंह ! शोक न करो। इन राजकुमारोंका वध सम्पूर्ण जगत्‌के मङ्गलके लिये हुआ है ॥ १७ ॥

कपिलेनाप्रमेयेण दग्धा हीमे महाबलाः ।
सलिलं नार्हसि प्राज्ञ दातुमेषां हि लौकिकम् ॥ १८ ॥

'विद्वन् ! अनन्त प्रभावशाली महात्मा कपिलने इन महाबली राजकुमारोंको दग्ध किया है। इनके लिये तुम्हें लौकिक जलकी अञ्जलि देना उचित नहीं है ॥ १८ ॥

गङ्गा हिमवतो ज्येष्ठा दुहिता पुरुषर्षभ ।
तस्यां कुरु महाबाहो पितॄणां सलिलक्रियाम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! महाबाहो ! हिमवान्‌की जो ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाजी हैं, उन्हींके जलसे अपने इन चाचाओंका तर्पण करो ॥ १९ ॥

भस्मराशीकृतानेतान् प्लावयेल्लोकपावनी ।
तया क्लिन्नमिदं भस्म गङ्गया लोककान्तया ।
षष्टिं पुत्रसहस्राणि स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ २० ॥

'जिस समय लोकपावनी गङ्गा राखके ढेर होकर गिरे हुए उन साठ हजार राजकुमारोंको अपने जलसे आप्लावित करेंगी, उसी समय उन सबको स्वर्गलोकमें पहुँचा देंगी। लोककमनीया गङ्गाके जलसे भीगी हुई यह भस्मराशि इन सबको स्वर्गलोकमें भेज देगी ॥ २० ॥

निर्गच्छाश्वं महाभाग संगृह्य पुरुषर्षभ ।
यज्ञं पैतामहं वीर निर्वर्तयितुमर्हसि ॥ २१ ॥

'महाभाग ! पुरुषप्रवर ! वीर ! अब तुम घोड़ा लेकर जाओ और अपने पितामहका यज्ञ पूर्ण करो' ॥ २१ ॥

सुपर्णवचनं श्रुत्वा सोंऽशुमानतिवीर्यवान् ।
त्वरितं हयमादाय पुनरायान्महातपाः ॥ २२ ॥

गरुड़की यह बात सुनकर अत्यन्त पराक्रमी महातपस्वी अंशुमान् घोड़ा लेकर तुरंत लौट आया ॥ २२ ॥

ततो राजानमासाद्य दीक्षितं रघुनन्दन ।
न्यवेदयद् यथावृत्तं सुपर्णवचनं तथा ॥ २३ ॥

रघुनन्दन ! यज्ञमें दीक्षित हुए राजाके पास आकर उसने सारा समाचार निवेदन किया और गरुड़की बतायी हुई बात भी कह सुनायी ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा घोरसंकाशं वाक्यमंशुमतो नृपः ।
यज्ञं निर्वर्तयामास यथाकल्पं यथाविधि ॥ २४ ॥

अंशुमान्‌के मुखसे यह भयंकर समाचार सुनकर राजा सगरने कल्पोक्त नियमके अनुसार अपना यज्ञ विधिवत् पूर्ण किया ॥ २४ ॥

स्वपुरं त्वगमच्छ्रीमानिष्टयज्ञो महीपतिः ।
गङ्गायाश्चागमे राजा निश्चयं नाध्यगच्छत ॥ २५ ॥

यज्ञ समाप्त करके पृथ्वीपति महाराज सगर अपनी राजधानीको लौट आये। वहाँ आनेपर उन्होंने गङ्गाजीको ले आनेके विषयमें बहुत विचार किया; किंतु वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके ॥ २५ ॥

अगत्वा निश्चयं राजा कालेन महता महान् ।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राज्यं कृत्वा दिवं गतः ॥ २६ ॥

दीर्घकालतक विचार करनेपर भी उन्हें कोई निश्चित उपाय नहीं सूझा और तीस हजार वर्षोंतक राज्य करके वे स्वर्गलोकको चले गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

अंशुमान् और भगीरथकी तपस्या, ब्रह्माजीका भगीरथको अभीष्ट वर देकर गङ्गाजीको धारण करनेके लिये भगवान् शङ्करको राजी करनेके निमित्त प्रयत्न करनेकी सलाह देना

कालधर्मं गते राम सगरे प्रकृतीजनाः।
राजानं रोचयामासुरंशुमन्तं सुधार्मिकम्॥ १॥

श्रीराम! सगरकी मृत्यु हो जानेपर प्रजाजनोंने परम धर्मात्मा अंशुमान्‌को राजा बनानेकी रुचि प्रकट की॥ १॥

स राजा सुमहानासीदंशुमान् रघुनन्दन।
तस्य पुत्रो महानासीद् दिलीप इति विश्रुतः॥ २॥

रघुनन्दन! अंशुमान् बड़े प्रतापी राजा हुए। उनके पुत्रका नाम दिलीप था। वह भी एक महान् पुरुष था॥२॥

तस्मै राज्यं समादिश्य दिलीपे रघुनन्दन।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे सुदारुणम्॥ ३॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले वीर! अंशुमान् दिलीपको राज्य देकर हिमालयके रमणीय शिखरपर चले गये और वहाँ अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे॥ ३॥

द्वात्रिंशच्छतसाहस्रं वर्षाणि सुमहायशाः।
तपोवनगतो राजा स्वर्गं लेभे तपोधनः॥ ४॥

महान् यशस्वी राजा अंशुमान्‌ने उस तपोवनमें जाकर बत्तीस हजार वर्षोंतक तप किया। तपस्याके धनसे सम्पन्न हुए उन नरेशने वहीं शरीर त्यागकर स्वर्गलोक प्राप्त किया॥ ४॥

दिलीपस्तु महातेजाः श्रुत्वा पैतामहं वधम्।
दुःखोपहतया बुद्ध्या निश्चयं नाध्यगच्छत॥ ५॥

अपने पितामहोंके वधका वृत्तान्त सुनकर महातेजस्वी दिलीप भी बहुत दुखी रहते थे। अपनी बुद्धिसे बहुत सोचने-विचारनेके बाद भी वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके॥५॥

कथं गङ्गावतरणं कथं तेषां जलक्रिया।
तारयेयं कथं चैतानिति चिन्तापरोऽभवत्॥ ६॥

वे सदा इसी चिन्तामें डूबे रहते थे कि किस प्रकार पृथ्वीपर गङ्गाजीका उतरना सम्भव होगा? कैसे गङ्गाजलद्वारा उन्हें जलाञ्जलि दी जायगी और किस प्रकार मैं अपने उन पितरोंका उद्धार कर सकूँगा॥ ६॥

तस्य चिन्तयतो नित्यं धर्मेण विदितात्मनः।
पुत्रो भगीरथो नाम जज्ञे परमधार्मिकः॥ ७॥

प्रतिदिन इन्हीं सब चिन्ताओंमें पड़े हुए राजा दिलीपको, जो अपने धर्माचरणसे बहुत विख्यात थे, भगीरथ नामक एक परम धर्मात्मा पुत्र प्राप्त हुआ॥ ७॥

दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत्॥ ८॥

महातेजस्वी दिलीपने बहुत-से यज्ञोंका अनुष्ठान तथा तीस हजार वर्षोंतक राज्य किया॥ ८॥

अगत्वा निश्चयं राजा तेषामुद्धरणं प्रति।
व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान्॥ ९॥

पुरुषसिंह! उन पितरोंके उद्धारके विषयमें किसी निश्चयको न पहुँचकर राजा दिलीप रोगसे पीड़ित हो मृत्युको प्राप्त हो गये॥ ९॥

इन्द्रलोकं गतो राजा स्वार्जितेनैव कर्मणा।
राज्ये भगीरथं पुत्रमभिषिच्य नरर्षभः॥ १०॥

पुत्र भगीरथको राज्यपर अभिषिक्त करके नरश्रेष्ठ राजा दिलीप अपने किये हुए पुण्यकर्मके प्रभावसे इन्द्रलोकमें गये॥ १०॥

भगीरथस्तु राजर्षिर्धार्मिको रघुनन्दन।
अनपत्यो महाराजः प्रजाकामः स च प्रजाः॥ ११॥
मन्त्रिष्वाधाय तद् राज्यं गङ्गावतरणे रतः।
तपो दीर्घं समातिष्ठद् गोकर्णे रघुनन्दन॥ १२॥

रघुनन्दन! धर्मात्मा राजर्षि महाराज भगीरथके कोई संतान नहीं थी। वे संतान-प्राप्तिकी इच्छा रखते थे तो भी प्रजा और राज्यकी रक्षाका भार मन्त्रियोंपर रखकर गङ्गाजीको पृथ्वीपर उतारनेके प्रयत्नमें लग गये और गोकर्णतीर्थमें बड़ी भारी तपस्या करने लगे॥ ११-१२॥

ऊर्ध्वबाहुः पञ्चतपा मासाहारो जितेन्द्रियः।
तस्य वर्षसहस्राणि घोरे तपसि तिष्ठतः॥ १३॥
अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञो महात्मनः।

महाबाहो! वे अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर पञ्चाग्निका सेवन करते और इन्द्रियोंको काबूमें रखकर एक-एक महीनेपर आहार ग्रहण करते थे। इस प्रकार घोर तपस्यामें लगे हुए महात्मा राजा भगीरथके एक हजार वर्ष व्यतीत हो गये॥१३½॥

सुप्रीतो भगवान् ब्रह्मा प्रजानां प्रभुरीश्वरः॥ १४॥
ततः सुरगणैः सार्धमुपागम्य पितामहः।
भगीरथं महात्मानं तप्यमानमथाब्रवीत्॥ १५॥

इससे प्रजाओंके स्वामी भगवान् ब्रह्माजी उनपर बहुत प्रसन्न हुए। पितामह ब्रह्माने देवताओंके साथ वहाँ आकर तपस्यामें लगे हुए महात्मा भगीरथसे इस प्रकार कहा—॥

भगीरथ महाराज प्रीतस्तेऽहं जनाधिप।
तपसा च सुतप्तेन वरं वरय सुव्रत॥ १६॥

'महाराज भगीरथ! तुम्हारी इस उत्तम तपस्यासे मैं बहुत

प्रसन्न हूँ। श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले नरेश्वर! तुम कोई वर माँगो' ॥ १६ ॥

तमुवाच महातेजाः सर्वलोकपितामहम्।
भगीरथो महाबाहुः कृताञ्जलिपुटः स्थितः ॥ १७ ॥

तब महातेजस्वी महाबाहु भगीरथ हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े हो गये और उन सर्वलोकपितामह ब्रह्मासे इस प्रकार बोले—॥ १७ ॥

यदि मे भगवान् प्रीतो यद्यस्ति तपसः फलम्।
सगरस्यात्मजाः सर्वे मत्तः सलिलमाप्नुयुः ॥ १८ ॥

'भगवन्! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और यदि इस तपस्याका कोई उत्तम फल है तो सगरके सभी पुत्रोंको मेरे हाथसे गङ्गाजीका जल प्राप्त हो ॥ १८ ॥

गङ्गायाः सलिलक्लिन्ने भस्मन्येषां महात्मनाम्।
स्वर्गं गच्छेयुरत्यन्तं सर्वे च प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

'इन महात्माओंकी भस्मराशिके गङ्गाजीके जलसे भीग जानेपर मेरे उन सभी प्रपितामहोंको अक्षय स्वर्गलोक मिले ॥

देव याचे ह संतत्यै नावसीदेत् कुलं च नः।
इक्ष्वाकूणां कुले देव एष मेऽस्तु वरः परः ॥ २० ॥

'देव! मैं संततिके लिये भी आपसे प्रार्थना करता हूँ। हमारे कुलकी परम्परा कभी नष्ट न हो। भगवन्! मेरे द्वारा माँगा हुआ उत्तम वर सम्पूर्ण इक्ष्वाकुवंशके लिये लागू होना चाहिये' ॥

उक्तवाक्यं तु राजानं सर्वलोकपितामहः।
प्रत्युवाच शुभां वाणीं मधुरां मधुराक्षराम् ॥ २१ ॥

राजा भगीरथके ऐसा कहनेपर सर्वलोकपितामह ब्रह्माजीने मधुर अक्षरोंवाली परम कल्याणमयी मीठी वाणीमें कहा—॥ २१ ॥

मनोरथो महानेष भगीरथ महारथ।
एवं भवतु भद्रं ते इक्ष्वाकुकुलवर्धन ॥ २२ ॥

'इक्ष्वाकुवंशकी वृद्धि करनेवाले महारथी भगीरथ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारा यह महान् मनोरथ इसी रूपमें पूर्ण हो ॥

इयं हैमवती ज्येष्ठा गङ्गा हिमवतः सुता।
तां वै धारयितुं राजन् हरस्तत्र नियुज्यताम् ॥ २३ ॥

'राजन्! ये हैं हिमालयकी ज्येष्ठ पुत्री हैमवती गङ्गाजी। इनको धारण करनेके लिये भगवान् शङ्करको तैयार करो ॥ २३ ॥

गङ्गायाः पतनं राजन् पृथिवी न सहिष्यते।
तां वै धारयितुं राजन् नान्यं पश्यामि शूलिनः ॥ २४ ॥

'महाराज! गङ्गाजीके गिरनेका वेग यह पृथ्वी नहीं सह सकेगी। मैं त्रिशूलधारी भगवान् शङ्करके सिवा और किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इन्हें धारण कर सके ॥ २४ ॥

तमेवमुक्त्वा राजानं गङ्गां चाभाष्य लोककृत्।
जगाम त्रिदिवं देवैः सर्वैः सह मरुद्गणैः ॥ २५ ॥

राजासे ऐसा कहकर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने भगवती गङ्गासे भी भगीरथपर अनुग्रह करनेके लिये कहा। इसके बाद वे सम्पूर्ण देवताओं तथा मरुद्गणोंके साथ स्वर्गलोकको चले गये ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

भगीरथकी तपस्यासे संतुष्ट हुए भगवान् शङ्करका गङ्गाको अपने सिरपर धारण करके बिन्दुसरोवरमें छोड़ना और उनका सात धाराओंमें विभक्त हो भगीरथके साथ जाकर उनके पितरोंका उद्धार करना

देवदेवे गते तस्मिन् सोऽङ्गुष्ठाग्रनिपीडिताम्।
कृत्वा वसुमतीं राम वत्सरं समुपासत ॥ १ ॥

श्रीराम! देवाधिदेव ब्रह्माजीके चले जानेपर राजा भगीरथ पृथ्वीपर केवल अँगूठेके अग्रभागको टिकाये हुए खड़े हो एक वर्षतक भगवान् शङ्करकी उपासनामें लगे रहे ॥ १ ॥

अथ संवत्सरे पूर्णे सर्वलोकनमस्कृतः।
उमापतिः पशुपती राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

वर्ष पूरा होनेपर सर्वलोकवन्दित उमावल्लभ भगवान् पशुपतिने प्रकट होकर राजासे इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

प्रीतस्तेऽहं नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम्।
शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम् ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य करूँगा। मैं गिरिराजकुमारी गङ्गादेवीको अपने मस्तकपर धारण करूँगा' ॥ ३ ॥

ततो हैमवती ज्येष्ठा सर्वलोकनमस्कृता।
तदा सातिमहद्रूपं कृत्वा वेगं च दुःसहम् ॥ ४ ॥
आकाशादपतद् राम शिवे शिवशिरस्युत।

श्रीराम! शङ्करजीकी स्वीकृति मिल जानेपर हिमालयकी ज्येष्ठ पुत्री गङ्गाजी, जिनके चरणोंमें सारा संसार मस्तक झुकाता है, बहुत बड़ा रूप धारण करके अपने वेगको दुस्सह बनाकर आकाशसे भगवान् शङ्करके शोभायमान मस्तकपर गिरीं ॥ ४½ ॥

अचिन्तयच्च सा देवी गङ्गा परमदुर्धरा ॥ ५ ॥
विशाम्यहं हि पातालं स्रोतसा गृह्य शंकरम् ।

उस समय परम दुर्धर गङ्गादेवीने यह सोचा था कि मैं अपने प्रखर प्रवाहके साथ शङ्करजीको लिये-दिये पातालमें घुस जाऊँगी ॥ ५½ ॥

तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धस्तु भगवान् हरः ॥ ६ ॥
तिरोभावयितुं बुद्धिं चक्रे त्रिनयनस्तदा ।

उनके इस अहंकारको जानकर त्रिनेत्रधारी भगवान् हर कुपित हो उठे और उन्होंने उस समय गङ्गाको अदृश्य कर देनेका विचार किया ॥ ६½ ॥

सा तस्मिन् पतिता पुण्या पुण्ये रुद्रस्य मूर्धनि ॥ ७ ॥
हिमवत्प्रतिमे राम जटामण्डलगह्वरे ।
सा कथंचिन्महीं गन्तुं नाशक्नोद् यत्नमास्थिता ॥ ८ ॥

पुण्यस्वरूपा गङ्गा भगवान् रुद्रके पवित्र मस्तकपर गिरीं । उनका वह मस्तक जटामण्डलरूपी गुफासे सुशोभित हिमालयके समान जान पड़ता था । उसपर गिरकर विशेष प्रयत्न करनेपर भी किसी तरह वे पृथ्वीपर न जा सकीं ॥ ७-८ ॥

नैव सा निर्गमं लेभे जटामण्डलमन्ततः ।
तत्रैवावभ्रमद् देवी संवत्सरगणान् बहून् ॥ ९ ॥

भगवान् शिवके जटा-जालमें उलझकर किनारे आकर भी गङ्गादेवी वहाँसे निकलनेका मार्ग न पा सकीं और बहुत वर्षोंतक उस जटाजूटमें ही भटकती रहीं ॥ ९ ॥

तामपश्यत् पुनस्तत्र तपः परममास्थितः ।
स तेन तोषितश्चासीदत्यन्तं रघुनन्दन ॥ १० ॥

रघुनन्दन ! भगीरथने देखा, गङ्गाजी भगवान् शङ्करके जटामण्डलमें अदृश्य हो गयी हैं; तब वे पुनः वहाँ भारी तपस्यामें लग गये । उस तपस्याद्वारा उन्होंने भगवान् शिवको बहुत संतुष्ट कर लिया ॥ १० ॥

विससर्ज ततो गङ्गां हरो बिन्दुसरः प्रति ।
तस्यां विसृज्यमानायां सप्त स्रोतांसि जज्ञिरे ॥ ११ ॥

तब महादेवजीने गङ्गाजीको बिन्दुसरोवरमें ले जाकर छोड़ दिया । वहाँ छूटते ही उनकी सात धाराएँ हो गयीं ॥ ११ ॥

ह्लादिनी पावनी चैव नलिनी च तथैव च ।
तिस्रः प्राचीं दिशं जग्मुर्गङ्गाः शिवजलाः शुभाः ॥ १२ ॥

ह्लादिनी, पावनी और नलिनी—ये कल्याणमय जलसे सुशोभित गङ्गाकी तीन मङ्गलमयी धाराएँ पूर्व दिशाकी ओर चली गयीं ॥ १२ ॥

सुचक्षुश्चैव सीता च सिन्धुश्चैव महानदी ।
तिस्रश्चैता दिशं जग्मुः प्रतीचीं तु दिशं शुभाः ॥ १३ ॥

सुचक्षु, सीता और महानदी सिन्धु—ये तीन शुभ धाराएँ पश्चिम दिशाकी ओर प्रवाहित हुईं ॥ १३ ॥

सप्तमी चान्वगात् तासां भगीरथरथं तदा ।
भगीरथोऽपि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ १४ ॥
प्रायादग्रे महातेजा गङ्गा तं चाप्यनुव्रजत् ।
गगनाच्छंकरशिरस्ततो धरणिमागता ॥ १५ ॥

उनकी अपेक्षा जो सातवीं धारा थी, वह महाराज भगीरथके रथके पीछे-पीछे चलने लगी । महातेजस्वी राजर्षि भगीरथ भी दिव्य रथपर आरूढ़ हो आगे-आगे चले और गङ्गा उन्हींके पथका अनुसरण करने लगीं । इस प्रकार वे आकाशसे भगवान् शङ्करके मस्तकपर और वहाँसे इस पृथ्वीपर आयी थीं ॥ १४-१५ ॥

असर्पत जलं तत्र तीव्रशब्दपुरस्कृतम् ।
मत्स्यकच्छपसङ्घैश्च शिंशुमारगणैस्तथा ॥ १६ ॥
पतद्भिः पतितैश्चैव व्यरोचत वसुंधरा ।

गङ्गाजीकी वह जलराशि महान् कलकल नादके साथ तीव्र गतिसे प्रवाहित हुई । मत्स्य, कच्छप और शिंशुमार (सूँस) झुंड-के-झुंड उसमें गिरने लगे । उन गिरे हुए जल-जन्तुओंसे वसुन्धराकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ १६½ ॥

ततो देवर्षिगन्धर्वा यक्षसिद्धगणास्तथा ॥ १७ ॥
व्यलोकयन्त ते तत्र गगनाद् गां गतां तदा ।
विमानैर्नगराकारैर्हयैर्गजवरैस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर देवता, ऋषि, गन्धर्व, यक्ष और सिद्धगण नगरके समान आकारवाले विमानों, घोड़ों तथा गजराजोंपर बैठकर आकाशसे पृथ्वीपर गयी हुई गङ्गाजीकी शोभा निहारने लगे ॥ १७-१८ ॥

पारिप्लवगताश्चापि देवतास्तत्र विष्ठिताः ।
तदद्भुतमिमं लोके गङ्गावतरमुत्तमम् ॥ १९ ॥
दिदृक्षवो देवगणाः समीयुरमितौजसः ।

देवतालोग आश्चर्यचकित होकर वहाँ खड़े थे । जगत्में गङ्गावतरणके इस अद्भुत एवं उत्तम दृश्यको देखनेकी इच्छासे अमित तेजस्वी देवताओंका समूह वहाँ जुटा हुआ था ॥ १९½ ॥

संपतद्भिः सुरगणैस्तेषां चाभरणौजसा ॥ २० ॥
शतादित्यमिवाभाति गगनं गततोयदम् ।

तीव्र गतिसे आते हुए देवताओं तथा उनके दिव्य आभूषणोंके प्रकाशसे वहाँका मेघरहित निर्मल आकाश इस तरह प्रकाशित हो रहा था, मानो उसमें सैकड़ों सूर्य उदित हो गये हों ॥ २०½ ॥

शिंशुमारोरगगणैर्मीनैरपि च चञ्चलैः ॥ २१ ॥
विद्युद्भिरिव विक्षिप्तैराकाशमभवत् तदा ।

शिंशुमार, सर्प तथा चञ्चल मत्स्यसमूहोंके उछलनेसे गङ्गाजीके जलसे ऊपरका आकाश ऐसा जान पड़ता था मानो वहाँ चञ्चल चपलाओंका प्रकाश सब ओर व्याप्त हो रहा हो ॥ २१½ ॥

पाण्डुरैः सलिलोत्पीडैः कीर्यमाणैः सहस्रधा ॥ २२ ॥
शारदाभ्रैरिवाकीर्णं गगनं हंससम्प्लवैः ।

वायु आदिसे सहस्रों टुकड़ोंमें बँटे हुए फेन आकाशमें सब ओर फैल रहे थे। मानो शरद्‌ऋतुके श्वेत बादल अथवा हंस उड़ रहे हों ॥ २२½ ॥

क्वचिद् द्रुततरं याति कुटिलं क्वचिदायतम् ॥ २३ ॥
विनतं क्वचिदुद्भूतं क्वचिद् याति शनैः शनैः ।
सलिलेनैव सलिलं क्वचिदभ्याहतं पुनः ॥ २४ ॥

गङ्गाजीकी वह धारा कहीं तेज, कहीं टेढ़ी और कहीं चौड़ी होकर बहती थी। कहीं बिल्कुल नीचेकी ओर गिरती और कहीं ऊँचेकी ओर उठी हुई थी। कहीं समतल भूमिपर वह धीरे-धीरे बहती थी और कहीं-कहीं अपने ही जलसे उसके जलमें बारंबार टक्करें लगती रहती थीं ॥ २३-२४ ॥

मुहुरूर्ध्वपथं गत्वा पपात वसुधां पुनः ।
तच्छंकरशिरोभ्रष्टं भ्रष्टं भूमितले पुनः ॥ २५ ॥
व्यरोचत तदा तोयं निर्मलं गतकल्मषम् ।

गङ्गाका वह जल बार-बार ऊँचे मार्गपर उठता और पुनः नीची भूमिपर गिरता था। आकाशसे भगवान् शङ्करके मस्तकपर तथा वहाँसे फिर पृथ्वीपर गिरा हुआ वह निर्मल एवं पवित्र गङ्गाजल उस समय बड़ी शोभा पा रहा था ॥२५½॥

तत्रर्षिगणगन्धर्वा वसुधातलवासिनः ॥ २६ ॥
भवाङ्गपतितं तोयं पवित्रमिति पस्पृशुः ।

उस समय भूतलनिवासी ऋषि और गन्धर्व यह सोचकर कि भगवान् शङ्करके मस्तकसे गिरा हुआ यह जल बहुत पवित्र है, उसमें आचमन करने लगे ॥ २६½ ॥

शापात् प्रपतिता ये च गगनाद् वसुधातलम् ॥ २७ ॥
कृत्वा तत्राभिषेकं ते बभूवुर्गतकल्मषाः ।
धूतपापाः पुनस्तेन तोयेनाथ शुभान्विताः ॥ २८ ॥
पुनराकाशमाविश्य स्वाँल्लोकान् प्रतिपेदिरे ।

जो शापभ्रष्ट होकर आकाशसे पृथ्वीपर आ गये थे, वे गङ्गाके जलमें स्नान करके निष्पाप हो गये तथा उस जलसे पाप धुल जानेके कारण पुनः शुभ पुण्यसे संयुक्त हो आकाशमें पहुँचकर अपने लोकोंको पा गये ॥ २७-२८½ ॥

मुमुदे मुदितो लोकस्तेन तोयेन भास्वता ॥ २९ ॥
कृताभिषेको गङ्गायां बभूव गतकल्मषः ।

उस प्रकाशमान जलके सम्पर्कसे आनन्दित हुए सम्पूर्ण जगत्‌को सदाके लिये बड़ी प्रसन्नता हुई। सब लोग गङ्गामें स्नान करके पापहीन हो गये ॥ २९½ ॥

भगीरथो हि राजर्षिर्दिव्यं स्यन्दनमास्थितः ॥ ३० ॥
प्रायादग्रे महाराजस्तं गङ्गा पृष्ठतोऽन्वगात् ।

(हम पहले बता आये हैं कि) राजर्षि महाराज भगीरथ दिव्य रथपर आरूढ़ हो आगे-आगे चल रहे थे और गङ्गाजी उनके पीछे-पीछे जा रही थीं ॥ ३०½ ॥

देवाः सर्षिगणाः सर्वे दैत्यदानवराक्षसाः ॥ ३१ ॥
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ।
सर्पाश्चाप्सरसो राम भगीरथरथानुगाः ॥ ३२ ॥
गङ्गामन्वगमन् प्रीताः सर्वे जलचराश्च ये ।

श्रीराम! उस समय समस्त देवता, ऋषि, दैत्य, दानव, राक्षस, गन्धर्व, यक्षप्रवर, किन्नर, बड़े-बड़े नाग, सर्प तथा अप्सरा—ये सब लोग बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा भगीरथके रथके पीछे गङ्गाजीके साथ-साथ चल रहे थे। सब प्रकारके जल-जन्तु भी गङ्गाजीकी उस जलराशिके साथ सानन्द जा रहे थे ॥ ३१-३२½ ॥

यतो भगीरथो राजा ततो गङ्गा यशस्विनी ॥ ३३ ॥
जगाम सरितां श्रेष्ठा सर्वपापप्रणाशिनी ।

जिस ओर राजा भगीरथ जाते, उसी ओर समस्त पापोंका नाश करनेवाली सरिताओंमें श्रेष्ठ यशस्विनी गङ्गा भी जाती थीं ॥ ३३½ ॥

ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः ॥ ३४ ॥
गङ्गा सम्प्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः ।

उस समय मार्गमें अद्भुत पराक्रमी महामना राजा जह्नु यज्ञ कर रहे थे। गङ्गाजी अपने जल-प्रवाहसे उनके यज्ञ-मण्डपको बहा ले गयीं ॥ ३४½ ॥

यस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो जह्नुश्च राघव ॥ ३५ ॥
अपिबत् तु जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम् ।

रघुनन्दन! राजा जह्नु इसे गङ्गाजीका गर्व समझकर कुपित हो उठे; फिर तो उन्होंने गङ्गाजीके उस समस्त जलको पी लिया। यह संसारके लिये बड़ी अद्भुत बात हुई ॥३५½॥

ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः ॥ ३६ ॥
पूजयन्ति महात्मानं जह्नुं पुरुषसत्तमम् ।

तब देवता, गन्धर्व तथा ऋषि अत्यन्त विस्मित होकर पुरुषप्रवर महात्मा जह्नुकी स्तुति करने लगे ॥ ३६½ ॥

गङ्गां चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महात्मनः ॥ ३७ ॥
ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत् प्रभुः ।
तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च ॥ ३८ ॥

उन्होंने गङ्गाजीको उन महात्मा नरेशकी कन्या बना दिया। (अर्थात् उन्हें यह विश्वास दिलाया कि गङ्गाजीको प्रकट करके आप इनके पिता कहलायेंगे।) इससे सामर्थ्यशाली महातेजस्वी जह्नु बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने कानोंके छिद्रोंद्वारा गङ्गाजीको पुनः प्रकट कर दिया, इसलिये गङ्गा जह्नुकी पुत्री एवं जाह्नवी कहलाती हैं ॥ ३७-३८ ॥

जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरथरथानुगा ।

सागरं चापि सम्प्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ॥ ३९ ॥
रसातलमुपागच्छत् सिद्ध्यर्थं तस्य कर्मणः ।

वहाँसे गङ्गा फिर भगीरथके रथका अनुसरण करती हुई चलीं । उस समय सरिताओंमें श्रेष्ठ जाह्नवी समुद्रतक जा पहुँचीं और राजा भगीरथके पितरोंके उद्धाररूपी कार्यकी सिद्धिके लिये रसातलमें गयीं ॥ ३९½ ॥

भगीरथोऽपि राजर्षिर्गङ्गामादाय यत्नतः ॥ ४० ॥
पितामहान् भस्मकृतानपश्यद् गतचेतनः ।

राजर्षि भगीरथ भी यत्नपूर्वक गङ्गाजीको साथ ले वहाँ गये । उन्होंने शापसे भस्म हुए अपने पितामहोंको अचेत-सा होकर देखा ॥ ४०½ ॥

अथ तद्भस्मनां राशिं गङ्गासलिलमुत्तमम् ।
प्लावयत् पूतपाप्मानः स्वर्गं प्राप्ता रघूत्तम ॥ ४१ ॥

रघुकुलके श्रेष्ठ वीर ! तदनन्तर गङ्गाके उस उत्तम जलने सगर-पुत्रोंकी उस भस्मराशिको आप्लावित कर दिया और वे सभी राजकुमार निष्पाप होकर स्वर्गमें पहुँच गये ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

ब्रह्माजीका भगीरथकी प्रशंसा करते हुए उन्हें गङ्गाजलसे पितरोंके तर्पणकी आज्ञा देना और राजाका वह सब करके अपने नगरको जाना, गङ्गावतरणके उपाख्यानकी महिमा

स गत्वा सागरं राजा गङ्गयानुगतस्तदा ।
प्रविवेश तलं भूमेर्यत्र ते भस्मसात्कृताः ॥ १ ॥
भस्मन्यथाप्लुते राम गङ्गायाः सलिलेन वै ।
सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

श्रीराम ! इस प्रकार गङ्गाजीको साथ लिये राजा भगीरथने समुद्रतक जाकर रसातलमें, जहाँ उनके पूर्वज भस्म हुए थे, प्रवेश किया । वह भस्मराशि जब गङ्गाजीके जलसे आप्लावित हो गयी, तब सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी भगवान् ब्रह्माने वहाँ पधारकर राजासे इस प्रकार कहा— ॥ १-२ ॥

तारिता नरशार्दूल दिवं याताश्च देववत् ।
षष्टिः पुत्रसहस्राणि सगरस्य महात्मनः ॥ ३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! महात्मा राजा सगरके साठ हजार पुत्रोंका तुमने उद्धार कर दिया । अब वे देवताओंकी भाँति स्वर्गलोकमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

सागरस्य जलं लोके यावत्स्थास्यति पार्थिव ।
सगरस्यात्मजाः सर्वे दिवि स्थास्यन्ति देववत् ॥ ४ ॥

'भूपाल ! इस संसारमें जबतक सागरका जल मौजूद रहेगा; तबतक सगरके सभी पुत्र देवताओंकी भाँति स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित रहेंगे ॥ ४ ॥

इयं च दुहिता ज्येष्ठा तव गङ्गा भविष्यति ।
त्वत्कृतेन च नाम्नाथ लोके स्थास्यति विश्रुता ॥ ५ ॥

'ये गङ्गा तुम्हारी भी ज्येष्ठ पुत्री होकर रहेंगी और तुम्हारे नामपर रखे हुए भागीरथी नामसे इस जगत्‌में विख्यात होंगी ॥ ५ ॥

गङ्गा त्रिपथगा नाम दिव्या भागीरथीति च ।
त्रीन् पथो भावयन्तीति तस्मात् त्रिपथगा स्मृता ॥ ६ ॥

'त्रिपथगा, दिव्या और भागीरथी—इन तीनों नामोंसे गङ्गाकी प्रसिद्धि होगी । ये आकाश, पृथ्वी और पाताल तीनों पथोंको पवित्र करती हुई गमन करती हैं, इसलिये त्रिपथगा मानी गयी हैं ॥ ६ ॥

पितामहानां सर्वेषां त्वमत्र मनुजाधिप ।
कुरुष्व सलिलं राजन् प्रतिज्ञामपवर्जय ॥ ७ ॥

'नरेश्वर ! महाराज ! अब तुम गङ्गाजीके जलसे यहाँ अपने सभी पितामहोंका तर्पण करो और इस प्रकार अपनी तथा अपने पूर्वजोंद्वारा की हुई प्रतिज्ञाको पूर्ण कर लो ॥ ७ ॥

पूर्वकेण हि ते राजंस्तेनातियशसा तदा ।
धर्मिणां प्रवरेणाथ नैष प्राप्तो मनोरथः ॥ ८ ॥

'राजन् ! तुम्हारे पूर्वज धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महायशस्वी राजा सगर भी गङ्गाको यहाँ लाना चाहते थे; किंतु उनका यह मनोरथ नहीं पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

तथैवांशुमता वत्स लोकेऽप्रतिमतेजसा ।
गङ्गां प्रार्थयता नेतुं प्रतिज्ञा नापवर्जिता ॥ ९ ॥
राजर्षिणा गुणवता महर्षिसमतेजसा ।
मत्तुल्यतपसा चैव क्षत्रधर्मस्थितेन च ॥ १० ॥

'वत्स ! इसी प्रकार लोकमें अप्रतिम प्रभावशाली, उत्तम गुणविशिष्ट, महर्षितुल्य तेजस्वी, मेरे समान तपस्वी तथा क्षत्रिय-धर्मपरायण राजर्षि अंशुमान्‌ने भी गङ्गाको यहाँ लानेकी इच्छा की; परंतु वे इस पृथ्वीपर इन्हें लानेकी प्रतिज्ञा पूरी न कर सके ॥ ९-१० ॥

दिलीपेन महाभाग तव पित्रातितेजसा ।
पुनर्न शकिता नेतुं गङ्गां प्रार्थयतानघ ॥ ११ ॥

'निष्पाप महाभाग ! तुम्हारे अत्यन्त तेजस्वी पिता दिलीप

भी गङ्गाको यहाँ लानेकी इच्छा करके भी इस कार्यमें सफल न हो सके ॥ ११ ॥

सा त्वया समतिक्रान्ता प्रतिज्ञा पुरुषर्षभ ।
प्राप्तोऽसि परमं लोके यशः परमसम्मतम् ॥ १२ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुमने गङ्गाको भूतलपर लानेकी वह प्रतिज्ञा पूर्ण कर ली । इससे संसारमें तुम्हें परम उत्तम एवं महान् यशकी प्राप्ति हुई है ॥ १२ ॥

तच्च गङ्गावतरणं त्वया कृतमरिंदम ।
अनेन च भवान् प्राप्तो धर्मस्यायतनं महत् ॥ १३ ॥

'शत्रुदमन ! तुमने जो गङ्गाजीको पृथ्वीपर उतारनेका कार्य पूरा किया है, इससे उस महान् ब्रह्मलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया है, जो धर्मका आश्रय है ॥ १३ ॥

प्लावयस्व त्वमात्मानं नरोत्तम सदोचिते ।
सलिले पुरुषश्रेष्ठ शुचिः पुण्यफलो भव ॥ १४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पुरुषप्रवर ! गङ्गाजीका जल सदा ही स्नानके योग्य है । तुम स्वयं भी इसमें स्नान करो और पवित्र होकर पुण्यका फल प्राप्त करो ॥ १४ ॥

पितामहानां सर्वेषां कुरुष्व सलिलक्रियाम् ।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि स्वं लोकं गम्यतां नृप ॥ १५ ॥

'नरेश्वर ! तुम अपने सभी पितामहोंका तर्पण करो । तुम्हारा कल्याण हो । अब मैं अपने लोकको जाऊँगा । तुम भी अपनी राजधानीको लौट जाओ' ॥ १५ ॥

इत्येवमुक्त्वा देवेशः सर्वलोकपितामहः ।
यथागतं तथागच्छद् देवलोकं महायशाः ॥ १६ ॥

ऐसा कहकर सर्वलोकपितामह महायशस्वी देवेश्वर ब्रह्माजी जैसे आये थे, वैसे ही देवलोकको लौट गये ॥ १६ ॥

भगीरथस्तु राजर्षिः कृत्वा सलिलमुत्तमम् ।
यथाक्रमं यथान्यायं सागराणां महायशाः ॥ १७ ॥
कृतोदकः शुची राजा स्वपुरं प्रविवेश ह ।
समृद्धार्थो नरश्रेष्ठ स्वराज्यं प्रशशास ह ॥ १८ ॥

नरश्रेष्ठ ! महायशस्वी राजर्षि राजा भगीरथ भी गङ्गाजीके उत्तम जलसे क्रमशः सभी सगर-पुत्रोंका विधिवत् तर्पण करके पवित्र हो अपने नगरको चले गये । इस प्रकार सफलमनोरथ होकर वे अपने राज्यका शासन करने लगे ॥ १७-१८ ॥

प्रमुमोद च लोकस्तं नृपमासाद्य राघव ।
नष्टशोकः समृद्धार्थो बभूव विगतज्वरः ॥ १९ ॥

रघुनन्दन ! अपने राजाको पुनः सामने पाकर प्रजावर्गको बड़ी प्रसन्नता हुई । सबका शोक जाता रहा । सबके मनोरथ पूर्ण हुए और चिन्ता दूर हो गयी ॥ १९ ॥

एष ते राम गङ्गाया विस्तरोऽभिहितो मया ।
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते संध्याकालोऽतिवर्तते ॥ २० ॥

श्रीराम ! यह गङ्गाजीकी कथा मैंने तुम्हें विस्तारके साथ कह सुनायी । तुम्हारा कल्याण हो । अब जाओ, मङ्गलमय संध्यावन्दन आदिका सम्पादन करो । देखो, संध्याकाल बीता जा रहा है ॥ २० ॥

धन्यं यशस्यमायुष्यं पुत्र्यं स्वर्ग्यमथापि च ।
यः श्रावयति विप्रेषु क्षत्रियेष्वितरेषु च ॥ २१ ॥
प्रीयन्ते पितरस्तस्य प्रीयन्ते दैवतानि च ।
इदमाख्यानमायुष्यं गङ्गावतरणं शुभम् ॥ २२ ॥

यह गङ्गावतरणका मङ्गलमय उपाख्यान आयु बढ़ानेवाला है । धन, यश, आयु, पुत्र और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है । जो ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा दूसरे वर्णके लोगोंको भी यह कथा सुनाता है, उसके ऊपर देवता और पितर प्रसन्न होते हैं ॥ २१-२२ ॥

यः शृणोति च काकुत्स्थ सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।
सर्वे पापाः प्रणश्यन्ति आयुः कीर्तिश्च वर्धते ॥ २३ ॥

ककुत्स्थकुलभूषण ! जो इसका श्रवण करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है । उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं और आयुकी वृद्धि एवं कीर्तिका विस्तार होता है ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

देवताओं और दैत्योंद्वारा क्षीर-समुद्र-मन्थन, भगवान् रुद्रद्वारा हालाहल विषका पान, भगवान् विष्णुके सहयोगसे मन्दराचलका पातालसे उद्धार और उसके द्वारा मन्थन, धन्वन्तरि, अप्सरा, वारुणी, उच्चैःश्रवा, कौस्तुभ तथा अमृतकी उत्पत्ति और देवासुर-संग्राममें दैत्योंका संहार

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विस्मयं परमं गत्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

विश्वामित्रजीकी बातें सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजी-को बड़ा विस्मय हुआ । वे मुनिसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

अत्यद्भुतमिदं ब्रह्मन् कथितं परमं त्वया ।
गङ्गावतरणं पुण्यं सागरस्यापि पूरणम् ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! आपने गङ्गाजीके स्वर्गसे उतरने और समुद्रके भरनेकी यह बड़ी उत्तम और अत्यन्त अद्भुत कथा सुनायी ॥

क्षणभूतेव नौ रात्रिः संवृत्तेयं परंतप ।
इमां चिन्तयतोः सर्वां निखिलेन कथां तव ॥ ३ ॥

'काम-क्रोधादि शत्रुओंको संताप देनेवाले महर्षे ! आपकी कही हुई इस सम्पूर्ण कथापर पूर्ण रूपसे विचार करते हुए हम दोनों भाइयोंकी यह रात्रि एक क्षणके समान बीत गयी है ॥ ३ ॥

तस्य सा शर्वरी सर्वा मम सौमित्रिणा सह ।
जगाम चिन्तयानस्य विश्वामित्र कथां शुभाम् ॥ ४ ॥

'विश्वामित्रजी ! लक्ष्मणके साथ इस शुभ कथापर विचार करते हुए ही मेरी यह सारी रात बीती है ॥ ४ ॥

ततः प्रभाते विमले विश्वामित्रं तपोधनम् ।
उवाच राघवो वाक्यं कृताह्निकमरिंदमः ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् निर्मल प्रभातकाल उपस्थित होनेपर तपोधन विश्वामित्रजी जब नित्यकर्मसे निवृत्त हो चुके, तब शत्रुदमन श्रीरामचन्द्रजीने उनके पास जाकर कहा—॥ ५ ॥

गता भगवती रात्रिः श्रोतव्यं परमं श्रुतम् ।
तराम सरितां श्रेष्ठां पुण्यां त्रिपथगां नदीम् ॥ ६ ॥

'मुने ! यह पूजनीया रात्रि चली गयी । सुनने योग्य सर्वोत्तम कथा मैंने सुन ली । अब हमलोग सरिताओंमें श्रेष्ठ पुण्यसलिला त्रिपथगामिनी नदी गङ्गाजीके उस पार चलें ॥ ६ ॥

नौरेषा हि सुखास्तीर्णा ऋषीणां पुण्यकर्मणाम् ।
भगवन्तमिह प्राप्तं ज्ञात्वा त्वरितमागता ॥ ७ ॥

'सदा पुण्यकर्ममें तत्पर रहनेवाले ऋषियोंकी यह नाव उपस्थित है । इसपर सुखद आसन बिछा है । आप परमपूज्य महर्षिको यहाँ उपस्थित जानकर ऋषियोंकी भेजी हुई यह नाव बड़ी तीव्र गतिसे यहाँ आयी है' ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राघवस्य महात्मनः ।
संतारं कारयामास सर्षिसङ्घस्य कौशिकः ॥ ८ ॥

महात्मा रघुनन्दनका यह वचन सुनकर विश्वामित्रजीने पहले ऋषियोंसहित श्रीराम-लक्ष्मणको पार कराया ॥ ८ ॥

उत्तरं तीरमासाद्य सम्पूज्यर्षिगणं ततः ।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् स्वयं भी उत्तर तटपर पहुँचकर उन्होंने वहाँ रहनेवाले ऋषियोंका सत्कार किया । फिर सब लोग गङ्गाजीके किनारे ठहरकर विशाला नामक पुरीकी शोभा देखने लगे ॥

ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सहराघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥ १० ॥

तदनन्तर श्रीराम-लक्ष्मणको साथ ले मुनिवर विश्वामित्र तुरंत उस दिव्य एवं रमणीय नगरी विशालाकी ओर चल दिये, जो अपनी सुन्दर शोभासे स्वर्गके समान जान पड़ती थी ॥

अथ रामो महाप्राज्ञो विश्वामित्रं महामुनिम् ।
पप्रच्छ प्राञ्जलिर्भूत्वा विशालामुत्तमां पुरीम् ॥ ११ ॥

उस समय परम बुद्धिमान् श्रीरामने हाथ जोड़कर उस उत्तम विशाला पुरीके विषयमें महामुनि विश्वामित्रसे पूछा—॥

कतमो राजवंशोऽयं विशालायां महामुने ।
श्रोतुमिच्छामि भद्रं ते परं कौतूहलं हि मे ॥ १२ ॥

'महामुने ! आपका कल्याण हो । मैं यह सुनना चाहता हूँ कि विशालामें कौन-सा राजवंश राज्य कर रहा है ? इसके लिये मुझे बड़ी उत्कण्ठा है' ॥ १२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रामस्य मुनिपुङ्गवः ।
आख्यातुं तत्समारेभे विशालायाः पुरातनम् ॥ १३ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने विशाला पुरीके प्राचीन इतिहासका वर्णन आरम्भ किया—॥ १३ ॥

श्रूयतां राम शक्रस्य कथां कथयतः श्रुताम् ।
अस्मिन् देशे हि यद् वृत्तं शृणु तत्त्वेन राघव ॥ १४ ॥

264/266

रघुकुलनन्दन श्रीराम ! मैंने इन्द्रके मुखसे विशाला-पुरीके वैभवका प्रतिपादन करनेवाली जो कथा सुनी है, उसे बता रहा हूँ, सुनो । इस देशमें जो वृत्तान्त घटित हुआ है, उसे यथार्थरूपसे श्रवण करो ॥ १४ ॥

पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः ।
अदितेश्च महाभागा वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १५ ॥

श्रीराम ! पहले सत्ययुगमें दितिके पुत्र दैत्य बड़े बलवान् थे और अदितिके परम धर्मात्मा पुत्र महाभाग देवता भी बड़े शक्तिशाली थे ॥ १५ ॥

ततस्तेषां नरव्याघ्र बुद्धिरासीन्महात्मनाम् ।
अमरा विजराश्चैव कथं स्यामो निरामयाः ॥ १६ ॥

'पुरुषसिंह ! उन महामना दैत्यों और देवताओंके मनमें यह विचार हुआ कि हम कैसे अजर-अमर और नीरोग हों ? ॥

तेषां चिन्तयतां तत्र बुद्धिरासीद् विपश्चिताम् ।
क्षीरोदमथनं कृत्वा रसं प्राप्स्याम तत्र वै ॥ १७ ॥

'इस प्रकार चिन्तन करते हुए उन विचारशील देवताओं और दैत्योंकी बुद्धिमें यह बात आयी कि हमलोग यदि क्षीर-सागरका मन्थन करें तो उसमें निश्चय ही अमृतमय रस प्राप्त कर लेंगे ॥ १७ ॥

ततो निश्चित्य मथनं योक्त्रं कृत्वा च वासुकिम् ।
मन्थानं मन्दरं कृत्वा ममन्थुरमितौजसः ॥ १८ ॥

'समुद्रमन्थनका निश्चय करके उन अमिततेजस्वी देवताओं और दैत्योंने वासुकि नागको रस्सी और मन्दराचल-को मथानी बनाकर क्षीरसागरको मथना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

अथ वर्षसहस्रेण योक्त्रसर्पशिरांसि च।
वमन्तोऽतिविषं तत्र ददंशुर्दशनैः शिलाः॥ १९॥

'तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर रस्सी बने हुए सर्पके बहुसंख्यक मुख अत्यन्त विष उगलते हुए वहाँ मन्दराचलकी शिलाओंको अपने दाँतोंसे डँसने लगे॥ १९॥

उत्पपाताग्निसंकाशं हालाहलमहाविषम्।
तेन दग्धं जगत् सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ २०॥

'अतः उस समय वहाँ अग्निके समान दाहक हालाहल नामक महाभयंकर विष ऊपरको उठा। उसने देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को दग्ध करना आरम्भ किया॥

अथ देवा महादेवं शङ्करं शरणार्थिनः।
जग्मुः पशुपतिं रुद्रं त्राहि त्राहीति तुष्टुवुः॥ २१॥

'यह देख देवतालोग शरणार्थी होकर सबका कल्याण करनेवाले महान् देवता पशुपति रुद्रकी शरणमें गये और त्राहि-त्राहिकी पुकार लगाकर उनकी स्तुति करने लगे॥ २१॥

एवमुक्तस्ततो देवैर्देवदेवेश्वरः प्रभुः।
प्रादुरासीत् ततोऽत्रैव शङ्खचक्रधरो हरिः॥ २२॥

'देवताओंके इस प्रकार पुकारनेपर देवदेवेश्वर भगवान् शिव वहाँ प्रकट हुए। फिर वहीं शङ्ख-चक्रधारी भगवान् श्रीहरि भी उपस्थित हो गये॥ २२॥

उवाचैनं स्मितं कृत्वा रुद्रं शूलधरं हरिः।
दैवतैर्मथ्यमाने तु यत्पूर्वं समुपस्थितम्॥ २३॥
तत् त्वदीयं सुरश्रेष्ठ सुराणामग्रतो हि यत्।
अग्रपूजामिह स्थित्वा गृहाणेदं विषं प्रभो॥ २४॥

श्रीहरिने त्रिशूलधारी भगवान् रुद्रसे मुसकराकर कहा—'सुरश्रेष्ठ! देवताओंके समुद्रमन्थन करनेपर जो वस्तु सबसे पहले प्राप्त हुई है, वह आपका भाग है; क्योंकि आप सब देवताओंमें अग्रगण्य हैं। प्रभो! अग्रपूजाके रूपमें प्राप्त हुए इस विषको आप यहीं खड़े होकर ग्रहण करें'॥ २३-२४॥

इत्युक्त्वा च सुरश्रेष्ठस्तत्रैवान्तरधीयत।
देवतानां भयं दृष्ट्वा श्रुत्वा वाक्यं तु शार्ङ्गिणः॥ २५॥
हालाहलं विषं घोरं संजग्राहामृतोपमम्।
देवान् विसृज्य देवेशो जगाम भगवान् हरः॥ २६॥

'ऐसा कहकर देवशिरोमणि विष्णु वहीं अन्तर्धान हो गये। देवताओंका भय देखकर और भगवान् विष्णुकी पूर्वोक्त बात सुनकर देवेश्वर भगवान् रुद्रने उस घोर हालाहल विषको अमृतके समान मानकर अपने कण्ठमें धारण कर लिया तथा देवताओंको विदा करके वे अपने स्थानको चले गये॥ २५-२६॥

ततो देवासुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन।
प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोत्तमः॥ २७॥

'रघुनन्दन! तत्पश्चात् देवता और असुर सब मिलकर क्षीरसागरका मन्थन करने लगे। उस समय मथानी बना हुआ उत्तम पर्वत मन्दर पातालमें घुस गया॥ २७॥

ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम्।
त्वं गतिः सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम्॥ २८॥
पालयास्मान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि।

'तब देवता और गन्धर्व भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे—'महाबाहो! आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंकी गति हैं। विशेषतः देवताओंके अवलम्बन तो आप ही हैं। आप हमारी रक्षा करें और इस पर्वतको उठावें'॥ २८½॥

इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः॥ २९॥
पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः।

'यह सुनकर भगवान् हृषीकेशने कच्छपका रूप धारण कर लिया और उस पर्वतको अपनी पीठपर रखकर वे श्रीहरि वहीं समुद्रके भीतर सो गये॥ २९½॥

पर्वताग्रं तु लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशवः॥ ३०॥
देवानां मध्यतः स्थित्वा ममन्थ पुरुषोत्तमः।

'फिर विश्वात्मा पुरुषोत्तम भगवान् केशव उस पर्वत-शिखरको हाथसे पकड़कर देवताओंके बीचमें खड़े हो स्वयं भी समुद्रका मन्थन करने लगे॥ ३०½॥

अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान्॥ ३१॥
उदतिष्ठत् सुधर्मात्मा सदण्डः सकमण्डलुः।
पूर्वं धन्वन्तरिर्नाम अप्सराश्च सुवर्चसः॥ ३२॥

'तदनन्तर एक हजार वर्ष बीतनेपर उस क्षीरसागरसे एक आयुर्वेदमय धर्मात्मा पुरुष प्रकट हुए, जिनके एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें कमण्डलु था। उनका नाम धन्वन्तरि था। उनके प्राकट्यके बाद सागरसे सुन्दर कान्तिवाली बहुत-सी अप्सराएँ प्रकट हुईं॥ ३१-३२॥

अप्सु निर्मथनादेव रसात् तस्माद् वरस्त्रियः।
उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन्॥ ३३॥

'नरश्रेष्ठ! मन्थन करनेसे ही अप् (जल) में उसके रससे वे सुन्दरी स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं, इसलिये अप्सरा कहलायीं॥ ३३॥

षष्टिः कोट्योऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम्।
असंख्येयास्तु काकुत्स्थ यास्तासां परिचारिकाः॥ ३४॥

'काकुत्स्थ! उन सुन्दर कान्तिवाली अप्सराओंकी संख्या साठ करोड़ थी और जो उनकी परिचारिकाएँ थीं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। वे सब असंख्य थीं॥ ३४॥

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः।
अप्रतिग्रहणादेव ता वै साधारणाः स्मृताः॥ ३५॥

'उन अप्सराओंको समस्त देवता और दानव कोई भी

अपनी 'पत्नी' रूपसे ग्रहण न कर सके, इसलिये वे साधारणा (सामान्या) मानी गयीं ॥ ३५ ॥

वरुणस्य ततः कन्या वारुणी रघुनन्दन।
उत्पपात महाभागा मार्गमाणा परिग्रहम् ॥ ३६ ॥

'रघुनन्दन ! तदनन्तर वरुणकी कन्या वारुणी, जो सुराकी अभिमानिनी देवी थी, प्रकट हुई और अपनेको स्वीकार करनेवाले पुरुषकी खोज करने लगी ॥ ३६ ॥

दितेः पुत्रा न तां राम जगृहुर्वरुणात्मजाम्।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम् ॥ ३७ ॥

'वीर श्रीराम ! दैत्योंने उस वरुणकन्या सुराको नहीं ग्रहण किया, परंतु अदितिके पुत्रोंने इस अनिन्द्य सुन्दरीको ग्रहण कर लिया ॥ ३७ ॥

असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन् वारुणीग्रहणात् सुराः ॥ ३८ ॥

'सुरासे रहित होनेके कारण ही दैत्य 'असुर' कहलाये और सुरा-सेवनके कारण ही अदितिके पुत्रोंकी 'सुर' संज्ञा हुई। वारुणीको ग्रहण करनेसे देवतालोग हर्षसे उत्फुल्ल एवं आनन्दमग्न हो गये ॥ ३८ ॥

उच्चैःश्रवा हयश्रेष्ठो मणिरत्नं च कौस्तुभम्।
उदतिष्ठन्नरश्रेष्ठ तथैवामृतमुत्तमम् ॥ ३९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर घोड़ोंमें उत्तम उच्चैःश्रवा, मणिरत्न कौस्तुभ तथा परम उत्तम अमृतका प्राकट्य हुआ ॥ ३९ ॥

अथ तस्य कृते राम महानासीत् कुलक्षयः।
अदितेस्तु ततः पुत्रा दितिपुत्रानयोधयन् ॥ ४० ॥

'श्रीराम ! उस अमृतके लिये देवताओं और असुरोंके कुलका महान् संहार हुआ। अदितिके पुत्र दितिके पुत्रोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४० ॥

एकतामगमन् सर्वे असुरा राक्षसैः सह।
युद्धमासीन्महाघोरं वीर त्रैलोक्यमोहनम् ॥ ४१ ॥

समस्त असुर राक्षसोंके साथ मिलकर एक हो गये। वीर ! देवताओंके साथ उनका महाघोर संग्राम होने लगा, जो तीनों लोकोंको मोहमें डालनेवाला था ॥ ४१ ॥

यदा क्षयं गतं सर्वं तदा विष्णुर्महाबलः।
अमृतं सोऽहरत् तूर्णं मायामास्थाय मोहिनीम् ॥ ४२ ॥

'जब देवताओं और असुरोंका वह सारा समूह क्षीण हो चला, तब महाबली भगवान् विष्णुने मोहिनी मायाका आश्रय लेकर तुरंत ही अमृतका अपहरण कर लिया ॥ ४२ ॥

ये गताभिमुखं विष्णुमक्षरं पुरुषोत्तमम्।
सम्पिष्टास्ते तदा युद्धे विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ४३ ॥

'जो दैत्य बलपूर्वक अमृत छीन लानेके लिये अविनाशी पुरुषोत्तम भगवान् विष्णुके सामने गये, उन्हें प्रभावशाली भगवान् विष्णुने उस समय युद्धमें पीस डाला ॥ ४३ ॥

अदितेरात्मजा वीरा दितेः पुत्रान् निजघ्निरे।
अस्मिन् घोरे महायुद्धे दैतेयादित्ययोर्भृशम् ॥ ४४ ॥

'देवताओं और दैत्योंके उस घोर महायुद्धमें अदितिके वीर पुत्रोंने दितिके पुत्रोंका विशेष संहार किया ॥ ४४ ॥

निहत्य दितिपुत्रांस्तु राज्यं प्राप्य पुरंदरः।
शशास मुदितो लोकान् सर्षिसङ्घान् सचारणान्॥ ४५ ॥

'दैत्योंका वध करनेके पश्चात् त्रिलोकीका राज्य पाकर देवराज इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और ऋषियों तथा चारणोंसहित समस्त लोकोंका शासन करने लगे' ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

पुत्रवधसे दुखी दितिका कश्यपजीसे इन्द्रहन्ता पुत्रकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तपके लिये आज्ञा लेकर कुशप्लवमें तप करना, इन्द्रद्वारा उनकी परिचर्या तथा उन्हें अपवित्र अवस्थामें पाकर इन्द्रका उनके गर्भके सात टुकड़े कर डालना

हतेषु तेषु पुत्रेषु दितिः परमदुःखिता।
मारीचं कश्यपं नाम भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

अपने उन पुत्रोंके मारे जानेपर दितिको बड़ा दुःख हुआ। वे अपने पति मरीचिनन्दन कश्यपके पास जाकर बोलीं— ॥ १ ॥

हतपुत्रास्मि भगवंस्तव पुत्रैर्महाबलैः।
शक्रहन्तारमिच्छामि पुत्रं दीर्घतपोर्जितम् ॥ २ ॥

'भगवन् ! आपके महाबली पुत्र देवताओंने मेरे पुत्रोंको मार डाला; अतः मैं दीर्घकालकी तपस्यासे उपार्जित एक ऐसा पुत्र चाहती हूँ, जो इन्द्रका वध करनेमें समर्थ हो ॥ २ ॥

साहं तपश्चरिष्यामि गर्भं मे दातुमर्हसि।
ईश्वरं शक्रहन्तारं त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३ ॥

'मैं तपस्या करूँगी, आप इसके लिये मुझे आज्ञा दें और मेरे गर्भमें ऐसा पुत्र प्रदान करें, जो सब कुछ

करनेमें समर्थ तथा इन्द्रका वध करनेवाला हो' ॥ ३ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा मारीचः कश्यपस्तदा।
प्रत्युवाच महातेजा दितिं परमदुःखिताम्॥ ४॥

उसकी यह बात सुनकर महातेजस्वी मरीचिनन्दन कश्यपने उस परम दुःखिनी दितिको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ४ ॥

एवं भवतु भद्रं ते शुचिर्भव तपोधने।
जनयिष्यसि पुत्रं त्वं शक्रहन्तारमाहव॥ ५॥

'तपोधने ! ऐसा ही हो। तुम शौचाचारका पालन करो। तुम्हारा भला हो ! तुम ऐसे पुत्रको जन्म दोगी, जो युद्धमें इन्द्रको मार सके ॥ ५ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि।
पुत्रं त्रैलोक्यहन्तारं मत्तस्त्वं जनयिष्यसि॥ ६॥

'यदि पूरे एक सहस्र वर्षतक पवित्रतापूर्वक रह सकोगी तो तुम मुझसे त्रिलोकीनाथ इन्द्रका वध करनेमें समर्थ पुत्र प्राप्त कर लोगी' ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना सम्ममार्ज ताम्।
तामालभ्य ततः स्वस्ति इत्युक्त्वा तपसे ययौ॥ ७॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी कश्यपने दितिके शरीरपर हाथ फेरा। फिर उनका स्पर्श करके कहा—'तुम्हारा कल्याण हो।' ऐसा कहकर वे तपस्याके लिये चले गये ॥ ७ ॥

गते तस्मिन् नरश्रेष्ठ दितिः परमहर्षिता।
कुशप्लवं समासाद्य तपस्तेपे सुदारुणम्॥ ८॥

नरश्रेष्ठ ! उनके चले जानेपर दिति अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरकर कुशप्लव नामक तपोवनमें आयीं और अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगीं ॥ ८ ॥

तपस्तस्यां हि कुर्वत्यां परिचर्यां चकार ह।
सहस्राक्षो नरश्रेष्ठ परया गुणसम्पदा॥ ९॥

पुरुषप्रवर श्रीराम ! दितिके तपस्या करते समय सहस्र-लोचन इन्द्र विनय आदि उत्तम गुणसम्पत्तिसे युक्त हो उनकी सेवा-टहल करने लगे ॥ ९ ॥

अग्निं कुशान् काष्ठमपः फलं मूलं तथैव च।
न्यवेदयत् सहस्राक्षो यच्चान्यदपि काङ्क्षितम्॥ १०॥

सहस्राक्ष इन्द्र अपनी मौसी दितिके लिये अग्नि, कुशा, काष्ठ, जल, फल, मूल तथा अन्यान्य अभिलषित वस्तुओंको ला-लाकर देते थे ॥ १० ॥

गात्रसंवाहनैश्चैव श्रमापनयनैस्तथा।
शक्रः सर्वेषु कालेषु दितिं परिचचार ह॥ ११॥

इन्द्र मौसीकी शारीरिक सेवाएँ करते, उनके पैर दबाकर उनकी थकावट मिटाते तथा ऐसी ही अन्य आवश्यक सेवाओंद्वारा वे हर समय दितिकी परिचर्या करते थे ॥ ११ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे सा दशोने रघुनन्दन।
दितिः परमसंहृष्टा सहस्राक्षमथाब्रवीत्॥ १२॥

रघुनन्दन ! जब सहस्र वर्ष पूर्ण होनेमें कुल दस वर्ष बाकी रह गये, तब एक दिन दितिने अत्यन्त हर्षमें भरकर सहस्रलोचन इन्द्रसे कहा—॥ १२ ॥

तपश्चरन्त्या वर्षाणि दश वीर्यवतां वर।
अवशिष्टानि भद्रं ते भ्रातरं द्रक्ष्यसे ततः॥ १३॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ वीर ! अब मेरी तपस्याके केवल दस वर्ष और शेष रह गये हैं। तुम्हारा भला हो। दस वर्ष बाद तुम अपने होनेवाले भाईको देख सकोगे ॥ १३ ॥

यमहं त्वत्कृते पुत्र तमाधास्ये जयोत्सुकम्।
त्रैलोक्यविजयं पुत्र सह भोक्ष्यसि विज्वरः॥ १४॥

'बेटा ! मैंने तुम्हारे विनाशके लिये जिस पुत्रकी याचना की थी, वह जब तुम्हें जीतनेके लिये उत्सुक होगा, उस समय मैं उसे शान्त कर दूँगी—तुम्हारे प्रति उसे वैर-भावसे रहित तथा भ्रातृ-स्नेहसे युक्त बना दूँगी। फिर तुम उसके साथ रहकर उसीके द्वारा की हुई त्रिभुवन-विजयका सुख निश्चिन्त होकर भोगना ॥ १४ ॥

याचितेन सुरश्रेष्ठ पिता तव महात्मना।
वरो वर्षसहस्रान्ते मम दत्तः सुतं प्रति॥ १५॥

'सुरश्रेष्ठ ! मेरे प्रार्थना करनेपर तुम्हारे महात्मा पिताने एक सहस्र वर्षके बाद पुत्र होनेका मुझे वर दिया है' ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा च दितिस्तत्र प्राप्ते मध्यं दिनेश्वरे।
निद्रयापहृता देवी पादौ कृत्वाथ शीर्षतः॥ १६॥

ऐसा कहकर दिति नींदसे अचेत हो गयीं। उस समय सूर्यदेव आकाशके मध्य भागमें आ गये थे—दोपहरका समय हो गया था। देवी दिति आसनपर बैठी-बैठी झपकी लेने लगीं। सिर झुक गया और केश पैरोंसे जा लगे। इस प्रकार निद्रावस्थामें उन्होंने पैरोंको सिरसे लगा लिया ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा तामशुचिं शक्रः पादयोः कृतमूर्धजाम्।
शिरःस्थाने कृतौ पादौ जहास च मुमोद च॥ १७॥

उन्होंने अपने केशोंको पैरोंपर डाल रखा था। सिरको टिकानेके लिये दोनों पैरोंको ही आधार बना लिया था। यह देख दितिको अपवित्र हुई जान इन्द्र हँसे और बड़े प्रसन्न हुए ॥ १७ ॥

तस्याः शरीरविवरं प्रविवेश पुरंदरः।
गर्भं च सप्तधा राम चिच्छेद परमात्मवान्॥ १८॥

श्रीराम ! फिर तो सतत सावधान रहनेवाले इन्द्र माता दितिके उदरमें प्रविष्ट हो गये और उसमें स्थित हुए गर्भके उन्होंने सात टुकड़े कर डाले ॥ १८ ॥

भिद्यमानस्ततो गर्भो वज्रेण शतपर्वणा।
रुरोद सुस्वरं राम ततो दितिरबुध्यत॥ १९॥

श्रीराम ! उनके द्वारा सौ पर्वोंवाले वज्रसे विदीर्ण किये जाते समय वह गर्भस्थ बालक जोर-जोरसे रोने लगा। इससे दितिकी निद्रा टूट गयी—वे जागकर उठ बैठीं ॥ १९ ॥

मा रुदो मा रुदश्चेति गर्भं शक्रोऽभ्यभाषत।
बिभेद च महातेजा रुदन्तमपि वासवः ॥ २० ॥

तब इन्द्रने उस रोते हुए गर्भसे कहा—'भाई ! मत रो, मत रो' परंतु महातेजस्वी इन्द्रने रोते रहनेपर भी उस गर्भके टुकड़े कर ही डाले ॥ २० ॥

न हन्तव्यं न हन्तव्यमित्येव दितिरब्रवीत्।
निष्पपात ततः शक्रो मातुर्वचनगौरवात् ॥ २१ ॥

उस समय दितिने कहा—'इन्द्र ! बच्चेको न मारो, न मारो।' माताके वचनका गौरव मानकर इन्द्र सहसा उदरसे निकल आये ॥ २१ ॥

प्राञ्जलिर्वज्रसहितो दितिं शक्रोऽभ्यभाषत।
अशुचिर्देवि सुप्तासि पादयोः कृतमूर्धजा ॥ २२ ॥
तदन्तरमहं लब्ध्वा शक्रहन्तारमाहवे।
अभिन्दं सप्तधा देवि तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ २३ ॥

फिर वज्रसहित इन्द्रने हाथ जोड़कर दितिसे कहा—'देवि ! तुम्हारे सिरके बाल पैरोंसे लगे थे। इस प्रकार तुम अपवित्र अवस्थामें सोयी थीं। यही छिद्र पाकर मैंने इस 'इन्द्रहन्ता' बालकके सात टुकड़े कर डाले हैं। इसलिये माँ ! तुम मेरे इस अपराधको क्षमा करो' ॥ २२-२३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

दितिका अपने पुत्रोंको मरुद्गण बनाकर देवलोकमें रखनेके लिये इन्द्रसे अनुरोध, इन्द्रद्वारा उसकी स्वीकृति, दितिके तपोवनमें ही इक्ष्वाकु-पुत्र विशालद्वारा विशाला नगरीका निर्माण तथा वहाँके तत्कालीन राजा सुमतिद्वारा विश्वामित्र मुनिका सत्कार

सप्तधा तु कृते गर्भे दितिः परमदुःखिता।
सहस्राक्षं दुराधर्षं वाक्यं सानुनयाब्रवीत् ॥ १ ॥

इन्द्रद्वारा अपने गर्भके सात टुकड़े कर दिये जानेपर देवी दितिको बड़ा दुःख हुआ। वे दुर्द्धर्ष वीर सहस्राक्ष इन्द्रसे अनुनयपूर्वक बोलीं—॥ १ ॥

ममापराधाद् गर्भोऽयं सप्तधा शकलीकृतः।
नापराधो हि देवेश तवात्र बलसूदन ॥ २ ॥

'देवेश ! बलसूदन ! मेरे ही अपराधसे इस गर्भके सात टुकड़े हुए हैं। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है ॥ २ ॥

प्रियं त्वत्कृतमिच्छामि मम गर्भविपर्यये।
मरुतां सप्त सप्तानां स्थानपाला भवन्तु ते ॥ ३ ॥

'इस गर्भको नष्ट करनेके निमित्त तुमने जो क्रूरतापूर्ण कर्म किया है, वह तुम्हारे और मेरे लिये भी जिस तरह प्रिय हो जाय—जैसे भी उसका परिणाम तुम्हारे और मेरे लिये सुखद हो जाय, वैसा उपाय मैं करना चाहती हूँ। मेरे गर्भके वे सातों खण्ड सात व्यक्ति होकर सातों मरुद्गणोंके स्थानोंका पालन करनेवाले हो जायँ ॥ ३ ॥

वातस्कन्धा इमे सप्त चरन्तु दिवि पुत्रक।
मारुता इति विख्याता दिव्यरूपा ममात्मजाः ॥ ४ ॥

'बेटा ! ये मेरे दिव्य रूपधारी पुत्र 'मारुत' नामसे प्रसिद्ध होकर आकाशमें जो सुविख्यात सात वातस्कन्ध[1] हैं, उनमें विचरें ॥ ४ ॥

ब्रह्मलोकं चरत्वेक इन्द्रलोकं तथापरः।
दिव्यवायुरिति ख्यातस्तृतीयोऽपि महायशाः ॥ ५ ॥

'(ऊपर जो सात मरुत् बताये गये हैं, वे सात-सातके गण हैं। इस प्रकार उन्चास मरुत् समझने चाहिये। इनमेंसे) जो प्रथम गण है, वह ब्रह्मलोकमें विचरे, दूसरा इन्द्रलोकमें विचरण करे तथा तीसरा महायशस्वी मरुद्गण दिव्य वायुके नामसे विख्यात हो अन्तरिक्षमें बहा करे ॥ ५ ॥

चत्वारस्तु सुरश्रेष्ठ दिशो वै तव शासनात्।
संचरिष्यन्ति भद्रं ते कालेन हि ममात्मजाः ॥ ६ ॥
त्वत्कृतेनैव नाम्ना वै मारुता इति विश्रुताः।

'सुरश्रेष्ठ ! तुम्हारा कल्याण हो। मेरे शेष चार पुत्रोंके गण तुम्हारी आज्ञासे समयानुसार सम्पूर्ण दिशाओंमें संचार करेंगे। तुम्हारे ही रक्खे हुए नामसे (तुमने जो 'मा रुदः' कहकर उन्हें रोनेसे मना किया था, उसी 'मा रुदः'—इस वाक्यसे) वे सब-के-सब मारुत कहलायँगे। मारुत नामसे ही उनकी प्रसिद्धि होगी' ॥ ६½ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा सहस्राक्षः पुरंदरः ॥ ७ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यमितीदं बलसूदनः।

दितिका वह वचन सुनकर बल दैत्यको मारनेवाले सहस्राक्ष इन्द्रने हाथ जोड़कर यह बात कही—॥ ७½ ॥

[1] आवह, प्रवह, संवह, उद्वह, विवह, परिवह और परावह—ये सात मरुत् हैं। इन्हींको सात वातस्कन्ध कहते हैं।

सर्वमेतद् यथोक्तं ते भविष्यति न संशयः ॥ ८ ॥
विचरिष्यन्ति भद्रं ते देवरूपास्तवात्मजाः ।

'मा ! तुम्हारा कल्याण हो । तुमने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा; इसमें संशय नहीं है । तुम्हारे ये पुत्र देवरूप होकर विचरेंगे ॥ ८½ ॥

एवं तौ निश्चयं कृत्वा मातापुत्रौ तपोवने ॥ ९ ॥
जग्मतुस्त्रिदिवं राम कृतार्थाविति नः श्रुतम् ।

श्रीराम ! उस तपोवनमें ऐसा निश्चय करके वे दोनों माता-पुत्र—दिति और इन्द्र कृतकृत्य हो स्वर्गलोकको चले गये—ऐसा हमने सुन रखा है ॥ ९½ ॥

एष देशः स काकुत्स्थ महेन्द्राध्युषितः पुरा ॥ १० ॥
दितिं यत्र तपः सिद्धामेवं परिचचार सः ।

काकुत्स्थ ! यही वह देश है, जहाँ पूर्वकालमें रहकर देवराज इन्द्रने तपःसिद्ध दितिकी परिचर्या की थी ॥ १०½ ॥

इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्र पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ११ ॥
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इति विश्रुतः ।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता ॥ १२ ॥

पुरुषसिंह ! पूर्वकालमें महाराज इक्ष्वाकुके एक परम धर्मात्मा पुत्र थे जो विशाल नामसे प्रसिद्ध हुए । उनका जन्म अलम्बुषाके गर्भसे हुआ था । उन्होंने इस स्थानपर विशाला नामकी पुरी बसायी थी ॥ ११-१२ ॥

विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः ।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः ॥ १३ ॥

श्रीराम ! विशालके पुत्रका नाम था हेमचन्द्र, जो बड़े बलवान् थे । हेमचन्द्रके पुत्र सुचन्द्र नामसे विख्यात हुए ॥ १३ ॥

सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः ।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र ! सुचन्द्रके पुत्र धूम्राश्व और धूम्राश्वके पुत्र सृंजय हुए ॥ १४ ॥

सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान् सहदेवः प्रतापवान् ।
कुशाश्वः सहदेवस्य पुत्रः परमधार्मिकः ॥ १५ ॥

सृंजयके प्रतापी पुत्र श्रीमान् सहदेव हुए । सहदेवके परम धर्मात्मा पुत्रका नाम कुशाश्व था ॥ १५ ॥

कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान् ।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः ॥ १६ ॥

कुशाश्वके महातेजस्वी पुत्र प्रतापी सोमदत्त हुए और सोमदत्तके पुत्र काकुत्स्थ नामसे विख्यात हुए ॥ १६ ॥

तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम् ।
आवसत् परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः ॥ १७ ॥

काकुत्स्थके महातेजस्वी पुत्र सुमति नामसे प्रसिद्ध हैं; जो परम कान्तिमान् एवं दुर्जय वीर हैं । वे ही इस समय इस पुरीमें निवास करते हैं ॥ १७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु प्रसादेन सर्वे वैशालिका नृपाः ।
दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः ॥ १८ ॥

महाराज इक्ष्वाकुके प्रसादसे विशालाके सभी नरेश दीर्घायु, महात्मा पराक्रमी और परम धार्मिक होते आये हैं ॥ १८ ॥

इहाद्य रजनीमेकां सुखं स्वप्स्यामहे वयम् ।
श्वः प्रभाते नरश्रेष्ठ जनकं द्रष्टुमर्हसि ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ ! आज एक रात हमलोग यहीं सुखपूर्वक शयन करेंगे; फिर कल प्रातःकाल यहाँसे चलकर तुम मिथिलामें राजा जनकका दर्शन करोगे ॥ १९ ॥

सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम् ।
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठः प्रत्यागच्छन्महायशाः ॥ २० ॥

नरेशोंमें श्रेष्ठ, महातेजस्वी, महायशस्वी राजा सुमति विश्वामित्रजीको पुरीके समीप आया हुआ सुनकर उनकी अगवानीके लिये स्वयं आये ॥ २० ॥

पूजां च परमां कृत्वा सोपाध्यायः सबान्धवः ।
प्राञ्जलिः कुशलं पृष्ट्वा विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ २१ ॥

अपने पुरोहित और बन्धु-बान्धवोंके साथ राजाने विश्वामित्रजीकी उत्तम पूजा करके हाथ जोड़ उनका कुशल-समाचार पूछा और उनसे इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे विषयं मुने ।
सम्प्राप्तो दर्शनं चैव नास्ति धन्यतरो मम ॥ २२ ॥

'मुने ! मैं धन्य हूँ । आपका मुझपर बड़ा अनुग्रह है; क्योंकि आपने स्वयं मेरे राज्यमें पधारकर मुझे दर्शन दिया । इस समय मुझसे बढ़कर धन्य पुरुष दूसरा कोई नहीं है' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

राजा सुमतिसे सत्कृत हो एक रात विशालामें रहकर मुनियोंसहित श्रीरामका मिथिलापुरीमें पहुँचना और वहाँ सूने आश्रमके विषयमें पूछनेपर विश्वामित्रजीका उनसे अहल्याको शाप प्राप्त होनेकी कथा सुनाना

पृष्ट्वा तु कुशलं तत्र परस्परसमागमे ।
कथान्ते सुमतिर्वाक्यं व्याजहार महामुनिम् ॥ १ ॥

वहाँ परस्पर समागमके समय एक-दूसरेका कुशलमङ्गल पूछकर बातचीतके अन्तमें राजा सुमतिने महामुनि विश्वामित्रसे कहा—॥ १ ॥

इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ।
गजसिंहगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ॥ २ ॥

'ब्रह्मन् ! आपका कल्याण हो । ये दोनों कुमार देवताओं-के तुल्य पराक्रमी जान पड़ते हैं । इनकी चाल-ढाल हाथी और सिंहकी गतिके समान है । ये दोनों वीर सिंह और साँड़के समान प्रतीत होते हैं ॥ २ ॥

पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणधनुर्धरौ ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ ३ ॥

'इनके बड़े-बड़े नेत्र विकसित कमलदलके समान शोभा पाते हैं । ये दोनों तलवार, तरकस और धनुष धारण किये हुए हैं । अपने सुन्दर रूपके द्वारा दोनों अश्विनीकुमारोंको लज्जित करते हैं तथा युवावस्थाके निकट आ पहुँचे हैं ॥ ३ ॥

यदृच्छयैव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ॥ ४ ॥

'इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो दो देवकुमार दैवेच्छावश देवलोकसे पृथ्वीपर आ गये हों । मुने ! ये दोनों किसके पुत्र हैं और कैसे, किस लिये यहाँ पैदल ही आये हैं ? ॥ ४ ॥

भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ।
परस्परेण सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ॥ ५ ॥

'जैसे चन्द्रमा और सूर्य आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार ये दोनों कुमार इस देशको सुशोभित कर रहे हैं । शरीरकी ऊँचाई, मनोभावसूचक संकेत तथा चेष्टा (बोलचाल) में ये दोनों एक-दूसरेके समान हैं ॥ ५ ॥

किमर्थं च नरश्रेष्ठौ सम्प्राप्तौ दुर्गमे पथि ।
वरायुधधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ ६ ॥

'श्रेष्ठ आयुध धारण करनेवाले ये दोनों नरश्रेष्ठ वीर इस दुर्गम मार्गमें किस लिये आये हैं ? यह मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ' ॥ ६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा यथावृत्तं न्यवेदयत् ।
सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं यथा ।
विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राजा परमविस्मितः ॥ ७ ॥

सुमतिका यह वचन सुनकर विश्वामित्रजीने उन्हें सब वृत्तान्त यथार्थरूपसे निवेदन किया । सिद्धाश्रममें निवास और राक्षसोंके वधका प्रसङ्ग भी यथावत् रूपसे कह सुनाया । विश्वामित्रजीकी बात सुनकर राजा सुमतिको बड़ा विस्मय हुआ ॥ ७ ॥

अतिथी परमं प्राप्तौ पुत्रौ दशरथस्य तौ ।
पूजयामास विधिवत् सत्कारार्हौ महाबलौ ॥ ८ ॥

उन्होंने परम आदरणीय अतिथिके रूपमें आये हुए उन दोनों महाबली दशरथ-पुत्रोंका विधिपूर्वक आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ८ ॥

ततः परमसत्कारं सुमतेः प्राप्य राघवौ ।
उष्य तत्र निशामेकां जग्मतुर्मिथिलां ततः ॥ ९ ॥

सुमतिसे उत्तम आदर-सत्कार पाकर वे दोनों रघुवंशी कुमार वहाँ एक रात रहे और सबेरे उठकर मिथिलाकी ओर चल दिये ॥ ९ ॥

तां दृष्ट्वा मुनयः सर्वे जनकस्य पुरीं शुभाम् ।
साधु साध्विति शंसन्तो मिथिलां समपूजयन् ॥ १० ॥

मिथिलामें पहुँचकर जनकपुरीकी सुन्दर शोभा देख सभी महर्षि साधु-साधु कहकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ १० ॥

मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः ।
पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुङ्गवम् ॥ ११ ॥

मिथिलाके उपवनमें एक पुराना आश्रम था, जो अत्यन्त रमणीय होकर भी सुनसान दिखायी देता था । उसे देखकर श्रीरामचन्द्रजीने मुनिवर विश्वामित्रजीसे पूछा—॥ ११ ॥

इदमाश्रमसंकाशं किं न्विदं मुनिवर्जितम् ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् कस्यायं पूर्व आश्रमः ॥ १२ ॥

'भगवन् ! यह कैसा स्थान है, जो देखनेमें तो आश्रम-जैसा है; किंतु एक भी मुनि यहाँ दृष्टिगोचर नहीं होते हैं । मैं यह सुनना चाहता हूँ कि पहले यह आश्रम किसका था ?' ॥ १२ ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह प्रश्न सुनकर प्रवचनकुशल महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्रने इस प्रकार उत्तर दिया—॥

हन्त ते कथयिष्यामि शृणु तत्त्वेन राघव।
यस्यैतदाश्रमपदं शप्तं कोपान्महात्मनः ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन ! पूर्वकालमें यह जिस महात्माका आश्रम था और जिन्होंने क्रोधपूर्वक इसे शाप दे दिया था, उनका तथा उनके इस आश्रमका सब वृत्तान्त तुमसे कहता हूँ। तुम यथार्थरूपसे इसको सुनो ॥ १४ ॥

गौतमस्य नरश्रेष्ठ पूर्वमासीन्महात्मनः।
आश्रमो दिव्यसंकाशः सुरैरपि सुपूजितः ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! पूर्वकालमें यह स्थान महात्मा गौतमका आश्रम था। उस समय यह आश्रम बड़ा ही दिव्य जान पड़ता था। देवता भी इसकी पूजा एवं प्रशंसा किया करते थे ॥ १५ ॥

स चात्र तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा।
वर्षपूगान्यनेकानि राजपुत्र महायशः ॥ १६ ॥

'महायशस्वी राजपुत्र ! पूर्वकालमें महर्षि गौतम अपनी पत्नी अहल्याके साथ रहकर यहाँ तपस्या करते थे। उन्होंने बहुत वर्षोंतक यहाँ तप किया था ॥ १६ ॥

तस्यान्तरं विदित्वा च सहस्राक्षः शचीपतिः।
मुनिवेषधरो भूत्वा अहल्यामिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

'एक दिन जब महर्षि गौतम आश्रमपर नहीं थे, उपयुक्त अवसर समझकर शचीपति इन्द्र गौतम मुनिका वेष धारण किये वहाँ आये और अहल्यासे इस प्रकार बोले—॥

ऋतुकालं प्रतीक्षन्ते नार्थिनः सुसमाहिते।
संगमं त्वहमिच्छामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ १८ ॥

''सदा सावधान रहनेवाली सुन्दरी ! रतिकी इच्छा रखनेवाले प्रार्थी पुरुष ऋतुकालकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं। सुन्दर कटिप्रदेशवाली सुन्दरी ! मैं (इन्द्र) तुम्हारे साथ समागम करना चाहता हूँ' ॥ १८ ॥

मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन।
मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात् ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! महर्षि गौतमका वेश धारण करके आये हुए इन्द्रको पहचानकर भी उस दुर्बुद्धि नारीने 'अहो ! देवराज इन्द्र मुझे चाहते हैं' इस कौतूहलवश उनके साथ समागमका निश्चय करके वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ॥१९॥

अथाब्रवीत् सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना।
कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २० ॥
आत्मानं मां च देवेश सर्वथा रक्ष गौतमात्।

'रतिके पश्चात् उसने देवराज इन्द्रसे संतुष्टचित्त होकर कहा—'सुरश्रेष्ठ ! मैं आपके समागमसे कृतार्थ हो गयी। प्रभो ! अब आप शीघ्र यहाँसे चले जाइये। देवेश्वर ! महर्षि गौतमके कोपसे आप अपनी और मेरी भी सब प्रकारसे रक्षा कीजिये' ॥ २०½ ॥

इन्द्रस्तु प्रहसन् वाक्यमहल्यामिदमब्रवीत् ॥ २१ ॥
सुश्रोणि परितुष्टोऽस्मि गमिष्यामि यथागतम्।

'तब इन्द्रने अहल्यासे हँसते हुए कहा—'सुन्दरी ! मैं भी संतुष्ट हो गया। अब जैसे आया था, उसी तरह चला जाऊँगा' ॥ २१½ ॥

एवं संगम्य तु तदा निश्चक्रामोटजात् ततः ॥ २२ ॥
स सम्भ्रमात् त्वरन् राम शङ्कितो गौतमं प्रति।

'श्रीराम ! इस प्रकार अहल्यासे समागम करके इन्द्र जब उस कुटीसे बाहर निकले, तब गौतमके आ जानेकी आशङ्कासे बड़ी उतावलीके साथ वेगपूर्वक भागनेका प्रयत्न करने लगे ॥

गौतमं स ददर्शाथ प्रविशन्तं महामुनिम् ॥ २३ ॥
देवदानवदुर्धर्षं तपोबलसमन्वितम्।
तीर्थोदकपरिक्लिन्नं दीप्यमानमिवानलम् ॥ २४ ॥
गृहीतसमिधं तत्र सकुशं मुनिपुङ्गवम्।

'इतनेहीमें उन्होंने देखा, देवताओं और दानवोंके लिये भी दुर्धर्ष, तपोबलसम्पन्न, महामुनि गौतम हाथमें समिधा लिये आश्रममें प्रवेश कर रहे हैं। उनका शरीर तीर्थके जलसे भीगा हुआ है और वे प्रज्वलित अग्निके समान उद्दीप्त हो रहे हैं ॥ २३-२४½ ॥

दृष्ट्वा सुरपतिस्त्रस्तो विषण्णवदनोऽभवत् ॥ २५ ॥
अथ दृष्ट्वा सहस्राक्षं मुनिवेषधरं मुनिः।
दुर्वृत्तं वृत्तसम्पन्नो रोषाद् वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

'उनपर दृष्टि पड़ते ही देवराज इन्द्र भयसे थर्रा उठे। उनके मुखपर विषाद छा गया। दुराचारी इन्द्रको मुनिका वेष धारण किये देख सदाचारसम्पन्न मुनिवर गौतमजीने रोषमें भरकर कहा—॥ २५-२६ ॥

मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते।
अकर्तव्यमिदं यस्माद् विफलस्त्वं भविष्यसि ॥ २७ ॥

''दुर्मते ! तूने मेरा रूप धारण करके यह न करनेयोग्य पापकर्म किया है, इसलिये तू विफल (अण्डकोषोंसे रहित) हो जायगा' ॥ २७ ॥

गौतमेनैवमुक्तस्य सुरोषेण महात्मना।
पेततुर्वृषणौ भूमौ सहस्राक्षस्य तत्क्षणात् ॥ २८ ॥

'रोषमें भरे हुए महात्मा गौतमके ऐसा कहते ही सहस्राक्ष इन्द्रके दोनों अण्डकोष उसी क्षण पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २८ ॥

तथा शप्त्वा च वै शक्रं भार्यामपि च शप्तवान्।
इह वर्षसहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि ॥ २९ ॥
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी।
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि ॥ ३० ॥
यदा त्वेतद् वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥ ३१ ॥
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥ ३२ ॥

जनकपुरमें चारों भाइयोंका विवाह

'इन्द्रको इस प्रकार शाप देकर गौतमने अपनी पत्नीको भी शाप दिया—'दुराचारिणी ! तू भी यहाँ कई हजार वर्षोंतक केवल हवा पीकर या उपवास करके कष्ट उठाती हुई राखमें पड़ी रहेगी । समस्त प्राणियोंसे अदृश्य रहकर इस आश्रममें निवास करेगी । जब दुर्धर्ष दशरथ-कुमार राम इस घोर वनमें पदार्पण करेंगे, उस समय तू पवित्र होगी । उनका आतिथ्य-सत्कार करनेसे तेरे लोभ-मोह आदि दोष दूर हो जायँगे और तू प्रसन्नतापूर्वक मेरे पास पहुँचकर अपना पूर्व शरीर धारण कर लेगी' ॥ २९—३२ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम् ।
इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते ।
हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः ॥ ३३ ॥

'अपनी दुराचारिणी पत्नीसे ऐसा कहकर महातेजस्वी महातपस्वी गौतम इस आश्रमको छोड़कर चले गये और सिद्धों तथा चारणोंसे सेवित हिमालयके रमणीय शिखरपर रहकर तपस्या करने लगे' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

पितृदेवताओंद्वारा इन्द्रको भेड़ेके अण्डकोषसे युक्त करना तथा भगवान् श्रीरामके द्वारा अहल्याका उद्धार एवं उन दोनों दम्पतिके द्वारा इनका सत्कार

अफलस्तु ततः शक्रो देवानग्निपुरोगमान् ।
अब्रवीत् त्रस्तनयनः सिद्धगन्धर्वचारणान् ॥ १ ॥

तदनन्तर इन्द्र अण्डकोषसे रहित होकर बहुत डर गये । उनके नेत्रोंमें त्रास छा गया । वे अग्नि आदि देवताओं, सिद्धों, गन्धर्वों और चारणोंसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

कुर्वता तपसो विघ्नं गौतमस्य महात्मनः ।
क्रोधमुत्पाद्य हि मया सुरकार्यमिदं कृतम् ॥ २ ॥

'देवताओ ! महात्मा गौतमकी तपस्यामें विघ्न डालनेके लिये मैंने उन्हें क्रोध दिलाया है । ऐसा करके मैंने यह देवताओंका कार्य ही सिद्ध किया है ॥ २ ॥

अफलोऽस्मि कृतस्तेन क्रोधात् सा च निराकृता ।
शापमोक्षेण महता तपोऽस्यापहृतं मया ॥ ३ ॥

'मुनिने क्रोधपूर्वक भारी शाप देकर मुझे अण्डकोषसे रहित कर दिया और अपनी पत्नीका भी परित्याग कर दिया । इससे मेरे द्वारा उनकी तपस्याका अपहरण हुआ है ॥

तन्मां सुरवराः सर्वे सर्षिसङ्घाः सचारणाः ।
सुरकार्यकरं यूयं सफलं कर्तुमर्हथ ॥ ४ ॥

'(यदि मैं उनकी तपस्यामें विघ्न नहीं डालता तो वे देवताओंका राज्य ही छीन लेते । अतः ऐसा करके) मैंने देवताओंका ही कार्य सिद्ध किया है । इसलिये श्रेष्ठ देवताओ ! तुम सब लोग, ऋषिसमुदाय और चारणगण मिलकर मुझे अण्डकोषसे युक्त करनेका प्रयत्न करो' ॥ ४ ॥

शतक्रतोर्वचः श्रुत्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ।
पितृदेवानुपेत्याहुः सर्वे सह मरुद्गणैः ॥ ५ ॥

इन्द्रका यह वचन सुनकर मरुद्गणोंसहित अग्नि आदि समस्त देवता कव्यवाहन आदि पितृदेवताओंके पास जाकर बोले—॥ ५ ॥

अयं मेषः सवृषणः शक्रो ह्यवृषणः कृतः ।
मेषस्य वृषणौ गृह्य शक्रायाशु प्रयच्छत ॥ ६ ॥

'पितृगण ! यह आपका भेड़ा अण्डकोषसे युक्त है और इन्द्र अण्डकोषरहित कर दिये गये हैं । अतः इस भेड़ेके दोनों अण्डकोषोंको लेकर आप शीघ्र ही इन्द्रको अर्पित कर दें ॥ ६ ॥

अफलस्तु कृतो मेषः परां तुष्टिं प्रदास्यति ।
भवतां हर्षणार्थं च ये च दास्यन्ति मानवाः ।
अक्षयं हि फलं तेषां यूयं दास्यथ पुष्कलम् ॥ ७ ॥

'अण्डकोषसे रहित किया हुआ यह भेड़ा इसी स्थानमें आपलोगोंको परम संतोष प्रदान करेगा । अतः जो मनुष्य आपलोगोंकी प्रसन्नताके लिये अण्डकोषरहित भेड़ा दान करेंगे, उन्हें आपलोग उस दानका उत्तम एवं पूर्ण फल प्रदान करेंगे' ॥ ७ ॥

अग्नेस्तु वचनं श्रुत्वा पितृदेवाः समागताः ।
उत्पाट्य मेषवृषणौ सहस्राक्षे न्यवेशयन् ॥ ८ ॥

अग्निकी यह बात सुनकर पितृदेवताओंने एकत्र हो भेड़ेके अण्डकोषोंको उखाड़कर इन्द्रके शरीरमें उचित स्थान-पर जोड़ दिया ॥ ८ ॥

तदाप्रभृति काकुत्स्थ पितृदेवाः समागताः ।
अफलान् भुञ्जते मेषान् फलैस्तेषामयोजयन् ॥ ९ ॥

ककुत्स्थनन्दन श्रीराम ! तभीसे वहाँ आये हुए समस्त पितृ-देवता अण्डकोषरहित भेड़ोंको ही उपयोगमें लाते हैं । और दाताओंको उनके दानजनित फलोंके भागी बनाते हैं ॥

इन्द्रस्तु मेषवृषणस्तदाप्रभृति राघव ।
गौतमस्य प्रभावेण तपसा च महात्मनः ॥ १० ॥

रघुनन्दन ! उसी समयसे महात्मा गौतमके तपस्या-जनित प्रभावसे इन्द्रको भेड़ोंके अण्डकोष धारण करने पड़े ॥ १० ॥

तदागच्छ महातेज आश्रमं पुण्यकर्मणः ।
तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम् ॥ ११ ॥

महातेजस्वी श्रीराम ! अब तुम पुण्यकर्मा महर्षि गौतमके इस आश्रमपर चलो और इन देवरूपिणी महाभागा अहल्याका उद्धार करो ॥ ११ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह ॥ १२ ॥

विश्वामित्रजीका यह वचन सुनकर लक्ष्मणसहित श्रीरामने उन महर्षिको आगे करके उस आश्रममें प्रवेश किया ॥ १२ ॥

ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् ।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ॥ १३ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा—महासौभाग्यशालिनी अहल्या अपनी तपस्यासे देदीप्यमान हो रही हैं। इस लोकके मनुष्य तथा सम्पूर्ण देवता और असुर भी वहाँ आकर उन्हें देख नहीं सकते थे ॥ १३ ॥

प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव ।
धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव ॥ १४ ॥
सतुषाराावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव ।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव ॥ १५ ॥

उनका स्वरूप दिव्य था। विधाताने बड़े प्रयत्नसे उनके अङ्गोंका निर्माण किया था। वे मायामयी-सी प्रतीत होती थीं। धूमसे घिरी हुई प्रज्वलित अग्निशिखा-सी जान पड़ती थीं। ओले और बादलोंसे ढकी हुई पूर्ण चन्द्रमाकी प्रभा-सी दिखायी देती थीं तथा जलके भीतर उद्भासित होनेवाली सूर्यकी दुर्धर्ष प्रभाके समान दृष्टिगोचर होती थीं ॥ १४-१५ ॥

सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ।
त्रयाणामपि लोकानां यावद् रामस्य दर्शनम् ।
शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता ॥ १६ ॥

गौतमके शापवश श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन होनेसे पहले तीनों लोकोंके किसी भी प्राणीके लिये उनका दर्शन होना कठिन था। श्रीरामका दर्शन मिल जानेसे जब उनके शापका अन्त हो गया, तब वे उन सबको दिखायी देने लगीं ॥ १६ ॥

राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा ।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ ॥ १७ ॥
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहिता ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ १८ ॥

उस समय श्रीराम और लक्ष्मणने बड़ी प्रसन्नताके साथ अहल्याके दोनों चरणोंका स्पर्श किया। महर्षि गौतमके वचनोंका स्मरण करके अहल्याने बड़ी सावधानीके साथ उन दोनों भाइयोंको आदरणीय अतिथिके रूपमें अपनाया और पाद्य, अर्घ्य आदि अर्पित करके उनका आतिथ्य-सत्कार किया। श्रीरामचन्द्रजीने शास्त्रीय विधिके अनुसार अहल्याका वह आतिथ्य ग्रहण किया ॥ १७-१८ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः ।
गन्धर्वाप्सरसां चैव महानासीत् समुत्सवः ॥ १९ ॥

उस समय देवताओंकी दुन्दुभि बज उठी। साथ ही आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा होने लगी। गन्धर्वों और अप्सराओंद्वारा महान् उत्सव मनाया जाने लगा ॥ १९ ॥

साधु साध्विति देवास्तामहल्यां समपूजयन् ।
तपोबलविशुद्धाङ्गीं गौतमस्य वशानुगाम् ॥ २० ॥

महर्षि गौतमके अधीन रहनेवाली अहल्या अपनी तपः-शक्तिसे विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुई—यह देख सम्पूर्ण देवता उन्हें साधुवाद देते हुए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥

गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी ।
रामं सम्पूज्य विधिवत् तपस्तेपे महातपाः ॥ २१ ॥

महातेजस्वी महातपस्वी गौतम भी अहल्याको अपने साथ पाकर सुखी हो गये। उन्होंने श्रीरामकी विधिवत् पूजा करके तपस्या आरम्भ की ॥ २१ ॥

रामोऽपि परमां पूजां गौतमस्य महामुनेः ।
सकाशाद् विधिवत् प्राप्य जगाम मिथिलां ततः ॥ २२ ॥

महामुनि गौतमकी ओरसे विधिपूर्वक उत्तम पूजा—आदर-सत्कार पाकर श्रीराम भी मुनिवर विश्वामित्रजीके साथ मिथिलापुरीको चले गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

श्रीराम आदिका मिथिला-गमन, राजा जनकद्वारा विश्वामित्रका सत्कार तथा उनका श्रीराम और लक्ष्मणके विषयमें जिज्ञासा करना एवं परिचय पाना

ततः प्रागुत्तरां गत्वा रामः सौमित्रिणा सह ।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ १ ॥

तदनन्तर लक्ष्मणसहित श्रीराम विश्वामित्रजीको आगे करके महर्षि गौतमके आश्रमसे ईशानकोणकी ओर चले और मिथिलानरेशके यज्ञमण्डपमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

रामस्तु मुनिशार्दूलमुवाच सहलक्ष्मणः ।
साध्वी यज्ञसमृद्धिर्हि जनकस्य महात्मनः ॥ २ ॥
बहूनीह सहस्राणि नानादेशनिवासिनाम् ।
ब्राह्मणानां महाभाग वेदाध्ययनशालिनाम् ॥ ३ ॥

वहाँ लक्ष्मणसहित श्रीरामने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे कहा—'महाभाग! महात्मा जनकके यज्ञका समारोह तो बड़ा सुन्दर दिखायी दे रहा है। यहाँ नाना देशोंके निवासी सहस्रों ब्राह्मण जुटे हुए हैं, जो वेदोंके स्वाध्यायसे शोभा पा रहे हैं ॥ २-३ ॥

ऋषिवाटाश्च दृश्यन्ते शकटीशतसंकुलाः ।
देशो विधीयतां ब्रह्मन् यत्र वत्स्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

'ऋषियोंके बाड़े सैकड़ों छकड़ोंसे भरे दिखायी दे रहे हैं। ब्रह्मन्! अब ऐसा कोई स्थान निश्चित कीजिये, जहाँ हमलोग भी ठहरें' ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः ।
निवासमकरोद् देशे विविक्ते सलिलान्विते ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर महामुनि विश्वामित्रने एकान्त स्थानमें डेरा डाला, जहाँ पानीका सुभीता था ॥ ५ ॥

विश्वामित्रमनुप्राप्तं श्रुत्वा नृपवरस्तदा ।
शतानन्दं पुरस्कृत्य पुरोहितमनिन्दितः ॥ ६ ॥

अनिन्द्य (उत्तम) आचार-विचारवाले नृपश्रेष्ठ महाराज जनकने जब सुना कि विश्वामित्रजी पधारे हैं, तब वे तुरंत अपने पुरोहित शतानन्दको आगे करके [अर्घ्य लिये विनीतभावसे उनका स्वागत करनेको चल दिये] ॥ ६ ॥

ऋत्विजोऽपि महात्मानस्त्वर्घ्यमादाय सत्वरम् ।
प्रत्युज्जगाम सहसा विनयेन समन्वितः ॥ ७ ॥
विश्वामित्राय धर्मेण ददौ धर्मपुरस्कृतम् ।

उनके साथ अर्घ्य लिये महात्मा ऋत्विज भी शीघ्रतापूर्वक चले। राजाने विनीतभावसे सहसा आगे बढ़कर महर्षिकी अगवानी की तथा धर्मशास्त्रके अनुसार विश्वामित्रको धर्मयुक्त अर्घ्य समर्पित किया ॥ ७½ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां जनकस्य महात्मनः ॥ ८ ॥
पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम् ।

महात्मा राजा जनककी वह पूजा ग्रहण करके मुनिने उनका कुशल-समाचार पूछा तथा उनके यज्ञकी निर्बाध स्थितिके विषयमें जिज्ञासा की ॥ ८½ ॥

स तांश्चाथ मुनीन् पृष्ट्वा सोपाध्यायपुरोधसः ॥ ९ ॥
यथार्हमृषिभिः सर्वैः समागच्छत् प्रहृष्टवत् ।

राजाके साथ जो मुनि, उपाध्याय और पुरोहित आये थे, उनसे भी कुशल-मङ्गल पूछकर विश्वामित्रजी बड़े हर्षके साथ उन सभी महर्षियोंसे यथायोग्य मिले ॥ ९½ ॥

अथ राजा मुनिश्रेष्ठं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १० ॥
आसने भगवानास्तां सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।

इसके बाद राजा जनकने मुनिवर विश्वामित्रसे हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! आप इन मुनीश्वरोंके साथ आसनपर विराजमान होइये' ॥ १०½ ॥

जनकस्य वचः श्रुत्वा निषसाद महामुनिः ॥ ११ ॥
पुरोधा ऋत्विजश्चैव राजा च सहमन्त्रिभिः ।
आसनेषु यथान्यायमुपविष्टाः समन्ततः ॥ १२ ॥

यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्र आसनपर बैठ गये। फिर पुरोहित, ऋत्विज तथा मन्त्रियोंसहित राजा भी सब ओर यथायोग्य आसनोंपर विराजमान हो गये ॥ ११-१२ ॥

दृष्ट्वा स नृपतिस्तत्र विश्वामित्रमथाब्रवीत् ।
अद्य यज्ञसमृद्धिर्मे सफला दैवतैः कृता ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् राजा जनकने विश्वामित्रजीकी ओर देखकर कहा—'भगवन्! आज देवताओंने मेरे यज्ञकी आयोजना सफल कर दी ॥ १३ ॥

अद्य यज्ञफलं प्राप्तं भगवद्दर्शनान्मया ।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गवः ॥ १४ ॥
यज्ञोपसदनं ब्रह्मन् प्राप्तोऽसि मुनिभिः सह ।

'आज पूज्य चरणोंके दर्शनसे मैंने यज्ञका फल पा लिया। ब्रह्मन्! आप मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं। आपने इतने महर्षियोंके साथ मेरे यज्ञमण्डपमें पदार्पण किया, इससे मैं धन्य हो गया। यह मेरे ऊपर आपका बहुत बड़ा अनुग्रह है। १४½।

द्वादशाहं तु ब्रह्मर्षे दीक्षामाहुर्मनीषिणः ॥ १५ ॥
ततो भागार्थिनो देवान् द्रष्टुमर्हसि कौशिक ।

'ब्रह्मर्षे! मनीषी ऋत्विजोंका कहना है कि 'मेरी यज्ञदीक्षाके बारह दिन ही शेष रह गये हैं। अतः कुशिकनन्दन! बारह दिनोंके बाद यहाँ भाग ग्रहण करनेके लिये आये हुए देवताओंका दर्शन कीजियेगा' ॥ १५½ ॥

इत्युक्त्वा मुनिशार्दूलं प्रहृष्टवदनस्तदा ॥ १६ ॥
पुनस्तं परिपप्रच्छ प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः ।

मुनिवर विश्वामित्रसे ऐसा कहकर उस समय प्रसन्नमुख हुए जितेन्द्रिय राजा जनकने पुनः उनसे हाथ जोड़कर पूछा—॥

इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥
गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ ।
पद्मपत्रविशालाक्षौ खड्गतूणीधनुर्धरौ ।
अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥ १८ ॥
यदृच्छयेव गां प्राप्तौ देवलोकादिवामरौ ।
कथं पद्भ्यामिह प्राप्तौ किमर्थं कस्य वा मुने ॥ १९ ॥
वरायुधधरौ वीरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
भूषयन्ताविमं देशं चन्द्रसूर्याविवाम्बरम् ॥ २० ॥
परस्परस्य सदृशौ प्रमाणेङ्गितचेष्टितैः ।
काकपक्षधरौ वीरौ श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥ २१ ॥

'महामुने ! आपका कल्याण हो। देवताके समान पराक्रमी और सुन्दर आयुध धारण करनेवाले ये दोनों वीर राजकुमार जो हाथीके समान मन्दगतिसे चलते हैं, सिंह और साँड़के समान जान पड़ते हैं, प्रफुल्ल कमलदलके समान सुशोभित हैं; तलवार, तरकस और धनुष धारण किये हुए हैं, अपने मनोहर रूपसे अश्विनीकुमारोंको भी लज्जित कर रहे हैं, जिन्होंने अभी-अभी यौवनावस्थामें प्रवेश किया है तथा जो स्वेच्छानुसार देवलोकसे उतरकर पृथ्वीपर आये हुए दो देवताओंके समान जान पड़ते हैं, किसके पुत्र हैं ? और यहाँ कैसे, किसलिये अथवा किस उद्देश्यसे पैदल ही पधारे हैं ? जैसे चन्द्रमा और सूर्य आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार ये अपनी उपस्थितिसे इस देशको विभूषित कर रहे हैं। ये दोनों एक दूसरेसे बहुत मिलते-जुलते हैं। इनके शरीरकी ऊँचाई, संकेत और चेष्टाएँ प्रायः एक-सी हैं। मैं इन दोनों काकपक्षधारी वीरोंका परिचय एवं वृत्तान्त यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ' ॥ १७—२१ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा जनकस्य महात्मनः ।
न्यवेदयदमेयात्मा पुत्रौ दशरथस्य तौ ॥ २२ ॥

महात्मा जनकका यह प्रश्न सुनकर अमित आत्मबलसे सम्पन्न विश्वामित्रजीने कहा—'राजन् ! ये दोनों महाराज दशरथके पुत्र हैं' ॥ २२ ॥

सिद्धाश्रमनिवासं च राक्षसानां वधं तथा ।
तत्रागमनमव्यग्रं विशालायाश्च दर्शनम् ॥ २३ ॥
अहल्यादर्शनं चैव गौतमेन समागमम् ।
महाधनुषि जिज्ञासां कर्तुमागमनं तथा ॥ २४ ॥

इसके बाद उन्होंने उन दोनोंके सिद्धाश्रममें निवास, राक्षसोंके वध, बिना किसी घबराहटके मिथिलातक आगमन, विशालापुरीके दर्शन, अहल्याके साक्षात्कार तथा महर्षि गौतमके साथ समागम आदिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया। फिर अन्तमें यह भी बताया कि 'ये आपके यहाँ रक्खे हुए महान् धनुषके सम्बन्धमें कुछ जाननेकी इच्छासे यहाँतक आये हैं' ॥ २३-२४ ॥

एतत् सर्वं महातेजा जनकाय महात्मने ।
निवेद्य विररामाथ विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २५ ॥

महात्मा राजा जनकसे ये सब बातें निवेदन करके महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र चुप हो गये ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

शतानन्दके पूछनेपर विश्वामित्रका उन्हें श्रीरामके द्वारा अहल्याके उद्धारका समाचार बताना तथा शतानन्दद्वारा श्रीरामका अभिनन्दन करते हुए विश्वामित्रजीके पूर्वचरित्रका वर्णन

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रस्य धीमतः ।
हृष्टरोमा महातेजाः शतानन्दो महातपाः ॥ १ ॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्रजीकी वह बात सुनकर महातेजस्वी महातपस्वी शतानन्दजीके शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ १ ॥

गौतमस्य सुतो ज्येष्ठस्तपसा द्योतितप्रभः ।
रामसंदर्शनादेव परं विस्मयमागतः ॥ २ ॥

वे गौतमके ज्येष्ठ पुत्र थे। तपस्यासे उनकी कान्ति प्रकाशित हो रही थी। वे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनमात्रसे ही बड़े विस्मित हुए ॥ २ ॥

एतौ निषण्णौ सम्प्रेक्ष्य शतानन्दो नृपात्मजौ ।
सुखासीनौ मुनिश्रेष्ठं विश्वामित्रमथाब्रवीत् ॥ ३ ॥

उन दोनों राजकुमारोंको सुखपूर्वक बैठे देख शतानन्दने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीसे पूछा— ॥ ३ ॥

अपि ते मुनिशार्दूल मम माता यशस्विनी ।
दर्शिता राजपुत्राय तपोदीर्घमुपागता ॥ ४ ॥

'मुनिप्रवर ! मेरी यशस्विनी माता अहल्या बहुत दिनोंसे तपस्या कर रही थीं। क्या आपने राजकुमार श्रीरामको उनका दर्शन कराया ? ॥ ४ ॥

अपि रामे महातेजा मम माता यशस्विनी ।
वन्यैरुपाहरत् पूजां पूजार्हे सर्वदेहिनाम् ॥ ५ ॥

'क्या मेरी महातेजस्विनी एवं यशस्विनी माता अहल्याने वनमें होनेवाले फल-फूल आदिसे समस्त देहधारियोंके लिये

पूजनीय श्रीरामचन्द्रजीका पूजन (आदर-सत्कार) किया था ? ॥ ५ ॥

अपि रामाय कथितं यद् वृत्तं तत् पुरातनम्।
मम मातुर्महातेजो देवेन दुरनुष्ठितम् ॥ ६ ॥

'महातेजस्वी मुने ! क्या आपने श्रीरामसे वह प्राचीन वृत्तान्त कहा था; जो मेरी माताके प्रति देवराज इन्द्रद्वारा किये गये छल-कपट एवं दुराचारद्वारा घटित हुआ था ? ॥ ६ ॥

अपि कौशिक भद्रं ते गुरुणा मम संगता।
मम माता मुनिश्रेष्ठ रामसंदर्शनादितः ॥ ७ ॥

'मुनिश्रेष्ठ कौशिक ! आपका कल्याण हो । क्या श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन आदिके प्रभावसे मेरी माता शापमुक्त हो पिताजीसे जा मिलीं ? ॥ ७ ॥

अपि मे गुरुणा रामः पूजितः कुशिकात्मज।
इहागतो महातेजाः पूजां प्राप्य महात्मनः ॥ ८ ॥

'कुशिकनन्दन ! क्या मेरे पिताने श्रीरामका पूजन किया था ? क्या उन महात्माकी पूजा ग्रहण करके ये महातेजस्वी श्रीराम यहाँ पधारे हैं ? ॥ ८ ॥

अपि शान्तेन मनसा गुरुर्मे कुशिकात्मज।
इहागतेन रामेण पूजितेनाभिवादितः ॥ ९ ॥

'विश्वामित्रजी ! क्या यहाँ आकर मेरे माता-पिताद्वारा सम्मानित हुए श्रीरामने मेरे पूज्य पिताका शान्त चित्तसे अभिवादन किया था ?' ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रो महामुनिः।
प्रत्युवाच शतानन्दं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १० ॥

शतानन्दका यह प्रश्न सुनकर बोलनेकी कला जाननेवाले महामुनि विश्वामित्रने बातचीत करनेमें कुशल शतानन्दको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १० ॥

नातिक्रान्तं मुनिश्रेष्ठ यत्कर्तव्यं कृतं मया।
संगता मुनिना पत्नी भार्गवेणेव रेणुका ॥ ११ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! मैंने कुछ उठा नहीं रक्खा है। मेरा जो कर्तव्य था, उसे मैंने पूरा किया। महर्षि गौतमसे उनकी पत्नी अहल्या उसी प्रकार जा मिली हैं, जैसे भृगुवंशी जमदग्निसे रेणुका मिली है' ॥ ११ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः।
शतानन्दो महातेजा रामं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् विश्वामित्रकी यह बात सुनकर महातेजस्वी शतानन्दने श्रीरामचन्द्रजीसे यह बात कही—॥ १२ ॥

स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य महर्षिमपराजितम् ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! आपका स्वागत है । रघुनन्दन ! मेरा अहोभाग्य जो आपने किसीसे पराजित न होनेवाले महर्षि विश्वामित्रको आगे करके यहाँतक पधारनेका कष्ट उठाया ॥ १३ ॥

अचिन्त्यकर्मा तपसा ब्रह्मर्षिरमितप्रभः।
विश्वामित्रो महातेजा वेद्म्येनं परमां गतिम् ॥ १४ ॥

'महर्षि विश्वामित्रके कर्म अचिन्त्य हैं। ये तपस्यासे ब्रह्मर्षिपदको प्राप्त हुए हैं। इनकी कान्ति असीम है और ये महातेजस्वी हैं। मैं इनको जानता हूँ। ये जगत्के परम आश्रय (हितैषी) हैं ॥ १४ ॥

नास्ति धन्यतरो राम त्वत्तोऽन्यो भुवि कश्चन।
गोप्ता कुशिकपुत्रस्ते येन तप्तं महत्तपः ॥ १५ ॥

'श्रीराम ! इस पृथ्वीपर आपसे बढ़कर धन्यातिधन्य पुरुष दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि कुशिकनन्दन विश्वामित्र आपके रक्षक हैं, जिन्होंने बड़ी भारी तपस्या की है ॥ १५ ॥

श्रूयतां चाभिधास्यामि कौशिकस्य महात्मनः।
यथाबलं यथातत्त्वं तन्मे निगदतः शृणु ॥ १६ ॥

'मैं महात्मा कौशिकके बल और स्वरूपका यथार्थ वर्णन करता हूँ। आप ध्यान देकर मुझसे यह सब सुनिये ॥१६॥

राजाऽऽसीदेष धर्मात्मा दीर्घकालमरिंदमः।
धर्मज्ञः कृतविद्यश्च प्रजानां च हिते रतः ॥ १७ ॥

'ये विश्वामित्र पहले एक धर्मात्मा राजा थे। इन्होंने शत्रुओंके दमनपूर्वक दीर्घकालतक राज्य किया था। ये धर्मज्ञ और विद्वान् होनेके साथ ही प्रजावर्गके हित-साधनमें तत्पर रहते थे ॥ १७ ॥

प्रजापतिसुतस्त्वासीत् कुशो नाम महीपतिः।
कुशस्य पुत्रो बलवान् कुशनाभः सुधार्मिकः ॥ १८ ॥

'प्राचीन कालमें कुश नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वे प्रजापतिके पुत्र थे। कुशके बलवान् पुत्रका नाम कुशनाभ हुआ। वह बड़ा ही धर्मात्मा था ॥ १८ ॥

कुशनाभसुतस्त्वासीद् गाधिरित्येव विश्रुतः।
गाधेः पुत्रो महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ॥ १९ ॥

'कुशनाभके पुत्र गाधि नामसे विख्यात थे। उन्हीं गाधिके महातेजस्वी पुत्र ये महामुनि विश्वामित्र हैं ॥ १९ ॥

विश्वामित्रो महातेजाः पालयामास मेदिनीम्।
बहुवर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत् ॥ २० ॥

'महातेजस्वी राजा विश्वामित्रने कई हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन तथा राज्यका शासन किया ॥ २० ॥

कदाचित् तु महातेजा योजयित्वा वरूथिनीम्।
अक्षौहिणीपरिवृतः परिचक्राम मेदिनीम् ॥ २१ ॥

'एक समयकी बात है महातेजस्वी राजा विश्वामित्र सेना एकत्र करके एक अक्षौहिणी सेनाके साथ पृथ्वीपर विचरने लगे ॥ २१ ॥

नगराणि च राष्ट्राणि सरितश्च महागिरीन्।
आश्रमान् क्रमशो राजा विचरन्नाजगाम ह ॥ २२ ॥
वसिष्ठस्याश्रमपदं नानापुष्पलताद्रुमम्।
नानामृगगणाकीर्णं सिद्धचारणसेवितम् ॥ २३ ॥

'वे अनेकानेक नगरों, राष्ट्रों, नदियों, बड़े-बड़े पर्वतों और आश्रमोंमें क्रमशः विचरते हुए महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर आ पहुँचे, जो नाना प्रकारके फूलों, लताओं और वृक्षोंसे शोभा पा रहा था। नाना प्रकारके मृग (वन्य पशु) वहाँ सब ओर फैले हुए थे तथा सिद्ध और चारण उस आश्रममें निवास करते थे ॥ २२-२३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभितम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णं द्विजसङ्घनिषेवितम् ॥ २४ ॥
ब्रह्मर्षिगणसंकीर्णं देवर्षिगणसेवितम्।

'देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर उसकी शोभा बढ़ाते थे। शान्त मृग वहाँ भरे रहते थे। बहुतसे ब्राह्मणों, ब्रह्मर्षियों और देवर्षियोंके समुदाय उसका सेवन करते थे ॥ २४½ ॥

तपश्चरणसंसिद्धैरग्निकल्पैर्महात्मभिः ॥ २५ ॥
सततं संकुलं श्रीमद्ब्रह्मकल्पैर्महात्मभिः।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च शीर्णपर्णाशनैस्तथा ॥ २६ ॥
फलमूलाशनैर्दान्तैर्जितदोषैर्जितेन्द्रियैः।
ऋषिभिर्वालखिल्यैश्च जपहोमपरायणैः ॥ २७ ॥
अन्यैर्वैखानसैश्चैव समन्तादुपशोभितम्।
वसिष्ठस्याश्रमपदं ब्रह्मलोकमिवापरम्।
ददर्श जयतां श्रेष्ठो विश्वामित्रो महाबलः ॥ २८ ॥

'तपस्यासे सिद्ध हुए अग्निके समान तेजस्वी महात्मा तथा ब्रह्माके समान महामहिम महात्मा सदा उस आश्रममें भरे रहते थे। उनमेंसे कोई जल पीकर रहता था तो कोई हवा पीकर। कितने ही महात्मा फल-मूल खाकर अथवा सूखे पत्ते चबाकर रहते थे। राग आदि दोषोंको जीतकर मन और इन्द्रियोंपर काबू रखनेवाले बहुत-से ऋषि जप-होममें लगे रहते थे। वालखिल्य मुनिगण तथा अन्यान्य वैखानस महात्मा सब ओरसे उस आश्रमकी शोभा बढ़ाते थे। इन सब विशेषताओंके कारण महर्षि वसिष्ठका वह आश्रम दूसरे ब्रह्मलोकके समान जान पड़ता था। विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ महाबली विश्वामित्रने उसका दर्शन किया' ॥ २५—२८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

महर्षि वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रका सत्कार और कामधेनुको अभीष्ट वस्तुओंकी सृष्टि करनेका आदेश

तं दृष्ट्वा परमप्रीतो विश्वामित्रो महाबलः।
प्रणतो विनयाद् वीरो वसिष्ठं जपतां वरम् ॥ १ ॥

'जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठका दर्शन करके महाबली वीर विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए और विनयपूर्वक उन्होंने उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ १ ॥

स्वागतं तव चेत्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना।
आसनं चास्य भगवान् वसिष्ठो व्यादिदेश ह ॥ २ ॥

'तब महात्मा वसिष्ठने कहा—'राजन्! तुम्हारा स्वागत है।' ऐसा कहकर भगवान् वसिष्ठने उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया ॥ २ ॥

उपविष्टाय च तदा विश्वामित्राय धीमते।
यथान्यायं मुनिवरः फलमूलमुपाहरत् ॥ ३ ॥

'जब बुद्धिमान् विश्वामित्र आसनपर विराजमान हुए, तब मुनिवर वसिष्ठने उन्हें विधिपूर्वक फल-मूलका उपहार अर्पित किया ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजां वसिष्ठाद् राजसत्तमः।
तपोऽग्निहोत्रशिष्येषु कुशलं पर्यपृच्छत ॥ ४ ॥
विश्वामित्रो महातेजा वनस्पतिगणे तदा।
सर्वत्र कुशलं प्राह वसिष्ठो राजसत्तमम् ॥ ५ ॥

'वसिष्ठजीसे वह आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करके राजशिरोमणि महातेजस्वी विश्वामित्रने उनके तप, अग्निहोत्र, शिष्यवर्ग और लता-वृक्ष आदिका कुशल-समाचार पूछा। फिर वसिष्ठजीने उन नृपश्रेष्ठसे सबके सकुशल होनेकी बात बतायी ॥४-५॥

सुखोपविष्टं राजानं विश्वामित्रं महातपाः।
पप्रच्छ जपतां श्रेष्ठो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ॥ ६ ॥

'फिर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मकुमार महातपस्वी वसिष्ठने वहाँ सुखपूर्वक बैठे हुए राजा विश्वामित्रसे इस प्रकार पूछा— ॥ ६ ॥

कच्चित्ते कुशलं राजन् कच्चिद् धर्मेण रञ्जयन्।
प्रजाः पालयसे राजन् राजवृत्तेन धार्मिक ॥ ७ ॥

''राजन्! तुम सकुशल तो हो न? धर्मात्मा नरेश! क्या तुम धर्मपूर्वक प्रजाको प्रसन्न रखते हुए राजोचित रीति-नीतिसे प्रजावर्गका-पालन करते हो? ॥ ७ ॥

कच्चित्ते सम्भृता भृत्याः कच्चित् तिष्ठन्ति शासने।

कच्चित्ते विजिताः सर्वे रिपवो रिपुसूदन ॥ ८ ॥

''शत्रुसूदन ! क्या तुमने अपने भृत्योंका अच्छी तरह भरण-पोषण किया है ? क्या वे तुम्हारी आज्ञाके अधीन रहते हैं ? क्या तुमने समस्त शत्रुओंपर विजय पा ली है ? ॥ ८ ॥

कच्चिद् बलेषु कोशेषु मित्रेषु च परंतप ।
कुशलं ते नरव्याघ्र पुत्रपौत्रे तथानघ ॥ ९ ॥

''शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह निष्पाप नरेश ! क्या तुम्हारी सेना, कोश, मित्रवर्ग तथा पुत्र-पौत्र आदि सब सकुशल हैं ?' ॥ ९ ॥

सर्वत्र कुशलं राजा वसिष्ठं प्रत्युदाहरत् ।
विश्वामित्रो महातेजा वसिष्ठं विनयान्वितम् ॥ १० ॥

'तब महातेजस्वी राजा विश्वामित्रने विनयशील महर्षि वसिष्ठको उत्तर दिया—'हाँ भगवन् ! मेरे यहाँ सर्वत्र कुशल है ?' ॥ १० ॥

कृत्वा तौ सुचिरं कालं धर्मिष्ठौ ताः कथास्तदा ।
मुदा परमया युक्तौ प्रीयेतां तौ परस्परम् ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वे दोनों धर्मात्मा पुरुष बड़ी प्रसन्नताके साथ बहुत देरतक परस्पर वार्तालाप करते रहे । उस समय एक-का दूसरेके साथ बड़ा प्रेम हो गया ॥ ११ ॥

ततो वसिष्ठो भगवान् कथान्ते रघुनन्दन ।
विश्वामित्रमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव ॥ १२ ॥

'रघुनन्दन ! बातचीत करनेके पश्चात् भगवान् वसिष्ठने विश्वामित्रसे हँसते हुए-से इस प्रकार कहा— ॥ १२ ॥

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि बलस्यास्य महाबल ।
तव चैवाप्रमेयस्य यथार्हं सम्प्रतीच्छ मे ॥ १३ ॥

''महाबली नरेश ! तुम्हारा प्रभाव असीम है । मैं तुम्हारा और तुम्हारी इस सेनाका यथायोग्य आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ । तुम मेरे इस अनुरोधको स्वीकार करो ॥ १३ ॥

सत्क्रियां हि भवानेतां प्रतीच्छतु मया कृताम् ।
राजंस्त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः प्रयत्नतः ॥ १४ ॥

''राजन् ! तुम अतिथियोंमें श्रेष्ठ हो, इसलिये यत्नपूर्वक तुम्हारा सत्कार करना मेरा कर्तव्य है । अतः मेरे द्वारा किये गये इस सत्कारको तुम ग्रहण करो' ॥ १४ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महामतिः ।
कृतमित्यब्रवीद् राजा पूजावाक्येन मे त्वया ॥ १५ ॥

'वसिष्ठके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् राजा विश्वामित्रने कहा—'मुने ! आपके सत्कारपूर्ण वचनोंसे ही मेरा पूर्ण सत्कार हो गया ॥ १५ ॥

फलमूलेन भगवन् विद्यते यत् तवाश्रमे ।
पाद्येनाचमनीयेन भगवद्दर्शनेन च ॥ १६ ॥

''भगवन् ! आपके आश्रमपर जो विद्यमान हैं, उन फल-मूल, पाद्य और आचमनीय आदि वस्तुओंसे मेरा भलीभाँति आदर-सत्कार हुआ है ! सबसे बढ़कर जो आपका दर्शन हुआ, इसीसे मेरी पूजा हो गयी ॥ १६ ॥

सर्वथा च महाप्राज्ञ पूजार्हेण सुपूजितः ।
नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ १७ ॥

''महाज्ञानी महर्षे ! आप सर्वथा मेरे पूजनीय हैं तो भी आपने मेरा भलीभाँति पूजन किया । आपको नमस्कार है । अब मैं यहाँसे जाऊँगा । आप मैत्रीपूर्ण दृष्टिसे मेरी ओर देखिये' ॥ १७ ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं वसिष्ठः पुनरेव हि ।
न्यमन्त्रयत धर्मात्मा पुनः पुनरुदारधीः ॥ १८ ॥

'ऐसा कहते हुए राजा विश्वामित्रसे उदारचेता धर्मात्मा वसिष्ठने निमन्त्रण स्वीकार करनेके लिये बारंबार आग्रह किया ॥ १८ ॥

बाढमित्येव गाधेयो वसिष्ठं प्रत्युवाच ह ।
यथाप्रियं भगवतस्तथास्तु मुनिपुङ्गव ॥ १९ ॥

'तब गाधिनन्दन विश्वामित्रने उन्हें उत्तर देते हुए कहा—'बहुत अच्छा । मुझे आपकी आज्ञा स्वीकार है । मुनिप्रवर ! आप मेरे पूज्य हैं । आपकी जैसी रुचि हो—आपको जो प्रिय लगे, वही हो' ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तथा तेन वसिष्ठो जपतां वरः ।
आजुहाव ततः प्रीतः कल्माषीं धूतकल्मषाम् ॥ २० ॥

'राजाके ऐसा कहनेपर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठ बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने अपनी उस चितकबरी होम-धेनुको बुलाया, जिसके पाप (अथवा मैल) धुल गये थे (वह कामधेनु थी) ॥ २० ॥

एह्येहि शबले क्षिप्रं शृणु चापि वचो मम ।
सबलस्यास्य राजर्षेः कर्तुं व्यवसितोऽस्म्यहम् ।
भोजनेन महार्हेण सत्कारं संविधत्स्व मे ॥ २१ ॥

'(उसे बुलाकर ऋषिने कहा—) 'शबले ! शीघ्र आओ, आओ और मेरी यह बात सुनो—मैंने सेनासहित इन राजर्षिका महाराजाओंके योग्य उत्तम भोजन आदिके द्वारा आतिथ्य-सत्कार करनेका निश्चय किया है । तुम मेरे इस मनोरथको सफल करो ॥ २१ ॥

यस्य यस्य यथाकामं षड्रसेष्वभिपूजितम् ।
तत् सर्वं कामधुग् दिव्ये अभिवर्ष कृते मम ॥ २२ ॥

''षड्रस भोजनोंमेंसे जिसको जो-जो पसंद हो, उसके लिये वह सब प्रस्तुत कर दो । दिव्य कामधेनो ! आज मेरे कहनेसे इन अतिथियोंके लिये अभीष्ट वस्तुओंकी वर्षा करो ॥ २२ ॥

रसेनान्नेन पानेन लेह्यचोष्येण संयुतम् ।
अन्नानां निचयं सर्वं सृजस्व शबले त्वर ॥ २३ ॥

'शबले ! सरस पदार्थ, अन्न, पान, लेह्य (चटनी आदि) और चोष्य (चूसनेकी वस्तु) से युक्त भाँति-भाँतिके अन्नोंकी ढेरी लगा दो । सभी आवश्यक वस्तुओंकी सृष्टि कर दो । शीघ्रता करो—विलम्ब न होने पावे' ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

कामधेनुकी सहायतासे उत्तम अन्न-पानद्वारा सेनासहित तृप्त हुए विश्वामित्रका वसिष्ठसे उनकी कामधेनुको माँगना और उनका देनेसे अस्वीकार करना

एवमुक्ता वसिष्ठेन शबला शत्रुसूदन।
विदधे कामधुक् कामान् यस्य यस्येप्सितं यथा ॥ १ ॥

'शत्रुसूदन ! महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर चितकबरे रंगकी उस कामधेनुने जिसकी जैसी इच्छा थी, उसके लिये वैसी ही सामग्री जुटा दी ॥ १ ॥

इक्षून् मधूंस्तथा लाजान् मैरेयांश्च वरासवान्।
पानानि च महार्हाणि भक्ष्यांश्चोच्चावचानपि ॥ २ ॥

'ईख, मधु, लावा, मैरेय, श्रेष्ठ आसव, पानक रस आदि नाना प्रकारके बहुमूल्य भक्ष्य-पदार्थ प्रस्तुत कर दिये ॥

उष्णाढ्यस्यौदनस्यात्र राशयः पर्वतोपमाः।
मृष्टान्यन्नानि सूपांश्च दधिकुल्यास्तथैव च ॥ ३ ॥

'गरम-गरम भातके पर्वतके सदृश ढेर लग गये । मिष्टान्न (खीर) और दाल भी तैयार हो गयी । दूध, दही और घीकी तो नहरें बह चलीं ॥ ३ ॥

नानास्वादुरसानां च खाण्डवानां तथैव च।
भोजनानि सुपूर्णानि गौडानि च सहस्रशः ॥ ४ ॥

भाँति-भाँतिके सुस्वादु रस, खाण्डव तथा नाना प्रकारके भोजनोंसे भरी हुई चाँदीकी सहस्रों थालियाँ सज गयीं ॥ ४ ॥

सर्वमासीत् सुसंतुष्टं हृष्टपुष्टजनायुतम्।
विश्वामित्रबलं राम वसिष्ठेन सुतर्पितम् ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! महर्षि वसिष्ठने विश्वामित्रजीकी सारी सेनाके लोगोंको भलीभाँति तृप्त किया । उस सेनामें बहुत-से हृष्ट-पुष्ट सैनिक थे । उन सबको वह दिव्य भोजन पाकर बड़ा संतोष हुआ ॥

विश्वामित्रो हि राजर्षिर्हृष्टपुष्टस्तदाभवत्।
सान्तःपुरवरो राजा सब्राह्मणपुरोहितः ॥ ६ ॥

'राजर्षि विश्वामित्र भी उस समय अन्तःपुरकी रानियों, ब्राह्मणों और पुरोहितोंके साथ बहुत ही हृष्ट-पुष्ट हो गये ॥६॥

सामात्यो मन्त्रिसहितः सभृत्यः पूजितस्तदा।
युक्तः परमहर्षेण वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

'अमात्य, मन्त्री और भृत्योंसहित पूजित हो वे बहुत प्रसन्न हुए और वसिष्ठजीसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

पूजितोऽहं त्वया ब्रह्मन् पूजार्हेण सुसत्कृतः।
श्रूयतामभिधास्यामि वाक्यं वाक्यविशारद ॥ ८ ॥

"ब्रह्मन् ! आप स्वयं मेरे पूजनीय हैं तो भी आपने मेरा पूजन किया, भलीभाँति स्वागत-सत्कार किया । बात-चीत करनेमें कुशल महर्षे ! अब मैं एक बात कहता हूँ, उसे सुनिये ॥८॥

गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम।
रत्नं हि भगवन्नेतद् रत्नहारी च पार्थिवः ॥ ९ ॥
तस्मान्मे शबलां देहि ममैषा धर्मतो द्विज।

"भगवन् ! आप मुझसे एक लाख गौएँ लेकर यह चितकबरी गाय मुझे दे दीजिये; क्योंकि यह गौ रत्नरूप है और रत्न लेनेका अधिकारी राजा होता है । ब्रह्मन् ! मेरे इस कथनपर ध्यान देकर मुझे यह शबला गौ दे दीजिये; क्योंकि यह धर्मतः मेरी ही वस्तु है' ॥ ९½ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः ॥ १० ॥
विश्वामित्रेण धर्मात्मा प्रत्युवाच महीपतिम्।

'विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा मुनिवर भगवान् वसिष्ठ राजाको उत्तर देते हुए बोले—॥ १०½ ॥

नाहं शतसहस्रेण नापि कोटिशतैर्गवाम् ॥ ११ ॥
राजन् दास्यामि शबलां राशिभी रजतस्य वा।
न परित्यागमर्हेयं मत्सकाशादरिंदम ॥ १२ ॥

"शत्रुओंका दमन करनेवाले नरेश्वर ! मैं एक लाख या सौ करोड़ अथवा चाँदीके ढेर लेकर भी बदलेमें इस शबला गौको नहीं दूँगा । यह मेरे पाससे अलग होने योग्य नहीं है ॥

शाश्वती शबला मह्यं कीर्तिरात्मवतो यथा।
अस्यां हव्यं च कव्यं च प्राणयात्रा तथैव च ॥ १३ ॥

"जैसे मनस्वी पुरुषकी अक्षय कीर्ति कभी उससे अलग नहीं रह सकती, उसी प्रकार यह सदा मेरे साथ सम्बन्ध रखनेवाली शबला गौ मुझसे पृथक् नहीं रह सकती । मेरा हव्य-कव्य और जीवन-निर्वाह इसीपर निर्भर है ॥ १३ ॥

आयत्तमग्निहोत्रं च बलिर्होमस्तथैव च।
स्वाहाकारवषट्कारौ विद्याश्च विविधास्तथा ॥ १४ ॥

"मेरे अग्निहोत्र, बलि, होम, स्वाहा, वषट्कार और भाँति-भाँतिकी विद्याएँ इस कामधेनुके ही अधीन हैं ॥ १४ ॥

आयत्तमत्र राजर्षे सर्वमेतन्न संशयः।
सर्वस्वमेतत् सत्येन मम तुष्टिकरी तथा ॥ १५ ॥
कारणैर्बहुभी राजन् न दास्ये शबलां तव।

"राजर्षे ! मेरा यह सब कुछ इस गौके ही अधीन है, इसमें संशय नहीं है। मैं सच कहता हूँ—यह गौ ही मेरा सर्वस्व है और यही मुझे सब प्रकारसे संतुष्ट करनेवाली है। राजन् ! बहुत-से ऐसे कारण हैं, जिनसे बाध्य होकर मैं यह शबला गौ आपको नहीं दे सकता" ॥ १५½ ॥

वसिष्ठेनैवमुक्तस्तु विश्वामित्रोऽब्रवीत् तदा ॥ १६ ॥
संरब्धतरमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः।

'वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर बोलनेमें कुशल विश्वामित्र अत्यन्त क्रोधपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १६½ ॥

हैरण्यकक्ष्याग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान् ॥ १७ ॥
ददामि कुञ्जराणां ते सहस्राणि चतुर्दश।

"मुने ! मैं आपको चौदह हजार ऐसे हाथी दे रहा हूँ, जिनके कसनेवाले रस्से, गलेके आभूषण और अङ्कुश भी सोनेके बने होंगे और उन सबसे वे हाथी विभूषित होंगे ॥

हैरण्यानां रथानां च श्वेताश्वानां चतुर्युजाम् ॥ १८ ॥
ददामि ते शतान्यष्टौ किंकिणीकविभूषितान्।
हयानां देशजातानां कुलजानां महौजसाम्।
सहस्रमेकं दश च ददामि तव सुव्रत ॥ १९ ॥
नानावर्णविभक्तानां वयःस्थानां तथैव च।
ददाम्येकां गवां कोटिं शबला दीयतां मम ॥ २० ॥

"उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर ! इनके सिवा मैं आठ सौ सुवर्णमय रथ प्रदान करूँगा; जिनमें शोभाके लिये सोनेके घुँघुरू लगे होंगे और हर एक रथमें चार-चार सफेद रंगके घोड़े जुते हुए होंगे तथा अच्छी जाति और उत्तम देशमें उत्पन्न महातेजस्वी ग्यारह हजार घोड़े भी आपकी सेवामें अर्पित करूँगा। इतना ही नहीं, नाना प्रकारके रंगवाली नयी अवस्थाकी एक करोड़ गौएँ भी दूँगा, परंतु यह शबला गौ मुझे दे दीजिये ॥ १८—२० ॥

यावदिच्छसि रत्नानि हिरण्यं वा द्विजोत्तम।
तावद् ददामि ते सर्वं दीयतां शबला मम ॥ २१ ॥

"द्विजश्रेष्ठ ! इनके अतिरिक्त भी आप जितने रत्न या सुवर्ण लेना चाहें, वह सब आपको देनेके लिये मैं तैयार हूँ; किंतु यह चितकबरी गाय मुझे दे दीजिये ॥ २१ ॥

एवमुक्तस्तु भगवान् विश्वामित्रेण धीमता।
न दास्यामीति शबलां प्राह राजन् कथंचन ॥ २२ ॥

'बुद्धिमान् विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर भगवान् वसिष्ठ बोले—राजन् ! मैं यह चितकबरी गाय तुम्हें किसी तरह भी नहीं दूँगा ॥ २२ ॥

एतदेव हि मे रत्नमेतदेव हि मे धनम्।
एतदेव हि सर्वस्वमेतदेव हि जीवितम् ॥ २३ ॥

यही मेरा रत्न है, यही मेरा धन है, यही मेरा सर्वस्व है और यही मेरा जीवन है ॥ २३ ॥

दर्शश्च पौर्णमासश्च यज्ञाश्चैवाप्तदक्षिणाः।
एतदेव हि मे राजन् विविधाश्च क्रियास्तथा ॥ २४ ॥

"राजन् ! मेरे दर्श, पौर्णमास, प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञ तथा भाँति-भाँतिके पुण्यकर्म—यह गौ ही है। इसीपर ही मेरा सब कुछ निर्भर है ॥ २४ ॥

अतोमूलाः क्रियाः सर्वा मम राजन् न संशयः।
बहुना किं प्रलापेन न दास्ये कामदोहिनीम् ॥ २५ ॥

"नरेश्वर ! मेरे सारे शुभ कर्मोंका मूल यही है, इसमें संशय नहीं है। बहुत व्यर्थ बात करनेसे क्या लाभ। मैं इस कामधेनुको कदापि नहीं दूँगा" ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रका वसिष्ठजीकी गौको बलपूर्वक ले जाना, गौका दुखी होकर वसिष्ठजीसे इसका कारण पूछना और उनकी आज्ञासे शक, यवन, पह्लव आदि वीरोंकी सृष्टि करके उनके द्वारा विश्वामित्रजीकी सेनाका संहार करना

कामधेनुं वसिष्ठोऽपि यदा न त्यजते मुनिः।
तदास्य शबलां राम विश्वामित्रोऽन्वकर्षत ॥ १ ॥

'श्रीराम ! जब वसिष्ठ मुनि किसी तरह भी उस कामधेनु गौको देनेके लिये तैयार न हुए, तब राजा विश्वामित्र उस चितकबरे रंगकी धेनुको बलपूर्वक घसीट ले चले ॥ १ ॥

नीयमाना तु शबला राम राज्ञा महात्मना।
दुःखिता चिन्तयामास रुदन्ती शोककर्शिता ॥ २ ॥

'रघुनन्दन ! महामनस्वी राजा विश्वामित्रके द्वारा इस

प्रकार ले जायी जाती हुई वह गौ शोकाकुल हो मन-ही-मन रो पड़ी और अत्यन्त दुःखित हो विचार करने लगी—॥ २ ॥

परित्यक्ता वसिष्ठेन किमहं सुमहात्मना।
याहं राजभृतैर्दीना ह्रियेय भृशदुःखिता ॥ ३ ॥

"अहो! क्या महात्मा वसिष्ठने मुझे त्याग दिया है, जो ये राजाके सिपाही मुझ दीन और अत्यन्त दुखिया गौको इस तरह बलपूर्वक लिये जा रहे हैं?॥ ३ ॥

किं मयापकृतं तस्य महर्षेर्भावितात्मनः।
यन्मामनागसं दृष्ट्वा भक्तां त्यजति धार्मिकः ॥ ४ ॥

"पवित्र अन्तःकरणवाले उन महर्षिका मैंने क्या अपराध किया है कि वे धर्मात्मा मुनि मुझे निरपराध और अपना भक्त जानकर भी त्याग रहे हैं?' ॥ ४ ॥

इति संचिन्तयित्वा तु निःश्वस्य च पुनः पुनः।
जगाम वेगेन तदा वसिष्ठं परमौजसम् ॥ ५ ॥
निर्धूय तांस्तदा भृत्याञ्शतशः शत्रुसूदन।

'शत्रुसूदन! यह सोचकर वह गौ बारंबार लंबी साँस लेने लगी और राजाके उन सैकड़ों सेवकोंको झटककर उस समय महातेजस्वी वसिष्ठ मुनिके पास बड़े वेगसे जा पहुँची ॥ ५½ ॥

जगामानिलवेगेन पादमूलं महात्मनः ॥ ६ ॥
शबला सा रुदन्ती च क्रोशन्ती चेदमब्रवीत्।
वसिष्ठस्याग्रतः स्थित्वा रुदन्ती मेघनिःस्वना ॥ ७ ॥

'वह शबला गौ वायुके समान वेगसे उन महात्माके चरणोंके समीप गयी और उनके सामने खड़ी हो मेघके समान गम्भीर स्वरसे रोती-चीत्कार करती हुई उनसे इस प्रकार बोली—॥ ६-७ ॥

भगवन् किं परित्यक्ता त्वयाहं ब्रह्मणः सुत।
यस्माद् राजभटा मां हि नयन्ते त्वत्सकाशतः ॥ ८ ॥

"भगवन्! ब्रह्मकुमार! क्या आपने मुझे त्याग दिया, जो ये राजाके सैनिक मुझे आपके पाससे दूर लिये जा रहे हैं?' ॥ ८ ॥

एवमुक्तस्तु ब्रह्मर्षिरिदं वचनमब्रवीत्।
शोकसंतप्तहृदयां स्वसारमिव दुःखिताम् ॥ ९ ॥

"उसके ऐसा कहनेपर ब्रह्मर्षि वसिष्ठ शोकसे संतप्त हृदयवाली दुखिया बहिनके समान उस गौसे इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

न त्वां त्यजामि शबले नापि मेऽपकृतं त्वया।
एष त्वां नयते राजा बलान्मत्तो महाबलः ॥ १० ॥

"शबले! मैं तुम्हारा त्याग नहीं करता। तुमने मेरा कोई अपराध नहीं किया है। ये महाबली राजा अपने बलसे मतवाले होकर तुमको मुझसे छीनकर ले जा रहे हैं ॥ १० ॥

नहि तुल्यं बलं मह्यं राजा त्वद्य विशेषतः।
बली राजा क्षत्रियश्च पृथिव्याः पतिरेव च ॥ ११ ॥

"मेरा बल इनके समान नहीं है। विशेषतः आजकल ये राजाके पदपर प्रतिष्ठित हैं। राजा, क्षत्रिय तथा इस पृथ्वीके पालक होनेके कारण ये बलवान् हैं ॥ ११ ॥

इयमक्षौहिणी पूर्णा गजवाजिरथाकुला।
हस्तिध्वजसमाकीर्णा तेनासौ बलवत्तरः ॥ १२ ॥

"इनके पास हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई यह अक्षौहिणी सेना है, जिसमें हाथियोंके हौदोंपर लगे हुए ध्वज सब ओर फहरा रहे हैं। इस सेनाके कारण भी ये मुझसे प्रबल हैं' ॥ १२ ॥

एवमुक्ता वसिष्ठेन प्रत्युवाच विनीतवत्।
वचनं वचनज्ञा सा ब्रह्मर्षिमतुलप्रभम् ॥ १३ ॥

'वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर बातचीतके मर्मको समझनेवाली उस कामधेनुने उन अनुपम तेजस्वी ब्रह्मर्षिसे यह विनययुक्त बात कही—॥ १३ ॥

न बलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणा बलवत्तराः।
ब्रह्मन् ब्रह्मबलं दिव्यं क्षात्राच्च बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

"ब्रह्मन्! क्षत्रियका बल कोई बल नहीं है। ब्राह्मण ही क्षत्रिय आदिसे अधिक बलवान् होते हैं। ब्राह्मणका बल दिव्य है। वह क्षत्रिय-बलसे अधिक प्रबल होता है ॥ १४ ॥

अप्रमेयं बलं तुभ्यं न त्वया बलवत्तरः।
विश्वामित्रो महावीर्यस्तेजस्तव दुरासदम् ॥ १५ ॥

"आपका बल अप्रमेय है। महापराक्रमी विश्वामित्र आपसे अधिक बलवान् नहीं हैं। आपका तेज दुर्धर्ष है ॥ १५ ॥

नियुङ्क्ष्व मां महातेजस्त्वं ब्रह्मबलसम्भृताम्।
तस्य दर्पं बलं यत्नं नाशयामि दुरात्मनः ॥ १६ ॥

महातेजस्वी महर्षे! मैं आपके ब्रह्मबलसे परिपुष्ट हुई हूँ। अतः आप केवल मुझे आज्ञा दे दीजिये। मैं इस दुरात्मा राजाके बल, प्रयत्न और अभिमानको अभी चूर्ण किये देती हूँ' ॥ १६ ॥

इत्युक्तस्तु तया राम वसिष्ठस्तु महायशाः।
सृजस्वेति तदोवाच बलं परबलार्दनम् ॥ १७ ॥

'श्रीराम! कामधेनुके ऐसा कहनेपर महायशस्वी वसिष्ठने कहा—'इस शत्रु-सेनाको नष्ट करनेवाले सैनिकोंकी सृष्टि करो' ॥ १७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सुरभिः सासृजत् तदा।
तस्या हुंभारवोत्सृष्टाः पह्लवाः शतशो नृप ॥ १८ ॥

'राजकुमार! उनका वह आदेश सुनकर उस गौने उस

समय वैसा ही किया। उसके हुंकार करते ही सैकड़ों पह्लव जातिके वीर पैदा हो गये ॥ १८ ॥

नाशयन्ति बलं सर्वं विश्वामित्रस्य पश्यतः।
स राजा परमक्रुद्धः क्रोधविस्फारितेक्षणः ॥ १९ ॥

'वे सब विश्वामित्रके देखते-देखते उनकी सारी सेनाका नाश करने लगे। इससे राजा विश्वामित्रको बड़ा क्रोध हुआ। वे रोषसे आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे ॥ १९ ॥

पह्लवान् नाशयामास शस्त्रैरुच्चावचैरपि।
विश्वामित्रार्दितान् दृष्ट्वा पह्लवाञ्शतशस्तदा ॥ २० ॥
भूय एवासृजद् घोराञ्छकान् यवनमिश्रितान्।
तैरासीत् संवृता भूमिः शकैर्यवनमिश्रितैः ॥ २१ ॥

'उन्होंने छोटे-बड़े कई तरहके अस्त्रोंका प्रयोग करके उन पह्लवोंका संहार कर डाला। विश्वामित्रद्वारा उन सैकड़ों पह्लवोंको पीड़ित एवं नष्ट हुआ देख उस समय उस शबला गौने पुनः यवनमिश्रित शक जातिके भयंकर वीरोंको उत्पन्न किया। उन यवनमिश्रित शकोंसे वहाँकी सारी पृथ्वी भर गयी ॥ २०-२१ ॥

प्रभावद्भिर्महावीर्यैर्हेमकिंजल्कसंनिभैः।
तीक्ष्णासिपट्टिशधरैर्हेमवर्णाम्बरावृतैः ॥ २२ ॥
निर्दग्धं तद्बलं सर्वं प्रदीप्तैरिव पावकैः।
ततोऽस्त्राणि महातेजा विश्वामित्रो मुमोच ह।
तैस्ते यवनकाम्बोजा बर्बराश्चाकुलीकृताः ॥ २३ ॥

'वे वीर महापराक्रमी और तेजस्वी थे। उनके शरीरकी कान्ति सुवर्ण तथा केसरके समान थी। वे सुनहरे वस्त्रोंसे अपने शरीरको ढँके हुए थे। उन्होंने हाथोंमें तीखे खड्ग और पट्टिश ले रक्खे थे। प्रज्वलित अग्निके समान उद्भासित होनेवाले उन वीरोंने विश्वामित्रकी सारी सेनाको भस्म करना आरम्भ किया। तब महातेजस्वी विश्वामित्रने उनपर बहुत-से अस्त्र छोड़े। उन अस्त्रोंकी चोट खाकर वे यवन, काम्बोज और बर्बर जातिके योद्धा व्याकुल हो उठे' ॥ २२-२३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

अपने सौ पुत्रों और सारी सेनाके नष्ट हो जानेपर विश्वामित्रका तपस्या करके महादेवजीसे दिव्यास्त्र पाना तथा उनका वसिष्ठके आश्रमपर प्रयोग करना एवं वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड लेकर उनके सामने खड़ा होना

ततस्तानाकुलान् दृष्ट्वा विश्वामित्रास्त्रमोहितान्।
वसिष्ठश्चोदयामास कामधुक् सृज योगतः ॥ १ ॥

'विश्वामित्रके अस्त्रोंसे घायल होकर उन्हें व्याकुल हुआ देख वसिष्ठजीने फिर आज्ञा दी—'कामधेनो! अब योगबलसे दूसरे सैनिकोंकी सृष्टि करो' ॥ १ ॥

तस्या हुंकारतो जाताः काम्बोजा रविसंनिभाः।
ऊधसश्चाथ सम्भूता बर्बराः शस्त्रपाणयः ॥ २ ॥

'तब उस गौने फिर हुंकार किया। उसके हुंकारसे सूर्यके समान तेजस्वी काम्बोज उत्पन्न हुए। थनसे शस्त्रधारी बर्बर प्रकट हुए ॥ २ ॥

योनिदेशाच्च यवनाः शकृद्देशाच्छकाः स्मृताः।
रोमकूपेषु म्लेच्छाश्च हारीताः सकिरातकाः ॥ ३ ॥

'योनिदेशसे यवन और शकृद्देश (गोबरके स्थान) से शक उत्पन्न हुए। रोमकूपोंसे म्लेच्छ, हारीत और किरात प्रकट हुए ॥ ३ ॥

तैस्तन्निषूदितं सर्वं विश्वामित्रस्य तत्क्षणात्।
सपदातिगजं साश्वं सरथं रघुनन्दन ॥ ४ ॥

'रघुनन्दन! उन सब वीरोंने पैदल, हाथी, घोड़े और रथसहित विश्वामित्रकी सारी सेनाका तत्काल संहार कर डाला ॥ ४ ॥

दृष्ट्वा निषूदितं सैन्यं वसिष्ठेन महात्मना।
विश्वामित्रसुतानां तु शतं नानाविधायुधम् ॥ ५ ॥
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धं वसिष्ठं जपतां वरम्।
हुंकारेणैव तान् सर्वान् निर्ददाह महानृषिः ॥ ६ ॥

'महात्मा वसिष्ठद्वारा अपनी सेनाका संहार हुआ देख विश्वामित्रके सौ पुत्र अत्यन्त क्रोधमें भर गये और नाना

प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठमुनि-पर टूट पड़े। तब उन महर्षिने हुंकारमात्रसे उन सबको जलाकर भस्म कर डाला ॥ ५-६ ॥

ते साश्वरथपादाता वसिष्ठेन महात्मना।
भस्मीकृता मुहूर्तेन विश्वामित्रसुतास्तथा ॥ ७ ॥

'महात्मा वसिष्ठद्वारा विश्वामित्रके वे सभी पुत्र दो ही घड़ीमें घोड़े, रथ और पैदल सैनिकोंसहित जलाकर भस्म कर डाले गये ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा विनाशितान् सर्वान् बलं च सुमहायशा।
सव्रीडं चिन्तयाविष्टो विश्वामित्रोऽभवत् तदा ॥ ८ ॥

'अपने समस्त पुत्रों तथा सारी सेनाका विनाश हुआ देख महायशस्वी विश्वामित्र लज्जित हो बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥८॥

समुद्र इव निर्वेगो भग्नदंष्ट्र इवोरगः।
उपरक्त इवादित्यः सद्यो निष्प्रभतां गतः ॥ ९ ॥

'समुद्रके समान उनका सारा वेग शान्त हो गया। जिसके दाँत तोड़ लिये गये हों उस सर्पके समान तथा राहुग्रस्त सूर्यकी भाँति वे तत्काल ही निस्तेज हो गये ॥ ९ ॥

हतपुत्रबलो दीनो लूनपक्ष इव द्विजः।
हतसर्वबलोत्साहो निर्वेदं समपद्यत ॥ १० ॥

'पुत्र और सेना दोनोंके मारे जानेसे वे पंख कटे हुए पक्षीके समान दीन हो गये। उनका सारा बल और उत्साह नष्ट हो गया। वे मन-ही-मन बहुत खिन्न हो उठे ॥ १० ॥

स पुत्रमेकं राज्याय पालयेति नियुज्य च।
पृथिवीं क्षत्रधर्मेण वनमेवाभ्यपद्यत ॥ ११ ॥

'उनके एक ही पुत्र बचा था, उसको उन्होंने राजाके पदपर अभिषिक्त करके राज्यकी रक्षाके लिये नियुक्त कर दिया और क्षत्रिय-धर्मके अनुसार पृथ्वीके पालनकी आज्ञा देकर वे वनमें चले गये ॥ ११ ॥

स गत्वा हिमवत्पार्श्वे किंनरोरगसेवितम्।
महादेवप्रसादार्थं तपस्तेपे महातपाः ॥ १२ ॥

'हिमालयके पार्श्वभागमें, जो किन्नरों और नागोंसे सेवित प्रदेश है, वहाँ जाकर महादेवजीकी प्रसन्नताके लिये महान् तपस्याका आश्रय ले वे तपमें ही संलग्न हो गये ॥ १२ ॥

केनचित् त्वथ कालेन देवेशो वृषभध्वजः।
दर्शयामास वरदो विश्वामित्रं महामुनिम् ॥ १३ ॥

'कुछ कालके पश्चात् वरदायक देवेश्वर भगवान् वृषभ-ध्वज (शिव) ने महामुनि विश्वामित्रको दर्शन दिया और कहा—॥ १३ ॥

किमर्थं तप्यसे राजन् ब्रूहि यत् ते विवक्षितम्।
वरदोऽस्मि वरो यस्ते काङ्क्षितः सोऽभिधीयताम् ॥ १४ ॥

"राजन्! किसलिये तप करते हो? बताओ क्या कहना चाहते हो? मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ। तुम्हें जो वर पाना अभीष्ट हो, उसे कहो' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु देवेन विश्वामित्रो महातपाः।
प्रणिपत्य महादेवं विश्वामित्रोऽब्रवीदिदम् ॥ १५ ॥

'महादेवजीके ऐसा कहनेपर महातपस्वी विश्वामित्रने उन्हें प्रणाम करके इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

यदि तुष्टो महादेव धनुर्वेदो ममानघ।
साङ्गोपाङ्गोपनिषदः सरहस्यः प्रदीयताम् ॥ १६ ॥

"निष्पाप महादेव! यदि आप संतुष्ट हों तो अङ्ग, उपाङ्ग, उपनिषद् और रहस्योंसहित धनुर्वेद मुझे प्रदान कीजिये ॥ १६ ॥

यानि देवेषु चास्त्राणि दानवेषु महर्षिषु।
गन्धर्वयक्षरक्षःसु प्रतिभान्तु ममानघ ॥ १७ ॥
तव प्रसादाद् भवतु देवदेव ममेप्सितम्।

"अनघ! देवताओं, दानवों, महर्षियों, गन्धर्वों, यक्षों तथा राक्षसोंके पास जो-जो अस्त्र हों, वे सब आपकी कृपासे मेरे हृदयमें स्फुरित हो जायँ। देवदेव! यही मेरा मनोरथ है, जो मुझे प्राप्त होना चाहिये' ॥ १७½ ॥

एवमस्त्विति देवेशो वाक्यमुक्त्वा गतस्तदा ॥ १८ ॥
प्राप्य चास्त्राणि देवेशाद् विश्वामित्रो महाबलः।
दर्पेण महता युक्तो दर्पपूर्णोऽभवत् तदा ॥ १९ ॥

'तब 'एवमस्तु' कहकर देवेश्वर भगवान् शङ्कर वहाँसे चले गये। देवेश्वर महादेवसे वे अस्त्र पाकर महाबली विश्वामित्र-को बड़ा घमंड हो गया। वे अभिमानमें भर गये ॥१८-१९॥

विवर्धमानो वीर्येण समुद्र इव पर्वणि।
हतं मेने तदा राम वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २० ॥

'जैसे पूर्णिमाको समुद्र बढ़ने लगता है, उसी प्रकार वे

पराक्रमद्वारा अपनेको बहुत बढ़ा-चढ़ा मानने लगे। श्रीराम! उन्होंने मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको उस समय मरा हुआ ही समझा॥

ततो गत्वाऽऽश्रमपदं मुमोचास्त्राणि पार्थिवः।
यैस्तत् तपोवनं नाम निर्दग्धं चास्त्रतेजसा॥ २१॥

'फिर तो वे पृथ्वीपति विश्वामित्र वसिष्ठके आश्रमपर जाकर भाँति-भाँतिके अस्त्रोंका प्रयोग करने लगे। जिनके तेज-से वह सारा तपोवन दग्ध होने लगा॥ २१॥

उदीर्यमाणमस्त्रं तद् विश्वामित्रस्य धीमतः।
दृष्ट्वा विप्रद्रुता भीता मुनयः शतशो दिशः॥ २२॥

'बुद्धिमान् विश्वामित्रके उस बढ़ते हुए अस्त्र-तेजको देखकर वहाँ रहनेवाले सैकड़ों मुनि भयभीत हो सम्पूर्ण दिशाओंमें भाग चले॥ २२॥

वसिष्ठस्य च ये शिष्या ये च वै मृगपक्षिणः।
विद्रवन्ति भयाद् भीता नानादिग्भ्यः सहस्रशः॥ २३॥

'वसिष्ठजीके जो शिष्य थे, जो वहाँके पशु और पक्षी थे, वे सहस्रों प्राणी भयभीत हो नाना दिशाओंकी ओर भाग गये॥ २३॥

वसिष्ठस्याश्रमपदं शून्यमासीन्महात्मनः।
मुहूर्तमिव निःशब्दमासीदीरिणसंनिभम्॥ २४॥

'महात्मा वसिष्ठका वह आश्रम सूना हो गया। दो ही घड़ीमें ऊसर भूमिके समान उस स्थानपर सन्नाटा छा गया॥ २४॥

वदतो वै वसिष्ठस्य मा भैरिति मुहुर्मुहुः।
नाशयाम्यद्य गाधेयं नीहारमिव भास्करः॥ २५॥

'वसिष्ठजी बार-बार कहने लगे—'डरो मत, मैं अभी इस गाधिपुत्रको नष्ट किये देता हूँ। ठीक उसी तरह, जैसे सूर्य कुहासेको मिटा देता है'॥ २५॥

एवमुक्त्वा महातेजा वसिष्ठो जपतां वरः।
विश्वामित्रं तदा वाक्यं सरोषमिदमब्रवीत्॥ २६॥

'जपनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी वसिष्ठ ऐसा कहकर उस समय विश्वामित्रजीसे रोषपूर्वक बोले—॥ २६॥

आश्रमं चिरसंवृद्धं यद् विनाशितवानसि।
दुराचारो हि यन्मूढस्तस्मात् त्वं न भविष्यसि॥२७॥

''अरे! तूने चिरकालसे पाले-पोसे तथा हरे-भरे किये हुए इस आश्रमको नष्ट कर दिया—उजाड़ डाला, इसलिये तू दुराचारी और विवेकशून्य है और इस पापके कारण तू कुशलसे नहीं रह सकता'॥ २७॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धो दण्डमुद्यम्य सत्वरः।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्डमिवापरम्॥ २८॥

'ऐसा कहकर वे अत्यन्त क्रुद्ध हो धूमरहित कालाग्निके समान उद्दीप्त हो उठे और दूसरे यमदण्डके समान भयंकर डंडा हाथमें उठाकर तुरंत उनका सामना करनेके लिये तैयार हो गये'॥ २८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः॥ ५५॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ५५॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा वसिष्ठजीपर नाना प्रकारके दिव्यास्त्रोंका प्रयोग और वसिष्ठद्वारा ब्रह्मदण्डसे ही उनका शमन एवं विश्वामित्रका ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिके लिये तप करनेका निश्चय

एवमुक्तो वसिष्ठेन विश्वामित्रो महाबलः।
आग्नेयमस्त्रमुद्दिश्य तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत्॥ १॥

वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर महाबली विश्वामित्र आग्नेयास्त्र लेकर बोले—'अरे! खड़ा रह, खड़ा रह'॥ १॥

ब्रह्मदण्डं समुद्यम्य कालदण्डमिवापरम्।
वसिष्ठो भगवान् क्रोधादिदं वचनमब्रवीत्॥ २॥

उस समय द्वितीय कालदण्डके समान ब्रह्मदण्डको उठाकर भगवान् वसिष्ठने क्रोधपूर्वक इस प्रकार कहा—॥२॥

क्षत्रबन्धो स्थितोऽस्म्येष यद् बलं तद् विदर्शय ।
नाशयाम्यद्य ते दर्पं शस्त्रस्य तव गाधिज ॥ ३ ॥

'क्षत्रियाधम ! ले, यह मैं खड़ा हूँ । तेरे पास जो बल हो, उसे दिखा । गाधिपुत्र ! आज तेरे अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानका घमंड मैं अभी धूलमें मिला दूँगा ॥ ३ ॥

क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत् ।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन ॥ ४ ॥

'क्षत्रियकुलकलङ्क ! कहाँ तेरा क्षात्रबल और कहाँ महान् ब्रह्मबल । मेरे दिव्य ब्रह्मबलको देख ले' ॥ ४ ॥

तस्यास्त्रं गाधिपुत्रस्य घोरमाग्नेयमुत्तमम् ।
ब्रह्मदण्डेन तच्छान्तमग्नेर्वेग इवाम्भसा ॥ ५ ॥

गाधिपुत्र विश्वामित्रका वह उत्तम एवं भयंकर आग्नेयास्त्र वसिष्ठजीके ब्रह्मदण्डसे उसी प्रकार शान्त हो गया, जैसे पानी पड़नेसे जलती हुई आगका वेग ॥ ५ ॥

वारुणं चैव रौद्रं च ऐन्द्रं पाशुपतं तथा ।
ऐषीकं चापि चिक्षेप कुपितो गाधिनन्दनः ॥ ६ ॥

तब गाधिपुत्र विश्वामित्रने कुपित होकर वारुण, रौद्र, ऐन्द्र, पाशुपत और ऐषीक नामक अस्त्रोंका प्रयोग किया ॥ ६ ॥

मानवं मोहनं चैव गान्धर्वं स्वापनं तथा ।
जृम्भणं मादनं चैव संतापनविलापने ॥ ७ ॥
शोषणं दारणं चैव वज्रमस्त्रं सुदुर्जयम् ।
ब्रह्मपाशं कालपाशं वारुणं पाशमेव च ॥ ८ ॥
पिनाकमस्त्रं दयितं शुष्कार्द्रे अशनी तथा ।
दण्डास्त्रमथ पैशाचं क्रौञ्चमस्त्रं तथैव च ॥ ९ ॥
धर्मचक्रं कालचक्रं विष्णुचक्रं तथैव च ।
वायव्यं मथनं चैव अस्त्रं हयशिरस्तथा ॥ १० ॥
शक्तिद्वयं च चिक्षेप कङ्कालं मुसलं तथा ।
वैद्याधरं महास्त्रं च कालास्त्रमथ दारुणम् ॥ ११ ॥
त्रिशूलमस्त्रं घोरं च कापालमथ कङ्कणम् ।
एतान्यस्त्राणि चिक्षेप सर्वाणि रघुनन्दन ॥ १२ ॥

रघुनन्दन ! उसके पश्चात् क्रमशः मानव, मोहन, गान्धर्व, स्वापन, जृम्भण, मादन, संतापन, विलापन, शोषण, विदारण, सुदुर्जय वज्रास्त्र, ब्रह्मपाश, कालपाश, वारुणपाश, परमप्रिय पिनाकास्त्र, सूखी-गीली दो प्रकारकी अशनि, दण्डास्त्र, पैशाचास्त्र, क्रौञ्चास्त्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, वायव्यास्त्र, मन्थनास्त्र, हयशिरा, दो प्रकारकी शक्ति, कङ्काल, मुसल, महान् वैद्याधरास्त्र, दारुण कालास्त्र, भयंकर त्रिशूलास्त्र, कापालास्त्र और कङ्कणास्त्र—ये सभी अस्त्र उन्होंने वसिष्ठजीके ऊपर चलाये ॥ ७—१२ ॥

वसिष्ठे जपतां श्रेष्ठे तदद्भुतमिवाभवत् ।
तानि सर्वाणि दण्डेन ग्रसते ब्रह्मणः सुतः ॥ १३ ॥

जपनेवालोंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठपर इतने अस्त्रोंका प्रहार वह एक अद्भुत-सी घटना थी, परंतु ब्रह्माके पुत्र वसिष्ठजीने उन सभी अस्त्रोंको केवल अपने डंडेसे ही नष्ट कर दिया ॥ १३ ॥

तेषु शान्तेषु ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् गाधिनन्दनः ।
तदस्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा देवाः साग्निपुरोगमाः ॥ १४ ॥
देवर्षयश्च सम्भ्रान्ता गन्धर्वाः समहोरगाः ।
त्रैलोक्यमासीत् संत्रस्तं ब्रह्मास्त्रे समुदीरिते ॥ १५ ॥

उन सब अस्त्रोंके शान्त हो जानेपर गाधिनन्दन विश्वामित्रने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया । ब्रह्मास्त्रको उद्यत देख अग्नि आदि देवता, देवर्षि, गन्धर्व और बड़े-बड़े नाग भी दहल गये । ब्रह्मास्त्रके ऊपर उठते ही तीनों लोकोंके प्राणी थर्रा उठे ॥ १४-१५ ॥

तदप्यस्त्रं महाघोरं ब्राह्मं ब्राह्मेण तेजसा ।
वसिष्ठो ग्रसते सर्वं ब्रह्मदण्डेन राघव ॥ १६ ॥

'राघव ! वसिष्ठजीने अपने ब्रह्मतेजके प्रभावसे उस महाभयंकर ब्रह्मास्त्रको भी ब्रह्मदण्डके द्वारा ही शान्त कर दिया ॥ १६ ॥

ब्रह्मास्त्रं ग्रसमानस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
त्रैलोक्यमोहनं रौद्रं रूपमासीत् सुदारुणम् ॥ १७ ॥

उस ब्रह्मास्त्रको शान्त करते समय महात्मा वसिष्ठका वह रौद्ररूप तीनों लोकोंको मोहमें डालनेवाला और अत्यन्त भयंकर जान पड़ता था ॥ १७ ॥

रोमकूपेषु सर्वेषु वसिष्ठस्य महात्मनः ।
मरीच्य इव निष्पेतुरग्नेर्धूमाकुलार्चिषः ॥ १८ ॥

महात्मा वसिष्ठके समस्त रोमकूपोंमेंसे किरणोंकी भाँति धूमयुक्त आगकी लपटें निकलने लगीं ॥ १८ ॥

प्राज्वलद् ब्रह्मदण्डश्च वसिष्ठस्य करोद्यतः ।
विधूम इव कालाग्निर्यमदण्ड इवापरः ॥ १९ ॥

वसिष्ठजीके हाथमें उठा हुआ द्वितीय यमदण्डके समान वह ब्रह्मदण्ड धूमरहित कालाग्निके समान प्रज्वलित हो रहा था ॥ १९ ॥

ततोऽस्तुवन् मुनिगणा वसिष्ठं जपतां वरम् ।
अमोघं ते बलं ब्रह्मंस्तेजो धारय तेजसा ॥ २० ॥

उस समय समस्त मुनिगण मन्त्र जपनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिकी स्तुति करते हुए बोले—'ब्रह्मन् ! आपका बल अमोघ है । आप अपने तेजको अपनी ही शक्तिसे समेट लीजिये ॥ २० ॥

निगृहीतस्त्वया ब्रह्मन् विश्वामित्रो महाबलः ।
अमोघं ते बलं श्रेष्ठ लोकाः सन्तु गतव्यथाः ॥ २१ ॥

'महाबली विश्वामित्र आपसे पराजित हो गये । मुनिश्रेष्ठ ! आपका बल अमोघ है । अब आप शान्त हो जाइये, जिससे लोगोंकी व्यथा दूर हो' ॥ २१ ॥

एवमुक्तो महातेजाः शमं चक्रे महाबलः ।
विश्वामित्रो विनिकृतो विनिःश्वस्येदमब्रवीत् ॥ २२ ॥

महर्षियोंके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी महाबली वसिष्ठजी शान्त हो गये और पराजित विश्वामित्र लंबी साँस खींचकर यों बोले—॥ २२ ॥

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम् ।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे ॥ २३ ॥

'क्षत्रियके बलको धिक्कार है । ब्रह्मतेजसे प्राप्त होनेवाला बल ही वास्तवमें बल है; क्योंकि आज एक ब्रह्मदण्डने मेरे सभी अस्त्र नष्ट कर दिये ॥ २३ ॥

तदेतत् प्रसमीक्ष्याहं प्रसन्नेन्द्रियमानसः ।
तपो महत् समास्थास्ये यद् वै ब्रह्मत्वकारणम् ॥ २४ ॥

'इस घटनाको प्रत्यक्ष देखकर अब मैं अपने मन और इन्द्रियोंको निर्मल करके उस महान् तपका अनुष्ठान करूँगा, जो मेरे लिये ब्राह्मणत्वकी प्राप्तिका कारण होगा' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशः सर्गः

विश्वामित्रकी तपस्या, राजा त्रिशङ्कुका अपना यज्ञ करानेके लिये पहले वसिष्ठजीसे प्रार्थना करना और उनके इन्कार कर देनेपर उन्हींके पुत्रोंकी शरणमें जाना

ततः संतप्तहृदयः स्मरन्निग्रहमात्मनः ।
विनिःश्वस्य विनिःश्वस्य कृतवैरो महात्मना ॥ १ ॥
स दक्षिणां दिशं गत्वा महिष्या सह राघव ।
तताप परमं घोरं विश्वामित्रो महातपाः ॥ २ ॥

श्रीराम ! तदनन्तर विश्वामित्र अपनी पराजयको याद करके मन-ही-मन संतप्त होने लगे । महात्मा वसिष्ठके साथ वैर बाँधकर महातपस्वी विश्वामित्र बारंबार लंबी साँस खींचते हुए अपनी रानीके साथ दक्षिण दिशामें जाकर अत्यन्त उत्कृष्ट एवं भयंकर तपस्या करने लगे ॥ १-२ ॥

फलमूलाशनो दान्तश्चचार परमं तपः ।
अथास्य जज्ञिरे पुत्राः सत्यधर्मपरायणाः ॥ ३ ॥
हविष्पन्दो मधुष्पन्दो दृढनेत्रो महारथः ।

वहाँ मन और इन्द्रियोंको वशमें करके वे फल-मूलका आहार करते तथा उत्तम तपस्यामें लगे रहते थे । वहीं उनके हविष्पन्द, मधुष्पन्द, दृढनेत्र और महारथ नामक चार पुत्र उत्पन्न हुए, जो सत्य और धर्ममें तत्पर रहनेवाले थे ॥ ३½ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ ४ ॥
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम् ।
जिता राजर्षिलोकास्ते तपसा कुशिकात्मज ॥ ५ ॥
अनेन तपसा त्वां हि राजर्षिरिति विद्महे ।

एक हजार वर्ष पूरे हो जानेपर लोकपितामह ब्रह्माजीने तपस्याके धनी विश्वामित्रको दर्शन देकर मधुर वाणीमें कहा—'कुशिकनन्दन ! तुमने तपस्याके द्वारा राजर्षियोंके लोकोंपर विजय पायी है । इस तपस्याके प्रभावसे हम तुम्हें सच्चा राजर्षि समझते हैं' ॥ ४-५½ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा जगाम सह दैवतैः ॥ ६ ॥
त्रिविष्टपं ब्रह्मलोकं लोकानां परमेश्वरः ।

यह कहकर सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी ब्रह्माजी देवताओंके साथ स्वर्गलोक होते हुए ब्रह्मलोकको चले गये ॥ ६½ ॥

विश्वामित्रोऽपि तच्छ्रुत्वा ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥७॥
दुःखेन महताविष्टः समन्युरिदमब्रवीत् ।
तपश्च सुमहत् तप्तं राजर्षिरिति मां विदुः ॥ ८ ॥
देवाः सर्षिगणाः सर्वे नास्ति मन्ये तपःफलम् ।

उनकी बात सुनकर विश्वामित्रका मुख लज्जासे कुछ झुक गया । वे बड़े दुःखसे व्यथित हो दीनतापूर्वक मन-ही-मन यों कहने लगे—'अहो ! मैंने इतना बड़ा तप किया तो भी ऋषियोंसहित सम्पूर्ण देवता मुझे राजर्षि ही समझते हैं । मालूम होता है, इस तपस्याका कोई फल नहीं हुआ' ॥ ७-८½ ॥

एवं निश्चित्य मनसा भूय एव महातपाः ॥ ९ ॥
तपश्चचार धर्मात्मा काकुत्स्थ परमात्मवान् ।

श्रीराम ! मनमें ऐसा सोचकर अपने मनको वशमें रखनेवाले महातपस्वी धर्मात्मा विश्वामित्र पुनः भारी तपस्यामें लग गये ॥ ९½ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥ १० ॥
त्रिशङ्कुरिति विख्यात इक्ष्वाकुकुलवर्धनः ।

इसी समय इक्ष्वाकुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले एक सत्यवादी और जितेन्द्रिय राजा राज्य करते थे । उनका नाम था त्रिशङ्कु ॥ १०½ ॥

तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना यजेयमिति राघव ॥ ११ ॥
गच्छेयं स्वशरीरेण देवतानां परां गतिम् ।

रघुनन्दन ! उनके मनमें यह विचार हुआ कि 'मैं ऐसा कोई यज्ञ करूँ, जिससे अपने इस शरीरके साथ ही देवताओंकी परम गति—स्वर्गलोकको जा पहुँचूँ' ॥ ११½ ॥

वसिष्ठं स समाहूय कथयामास चिन्तितम् ॥ १२ ॥
अशक्यमिति चाप्युक्तो वसिष्ठेन महात्मना ।

तब उन्होंने वसिष्ठजीको बुलाकर अपना यह विचार उन्हें कह सुनाया । महात्मा वसिष्ठने उन्हें बताया कि 'ऐसा होना असम्भव है' ॥ १२½ ॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन स ययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १३ ॥
ततस्तत्कर्मसिद्ध्यर्थं पुत्रांस्तस्य गतो नृपः ।

जब वसिष्ठने उन्हें कोरा उत्तर दे दिया, तब वे राजा उस कर्मकी सिद्धिके लिये दक्षिण दिशामें उन्हींके पुत्रोंके पास चले गये ॥ १३½ ॥

वासिष्ठा दीर्घतपसस्तपो यत्र हि तेपिरे ॥ १४ ॥
त्रिशङ्कुस्तु महातेजाः शतं परमभास्वरम् ।
वसिष्ठपुत्रान् ददृशे तप्यमानान् मनस्विनः ॥ १५ ॥

वसिष्ठजीके वे पुत्र जहाँ दीर्घकालसे तपस्यामें प्रवृत्त होकर तप करते थे, उस स्थानपर पहुँचकर महातेजस्वी त्रिशङ्कुने देखा कि मनको वशमें रखनेवाले वे सौ परमतेजस्वी वसिष्ठकुमार तपस्यामें संलग्न हैं ॥ १४-१५ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानः सर्वानेव गुरोः सुतान् ।
अभिवाद्यानुपूर्वेण ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् स महात्मानः सर्वानेव कृताञ्जलिः ।

उन सभी महात्मा गुरुपुत्रोंके पास जाकर उन्होंने क्रमशः उन्हें प्रणाम किया और लज्जासे अपने मुखको कुछ नीचा किये हाथ जोड़कर उन सब महात्माओंसे कहा—॥ १६½ ॥

शरणं वः प्रपन्नोऽहं शरण्याञ्शरणं गतः ॥ १७ ॥
प्रत्याख्यातो हि भद्रं वो वसिष्ठेन महात्मना ।
यष्टुकामो महायज्ञं तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ १८ ॥

'गुरुपुत्रो ! आप शरणागतवत्सल हैं । मैं आपलोगोंकी शरणमें आया हूँ, आपका कल्याण हो । महात्मा वसिष्ठने मेरा यज्ञ कराना अस्वीकार कर दिया है । मैं एक महान् यज्ञ करना चाहता हूँ । आपलोग उसके लिये आज्ञा दें ॥ १७-१८ ॥

गुरुपुत्रानहं सर्वान् नमस्कृत्य प्रसादये ।
शिरसा प्रणतो याचे ब्राह्मणांस्तपसि स्थितान् ॥ १९ ॥
ते मां भवन्तः सिद्ध्यर्थं याजयन्तु समाहिताः ।
सशरीरो यथाहं वै देवलोकमवाप्नुयाम् ॥ २० ॥

'मैं समस्त गुरुपुत्रोंको नमस्कार करके प्रसन्न करना चाहता हूँ । आपलोग तपस्यामें संलग्न रहनेवाले ब्राह्मण हैं । मैं आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह याचना करता हूँ कि आपलोग एकाग्रचित्त हो मुझसे मेरी अभीष्टसिद्धिके लिये ऐसा कोई यज्ञ करावें, जिससे मैं इस शरीरके साथ ही देवलोकमें जा सकूँ ॥ १९-२० ॥

प्रत्याख्यातो वसिष्ठेन गतिमन्यां तपोधनाः ।
गुरुपुत्रानृते सर्वान् नाहं पश्यामि कांचन ॥ २१ ॥

'तपोधनो ! महात्मा वसिष्ठके अस्वीकार कर देनेपर अब मैं अपने लिये समस्त गुरुपुत्रोंकी शरणमें जानेके सिवा दूसरी कोई गति नहीं देखता ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ।
तस्मादनन्तरं सर्वे भवन्तो दैवतं मम ॥ २२ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशियोंके लिये पुरोहित वसिष्ठजी ही परमगति हैं । उनके बाद आप सब लोग ही मेरे परम देवता हैं' ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

वसिष्ठ ऋषिके पुत्रोंका त्रिशङ्कुको डाँट बताकर घर लौटनेके लिये आज्ञा देना तथा उन्हें दूसरा पुरोहित बनानेके लिये उद्यत देख शाप-प्रदान और उनके शापसे चाण्डाल हुए त्रिशङ्कुका विश्वामित्रजीकी शरणमें जाना

ततस्त्रिशङ्कोर्वचनं श्रुत्वा क्रोधसमन्वितम् ।
ऋषिपुत्रशतं राम राजानमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
प्रत्याख्यातोऽसि दुर्मेधो गुरुणा सत्यवादिना ।
तं कथं समतिक्रम्य शाखान्तरमुपेयिवान् ॥ २ ॥

रघुनन्दन ! राजा त्रिशङ्कुका यह वचन सुनकर वसिष्ठ मुनिके वे सौ पुत्र कुपित हो उनसे इस प्रकार बोले—'दुर्बुद्धे ! तुम्हारे सत्यवादी गुरुने जब तुम्हें मना कर दिया है, तब तुमने उनका उल्लङ्घन करके दूसरी शाखाका आश्रय कैसे लिया ? ॥ १-२ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः ।
न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः ॥ ३ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशी क्षत्रियोंके लिये पुरोहित वसिष्ठजी ही परमगति हैं । उन सत्यवादी महात्माकी बातको कोई अन्यथा नहीं कर सकता ॥ ३ ॥

अशक्यमिति सोवाच वसिष्ठो भगवानृषिः ।
तं वयं वै समाहर्तुं क्रतुं शक्ताः कथंचन ॥ ४ ॥

'जिस यज्ञकर्मको उन भगवान् वसिष्ठमुनिने असम्भव बताया है, उसे हमलोग कैसे कर सकते हैं ॥ ४ ॥

बालिशस्त्वं नरश्रेष्ठ गम्यतां स्वपुरं पुनः ।
याजने भगवाञ्शक्तस्त्रैलोक्यस्यापि पार्थिव ॥ ५ ॥
अवमानं कथं कर्तुं तस्य शक्ष्यामहे वयम् ।

'नरश्रेष्ठ ! तुम अभी नादान हो, अपने नगरको लौट जाओ । पृथ्वीनाथ ! भगवान् वसिष्ठ तीनों लोकोंका यज्ञ करानेमें समर्थ हैं, हमलोग उनका अपमान कैसे कर सकेंगे' ॥ ५½ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ ६ ॥
स राजा पुनरेवैतानिदं वचनमब्रवीत् ।
प्रत्याख्यातो भगवता गुरुपुत्रैस्तथैव हि ॥ ७ ॥
अन्यां गतिं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु तपोधनाः ।

गुरुपुत्रोंका वह क्रोधयुक्त वचन सुनकर राजा त्रिशङ्कुने पुनः उनसे इस प्रकार कहा—'तपोधनो ! भगवान् वसिष्ठने तो मुझे ठुकरा ही दिया था, आप गुरुपुत्रगण भी मेरी प्रार्थना नहीं स्वीकार कर रहे हैं; अतः आपका कल्याण हो, अब मैं दूसरे किसीकी शरणमें जाऊँगा' ॥ ६-७½ ॥

ऋषिपुत्रास्तु तच्छ्रुत्वा वाक्यं घोराभिसंहितम् ॥ ८ ॥
शेपुः परमसंक्रुद्धाश्चण्डालत्वं गमिष्यसि ।
इत्युक्त्वा ते महात्मानो विविशुः स्वं स्वमाश्रमम् ॥ ९ ॥

त्रिशङ्कुका यह घोर अभिसंधिपूर्ण वचन सुनकर महर्षिके पुत्रोंने अत्यन्त कुपित हो उन्हें शाप दे दिया—'अरे ! जा तू चाण्डाल हो जायगा ।' ऐसा कहकर वे महात्मा अपने-अपने आश्रममें प्रविष्ट हो गये ॥ ८-९ ॥

अथ रात्र्यां व्यतीतायां राजा चण्डालतां गतः ।
नीलवस्त्रधरो नीलः पुरुषो ध्वस्तमूर्धजः ॥ १० ॥
चित्यमाल्याङ्गरागश्च आयसाभरणोऽभवत् ।

तदनन्तर रात व्यतीत होते ही राजा त्रिशङ्कु चाण्डाल हो

गये । उनके शरीरका रङ्ग नीला हो गया । कपड़े भी नीले हो गये । प्रत्येक अङ्गमें रुक्षता आ गयी । सिरके बाल छोटे-छोटे हो गये । सारे शरीरमें चिताकी राख-सी लिपट गयी । विभिन्न अङ्गोंमें यथास्थान लोहेके गहने पड़ गये ॥ १०½ ॥

तं दृष्ट्वा मन्त्रिणः सर्वे त्यज्य चण्डालरूपिणम् ॥ ११ ॥
प्राद्रवन् सहिता राम पौरा येऽस्यानुगामिनः ।
एको हि राजा काकुत्स्थ जगाम परमात्मवान् ॥ १२ ॥
दह्यमानो दिवारात्रं विश्वामित्रं तपोधनम् ।

श्रीराम ! अपने राजाको चाण्डालके रूपमें देखकर सब मन्त्री और पुरवासी, जो उनके साथ आये थे, उन्हें छोड़कर भाग गये । ककुत्स्थनन्दन ! वे धीरस्वभाव नरेश दिन-रात चिन्ताकी आगमें जलने लगे और अकेले ही तपोधन विश्वामित्रकी शरणमें गये ॥ ११-१२½ ॥

विश्वामित्रस्तु तं दृष्ट्वा राजानं विफलीकृतम् ॥ १३ ॥
चण्डालरूपिणं राम मुनिः कारुण्यमागतः ।
कारुण्यात् स महातेजा वाक्यं परमधार्मिकः ॥ १४ ॥
इदं जगाद भद्रं ते राजानं घोरदर्शनम् ।
किमागमनकार्यं ते राजपुत्र महाबल ॥ १५ ॥
अयोध्याधिपते वीर शापाच्चण्डालतां गतः ।

श्रीराम ! विश्वामित्रने देखा राजाका जीवन निष्फल हो गया है । उन्हें चाण्डालके रूपमें देखकर उन महातेजस्वी परम धर्मात्मा मुनिके हृदयमें करुणा भर आयी । वे दयासे द्रवित होकर भयंकर दिखायी देनेवाले राजा त्रिशङ्कुसे इस प्रकार बोले—'महाबली राजकुमार ! तुम्हारा भला हो, यहाँ किस कामसे तुम्हारा आना हुआ है ? वीर अयोध्यानरेश ! जान पड़ता है, तुम शापसे चाण्डालभावको प्राप्त हुए हो' ॥ १३–१५½ ॥

अथ तद्वाक्यमाकर्ण्य राजा चण्डालतां गतः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ।

विश्वामित्रकी बात सुनकर चाण्डालभावको प्राप्त हुए और वाणीके तात्पर्यको समझनेवाले राजा त्रिशङ्कुने हाथ जोड़कर वाक्यार्थकोविद विश्वामित्र मुनिसे इस प्रकार कहा—॥

प्रत्याख्यातोऽस्मि गुरुणा गुरुपुत्रैस्तथैव च ॥ १७ ॥
अनवाप्यैव तं कामं मया प्राप्तो विपर्ययः ।

'महर्षे ! मुझे गुरु तथा गुरुपुत्रोंने ठुकरा दिया । मैं जिस मनोऽभीष्ट वस्तुको पाना चाहता था, उसे न पाकर इच्छाके विपरीत अनर्थका भागी हो गया ॥ १७½ ॥

सशरीरो दिवं यायामिति मे सौम्यदर्शन ॥ १८ ॥
मया चेष्टं क्रतुशतं तच्च नावाप्यते फलम् ।

'सौम्यदर्शन मुनीश्वर ! मैं चाहता था कि इसी शरीरसे स्वर्गको जाऊँ, परंतु यह इच्छा पूर्ण न हो सकी । मैंने सैकड़ों यज्ञ किये हैं; किंतु उसका भी कोई फल नहीं मिल रहा है ॥

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ॥ १९ ॥
कृच्छ्रेष्वपि गतः सौम्य क्षत्रधर्मेण ते शपे ।

'सौम्य ! मैं क्षत्रियधर्मकी शपथ खाकर आपसे कहता हूँ कि बड़े-से-बड़े सङ्कटमें पड़नेपर भी न तो पहले कभी मैंने मिथ्या भाषण किया है और न भविष्यमें ही कभी करूँगा॥१९½॥

यज्ञैर्बहुविधैरिष्टं प्रजा धर्मेण पालिताः ॥ २० ॥
गुरवश्च महात्मानः शीलवृत्तेन तोषिताः ।
धर्मे प्रयतमानस्य यज्ञं चाहर्तुमिच्छतः ॥ २१ ॥
परितोषं न गच्छन्ति गुरवो मुनिपुङ्गव ।
दैवमेव परं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ २२ ॥

'मैंने नाना प्रकारके यज्ञोंका अनुष्ठान किया, प्रजाजनोंकी धर्मपूर्वक रक्षा की और शील एवं सदाचारके द्वारा महात्माओं तथा गुरुजनोंको संतुष्ट रखनेका प्रयास किया । इस समय भी मैं यज्ञ करना चाहता था; अतः मेरा यह प्रयत्न धर्मके लिये ही था । मुनिप्रवर ! तो भी मेरे गुरुजन मुझपर संतुष्ट न हो सके । यह देखकर मैं दैवको ही बड़ा मानता हूँ । पुरुषार्थ तो निरर्थक जान पड़ता है ॥ २०–२२ ॥

दैवेनाक्रम्यते सर्वं दैवं हि परमा गतिः ।
तस्य मे परमार्तस्य प्रसादमभिकाङ्क्षतः ।
कर्तुमर्हसि भद्रं ते दैवोपहतकर्मणः ॥ २३ ॥

'दैव सबपर आक्रमण करता है । दैव ही सबकी परमगति है । मुने ! मैं अत्यन्त आर्त होकर आपकी कृपा चाहता हूँ । दैवने मेरे पुरुषार्थको दबा दिया है ! आपका भला हो । आप मुझपर अवश्य कृपा करें ॥ २३ ॥

नान्यां गतिं गमिष्यामि नान्यच्छरणमस्ति मे ।
दैवं पुरुषकारेण निवर्तयितुमर्हसि ॥ २४ ॥

'अब मैं आपके सिवा दूसरे किसीकी शरणमें नहीं जाऊँगा । दूसरा कोई मुझे शरण देनेवाला है भी नहीं । आप ही अपने पुरुषार्थसे मेरे दुर्दैवको पलट सकते हैं ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका त्रिशङ्कुको आश्वासन देकर उनका यज्ञ करानेके लिये ऋषि-मुनियोंको आमन्त्रित करना और उनकी बात न माननेवाले महोदय तथा ऋषिपुत्रोंको शाप देकर नष्ट करना

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकात्मजः ।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साक्षाच्चण्डालतां गतम् ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम !] साक्षात् चाण्डालके स्वरूपको प्राप्त हुए राजा त्रिशङ्कुके पूर्वोक्त वचनको सुनकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रजीने दयासे द्रवित होकर उनसे मधुर वाणीमें कहा—॥ १ ॥

इक्ष्वाको स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम् ।
शरणं ते प्रदास्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव ॥ २ ॥

'वत्स ! इक्ष्वाकुकुलनन्दन ! तुम्हारा स्वागत है । मैं जानता हूँ, तुम बड़े धर्मात्मा हो । नृपप्रवर ! डरो मत, मैं तुम्हें शरण दूँगा ॥ २ ॥

अहमामन्त्रये सर्वान् महर्षीन् पुण्यकर्मणः ।
यज्ञसाह्यकरान् राजंस्ततो यक्ष्यसि निर्वृतः ॥ ३ ॥

'राजन् ! तुम्हारे यज्ञमें सहायता करनेवाले समस्त पुण्यकर्मा महर्षियोंको मैं आमन्त्रित करता हूँ । फिर तुम आनन्दपूर्वक यज्ञ करना ॥ ३ ॥

गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते ।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि ॥ ४ ॥
हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप ।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः ॥ ५ ॥

'गुरुके शापसे तुम्हें जो यह नवीन रूप प्राप्त हुआ है इसके साथ ही तुम सदेह स्वर्गलोकको जाओगे । नरेश्वर ! तुम जो शरणागतवत्सल विश्वामित्रकी शरणमें आ गये; इससे मैं यह समझता हूँ कि स्वर्गलोक तुम्हारे हाथमें आ गया है' ॥ ४-५ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान् परमधार्मिकान् ।
व्यादिदेश महाप्राज्ञान् यज्ञसम्भारकारणात् ॥ ६ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी विश्वामित्रने अपने परम धर्मपरायण महाज्ञानी पुत्रोंको यज्ञकी सामग्री जुटानेकी आज्ञा दी ॥ ६ ॥

सर्वाञ्छिष्यान् समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह ।
सर्वानृषीन् सवासिष्ठानानयध्वं ममाज्ञया ॥ ७ ॥
सशिष्यान् सुहृदश्चैव सर्त्विजः सुबहुश्रुतान् ।

तत्पश्चात् समस्त शिष्योंको बुलाकर उनसे यह बात कही—'तुमलोग मेरी आज्ञासे अनेक विषयोंके ज्ञाता समस्त ऋषि-मुनियोंको, जिनमें वसिष्ठके पुत्र भी सम्मिलित हैं, उनके शिष्यों, सुहृदों तथा ऋत्विजोंसहित बुला लाओ ॥ ७½ ॥

यदन्यो वचनं ब्रूयान्मद्वाक्यबलचोदितः ॥ ८ ॥
तत् सर्वमखिलेनोक्तं ममाख्येयमनादृतम् ।

'जिसे मेरा संदेश देकर बुलाया गया हो वह अथवा दूसरा कोई यदि इस यज्ञके विषयमें कोई अवहेलनापूर्ण बात कहे तो तुमलोग वह सब पूरा-पूरा मुझसे आकर कहना' ॥ ८½ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तदाज्ञया ॥ ९ ॥
आजग्मुरथ देशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मवादिनः ।
ते च शिष्याः समागम्य मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ १० ॥
ऊचुश्च वचनं सर्वे सर्वेषां ब्रह्मवादिनाम् ।

उनकी आज्ञा मानकर सभी शिष्य चारों दिशाओंमें चले गये । फिर तो सब देशोंसे ब्रह्मवादी मुनि आने लगे । विश्वामित्रके वे शिष्य उन प्रज्वलित तेजवाले महर्षिके पास सबसे पहले लौट आये और समस्त ब्रह्मवादियोंने जो बातें कही थीं, उन्हें सबने विश्वामित्रजीसे कह सुनाया ॥ ९-१०½ ॥

श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः ॥ ११ ॥
सर्वदेशेषु चागच्छन् वर्जयित्वा महोदयम् ।

वे बोले—'गुरुदेव ! आपका आदेश या संदेश सुनकर प्रायः सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाले सभी ब्राह्मण आ रहे हैं । केवल महोदय नामक ऋषि तथा वसिष्ठ-पुत्रोंको छोड़कर सभी महर्षि यहाँ आनेके लिये प्रस्थान कर चुके हैं ॥ ११½ ॥

वासिष्ठं यच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम् ॥ १२ ॥
यथाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव ।

'मुनिश्रेष्ठ ! वसिष्ठके जो सौ पुत्र हैं, उन सबने क्रोधभरी वाणीमें जो कुछ कहा है, वह सब आप सुनिये ॥ १२½ ॥

क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः ॥ १३ ॥
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ।
ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चाण्डालभोजनम् ॥ १४ ॥
कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः ।

'वे कहते हैं—जो विशेषतः चण्डाल है और जिसका यज्ञ करानेवाला आचार्य क्षत्रिय है, उसके यज्ञमें देवर्षि अथवा महात्मा ब्राह्मण हविष्यका भोजन कैसे कर सकते हैं ? अथवा चण्डालका अन्न खाकर विश्वामित्रसे पालित हुए ब्राह्मण स्वर्गमें कैसे जा सकेंगे ?' ॥ १३-१४½ ॥

एतद् वचननैष्ठुर्यमूचुः संरक्तलोचनाः ॥ १५ ॥
वासिष्ठा मुनिशार्दूल सर्वे सहमहोदयाः ।

'मुनिप्रवर ! महोदयके साथ वसिष्ठके सभी पुत्रोंने क्रोधसे लाल आँखें करके ये उपर्युक्त निष्ठुरतापूर्ण बातें कही थीं' ॥ १५½ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥
क्रोधसंरक्तनयनः सरोषमिदमब्रवीत् ।

उन सबकी वह बात सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके दोनों नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वे रोषपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १६½ ॥

यद् दूषयन्त्यदुष्टं मां तप उग्रं समास्थितम् ॥ १७ ॥
भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न संशयः ।

'मैं उग्र तपस्यामें लगा हूँ और दोष या दुर्भावनासे रहित हूँ तो भी जो मुझपर दोषारोपण करते हैं, वे दुरात्मा भस्मीभूत हो जायँगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १७½ ॥

अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥
सप्तजातिशतान्येव मृतपाः सम्भवन्तु ते ।
श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः ॥ १९ ॥

'आज कालपाशसे बँधकर वे यमलोकमें पहुँचा दिये गये । अब ये सात सौ जन्मोंतक मुर्दोंकी रखवाली करनेवाली, निश्चितरूपसे कुत्तेका मांस खानेवाली मुष्टिक नामक प्रसिद्ध निर्दय चण्डाल-जातिमें जन्म ग्रहण करें ॥ १८-१९ ॥

विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान् ।
महोदयश्च दुर्बुद्धिर्मामदूष्यं ह्यदूषयत् ॥ २० ॥
दूषितः सर्वलोकेषु निषादत्वं गमिष्यति ।
प्राणातिपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः ॥ २१ ॥
दीर्घकालं मम क्रोधाद् दुर्गतिं वर्तयिष्यति ।

'वे लोग विकृत एवं विरूप होकर इन लोकोंमें विचरें । साथ ही दुर्बुद्धि महोदय भी, जिसने मुझ दोषहीनको भी दूषित किया है, मेरे क्रोधसे दीर्घकालतक सब लोगोंमें निन्दित, दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर और दयाशून्य निषादयोनिको प्राप्त करके दुर्गति भोगेगा' ॥ २०-२१½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः ।
विरराम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः ॥ २२ ॥

ऋषियोंके बीचमें ऐसा कहकर महातपस्वी, महातेजस्वी एवं महामुनि विश्वामित्र चुप हो गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका ऋषियोंसे त्रिशङ्कुका यज्ञ करानेके लिये अनुरोध, ऋषियोंद्वारा यज्ञका आरम्भ, त्रिशङ्कुका सशरीर स्वर्गगमन, इन्द्रद्वारा स्वर्गसे उनके गिराये जानेपर क्षुब्ध हुए विश्वामित्रका नूतन देवसर्गके लिये उद्योग, फिर देवताओंके अनुरोधसे उनका इस कार्यसे विरत होना

तपोबलहतान्ज्ञात्वा वासिष्ठान् समहोदयान् ।
ऋषिमध्ये महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम !] महोदयसहित वसिष्ठके पुत्रोंको अपने तपोबलसे नष्ट हुआ जान महातेजस्वी विश्वामित्रने ऋषियोंके बीचमें इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
धर्मिष्ठश्च वदान्यश्च मां चैव शरणं गतः ॥ २ ॥

'मुनिवरो ! ये इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा त्रिशङ्कु हैं । ये विख्यात नरेश बड़े ही धर्मात्मा और दानी रहे हैं तथा इस समय मेरी शरणमें आये हैं ॥ २ ॥

स्वेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया ।
यथायं स्वशरीरेण देवलोकं गमिष्यति ॥ ३ ॥
तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्भिश्च मया सह ।

'इनकी इच्छा है कि मैं अपने इसी शरीरसे देवलोकपर अधिकार प्राप्त करूँ । अतः आपलोग मेरे साथ रहकर ऐसे यज्ञका अनुष्ठान करें, जिससे इन्हें इस शरीरसे ही देवलोककी प्राप्ति हो सके' ॥ ३½ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ४ ॥
ऊचुः समेताः सहसा धर्मज्ञा धर्मसंहितम् ।
अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥ ५ ॥
यदाह वचनं सम्यगेतत् कार्यं न संशयः ।

विश्वामित्रजीकी यह बात सुनकर धर्मको जाननेवाले सभी महर्षियोंने सहसा एकत्र होकर आपसमें धर्मयुक्त परामर्श किया—'ब्राह्मणो ! कुशिकके पुत्र विश्वामित्र मुनि बड़े क्रोधी हैं । ये जो बात कह रहे हैं, उसका ठीक तरहसे पालन करना चाहिये । इसमें संशय नहीं है ॥ ४-५½ ॥

अग्निकल्पो हि भगवान् शापं दास्यति रोषतः ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवि ।
गच्छेदिक्ष्वाकुदायादो विश्वामित्रस्य तेजसा ॥ ७ ॥

'ये भगवान् विश्वामित्र अग्निके समान तेजस्वी हैं । यदि इनकी बात नहीं मानी गयी तो ये रोषपूर्वक शाप दे देंगे ।

इसलिये ऐसे यज्ञका आरम्भ करना चाहिये, जिससे विश्वामित्रके तेजसे ये इक्ष्वाकुनन्दन त्रिशङ्कु सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकें' ॥ ६-७ ॥

ततः प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधितिष्ठत ।
एवमुक्त्वा महर्षयः संजह्रुस्ताः क्रियास्तदा ॥ ८ ॥

इस तरह विचार करके उन्होंने सर्वसम्मतिसे यह निश्चय किया कि 'यज्ञ आरम्भ किया जाय।' ऐसा निश्चय करके महर्षियोंने उस समय अपना-अपना कार्य आरम्भ किया ॥ ८ ॥

याजकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत् क्रतौ ।
ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ॥ ९ ॥
चक्रुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि ।

महातेजस्वी विश्वामित्र स्वयं ही उस यज्ञमें याजक (अध्वर्यु) हुए। फिर क्रमशः अनेक मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण ऋत्विज हुए; जिन्होंने कल्पशास्त्रके अनुसार विधि एवं मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारे कार्य सम्पन्न किये ॥ ९½ ॥

ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥ १० ॥
चकारावाहनं तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ।
नाभ्यागमंस्तदा तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत समयतक यत्नपूर्वक मन्त्रपाठ करके महातपस्वी विश्वामित्रने अपना-अपना भाग ग्रहण करनेके लिये सम्पूर्ण देवताओंका आवाहन किया; परन्तु उस समय वहाँ भाग लेनेके लिये वे सब देवता नहीं आये ॥ १०-११ ॥

ततः कोपसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः ।
स्रुवमुद्यम्य सक्रोधस्त्रिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

इससे महामुनि विश्वामित्रको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने स्रुवा उठाकर रोषके साथ राजा त्रिशङ्कुसे इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर ।
एष त्वां स्वशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा ॥ १३ ॥

'नरेश्वर ! अब तुम मेरेद्वारा उपार्जित तपस्याका बल देखो। मैं अभी तुम्हें अपनी शक्तिसे सशरीर स्वर्गलोकमें पहुँचाता हूँ ॥ १३ ॥

दुष्प्रापं स्वशरीरेण स्वर्गं गच्छ नरेश्वर ।
स्वार्जितं किंचिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥ १४ ॥
राजंस्त्वं तेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज ।

'राजन् ! आज तुम अपने इस शरीरके साथ ही दुर्लभ स्वर्गलोकको जाओ। नरेश्वर ! यदि मैंने तपस्याका कुछ भी फल प्राप्त किया है तो उसके प्रभावसे तुम सशरीर स्वर्गलोकको जाओ' ॥ १४½ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् सशरीरो नरेश्वरः ॥ १५ ॥
दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनीनां पश्यतां तदा ।

श्रीराम ! विश्वामित्र मुनिके इतना कहते ही राजा त्रिशङ्कु सब मुनियोंके देखते-देखते उस समय अपने शरीरके साथ ही स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५½ ॥

स्वर्गलोकं गतं दृष्ट्वा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥ १६ ॥
सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत् ।

त्रिशङ्कुको स्वर्गलोकमें पहुँचा हुआ देख समस्त देवताओंके साथ पाकशासन इन्द्रने उनसे इस प्रकार कहा—॥ १६½ ॥

त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः ॥ १७ ॥
गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाक्शिराः ।

'मूर्ख त्रिशङ्कु ! तू फिर यहाँसे लौट जा, तेरे लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है। तू गुरुके शापसे नष्ट हो चुका है, अतः नीचे मुँह किये पुनः पृथ्वीपर गिर जा' ॥ १७½ ॥

एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशङ्कुरपतत् पुनः ॥ १८ ॥
विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम् ।

इन्द्रके इतना कहते ही राजा त्रिशङ्कु तपोधन विश्वामित्रको पुकारकर 'त्राहि-त्राहि' की रट लगाते हुए पुनः स्वर्गसे नीचे गिरे ॥ १८½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिकः ॥ १९ ॥
रोषमाहारयत् तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

चीखते-चिल्लाते हुए त्रिशङ्कुकी वह करुण पुकार सुनकर कौशिक मुनिको बड़ा क्रोध हुआ। वे त्रिशङ्कुसे बोले—'राजन् ! वहीं ठहर जा, वहीं ठहर जा' (उनके ऐसा कहनेपर त्रिशङ्कु बीचमें ही लटके रह गये) ॥ १९½ ॥

ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः ॥ २० ॥
सृजन् दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान् पुनः ।
नक्षत्रवंशमपरमसृजत् क्रोधमूर्च्छितः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् तेजस्वी विश्वामित्रने ऋषिमण्डलीके बीच दूसरे प्रजापतिके समान दक्षिण मार्गके लिये नये सप्तर्षियोंकी सृष्टि की तथा क्रोधसे भरकर उन्होंने नवीन नक्षत्रोंका भी निर्माण कर डाला ॥ २०-२१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः ।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥
अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्द्रकः ।
दैवतान्यपि स क्रोधात् स्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥

वे महायशस्वी मुनि क्रोधसे कलुषित हो दक्षिण दिशामें ऋषिमण्डलीके बीच नूतन नक्षत्रमालाओंकी सृष्टि करके यह विचार करने लगे कि 'मैं दूसरे इन्द्रकी सृष्टि करूँगा अथवा मेरे द्वारा रचित स्वर्गलोक बिना इन्द्रके ही रहेगा।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने क्रोधपूर्वक नूतन देवताओंकी सृष्टि प्रारम्भ की ॥ २२-२३ ॥

ततः परमसम्भ्रान्ताः सर्षिसङ्घाः सुरासुराः ।
विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ॥ २४ ॥

इससे समस्त देवता, असुर और ऋषि-समुदाय बहुत घबराये और सभी वहाँ आकर महात्मा विश्वामित्रसे विनयपूर्वक बोले—॥ २४ ॥

अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः।
सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ॥ २५ ॥

'महाभाग ! ये राजा त्रिशङ्कु गुरुके शापसे अपना पुण्य नष्ट करके चाण्डाल हो गये हैं, अतः तपोधन ! ये सशरीर स्वर्गमें जानेके कदापि अधिकारी नहीं हैं' ॥ २५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः।
अब्रवीत् सुमहद् वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ॥ २६ ॥

उन देवताओंकी यह बात सुनकर मुनिवर कौशिकने सम्पूर्ण देवताओंसे परमोत्कृष्ट वचन कहा—॥ २६ ॥

सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः।
आरोहणं प्रतिज्ञातं नानृतं कर्तुमुत्सहे ॥ २७ ॥

'देवगण ! आपका कल्याण हो। मैंने राजा त्रिशङ्कुको सदेह स्वर्ग भेजनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; अतः उसे मैं झूठी नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरस्य शाश्वतः।
नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ॥ २८ ॥
यावल्लोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः।
यत् कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥

इन महाराज त्रिशङ्कुको सदा स्वर्गलोकका सुख प्राप्त होता रहे। मैंने जिन नक्षत्रोंका निर्माण किया है, वे सब सदा मौजूद रहें। जबतक संसार रहे, तबतक ये सभी वस्तुएँ, जिनकी मेरे द्वारा सृष्टि हुई है, सदा बनी रहें। देवताओ ! आप सब लोग इन बातोंका अनुमोदन करें ॥ २८-२९ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुङ्गवम्।
एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ॥ ३० ॥
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद् बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥ ३१ ॥
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः।
अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ॥ ३२ ॥
कृतार्थं कीर्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा।

उनके ऐसा कहनेपर सब देवता मुनिवर विश्वामित्रसे बोले—'महर्षे ! ऐसा ही हो। ये सभी वस्तुएँ बनी रहें और आपका कल्याण हो। मुनिश्रेष्ठ ! आपके रचे हुए अनेक नक्षत्र आकाशमें वैश्वानरपथसे बाहर प्रकाशित होंगे और उन्हीं ज्योतिर्मय नक्षत्रोंके बीचमें सिर नीचा किये त्रिशङ्कु भी प्रकाशमान रहेंगे। वहाँ इनकी स्थिति देवताओंके समान होगी और ये सभी नक्षत्र इन कृतार्थ एवं यशस्वी नृपश्रेष्ठका स्वर्गीय पुरुषकी भाँति अनुसरण करते रहेंगे' ॥ ३०–३२½ ॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ॥ ३३ ॥
ऋषिमध्ये महातेजा बाढमित्येव देवताः।

इसके बाद सम्पूर्ण देवताओंने ऋषियोंके बीचमें ही महातेजस्वी धर्मात्मा विश्वामित्र मुनिकी स्तुति की। इससे प्रसन्न होकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओंका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ ३३½ ॥

ततो देवा महात्मानो ऋषयश्च तपोधनाः।
जग्मुर्यथागतं सर्वे यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥ ३४ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीराम ! तदनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर सब देवता और तपोधन महर्षि जैसे आये थे, उसी प्रकार अपने-अपने स्थानको लौट गये ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रकी पुष्कर तीर्थमें तपस्या तथा राजर्षि अम्बरीषका ऋचीकके मध्यम पुत्र शुनःशेपको यज्ञ-पशु बनानेके लिये खरीदकर लाना

विश्वामित्रो महातेजाः प्रस्थितान् वीक्ष्य तानृषीन्।
अब्रवीन्नरशार्दूल सर्वांस्तान् वनवासिनः ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—] पुरुषसिंह श्रीराम ! यज्ञमें आये हुए उन सब वनवासी ऋषियोंको वहाँसे जाते देख महातेजस्वी विश्वामित्रने उनसे कहा—॥ १ ॥

महाविघ्नः प्रवृत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम्।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तप्स्यामहे तपः ॥ २ ॥

'महर्षियो ! इस दक्षिण दिशामें रहनेसे हमारी तपस्यामें महान् विघ्न आ पड़ा है; अतः अब हम दूसरी दिशामें चले जायँगे और वहीं रहकर तपस्या करेंगे ॥ २ ॥

पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः।
सुखं तपश्चरिष्यामः सुखं तद्धि तपोवनम् ॥ ३ ॥

'विशाल पश्चिम दिशामें जो महात्मा ब्रह्माजीके तीन पुष्कर हैं, उन्हींके पास रहकर हम सुखपूर्वक तपस्या करेंगे; क्योंकि वह तपोवन बहुत ही सुखद है' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः ।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर वे महातेजस्वी महामुनि पुष्करमें चले गये और वहाँ फल-मूलका भोजन करके उग्र एवं दुर्जय तपस्या करने लगे ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्महान् ।
अम्बरीष इति ख्यातो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ ५ ॥

इन्हीं दिनों अयोध्याके महाराज अम्बरीष एक यज्ञकी तैयारी करने लगे ॥ ५ ॥

तस्य वै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह ।
प्रणष्टे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

जब वे यज्ञमें लगे हुए थे, उस समय इन्द्रने उनके यज्ञपशुको चुरा लिया । पशुके खो जानेपर पुरोहितजीने राजासे कहा—॥ ६ ॥

पशुरभ्याहृतो राजन् प्रणष्टस्तव दुर्नयात् ।
अरक्षितारं राजानं घ्नन्ति दोषा नरेश्वर ॥ ७ ॥

'राजन् ! जो पशु यहाँ लाया गया था, वह आपकी दुर्नीतिके कारण खो गया । नरेश्वर ! जो राजा यज्ञ-पशुकी रक्षा नहीं करता, उसे अनेक प्रकारके दोष नष्ट कर डालते हैं ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्तं महद्ध्येतन्नरं वा पुरुषर्षभ ।
आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत् कर्म प्रवर्तते ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर ! जबतक कर्मका आरम्भ होता है, उसके पहले ही खोये हुए पशुकी खोज कराकर उसे शीघ्र यहाँ ले आओ । अथवा उसके प्रतिनिधिरूपसे किसी पुरुष पशुको खरीद लाओ । यही इस पापका महान् प्रायश्चित्त है' ॥ ८ ॥

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषर्षभः ।
अन्वियेष महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः ॥ ९ ॥

पुरोहितकी यह बात सुनकर महाबुद्धिमान् पुरुषश्रेष्ठ राजा अम्बरीषने हजारों गौओंके मूल्यपर खरीदनेके लिये एक पुरुषका अन्वेषण किया ॥ ९ ॥

देशाञ्जनपदांस्तांस्तान् नगराणि वनानि च ।
आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गमाणो महीपतिः ॥ १० ॥
स पुत्रसहितं तात सभार्यं रघुनन्दन ।
भृगुतुङ्गे समासीनमृचीकं संददर्श ह ॥ ११ ॥

तात रघुनन्दन ! विभिन्न देशों, जनपदों, नगरों, वनों तथा पवित्र आश्रमोंमें खोज करते हुए राजा अम्बरीष भृगुतुङ्ग पर्वतपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने पत्नी तथा पुत्रोंके साथ बैठे हुए ऋचीक मुनिका दर्शन किया ॥ १०-११ ॥

तमुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।
महर्षिं तपसा दीप्तं राजर्षिरमितप्रभः ॥ १२ ॥

अमित कान्तिमान् एवं महातेजस्वी राजर्षि अम्बरीषने तपस्यासे उद्दीप्त होनेवाले महर्षि ऋचीकको प्रणाम किया और उन्हें प्रसन्न करके कहा ॥ १२ ॥

पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमृचीकं तमिदं वचः ।
गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥ १३ ॥
पशोरर्थे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।

पहले तो उन्होंने ऋचीक मुनिसे उनकी सभी वस्तुओंके विषयमें कुशल-समाचार पूछा, उसके बाद इस प्रकार कहा—'महाभाग भृगुनन्दन ! यदि आप एक लाख गौएँ लेकर अपने एक पुत्रको पशु बनानेके लिये बेचें तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा ॥ १३½ ॥

सर्वे परिगता देशा यज्ञियं न लभे पशुम् ॥ १४ ॥
दातुमर्हसि मूल्येन सुतमेकमितो मम ।

'मैं सारे देशोंमें घूम आया; परंतु कहीं भी यज्ञोपयोगी पशु नहीं पा सका । अतः आप उचित मूल्य लेकर यहाँ मुझे अपने एक पुत्रको दे दीजिये' ॥ १४½ ॥

एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥
नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठ विक्रीणीयां कथंचन ।

उनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी ऋचीक बोले—'नरश्रेष्ठ ! मैं अपने ज्येष्ठ पुत्रको तो किसी तरह नहीं बेचूँगा' ॥ १५½ ॥

ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥ १६ ॥
उवाच नरशार्दूलमम्बरीषमिदं वचः ।

ऋचीक मुनिकी बात सुनकर उन महात्मा पुत्रोंकी माताने पुरुषसिंह अम्बरीषसे इस प्रकार कहा—॥ १६½ ॥

अविक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गवः ॥ १७ ॥
ममापि दयितं विद्धि कनिष्ठं शुनकं प्रभो ।
तस्मात् कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥ १८ ॥

'प्रभो ! भगवान् भार्गव कहते हैं कि ज्येष्ठ पुत्र कदापि बेचने योग्य नहीं है; परंतु आपको मालूम होना चाहिये जो सबसे छोटा पुत्र शुनक है, वह मुझे भी बहुत ही प्रिय है । अतः पृथ्वीनाथ ! मैं अपना छोटा पुत्र आपको कदापि नहीं दूँगी ॥ १७-१८ ॥

प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।
मातॄणां च कनीयांसस्तस्माद् रक्ष्ये कनीयसम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! प्रायः जेठे पुत्र पिताओंको प्रिय होते हैं और छोटे पुत्र माताओंको । अतः मैं अपने कनिष्ठ पुत्रकी अवश्य रक्षा करूँगी' ॥ १९ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् मुनिपत्न्यां तथैव च ।
शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

श्रीराम ! मुनि और उनकी पत्नीके ऐसा कहनेपर मझले पुत्र शुनःशेपने स्वयं कहा—॥ २० ॥

पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम्।
विक्रेयं मध्यमं मन्ये राजपुत्र नयस्व माम्॥ २१ ॥

'राजपुत्र! पिताने ज्येष्ठको और माताने कनिष्ठ पुत्रको बेचनेके लिये अयोग्य बतलाया है। अतः मैं समझता हूँ इन दोनोंकी दृष्टिमें मझला पुत्र ही बेचनेके योग्य है। इसलिये तुम मुझे ही ले चलो' ॥ २१ ॥

अथ राजा महाबाहो वाक्यान्ते ब्रह्मवादिनः।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य कोटिभी रत्नराशिभिः॥ २२ ॥
गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः।
गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन॥ २३ ॥

महाबाहु रघुनन्दन! ब्रह्मवादी मझले पुत्रके ऐसा कहनेपर राजा अम्बरीष बड़े प्रसन्न हुए और एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रत्नोंके ढेर तथा एक लाख गौओंके बदले शुनःशेपको लेकर वे घरकी ओर चले ॥ २२-२३ ॥

अम्बरीषस्तु राजर्षी रथमारोप्य सत्वरः।
शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशाः॥ २४ ॥

महातेजस्वी महायशस्वी राजर्षि अम्बरीष शुनःशेपको रथपर बिठाकर बड़ी उतावलीके साथ तीव्र गतिसे चले ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा शुनःशेपकी रक्षाका सफल प्रयत्न और तपस्या

शुनःशेपं नरश्रेष्ठ गृहीत्वा तु महायशाः।
व्यश्रमत् पुष्करे राजा मध्यान्ते रघुनन्दन॥ १ ॥

[शतानन्दजी बोले—] नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! महायशस्वी राजा अम्बरीष शुनःशेपको साथ लेकर दोपहरके समय पुष्कर तीर्थमें आये और वहाँ विश्राम करने लगे ॥ १ ॥

तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः।
पुष्करं ज्येष्ठमागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह॥ २ ॥
तप्यन्तमृषिभिः सार्धं मातुलं परमातुरः।
विषण्णवदनो दीनस्तृष्णया च श्रमेण च॥ ३ ॥
पपाताङ्के मुने राम वाक्यं चेदमुवाच ह।

श्रीराम! जब वे विश्राम करने लगे, उस समय महायशस्वी शुनःशेप ज्येष्ठ-पुष्करमें आकर ऋषियोंके साथ तपस्या करते हुए अपने मामा विश्वामित्रसे मिला। वह अत्यन्त आतुर एवं दीन हो रहा था। उसके मुखपर विषाद छा गया था। वह भूख-प्यास और परिश्रमसे दीन हो मुनिकी गोदमें गिर पड़ा और इस प्रकार बोला—॥ २-३½ ॥

न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः॥ ४ ॥
त्रातुमर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गव।

'सौम्य! मुनिपुङ्गव! न मेरे माता हैं, न पिता, फिर भाई-बन्धु कहाँसे हो सकते हैं। (मैं असहाय हूँ अतः) आप ही धर्मके द्वारा मेरी रक्षा कीजिये ॥ ४½ ॥

त्राता त्वं हि नरश्रेष्ठ सर्वेषां त्वं हि भावनः॥ ५ ॥
राजा च कृतकार्यः स्यादहं दीर्घायुरव्ययः।
स्वर्गलोकमुपाश्नीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम्॥ ६ ॥

'नरश्रेष्ठ! आप सबके रक्षक तथा अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाले हैं। ये राजा अम्बरीष कृतार्थ हो जायँ और मैं भी विकाररहित दीर्घायु होकर सर्वोत्तम तपस्या करके स्वर्गलोक प्राप्त कर लूँ—ऐसी कृपा कीजिये ॥ ५-६ ॥

स मे नाथो ह्यनाथस्य भव भव्येन चेतसा।
पितेव पुत्रं धर्मात्मंस्त्रातुमर्हसि किल्बिषात्॥ ७ ॥

'धर्मात्मन्! आप अपने निर्मलचित्तसे मुझ अनाथके नाथ (असहायके संरक्षक) हो जायँ। जैसे पिता अपने पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप मुझे इस पापमूलक विपत्तिसे बचाइये' ॥ ७ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः।
सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह॥ ८ ॥

शुनःशेपकी वह बात सुनकर महातेजस्वी विश्वामित्र उसे नाना प्रकारसे सान्त्वना दे अपने पुत्रोंसे इस प्रकार बोले—॥

यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति शुभार्थिनः।
परलोकहितार्थाय तस्य कालोऽयमागतः॥ ९ ॥

'बच्चो! शुभकी अभिलाषा रखनेवाले पिता जिस पारलौकिक हितके उद्देश्यसे पुत्रोंको जन्म देते हैं, उसकी पूर्तिका यह समय आ गया है ॥ ९ ॥

अयं मुनिसुतो बालो मत्तः शरणमिच्छति।
अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कुरुत पुत्रकाः॥ १० ॥

'पुत्रो! यह बालक मुनिकुमार मुझसे अपनी रक्षा चाहता है, तुमलोग अपना जीवनमात्र देकर इसका प्रिय करो ॥ १० ॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे धर्मपरायणाः।
पशुभूता नरेन्द्रस्य तृप्तिमग्नेः प्रयच्छत॥ ११ ॥

'तुम सब-के-सब पुण्यात्मा और धर्मपरायण हो। अतः राजाके यज्ञमें पशु बनकर अग्निदेवको तृप्ति प्रदान करो ॥

नाथवांश्च शुनःशेपो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत् ।
देवतास्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृतं वचः ॥ १२ ॥

'इससे शुनःशेप सनाथ होगा, राजाका यज्ञ भी बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण हो जायगा, देवता भी तृप्त होंगे और तुम्हारे द्वारा मेरी आज्ञाका पालन भी हो जायगा' ॥ १२ ॥

मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा मधुच्छन्दादयः सुताः ।
साभिमानं नरश्रेष्ठ सलीलमिदमब्रुवन् ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! विश्वामित्र मुनिका वह वचन सुनकर उनके मधुच्छन्द आदि पुत्र अभिमान और अवहेलनापूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १३ ॥

कथमात्मसुतान् हित्वा त्रायसेऽन्यसुतं विभो ।
अकार्यमिव पश्यामः श्वमांसमिव भोजने ॥ १४ ॥

'प्रभो ! आप अपने बहुत-से पुत्रोंको त्यागकर दूसरेके एक पुत्रकी रक्षा कैसे करते हैं ? जैसे पवित्र भोजनमें कुत्तेका मांस पड़ जाय तो वह अग्राह्य हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ अपने पुत्रोंकी रक्षा आवश्यक हो, वहाँ दूसरेके पुत्रकी रक्षाके कार्यको हम अकर्तव्यकी कोटिमें ही देखते हैं' ॥ १४ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः ।
क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥

उन पुत्रोंका वह कथन सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये । वे इस प्रकार कहने लगे—॥ १५ ॥

निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम् ।
अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु ।
पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥ १७ ॥

'अरे ! तुमलोगोंने निर्भय होकर ऐसी बात कही है, जो धर्मसे रहित एवं निन्दित है । मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जो यह दारुण एवं रोमाञ्चकारी बात तुमने मुँहसे निकाली है, इस अपराधके कारण तुम सब लोग भी वसिष्ठके पुत्रोंकी भाँति कुत्तेका मांस खानेवाली मुष्टिक आदि जातियोंमें जन्म लेकर पूरे एक हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर रहोगे' ॥

कृत्वा शापसमायुक्तान् पुत्रान् मुनिवरस्तदा ।
शुनःशेपमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार अपने पुत्रोंको शाप देकर मुनिवर विश्वामित्रने उस समय शोकार्त शुनःशेपकी निर्विघ्न रक्षा करके उससे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

पवित्रपाशैराबद्धो रक्तमाल्यानुलेपनः ।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर ॥ १९ ॥
इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथा मुनिपुत्रक ।
अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

'मुनिकुमार ! अम्बरीषके इस यज्ञमें जब तुम्हें कुश आदिके पवित्र पाशोंसे बाँधकर लाल फूलोंकी माला और लाल चन्दन धारण करा दिया जाय, उस समय तुम विष्णुदेवता-सम्बन्धी यूपके पास जाकर वाणीद्वारा अग्निकी (इन्द्र और विष्णुकी) स्तुति करना और इन दो दिव्य गाथाओंका गान करना । इससे तुम मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लोगे' ॥ १९-२० ॥

शुनःशेपो गृहीत्वा ते द्वे गाथे सुसमाहितः ।
त्वरया राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ह ॥ २१ ॥

शुनःशेपने एकाग्रचित्त होकर उन दोनों गाथाओंको ग्रहण किया और राजसिंह अम्बरीषके पास जाकर उनसे शीघ्रतापूर्वक कहा—॥ २१ ॥

राजसिंह महाबुद्धे शीघ्रं गच्छावहे वयम् ।
निवर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुदाहर ॥ २२ ॥

'राजेन्द्र ! परम बुद्धिमान् राजसिंह ! अब हम दोनों शीघ्र चलें । आप यज्ञकी दीक्षा लें और यज्ञकार्य सम्पन्न करें' ॥ २२ ॥

तद् वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षसमन्वितः ।
जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञवाटमतन्द्रितः ॥ २३ ॥

ऋषिकुमारका वह वचन सुनकर राजा अम्बरीष आलस्य छोड़ हर्षसे उत्फुल्ल हो शीघ्रतापूर्वक यज्ञशालामें गये ॥ २३ ॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकृतलक्षणम् ।
पशुं रक्ताम्बरं कृत्वा यूपे तं समबन्धयत् ॥ २४ ॥

वहाँ सदस्यकी अनुमति ले राजा अम्बरीषने शुनःशेपको कुशके पवित्र पाशसे बाँधकर उसे पशुके लक्षणसे सम्पन्न कर दिया और यज्ञ-पशुको लाल वस्त्र पहिनाकर यूपमें बाँध दिया ॥ २४ ॥

स बद्धो वाग्भिरग्र्याभिरभितुष्टाव वै सुरौ ।
इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥ २५ ॥

बँधे हुए मुनिपुत्र शुनःशेपने उत्तम वाणीद्वारा इन्द्र और उपेन्द्र इन दोनों देवताओंकी यथावत् स्तुति की ॥२५॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितोषितः ।
दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेपाय वासवः ॥ २६ ॥

उस रहस्यभूत स्तुतिसे संतुष्ट होकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए । उस समय उन्होंने शुनःशेपको दीर्घायु प्रदान की ॥ २६ ॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्य च समाप्तवान् ।
फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीराम ! राजा अम्बरीषने भी देवराज इन्द्रकी कृपासे उस यज्ञका बहुगुणसम्पन्न उत्तम फल प्राप्त किया ॥ २७ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा भूयस्तेपे महातपाः ।

पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥ २८ ॥

पुरुषप्रवर ! इसके बाद महातपस्वी धर्मात्मा विश्वामित्रने भी पुष्कर तीर्थमें पुनः एक हजार वर्षोंतक तीव्र तपस्या की ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रको ऋषि एवं महर्षिपदकी प्राप्ति, मेनकाद्वारा उनका तपोभङ्ग तथा ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्तिके लिये उनकी घोर तपस्या

पूर्णे वर्षसहस्रे तु व्रतस्नातं महामुनिम् ।
अभ्यगच्छन् सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम !] जब एक हजार वर्ष पूरे हो गये, तब उन्होंने व्रतकी समाप्तिका स्नान किया । स्नान कर लेनेपर महामुनि विश्वामित्रके पास सम्पूर्ण देवता उन्हें तपस्याका फल देनेकी इच्छासे आये ॥ १ ॥

अब्रवीत् सुमहातेजा ब्रह्मा सुरुचिरं वचः ।
ऋषिस्त्वमसि भद्रं ते स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २ ॥

उस समय महातेजस्वी ब्रह्माजीने मधुर वाणीमें कहा—'मुने ! तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम अपने द्वारा उपार्जित शुभकर्मोंके प्रभावसे ऋषि हो गये' ॥ २ ॥

तमेवमुक्त्वा देवेशस्त्रिदिवं पुनरभ्यगात् ।
विश्वामित्रो महातेजा भूयस्तेपे महत् तपः ॥ ३ ॥

उनसे ऐसा कहकर देवेश्वर ब्रह्माजी पुनः स्वर्गको चले गये । इधर महातेजस्वी विश्वामित्र पुनः बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ ३ ॥

ततः कालेन महता मेनका परमाप्सराः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर बहुत समय व्यतीत होनेपर परम सुन्दरी अप्सरा मेनका पुष्करमें आयी और वहाँ स्नानकी तैयारी करने लगी ॥ ४ ॥

तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः ।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥ ५ ॥

महातेजस्वी कुशिकनन्दन विश्वामित्रने वहाँ उस मेनकाको देखा । उसके रूप और लावण्यकी कहीं तुलना नहीं थी । जैसे बादलमें बिजली चमकती हो, उसी प्रकार वह पुष्करके जलमें शोभा पा रही थी ॥ ५ ॥

कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत् ।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे ॥ ६ ॥

उसे देखकर विश्वामित्र मुनि कामके अधीन हो गये और उससे इस प्रकार बोले—'अप्सरा ! तेरा स्वागत है, तू मेरे इस आश्रममें निवास कर ॥ ६ ॥

अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन विमोहितम् ।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥ ७ ॥

'तेरा भला हो । मैं कामसे मोहित हो रहा हूँ । मुझपर कृपा कर ।' उनके ऐसा कहनेपर सुन्दर कटिप्रदेशवाली मेनका वहाँ निवास करने लगी ॥ ७ ॥

तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागमत् ।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव ॥ ८ ॥
विश्वामित्राश्रमे सौम्ये सुखेन व्यतिचक्रमुः ।

इस प्रकार तपस्याका बहुत बड़ा विघ्न विश्वामित्रजीके पास स्वयं उपस्थित हो गया । रघुनन्दन ! मेनकाको विश्वामित्रजीके उस सौम्य आश्रमपर रहते हुए दस वर्ष बड़े सुखसे बीते ॥

अथ काले गते तस्मिन् विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ९ ॥
सव्रीड इव संवृत्तश्चिन्ताशोकपरायणः ।

इतना समय बीत जानेपर महामुनि विश्वामित्र लज्जित-से हो गये । चिन्ता और शोकमें डूब गये ॥ ९½ ॥

बुद्धिर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्षा रघुनन्दन ॥ १० ॥
सर्वं सुराणां कर्मैतत् तपोऽपहरणं महत् ।

रघुनन्दन ! मुनिके मनमें रोषपूर्वक यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'यह सब देवताओंकी करतूत है । उन्होंने हमारी तपस्याका अपहरण करनेके लिये यह महान् प्रयास किया है ॥

अहोरात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश ॥ ११ ॥
काममोहाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः ।

'मैं कामजनित मोहसे ऐसा आक्रान्त हो गया कि मेरे दस वर्ष एक दिन-रातके समान बीत गये । यह मेरी तपस्यामें बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया' ॥ ११½ ॥

स निःश्वसन् मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः ॥ १२ ॥

ऐसा विचारकर मुनिवर विश्वामित्र लंबी साँस खींचते हुए पश्चात्तापसे दुःखित हो गये ॥ १२ ॥

भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्राञ्जलिं स्थिताम् ।
मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः ॥ १३ ॥
उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह ।

उस समय मेनका अप्सरा भयभीत हो थर-थर काँपती हुई हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी हो गयी। उसकी ओर देखकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रने मधुर वचनोंद्वारा उसे विदा कर दिया और स्वयं वे उत्तर पर्वत (हिमवान्) पर चले गये॥

स कृत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं जेतुकामो महायशाः॥ १४॥
कौशिकीतीरमासाद्य तपस्तेपे दुरासदम्।

वहाँ उन महायशस्वी मुनिने निश्चयात्मक बुद्धिका आश्रय ले कामदेवको जीतनेके लिये कौशिकी-तटपर जाकर दुर्जय तपस्या आरम्भ की॥ १४½॥

तस्य वर्षसहस्राणि घोरं तप उपासतः॥ १५॥
उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद् भयम्।

श्रीराम! वहाँ उत्तर पर्वतपर एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रसे देवताओंको बड़ा भय हुआ॥

आमन्त्रयन् समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुराः॥ १६॥
महर्षिशब्दं लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः।

सब देवता और ऋषि परस्पर मिलकर सलाह करने लगे—'ये कुशिकनन्दन विश्वामित्र महर्षिकी पदवी प्राप्त करें, यही इनके लिये उत्तम बात होगी'॥ १६½॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः॥ १७॥
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम्।
महर्षे स्वागतं वत्स तपसोग्रेण तोषितः॥ १८॥
महत्त्वमृषिमुख्यत्वं ददामि तव कौशिक।

देवताओंकी बात सुनकर सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी तपोधन विश्वामित्रके पास जा मधुर वाणीमें बोले—'महर्षे! तुम्हारा स्वागत है। वत्स कौशिक! मैं तुम्हारी उग्र तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ और तुम्हें महत्ता एवं ऋषियोंमें श्रेष्ठता प्रदान करता हूँ'॥ १७-१८½॥

ब्रह्मणस्तु वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः॥ १९॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम्।
ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः॥ २०॥
यदि मे भगवन्नाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः।

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर तपोधन विश्वामित्र हाथ जोड़ प्रणाम करके उनसे बोले—'भगवन्! यदि अपने द्वारा उपार्जित शुभकर्मोंके फलसे मुझे आप ब्रह्मर्षिका अनुपम पद प्रदान कर सकें तो मैं अपनेको जितेन्द्रिय समझूँगा'॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा न तावत् त्वं जितेन्द्रियः॥ २१॥
यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः।

तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ! अभी तुम जितेन्द्रिय नहीं हुए हो। इसके लिये प्रयत्न करो।' ऐसा कहकर वे स्वर्गलोकको चले गये॥ २१½॥

विप्रस्थितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः॥ २२॥
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन्।

देवताओंके चले जानेपर महामुनि विश्वामित्रने पुनः घोर तपस्या आरम्भ की। वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी आधारके खड़े होकर केवल वायु पीकर रहते हुए तपमें संलग्न हो गये॥ २२½॥

धर्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः॥ २३॥
शिशिरे सलिलेशायी रात्र्यहानि तपोधनः।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत्॥ २४॥

गर्मीके दिनोंमें पञ्चाग्निका सेवन करते, वर्षाकालमें खुले आकाशके नीचे रहते और जाड़ेके समय रात-दिन पानीमें खड़े रहते थे। इस प्रकार उन तपोधनने एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्या की॥ २३-२४॥

तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ।
संतापः सुमहानासीत् सुराणां वासवस्य च॥ २५॥

महामुनि विश्वामित्रके इस प्रकार तपस्या करते समय देवताओं और इन्द्रके मनमें बड़ा भारी संताप हुआ॥ २५॥

रम्भामप्सरसं शक्रः सर्वैः सह मरुद्गणैः।
उवाचात्महितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च॥ २६॥

समस्त मरुद्गणोंसहित इन्द्रने उस समय रम्भा अप्सरासे ऐसी बात कही, जो अपने लिये हितकर और विश्वामित्रके लिये अहितकर थी॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः॥ ६३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६३॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका रम्भाको शाप देकर पुनः घोर तपस्याके लिये दीक्षा लेना

सुरकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुमहत् त्वया।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम्॥ १॥

(इन्द्र बोले—) रम्भे! देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य उपस्थित हुआ है। इसे तुम्हें ही पूरा करना है। तू महर्षि विश्वामित्रको इस प्रकार लुभा, जिससे वे काम और मोहके वशीभूत हो जायँ॥ १॥

तथोक्ता साप्सरा राम सहस्राक्षेण धीमता।
व्रीडिता प्राञ्जलिर्वाक्यं प्रत्युवाच सुरेश्वरम्॥ २॥

श्रीराम ! बुद्धिमान् इन्द्रके ऐसा कहनेपर वह अप्सरा लज्जित हो हाथ जोड़कर देवेश्वर इन्द्रसे बोली—॥ २ ॥

अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः ।
क्रोधमुत्स्रक्ष्यते घोरं मयि देव न संशयः ॥ ३ ॥

'सुरपते ! ये महामुनि विश्वामित्र बड़े भयंकर हैं । देव ! इसमें संदेह नहीं कि वे मुझपर भयानक क्रोधका प्रयोग करेंगे ॥ ३ ॥

ततो हि मे भयं देव प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
एवमुक्तस्तया राम सभयं भीतया तदा ॥ ४ ॥
तामुवाच सहस्राक्षो वेपमानां कृताञ्जलिम् ।
मा भैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम् ॥ ५ ॥

अतः देवेश्वर ! मुझे उनसे बड़ा डर लगता है, आप मुझपर कृपा करें ।' श्रीराम ! डरी हुई रम्भाके इस प्रकार भयपूर्वक कहनेपर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हाथ जोड़कर खड़ी और थर-थर काँपती हुई रम्भासे इस प्रकार बोले—'रम्भे ! तू भय न कर, तेरा भला हो, तू मेरी आज्ञा मान ले ॥ ४-५ ॥

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे ।
अहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः ॥ ६ ॥

'वैशाख मासमें जब कि प्रत्येक वृक्ष नवपल्लवोंसे परम सुन्दर शोभा धारण कर लेता है, अपनी मधुर काकलीसे सबके हृदयको खींचनेवाले कोकिल और कामदेवके साथ मैं भी तेरे पास रहूँगा ॥ ६ ॥

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा परमभास्वरम् ।
तमृषिं कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम् ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तू अपने परम कान्तिमान् रूपको हाव-भाव आदि विविध गुणोंसे सम्पन्न करके उसके द्वारा विश्वामित्र मुनिको तपस्यासे विचलित कर दे' ॥ ७ ॥

सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम् ।
लोभयामास ललिता विश्वामित्रं शुचिस्मिता ॥ ८ ॥

देवराजका यह वचन सुनकर उस मधुर मुसकानवाली सुन्दरी अप्सराने परम उत्तम रूप बनाकर विश्वामित्रको लुभाना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

कोकिलस्य तु शुश्राव वल्गु व्याहरतः स्वनम् ।
सम्प्रहृष्टेन मनसा स चैनामन्ववैक्षत ॥ ९ ॥

विश्वामित्रने मीठी बोली बोलनेवाले कोकिलकी मधुर काकली सुनी । उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर जब उस ओर दृष्टिपात किया, तब सामने रम्भा खड़ी दिखायी दी ॥ ९ ॥

अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च ।
दर्शनेन च रम्भाया मुनिः संदेहमागतः ॥ १० ॥

कोकिलके कलरव, रम्भाके अनुपम गीत और अप्रत्याशित दर्शनसे मुनिके मनमें संदेह हो गया ॥ १० ॥

सहस्राक्षस्य तत्सर्वं विज्ञाय मुनिपुङ्गवः ।
रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कुशिकात्मजः ॥ ११ ॥

देवराजका वह सारा कुचक्र उनकी समझमें आ गया । फिर तो मुनिवर विश्वामित्रने क्रोधमें भरकर रम्भाको शाप देते हुए कहा—॥ ११ ॥

यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम् ।
दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे ॥ १२ ॥

दुर्भगे रम्भे ! मैं काम और क्रोधपर विजय पाना चाहता हूँ और तू आकर मुझे लुभाती है । अतः इस अपराधके कारण तू दस हजार वर्षोंतक पत्थरकी प्रतिमा बनकर खड़ी रहेगी ॥ १२ ॥

ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोबलसमन्वितः ।
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम् ॥ १३ ॥

'रम्भे ! शापका समय पूरा हो जानेके बाद एक महान् तेजस्वी और तपोबलसम्पन्न ब्राह्मण (ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठ) मेरे क्रोधसे कलुषित तेरा उद्धार करेंगे' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः ।
अशक्नुवन् धारयितुं कोपं संतापमात्मनः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र अपना क्रोध न रोक सकनेके कारण मन-ही-मन संतप्त हो उठे ॥ १४ ॥

तस्य शापेन महता रम्भा शैली तदाभवत् ।
वचः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च निर्गतः ॥ १५ ॥

मुनिके उस महाशापसे रम्भा तत्काल पत्थरकी प्रतिमा बन गयी । महर्षिका वह शापयुक्त वचन सुनकर कन्दर्प और इन्द्र वहाँसे खिसक गये ॥ १५ ॥

कोपेन च महातेजास्तपोऽपहरणे कृते ।
इन्द्रियैरजितै राम न लेभे शान्तिमात्मनः ॥ १६ ॥

श्रीराम ! क्रोधसे तपस्याका क्षय हो गया और इन्द्रियाँ अभीतक काबूमें न आ सकीं, यह विचारकर उन महातेजस्वी मुनिके चित्तको शान्ति नहीं मिलती थी ॥ १६ ॥

बभूवास्य मनश्चिन्ता तपोऽपहरणे कृते ।
नैवं क्रोधं गमिष्यामि न च वक्ष्ये कथंचन ॥ १७ ॥

तपस्याका अपहरण हो जानेपर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'अबसे न तो क्रोध करूँगा और न किसी भी अवस्थामें मुँहसे कुछ बोलूँगा ॥ १७ ॥

अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि ।
अहं हि शोषयिष्यामि आत्मानं विजितेन्द्रियः ॥ १८ ॥

'अथवा सौ वर्षोंतक मैं श्वास भी न लूँगा । इन्द्रियोंको जीतकर इस शरीरको सुखा डालूँगा ॥ १८ ॥

तावद् यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम् ।

अनुच्छ्वसन्नभुञ्जानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः ॥ १९ ॥

'जबतक अपनी तपस्यासे उपार्जित ब्राह्मणत्व मुझे प्राप्त न होगा, तबतक चाहे अनन्त वर्ष बीत जाय, मैं बिना खाये-पीये खड़ा रहूँगा और साँसतक न लूँगा ॥ १९ ॥

नहि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति मूर्तयः ।
एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां स मुनिपुङ्गवः ।
चकाराप्रतिमां लोके प्रतिज्ञां रघुनन्दन ॥ २० ॥

'तपस्या करते समय मेरे शरीरके अवयव कदापि नष्ट नहीं होंगे।' रघुनन्दन ! ऐसा निश्चय करके मुनिवर विश्वामित्र-ने पुनः एक हजार वर्षोंतक तपस्या करनेके लिये दीक्षा ग्रहण की। उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी संसारमें कहीं तुलना नहीं है ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रजीकी घोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति तथा राजा जनकका उनकी प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजभवनको लौटना

अथ हैमवतीं राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः ।
पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ १ ॥

(शतानन्दजी कहते हैं—) श्रीराम! पूर्वोक्त प्रतिज्ञाके अनन्तर महामुनि विश्वामित्र उत्तर दिशाको त्यागकर पूर्व दिशामें चले गये और वहीं रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे ॥ १ ॥

मौनं वर्षसहस्रस्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम् ।
चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम् ॥ २ ॥

रघुनन्दन ! एक सहस्र वर्षोंतक परम उत्तम मौन व्रत धारण करके वे परम दुष्कर तपस्यामें लगे रहे। उनके उस तपकी कहीं तुलना न थी ॥ २ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु काष्ठभूतं महामुनिम् ।
विघ्नैर्बहुभिराधूतं क्रोधो नान्तरमाविशत् ॥ ३ ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेतक वे महामुनि काष्ठकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे। बीच-बीचमें उनपर बहुत-से विघ्नोंका आक्रमण हुआ, परंतु क्रोध उनके भीतर नहीं घुसने पाया ॥

स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठताव्ययम् ।
तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः ॥ ४ ॥
भोक्तुमारब्धवानन्नं तस्मिन् काले रघूत्तम ।
इन्द्रो द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत ॥ ५ ॥

श्रीराम ! अपने निश्चयपर अटल रहकर उन्होंने अक्षय तपका अनुष्ठान किया। उनका एक सहस्र वर्षोंका व्रत पूर्ण होनेपर वे महान् व्रतधारी महर्षि व्रत समाप्त करके अन्न ग्रहण करनेको उद्यत हुए। रघुकुलभूषण ! इसी समय इन्द्रने ब्राह्मणके वेषमें आकर उनसे तैयार अन्नकी याचना की ॥ ४-५ ॥

तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धं सर्वं विप्राय निश्चितः ।
निःशेषितेऽन्ने भगवानभुक्त्वैव महातपाः ॥ ६ ॥

तब उन्होंने वह सारा तैयार किया हुआ भोजन उस ब्राह्मणको देनेका निश्चय करके दे डाला। उस अन्नमेंसे कुछ भी शेष नहीं बचा। इसलिये वे महातपस्वी भगवान् विश्वामित्र बिना खाये-पीये ही रह गये ॥ ६ ॥

न किंचिदवदद् विप्रं मौनव्रतमुपास्थितः ।
तथैवासीत् पुनर्मौनमनुच्छ्वासं चकार ह ॥ ७ ॥

फिर भी उन्होंने उस ब्राह्मणसे कुछ कहा नहीं। अपने मौन व्रतका यथार्थरूपसे पालन किया। इसके बाद पुनः पहलेकी ही भाँति श्वासोच्छ्वाससे रहित मौन व्रतका अनुष्ठान आरम्भ किया ॥ ७ ॥

अथ वर्षसहस्रं च नोच्छ्वसन् मुनिपुङ्गवः ।
तस्यानुच्छ्वसमानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत ॥ ८ ॥

पूरे एक हजार वर्षोंतक उन मुनिश्रेष्ठने साँसतक नहीं ली। इस तरह साँस न लेनेके कारण उनके मस्तकसे धुआँ उठने लगा ॥ ८ ॥

त्रैलोक्यं येन सम्भ्रान्तमातापितमिवाभवत् ।
ततो देवर्षिगन्धर्वाः पन्नगोरगराक्षसाः ॥ ९ ॥
मोहितास्तपसा तस्य तेजसा मन्दरश्मयः ।
कश्मलोपहताः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ॥ १० ॥

उससे तीनों लोकोंके प्राणी घबरा उठे, सभी संतप्त-से होने लगे। उस समय देवता, ऋषि, गन्धर्व, नाग, सर्प और राक्षस सब मुनिकी तपस्यासे मोहित हो गये। उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे सब-के-सब दुःखसे व्याकुल हो पितामह ब्रह्माजीसे बोले—॥ ९-१० ॥

बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः ।
लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभिवर्धते ॥ ११ ॥

'देव ! अनेक प्रकारके निमित्तोंद्वारा महामुनि विश्वामित्रको लोभ और क्रोध दिलानेकी चेष्टा की गयी; किंतु वे अपनी तपस्याके प्रभावसे निरन्तर आगे बढ़ते जा रहे हैं ॥ ११ ॥

नह्यस्य वृजिनं किंचिद् दृश्यते सूक्ष्ममप्युत ।
न दीयते यदि त्वस्य मनसा यदभीप्सितम् ॥ १२ ॥
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचराचरम् ।
व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किंचित् प्रकाशते ॥ १३ ॥

'हमें उनमें कोई छोटा-सा भी दोष नहीं दिखायी देता। यदि इन्हें इनकी मनचाही वस्तु नहीं दी गयी तो ये अपनी तपस्यासे चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका नाश कर डालेंगे। इस समय सारी दिशाएँ धूमसे आच्छादित हो गयी हैं, कहीं कुछ भी सूझता नहीं है ॥ १२-१३ ॥

सागराः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः ।
प्रकम्पते च वसुधा वायुर्वातीह संकुलः ॥ १४ ॥

'समुद्र क्षुब्ध हो उठे हैं, सारे पर्वत विदीर्ण हुए जाते हैं, धरती डगमग हो रही है और प्रचण्ड आँधी चलने लगी है ॥ १४ ॥

ब्रह्मन् न प्रतिजानीमो नास्तिको जायते जनः ।
सम्मूढमिव त्रैलोक्यं सम्प्रक्षुभितमानसम् ॥ १५ ॥

'ब्रह्मन्! हमें इस उपद्रवके निवारणका कोई उपाय नहीं समझमें आता है। सब लोग नास्तिककी भाँति कर्मानुष्ठानसे शून्य हो रहे हैं। तीनों लोकोंके प्राणियोंका मन क्षुब्ध हो गया है। सभी किंकर्तव्यविमूढ़-से हो रहे हैं ॥ १५ ॥

भास्करो निष्प्रभश्चैव महर्षेस्तस्य तेजसा ।
बुद्धिं न कुरुते यावन्नाशे देव महामुनिः ॥ १६ ॥
तावत् प्रसादो भगवन्नग्निरूपो महाद्युतिः ।

'महर्षि विश्वामित्रके तेजसे सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी है। भगवन्! ये महाकान्तिमान् मुनि अग्निस्वरूप हो रहे हैं। देव! महामुनि विश्वामित्र जबतक जगत्के विनाशका विचार नहीं करते तबतक ही इन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये ॥ १६½ ॥

कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यतेऽखिलम् ॥ १७ ॥
देवराज्यं चिकीर्षेत दीयतामस्य यन्मनः ।

'जैसे पूर्वकालमें प्रलयकालिक अग्निने सम्पूर्ण त्रिलोकीको दग्ध कर डाला था, उसी प्रकार ये भी सबको जलाकर भस्म कर देंगे। यदि ये देवताओंका राज्य प्राप्त करना चाहें तो वह भी इन्हें दे दिया जाय। इनके मनमें जो भी अभिलाषा हो, उसे पूर्ण किया जाय' ॥ १७½ ॥

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः ॥ १८ ॥
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन् ।

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवता महात्मा विश्वामित्रके पास जाकर मधुर वाणीमें बोले— ॥ १८½ ॥

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः ॥ १९ ॥
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक ।

'ब्रह्मर्षे! तुम्हारा स्वागत है, हम तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट हुए हैं। कुशिकनन्दन! तुमने अपनी उग्र तपस्यासे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया ॥ १९½ ॥

दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्गणः ॥ २० ॥
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम् ।

'ब्रह्मन्! मरुद्गणोंसहित मैं तुम्हें दीर्घायु प्रदान करता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। सौम्य! तुम मङ्गलके भागी बनो और तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ सुखपूर्वक जाओ' ॥२०½॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वेषां त्रिदिवौकसाम् ॥ २१ ॥
कृत्वा प्रणामं मुदितो व्याजहार महामुनिः ।

पितामह ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर सम्पूर्ण देवताओंको प्रणाम किया और कहा— ॥ २१½ ॥

ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च ॥ २२ ॥
ॐकारोऽथ वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम् ।
क्षत्रवेदविदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि ॥ २३ ॥
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः ।
यद्येवं परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः ॥ २४ ॥

'देवगण! यदि मुझे (आपकी कृपासे) ब्राह्मणत्व मिल गया और दीर्घ आयुकी भी प्राप्ति हो गयी तो ॐकार, वषट्कार और चारों वेद स्वयं आकर मेरा वरण करें। इसके सिवा जो क्षत्रिय-वेद (धनुर्वेद आदि) तथा ब्रह्मवेद (ऋक् आदि चारों वेद) के ज्ञाताओंमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं, वे ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ स्वयं आकर मुझसे ऐसा कहें (कि तुम ब्राह्मण हो गये), यदि ऐसा हो जाय तो मैं समझूँगा कि मेरा उत्तम मनोरथ पूर्ण हो गया। उस अवस्थामें आप सभी श्रेष्ठ देवगण यहाँसे जा सकते हैं' ॥ २२—२४ ॥

ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां वरः ।
सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत् ॥ २५ ॥

तब देवताओंने मन्त्रजप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिको प्रसन्न किया। इसके बाद ब्रह्मर्षि वसिष्ठने 'एवमस्तु' कहकर विश्वामित्रका ब्रह्मर्षि होना स्वीकार कर लिया और उनके साथ मित्रता स्थापित कर ली ॥ २५ ॥

ब्रह्मर्षिस्त्वं न संदेहः सर्वं सम्पद्यते तव ।
इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम् ॥ २६ ॥

'मुने! तुम ब्रह्मर्षि हो गये, इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारा सब ब्राह्मणोचित संस्कार सम्पन्न हो गया।' ऐसा कहकर सम्पूर्ण देवता जैसे आये थे वैसे लौट गये ॥ २६ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम् ।
पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार उत्तम ब्राह्मणत्व प्राप्त करके धर्मात्मा

विश्वामित्रजीने भी मन्त्र-जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि वसिष्ठका पूजन किया ॥ २७ ॥

कृतकामो महीं सर्वां चचार तपसि स्थितः ।
एवं त्वनेन ब्राह्मण्यं प्राप्तं राम महात्मना ॥ २८ ॥

इस तरह अपना मनोरथ सफल करके तपस्यामें लगे रहकर ही ये सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरने लगे । श्रीराम ! इस प्रकार कठोर तपस्या करके इन महात्माने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ॥ २८ ॥

एष राम मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः ।
एष धर्मः परो नित्यं वीर्यस्यैष परायणम् ॥ २९ ॥

रघुनन्दन ! ये विश्वामित्रजी समस्त मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, ये तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप हैं, उत्तम धर्मके साक्षात् विग्रह हैं और पराक्रमकी परम निधि हैं ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम द्विजोत्तमः ।
शतानन्दवचः श्रुत्वा रामलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३० ॥
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच कुशिकात्मजम् ।

ऐसा कहकर महातेजस्वी विप्रवर शतानन्दजी चुप हो गये । शतानन्दजीके मुखसे यह कथा सुनकर महाराज जनकने श्रीराम और लक्ष्मणके समीप विश्वामित्रजीसे हाथ जोड़कर कहा—॥ ३०½ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव ॥ ३१ ॥

यज्ञं काकुत्स्थसहितः प्राप्तवानसि कौशिक ।
पावितोऽहं त्वया ब्रह्मन् दर्शनेन महामुने ॥ ३२ ॥

'मुनिप्रवर कौशिक ! आप ककुत्स्थकुलनन्दन श्रीराम और लक्ष्मणके साथ मेरे यज्ञमें पधारे, इससे मैं धन्य हो गया । आपने मुझपर बड़ी कृपा की । महामुने ! ब्रह्मन् ! आपने दर्शन देकर मुझे पवित्र कर दिया ॥ ३१-३२ ॥

गुणा बहुविधाः प्राप्तास्तव संदर्शनान्मया ।
विस्तरेण च वै ब्रह्मन् कीर्त्यमानं महत्तपः ॥ ३३ ॥
श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना ।
सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते बहवो गुणाः ॥ ३४ ॥

आपके दर्शनसे मुझे बड़ा लाभ हुआ, अनेक प्रकारके गुण उपलब्ध हुए । ब्रह्मन् ! आज इस सभामें आकर मैंने महात्मा राम तथा अन्य सदस्योंके साथ आपके महान् तेज (प्रभाव)का वर्णन सुना है, बहुत-से गुण सुने हैं । ब्रह्मन् ! शतानन्दजीने आपके महान् तपका वृत्तान्त विस्तार-पूर्वक बताया है ॥ ३३-३४ ॥

अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते बलम् ।
अप्रमेया गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥ ३५ ॥

'कुशिकनन्दन ! आपकी तपस्या अप्रमेय है, आपका बल अनन्त है तथा आपके गुण भी सदा ही माप और संख्यासे परे हैं ॥ ३५ ॥

तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो ।
कर्मकालो मुनिश्रेष्ठ लम्बते रविमण्डलम् ॥ ३६ ॥

'प्रभो ! आपकी आश्चर्यमयी कथाओंके श्रवणसे मुझे तृप्ति नहीं होती है; किंतु मुनिश्रेष्ठ ! यज्ञका समय हो गया है, सूर्यदेव ढलने लगे हैं ॥ ३६ ॥

श्वः प्रभाते महातेजो द्रष्टुमर्हसि मां पुनः ।
स्वागतं जपतां श्रेष्ठ मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी मुने ! आपका स्वागत है । कल प्रातःकाल फिर मुझे दर्शन दें, इस समय मुझे जानेकी आज्ञा प्रदान करें' ॥ ॥ ३७ ॥

एवमुक्तो मुनिवरः प्रशस्य पुरुषर्षभम् ।
विससर्जाशु जनकं प्रीतं प्रीतमनास्तदा ॥ ३८ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर मुनिवर विश्वामित्रजी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने प्रीतियुक्त नरश्रेष्ठ राजा जनककी प्रशंसा करके शीघ्र ही उन्हें विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः ।
प्रदक्षिणं चकाराशु सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ ३९ ॥

उस समय मिथिलापति विदेहराज जनकने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे पूर्वोक्त बात कहकर अपने उपाध्याय और बन्धु-बान्धवोंके साथ उनकी शीघ्र ही परिक्रमा की । फिर वहाँसे वे चल दिये ॥ ३९ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सहरामः सलक्ष्मणः ।
स्ववासमभिचक्राम पूज्यमानो महात्मभिः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा विश्वामित्र भी महात्माओंसे पूजित होकर श्रीराम और लक्ष्मणके साथ अपने विश्रामस्थानपर लौट आये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजा जनकका विश्वामित्र और राम-लक्ष्मणका सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुषका परिचय देना और धनुष चढ़ा देनेपर श्रीरामके साथ उनके ब्याहका निश्चय प्रकट करना

ततः प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाव सराघवम्॥ १॥
तमर्चयित्वा धर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
राघवौ च महात्मानौ तदा वाक्यमुवाच ह॥ २॥

तदनन्तर दूसरे दिन निर्मल प्रभातकाल आनेपर धर्मात्मा राजा जनकने अपना नित्य नियम पूरा करके श्रीराम और लक्ष्मणसहित महात्मा विश्वामित्रजीको बुलाया और शास्त्रीय विधिके अनुसार मुनि तथा उन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंका पूजन करके इस प्रकार कहा—॥ १-२॥

भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानघ।
भवानाज्ञापयतु मामाज्ञाप्यो भवता ह्यहम्॥ ३॥

'भगवन्! आपका स्वागत है। निष्पाप महर्षे! आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ; क्योंकि मैं आपका आज्ञापालक हूँ' ॥ ३॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना।
प्रत्युवाच मुनिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः॥ ४॥

महात्मा जनकके ऐसा कहनेपर बोलनेमें कुशल धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने उनसे यह बात कही—॥ ४॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति॥ ५॥

'महाराज! राजा दशरथके ये दोनों पुत्र विश्वविख्यात क्षत्रिय वीर हैं और आपके यहाँ जो यह श्रेष्ठ धनुष रक्खा है, उसे देखनेकी इच्छा रखते हैं॥ ५॥

एतद् दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः॥ ६॥

'आपका कल्याण हो, वह धनुष इन्हें दिखा दीजिये। इससे इनकी इच्छा पूरी हो जायगी। फिर ये दोनों राजकुमार उस धनुषके दर्शनमात्रसे संतुष्ट हो इच्छानुसार अपनी राजधानीको लौट जायँगे' ॥ ६॥

एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम्।
श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति॥ ७॥

मुनिके ऐसा कहनेपर राजा जनक महामुनि विश्वामित्रसे बोले—'मुनिवर! इस धनुषका वृत्तान्त सुनिये। जिस उद्देश्यसे यह धनुष यहाँ रक्खा गया, वह सब बताता हूँ॥७॥

देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः।
न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः॥ ८॥

'भगवन्! निमिके ज्येष्ठ पुत्र राजा देवरात नामसे विख्यात थे। उन्हीं महात्माके हाथमें यह धनुष धरोहरके रूपमें दिया गया था॥ ८॥

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान्।
विध्वंस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत्॥ ९॥
यस्माद् भागार्थिनो भागं नाकल्पयत मे सुराः।
वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शातयामि वः॥ १०॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें दक्षयज्ञविध्वंसके समय परम पराक्रमी भगवान् शङ्करने खेल-खेलमें ही रोषपूर्वक इस धनुषको उठाकर यज्ञ-विध्वंसके पश्चात् देवताओंसे कहा—'देवगण! मैं यज्ञमें भाग प्राप्त करना चाहता था, किंतु तुमलोगोंने नहीं दिया। इसलिये इस धनुषसे मैं तुम सब लोगोंके परम पूजनीय श्रेष्ठ अङ्ग—मस्तक काट डालूँगा' ॥ ९-१०॥

ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव।
प्रसादयन्त देवेशं तेषां प्रीतोऽभवद् भवः॥ ११॥

'मुनिश्रेष्ठ! यह सुनकर सम्पूर्ण देवता उदास हो गये और स्तुतिके द्वारा देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करने लगे। अन्तमें उनपर भगवान् शिव प्रसन्न हो गये॥ ११॥

प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम्।
तदेतद् देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः॥ १२॥
न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वजे विभौ।

'प्रसन्न होकर उन्होंने उन सब महामनस्वी देवताओंको यह धनुष अर्पण कर दिया। वही यह देवाधिदेव महात्मा भगवान् शङ्करका धनुष-रत्न है, जो मेरे पूर्वज महाराज देवरातके पास धरोहरके रूपमें रक्खा गया था॥ १२½॥

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः॥ १३॥
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा॥ १४॥

'एक दिन मैं यज्ञके लिये भूमिशोधन करते समय खेतमें हल चला रहा था। उसी समय हलके अग्रभागसे जोती गयी भूमि (हराई या सीता) से एक कन्या प्रकट हुई। सीता (हलद्वारा खींची गयी रेखा) से उत्पन्न होनेके कारण उसका नाम सीता रखा गया। पृथ्वीसे प्रकट हुई वह मेरी कन्या क्रमशः बढ़कर सयानी हुई॥ १३-१४॥

वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्॥ १५॥
वरयामासुरागत्य राजानो मुनिपुङ्गव।

'अपनी इस अयोनिजा कन्याके विषयमें मैंने यह

निश्चय किया कि जो अपने पराक्रमसे इस धनुषको चढ़ा देगा, उसीके साथ मैं इसका ब्याह करूँगा। इस तरह इसे वीर्यशुल्का (पराक्रमरूप शुल्कवाली) बनाकर अपने घरमें रख छोड़ा है। मुनिश्रेष्ठ! भूतलसे प्रकट होकर दिनों-दिन बढ़नेवाली मेरी पुत्री सीताको कई राजाओंने यहाँ आकर माँगा ॥ १५½ ॥

तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम् ॥ १६ ॥
वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि सुतामहम्।

'परंतु भगवन्! कन्याका वरण करनेवाले उन सभी राजाओंको मैंने यह बता दिया कि मेरी कन्या वीर्यशुल्का है। (उचित पराक्रम प्रकट करनेपर ही कोई पुरुष उसके साथ विवाह करनेका अधिकारी हो सकता है।) यही कारण है कि मैंने आजतक किसीको अपनी कन्या नहीं दी ॥ १६½ ॥

ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव ॥ १७ ॥
मिथिलामप्युपागम्य वीर्यं जिज्ञासवस्तदा।

'मुनिपुङ्गव! तब सभी राजा मिलकर मिथिलामें आये और पूछने लगे कि राजकुमारी सीताको प्राप्त करनेके लिये कौन-सा पराक्रम निश्चित किया गया है ॥ १७½ ॥

तेषां जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम् ॥ १८ ॥
न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा।

'मैंने पराक्रमकी जिज्ञासा करनेवाले उन राजाओंके सामने यह शिवजीका धनुष रख दिया; परंतु वे लोग इसे उठाने या हिलानेमें भी समर्थ न हो सके ॥ १८½ ॥

तेषां वीर्यवतां वीर्यमल्पं ज्ञात्वा महामुने ॥ १९ ॥
प्रत्याख्याता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन।

'महामुने! उन पराक्रमी नरेशोंकी शक्ति बहुत थोड़ी जानकर मैंने उन्हें कन्या देनेसे इन्कार कर दिया। तपोधन! इसके बाद जो घटना घटी, उसे भी आप सुन लीजिये ॥

ततः परमकोपेन राजानो मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥
अरुन्धन् मिथिलां सर्वे वीर्यसंदेहमागताः।

'मुनिप्रवर! मेरे इन्कार करनेपर ये सब राजा अत्यन्त कुपित हो उठे और अपने पराक्रमके विषयमें संशयापन्न हो मिथिलाको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ २०½ ॥

आत्मानमवधूतं मे विज्ञाय नृपपुङ्गवाः ॥ २१ ॥
रोषेण महताविष्टाः पीडयन् मिथिलां पुरीम्।

'मेरे द्वारा अपना तिरस्कार हुआ मानकर उन श्रेष्ठ नरेशोंने अत्यन्त रुष्ट हो मिथिलापुरीको सब ओरसे पीड़ा देना प्रारम्भ कर दिया ॥ २१½ ॥

ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः ॥ २२ ॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः।

'मुनिश्रेष्ठ! पूरे एक वर्षतक वे घेरा डाले रहे। इस बीचमें युद्धके सारे साधन क्षीण हो गये। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ ॥ २२½ ॥

ततो देवगणान् सर्वांस्तपसाहं प्रसादयम् ॥ २३ ॥
ददुश्च परमप्रीताश्चतुरङ्गबलं सुराः।

'तब मैंने तपस्याके द्वारा समस्त देवताओंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की। देवता बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे चतुरंगिणी सेना प्रदान की ॥ २३½ ॥

ततो भग्ना नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः ॥ २४ ॥
अवीर्या वीर्यसंदिग्धाः सामात्याः पापकारिणः।

'फिर तो हमारे सैनिकोंकी मार खाकर वे सभी पापाचारी राजा, जो बलहीन थे अथवा जिनके बलवान् होनेमें संदेह था, मन्त्रियोंसहित भागकर विभिन्न दिशाओंमें चले गये ॥

तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम् ॥ २५ ॥
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत।

'मुनिश्रेष्ठ! यही वह परम प्रकाशमान धनुष है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! मैं उसे श्रीराम और लक्ष्मण-को भी दिखाऊँगा ॥ २५½ ॥

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम् ॥ २६ ॥

'मुने! यदि श्रीराम इस धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ा दें तो मैं अपनी अयोनिजा कन्या सीताको इन दशरथकुमारके हाथमें दे दूँ' ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा धनुर्भङ्ग तथा राजा जनकका विश्वामित्रकी आज्ञासे राजा दशरथको बुलानेके लिये मन्त्रियोंको भेजना

जनकस्य वचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः।
धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच पार्थिवम् ॥ १ ॥

जनककी यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्र बोले—'राजन्! आप श्रीरामको अपना धनुष दिखाइये' ॥ १ ॥

ततः स राजा जनकः सचिवान् व्यादिदेश ह ।
धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यानुलेपितम् ॥ २ ॥

तब राजा जनकने मन्त्रियोंको आज्ञा दी—'चन्दन और मालाओंसे सुशोभित वह दिव्य धनुष यहाँ ले आओ' ॥ २ ॥

जनकेन समादिष्टाः सचिवाः प्राविशन् पुरम् ।
तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुरमितौजसः ॥ ३ ॥

राजा जनककी आज्ञा पाकर वे अमिततेजस्वी मन्त्री नगरमें गये और उस धनुषको आगे करके पुरीसे बाहर निकले ॥ ३ ॥

नृणां शतानि पञ्चाशद् व्यायतानां महात्मनाम् ।
मञ्जूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथंचन ॥ ४ ॥

वह धनुष आठ पहियोंवाली लोहेकी बहुत बड़ी संदूकमें रक्खा गया था । उसे मोटे-ताजे पाँच हजार महामनस्वी वीर किसी तरह ठेलकर वहाँतक ला सके ॥ ४ ॥

तामादाय सुमञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः ।
सुरोपमं ते जनकमूचुर्नृपतिमन्त्रिणः ॥ ५ ॥

लोहेकी वह संदूक, जिसमें धनुष रखा गया था, लाकर उन मन्त्रियोंने देवोपम राजा जनकसे कहा— ॥ ५ ॥

इदं धनुर्वरं राजन् पूजितं सर्वराजभिः ।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शनीयं यदीच्छसि ॥ ६ ॥

'राजन् ! मिथिलापते ! राजेन्द्र ! यह समस्त राजाओं-द्वारा सम्मानित श्रेष्ठ धनुष है । यदि आप इन दोनों राजकुमारोंको दिखाना चाहते हैं तो दिखाइये' ॥ ६ ॥

तेषां नृपो वचः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत ।
विश्वामित्रं महात्मानं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥

उनकी बात सुनकर राजा जनकने हाथ जोड़कर महात्मा विश्वामित्र तथा दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे कहा— ॥ ७ ॥

इदं धनुर्वरं ब्रह्मञ्जनकैरभिपूजितम् ।
राजभिश्च महावीर्यैरशक्तैः पूरितं तदा ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन् ! यही वह श्रेष्ठ धनुष है, जिसका जनकवंशी नरेशोंने सदा ही पूजन किया है तथा जो इसे उठानेमें समर्थ न हो सके उन महापराक्रमी नरेशोंने भी इसका पूर्वकालमें सम्मान किया है ॥ ८ ॥

नैतत् सुरगणाः सर्वे सासुरा न च राक्षसाः ।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिंनरमहोरगाः ॥ ९ ॥

'इसे समस्त देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, बड़े-बड़े यक्ष, किन्नर और महानाग भी नहीं चढ़ा सके हैं ॥ ९ ॥

क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे ।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलने तथा ॥ १० ॥

'फिर इस धनुषको खींचने, चढ़ाने, इसपर बाण संधान करने, इसकी प्रत्यञ्चापर टङ्कार देने तथा इसे उठाकर इधर-उधर हिलानेमें मनुष्योंकी कहाँ शक्ति है ? ॥ १० ॥

तदेतद् धनुषां श्रेष्ठमानीतं मुनिपुङ्गव ।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥ ११ ॥

'मुनिप्रवर ! यह श्रेष्ठ धनुष यहाँ लाया गया है । महाभाग ! आप इसे इन दोनों राजकुमारोंको दिखाइये' ॥ ११ ॥

विश्वामित्रः सरामस्तु श्रुत्वा जनकभाषितम् ।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ १२ ॥

श्रीरामसहित विश्वामित्रने जनकका वह कथन सुनकर रघुनन्दनसे कहा—'वत्स राम ! इस धनुषको देखो' ॥ १२ ॥

महर्षेर्वचनाद् रामो यत्र तिष्ठति तद्धनुः ।
मञ्जूषां तामपावृत्य दृष्ट्वा धनुरथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महर्षिकी आज्ञासे श्रीरामने जिसमें वह धनुष था उस संदूकको खोलकर उस धनुषको देखा और कहा— ॥ १३ ॥

इदं धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशामीह पाणिना ।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपि वा ॥ १४ ॥

'अच्छा, अब मैं इस दिव्य एवं श्रेष्ठ धनुषमें हाथ लगाता हूँ । मैं इसे उठाने और चढ़ानेका भी प्रयत्न करूँगा' ॥ १४ ॥

बाढमित्यब्रवीद् राजा मुनिश्च समभाषत ।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥ १५ ॥
पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत् स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥ १६ ॥

तब राजा और मुनिने एक स्वरसे कहा—'हाँ, ऐसा ही करो ।' मुनिकी आज्ञासे रघुकुलनन्दन धर्मात्मा श्रीरामने उस धनुषको बीचसे पकड़कर लीलापूर्वक उठा लिया और खेल-सा करते हुए उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी । उस समय कई हजार मनुष्योंकी दृष्टि उनपर लगी थी ॥ १५-१६ ॥

आरोपयित्वा मौर्वीं च पूरयामास तद्धनुः ।
तद् बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः ॥ १७ ॥

प्रत्यञ्चा चढ़ाकर महायशस्वी नरश्रेष्ठ श्रीरामने ज्यों ही उस धनुषको कानतक खींचा त्यों ही वह बीचसे ही टूट गया ॥ १७ ॥

तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसमनिःस्वनः ।
भूमिकम्पश्च सुमहान् पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १८ ॥

टूटते समय उससे वज्रपातके समान बड़ी भारी आवाज हुई । ऐसा जान पड़ा मानो पर्वत फट पड़ा हो । उस समय महान् भूकम्प आ गया ॥ १८ ॥

निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः ।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥ १९ ॥

मुनिवर विश्वामित्र, राजा जनक तथा रघुकुलभूषण दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको छोड़कर शेष जितने लोग वहाँ

खड़े थे, वे सब धनुष टूटनेके उस भयंकर शब्दसे मूर्छित होकर गिर पड़े ॥ १९ ॥

प्रत्याश्वस्ते जने तस्मिन् राजा विगतसाध्वसः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥ २० ॥

थोड़ी देरमें जब सबको चेत हुआ, तब निर्भय हुए राजा जनकने, जो बोलनेमें कुशल और वाक्यके मर्मको समझनेवाले थे, हाथ जोड़कर मुनिवर विश्वामित्रसे कहा—॥ २० ॥

भगवन् दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च अतर्कितमिदं मया ॥ २१ ॥

'भगवन् ! मैंने दशरथनन्दन श्रीरामका पराक्रम आज अपनी आँखों देख लिया । महादेवजीके धनुषको चढ़ाना—यह अत्यन्त अद्भुत, अचिन्त्य और अतर्कित घटना है ॥ २१ ॥

जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति मे सुता ।
सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥ २२ ॥

'मेरी पुत्री सीता दशरथकुमार श्रीरामको पतिरूपमें प्राप्त करके जनकवंशकी कीर्तिका विस्तार करेगी ॥ २२ ॥

मम सत्या प्रतिज्ञा सा वीर्यशुल्केति कौशिक ।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता ॥ २३ ॥

'कुशिकनन्दन ! मैंने सीताको वीर्यशुल्का (पराक्रमरूपी शुल्कसे ही प्राप्त होनेवाली) बताकर जो प्रतिज्ञा की थी, वह आज सत्य एवं सफल हो गयी । सीता मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर है । अपनी यह पुत्री मैं श्रीरामको समर्पित करूँगा ॥ २३ ॥

भवतोऽनुमते ब्रह्मञ्शीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः ।
मम कौशिक भद्रं ते अयोध्यां त्वरिता रथैः ॥ २४ ॥
राजानं प्रश्रितैर्वाक्यैरानयन्तु पुरं मम ।
प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः ॥ २५ ॥

'ब्रह्मन् ! कुशिकनन्दन ! आपका कल्याण हो । यदि आपकी आज्ञा हो तो मेरे मन्त्री रथपर सवार होकर बड़ी उतावलीके साथ शीघ्र ही अयोध्याको जायँ और विनययुक्त वचनोंद्वारा महाराज दशरथको मेरे नगरमें लिवा लायें । साथ ही यहाँका सब समाचार बताकर यह निवेदन करें कि जिसके लिये पराक्रमका ही शुल्क नियत किया गया था, उस जनककुमारी सीताका विवाह श्रीरामचन्द्रजीके साथ होने जा रहा है ॥ २४-२५ ॥

मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै ।
प्रीतियुक्तं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः ॥ २६ ॥

'ये लोग महाराज दशरथसे यह भी कह दें कि आपके दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण विश्वामित्रजीके द्वारा सुरक्षित हो मिथिलामें पहुँच गये हैं । इस प्रकार प्रीतियुक्त हुए राजा दशरथको ये शीघ्रगामी सचिव जल्दी यहाँ बुला लायें' ॥ २६ ॥

कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः ।
अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान् ।
यथावृत्तं समाख्यातुमानेतुं च नृपं तथा ॥ २७ ॥

विश्वामित्रने 'तथास्तु' कहकर राजाकी बातका समर्थन किया । तब धर्मात्मा राजा जनकने अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले मन्त्रियोंको समझा-बुझाकर यहाँका ठीक-ठीक समाचार महाराज दशरथको बताने और उन्हें मिथिलापुरीमें ले जानेके लिये भेज दिया ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

राजा जनकका संदेश पाकर मन्त्रियोंसहित महाराज दशरथका मिथिला जानेके लिये उद्यत होना

जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्यां प्राविशन् पुरीम् ॥ १ ॥

राजा जनककी आज्ञा पाकर उनके दूत अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए । रास्तेमें वाहनोंके थक जानेके कारण तीन रात विश्राम करके चौथे दिन वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

ते राजवचनाद् गत्वा राजवेश्म प्रवेशिताः ।
ददृशुर्देवसंकाशं वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २ ॥

राजाकी आज्ञासे उनका राजमहलमें प्रवेश हुआ । वहाँ जाकर उन्होंने देवतुल्य तेजस्वी बूढ़े महाराज दशरथका दर्शन किया ॥ २ ॥

बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः ।
राजानं प्रश्रितं वाक्यमब्रुवन् मधुराक्षरम् ॥ ३ ॥
मैथिलो जनको राजा साग्निहोत्रपुरस्कृतः ।
मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसंरक्तया गिरा ॥ ४ ॥
कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम् ।
जनकस्त्वां महाराज पृच्छते सपुरःसरम् ॥ ५ ॥

उन सभी दूतोंने दोनों हाथ जोड़ निर्भय हो राजासे मधुर वाणीमें यह विनययुक्त बात कही—'महाराज ! मिथिलापति राजा जनकने अग्निहोत्रकी अग्निको सामने रखकर स्नेहयुक्त

मधुर वाणीमें सेवकोंसहित आपका तथा आपके उपाध्याय और पुरोहितोंका बारंबार कुशल-मङ्गल पूछा है—॥ ३—५ ॥

पृष्ट्वा कुशलमव्यग्रं वैदेहो मिथिलाधिपः ।
कौशिकानुमते वाक्यं भवन्तमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

'इस प्रकार व्यग्रतारहित कुशल पूछकर मिथिलापति विदेहराजने महर्षि विश्वामित्रकी आज्ञासे आपको यह संदेश दिया है ॥ ६ ॥

पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा ।
राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ॥ ७ ॥

'राजन् ! आपको मेरी पहले की हुई प्रतिज्ञाका हाल मालूम होगा । मैंने अपनी पुत्रीके विवाहके लिये पराक्रमका ही शुल्क नियत किया था । उसे सुनकर कितने ही राजा अमर्षमें भरे हुए आये; किंतु यहाँ पराक्रमहीन सिद्ध हुए और विमुख होकर घर लौट गये ॥ ७ ॥

सेयं मम सुता राजन् विश्वामित्रपुरस्कृतैः ।
यदृच्छयागतै राजन् निर्जिता तव पुत्रकैः ॥ ८ ॥

'नरेश्वर ! मेरी इस कन्याको विश्वामित्रजीके साथ अकस्मात् घूमते-फिरते आये हुए आपके पुत्र श्रीरामने अपने पराक्रमसे जीत लिया है ॥ ८ ॥

तच्च रत्नं धनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना ।
रामेण हि महाबाहो महत्यां जनसंसदि ॥ ९ ॥

'महाबाहो ! महात्मा श्रीरामने महान् जनसमुदायके मध्य मेरे यहाँ रक्खे हुए रत्नस्वरूप दिव्य धनुषको बीचसे तोड़ डाला है ॥ ९ ॥

अस्मै देया मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने ।
प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

'अतः मैं इन महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको अपनी वीर्य-शुल्का कन्या सीता प्रदान करूँगा । ऐसा करके मैं अपनी प्रतिज्ञासे पार होना चाहता हूँ । आप इसके लिये मुझे आज्ञा देनेकी कृपा करें ॥ १० ॥

सोपाध्यायो महाराज पुरोहितपुरस्कृतः ।
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते द्रष्टुमर्हसि राघवौ ॥ ११ ॥

'महाराज ! आप अपने गुरु एवं पुरोहितके साथ यहाँ शीघ्र पधारें और अपने दोनों पुत्र रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको देखें । आपका भला हो ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञां मम राजेन्द्र निर्वर्तयितुमर्हसि ।
पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमुपलप्स्यसे ॥ १२ ॥

'राजेन्द्र ! यहाँ पधारकर आप मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करें । यहाँ आनेसे आपको अपने दोनों पुत्रोंके विवाहजनित आनन्दकी प्राप्ति होगी ॥ १२ ॥

एवं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत् ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः ॥ १३ ॥

'राजन् ! इस तरह विदेहराजने आपके पास यह मधुर संदेश भेजा था । इसके लिये उन्हें विश्वामित्रजीकी आज्ञा और शतानन्दजीकी सम्मति भी प्राप्त हुई थी' ॥ १३ ॥

दूतवाक्यं तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः ।
वसिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणश्चैवमब्रवीत् ॥ १४ ॥

संदेशवाहक मन्त्रियोंका यह वचन सुनकर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने महर्षि वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्य मन्त्रियोंसे कहा—॥ १४ ॥

गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसौ ॥ १५ ॥

'कुशिकनन्दन विश्वामित्रसे सुरक्षित हो कौसल्याका आनन्दवर्धन करनेवाले श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणके साथ विदेहदेशमें निवास करते हैं ॥ १५ ॥

दृष्टवीर्यस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना ।
सम्प्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥

'वहाँ महात्मा राजा जनकने ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके पराक्रमको प्रत्यक्ष देखा है । इसलिये वे अपनी पुत्री सीताका विवाह रघुकुलरत्न रामके साथ करना चाहते हैं ॥ १६ ॥

यदि वो रोचते वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १७ ॥

'यदि आपलोगोंकी रुचि एवं सम्मति हो तो हमलोग शीघ्र ही महात्मा जनककी मिथिलापुरीको चलें । इसमें विलम्ब न हो' ॥ १७ ॥

मन्त्रिणो बाढमित्याहुः सह सर्वैर्महर्षिभिः ।
सुप्रीतश्चाब्रवीद् राजा श्वो यात्रेति च मन्त्रिणः ॥ १८ ॥

यह सुनकर समस्त महर्षियोंसहित मन्त्रियोंने 'बहुत अच्छा' कहकर एक स्वरसे चलनेकी सम्मति दी । राजा बड़े प्रसन्न हुए और मन्त्रियोंसे बोले—'कल सबेरे ही यात्रा कर देनी चाहिये' ॥ १८ ॥

मन्त्रिणस्तु नरेन्द्रस्य रात्रिं परमसत्कृताः ।
ऊषुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वैः समन्विताः ॥ १९ ॥

महाराज दशरथके सभी मन्त्री समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे । राजाने उनका बड़ा सत्कार किया । अतः बारात चलनेकी बात सुनकर उन्होंने बड़े आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत की ।

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

दल-बलसहित राजा दशरथकी मिथिला-यात्रा और वहाँ राजा जनकके द्वारा उनका स्वागत-सत्कार

ततो रात्र्यां व्यतीतायां सोपाध्यायः सबान्धवः।
राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीत होनेपर उपाध्याय और बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दशरथ हर्षमें भरकर सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम्।
व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः ॥ २ ॥

'आज हमारे सभी धनाध्यक्ष (खजांची) बहुत-सा धन लेकर नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न हो सबसे आगे चलें। उनकी रक्षाके लिये हर तरहकी सुव्यवस्था होनी चाहिये।

चतुरङ्गबलं चापि शीघ्रं निर्यातु सर्वशः।
ममाज्ञासमकालं च यानं युग्यमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

'सारी चतुरङ्गिणी सेना भी यहाँसे शीघ्र ही कूच कर दे। अभी मेरी आज्ञा सुनते ही सुन्दर-सुन्दर पालकियाँ और अच्छे-अच्छे घोड़े आदि वाहन तैयार होकर चल दें ॥ ३ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ कश्यपः।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा ॥ ४ ॥
एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे स्यन्दनं योजयस्व मे।
यथाकालात्ययो न स्याद् दूता हि त्वरयन्ति माम् ॥ ५ ॥

'वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, दीर्घजीवी मार्कण्डेय मुनि तथा कात्यायन—ये सभी ब्रह्मर्षि आगे-आगे चलें। मेरा रथ भी तैयार करो। देर नहीं होनी चाहिये। राजा जनकके दूत मुझे जल्दी करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं' ॥ ४-५ ॥

वचनाच्च नरेन्द्रस्य सेना च चतुरङ्गिणी।
राजानमृषिभिः सार्धं व्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वयात् ॥ ६ ॥

राजाकी इस आज्ञाके अनुसार चतुरङ्गिणी सेना तैयार हो गयी और ऋषियोंके साथ यात्रा करते हुए महाराज दशरथके पीछे-पीछे चली ॥ ६ ॥

गत्वा चतुरहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान्।
राजा च जनकः श्रीमाञ्श्रुत्वा पूजामकल्पयत् ॥ ७ ॥

चार दिनका मार्ग तय करके वे सब लोग विदेह-देशमें जा पहुँचे। उनके आगमनका समाचार सुनकर श्रीमान् राजा जनकने स्वागत-सत्कारकी तैयारी की ॥ ७ ॥

ततो राजानमासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम्।
मुदितो जनको राजा प्रहर्षं परमं ययौ ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् आनन्दमग्न हुए राजा जनक बूढ़े महाराज दशरथके पास पहुँचे। उनसे मिलकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ ॥

उवाच वचनं श्रेष्ठो नरश्रेष्ठं मुदान्वितम्।
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ॥ ९ ॥

राजाओंमें श्रेष्ठ मिथिलानरेशने आनन्दमग्न हुए पुरुष-प्रवर राजा दशरथसे कहा—'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! आपका स्वागत है। मेरे बड़े भाग्य, जो आप यहाँ पधारे ॥ ९ ॥

पुत्रयोरुभयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम्।
दिष्ट्या प्राप्तो महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १० ॥
सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः।

'आप यहाँ अपने दोनों पुत्रोंकी प्रीति प्राप्त करेंगे, जो उन्होंने अपने पराक्रमसे जीतकर पायी है। महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने भी हमारे सौभाग्यसे ही यहाँ पदार्पण किया है। ये इन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ वैसी ही शोभा पा रहे हैं, जैसे देवताओंके साथ इन्द्र सुशोभित होते हैं ॥ १० १/२ ॥

दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम् ॥ ११ ॥
राघवैः सह सम्बन्धाद् वीर्यश्रेष्ठैर्महाबलैः।

'सौभाग्यसे मेरी सारी विघ्न-बाधाएँ पराजित हो गयीं। रघुकुलके महापुरुष महान् बलसे सम्पन्न और पराक्रममें सबसे श्रेष्ठ होते हैं। इस कुलके साथ सम्बन्ध होनेके कारण आज मेरे कुलका सम्मान बढ़ गया ॥ ११ १/२ ॥

श्वः प्रभाते नरेन्द्र त्वं संवर्तयितुमर्हसि ॥ १२ ॥
यज्ञस्यान्ते नरश्रेष्ठ विवाहमृषिसत्तमैः।

'नरश्रेष्ठ नरेन्द्र! कल सबेरे इन सभी महर्षियोंके साथ उपस्थित हो मेरे यज्ञकी समाप्तिके बाद आप श्रीरामके विवाहका शुभ कार्य सम्पन्न करें ॥ १२ १/२ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः ॥ १३ ॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवाच महीपतिम्।

ऋषियोंकी मण्डलीमें राजा जनककी यह बात सुनकर बोलनेकी कला जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ एवं वाक्यमर्मज्ञ महाराज दशरथने मिथिलानरेशको इस प्रकार उत्तर दिया—॥

प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा ॥ १४ ॥
यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत् करिष्यामहे वयम्।

'धर्मज्ञ! मैंने पहलेसे यह सुन रक्खा है कि प्रतिग्रह दाताके अधीन होता है। अतः आप जैसा कहेंगे, हम वैसा ही करेंगे' ॥ १४ १/२ ॥

तद् धर्मिष्ठं यशस्यं च वचनं सत्यवादिनः ॥ १५ ॥
श्रुत्वा विदेहाधिपतिः परं विस्मयमागतः।

सत्यवादी राजा दशरथका वह धर्मानुकूल तथा यशोवर्धक वचन सुनकर विदेहराज जनकको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १५ १/२ ॥

ततः सर्वे मुनिगणाः परस्परसमागमे ॥ १६ ॥
हर्षेण महता युक्तास्तां रात्रिमवसन् सुखम्।

तदनन्तर सभी महर्षि एक-दूसरेसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और सबने बड़े सुखसे वह रात बितायी ॥ १६½ ॥

अथ रामो महातेजा लक्ष्मणेन समं ययौ ॥ १७ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य पितुः पादावुपस्पृशन् ।

इधर महातेजस्वी श्रीराम विश्वामित्रजीको आगे करके लक्ष्मणके साथ पिताजीके पास गये और उनके चरणोंका स्पर्श किया ॥ १७½ ॥

राजा च राघवौ पुत्रौ निशाम्य परिहर्षितः ॥ १८ ॥
उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः ।

राजा दशरथने भी जनकके द्वारा आदर-सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया तथा अपने दोनों रघुकुल-रत्न पुत्रोंको सकुशल देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ । वे रातमें बड़े सुखसे वहाँ रहे ॥ १८½ ॥

जनकोऽपि महातेजाः क्रिया धर्मेण तत्त्ववित् ।
यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह ॥ १९ ॥

महातेजस्वी तत्त्वज्ञ राजा जनकने भी धर्मके अनुसार यज्ञ-कार्य सम्पन्न किया तथा अपनी दोनों कन्याओंके लिये मङ्गलाचारका सम्पादन करके सुखसे वह रात्रि व्यतीत की ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने भाई कुशध्वजको सांकाश्या नगरीसे बुलवाना, राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सूर्यवंशका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये सीता तथा ऊर्मिलाको वरण करना

ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब सवेरा हुआ और राजा जनक महर्षियोंके सहयोगसे अपना यज्ञ-कार्य सम्पन्न कर चुके, तब वे वाक्य-मर्मज्ञ नरेश अपने पुरोहित शतानन्दजीसे इस प्रकार बोले—॥

भ्राता मम महातेजा वीर्यवानतिधार्मिकः ।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥ २ ॥
वार्याफलकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम् ।
सांकाश्यां पुण्यसंकाशां विमानमिव पुष्पकम् ॥ ३ ॥

'ब्रह्मन् ! मेरे महातेजस्वी और पराक्रमी भाई कुशध्वज जो अत्यन्त धर्मात्मा हैं, इस समय इक्षुमती नदीका जल पीते हुए उसके किनारे बसी हुई कल्याणमयी सांकाश्या नगरीमें निवास करते हैं । उसके चारों ओरके परकोटोंकी रक्षाके लिये शत्रुओंके निवारणमें समर्थ बड़े-बड़े यन्त्र लगाये गये हैं । वह पुरी पुष्पक विमानके समान विस्तृत तथा पुण्यसे उपलब्ध होनेवाले स्वर्गलोकके सदृश सुन्दर है ॥ २-३ ॥

तमहं द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता स मे मतः ।
प्रीतिं सोऽपि महातेजा इमां भोक्ता मया सह ॥ ४ ॥

'वहाँ रहनेवाले अपने भाईको इस शुभ अवसरपर मैं यहाँ उपस्थित देखना चाहता हूँ; क्योंकि मेरी दृष्टिमें वे मेरे इस यज्ञके संरक्षक हैं । महातेजस्वी कुशध्वज भी मेरे साथ श्रीसीता-रामके विवाहसम्बन्धी इस मङ्गल-समारोहका सुख उठावेंगे' ॥ ४ ॥

एवमुक्ते तु वचने शतानन्दस्य संनिधौ ।
आगताः केचिदव्यग्रा जनकस्तान् समादिशत् ॥ ५ ॥

राजाके इस प्रकार कहनेपर शतानन्दजीके समीप कुछ धीर स्वभावके पुरुष आये और राजा जनकने उन्हें पूर्वोक्त आदेश सुनाया ॥ ५ ॥

शासनात् तु नरेन्द्रस्य प्रययुः शीघ्रवाजिभिः ।
समानेतुं नरव्याघ्रं विष्णुमिन्द्राज्ञया यथा ॥ ६ ॥

राजाकी आज्ञासे वे श्रेष्ठ दूत तेज चलनेवाले घोड़ोंपर सवार हो पुरुषसिंह कुशध्वजको बुला लानेके लिये चल दिये । मानो इन्द्रकी आज्ञासे उनके दूत भगवान् विष्णुको बुलाने जा रहे हों ॥ ६ ॥

सांकाश्यां ते समागम्य ददृशुश्च कुशध्वजम् ।
न्यवेदयन् यथावृत्तं जनकस्य च चिन्तितम् ॥ ७ ॥

सांकाश्यामें पहुँचकर उन्होंने कुशध्वजसे भेंट की और मिथिलाका यथार्थ समाचार एवं जनकका अभिप्राय भी निवेदन किया ॥ ७ ॥

तद्वृत्तं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाजवैः ।
आज्ञया तु नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः ॥ ८ ॥

उन महावेगशाली श्रेष्ठ दूतोंके मुखसे मिथिलाका सारा वृत्तान्त सुनकर राजा कुशध्वज महाराज जनककी आज्ञाके अनुसार मिथिलामें आये ॥ ८ ॥

स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम् ।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं जनकं चातिधार्मिकम् ॥ ९ ॥
राजार्हं परमं दिव्यमासनं सोऽध्यरोहत ।

वहाँ उन्होंने धर्मवत्सल महात्मा जनकका दर्शन किया। फिर शतानन्दजी तथा अत्यन्त धार्मिक जनकको प्रणाम करके वे राजाके योग्य परम दिव्य सिंहासनपर विराजमान हुए ॥ ९½ ॥

उपविष्टावुभौ तौ तु भ्रातरावमितद्युती ॥ १० ॥
प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम्।
गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमिक्ष्वाकुममितप्रभम् ॥ ११ ॥
आत्मजैः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम्।

सिंहासनपर बैठे हुए उन दोनों अमिततेजस्वी वीर बन्धुओंने मन्त्रिप्रवर सुदामनको भेजा और कहा—'मन्त्रिवर! आप शीघ्र ही अमिततेजस्वी इक्ष्वाकुकुलभूषण महाराज दशरथके पास जाइये और पुत्रों तथा मन्त्रियोंसहित उन दुर्जय नरेशको यहाँ बुला लाइये' ॥ १०-११½ ॥

औपकार्यां स गत्वा तु रघूणां कुलवर्धनम् ॥ १२ ॥
ददर्श शिरसा चैनमभिवाद्येदमब्रवीत्।

आज्ञा पाकर मन्त्री सुदामन महाराज दशरथके खेमेमें जाकर रघुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले उन नरेशसे मिले और मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् इस प्रकार बोले—॥ १२½ ॥

अयोध्याधिपते वीर वैदेहो मिथिलाधिपः ॥ १३ ॥
स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुरोहितम्।

'वीर अयोध्यानरेश! मिथिलापति विदेहराज जनक इस समय उपाध्याय और पुरोहितसहित आपका दर्शन करना चाहते हैं' ॥ १३½ ॥

मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्षिगणस्तथा ॥ १४ ॥
सबन्धुरगमत् तत्र जनको यत्र वर्तते।

मन्त्रिवर सुदामनकी बात सुनकर राजा दशरथ ऋषियों और बन्धु-बान्धवोंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ राजा जनक विद्यमान थे ॥ १४½ ॥

राजा च मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ १५ ॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो वैदेहमिदमब्रवीत्।

मन्त्री, उपाध्याय और भाई-बन्धुओंसहित राजा दशरथ, जो बोलनेकी कला जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ थे, विदेहराज जनकसे इस प्रकार बोले—॥ १५½ ॥

विदितं ते महाराज इक्ष्वाकुकुलदैवतम् ॥ १६ ॥
वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः।

'महाराज! आपको तो विदित ही होगा कि इक्ष्वाकुकुलके देवता ये महर्षि वसिष्ठजी हैं। हमारे यहाँ सभी कार्योंमें ये भगवान् वसिष्ठ मुनि ही कर्तव्यका उपदेश करते हैं और इन्हींकी आज्ञाका पालन किया जाता है ॥ १६½ ॥

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः सह सर्वैर्महर्षिभिः ॥ १७ ॥
एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठो मे यथाक्रमम्।

'यदि सम्पूर्ण महर्षियोंसहित विश्वामित्रजीकी आज्ञा हो तो ये धर्मात्मा वसिष्ठ ही पहले मेरी कुल-परम्पराका क्रमशः परिचय देंगे' ॥ १७½ ॥

तूष्णींभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १८ ॥
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वैदेहं सपुरोधसम्।

यों कहकर जब राजा दशरथ चुप हो गये, तब वाक्यवेत्ता भगवान् वसिष्ठ मुनि पुरोहितसहित विदेहराजसे इस प्रकार बोले—॥ १८½ ॥

अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ॥ १९ ॥
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः।
विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः ॥ २० ॥

'ब्रह्माजीकी उत्पत्तिका कारण अव्यक्त है—ये स्वयम्भू हैं। नित्य, शाश्वत और अविनाशी हैं। उनसे मरीचिकी उत्पत्ति हुई। मरीचिके पुत्र कश्यप हैं, कश्यपसे विवस्वान्का और विवस्वान्से वैवस्वत मनुका जन्म हुआ ॥ १९-२० ॥

मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुश्च मनोः सुतः।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ २१ ॥

'मनु पहले प्रजापति थे, उनसे इक्ष्वाकु नामक पुत्र हुआ। उन इक्ष्वाकुको ही आप अयोध्याके प्रथम राजा समझें ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः।
कुक्षेरथात्मजः श्रीमान् विकुक्षिरुदपद्यत ॥ २२ ॥

'इक्ष्वाकुके पुत्रका नाम कुक्षि था। वे बड़े तेजस्वी थे। कुक्षिसे विकुक्षि नामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ ॥ २२ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान्।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यः प्रतापवान् ॥ २३ ॥

'विकुक्षिके पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाणके पुत्रका नाम अनरण्य था। वे भी बड़े तेजस्वी और प्रतापी थे ॥ २३ ॥

अनरण्यात् पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुस्तु पृथोरपि।
त्रिशङ्कोरभवत् पुत्रो धुन्धुमारो महायशाः ॥ २४ ॥

'अनरण्यसे पृथु और पृथुसे त्रिशङ्कुका जन्म हुआ। त्रिशङ्कुके पुत्र महायशस्वी धुन्धुमार थे ॥ २४ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महारथः।
युवनाश्वसुतश्चासीन्मान्धाता पृथिवीपतिः ॥ २५ ॥

'धुन्धुमारसे महातेजस्वी महारथी युवनाश्वका जन्म हुआ। युवनाश्वके पुत्र मान्धाता हुए, जो समस्त भूमण्डलके स्वामी थे ॥ २५ ॥

मान्धातुस्तु सुतः श्रीमान् सुसंधिरुदपद्यत।

सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

'मान्धातासे सुसन्धिनामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ। सुसन्धिके भी दो पुत्र हुए—ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् ॥

यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो नाम नामतः ।
भरतात् तु महातेजा असितो नाम जायत ॥ २७ ॥

'ध्रुवसन्धिसे भरतनामक यशस्वी पुत्रका जन्म हुआ। भरतसे महातेजस्वी असितकी उत्पत्ति हुई ॥ २७ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ २८ ॥

'राजा असितके साथ हैहय, तालजङ्घ और शशबिन्दु—इन तीन राजवंशोंके लोग शत्रुता रखने लगे थे ॥ २८ ॥

तांश्च स प्रतियुध्यन् वै युद्धे राजा प्रवासितः ।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥ २९ ॥

'युद्धमें इन तीनों शत्रुओंका सामना करते हुए राजा असित प्रवासी हो गये। वे अपनी दो रानियोंके साथ हिमालयपर आकर रहने लगे ॥ २९ ॥

असितोऽल्पबलो राजा कालधर्ममुपेयिवान् ।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ॥ ३० ॥

'राजा असितके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी थी। वे हिमालयपर ही मृत्युको प्राप्त हो गये। उस समय उनकी दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, ऐसा सुना गया है ॥३०॥

एका गर्भविनाशार्थं सपत्न्यै सगरं ददौ ।

'उनमेंसे एक रानीने अपनी सौतका गर्भ नष्ट करनेके लिये उसे विषयुक्त भोजन दे दिया ॥ ३०½ ॥

ततः शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ ३१ ॥
भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ ३२ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम् ।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी चाभ्यवादयत् ॥ ३३ ॥

'उस समय उस रमणीय एवं श्रेष्ठ पर्वतपर भृगुकुलमें उत्पन्न हुए महामुनि च्यवन तपस्यामें लगे हुए थे। हिमालयपर ही उनका आश्रम था। उन दोनों रानियोंमेंसे एक (जिसे जहर दिया गया था) कालिन्दीनामसे प्रसिद्ध थी। विकसित कमलदलके समान नेत्रोंवाली महाभागा कालिन्दी एक उत्तम पुत्र पानेकी इच्छा रखती थी। उसने देवतुल्य तेजस्वी भृगुनन्दन च्यवनके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ३१—३३ ॥

स तामभ्यवदद् विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
तव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहाबलः ॥ ३४ ॥
महावीर्यो महातेजा अचिरात् संजनिष्यति ।
गरेण सहितः श्रीमान् मा शुचः कमलेक्षणे ॥ ३५ ॥

'उस समय ब्रह्मर्षि च्यवनने पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाली कालिन्दीसे पुत्र-जन्मके विषयमें कहा—'महाभागे! तुम्हारे उदरमें एक महान् बलवान्, महातेजस्वी और महापराक्रमी उत्तम पुत्र है, वह कान्तिमान् बालक थोड़े ही दिनोंमें गर (जहर) के साथ उत्पन्न होगा। अतः कमललोचने! तुम पुत्रके लिये चिन्ता न करो' ॥ ३४-३५ ॥

च्यवनं च नमस्कृत्य राजपुत्री पतिव्रता ।
पत्या विरहिता तस्मात् पुत्रं देवी व्यजायत ॥ ३६ ॥

'वह विधवा राजकुमारी कालिन्दी बड़ी पतिव्रता थी। महर्षि च्यवनको नमस्कार करके वह देवी अपने आश्रमपर लौट आयी। फिर समय आनेपर उसने एक पुत्रको जन्म दिया ॥ ३६ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया ।
सह तेन गरेणैव संजातः सगरोऽभवत् ॥ ३७ ॥

'उसकी सौतने उसके गर्भको नष्ट कर देनेके लिये जो गर (विष) दिया था, उसके साथ ही उत्पन्न होनेके कारण वह राजकुमार 'सगर' नामसे विख्यात हुआ ॥३७॥

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जादथांशुमान् ।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ ३८ ॥

'सगरके पुत्र असमंज और असमंजके पुत्र अंशुमान् हुए। अंशुमान्के पुत्र दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए ॥ ३८ ॥

भगीरथात् ककुत्स्थश्च ककुत्स्थाच्च रघुस्तथा ।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ॥ ३९ ॥

'भगीरथसे ककुत्स्थ और ककुत्स्थसे रघुका जन्म हुआ। रघुके तेजस्वी पुत्र प्रवृद्ध हुए, जो शापसे राक्षस हो गये थे ॥ ३९ ॥

कल्माषपादोऽप्यभवत् तस्माज्जातस्तु शङ्खणः ।
सुदर्शनः शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥ ४० ॥

'वे ही कल्माषपाद नामसे भी प्रसिद्ध हुए थे। उनसे शङ्खण नामक पुत्रका जन्म हुआ था। शङ्खणके पुत्र सुदर्शन और सुदर्शनके अग्निवर्ण हुए ॥ ४० ॥

शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः ।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात् ॥ ४१ ॥

'अग्निवर्णके शीघ्रग और शीघ्रगके पुत्र मरु थे। मरुसे प्रशुश्रुक और प्रशुश्रुकसे अम्बरीषकी उत्पत्ति हुई ॥ ४१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषश्च महीपतिः ।
नहुषस्य ययातिस्तु नाभागस्तु ययातिजः ॥ ४२ ॥
नाभागस्य बभूवाज अजाद् दशरथोऽभवत् ।
अस्माद् दशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥

'अम्बरीषके पुत्र राजा नहुष हुए। नहुषके ययाति और ययातिके पुत्र नाभाग थे। नाभागके अज हुए। अजसे

दशरथका जन्म हुआ। इन्हीं महाराज दशरथसे ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उत्पन्न हुए हैं ॥ ४२-४३ ॥

आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम्।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम् ॥ ४४ ॥

'इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए राजाओंका वंश आदिकालसे ही शुद्ध रहा है। ये सब-के-सब परम धर्मात्मा, वीर और सत्यवादी होते आये हैं ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप।
सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

'नरश्रेष्ठ! नरेश्वर! इसी इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये मैं आपकी दो कन्याओंका वरण करता हूँ। ये आपकी कन्याओंके योग्य हैं और आपकी कन्याएँ इनके योग्य। अतः आप इन्हें कन्यादान करें' ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने कुलका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये क्रमशः सीता और ऊर्मिलाको देनेकी प्रतिज्ञा करना

एवं ब्रुवाणं जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते कुलं नः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥
प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते ॥ २ ॥

महर्षि वसिष्ठ जब इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशका परिचय दे चुके, तब राजा जनकने हाथ जोड़कर उनसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ! आपका भला हो। अब हम भी अपने कुलका परिचय दे रहे हैं, सुनिये। महामते! कुलीन पुरुषके लिये कन्यादानके समय अपने कुलका पूर्णरूपेण परिचय देना आवश्यक है; अतः आप सुननेकी कृपा करें ॥ १-२ ॥

राजाभूत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्त्ववतां वरः ॥ ३ ॥

'प्राचीन कालमें निमिनामक एक परम धर्मात्मा राजा हुए हैं, जो सम्पूर्ण धैर्यशाली महापुरुषोंमें श्रेष्ठ तथा अपने पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः।
प्रथमो जनको राजा जनकादप्युदावसुः ॥ ४ ॥

'उनके मिथिनामक एक पुत्र हुआ। मिथिके पुत्रका नाम जनक हुआ। ये ही हमारे कुलमें पहले जनक हुए हैं (इन्हींके नामपर हमारे वंशका प्रत्येक राजा 'जनक' कहलाता है)। जनकसे उदावसुका जन्म हुआ ॥ ४ ॥

उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः।
नन्दिवर्धसुतः शूरः सुकेतुर्नाम नामतः ॥ ५ ॥

'उदावसुसे धर्मात्मा नन्दिवर्धन उत्पन्न हुए। नन्दिवर्धनके शूरवीर पुत्रका नाम सुकेतु हुआ ॥ ५ ॥

सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः।
देवरातस्य राजर्षेर्बृहद्रथ इति स्मृतः ॥ ६ ॥

'सुकेतुके भी देवरात नामक पुत्र हुआ। देवरात महान् बलवान् और धर्मात्मा थे। राजर्षि देवरातके बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र हुआ ॥ ६ ॥

बृहद्रथस्य शूरोऽभून्महावीरः प्रतापवान्।
महावीरस्य धृतिमान् सुधृतिः सत्यविक्रमः ॥ ७ ॥

'बृहद्रथके पुत्र महावीर हुए, जो शूर और प्रतापी थे। महावीरके सुधृति हुए, जो धैर्यवान् और सत्यपराक्रमी थे ॥ ७ ॥

सुधृतेरपि धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः।
धृष्टकेतोश्च राजर्षेर्हर्यश्व इति विश्रुतः ॥ ८ ॥

'सुधृतिके भी धर्मात्मा धृष्टकेतु हुए, जो परम धार्मिक थे। राजर्षि धृष्टकेतुका पुत्र हर्यश्व नामसे विख्यात हुआ ॥ ८ ॥

हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतीन्धकः।
प्रतीन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्तिरथः सुतः ॥ ९ ॥

हर्यश्वके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रतीन्धक तथा प्रतीन्धकके पुत्र धर्मात्मा राजा कीर्तिरथ हुए ॥ ९ ॥

पुत्रः कीर्तिरथस्यापि देवमीढ इति स्मृतः।
देवमीढस्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः ॥ १० ॥

'कीर्तिरथके पुत्र देवमीढ नामसे विख्यात हुए। देवमीढके विबुध और विबुधके पुत्र महीध्रक हुए ॥ १० ॥

महीध्रकसुतो राजा कीर्तिरातो महाबलः।
कीर्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत ॥ ११ ॥

'महीध्रकके पुत्र महाबली राजा कीर्तिरात हुए। राजर्षि कीर्तिरातके महारोमा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १२ ॥

'महारोमासे धर्मात्मा स्वर्णरोमाका जन्म हुआ। राजर्षि स्वर्णरोमासे ह्रस्वरोमा उत्पन्न हुए॥ १२॥

तस्य पुत्रद्वयं राज्ञो धर्मज्ञस्य महात्मनः।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः॥ १३॥

'धर्मज्ञ महात्मा राजा ह्रस्वरोमाके दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें ज्येष्ठ तो मैं ही हूँ और कनिष्ठ मेरा छोटा भाई वीर कुशध्वज है॥ १३॥

मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य पिता मम।
कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः॥ १४॥

'मेरे पिता मुझ ज्येष्ठ पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके कुशध्वजका सारा भार मुझे सौंपकर वनमें चले गये॥ १४॥

वृद्धे पितरि स्वर्याते धर्मेण धुरमावहम्।
भ्रातरं देवसंकाशं स्नेहात् पश्यन् कुशध्वजम्॥ १५॥

'वृद्ध पिताके स्वर्गगामी हो जानेपर अपने देवतुल्य भाई कुशध्वजको स्नेह-दृष्टिसे देखता हुआ मैं इस राज्यका भार धर्मके अनुसार वहन करने लगा॥ १५॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादागतः पुरात्।
सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः॥ १६॥

'कुछ कालके अनन्तर पराक्रमी राजा सुधन्वाने सांकाश्य नगरसे आकर मिथिलाको चारों ओरसे घेर लिया॥ १६॥

स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम्।
सीता च कन्या पद्माक्षी मह्यं वै दीयतामिति॥ १७॥

'उसने मेरे पास दूत भेजकर कहलाया कि 'तुम शिवजीके परम उत्तम धनुष तथा अपनी कमलनयनी कन्या सीताको मेरे हवाले कर दो'॥ १७॥

तस्याप्रदानान्महर्षे युद्धमासीन्मया सह।
स हतोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे॥ १८॥

महर्षे! मैंने उसकी माँग पूरी नहीं की। इसलिये मेरे साथ उसका युद्ध हुआ। उस संग्राममें सम्मुख युद्ध करता हुआ राजा सुधन्वा मेरे हाथसे मारा गया॥ १८॥

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम्।
सांकाश्ये भ्रातरं शूरमभ्यषिञ्चं कुशध्वजम्॥ १९॥

'मुनिश्रेष्ठ! राजा सुधन्वाका वध करके मैंने सांकाश्य नगरके राज्यपर अपने शूरवीर भ्राता कुशध्वजको अभिषिक्त कर दिया॥ १९॥

कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव॥ २०॥

'महामुने! ये मेरे छोटे भाई कुशध्वज हैं और मैं इनका बड़ा भाई हूँ। मुनिवर! मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको दो बहुएँ प्रदान करता हूँ॥ २०॥

सीतां रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय वै।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम्॥ २१॥
द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिर्वदामि न संशयः।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव॥ २२॥

'आपका भला हो! मैं सीताको श्रीरामके लिये और ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये समर्पित करता हूँ। पराक्रम ही जिसको पानेका शुल्क (शर्त) था, उस देवकन्याके समान सुन्दरी अपनी प्रथम पुत्री सीताको श्रीरामके लिये तथा दूसरी पुत्री ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये दे रहा हूँ। मैं इस बातको तीन बार दुहराता हूँ, इसमें संशय नहीं है। मुनिप्रवर! मैं परम प्रसन्न होकर आपको दो बहुएँ दे रहा हूँ'॥ २१-२२॥

रामलक्ष्मणयो राजन् गोदानं कारयस्व ह।
पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु॥ २३॥

(वसिष्ठजीसे ऐसा कहकर राजा जनकने महाराज दशरथसे कहा—) 'राजन्! अब आप श्रीराम और लक्ष्मणके मङ्गलके लिये इनसे गोदान करवाइये, आपका कल्याण हो। नान्दीमुख श्राद्धका कार्य भी सम्पन्न कीजिये। इसके बाद विवाहका कार्य आरम्भ कीजिये॥ २३॥

मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीयदिवसे प्रभो।
फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयोरर्थे दानं कार्यं सुखोदयम्॥ २४॥

'महाबाहो! प्रभो! आज मघा नक्षत्र है। राजन्! आजके तीसरे दिन उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रमें वैवाहिक कार्य कीजियेगा। आज श्रीराम और लक्ष्मणके अभ्युदयके लिये (गो, भूमि, तिल और सुवर्ण आदिका) दान कराना चाहिये; क्योंकि वह भविष्यमें सुख देनेवाला होता है'॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७१॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा भरत और शत्रुघ्नके लिये कुशध्वजकी कन्याओंका वरण, राजा जनकद्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथका अपने पुत्रोंके मङ्गलके लिये नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना

तमुक्तवन्तं वैदेहं विश्वामित्रो महामुनिः।
उवाच वचनं वीरं वसिष्ठसहितो नृपम्॥ १॥

विदेहराज जनक जब अपनी बात समाप्त कर चुके, तब वसिष्ठसहित महामुनि विश्वामित्र उन वीर नरेशसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

अचिन्त्यान्यप्रमेयाणि कुलानि नरपुङ्गव।
इक्ष्वाकूणां विदेहानां नैषां तुल्योऽस्ति कश्चन॥ २॥

नरश्रेष्ठ! इक्ष्वाकु और विदेह दोनों ही राजाओंके वंश अचिन्तनीय हैं। दोनोंके ही प्रभावकी कोई सीमा नहीं है। इन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई राजवंश नहीं है॥

सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसम्पदा।
रामलक्ष्मणयो राजन् सीता चोर्मिलया सह॥ ३॥

'राजन्! इन दोनों कुलोंमें जो यह धर्म-सम्बन्ध स्थापित होने जा रहा है, सर्वथा एक दूसरेके योग्य है। रूप-वैभवकी दृष्टिसे भी समान योग्यताका है; क्योंकि ऊर्मिलासहित सीता श्रीराम और लक्ष्मणके अनुरूप है॥ ३॥

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम।
भ्राता यवीयान् धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः॥ ४॥
अस्य धर्मात्मना राजन् रूपेणाप्रतिमं भुवि।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्‍न्यर्थं वरयामहे॥ ५॥
भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः।
वरये ते सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! इसके बाद मुझे भी कुछ कहना है; आप मेरी बात सुनिये। राजन्! आपके छोटे भाई जो ये धर्मज्ञ राजा कुशध्वज बैठे हैं, इन धर्मात्मा नरेशके भी दो कन्याएँ हैं, जो इस भूमण्डलमें अनुपम सुन्दरी हैं। नरश्रेष्ठ! भूपाल! मैं आपकी उन दोनों कन्याओंका कुमार भरत और बुद्धिमान् शत्रुघ्न इन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंके लिये इनकी धर्मपत्नी बनानेके उद्देश्यसे वरण करता हूँ॥ ४—६॥

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः।
लोकपालसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः॥ ७॥

'राजा दशरथके ये सभी पुत्र रूप और यौवनसे सुशोभित लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा देवताओंके तुल्य पराक्रमी हैं॥

उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धेनानुबध्यताम्।
इक्ष्वाकुकुलमव्यग्रं भवतः पुण्यकर्मणः॥ ८॥

'राजेन्द्र! इन दोनों भाइयों (भरत और शत्रुघ्न) को भी कन्यादान करके आप इस समस्त इक्ष्वाकुकुलको अपने सम्बन्धसे बाँध लीजिये। आप पुण्यकर्मा पुरुष हैं; आपके चित्तमें व्यग्रता नहीं आनी चाहिये (अर्थात् आप यह सोचकर व्यग्र न हों कि ऐसे महान् सम्राट्के साथ मैं एक ही समय चार वैवाहिक सम्बन्धोंका निर्वाह कैसे कर सकता हूँ।)॥८॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य मते तदा।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवौ॥ ९॥

वसिष्ठजीकी सम्मतिके अनुसार विश्वामित्रजीका यह वचन सुनकर उस समय राजा जनकने हाथ जोड़कर उन दोनों मुनिवरोंसे कहा—॥ ९॥

कुलं धन्यमिदं मन्ये येषां तौ मुनिपुङ्गवौ।
सदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयतः स्वयम्॥ १०॥

'मुनिपुङ्गवो! मैं अपने इस कुलको धन्य मानता हूँ, जिसे आप दोनों इक्ष्वाकुवंशके योग्य समझकर इसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये स्वयं आज्ञा दे रहे हैं॥ १०॥

एवं भवतु भद्रं वः कुशध्वजसुते इमे।
पत्‍न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ॥ ११॥

'आपका कल्याण हो। आप जैसा कहते हैं, ऐसा ही हो। ये सदा साथ रहनेवाले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न कुशध्वज-की इन दोनों कन्याओं (मेंसे एक-एक) को अपनी-अपनी धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण करें॥ ११॥

एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने।
पाणीन् गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः॥ १२॥

'महामुने! ये चारों महाबली राजकुमार एक ही दिन हमारी चारों राजकुमारियोंका पाणिग्रहण करें॥ १२॥

उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः॥ १३॥

'ब्रह्मन्! अगले दो दिन फाल्गुनी नामक नक्षत्रोंसे युक्त हैं। इनमें (पहले दिन तो पूर्वाफाल्गुनी है और) दूसरे दिन (अर्थात् परसों) उत्तराफाल्गुनी नामक नक्षत्र होगा, जिसके देवता प्रजापति भग (तथा अर्यमा) हैं। मनीषी पुरुष उस नक्षत्रमें वैवाहिक कार्य करना बहुत उत्तम बताते हैं'॥१३॥

एवमुक्त्वा वचः सौम्यं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
उभौ मुनिवरौ राजा जनको वाक्यमब्रवीत्॥ १४॥

इस प्रकार सौम्य (मनोहर) वचन कहकर राजा जनक उठकर खड़े हो गये और उन दोनों मुनिवरोंसे हाथ जोड़कर बोले—॥ १४॥

परो धर्मः कृतो मह्यं शिष्योऽस्मि भवतोस्तथा।
इमान्यासनमुख्यानि आस्यतां मुनिपुङ्गवौ ॥ १५॥

'आपलोगोंने कन्याओंका विवाह निश्चित करके मेरे लिये महान् धर्मका सम्पादन कर दिया; मैं आप दोनोंका शिष्य हूँ। मुनिवरो! इन श्रेष्ठ आसनोंपर आप दोनों विराजमान हों॥

यथा दशरथस्येयं तथायोध्या पुरी मम।
प्रभुत्वे नास्ति संदेहो यथार्हं कर्तुमर्हथ ॥ १६॥

'आपके लिये जैसी राजा दशरथकी अयोध्या है, वैसी ही यह मेरी मिथिलापुरी भी है। आपका इसपर पूरा अधिकार है, इसमें संदेह नहीं; अतः आप हमें यथायोग्य आज्ञा प्रदान करते रहें' ॥ १६॥

तथा ब्रुवति वैदेहे जनके रघुनन्दनः।
राजा दशरथो हृष्टः प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १७॥

विदेहराज जनकके ऐसा कहनेपर रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले राजा दशरथने प्रसन्न होकर उन मिथिलानरेशको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १७॥

युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ।
ऋषयो राजसङ्घाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः ॥ १८॥

'मिथिलेश्वर! आप दोनों भाइयोंके गुण असंख्य हैं; आपलोगोंने ऋषियों तथा राजसमूहोंका भलीभाँति सत्कार किया है॥ १८॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामः स्वमालयम्।
श्राद्धकर्माणि विधिवद्विधास्य इति चाब्रवीत् ॥ १९॥

'आपका कल्याण हो, आप मङ्गलके भागी हों। अब हम अपने विश्रामस्थानको जायँगे। वहाँ जाकर मैं विधिपूर्वक नान्दीमुखश्राद्धका कार्य सम्पन्न करूँगा। यह बात भी राजा दशरथने कही॥ १९॥

तमापृष्ट्वा नरपतिं राजा दशरथस्तदा।
मुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशाः ॥ २०॥

तदनन्तर मिथिलानरेशकी अनुमति ले महायशस्वी राजा दशरथ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र और वसिष्ठको आगे करके तुरंत अपने आवासस्थानपर चले गये॥ २०॥

स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः।
प्रभाते काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम् ॥ २१॥

डेरेपर जाकर राजा दशरथने (अपराह्णकालमें) विधिपूर्वक आभ्युदयिक श्राद्ध सम्पन्न किया। तत्पश्चात् (रात बीतनेपर) प्रातःकाल उठकर राजाने तत्कालोचित उत्तम गोदान-कर्म किया॥ २१॥

गवां शतसहस्रं च ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः।
एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः ॥ २२॥

राजा दशरथने अपने एक-एक पुत्रके मङ्गलके लिये धर्मानुसार एक-एक लाख गौएँ ब्राह्मणोंको दान कीं॥ २२॥

सुवर्णशृङ्ग्यः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः।
गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभः ॥ २३॥
वित्तमन्यच्च सुबहु द्विजेभ्यो रघुनन्दनः।
ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः ॥ २४॥

उन सबके सींग सोनेसे मढ़े हुए थे। उन सबके साथ बछड़े और काँसेके दुग्धपात्र थे। इस प्रकार पुत्रवत्सल रघुकुलनन्दन पुरुषशिरोमणि राजा दशरथने चार लाख गौओंका दान किया तथा और भी बहुत-सा धन पुत्रोंके लिये गोदानके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको दिया॥ २३-२४॥

स सुतैः कृतगोदानैर्वृतः सन्नृपतिस्तदा।
लोकपालैरिवाभाति वृतः सौम्यः प्रजापतिः ॥ २५॥

गोदान-कर्म सम्पन्न करके आये हुए पुत्रोंसे घिरे हुए राजा दशरथ उस समय लोकपालोंसे घिरकर बैठे हुए शान्तस्वभाव प्रजापति ब्रह्माके समान शोभा पा रहे थे॥ २५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७२॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम आदि चारों भाइयोंका विवाह

यस्मिंस्तु दिवसे राजा चक्रे गोदानमुत्तमम्।
तस्मिंस्तु दिवसे वीरो युधाजित् समुपेयिवान् ॥ १॥
पुत्रः केकयराजस्य साक्षाद्भरतमातुलः।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च कुशलं राजानमिदमब्रवीत् ॥ २॥

राजा दशरथने जिस दिन अपने पुत्रोंके विवाहके निमित्त उत्तम गोदान किया, उसी दिन भरतके सगे मामा केकयराजकुमार वीर युधाजित् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने महाराजका दर्शन करके कुशल-मङ्गल पूछा और इस प्रकार कहा—॥ १-२॥

केकयाधिपती राजा स्नेहात् कुशलमब्रवीत्।
येषां कुशलकामोऽसि तेषां सम्प्रत्यनामयम् ॥ ३॥

स्वस्रीयं मम राजेन्द्र द्रष्टुकामो महीपतिः ।
तदर्थमुपयातोऽहमयोध्यां रघुनन्दन ॥ ४ ॥

'रघुनन्दन ! केकयदेशके महाराजने बड़े स्नेहके साथ आपका कुशल-समाचार पूछा है और आप भी हमारे यहाँके जिन-जिन लोगोंकी कुशलवार्ता जानना चाहते होंगे, वे सब इस समय स्वस्थ और सानन्द हैं । राजेन्द्र ! केकयनरेश मेरे भानजे भरतको देखना चाहते हैं । अतः इन्हें लेनेके लिये ही मैं अयोध्या आया था ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा त्वहमयोध्यायां विवाहार्थं तवात्मजान् ।
मिथिलामुपयातांस्तु त्वया सह महीपते ॥ ५ ॥
त्वरयाभ्युपयातोऽहं द्रष्टुकामः स्वसुः सुतम् ।

'परंतु पृथ्वीनाथ ! अयोध्यामें यह सुनकर कि 'आपके सभी पुत्र विवाहके लिये आपके साथ मिथिला पधारे हैं, मैं तुरंत यहाँ चला आया; क्योंकि मेरे मनमें अपनी बहिनके बेटेको देखनेकी बड़ी लालसा थी' ॥ ५½ ॥

अथ राजा दशरथः प्रियातिथिमुपस्थितम् ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा परमसत्कारैः पूजनार्हमपूजयत् ।

महाराज दशरथने अपने प्रिय अतिथिको उपस्थित देख बड़े सत्कारके साथ उनकी आवभगत की; क्योंकि वे सम्मान पानेके ही योग्य थे ॥ ६½ ॥

ततस्तामुषितो रात्रिं सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥ ७ ॥
प्रभाते पुनरुत्थाय कृत्वा कर्माणि तत्त्ववित् ।
ऋषींस्तदा पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ ८ ॥

तदनन्तर अपने महामनस्वी पुत्रोंके साथ वह रात व्यतीत करके वे तत्त्वज्ञ नरेश प्रातःकाल उठे और नित्य कर्म करके ऋषियोंको आगे किये जनककी यज्ञशालामें जा पहुँचे ॥ ७-८ ॥

युक्ते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषितैः ।
भ्रातृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ ९ ॥
वसिष्ठं पुरतः कृत्वा महर्षीनपरानपि ।
वसिष्ठो भगवानेत्य वैदेहमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य विजय नामक मुहूर्त आनेपर दूल्हेके अनुरूप समस्त वेष-भूषासे अलंकृत हुए भाइयोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी भी वहाँ आये । वे विवाहकालोचित मङ्गलाचार पूर्ण कर चुके थे तथा वसिष्ठ मुनि एवं अन्यान्य महर्षियोंको आगे करके उस मण्डपमें पधारे थे । उस समय भगवान् वसिष्ठने विदेहराज जनकके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥ ९-१० ॥

राजा दशरथो राजन् कृतकौतुकमङ्गलैः ।
पुत्रैर्नरवरश्रेष्ठो दातारमभिकाङ्क्षते ॥ ११ ॥

'राजन् ! नरेशोंमें श्रेष्ठ महाराज दशरथ अपने पुत्रोंका वैवाहिक सूत्र-बन्धनरूप मङ्गलाचार सम्पन्न करके उन सबके साथ पधारे हैं और भीतर आनेके लिये दाताके आदेशकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ११ ॥

दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां सर्वार्थाः सम्भवन्ति हि ।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

क्योंकि दाता और प्रतिग्रहीता (दान ग्रहण करने-वाले) का संयोग होनेपर ही समस्त दान-धर्मोंका सम्पादन सम्भव होता है; अतः आप विवाह-कालोपयोगी शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके उन्हें बुलाइये और कन्यादानरूप स्वधर्मका पालन कीजिये' ॥ १२ ॥

इत्युक्तः परमोदारो वसिष्ठेन महात्मना ।
प्रत्युवाच महातेजा वाक्यं परमधर्मवित् ॥ १३ ॥

महात्मा वसिष्ठके ऐसा कहनेपर परम उदार, परम धर्मज्ञ और महातेजस्वी राजा जनकने इस प्रकार उत्तर दिया—॥

कः स्थितः प्रतिहारो मे कस्याज्ञां सम्प्रतीक्षते ।
स्वगृहे को विचारोऽस्ति यथा राज्यमिदं तव ॥ १४ ॥
कृतकौतुकसर्वस्वा वेदिमूलमुपागताः ।
मम कन्या मुनिश्रेष्ठ दीप्ता वह्नेरिवार्चिषः ॥ १५ ॥

मुनिश्रेष्ठ ! महाराजके लिये मेरे यहाँ कौन-सा पहरेदार खड़ा है । वे किसके आदेशकी प्रतीक्षा करते हैं । अपने घरमें आनेके लिये कैसा सोच-विचार है ? यह जैसे मेरा राज्य है, वैसे ही आपका है । मेरी कन्याओंका वैवाहिक सूत्र-बन्धनरूप मङ्गलकृत्य सम्पन्न हो चुका है । अब वे यज्ञवेदीके पास आकर बैठी हैं और अग्निकी प्रज्वलित शिखाओंके समान प्रकाशित हो रही हैं ॥ १४-१५ ॥

सद्योऽहं त्वत्प्रतीक्षोऽस्मि वेद्यामस्यां प्रतिष्ठितः ।
अविघ्नं क्रियतां सर्वं किमर्थं हि विलम्ब्यते ॥ १६ ॥

'इस समय तो मैं आपकी ही प्रतीक्षामें वेदीपर बैठा हूँ । आप निर्विघ्नतापूर्वक सब कार्य पूर्ण कीजिये । विलम्ब किस-लिये करते हैं ?' ॥ १६ ॥

तद् वाक्यं जनकेनोक्तं श्रुत्वा दशरथस्तदा ।
प्रवेशयामास सुतान् सर्वानृषिगणानपि ॥ १७ ॥

वसिष्ठजीके मुखसे राजा जनककी कही हुई बात सुनकर महाराज दशरथ उस समय अपने पुत्रों और सम्पूर्ण महर्षियों-को महलके भीतर ले आये ॥ १७ ॥

ततो राजा विदेहानां वसिष्ठमिदमब्रवीत् ।
कारयस्व ऋषे सर्वामृषिभिः सह धार्मिक ॥ १८ ॥
रामस्य लोकरामस्य क्रियां वैवाहिकीं प्रभो ।

तदनन्तर विदेहराजने वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा—धर्मात्मा महर्षे ! प्रभो ! आप ऋषियोंको साथ लेकर लोका-भिराम श्रीरामके विवाहकी सम्पूर्ण क्रिया कराइये' ॥ १८½ ॥

तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १९ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य शतानन्दं च धार्मिकम् ।
प्रपामध्ये तु विधिवद् वेदिं कृत्वा महातपाः ॥ २० ॥
अलंचकार तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः ।
सुवर्णपालिकाभिश्च चित्रकुम्भैश्च साङ्कुरैः ॥ २१ ॥
अङ्कुराढ्यैः शरावैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः ।
शङ्खपात्रैः स्रुवैः स्रुग्भिः पात्रैरर्घ्यादिपूजितैः ॥ २२ ॥
लाजपूर्णैश्च पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः ।
दर्भैः समैः समास्तीर्य विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अग्निमाधाय तं वेद्यां विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः ॥ २४ ॥

तब जनकजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर महातपस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने विश्वामित्र और धर्मात्मा शतानन्दजीको आगे करके विवाह-मण्डपके मध्यभागमें विधिपूर्वक वेदी बनायी और गन्ध तथा फूलोंके द्वारा उसे चारों ओरसे सुन्दर रूपमें सजाया। साथ ही बहुत-सी सुवर्ण-पालिकाएँ, यवके अङ्कुरोंसे युक्त चित्रित कलश, अङ्कुर जमाये हुए सकोरे, धूपयुक्त धूपपात्र, शङ्खपात्र, स्रुवा, स्रुक्, अर्घ्य आदि पूजनपात्र, लावा (खीलों) से भरे हुए पात्र तथा धोये हुए अक्षत आदि समस्त सामग्रियोंको भी यथास्थान रख दिया। तत्पश्चात् महातेजस्वी मुनिवर वसिष्ठजीने बराबर-बराबर कुशोंको वेदीके चारों ओर बिछाकर मन्त्रोच्चारण करते हुए विधिपूर्वक अग्नि-स्थापन किया और विधिको प्रधानता देते हुए मन्त्रपाठपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें हवन किया ॥ १९—२४ ॥

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम् ।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ॥ २५ ॥
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥ २६ ॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर राजा जनकने सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित सीताको ले आकर अग्निके समक्ष श्रीरामचन्द्रजीके सामने बिठा दिया और माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले उन श्रीरामसे कहा—'रघुनन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। यह मेरी पुत्री सीता तुम्हारी सहधर्मिणीके रूपमें उपस्थित है; इसे स्वीकार करो और इसका हाथ अपने हाथमें लो। यह परम पतिव्रता, महान् सौभाग्यवती और छायाकी भाँति सदा तुम्हारे पीछे चलनेवाली होगी' ॥ २५—२७ ॥

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद् राजा मन्त्रपूतं जलं तदा ।
साधु साध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा ॥ २८ ॥

यह कहकर राजाने श्रीरामके हाथमें मन्त्रसे पवित्र हुआ संकल्पका जल छोड़ दिया। उस समय देवताओं और ऋषियोंके मुखसे जनकके लिये साधुवाद सुनायी देने लगा ॥

देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत् ।
एवं दत्त्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ॥ २९ ॥
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः ।
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्मिलामुद्यतां मया ॥ ३० ॥
प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

देवताओंके नगाड़े बजने लगे और आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई। इस प्रकार मन्त्र और संकल्पके जलके साथ अपनी पुत्री सीताका दान करके हर्षमग्न हुए राजा जनकने लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण! तुम्हारा कल्याण हो। आओ, मैं ऊर्मिलाको तुम्हारी सेवामें दे रहा हूँ। इसे स्वीकार करो। इसका हाथ अपने हाथमें लो। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ २९-३०½ ॥

तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
गृहाण पाणिं माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन ।

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर जनकने भरतसे कहा—'रघुनन्दन! माण्डवीका हाथ अपने हाथमें लो' ॥ ३१½ ॥

शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा अब्रवीन्मिथिलेश्वरः ॥ ३२ ॥
श्रुतकीर्तेर्महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ३३ ॥
पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

फिर धर्मात्मा मिथिलेशने शत्रुघ्नको सम्बोधित करके कहा—'महाबाहो! तुम अपने हाथसे श्रुतकीर्तिका पाणिग्रहण करो। तुम चारों भाई शान्तस्वभाव हो। तुम सबने उत्तम व्रतका भलीभाँति आचरण किया है। ककुत्स्थकुलके भूषण-रूप तुम चारों भाई पत्नीसे संयुक्त हो जाओ। इस कार्यमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ ३२-३३½ ॥

जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन् ॥ ३४ ॥
चत्वारस्ते चतसॄणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च ॥ ३५ ॥
ऋषींश्चापि महात्मानः सहभार्या रघूद्वहाः ।
यथोक्तेन ततश्चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

राजा जनकका यह वचन सुनकर उन चारों राजकुमारोंने चारों राजकुमारियोंके हाथ अपने हाथमें लिये। फिर वसिष्ठजीकी सम्मतिसे उन रघुकुलरत्न महामनस्वी राजकुमारोंने अपनी-अपनी पत्नीके साथ अग्नि, वेदी, राजा दशरथ तथा ऋषि-मुनियोंकी परिक्रमा की और वेदोक्त विधिके अनुसार वैवाहिक कार्य पूर्ण किया ॥ ३४—३६ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात् सुभास्वरा ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥ ३७ ॥

**नानृतुश्चाप्सरःसङ्घा गन्धर्वाश्च जगुः कलम्।
विवाहे रघुमुख्यानां तदद्भुतमदृश्यत ॥ ३८ ॥**

उस समय आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई, जो सुहावनी लगती थी। दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि, दिव्य गीतोंके मनोहर शब्द और दिव्य वाद्योंके मधुर घोषके साथ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और गन्धर्व मधुर गीत गाने लगे। उन रघुवंशशिरोमणि राजकुमारोंके विवाहमें वह अद्भुत दृश्य दिखायी दिया ॥ ३७-३८ ॥

**ईदृशे वर्तमाने तु तूर्योद्घुष्टनिनादिते।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या महौजसः ॥ ३९ ॥**

शहनाई आदि बाजोंके मधुर घोषसे गूँजते हुए उस वर्तमान विवाहोत्सवमें उन महातेजस्वी राजकुमारोंने अग्निकी तीन बार परिक्रमा करके पत्नियोंको स्वीकार करते हुए विवाह-कर्म सम्पन्न किया ॥ ३९ ॥

**अथोपकार्यं जग्मुस्ते सभार्या रघुनन्दनाः।
राजाप्यनुययौ पश्यन् सर्षिसङ्घः सबान्धवः ॥ ४० ॥**

तदनन्तर रघुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले वे चारों भाई अपनी पत्नियोंके साथ जनवासेमें चले गये। राजा दशरथ भी ऋषियों और बन्धु-बान्धवोंके साथ पुत्रों और पुत्र-वधुओंको देखते हुए उनके पीछे-पीछे गये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रका अपने आश्रमको प्रस्थान, राजा जनकका कन्याओंको भारी दहेज देकर राजा दशरथ आदिको विदा करना, मार्गमें शुभाशुभ शकुन और परशुरामजीका आगमन

**अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः।
आपृष्ट्वा तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम् ॥ १ ॥**

तदनन्तर जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब महामुनि विश्वामित्र राजा जनक और महाराज दशरथ दोनों राजाओंसे पूछकर उनकी स्वीकृति ले उत्तरपर्वतपर (हिमालयकी शाखाभूत पर्वतपर, जहाँ कौशिकीके तटपर उनका आश्रम था, वहाँ) चले गये ॥ १ ॥

**विश्वामित्रे गते राजा वैदेहं मिथिलाधिपम्।
आपृष्ट्वैव जगामाशु राजा दशरथः पुरीम् ॥ २ ॥**

विश्वामित्रजीके चले जानेपर महाराज दशरथ भी विदेह-राज मिथिलानरेशसे अनुमति लेकर ही शीघ्र अपनी पुरी अयोध्याको जानेके लिये तैयार हो गये ॥ २ ॥

**अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु।
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः ॥ ३ ॥
कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमान् कोट्यम्बराणि च।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥**

उस समय विदेहराज जनकने अपनी कन्याओंके निमित्त दहेजमें बहुत अधिक धन दिया। उन मिथिला-नरेशने कई लाख गौएँ, कितनी ही अच्छी-अच्छी कालीनें तथा करोड़ों-की संख्यामें रेशमी और सूती वस्त्र दिये, भाँति-भाँतिके गहनोंसे सजे हुए बहुत-से दिव्य हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक भेंट किये ॥ ३-४ ॥

**ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च ॥ ५ ॥**

अपनी पुत्रियोंके लिये सहेलीके रूपमें उन्होंने सौ-सौ कन्याएँ तथा उत्तम दास-दासियाँ अर्पित कीं। इन सबके अतिरिक्त राजाने उन सबके लिये एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रजतमुद्रा, मोती तथा मूँगे भी दिये ॥ ५ ॥

**ददौ राजा सुसंहृष्टः कन्याधनमनुत्तमम्।
दत्त्वा बहुविधं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम् ॥ ६ ॥
प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥ ७ ॥
ऋषीन् सर्वान् पुरस्कृत्य जगाम सबलानुगः।**

इस प्रकार मिथिलापति राजा जनकने बड़े हर्षके साथ उत्तमोत्तम कन्याधन (दहेज) दिया। नाना प्रकारकी वस्तुएँ दहेजमें देकर महाराज दशरथकी आज्ञा ले वे पुनः मिथिला-नगरके भीतर अपने महलमें लौट आये। उधर अयोध्या-नरेश राजा दशरथ भी सम्पूर्ण महर्षियोंको आगे करके अपने महात्मा पुत्रों, सैनिकों तथा सेवकोंके साथ अपनी राजधानीकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ६-७½ ॥

**गच्छन्तं तु नरव्याघ्रं सर्षिसङ्घं सराघवम् ॥ ८ ॥
घोरास्तु पक्षिणो वाचो व्याहरन्ति समन्ततः।
भौमाश्चैव मृगाः सर्वे गच्छन्ति स्म प्रदक्षिणम् ॥ ९ ॥**

उस समय ऋषि-समूह तथा श्रीरामचन्द्रजीके साथ यात्रा करते हुए पुरुषसिंह महाराज दशरथके चारों ओर भयंकर

बोली बोलनेवाले पक्षी चहचहाने लगे और भूमिपर विचरनेवाले समस्त मृग उन्हें दाहिने रखकर जाने लगे ॥ ८-९ ॥

तान् दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत ।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः॥ १० ॥
किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति ।

उन सबको देखकर राजसिंह दशरथने वसिष्ठजीसे पूछा—'मुनिवर ! एक ओर तो ये भयंकर पक्षी घोर शब्द कर रहे हैं और दूसरी ओर ये मृग हमें दाहिनी ओर करके जा रहे हैं; यह अशुभ और शुभ दो प्रकारका शकुन कैसा ? यह मेरे हृदयको कम्पित किये देता है। मेरा मन विषादमें डूबा जाता है' ॥ १०½ ॥

राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः ॥ ११ ॥
उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत् फलम् ।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम्॥ १२ ॥
मृगाः प्रशमयन्त्येते संतापस्त्यज्यतामयम् ।

राजा दशरथका यह वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मधुर वाणीमें कहा—'राजन् ! इस शकुनका जो फल है, उसे सुनिये—आकाशमें पक्षियोंके मुखसे जो बात निकल रही है, वह बताती है कि इस समय कोई घोर भय उपस्थित होनेवाला है, परंतु हमें दाहिने रखकर जानेवाले ये मृग उस भयके शान्त हो जानेकी सूचना दे रहे हैं; इसलिये आप यह चिन्ता छोड़िये' ॥ ११-१२½ ॥

तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह ॥ १३ ॥
कम्पयन् मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान् ।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वे नावेदिषुर्दिशः ॥ १४ ॥
भस्मना चावृतं सर्वं सम्मूढमिव तद्बलम् ।

इन लोगोंमें इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि वहाँ बड़े जोरोंकी आँधी उठी। वह सारी पृथ्वीको कँपाती हुई बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करने लगी । सूर्य अन्धकारसे आच्छन्न हो गये। किसीको दिशाओंका भान न रहा। धूलसे ढक जानेके कारण वह सारी सेना मूर्च्छित-सी हो गयी ॥ १३-१४½ ॥

वसिष्ठ ऋषयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा ॥ १५ ॥
ससंज्ञा इव तत्रासन् सर्वमन्यद्विचेतनम् ।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः ॥ १६ ॥

उस समय केवल वसिष्ठ मुनि, अन्यान्य ऋषियों तथा पुत्रोंसहित राजा दशरथको ही चेत रह गया था, शेष सभी लोग अचेत हो गये थे। उस घोर अन्धकारमें राजाकी वह सेना धूलसे आच्छादित-सी हो गयी थी ॥ १५-१६ ॥

ददर्श भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम् ।
भार्गवं जामदग्न्येयं राजा राजविमर्दनम् ॥ १७ ॥
कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम् ।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः ॥ १८ ॥
स्कन्धे चासज्ज्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम् ।
प्रगृह्य शरमुग्रं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम् ॥ १९ ॥

उस समय राजा दशरथने देखा—क्षत्रिय राजाओंका मान-मर्दन करनेवाले भृगुकुलनन्दन जमदग्निकुमार परशुराम सामनेसे आ रहे हैं। वे बड़े भयानक-से दिखायी देते थे। उन्होंने मस्तकपर बड़ी-बड़ी जटाएँ धारण कर रखी थीं। वे कैलासके समान दुर्जय और कालाग्निके समान दुःसह प्रतीत होते थे । तेजोमण्डलद्वारा जाज्वल्यमान-से हो रहे थे। साधारण लोगोंके लिये उनकी ओर देखना भी कठिन था। वे कंधेपर फरसा रखे और हाथमें विद्युद्गणोंके समान दीप्तिमान् धनुष एवं भयंकर बाण लिये त्रिपुरविनाशक भगवान् शिवके समान जान पड़ते थे ॥ १७—१९ ॥

तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलन्तमिव पावकम् ।
वसिष्ठप्रमुखा विप्रा जपहोमपरायणाः ॥ २० ॥
संगता मुनयः सर्वे संजजल्पुरथो मिथः ।

प्रज्वलित अग्निके समान भयानक-से प्रतीत होनेवाले परशुरामको उपस्थित देख जप और होममें तत्पर रहनेवाले वसिष्ठ आदि सभी ब्रह्मर्षि एकत्र हो परस्पर इस प्रकार बातें करने लगे—॥ २०½ ॥

कच्चित् पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति ॥ २१ ॥
पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतमन्युर्गतज्वरः ।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम् ॥ २२ ॥

'क्या अपने पिताके वधसे अमर्षके वशीभूत हो ये क्षत्रियोंका संहार नहीं कर डालेंगे ? पूर्वकालमें क्षत्रियोंका वध करके इन्होंने अपना क्रोध उतार लिया है । अब इनकी बदला लेनेकी चिन्ता दूर हो चुकी है। अतः फिर क्षत्रियोंका संहार करना इनके लिये अभीष्ट नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वार्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम् ।
ऋषयो रामरामेति मधुरं वाक्यमब्रुवन् ॥ २३ ॥

ऐसा कहकर ऋषियोंने भयंकर दिखायी देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामको अर्घ्य लेकर दिया और 'राम ! राम !' कहकर उनसे मधुर वाणीमें बातचीत की ॥ २३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान् ।

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

ऋषियोंकी दी हुई उस पूजाको स्वीकार करके प्रतापी जमदग्निपुत्र परशुरामने दशरथनन्दन श्रीरामसे इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथकी बात अनसुनी करके परशुरामका श्रीरामको वैष्णव-धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये ललकारना

राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम् ।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम् ॥ १ ॥

'दशरथनन्दन श्रीराम ! वीर ! सुना जाता है कि तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है । तुम्हारे द्वारा शिव-धनुषके तोड़े जानेका सारा समाचार भी मेरे कानोंमें पड़ चुका है ॥ १ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा ।
तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम् ॥ २ ॥

'उस धनुषका तोड़ना अद्भुत और अचिन्त्य है; उसके टूटनेकी बात सुनकर मैं एक दूसरा उत्तम धनुष लेकर आया हूँ ॥ २ ॥

तदिदं घोरसंकाशं जामदग्न्यं महद्धनुः ।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च ॥ ३ ॥

'यह है वह जमदग्निकुमार परशुरामका भयंकर और विशाल धनुष । तुम इसे खींचकर इसके ऊपर बाण चढ़ाओ और अपना बल दिखाओ ॥ ३ ॥

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽप्यस्य पूरणे ।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव ॥ ४ ॥

'इस धनुषके चढ़ानेमें भी तुम्हारा बल कैसा है ? यह देखकर मैं तुम्हें ऐसा द्वन्द्वयुद्ध प्रदान करूँगा, जो तुम्हारे पराक्रमके लिये स्पृहणीय होगा' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा ।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

परशुरामजीका वह वचन सुनकर उस समय राजा दशरथके मुखपर विषाद छा गया । वे दीनभावसे हाथ जोड़कर बोले—॥ ५ ॥

क्षत्ररोषात् प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः ।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि ॥ ६ ॥
भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम् ।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! आप स्वाध्याय और व्रतसे शोभा पानेवाले भृगुवंशी ब्राह्मणोंके कुलमें उत्पन्न हुए हैं और स्वयं भी महान् तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हैं; क्षत्रियोंपर अपना रोष प्रकट करके अब शान्त हो चुके हैं; इसलिये मेरे बालक पुत्रोंको आप अभयदान देनेकी कृपा करें; क्योंकि आपने इन्द्रके समीप प्रतिज्ञा करके शस्त्रका परित्याग कर दिया है ॥ ६-७ ॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुंधराम् ।
दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः ॥ ८ ॥

'इस तरह आप धर्ममें तत्पर हो कश्यपजीको पृथ्वीका दान करके वनमें आकर महेन्द्रपर्वतपर आश्रम बनाकर रहते हैं ॥ ८ ॥

मम सर्वविनाशाय सम्प्राप्तस्त्वं महामुने ।
न चैकस्मिन् हते रामे सर्वे जीवामहे वयम् ॥ ९ ॥

'महामुने ! (इस प्रकार शस्त्रत्यागकी प्रतिज्ञा करके भी) आप मेरा सर्वनाश करनेके लिये कैसे आ गये ! (यदि कहें—मेरा रोष तो केवल रामपर है तो) एकमात्र रामके मारे जानेपर ही हम सब लोग अपने जीवनका परित्याग कर देंगे' ॥

ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत ॥ १० ॥

राजा दशरथ इस प्रकार कहते ही रह गये; परंतु प्रतापी परशुरामने उनके उन वचनोंकी अवहेलना करके रामसे ही बातचीत जारी रक्खी ॥ १० ॥

इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिपूजिते ।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥ ११ ॥

वे बोले—'रघुनन्दन ! ये दो धनुष सबसे श्रेष्ठ और दिव्य थे । सारा संसार इन्हें सम्मानकी दृष्टिसे देखता था । साक्षात् विश्वकर्माने इन्हें बनाया था । ये बड़े प्रबल और दृढ़ थे ॥ ११ ॥

अनुसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे ।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इनमेंसे एकको देवताओंने त्रिपुरासुरसे युद्ध करनेके लिये भगवान् शङ्करको दे दिया था । ककुत्स्थनन्दन !

जिससे त्रिपुरका नाश हुआ था, वह वही धनुष था; जिसे तुमने तोड़ डाला है ॥ १२ ॥

इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः ।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ १३ ॥

'और दूसरा दुर्धर्ष धनुष यह है, जो मेरे हाथमें है। इसे श्रेष्ठ देवताओंने भगवान् विष्णुको दिया था। श्रीराम! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला वही यह वैष्णव धनुष है ॥ १३ ॥

समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम् ।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥ १४ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।

'ककुत्स्थनन्दन! यह भी शिवजीके धनुषके समान ही प्रबल है। उन दिनों समस्त देवताओंने भगवान् शिव और विष्णुके बलाबलकी परीक्षाके लिये पितामह ब्रह्माजीसे पूछा था कि 'इन दोनों देवताओंमें कौन अधिक बलशाली है' ॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥ १५ ॥
विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतां वरः ।

'देवताओंके इस अभिप्रायको जानकर सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ पितामह ब्रह्माजीने उन दोनों देवताओं (शिव और विष्णु) में विरोध उत्पन्न कर दिया ॥ १५½ ॥

विरोधे तु महद् युद्धमभवद् रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः ।

'विरोध पैदा होनेपर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले शिव और विष्णुमें बड़ा भारी युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १६½ ॥

तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥
हुंकारेण महादेवः स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः ।

'उस समय भगवान् विष्णुने हुङ्कारमात्रसे शिवजीके भयंकर बलशाली धनुषको शिथिल तथा त्रिनेत्रधारी महादेवजीको भी स्तम्भित कर दिया ॥ १७½ ॥

देवैस्तदा समागम्य सर्षिसङ्घैः सचारणैः ॥ १८ ॥
याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ ।

'तब ऋषिसमूहों तथा चारणोंसहित देवताओंने आकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे शान्तिके लिये याचना की; फिर वे दोनों वहाँ शान्त हो गये ॥ १८½ ॥

जृम्भितं तद् धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥ १९ ॥
अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा ।

'भगवान् विष्णुके पराक्रमसे शिवजीके उस धनुषको शिथिल हुआ देख ऋषियोंसहित देवताओंने भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ माना ॥ १९½ ॥

धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः ॥ २० ॥
देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम् ।

'तदनन्तर कुपित हुए महायशस्वी रुद्रने बाणसहित अपना धनुष विदेहदेशके राजर्षि देवरातके हाथमें दे दिया ॥

इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ २१ ॥
ऋचीके भार्गवे प्रादाद् विष्णुः स न्यासमुत्तमम् ।

'श्रीराम! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले इस वैष्णवधनुषको भगवान् विष्णुने भृगुवंशी ऋचीकमुनिको उत्तम धरोहरके रूपमें दिया था ॥ २१½ ॥

ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः ॥ २२ ॥
पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः ।

'फिर महातेजस्वी ऋचीकने प्रतीकार (प्रतिशोध) की भावनासे रहित अपने पुत्र एवं मेरे पिता महात्मा जमदग्निके अधिकारमें यह दिव्य धनुष दे दिया ॥ २२½ ॥

न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबलसमन्विते ॥ २३ ॥
अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः ।

'तपोबलसे सम्पन्न मेरे पिता जमदग्नि अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके जब ध्यानस्थ होकर बैठे थे, उस समय प्राकृत बुद्धिका आश्रय लेनेवाले कृतवीर्यकुमार अर्जुनने उनको मार डाला ॥ २३½ ॥

वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ।
क्षत्रमुत्सादयं रोषाज्जातं जातमनेकशः ॥ २४ ॥

'पिताके इस अत्यन्त भयंकर वधका, जो उनके योग्य नहीं था, समाचार सुनकर मैंने रोषपूर्वक बारंबार उत्पन्न हुए क्षत्रियोंका अनेक बार संहार किया ॥ २४ ॥

पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ।
यज्ञस्यान्तेऽददं राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ॥ २५ ॥

'श्रीराम! फिर सारी पृथ्वीपर अधिकार करके मैंने एक यज्ञ किया और उस यज्ञके समाप्त होनेपर पुण्यकर्मा महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपसे यह सारी पृथ्वी दे डाली ॥ २५ ॥

दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ।
श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः ॥ २६ ॥

'पृथ्वीका दान करके मैं महेन्द्रपर्वतपर रहने लगा और वहाँ तपस्या करके तपोबलसे सम्पन्न हुआ। वहाँसे शिवजीके धनुषके तोड़े जानेका समाचार सुनकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ ॥ २६ ॥

तदेवं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम् ॥ २७ ॥
योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरंजयम् ।
यदि शक्तोऽसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥ २८ ॥

'श्रीराम! इस प्रकार वह महान् वैष्णवधनुष मेरे पिता-पितामहोंके अधिकारमें रहता चला आया है; अब तुम क्षत्रियधर्मको

सामने रखकर यह उत्तम धनुष हाथमें लो और इस श्रेष्ठ धनुषपर एक ऐसा बाण चढ़ाओ, जो शत्रुनगरीपर विजय पानेमें समर्थ हो; यदि तुम ऐसा कर सके तो मैं तुम्हें द्वन्द्व-युद्धका अवसर दूँगा ॥ २७-२८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीरामका वैष्णव-धनुषको चढ़ाकर अमोघ बाणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकोंका नाश करना तथा परशुरामका महेन्द्रपर्वतको लौट जाना

श्रुत्वा तु जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा ।
गौरवाद्यन्त्रितकथः पितू राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने पिताके गौरवका ध्यान रखकर संकोचवश वहाँ कुछ बोल नहीं रहे थे, परंतु जमदग्निकुमार परशुरामजीकी उपर्युक्त बात सुनकर उस समय वे मौन न रह सके । उन्होंने परशुरामजीसे कहा—॥ १ ॥

कृतवानसि यत् कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः ॥ २ ॥

'भृगुनन्दन ! ब्रह्मन् ! आपने पिताके ऋणसे उऋण होनेकी—पिताके मारनेवालेका वध करके वैरका बदला चुकानेकी भावना लेकर जो क्षत्रिय-संहाररूपी कर्म किया है, उसे मैंने सुना है और हमलोग आपके उस कर्मका अनुमोदन भी करते हैं (क्योंकि वीर पुरुष वैरका प्रतिशोध लेते ही हैं) ॥ २ ॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

'भार्गव ! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ (इसीलिये आप ब्राह्मण-देवताके समक्ष विनीत रहकर कुछ बोल नहीं रहा हूँ) तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ-सा मानकर मेरा तिरस्कार कर रहे हैं । अच्छा, अब मेरा तेज और पराक्रम देखिये' ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर शीघ्र पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो परशुरामजीके हाथसे वह उत्तम धनुष और बाण ले लिया (साथ ही उनसे अपनी वैष्णवी शक्तिको भी वापस ले लिया) ॥ ४ ॥

आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥

उस धनुषको चढ़ाकर श्रीरामने उसकी प्रत्यञ्चापर बाण रक्खा, फिर कुपित होकर उन्होंने जमदग्निकुमार परशुरामजीसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥

'(भृगुनन्दन) राम ! आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं तथा विश्वामित्रजीके साथ भी आपका सम्बन्ध है—इन सब कारणोंसे मैं इस प्राण-संहारक बाणको आपके शरीरपर नहीं छोड़ सकता ॥ ६ ॥

इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान् ।
लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥ ७ ॥
न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरंजयः ।
मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥

'राम ! मेरा विचार है कि आपको जो सर्वत्र शीघ्रतापूर्वक आने-जानेकी शक्ति प्राप्त हुई है, उसे अथवा आपने अपने तपोबलसे जिन अनुपम पुण्यलोकोंको प्राप्त किया है उन्हींको नष्ट कर डालूँ; क्योंकि अपने पराक्रमसे विपक्षीके बलके घमंडको चूर कर देनेवाला यह दिव्य वैष्णव बाण, जो शत्रुओंकी नगरीपर विजय दिलानेवाला है, कभी निष्फल नहीं जाता है' ॥ ७-८ ॥

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥

उस समय उस उत्तम धनुष और बाणको धारण करके खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीको देखनेके लिये सम्पूर्ण देवता और ऋषि ब्रह्माजीको आगे करके वहाँ एकत्र हो गये ॥ ९ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद् द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥ १० ॥

गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, चारण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग भी उस अत्यन्त अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत ॥ ११ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजीने वह श्रेष्ठ धनुष हाथमें ले लिया, उस समय सब लोग आश्चर्यसे जडवत् हो गये । (परशुरामजीका वैष्णव तेज निकलकर श्रीरामचन्द्रजीमें मिल गया । इसलिये) वीर्यहीन हुए जमदग्निकुमार रामने दशरथनन्दन श्रीरामकी ओर देखा ॥ ११ ॥

तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥

तेज निकल जानेसे वीर्यहीन हो जानेके कारण जडवत् बने हुए जमदग्निकुमार परशुरामने कमलनयन श्रीरामसे धीरे-धीरे कहा—॥ १२ ॥

काश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुंधरा।
विषये मे न वस्तव्यमिति मां काश्यपोऽब्रवीत्॥ १३॥

'रघुनन्दन! पूर्वकालमें मैंने कश्यपजीको जब यह पृथिवी दान की थी, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि 'तुम्हें मेरे राज्यमें नहीं रहना चाहिये' ॥ १३ ॥

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन् पृथिव्यां न वसे निशाम्।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ कृता मे काश्यपस्य ह॥ १४॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन! तभीसे अपने गुरु कश्यपजीकी इस आज्ञाका पालन करता हुआ मैं कभी रातमें पृथिवीपर नहीं निवास करता हूँ; क्योंकि यह बात सर्वविदित है कि मैंने कश्यपके सामने रातको पृथिवीपर न रहनेकी प्रतिज्ञा कर रखी है ॥ १४ ॥

तामिमां मद्गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्॥ १५॥

'इसलिये वीर राघव! आप मेरी इस गमनशक्तिको नष्ट न करें। मैं मनके समान वेगसे अभी महेन्द्र नामक श्रेष्ठ पर्वतपर चला जाऊँगा ॥ १५ ॥

लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया।
जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत् कालस्य पर्ययः॥ १६॥

'परंतु श्रीराम! मैंने अपनी तपस्यासे जिन अनुपम लोकोंपर विजय पायी है, उन्हींको आप इस श्रेष्ठ बाणसे नष्ट कर दें; अब इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ १६ ॥

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परंतप॥ १७॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! आपने जो इस धनुष-को चढ़ा दिया, इससे मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हो गया कि आप मधु दैत्यको मारनेवाले अविनाशी देवेश्वर विष्णु हैं। आपका कल्याण हो ॥ १७ ॥

एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे॥ १८॥

'ये सब देवता एकत्र होकर आपकी ओर देख रहे हैं। आपके कर्म अनुपम हैं; युद्धमें आपका सामना करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः॥ १९॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! आपके सामने जो मेरी असमर्थता प्रकट हुई—यह मेरे लिये लज्जाजनक नहीं हो सकती; क्योंकि आप त्रिलोकीनाथ श्रीहरिने मुझे पराजित किया है ॥

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्॥ २०॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रीराम! अब आप अपना अनुपम बाण छोड़िये; इसके छूटनेके बाद ही मैं श्रेष्ठ महेन्द्र पर्वतपर जाऊँगा' ॥ २० ॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान्।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम्॥ २१॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीके ऐसा कहनेपर प्रतापी दशरथनन्दन श्रीमान् रामचन्द्रजीने वह उत्तम बाण छोड़ दिया ॥ २१ ॥

स हतान् दृश्य रामेण स्वाँल्लोकांस्तपसार्जितान्।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्॥ २२॥

अपनी तपस्याद्वारा उपार्जित किये हुए पुण्यलोकोंको श्रीरामचन्द्रजीके चलाये हुए उस बाणसे नष्ट हुआ देखकर परशुरामजी शीघ्र ही उत्तम महेन्द्र पर्वतपर चले गये ॥ २२ ॥

ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम्॥ २३॥

उनके जाते ही समस्त दिशाओं तथा उपदिशाओंका अन्धकार दूर हो गया। उस समय ऋषियोंसहित देवता उत्तम आयुधधारी श्रीरामकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ॥ २३ ॥

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः॥ २४॥

तदनन्तर दशरथनन्दन श्रीरामने जमदग्निकुमार परशुरामका पूजन किया। उनसे पूजित हो प्रभावशाली परशुराम दशरथकुमार रामकी परिक्रमा करके अपने स्थानको चले गये ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥
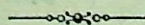
सप्तसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका पुत्रों और वधुओंके साथ अयोध्यामें प्रवेश, शत्रुघ्नसहित भरतका मामाके यहाँ जाना, श्रीरामके बर्तावसे सबका संतोष तथा सीता और श्रीरामका पारस्परिक प्रेम

गते रामे प्रशान्तात्मा रामो दाशरथिर्धनुः।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते महायशाः॥ १॥

जमदग्निकुमार परशुरामजीके चले जानेपर महा-यशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामने शान्तचित्त होकर अपार

शक्तिशाली वरुणके हाथमें वह धनुष दे दिया ॥ १ ॥

अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन् ।
पितरं विकलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि ऋषियोंको प्रणाम करके रघुनन्दन श्रीरामने अपने पिताको विकल देखकर उनसे कहा—॥ २ ॥

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी ।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥

'पिताजी ! जमदग्निकुमार परशुरामजी चले गये । अब आपके अधिनायकत्वमें सुरक्षित यह चतुरङ्गिणी सेना अयोध्याकी ओर प्रस्थान करे' ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय राघवम् ॥ ४ ॥
गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः ।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर राजा दशरथने अपने पुत्र रघुनाथजीको दोनों भुजाओंसे खींचकर छातीसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघा । 'परशुरामजी चले गये' यह सुनकर राजा दशरथको बड़ा हर्ष हुआ, वे आनन्दमग्न हो गये । उस समय उन्होंने अपना और अपने पुत्रका पुनर्जन्म हुआ माना ॥ ४-५ ॥

चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम् ।
पताकाध्वजिनीं रम्यां तूर्योद्घुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उन्होंने सेनाको नगरकी ओर कूँच करनेकी आज्ञा दी और वहाँसे चलकर बड़ी शीघ्रताके साथ वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे । उस समय उस पुरीमें सब ओर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं । सजावटसे नगरकी रमणीयता बढ़ गयी थी और भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनिसे सारी अयोध्या गूँज उठी थी ॥ ६ ॥

सिक्तराजपथारम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
राजप्रवेशसुमुखैः पौरैर्मङ्गलपाणिभिः ॥ ७ ॥
सम्पूर्णां प्राविशद् राजा जनौघैः समलंकृताम् ।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

सड़कोंपर जलका छिड़काव हुआ था, जिससे पुरीकी सुरम्य शोभा बढ़ गयी थी । यत्र-तत्र ढेर-के-ढेर फूल बिखेरे गये थे । पुरवासी मनुष्य हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर राजाके प्रवेशमार्गपर प्रसन्नमुख होकर खड़े थे । इन सबसे भरी-पूरी तथा भारी जनसमुदायसे अलंकृत हुई अयोध्यापुरीमें राजाने प्रवेश किया । नागरिकों तथा पुरवासी ब्राह्मणोंने दूर-तक आगे जाकर महाराजकी अगवानी की थी ॥ ७-८ ॥

पुत्रैरनुगतः श्रीमाञ्श्रीमद्भिश्च महायशाः ।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥

अपने कान्तिमान् पुत्रोंके साथ महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथने अपने प्रिय राजभवनमें, जो हिमालयके समान सुन्दर एवं गगनचुम्बी था, प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ननन्द स्वजनै राजा गृहे कामैः सुपूजितः ।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥ १० ॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः ।

राजमहलमें स्वजनोंद्वारा मनोवाञ्छित वस्तुओंसे परम पूजित हो राजा दशरथने बड़े आनन्दका अनुभव किया । महारानी कौसल्या, सुमित्रा, सुन्दर कटिप्रदेशवाली कैकेयी तथा जो अन्य राजपत्नियाँ थीं, वे सब बहुओंको उतारनेके कार्यमें जुट गयीं ॥ १०½ ॥

ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥ ११ ॥
कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपयोषितः ।
मङ्गलालापनैर्होमैः शोभिताः क्षौमवाससः ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजपरिवारकी उन स्त्रियोंने परम सौभाग्यवती सीता, यशस्विनी ऊर्मिला तथा कुशध्वजकी दोनों कन्याओं—माण्डवी और श्रुतकीर्तिको सवारीसे उतारा और मङ्गल गीत गाती हुई सब वधुओंको घरमें ले गयीं । वे प्रवेशकालिक होमकर्मसे सुशोभित तथा रेशमी साड़ियोंसे अलंकृत थीं ॥

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन् ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ।

उन सबने देवमन्दिरोंमें ले जाकर उन बहुओंसे देवताओंका पूजन करवाया । तदनन्तर नववधूरूपमें आयी हुई उन सभी राजकुमारियोंने वन्दनीय सास-ससुर आदिके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने-अपने पतिके साथ एकान्तमें रहकर वे सब-की-सब बड़े आनन्दसे समय व्यतीत करने लगीं ॥

कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥ १४ ॥
शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥ १५ ॥
भरतं कैकयीपुत्रमब्रवीद् रघुनन्दनः ।

श्रीराम आदि पुरुषश्रेष्ठ चारों भाई अस्त्रविद्यामें निपुण और विवाहित होकर धन और मित्रोंके साथ रहते हुए पिताकी सेवा करने लगे । कुछ कालके बाद रघुकुलनन्दन राजा दशरथने अपने पुत्र कैकेयीकुमार भरतसे कहा—॥ १४-१५½ ॥

अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥
त्वां नेतुमागतो वीरो युधाजिन्मातुलस्तव ।

'बेटा ! ये तुम्हारे मामा केकयराजकुमार वीर युधाजित्

तुम्हें लेनेके लिये आये हैं और कई दिनोंसे यहाँ ठहरे हुए हैं' ॥ १६½ ॥

श्रुत्वा दशरथस्यैतद् भरतः कैकयीसुतः ॥ १७ ॥
गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा ।

दशरथजीकी यह बात सुनकर कैकेयीकुमार भरतने उस समय शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ जानेका विचार किया ॥ १७½ ॥

आपृच्छ्य पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ १८ ॥
मातृश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।

वे नरश्रेष्ठ शूरवीर भरत अपने पिता राजा दशरथ, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम तथा सभी माताओंसे पूछकर उनकी आज्ञा ले शत्रुघ्नसहित वहाँसे चल दिये ॥ १८½ ॥

युधाजित् प्राप्य भरतं सशत्रुघ्नं प्रहर्षितः ॥ १९ ॥
स्वपुरं प्राविशद् वीरः पिता तस्य तुतोष ह ।

शत्रुघ्नसहित भरतको साथ लेकर वीर युधाजित्ने बड़े हर्षके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया, इससे उनके पिताको बड़ा संतोष हुआ ॥ १९½ ॥

गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ २० ॥
पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा ।

भरतके चले जानेपर महाबली श्रीराम और लक्ष्मण उन दिनों अपने देवोपम पिताकी सेवा-पूजामें संलग्न रहने लगे ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २१ ॥
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च ।

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे नगरवासियोंके सब काम देखने तथा उनके समस्त प्रिय तथा हितकर कार्य करने लगे ॥ २१½ ॥

मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परमयन्त्रितः ॥ २२ ॥
गुरूणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत ।

वे अपनेको बड़े संयममें रखते थे और समय-समयपर माताओंके लिये उनके आवश्यक कार्य पूर्ण करके गुरुजनोंके भारी-से-भारी कार्योंको भी सिद्ध करनेका ध्यान रखते थे ॥ २२½ ॥

एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥ २३ ॥
रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः ।

उनके इस बर्तावसे राजा दशरथ, वेदवेत्ता ब्राह्मण तथा वैश्यवर्ग बड़े प्रसन्न रहते थे; श्रीरामके उत्तम शील और सद्व्यवहारसे उस राज्यके भीतर निवास करनेवाले सभी मनुष्य बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ २३½ ॥

तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥ २४ ॥
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।

राजाके उन चारों पुत्रोंमें सत्यपराक्रमी श्रीराम ही लोकमें अत्यन्त यशस्वी तथा महान् गुणवान् हुए—ठीक उसी तरह जैसे समस्त भूतोंमें स्वयम्भू ब्रह्मा ही अत्यन्त यशस्वी और महान् गुणवान् हैं ॥ २४½ ॥

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून् ॥ २५ ॥
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः ।

श्रीरामचन्द्रजी सदा सीताके हृदयमन्दिरमें विराजमान रहते थे तथा मनस्वी श्रीरामका मन भी सीतामें ही लगा रहता था; श्रीरामने सीताके साथ अनेक ऋतुओंतक विहार किया ॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ॥ २६ ॥
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २७ ॥

सीता श्रीरामको बहुत ही प्रिय थीं; क्योंकि वे अपने पिता राजा जनकद्वारा श्रीरामके हाथमें पत्नीरूपसे समर्पित की गयी थीं। सीताके पातिव्रत्य आदि गुणसे तथा उनके सौन्दर्य-गुणसे भी श्रीरामका उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम बढ़ता रहता था; इसी प्रकार सीताके हृदयमें भी उनके पति श्रीराम अपने गुण और सौन्दर्यके कारण द्विगुण प्रीतिपात्र बनकर रहते थे ॥ २६-२७ ॥

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा ।
देवताभिः समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २८ ॥

जनकनन्दिनी मिथिलेशकुमारी सीता श्रीरामके हार्दिक अभिप्रायको भी अपने हृदयसे ही और अधिकरूपमें जान लेती थीं तथा स्पष्टरूपसे बता भी देती थीं । वे रूपमें देवाङ्गनाओंके समान थीं और मूर्तिमती लक्ष्मी-सी प्रतीत होती थीं ॥ २८ ॥

तया स राजर्षिसुतोऽभिकामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः ॥ २९ ॥

श्रेष्ठ राजकुमारी सीता श्रीरामकी ही कामना रखती थीं और श्रीराम भी एकमात्र उन्हींको चाहते थे; जैसे लक्ष्मीके साथ देवेश्वर भगवान् विष्णुकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन सीतादेवीके साथ राजर्षि दशरथकुमार श्रीराम परम प्रसन्न रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

॥ बालकाण्डं सम्पूर्णम् ॥

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अयोध्याकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीरामके सद्गुणोंका वर्णन, राजा दशरथका श्रीरामको युवराज बनानेका विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपदके लोगोंको मन्त्रणाके लिये अपने दरबारमें बुलाना

**गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः॥ १॥**

(पहले यह बताया जा चुका है कि) भरत अपने मामाके यहाँ जाते समय काम आदि शत्रुओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेवाले निष्पाप शत्रुघ्नको भी प्रेमवश अपने साथ लेते गये थे॥ १॥

**स तत्र न्यवसद् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः॥ २॥**

वहाँ भाईसहित उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। उनके मामा युधाजित्, जो अश्वयूथके अधिपति थे, उन दोनोंपर पुत्रसे भी अधिक स्नेह रखते और बड़ा लाड़-प्यार करते थे॥ २॥

**तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः।
भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम्॥ ३॥**

यद्यपि मामाके यहाँ उन दोनों वीर भाइयोंकी सभी इच्छाएँ पूर्ण करके उन्हें पूर्णतः तृप्त किया जाता था, तथापि वहाँ रहते हुए भी उन्हें अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथकी याद कभी नहीं भूलती थी॥ ३॥

**राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ॥ ४॥**

महातेजस्वी राजा दशरथ भी परदेशमें गये हुए महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी अपने उन दोनों पुत्र भरत और शत्रुघ्नका सदा स्मरण किया करते थे॥ ४॥

**सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः।
स्वशरीराद् विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः॥ ५॥**

अपने शरीरसे प्रकट हुई चारों भुजाओंके समान वे सब चारों ही पुरुषशिरोमणि पुत्र- महाराजको बहुत ही प्रिय थे॥

**तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः।
स्वयम्भूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः॥ ६॥**

परंतु उनमें भी महातेजस्वी श्रीराम सबकी अपेक्षा अधिक गुणवान् होनेके कारण समस्त प्राणियोंके लिये ब्रह्माजीकी भाँति पिताके लिये विशेष प्रीतिवर्धक थे॥ ६॥

**स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥ ७॥**

इसका एक कारण और भी था—वे साक्षात् सनातन विष्णु थे और परम प्रचण्ड रावणके वधकी अभिलाषा रखनेवाले देवताओंकी प्रार्थनापर मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे॥

**कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना॥ ८॥**

उन अमित तेजस्वी पुत्र श्रीरामचन्द्रजीसे महारानी कौसल्याकी वैसी ही शोभा होती थी, जैसे वज्रधारी देवराज इन्द्रसे देवमाता अदिति सुशोभित होती हैं॥ ८॥

**स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः॥ ९॥**

श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे अपने गुणोंसे पिता दशरथके समान एवं योग्य पुत्र थे॥ ९॥

**स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥ १०॥**

वे सदा शान्त-चित्त रहते और सान्त्वनापूर्वक मीठे वचन बोलते थे; यदि उनसे कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे॥ १०॥

**कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥ ११॥**

कभी कोई एक बार भी उपकार कर देता तो वे उसके उस एक ही उपकारसे सदा संतुष्ट रहते थे और मनको वशमें रखनेके कारण किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे॥ ११॥

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्ति वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥ १२ ॥

अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासके लिये उपयुक्त समयमें भी बीच-बीचमें अवसर निकालकर वे उत्तम चरित्रमें, ज्ञानमें तथा अवस्थामें बढ़े-चढ़े सत्पुरुषोंके साथ ही सदा बातचीत करते (और उनसे शिक्षा लेते थे) ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥ १३ ॥

वे बड़े बुद्धिमान् थे और सदा मीठे वचन बोलते थे। अपने पास आये हुए मनुष्योंसे पहले स्वयं ही बात करते और ऐसी बातें मुँहसे निकालते जो उन्हें प्रिय लगें; बल और पराक्रमसे सम्पन्न होनेपर भी अपने महान् पराक्रमके कारण उन्हें कभी गर्व नहीं होता था ॥ १३ ॥

न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥ १४ ॥

झूठी बात तो उनके मुखसे कभी निकलती ही नहीं थी। वे विद्वान् थे और सदा वृद्ध पुरुषोंका सम्मान किया करते थे। प्रजाका श्रीरामके प्रति और श्रीरामका प्रजाके प्रति बड़ा अनुराग था ॥ १४ ॥

सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥ १५ ॥

वे परम दयालु, क्रोधको जीतनेवाले और ब्राह्मणोंके पुजारी थे। उनके मनमें दीन-दुखियोंके प्रति बड़ी दया थी। वे धर्मके रहस्यको जाननेवाले, इन्द्रियोंको सदा वशमें रखनेवाले और बाहर-भीतरसे परम पवित्र थे ॥ १५ ॥

कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते।
मन्यते परया प्रीत्या महत् स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥

अपने कुलोचित आचार, दया, उदारता और शरणागत-रक्षा आदिमें ही उनका मन लगता था। वे अपने क्षत्रिय-धर्मको अधिक महत्त्व देते और मानते थे। वे उस क्षत्रिय-धर्मके पालनसे महान् स्वर्ग (परम धाम) की प्राप्ति मानते थे; अतः बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें संलग्न रहते थे ॥ १६ ॥

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ १७ ॥

अमङ्गलकारी निषिद्ध कर्ममें उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं होती थी; शास्त्रविरुद्ध बातोंको सुननेमें उनकी रुचि नहीं थी; वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे ॥ १७ ॥

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान् देशकालवित्।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥ १८ ॥

उनका शरीर नीरोग था और अवस्था तरुण। वे अच्छे वक्ता, सुन्दर शरीरसे सुशोभित तथा देश-कालके तत्त्वको समझनेवाले थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सारतत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है ॥ १८ ॥

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥ १९ ॥

राजकुमार श्रीराम श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त थे। वे अपने सद्गुणोंके कारण प्रजाजनोंको बाहर विचरनेवाले प्राणकी भाँति प्रिय थे ॥ १९ ॥

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ २० ॥

भरतके बड़े भाई श्रीराम सम्पूर्ण विद्याओंके व्रतमें निष्णात और छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ ज्ञाता थे। बाणविद्यामें तो वे अपने पितासे भी बढ़कर थे ॥ २० ॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ २१ ॥

वे कल्याणकी जन्मभूमि, साधु, दैन्यरहित, सत्यवादी और सरल थे; धर्म और अर्थके ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी ॥ २१ ॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ २२ ॥

उन्हें धर्म, काम और अर्थके तत्त्वका सम्यक् ज्ञान था। वे स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे। वे लोकव्यवहारके सम्पादनमें समर्थ और समयोचित धर्माचरणमें कुशल थे ॥ २२ ॥

निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान्।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥

वे विनयशील, अपने आकार (अभिप्राय) को छिपानेवाले, मन्त्रको गुप्त रखनेवाले और उत्तम सहायकोंसे सम्पन्न थे। उनका क्रोध अथवा हर्ष निष्फल नहीं होता था। वे वस्तुओंके त्याग और संग्रहके अवसरको भलीभाँति जानते थे ॥

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥

गुरुजनोंके प्रति उनकी दृढ़ भक्ति थी। ये स्थितप्रज्ञ थे और असद्वस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं करते थे। उनके मुखसे कभी दुर्वचन नहीं निकलता था। वे आलस्यरहित, प्रमादशून्य तथा अपने और पराये मनुष्योंके दोषोंको अच्छी प्रकार जाननेवाले थे ॥ २४ ॥

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः ॥ २५ ॥

वे शास्त्रोंके ज्ञाता, उपकारियोंके प्रति कृतज्ञ तथा पुरुषोंके तारतम्यको अथवा दूसरे पुरुषोंके मनोभावको जाननेमें कुशल थे। यथायोग्य निग्रह और अनुग्रह करनेमें वे पूर्ण चतुर थे ॥ २५ ॥

सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च।
आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित्॥ २६॥

उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह और पालन तथा दुष्ट पुरुषोंके निग्रहके अवसरोंका ठीक-ठीक ज्ञान था। धनकी आयके उपायोंको वे अच्छी तरह जानते थे (अर्थात् फूलोंको नष्ट न करके उनसे रस लेनेवाले भ्रमरोंकी भाँति वे प्रजाओंको कष्ट दिये बिना ही उनसे न्यायोचित धनका उपार्जन करनेमें कुशल थे) तथा शास्त्रवर्णित व्यय-कर्मका भी उन्हें ठीक-ठीक ज्ञान था* ॥ २६ ॥

श्रैष्ठ्यं चास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः॥ २७॥

उन्होंने सब प्रकारके अस्त्रसमूहों तथा संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंसे मिश्रित नाटक आदिके ज्ञानमें निपुणता प्राप्त की थी। वे अर्थ और धर्मका संग्रह (पालन) करते हुए तदनुकूल कामका सेवन करते थे और कभी आलस्यको पास नहीं फटकने देते थे ॥ २७ ॥

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम्॥ २८॥

विहार (क्रीडा या मनोरञ्जन) के उपयोगमें आनेवाले संगीत, वाद्य और चित्रकारी आदि शिल्पोंके भी वे विशेषज्ञ थे। अर्थोंके विभाजनका भी उन्हें सम्यक् ज्ञान था † । वे हाथियों और घोड़ोंपर चढ़ने और उन्हें भाँति-भाँतिकी चालोंकी शिक्षा देनेमें भी निपुण थे ॥ २८ ॥

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः॥ २९॥

श्रीरामचन्द्रजी इस लोकमें धनुर्वेदके सभी विद्वानोंमें श्रेष्ठ थे। अतिरथी वीर भी उनका विशेष सम्मान करते थे। शत्रुसेनापर आक्रमण और प्रहार करनेमें वे विशेष कुशल थे। सेना-संचालनकी नीतिमें उन्होंने अधिक निपुणता प्राप्त की थी ॥ २९ ॥

अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी॥ ३०॥

संग्राममें कुपित होकर आये हुए समस्त देवता और असुर भी उनको परास्त नहीं कर सकते थे। उनमें दोष-दृष्टिका सर्वथा अभाव था। वे क्रोधको जीत चुके थे। दर्प और ईर्ष्याका उनमें अत्यन्त अभाव था ॥ ३० ॥

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः॥ ३१॥
सम्मतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः॥ ३२॥

किसी भी प्राणीके मनमें उनके प्रति अवहेलनाका भाव नहीं था। वे कालके वशमें होकर उसके पीछे-पीछे चलनेवाले नहीं थे (काल ही उनके पीछे चलता था)। इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण राजकुमार श्रीराम समस्त प्रजाओं तथा तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये आदरणीय थे। वे अपने क्षमासम्बन्धी गुणोंके द्वारा पृथ्वीकी समानता करते थे। बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें शचीपति इन्द्रके तुल्य थे ॥ ३१-३२ ॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥ ३३॥

जैसे सूर्यदेव अपनी किरणोंसे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी समस्त प्रजाओंको प्रिय लगनेवाले तथा पिताकी प्रीति बढ़ानेवाले सद्गुणोंसे सुशोभित होते थे ॥ ३३ ॥

तमेवंवृत्तसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम्।
लोकनाथोपमं नाथमकामयत मेदिनी॥ ३४॥

ऐसे सदाचारसम्पन्न, अजेय पराक्रमी और लोकपालोंके समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको पृथ्वी (भूदेवी और भूमण्डलकी प्रजा) ने अपना स्वामी बनानेकी कामना की ॥ ३४ ॥

एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम्।
दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः॥ ३५॥

अपने पुत्र श्रीरामको अनेक अनुपम गुणोंसे युक्त देखकर शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा दशरथने मन-ही-मन कुछ विचार करना आरम्भ किया ॥ ३५ ॥

अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति॥ ३६॥

उन चिरञ्जीवी बूढ़े महाराज दशरथके हृदयमें यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार मेरे जीते-जी श्रीरामचन्द्र राजा हो जायँ और उनके राज्याभिषेकसे प्राप्त होनेवाली यह प्रसन्नता मुझे कैसे सुलभ हो ॥ ३६ ॥

---

* शास्त्रमें व्ययका विधान इस प्रकार देखा जाता है—

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव॥
(महा० सभा० ५। ७१)

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है?

† नीचे लिखी पाँच वस्तुओंके लिये अर्थका विभाजन करनेवाला मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है। वे वस्तुएँ हैं—धर्म, यश, अर्थ, आत्मा और स्वजन। यथा—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते॥
(श्रीमद्भा० ८। १९। ३७)

एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते।
कदा नामसुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम्॥ ३७॥

उनके हृदयमें यह उत्तम अभिलाषा बारंबार चक्कर लगाने लगी कि कब मैं अपने प्रिय पुत्र श्रीरामका राज्याभिषेक देखूँगा॥ ३७॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥ ३८॥

वे सोचने लगे कि 'श्रीराम सब लोगोंके अभ्युदयकी कामना करते और सम्पूर्ण जीवोंपर दया रखते हैं। वे लोकमें वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति मुझसे भी बढ़कर प्रिय हो गये हैं॥ ३८॥

यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ।
महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः॥ ३९॥

'श्रीराम बल-पराक्रममें यम और इन्द्रके समान, बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और धैर्यमें पर्वतके समान हैं। गुणोंमें तो वे मुझसे सर्वथा बढ़े-चढ़े हैं॥ ३९॥

महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम्।
अनेन वयसा दृष्ट्वा यथा स्वर्गमवाप्नुयाम्॥ ४०॥

'मैं इसी उम्रमें अपने बेटे श्रीरामको इस सारी पृथ्वीका राज्य करते देख यथासमय सुखसे स्वर्ग प्राप्त करूँ, यही मेरे जीवनकी साध है'॥ ४०॥

इत्येवं विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः।
शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः॥ ४१॥
तं समीक्ष्य तदा राजा युक्तं समुदितैर्गुणैः।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत॥ ४२॥

इस प्रकार विचारकर तथा अपने पुत्र श्रीरामको उन-उन नाना प्रकारके विलक्षण, सज्जनोचित, असंख्य तथा लोकोत्तर गुणोंसे, जो अन्य राजाओंमें दुर्लभ हैं, विभूषित देख राजा दशरथने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके उन्हें युवराज बनानेका निश्चय कर लिया॥ ४१-४२॥

दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम्।
संचचक्षेऽथ मेधावी शरीरे चात्मनो जराम्॥ ४३॥

बुद्धिमान् महाराज दशरथने मन्त्रीको स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूतलमें दृष्टिगोचर होनेवाले उत्पातोंका घोर भय सूचित किया और अपने शरीरमें वृद्धावस्थाके आगमनकी भी बात बतायी॥ ४३॥

पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः।
लोके रामस्य बुबुधे सम्प्रियत्वं महात्मनः॥ ४४॥

पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले महात्मा श्रीराम समस्त प्रजाके प्रिय थे। लोकमें उनका सर्वप्रिय होना राजाके अपने आन्तरिक शोकको दूर करनेवाला था, इस बातको राजाने अच्छी तरह समझा॥ ४४॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च।
प्राप्ते काले स धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान् नृपः॥ ४५॥

तदनन्तर उपयुक्त समय आनेपर धर्मात्मा राजा दशरथने अपने और प्रजाके कल्याणके लिये मन्त्रियोंको श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये शीघ्र तैयारी करनेकी आज्ञा दी। इस उतावलेमें उनके हृदयका प्रेम और प्रजाका अनुराग भी कारण था॥ ४५॥

नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः॥ ४६॥

उन भूपालने भिन्न-भिन्न नगरोंमें निवास करनेवाले प्रधान-प्रधान पुरुषों तथा अन्य जनपदोंके सामन्त राजाओंको भी मन्त्रियोंद्वारा अयोध्यामें बुलवा लिया॥ ४६॥

तान् वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान्।
ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः॥ ४७॥

उन सबको ठहरनेके लिये घर देकर नाना प्रकारके आभूषणोंद्वारा उनका यथायोग्य सत्कार किया। तत्पश्चात् स्वयं भी अलंकृत होकर राजा दशरथ उन सबसे उसी प्रकार मिले, जैसे प्रजापति ब्रह्मा प्रजावर्गसे मिलते हैं॥ ४७॥

न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम्॥ ४८॥

जल्दीबाजीके कारण राजा दशरथने केकयनरेशको तथा मिथिलापति जनकको भी नहीं बुलवाया।* उन्होंने सोचा वे दोनों सम्बन्धी इस प्रिय समाचारको पीछे सुन लेंगे॥ ४८॥

अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परपुरार्दने।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः॥ ४९॥

तदनन्तर शत्रुनगरीको पीड़ित करनेवाले राजा दशरथ जब दरबारमें आ बैठे, तब (केकयराज और जनकको छोड़कर) शेष सभी लोकप्रिय नरेशोंने राजसभामें प्रवेश किया॥ ४९॥

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः॥ ५०॥

वे सभी नरेश राजाद्वारा दिये गये नाना प्रकारके सिंहासनोंपर उन्हींकी ओर मुँह करके विनीतभावसे बैठे थे।

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ
सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः॥ ५१॥

राजासे सम्मानित होकर विनीतभावसे उन्हींके आस-पास

---

* केकयनरेशके साथ भरत-शत्रुघ्न भी आ जाते। इन सबके तथा राजा जनकके रहनेसे श्रीरामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो जाता और वे वनमें नहीं जाने पाते—इसी डरसे देवताओंने राजा दशरथको इन लोगोंको न बुलानेकी बुद्धि दे दी।

बैठे हुए सामन्त नरेशों तथा नगर और जनपदके निवासी मनुष्योंसे घिरे हुए महाराज दशरथ उस समय देवताओंके बीचमें विराजमान सहस्रनेत्रधारी भगवान् इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

राजा दशरथद्वारा श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रस्ताव तथा सभासदोंद्वारा श्रीरामके गुणोंका वर्णन करते हुए उक्त प्रस्तावका सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन

ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः ।
हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥ १ ॥
दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना ।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥

उस समय राजसभामें बैठे हुए सब लोगोंको सम्बोधित करके महाराज दशरथने मेघके समान शब्द करते हुए दुन्दुभिकी ध्वनिके सदृश अत्यन्त गम्भीर एवं गूँजते हुए उच्च स्वरसे सबके आनन्दको बढ़ानेवाली यह हितकारक बात कही ॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च ।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥

राजा दशरथका स्वर राजोचित स्निग्धता और गम्भीरता आदि गुणोंसे युक्त था, अत्यन्त कमनीय और अनुपम था। वे उस अद्भुत रसमय स्वरसे समस्त नरेशोंको सम्बोधित करके बोले—॥ ३ ॥

विदितं भवतामेतद् यथा मे राज्यमुत्तमम् ।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत् परिपालितम् ॥ ४ ॥

'सज्जनो! आपलोगोंको यह तो विदित ही है कि मेरे पूर्वज राजाधिराजोंने इस श्रेष्ठ राज्यका (यहाँकी प्रजाका) किस प्रकार पुत्रकी भाँति पालन किया था ॥ ४ ॥

सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम् ।
श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत् ॥ ५ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंने जिसका प्रतिपालन किया है, उस सुख भोगनेके योग्य सम्पूर्ण जगत्को अब मैं भी कल्याणका भागी बनाना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता ।
प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ॥ ६ ॥

मेरे पूर्वज जिस मार्गपर चलते आये हैं, उसीका अनुसरण करते हुए मैंने भी सदा जागरूक रहकर समस्त प्रजाजनोंकी यथाशक्ति रक्षा की है ॥ ६ ॥

इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम् ।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया ॥ ७ ॥

'समस्त संसारका हित-साधन करते हुए मैंने इस शरीरको श्वेत राजछत्रकी छायामें बूढ़ा किया है ॥ ७ ॥

प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः ।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ॥ ८ ॥

'अनेक सहस्र (साठ हजार) वर्षोंकी आयु पाकर जीवित रहते हुए अपने इस जराजीर्ण शरीरको अब मैं विश्राम देना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः ।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन् ॥ ९ ॥

'जगत्के धर्मपूर्वक संरक्षणका भारी भार राजाओंके शौर्य आदि प्रभावोंसे ही उठाना सम्भव है। अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये इस बोझको ढोना अत्यन्त कठिन है। मैं दीर्घकालसे इस भारी भारको वहन करते-करते थक गया हूँ ॥ ९ ॥

सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते ।
संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥ १० ॥

'इसलिये यहाँ पास बैठे हुए इन सम्पूर्ण श्रेष्ठ द्विजोंको अनुमति लेकर प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अपने पुत्र श्रीरामको नियुक्त करके अब मैं राजकार्यसे विश्राम लेना चाहता हूँ ॥

अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः ।
पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः ॥ ११ ॥

'मेरे पुत्र श्रीराम मेरी अपेक्षा सभी गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामचन्द्र बल-पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान हैं ॥ ११ ॥

तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम् ।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

'पुष्य नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमाकी भाँति समस्त कार्योंके साधनमें कुशल तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उन पुरुषशिरोमणि श्रीरामचन्द्रको मैं कल प्रातःकाल पुष्यनक्षत्रमें युवराजके पदपर नियुक्त करूँगा ॥ १२ ॥

अनुरूपः स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः ।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥ १३ ॥

'लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् राम आपलोगोंके लिये योग्य स्वामी सिद्ध होंगे; उनके-जैसे स्वामीसे सम्पूर्ण त्रिलोकी भी परम सनाथ हो सकती है ॥ १३ ॥

अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम् ।
गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन् निवेश्य वै ॥ १४ ॥

'ये श्रीराम कल्याणस्वरूप हैं; इनका शीघ्र ही अभिषेक करके मैं इस भूमण्डलको तत्काल कल्याणका भागी बनाऊँगा। अपने पुत्र श्रीरामपर राज्यका भार रखकर मैं सर्वथा क्लेश-रहित—निश्चिन्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् ।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥ १५ ॥

'यदि मेरा यह प्रस्ताव आपलोगोंको अनुकूल जान पड़े और यदि मैंने यह अच्छी बात सोची हो तो आपलोग इसके लिये मुझे सहर्ष अनुमति दें अथवा यह बतावें कि मैं किस प्रकारसे कार्य करूँ ॥ १५ ॥

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम् ।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥ १६ ॥

'यद्यपि यह श्रीरामके राज्याभिषेकका विचार मेरे लिये अधिक प्रसन्नताका विषय है तथापि यदि इसके अतिरिक्त भी कोई सबके लिये हितकर बात हो तो आपलोग उसे सोचें; क्योंकि मध्यस्थ पुरुषोंका विचार एकपक्षीय पुरुषकी अपेक्षा विलक्षण होता है, कारण कि वह पूर्वपक्ष और अपरपक्षको लक्ष्य करके किया गया होनेके कारण अधिक अभ्युदय करने-वाला होता है' ॥ १६ ॥

इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन् नृपा नृपम् ।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ॥ १७ ॥

राजा दशरथ जब ऐसी बात कह रहे थे, उस समय वहाँ उपस्थित नरेशोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन महाराजका उसी प्रकार अभिनन्दन किया, जैसे मोर मधुर केकारव फैलाते हुए वर्षा करनेवाले महामेघका अभिनन्दन करते हैं ॥

स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः ।
जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् समस्त जनसमुदायकी स्नेहमयी हर्षध्वनि सुनायी पड़ी। वह इतनी प्रबल थी कि समस्त पृथ्वीको कँपाती हुई-सी जान पड़ी ॥ १८ ॥

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः ।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥ १९ ॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः ।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २० ॥

धर्म और अर्थके ज्ञाता महाराज दशरथके अभिप्रायको पूर्णरूपसे जानकर सम्पूर्ण ब्राह्मण और सेनापति नगर और जनपदके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके साथ मिलकर परस्पर सलाह करनेके लिये बैठे और मनसे सब कुछ समझकर जब वे एक निश्चयपर पहुँच गये, तब बूढ़े राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—॥ १९-२० ॥

अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ॥ २१ ॥

'पृथ्वीनाथ! आपकी अवस्था कई हजार वर्षोंकी हो गयी। आप बूढ़े हो गये। अतः पृथ्वीके पालनमें समर्थ अपने पुत्र श्रीरामका अवश्य ही युवराजके पदपर अभिषेक कीजिये ॥

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥ २२ ॥

'रघुकुलके वीर महाबलवान् महाबाहु श्रीराम महान् गजराजपर बैठकर यात्रा करते हों और उनके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ हो—इस रूपमें हम उनकी झाँकी करना चाहते हैं'।

इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् ।
अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उनकी यह बात राजा दशरथके मनको प्रिय लगनेवाली थी; इसे सुनकर राजा दशरथ अनजान-से बनकर उन सबके मनोभावको जाननेकी इच्छासे इस प्रकार बोले—॥ २३ ॥

श्रुत्वैतद् वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ ।
राजानः संशयोऽयं मे तदिदं ब्रूत तत्त्वतः ॥ २४ ॥

'राजागण! मेरी यह बात सुनकर जो आपलोगोंने श्रीरामको राजा बनानेकी इच्छा प्रकट की है, इसमें मुझे यह संशय हो रहा है जिसे आपके समक्ष उपस्थित करता हूँ। आप इसे सुनकर इसका यथार्थ उत्तर दें ॥ २४ ॥

कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति ।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥ २५ ॥

'मैं धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका निरन्तर पालन कर रहा हूँ, फिर मेरे रहते हुए आपलोग महाबली श्रीरामको युवराजके रूपमें क्यों देखना चाहते हैं?' ॥ २५ ॥

ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह ।
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते ॥ २६ ॥

यह सुनकर वे महात्मा नरेश नगर और जनपदके लोगोंके साथ राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—'महाराज! आपके पुत्र श्रीराममें बहुत-से कल्याणकारी सद्गुण हैं ॥२६॥

गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः ।
प्रियानानन्दनान् कृत्स्नान् प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्शृणु ॥

'देव! देवताओंके तुल्य बुद्धिमान् और गुणवान् श्रीरामचन्द्रजीके सारे गुण सबको प्रिय लगनेवाले और आनन्ददायक हैं, हम इस समय उनका यत्किंचित् वर्णन कर रहे हैं, आप उन्हें सुनिये ॥ २७ ॥

दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः ।
इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते ॥ २८ ॥

प्रजानाथ ! सत्यपराक्रमी श्रीराम देवराज इन्द्रके समान दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं । इक्ष्वाकुकुलमें भी ये सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ २८ ॥

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः ।
साक्षाद् रामाद् विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह ॥ २९ ॥

'श्रीराम संसारमें सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष हैं । साक्षात् श्रीरामने ही अर्थके साथ धर्मको भी प्रतिष्ठित किया है ॥ २९ ॥

प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ॥ ३० ॥

'ये प्रजाको सुख देनेमें चन्द्रमाकी और क्षमारूपी गुणमें पृथ्वीकी समानता करते हैं । बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें साक्षात् शचीपति इन्द्रके समान हैं ॥ ३० ॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः ।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ।
प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ॥ ३२ ॥

'श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, अदोषदर्शी, शान्त, दीन-दुखियोंको सान्त्वना प्रदान करनेवाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाववाले, स्थिरबुद्धि, सदा कल्याणकारी, असूयारहित, समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सत्यवादी हैं ॥ ३१-३२ ॥

बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ।
तेनास्येहातुला कीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ॥ ३३ ॥

'वे बहुश्रुत विद्वानों, बड़े-बूढ़ों तथा ब्राह्मणोंके उपासक हैं—सदा ही उनका संग किया करते हैं, इसलिये इस जगत्‌में श्रीरामकी अनुपम कीर्ति, यश और तेजका विस्तार हो रहा है ॥ ३३ ॥

देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः ।
सम्यग् विद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् ॥ ३४ ॥

'देवता, असुर और मनुष्योंके सम्पूर्ण अस्त्रोंका उन्हें विशेषरूपसे ज्ञान है । वे साङ्ग वेदके यथार्थ विद्वान् और सम्पूर्ण विद्याओंमें भलीभाँति निष्णात हैं ॥ ३४ ॥

गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ।
कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ॥ ३५ ॥

'भरतके बड़े भाई श्रीराम गान्धर्ववेद (संगीतशास्त्र) में भी इस भूतलपर सबसे श्रेष्ठ हैं । कल्याणकी तो वे जन्मभूमि हैं । उनका स्वभाव साधु पुरुषोंके समान है, हृदय उदार और बुद्धि विशाल है ॥ ३५ ॥

द्विजैरभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः ।
यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ॥ ३६ ॥
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते ।

'धर्म और अर्थके प्रतिपादनमें कुशल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उन्हें उत्तम शिक्षा दी है । वे ग्राम अथवा नगरकी रक्षाके लिये लक्ष्मणके साथ जब संग्रामभूमिमें जाते हैं, उस समय वहाँ जाकर विजय प्राप्त किये बिना पीछे नहीं लौटते ॥ ३६½ ॥

संग्रामात् पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा ॥ ३७ ॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ।
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥ ३८ ॥

संग्रामभूमिसे हाथी अथवा रथके द्वारा पुनः अयोध्या लौटनेपर वे पुरवासियोंसे स्वजनोंकी भाँति प्रतिदिन उनके पुत्रों, अग्निहोत्रकी अग्नियों, स्त्रियों, सेवकों और शिष्योंका कुशल-समाचार पूछते रहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान् ।
शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चिद् वर्मसु दंशिताः ॥ ३९ ॥
इति वः पुरुषव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते ।

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका कुशल-मङ्गल पूछता है, उसी प्रकार वे समस्त पुरवासियोंसे क्रमशः उनका सारा समाचार पूछा करते हैं । पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणोंसे सदा पूछते रहते हैं कि 'आपके शिष्य आपलोगोंकी सेवा करते हैं न ? क्षत्रियोंसे यह जिज्ञासा करते हैं कि आपके सेवक कवच आदिसे सुसज्जित हो आपकी सेवामें तत्पर रहते हैं न ?' ॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ॥ ४० ॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ।

'नगरके मनुष्योंपर संकट आनेपर वे बहुत दुखी हो जाते हैं और उन सबके घरोंमें सब प्रकारके उत्सव होनेपर उन्हें पिताकी भाँति प्रसन्नता होती है ॥ ४०½ ॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः ।
सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्यकथारुचिः ॥ ४२ ॥

'वे सत्यवादी, महान् धनुर्धर, वृद्ध पुरुषोंके सेवक और जितेन्द्रिय हैं । श्रीराम पहले मुसकराकर वार्तालाप आरम्भ करते हैं । उन्होंने सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आश्रय ले रक्खा है । वे कल्याणका सम्यक् आयोजन करनेवाले हैं, निन्दनीय बातोंकी चर्चामें उनकी कभी रुचि नहीं होती है ॥ ४१-४२ ॥

उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा ।
सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद् विष्णुरिव स्वयम् ॥ ४३ ॥

'उत्तरोत्तर उत्तम युक्ति देते हुए वार्तालाप करनेमें वे साक्षात् बृहस्पतिके समान हैं । उनकी भौंहें सुन्दर हैं, आँखें विशाल और कुछ लालिमा लिये हुए हैं । वे साक्षात् विष्णुकी भाँति शोभा पाते हैं ॥ ४३ ॥

रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ॥ ४४ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दित करनेवाले ये श्रीराम शूरता, वीरता और पराक्रम आदिके द्वारा सदा प्रजाका पालन करनेमें लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियाँ राग आदि दोषोंसे दूषित नहीं होती हैं ॥ ४४ ॥

शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम् ।
नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

'इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, वे सम्पूर्ण त्रिलोकीकी भी रक्षा कर सकते हैं। उनका क्रोध और प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं होता है ॥ ४५ ॥

हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति ।
युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥ ४६ ॥

'जो शास्त्रके अनुसार प्राणदण्ड पानेके अधिकारी हैं, उनका ये नियमपूर्वक वध कर डालते हैं तथा जो शास्त्रदृष्टिसे अवध्य हैं, उनपर ये कदापि कुपित नहीं होते हैं। जिसपर ये संतुष्ट होते हैं, उसे हर्षमें भरकर धनसे परिपूर्ण कर देते हैं ॥

दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् ।
गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ४७ ॥

'समस्त प्रजाओंके लिये कमनीय तथा मनुष्योंका आनन्द बढ़ानेवाले मन और इन्द्रियोंके संयम आदि सद्गुणोंद्वारा श्रीराम वैसे ही शोभा पाते हैं जैसे तेजस्वी सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ४७ ॥

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ४८ ॥

'ऐसे सर्वगुणसम्पन्न, लोकपालोंके समान प्रभावशाली एवं सत्य-पराक्रमी श्रीरामको इस पृथ्वीकी जनता अपना स्वामी बनाना चाहती है ॥ ४८ ॥

वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघवः ।
दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव कश्यपः ॥ ४९ ॥

'हमारे सौभाग्यसे आपके वे पुत्र श्रीरघुनाथजी प्रजाका कल्याण करनेमें समर्थ हो गये हैं तथा आपके सौभाग्यसे वे मरीचिनन्दन कश्यपकी भाँति पुत्रोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं ॥

बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः ।
देवासुरमनुष्येषु सगन्धर्वोरगेषु च ॥ ५० ॥
आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा ।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ ५१ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गन्धर्वों और नागोंमेंसे प्रत्येक वर्गके लोग तथा इस राज्य और राजधानीमें भी बाहर-भीतर आने-जानेवाले नगर और जनपदके सभी लोग सुविख्यात शीलस्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजीके लिये सदा ही बल, आरोग्य और आयुकी शुभ कामना करते हैं ॥५०-५१॥

स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ।
सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ।
तेषां तद् याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्ध्यताम् ॥ ५२ ॥

'इस नगरकी बूढ़ी और युवती—सब तरहकी स्त्रियाँ सबेरे और सायंकालमें एकाग्रचित्त होकर परम उदार श्रीरामचन्द्रजीके युवराज होनेके लिये देवताओंसे नमस्कारपूर्वक प्रार्थना किया करती हैं। देव ! उनकी वह प्रार्थना आपके कृपा-प्रसादसे अब पूर्ण होनी चाहिये ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! जो नीलकमलके समान श्यामकान्तिसे सुशोभित तथा समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं, आपके उन ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको हम युवराज-पदपर विराजमान देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

'अतः वरदायक महाराज ! आप देवाधिदेव श्रीविष्णुके समान पराक्रमी, सम्पूर्ण लोकोंके हितमें संलग्न रहनेवाले और महापुरुषोंद्वारा सेवित अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीका जितना शीघ्र हो सके प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक कीजिये, इसीमें हम-लोगोंका हित है' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

राजा दशरथका वसिष्ठ और वामदेवजीको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी करनेके लिये कहना और उनका सेवकोंको तदनुरूप आदेश देना; राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको राजसभामें बुला लाना और राजाका अपने पुत्र श्रीरामको हितकर राजनीतिकी बातें बताना

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।
प्रतिगृह्याब्रवीद् राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

सभासदोंने कमलपुष्पकी-सी आकृतिवाली अपनी अञ्जलियोंको सिरसे लगाकर सब प्रकारसे महाराजके प्रस्तावका

समर्थन किया; उनकी वह पद्माञ्जलि स्वीकार करके राजा दशरथ उन सबसे प्रिय और हितकारी वचन बोले—॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम ।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

'अहो ! आपलोग जो मेरे परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है तथा मेरा प्रभाव अनुपम हो गया है' ॥ २ ॥

इति प्रत्यर्चितान् राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकारकी बातोंसे पुरवासी तथा अन्यान्य सभासदोंका सत्कार करके राजाने उनके सुनते हुए ही वामदेव और वसिष्ठ आदि ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः ।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥

'यह चैत्रमास बड़ा सुन्दर और पवित्र है, इसमें सारे वन-उपवन खिल उठे हैं; अतः इस समय श्रीरामका युवराजपद-पर अभिषेक करनेके लिये आपलोग सब सामग्री एकत्र कराइये' ॥ ४ ॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत् ।
शनैस्तस्मिन् प्रशान्ते च जनघोषे जनाधिपः ॥ ५ ॥
वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत् ।

राजाकी यह बात समाप्त होनेपर सब लोग हर्षके कारण महान् कोलाहल करने लगे । धीरे-धीरे उस जनरवके शान्त होनेपर प्रजापालक नरेश दशरथने मुनिप्रवर वसिष्ठसे यह बात कही—॥ ५½ ॥

अभिषेकाय रामस्य यत् कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥
तदद्य भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।

'भगवन् ! श्रीरामके अभिषेकके लिये जो कर्म आवश्यक हो, उसे साङ्गोपाङ्ग बताइये और आज ही उस सबकी तैयारी करनेके लिये सेवकोंको आज्ञा दीजिये' ॥ ६½ ॥

तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ७ ॥
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन् ।

महाराजका यह वचन सुनकर मुनिवर वसिष्ठने राजाके सामने ही हाथ जोड़कर खड़े हुए आज्ञापालनके लिये तैयार रहनेवाले सेवकोंसे कहा—॥ ७½ ॥

सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि ॥ ८ ॥
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी ।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् ।
चामरव्यजने चोभे ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् ।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥ ११ ॥
यच्चान्यत् किंचिदेष्टव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम् ।
उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारे महीपतेः ॥ १२ ॥

'तुमलोग सुवर्ण आदि रत्न, देवपूजनकी सामग्री, सब प्रकारकी ओषधियाँ, श्वेत पुष्पोंकी मालाएँ, खील, अलग-अलग पात्रोंमें शहद और घी, नये वस्त्र, रथ, सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, चतुरङ्गिणी सेना, उत्तम लक्षणोंसे युक्त हाथी, चमरी गायकी पूँछके बालोंसे बने हुए दो व्यजन, ध्वज, श्वेत छत्र, अग्निके समान देदीप्यमान सोनेके सौ कलश, सुवर्णसे मढ़े हुए सींगोंवाला एक साँड़, समूचा व्याघ्रचर्म तथा और जो कुछ भी वाञ्छनीय वस्तुएँ हैं, उन सबको एकत्र करो और प्रातःकाल महाराजकी अग्निशालामें पहुँचा दो ॥ ८—१२ ॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च ।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥ १३ ॥

'अन्तःपुर तथा समस्त नगरके सभी दरवाजोंको चन्दन और मालाओंसे सजा दो तथा वहाँ ऐसे धूप सुलगा दो जो अपनी सुगन्धसे लोगोंको आकर्षित कर ले ॥ १३ ॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद् दधिक्षीरोपसेचनम् ।
द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकाममलं भवेत् ॥ १४ ॥

'दही, दूध और घी आदिसे संयुक्त अत्यन्त उत्तम एवं गुणकारी अन्न तैयार कराओ, जो एक लाख ब्राह्मणोंके भोजनके लिये पर्याप्त हो ॥ १४ ॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम् ।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥ १५ ॥

'कल प्रातःकाल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें वह अन्न प्रदान करो; साथ ही घी, दही, खील और पर्याप्त दक्षिणाएँ भी दो ॥ १५ ॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम् ।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥ १६ ॥

'कल सूर्योदय होते ही स्वस्तिवाचन होगा, इसके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करो और उनके लिये आसनोंका प्रबन्ध कर लो ॥ १६ ॥

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम् ।
सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥ १७ ॥
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः ।

'नगरमें सब ओर पताकाएँ फहरायी जायँ तथा राजमार्गोंपर छिड़काव कराया जाय । समस्त तालजीवी (संगीत-निपुण) पुरुष और सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित वाराङ्गनाएँ (नर्तकियाँ) राजमहलकी दूसरी कक्षा (ड्योढ़ी) में पहुँचकर खड़ी रहें ॥ १७½ ॥

देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः ॥ १८ ॥

उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक्।

'देव-मन्दिरोंमें तथा चैत्यवृक्षोंके नीचे या चौराहोंपर जो पूजनीय देवता हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् भक्ष्य-भोज्य पदार्थ एवं दक्षिणा प्रस्तुत करनी चाहिये ॥ १८½ ॥

दीर्घासिबद्धगोधाश्च संनद्धा मृष्टवाससः ॥ १९ ॥
महाराजाङ्गनं शूराः प्रविशन्तु महोदयम्।

'लंबी तलवार लिये और गोधाचर्मके बने दस्ताने पहने और कमर कसकर तैयार रहनेवाले शूर-वीर योद्धा स्वच्छ वस्त्र धारण किये महाराजके महान् अभ्युदयशाली आँगनमें प्रवेश करें' ॥ १९½ ॥

एवं व्यादिश्य विप्रौ तु क्रियास्तत्र विनिष्ठितौ ॥ २० ॥
चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च।

सेवकोंको इस प्रकार कार्य करनेका आदेश देकर दोनों ब्राह्मण वसिष्ठ और वामदेवने पुरोहितद्वारा सम्पादित होने योग्य क्रियाओंको स्वयं पूर्ण किया। राजाके बताये हुए कार्यों-के अतिरिक्त भी जो शेष आवश्यक कर्तव्य था उसे भी उन दोनोंने राजासे पूछकर स्वयं ही सम्पन्न किया ॥ २०½ ॥

कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥
यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजोत्तमौ।

तदनन्तर महाराजके पास जाकर प्रसन्नता और हर्षसे भरे हुए वे दोनों श्रेष्ठ द्विज बोले—'राजन्! आपने जैसा कहा था, उसके अनुसार सब कार्य सम्पन्न हो गया' ॥ २१½ ॥

ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति।

इसके बाद तेजस्वी राजा दशरथने सुमन्त्रसे कहा—'सखे! पवित्रात्मा श्रीरामको तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥
रामं तत्रानयांचक्रे रथेन रथिनां वरम्।

तब 'जो आज्ञा' कहकर सुमन्त्र गये तथा राजाके आदेशानुसार रथियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामको रथपर बिठाकर ले आये॥

अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥
प्राच्योदीच्याप्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः।
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥ २५ ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा वासवं यथा।

उस राजभवनमें साथ बैठे हुए पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिणके भूपाल, म्लेच्छ, आर्य तथा वनों और पर्वतोंमें रहने-वाले अन्यान्य मनुष्य सब-के-सब उस समय राजा दशरथकी उसी प्रकार उपासना कर रहे थे जैसे देवता देवराज इन्द्रकी ॥

तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः ॥ २६ ॥
प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम्।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥

उनके बीच अट्टालिकाके भीतर बैठे हुए राजा दशरथ मरुद्गणोंके मध्य देवराज इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे; उन्होंने वहींसे अपने पुत्र श्रीरामको अपने पास आते देखा, जो गन्धर्वराजके समान तेजस्वी थे। उनका पौरुष समस्त संसारमें विख्यात था ॥ २६-२७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम्।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उनकी भुजाएँ बड़ी और बल महान् था। वे मतवाले गजराजके समान बड़ी मस्तीके साथ चल रहे थे। उनका मुख चन्द्रमासे भी अधिक कान्तिमान् था। श्रीरामका दर्शन सबको अत्यन्त प्रिय लगता था। वे अपने रूप और उदारता आदि गुणोंसे लोगोंकी दृष्टि और मन आकर्षित कर लेते थे। जैसे धूपमें तपे हुए प्राणियोंको मेघ आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार वे समस्त प्रजाको परम आह्लाद देते रहते थे॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः।
अवतार्य सुमन्त्रस्तु राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।

आते हुए श्रीरामचन्द्रकी ओर एकटक देखते हुए राजा दशरथको तृप्ति नहीं होती थी। सुमन्त्रने उस श्रेष्ठ रथसे श्रीराम-चन्द्रजीको उतारा और जब वे पिताके समीप जाने लगे, तब सुमन्त्र भी उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए गये ॥ ३०½ ॥

स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं रघुनन्दनः ॥ ३१ ॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सहसा तेन राघवः।

वह राजमहल कैलासशिखरके समान उज्ज्वल और ऊँचा था, रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम महाराजका दर्शन करनेके लिये सुमन्त्रके साथ सहसा उसपर चढ़ गये ॥ ३१½ ॥

स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥
नाम स्वं श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः।

श्रीराम दोनों हाथ जोड़कर विनीतभावसे पिताके पास गये और अपना नाम सुनाते हुए उन्होंने उनके दोनों चरणों-में प्रणाम किया ॥ ३२½ ॥

तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥
गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम्।

श्रीरामको पास आकर हाथ जोड़ प्रणाम करते देख राजाने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये और अपने प्रिय पुत्रको पास खींचकर छातीसे लगा लिया ॥ ३३½ ॥

तस्मै चाभ्युद्यतं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥
दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम्।

उस समय राजाने उन श्रीरामचन्द्रजीको मणिजटित

सुवर्णसे भूषित एक परम सुन्दर सिंहासनपर बैठनेकी आज्ञा दी, जो पहलेसे उन्हींके लिये वहाँ उपस्थित किया गया था ॥

तथाऽऽसनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ।

जैसे निर्मल सूर्य उदयकालमें मेरुपर्वतको अपनी किरणों-से उद्भासित कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी उस श्रेष्ठ आसनको ग्रहण करके अपनी ही प्रभासे उसे प्रकाशित करने लगे ॥ ३५½ ॥

तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोचत ॥ ३६ ॥
विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ।

उनसे प्रकाशित हुई वह सभा भी बड़ी शोभा पा रही थी । ठीक उसी तरह जैसे निर्मल ग्रह और नक्षत्रोंसे भरा हुआ शरत्-कालका आकाश चन्द्रमासे उद्भासित हो उठता है ॥

तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥
अलंकृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।

जैसे सुन्दर वेश-भूषासे अलंकृत हुए अपने ही प्रतिबिम्ब-को दर्पणमें देखकर मनुष्यको बड़ा संतोष प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपने शोभाशाली प्रिय पुत्र उन श्रीरामको देखकर राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३७½ ॥

स तं सुस्थितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतां वरः ॥ ३८ ॥
उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।

जैसे कश्यप देवराज इन्द्रको पुकारते हैं, उसी प्रकार पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ राजा दशरथ सिंहासनपर बैठे हुए अपने पुत्र श्रीरामको सम्बोधित करके उनसे इस प्रकार बोले—॥३८½॥

ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥ ३९ ॥
उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥ ४० ॥
तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।

'बेटा ! तुम्हारा जन्म मेरी बड़ी महारानी कौसल्याके गर्भसे हुआ है । तुम अपनी माताके अनुरूप ही उत्पन्न हुए हो । श्रीराम ! तुम गुणोंमें मुझसे भी बढ़कर हो, अतः मेरे परम प्रिय पुत्र हो; तुमने अपने गुणोंसे इन समस्त प्रजाओंको प्रसन्न कर लिया है, इसलिये कल पुष्यनक्षत्रके योगमें युवराजका पद ग्रहण करो ॥ ३९-४०½ ॥

कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति ॥ ४१ ॥
गुणवत्यपि तु स्नेहात् पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

'बेटा ! यद्यपि तुम स्वभावसे ही गुणवान् हो और तुम्हारे विषयमें यही सबका निर्णय है तथापि मैं स्नेहवश सद्गुणसम्पन्न होनेपर भी तुम्हें कुछ हितकी बातें बताता हूँ । तुम और भी अधिक विनयका आश्रय लेकर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥ ४१-४२ ॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च ।
परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

'काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दुर्व्यसनोंका सर्वथा त्याग कर दो, परोक्षवृत्तिसे (अर्थात् गुप्तचरोंद्वारा यथार्थ बातोंका पता लगाकर) तथा प्रत्यक्षवृत्तिसे (अर्थात् दरबारमें सामने आकर कहनेवाली जनताके मुखसे उसके वृत्तान्तोंको प्रत्यक्ष देख-सुनकर) ठीक-ठीक न्याय-विचारमें तत्पर रहो ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्चैवानुरञ्जय ।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा संनिचयान् बहून् ॥ ४४ ॥
इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः ॥ ४५ ॥

"मन्त्री, सेनापति आदि समस्त अधिकारियों तथा प्रजाजनोंको सदा प्रसन्न रखना । जो राजा कोष्ठागार (भण्डारगृह) तथा शस्त्रागार आदिके द्वारा उपयोगी वस्तुओंका बहुत बड़ा संग्रह करके मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि समस्त प्रकृतियोंको प्रिय मानकर उन्हें अपने प्रति अनुरक्त एवं प्रसन्न रखते हुए पृथ्वीका पालन करता है, उसके मित्र उसी प्रकार आनन्दित होते हैं, जैसे अमृतको पाकर देवता प्रसन्न हुए थे ॥ ४४-४५ ॥

तस्मात् पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥
त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।

'इसलिये बेटा ! तुम अपने चित्तको वशमें रखकर इस प्रकारके उत्तम आचरणोंका पालन करते रहो ।' राजाकी ये बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेवाले सुहृदोंने तुरंत माता कौसल्याके पास जाकर उन्हें यह शुभ समाचार निवेदन किया ॥ ४६½ ॥

सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ॥ ४७ ॥
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ।

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याने वह प्रिय संवाद सुनानेवाले उन सुहृदोंको तरह-तरहके रत्न, सुवर्ण और गौएँ पुरस्कार-रूपमें दीं ॥ ४७½ ॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ।
ययौ स्वं द्युतिमद् वेश्म जनौघैः प्रतिपूजितः ॥ ४८ ॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी राजाको प्रणाम करके रथपर बैठे और प्रजाजनोंसे सम्मानित होते हुए वे अपने शोभाशाली भवनमें चले गये ॥ ४८ ॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

नगरनिवासी मनुष्योंने राजाकी बातें सुनकर मन-ही-मन

यह अनुभव किया कि हमें शीघ्र ही अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी, फिर भी महाराजकी आज्ञा लेकर अपने घरोंको गये और अत्यन्त हर्षसे भरकर अभीष्ट-सिद्धिके उपलक्ष्यमें देवताओंकी पूजा करने लगे ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

श्रीरामको राज्य देनेका निश्चय करके राजाका सुमन्त्रद्वारा पुनः श्रीरामको बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीरामका कौसल्याके भवनमें जाकर माताको यह समाचार बताना और मातासे आशीर्वाद पाकर लक्ष्मणसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महलमें जाना

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम्॥ १॥
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः।
रामो राजीवपत्राक्षो युवराज इति प्रभुः॥ २॥

राजसभासे पुरवासियोंके चले जानेपर कार्यसिद्धिके योग्य देश-कालके नियमको जाननेवाले प्रभावशाली नरेशने पुनः मन्त्रियोंके साथ सलाह करके यह निश्चय किया कि 'कल ही पुष्य नक्षत्र होगा, अतः कल ही मुझे अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामका युवराजके पदपर अभिषेक कर देना चाहिये' ॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा।
सूतमामन्त्रयामास रामं पुनरिहानय॥ ३॥

तदनन्तर अन्तःपुरमें जाकर महाराज दशरथने सूतको बुलाया और आज्ञा दी—'जाओ, श्रीरामको एक बार फिर यहाँ बुला लाओ' ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः॥ ४॥

उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके सुमन्त्र श्रीरामको शीघ्र बुला लानेके लिये पुनः उनके महलमें गये ॥ ४ ॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत्॥ ५॥

द्वारपालोंने श्रीरामको सुमन्त्रके पुनः आगमनकी सूचना दी। उनका आगमन सुनते ही श्रीरामके मनमें संदेह हो गया ॥ ५ ॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितो रामो वचनमब्रवीत्।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः॥ ६॥

उन्हें भीतर बुलाकर श्रीरामने उनसे बड़ी उतावलीके साथ पूछा—'आपको पुनः यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी ?' यह पूर्णरूपसे बताइये ॥ ६ ॥

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति।
श्रुत्वा प्रमाणं तत्र त्वं गमनायेतराय वा॥ ७॥

तब सूतने उनसे कहा—'महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। मेरी इस बातको सुनकर वहाँ जाने या न जानेका निर्णय आप स्वयं करें' ॥ ७ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽपि त्वरयान्वितः।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम्॥ ८॥

सूतका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथका पुनः दर्शन करनेके लिये तुरंत उनके महलकी ओर चल दिये ॥ ८ ॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम्॥ ९॥

श्रीरामको आया हुआ सुनकर राजा दशरथने उनसे प्रिय तथा उत्तम बात कहनेके लिये उन्हें महलके भीतर बुला लिया ॥ ९ ॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं पितुः।
ददर्श पितरं दूरात् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः॥ १०॥

पिताके भवनमें प्रवेश करते ही श्रीमान् रघुनाथजीने उन्हें देखा और दूरसे ही हाथ जोड़कर वे उनके चरणोंमें पड़ गये ॥ १० ॥

प्रणमन्तं तमुत्थाप्य सम्परिष्वज्य भूमिपः।
प्रदिश्य चासनं चास्मै रामं च पुनरब्रवीत्॥ ११॥

प्रणाम करते हुए श्रीरामको उठाकर महाराजने छातीसे लगा लिया और उन्हें बैठनेके लिये आसन देकर पुनः उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ११ ॥

राम वृद्धोऽसि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः॥ १२॥

'श्रीराम ! अब मैं बूढ़ा हुआ। मेरी आयु बहुत अधिक हो गयी। मैंने बहुत-से मनोवाञ्छित भोग भोग लिये, अन्न और बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त सैकड़ों यज्ञ भी कर लिये ॥ १२ ॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम॥ १३॥

'पुरुषोत्तम ! तुम मेरे परम प्रिय अभीष्ट संतानके

रूपमें प्राप्त हुए जिसकी इस भूमण्डलमें कहीं उपमा नहीं है, मैंने दान, यज्ञ और स्वाध्याय भी कर लिये ॥ १३ ॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि ।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

'वीर ! मैंने अभीष्ट सुखोंका भी अनुभव कर लिया । मैं देवता, ऋषि, पितर और ब्राह्मणोंके तथा अपने ऋणसे भी उऋण हो गया ॥ १४ ॥

न किंचिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् ।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

'अब तुम्हें युवराज-पदपर अभिषिक्त करनेके सिवा और कोई कर्तव्य मेरे लिये शेष नहीं रह गया है, अतः मैं तुमसे जो कुछ कहूँ, मेरी उस आज्ञाका तुम्हें पालन करना चाहिये ।१५।

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम् ।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

'बेटा ! अब सारी प्रजा तुम्हें अपना राजा बनाना चाहती है, अतः मैं तुम्हें युवराजपदपर अभिषिक्त करूँगा ॥ १६ ॥

अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि राघव ।
सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः ॥ १७ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम ! आजकल मुझे बड़े बुरे सपने दिखायी देते हैं । दिनमें वज्रपातके साथ-साथ बड़ा भयंकर शब्द करनेवाली उल्काएँ भी गिर रही हैं ॥ १७ ॥

अवस्तब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः ।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

'श्रीराम ! ज्योतिषियोंका कहना है कि मेरे जन्मनक्षत्रको सूर्य, मङ्गल और राहु नामक भयंकर ग्रहोंने आक्रान्त कर लिया है ॥ १८ ॥

प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे ।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥ १९ ॥

ऐसे अशुभ लक्षणोंका प्राकट्य होनेपर प्रायः राजा घोर आपत्तिमें पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु भी हो जाती है ॥ १९ ॥

तद् यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव ।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

'अतः रघुनन्दन ! जबतक मेरे चित्तमें मोह नहीं छा जाता, तबतक ही तुम युवराज-पदपर अपना अभिषेक करा लो; क्योंकि प्राणियोंकी बुद्धि चञ्चल होती है ॥ २० ॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत् पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसुम् ।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥

'आज चन्द्रमा पुष्यसे एक नक्षत्र पहले पुनर्वसुपर विराजमान हैं, अतः निश्चय ही कल वे पुष्य नक्षत्रपर रहेंगे—ऐसा ज्योतिषी कहते हैं ॥ २१ ॥

तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम् ।
श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परंतप ॥ २२ ॥

'इसलिये उस पुष्यनक्षत्रमें ही तुम अपना अभिषेक करा लो । शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! मेरा मन इस कार्यमें बहुत शीघ्रता करनेको कहता है । इस कारण कल अवश्य ही मैं तुम्हारा युवराजपदपर अभिषेक कर दूँगा ॥ २२ ॥

तस्मात् त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना ।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

'अतः तुम इस समयसे लेकर सारी रात इन्द्रियसंयमपूर्वक रहते हुए वधू सीताके साथ उपवास करो और कुशकी शय्यापर सोओ ॥ २३ ॥

सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः ।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥

'आज तुम्हारे सुहृद् सावधान रहकर सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें, क्योंकि इस प्रकारके शुभ कार्योंमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है ॥ २४ ॥

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥

'जबतक भरत इस नगरसे बाहर अपने मामाके यहाँ निवास करते हैं, तबतक ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना मुझे उचित प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः ।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥
किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम् ।
सतां च धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारे भाई भरत सत्पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें स्थित हैं, अपने बड़े भाईका अनुसरण करनेवाले, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं तथापि मनुष्योंका चित्त प्रायः स्थिर नहीं रहता—ऐसा मेरा मत है । रघुनन्दन ! धर्मपरायण सत्पुरुषोंका मन भी विभिन्न कारणोंसे राग-द्वेषादिसे संयुक्त हो जाता है' ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम् ॥ २८ ॥

राजाके इस प्रकार कहने और कल होनेवाले राज्याभिषेकके निमित्त व्रतपालनके लिये जानेकी आज्ञा देनेपर श्रीरामचन्द्रजी पिताको प्रणाम करके अपने महलमें गये ॥

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञाऽऽदिष्टेऽभिषेचने ।
तत्क्षणादेव निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

राजाने राज्याभिषेकके लिये व्रतपालनके निमित्त जो आज्ञा दी थी, उसे सीताको बतानेके लिये अपने महलके भीतर प्रवेश करके जब श्रीरामने वहाँ सीताको नहीं देखा,

तब वे तत्काल ही वहाँसे निकलकर माताके अन्तःपुरमें चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम्।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा माता कौसल्या रेशमी वस्त्र पहने मौन हो देवमन्दिरमें बैठकर देवताकी आराधनामें लगी हैं और पुत्रके लिये राजलक्ष्मीकी याचना कर रही हैं ॥ ३० ॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा।
सीता चानयिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रिय समाचार सुनकर सुमित्रा और लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे तथा बादमें सीता वहीं बुला ली गयी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन् कालेऽपि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा।
सुमित्रयान्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जब वहाँ पहुँचे, उस समय भी कौसल्या नेत्र बंद किये ध्यान लगाये बैठी थीं और सुमित्रा, सीता तथा लक्ष्मण उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम्।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

पुष्यनक्षत्रके योगमें पुत्रके युवराजपदपर अभिषिक्त होनेकी बात सुनकर वे उसकी मङ्गलकामनासे प्राणायामके द्वारा परमपुरुष नारायणका ध्यान कर रही थीं ॥ ३३ ॥

तथा सनियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं वरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार नियममें लगी हुई माताके निकट उसी अवस्थामें जाकर श्रीरामने उनको प्रणाम किया और उन्हें हर्ष प्रदान करते हुए यह श्रेष्ठ बात कही—॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि।
भविता श्वोऽभिषेको मे यथा मे शासनं पितुः ॥ ३५ ॥
सीतयाप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह।
एवमुक्तमुपाध्यायैः स हि मामुक्तवान् पिता ॥ ३६ ॥

'माँ ! पिताजीने मुझे प्रजापालनके कर्ममें नियुक्त किया है। कल मेरा अभिषेक होगा। जैसा कि मेरे लिये पिताजीका आदेश है, उसके अनुसार सीताको भी मेरे साथ इस रातमें उपवास करना होगा। उपाध्यायोंने ऐसी ही बात बतायी थी, जिसे पिताजीने मुझसे कहा है ॥ ३५-३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥ ३७ ॥

'अतः कल होनेवाले अभिषेकके निमित्तसे आज मेरे और सीताके लिये जो-जो मङ्गलकार्य आवश्यक हों, वे सब कराओ' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम्।
हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

चिरकालसे माताके हृदयमें जिस बातकी अभिलाषा थी, उसकी पूर्तिको सूचित करनेवाली यह बात सुनकर माता कौसल्याने आनन्दके आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे इस प्रकार कहा—॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः।
ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥ ३९ ॥

'बेटा श्रीराम ! चिरञ्जीवी होओ। तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु नष्ट हो जायँ। तुम राजलक्ष्मीसे युक्त होकर मेरे और सुमित्राके बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे बत नक्षत्रे मया जातोऽसि पुत्रक।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

'बेटा ! तुम मेरे द्वारा किसी मङ्गलमय नक्षत्रमें उत्पन्न हुए थे, जिससे तुमने अपने गुणोंद्वारा पिता दशरथको प्रसन्न कर लिया ॥ ४० ॥

अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे।
येयमिक्ष्वाकुराजश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

'बड़े हर्षकी बात है कि मैंने कमलनयन भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये जो व्रत-उपवास आदि किया था, वह आज सफल हो गया। बेटा ! उसीके फलसे यह इक्ष्वाकुकुलकी राजलक्ष्मी तुम्हें प्राप्त होनेवाली है' ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रा तु रामो भ्रातरमब्रवीत्।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥

माताके ऐसा कहनेपर श्रीरामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़े हुए अपने भाई लक्ष्मणकी ओर देखकर मुसकराते हुए-से कहा—॥ ४२ ॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुंधराम्।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥ ४३ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीके राज्यका शासन (पालन) करो। तुम मेरे द्वितीय अन्तरात्मा हो। यह राजलक्ष्मी तुम्हींको प्राप्त हो रही है ॥ ४३ ॥

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥ ४४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम अभीष्ट भोगों और राज्यके श्रेष्ठ फलोंका उपभोग करो। तुम्हारे लिये ही मैं इस जीवन तथा राज्यकी अभिलाषा करता हूँ ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च।

अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च ययौ स्वं च निवेशनम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामने दोनों माताओंको प्रणाम किया और सीताको भी साथ चलनेकी आज्ञा दिलाकर वे उनको लिये हुए अपने महलमें चले गये ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीतासहित श्रीरामको उपवासव्रतकी दीक्षा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना; राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ जब श्रीरामचन्द्रजीको दूसरे दिन होनेवाले अभिषेकके विषयमें आवश्यक संदेश दे चुके, तब अपने पुरोहित वसिष्ठजीको बुलाकर बोले—॥ १ ॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।
श्रेयसे राज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रत ॥ २ ॥

'नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तपोधन ! आप जाइये और विघ्ननिवारणरूप कल्याणकी सिद्धि तथा राज्यकी प्राप्तिके लिये बहूसहित श्रीरामसे उपवासव्रतका पालन कराइये' ॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः ।
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
उपवासयितुं वीरं मन्त्रविन्मन्त्रकोविदम् ।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधृतव्रतः ॥ ४ ॥

तब राजासे 'तथास्तु' कहकर वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ तथा उत्तम व्रतधारी स्वयं भगवान् वसिष्ठ मन्त्रवेत्ता वीर श्रीरामको उपवास-व्रतकी दीक्षा देनेके लिये ब्राह्मणके चढ़ने-योग्य जुते-जुताये श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो श्रीरामके महलकी ओर चल दिये ॥ ३-४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥

श्रीरामका भवन श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल था, उसके पास पहुँचकर मुनिवर वसिष्ठने उसकी तीन ड्योढ़ियोंमें रथके द्वारा ही प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमम् ।
मानयिष्यन् स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥

वहाँ पधारे हुए उन सम्माननीय महर्षिका सम्मान करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी बड़ी उतावलीके साथ वेगपूर्वक घरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य त्वरमाणोऽथ रथाभ्याशं मनीषिणः ।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात् स्वयम् ॥ ७ ॥

उन मनीषी महर्षिके रथके समीप शीघ्रतापूर्वक जाकर श्रीरामने स्वयं उनका हाथ पकड़कर उन्हें रथसे नीचे उतारा ॥

स चैनं प्रश्रितं दृष्ट्वा सम्भाष्याभिप्रसाद्य च ।
प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥

श्रीराम प्रिय वचन सुननेके योग्य थे । उन्हें इतना विनीत देखकर पुरोहितजीने 'वत्स !' कहकर पुकारा और उन्हें प्रसन्न करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा—॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यत्त्वं राज्यमवाप्स्यसि ।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥

'श्रीराम ! तुम्हारे पिता तुमपर बहुत प्रसन्न हैं, क्योंकि तुम्हें उनसे राज्य प्राप्त होगा; अतः आजकी रातमें तुम वधू सीताके साथ उपवास करो' ॥ ९ ॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥ १० ॥

'रघुनन्दन ! जैसे नहुषने ययातिका अभिषेक किया था, उसी प्रकार तुम्हारे पिता महाराज दशरथ कल प्रातःकाल बड़े प्रेमसे तुम्हारा युवराज-पदपर अभिषेक करेंगे' ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः ।
मन्त्रवत् कारयामास वैदेह्या सहितं शुचिः ॥ ११ ॥

ऐसा कहकर उन व्रतधारी एवं पवित्र महर्षिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक सीतासहित श्रीरामको उस समय उपवास-व्रतकी दीक्षा दी ॥ ११ ॥

ततो यथावद् रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने महाराजके भी गुरु वसिष्ठका यथावत् पूजन किया; फिर वे मुनि श्रीरामकी अनुमति ले उनके महलसे बाहर निकले ॥ १२ ॥

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदैः ।
सभाजितो विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥

श्रीराम भी वहाँ प्रिय वचन बोलनेवाले सुहृदोंके साथ कुछ देरतक बैठे रहे; फिर उनसे सम्मानित हो उन सबकी अनुमति ले पुनः अपने महलके भीतर चले गये ॥ १३ ॥

हृष्टनारीनरयुतं रामवेश्म तदा बभौ।
यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥ १४ ॥

उस समय श्रीरामका भवन हर्षोत्फुल्ल नर-नारियोंसे भरा हुआ था और मतवाले पक्षियोंके कलरवोंसे युक्त खिले हुए कमलवाले तालाबके समान शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

स राजभवनप्रख्यात् तस्माद् रामनिवेशनात्।
निर्गत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥ १५ ॥

राजभवनोंमें श्रेष्ठ श्रीरामके महलसे बाहर आकर वसिष्ठजीने सारे मार्ग मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए देखे ॥ १५ ॥

वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः।
बभूवुरभिसम्बाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥ १६ ॥

अयोध्याकी सड़कोंपर सब ओर झुंड-के-झुंड मनुष्य, जो श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये उत्सुक थे, खचाखच भरे हुए थे; सारे राजमार्ग उनसे घिरे हुए थे ॥ १६ ॥

जनवृन्दोर्मिसंघर्षहर्षस्वनवृतस्तदा।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ १७ ॥

जनसमुदायरूपी लहरोंके परस्पर टकरानेसे उस समय जो हर्षध्वनि प्रकट होती थी, उससे व्याप्त हुआ राजमार्ग-का कोलाहल समुद्रकी गर्जनाकी भाँति सुनायी देता था ॥

सिक्तसम्मृष्टरथ्या हि तथा च वनमालिनी।
आसीदयोध्या तदहः समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥ १८ ॥

उस दिन वन और उपवनोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित हुई अयोध्यापुरीके घर-घरमें ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही थीं; वहाँकी सभी गलियों और सड़कोंको झाड़-बुहारकर वहाँ छिड़काव किया गया था ॥ १८ ॥

तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः।
रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः ॥ १९ ॥

स्त्रियों और बालकोंसहित अयोध्यावासी जनसमुदाय श्रीराम-के राज्याभिषेकको देखनेकी इच्छासे उस समय शीघ्र सूर्योदय होनेकी कामना कर रहा था ॥ १९ ॥

प्रजालंकारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम्।
उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥ २० ॥

अयोध्याका वह महान् उत्सव प्रजाओंके लिये अलंकार-रूप और सब लोगोंके आनन्दको बढ़ानेवाला था; वहाँके सभी मनुष्य उसे देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे थे ॥ २० ॥

एवं तज्जनसम्बाधं राजमार्गं पुरोहितः।
व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गपर पहुँचकर पुरोहितजी उस जनसमूहको एक ओर करते हुए-से धीरे-धीरे राजमहलकी ओर गये ॥ २१ ॥

सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य च।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ॥ २२ ॥

श्वेत जलद-खण्डके समान सुशोभित होनेवाले महलके ऊपर चढ़कर वसिष्ठजी राजा दशरथसे उसी प्रकार मिले जैसे बृहस्पति देवराज इन्द्रसे मिल रहे हों ॥ २२ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः।
पप्रच्छ स्वमतं तस्मै कृतमित्यभिवेदयत् ॥ २३ ॥

उन्हें आया देख राजा सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये और पूछने लगे—'मुने! क्या आपने मेरा अभिप्राय सिद्ध किया।' वसिष्ठजीने उत्तर दिया—'हाँ! कर दिया' ॥२३॥

तेन चैव तदा तुल्यं सहासीनाः सभासदः।
आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २४ ॥

उनके साथ ही उस समय वहाँ बैठे हुए अन्य सभासद् भी पुरोहितका समादर करते हुए अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ २४ ॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम्।
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥ २५ ॥

तदनन्तर गुरुजीकी आज्ञा ले राजा दशरथने उस जन-समुदायको विदा करके पर्वतकी कन्दरामें घुसनेवाले सिंहके समान अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

तदग्र्यवेषप्रमदाजनाकुलं
महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम्।
व्यदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः
शशीव तारागणसंकुलं नभः ॥ २६ ॥

सुन्दर वेश-भूषा धारण करनेवाली सुन्दरियोंसे भरे हुए इन्द्रसदनके समान उस मनोहर राजभवनको अपनी शोभासे प्रकाशित करते हुए राजा दशरथने उसके भीतर उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे चन्द्रमा ताराओंसे भरे हुए आकाशमें पदार्पण करते हैं ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका नियमपरायण होना, हर्षमें भरे पुरवासियोंद्वारा नगरकी सजावट, राजाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरीमें जनपदवासी मनुष्योंकी भीड़का एकत्र होना

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्॥ १॥

पुरोहितजीके चले जानेपर मनको संयममें रखनेवाले श्रीरामने स्नान करके अपनी विशाललोचना पत्नीके साथ श्रीनारायणकी[1] उपासना आरम्भ की॥ १॥

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत् ततः।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितानले॥ २॥

उन्होंने हविष्य-पात्रको सिर झुकाकर नमस्कार किया और प्रज्वलित अग्निमें महान् देवता (शेषशायी नारायण) की प्रसन्नताके लिये विधिपूर्वक उस हविष्यकी आहुति दी॥ २॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम्।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे॥ ३॥
वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः॥ ४॥

तत्पश्चात् अपने प्रिय मनोरथकी सिद्धिका संकल्प लेकर उन्होंने उस यज्ञशेष हविष्यका भक्षण किया और मनको संयममें रखकर मौन हो वे राजकुमार श्रीराम विदेहनन्दिनी सीताके साथ भगवान् विष्णुके सुन्दर मन्दिरमें श्रीनारायण-देवका ध्यान करते हुए वहाँ अच्छी तरह बिछी हुई कुशकी चटाईपर सोये॥ ३-४॥

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः।
अलंकारविधिं सम्यक् कारयामास वेश्मनः॥ ५॥

जब तीन पहर बीतकर एक ही पहर रात शेष रह गयी, तब वे शयनसे उठ बैठे। उस समय उन्होंने सभामण्डपको सजानेके लिये सेवकोंको आज्ञा दी॥ ५॥

तत्र शृण्वन् सुखा वाचः सूतमागधवन्दिनाम्।
पूर्वां संध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः॥ ६॥

वहाँ सूत, मागध और वंदियोंकी श्रवणसुखद वाणी सुनते हुए श्रीरामने प्रातःकालिक संध्योपासना की; फिर एकाग्रचित्त होकर वे जप करने लगे॥ ६॥

तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम्।
विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास स द्विजान्॥ ७॥

तदनन्तर रेशमी वस्त्र धारण किये हुए श्रीरामने मस्तक झुकाकर भगवान् मधुसूदनको प्रणाम और उनका स्तवन किया; इसके बाद ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया॥ ७॥

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तथा।
अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः॥ ८॥

उन ब्राह्मणोंका पुण्याहवाचनसम्बन्धी गम्भीर एवं मधुर घोष नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे व्याप्त होकर सारी अयोध्यापुरीमें फैल गया॥ ८॥

कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम्।
अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः॥ ९॥

उस समय अयोध्यावासी मनुष्योंने जब यह सुना कि श्रीरामचन्द्रजीने सीताके साथ उपवास-व्रत आरम्भ कर दिया है, तब उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई॥ ९॥

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम्।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम्॥ १०॥

सबेरा होनेपर श्रीरामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अयोध्यापुरीको सजानेमें लग गये॥

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च॥ ११॥
नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च।
कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेषु च॥ १२॥
सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च।
ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताकाश्चाभवंस्तथा॥ १३॥

जिनके शिखरोंपर श्वेत बादल विश्राम करते हैं, उन पर्वतोंके समान गगनचुम्बी देवमन्दिरों, चौराहों, गलियों, देववृक्षों, समस्त सभाओं, अट्टालिकाओं, नाना प्रकारकी बेचने योग्य वस्तुओंसे भरी हुई व्यापारियोंकी बड़ी-बड़ी दूकानों तथा कुटुम्बी गृहस्थोंके सुन्दर समृद्धिशाली भवनोंमें और दूरसे दिखायी देनेवाले वृक्षोंपर भी ऊँची ध्वजाएँ लगायी गयीं और उनमें पताकाएँ फहरायी गयीं॥ ११—१३॥

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम्।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः॥ १४॥

उस समय वहाँकी जनता सब ओर नटों और नर्तकोंके समूहों तथा गानेवाले गायकोंकी मन और कानोंको सुख देनेवाली वाणी सुनती थी॥ १४॥

---

१. ऐसा माना जाता है कि यहाँ नारायण शब्दसे श्रीरङ्गनाथजीकी वह अर्चा-मूर्ति अभिप्रेत है, जो कि पूर्वजोंके समयसे ही दीर्घकालतक अयोध्यामें उपास्य देवताके रूपमें रही। बादमें श्रीरामजीने वह मूर्ति विभीषणको दे दी थी, जिससे वह वर्तमान श्रीरंगक्षेत्रमें पहुँची। इसकी विस्तृत कथा पद्मपुराणमें है।

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः ।
रामाभिषेके सम्प्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका शुभ अवसर प्राप्त होनेपर प्रायः सब लोग चौराहोंपर और घरोंमें भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही चर्चा करते थे ॥ १५ ॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः ।
रामाभिषवसंयुक्ताश्चक्रुरेव कथा मिथः ॥ १६ ॥

घरोंके दरवाजोंपर खेलते हुए झुंड-के-झुंड बालक भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही बातें करते थे ॥१६॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः ।
राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने ॥ १७ ॥

पुरवासियोंने श्रीरामके राज्याभिषेकके समय राजमार्गपर फूलोंकी भेंट चढ़ाकर वहाँ सब ओर धूपकी सुगन्ध फैला दी; ऐसा करके उन्होंने राजमार्गको बहुत सुन्दर बना दिया ॥१७॥

प्रकाशकरणार्थं च निशागमनशङ्कया ।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥

राज्याभिषेक होते-होते रात हो जानेकी आशङ्कासे प्रकाश-की व्यवस्था करनेके लिये पुरवासियोंने सब ओर सड़कोंके दोनों तरफ वृक्षकी भाँति अनेक शाखाओंसे युक्त दीपस्तम्भ खड़े कर दिये ॥ १८ ॥

अलंकारं पुरस्यैवं कृत्वा तत् पुरवासिनः ।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥
समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च ।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥ २० ॥

इस प्रकार नगरको सजाकर श्रीरामके युवराजपदपर अभिषेककी अभिलाषा रखनेवाले समस्त पुरवासी चौराहों और सभाओंमें झुंड-के-झुंड एकत्र हो वहाँ परस्पर बातें करते हुए महाराज दशरथकी प्रशंसा करने लगे—॥१९-२०॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
ज्ञात्वा वृद्धं स्वमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २१ ॥

'अहो! इक्ष्वाकुकुलको आनन्दित करनेवाले ये राजा दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो कि अपने-आपको बूढ़ा हुआ जानकर श्रीरामका राज्याभिषेक करने जा रहे हैं ॥ २१ ॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः ।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥

'भगवान्‌का हम सब लोगोंपर बड़ा अनुग्रह है कि श्रीरामचन्द्रजी हमारे राजा होंगे और चिरकालतक हमारी रक्षा करते रहेंगे; क्योंकि वे समस्त लोकोंके निवासियोंमें जो भलाई या बुराई है, उसे अच्छी तरह देख चुके हैं ॥ २२ ॥

अनुद्धतमना विद्वान् धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः ।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥ २३ ॥

'श्रीरामका मन कभी उद्धत नहीं होता। वे विद्वान्, धर्मात्मा और अपने भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले हैं। उनका अपने भाइयोंपर जैसा स्नेह है, वैसा ही हमलोगोंपर भी है ॥ २३ ॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः ।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ २४ ॥

'धर्मात्मा एवं निष्पाप राजा दशरथ चिरकालतक जीवित रहें, जिनके प्रसादसे हमें श्रीरामके राज्याभिषेकका दर्शन सुलभ होगा' ॥ २४ ॥

एवं विधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुः परे ।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥ २५ ॥

अभिषेकका वृत्तान्त सुनकर नाना दिशाओंसे उस जनपदके लोग भी वहाँ पहुँचे थे, उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पुरवासियोंकी सभी बातें सुनीं ॥ २५ ॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् ।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥

वे सब-के-सब श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये अनेक दिशाओंसे अयोध्यापुरीमें आये थे। उन जनपदनिवासी मनुष्योंने श्रीरामपुरीको अपनी उपस्थितिसे भर दिया था ॥ २६ ॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः ।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ २७ ॥

वहाँ मनुष्योंकी भीड़-भाड़ बढ़नेसे जो जनरव सुनायी देता था, वह पर्वोंके दिन बढ़े हुए वेगवाले महासागरकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २७ ॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपाहितैः ।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥

उस समय श्रीरामके अभिषेकका उत्सव देखनेके लिये पधारे हुए जनपदवासी मनुष्योंद्वारा सब ओरसे भरा हुआ वह इन्द्रपुरीके समान नगर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण होनेके कारण मकर, नक्र, तिमिङ्गल आदि विशाल जल-जन्तुओंसे परिपूर्ण महासागरके समान प्रतीत होता था ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

श्रीरामके अभिषेकका समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थराका कैकेयीको उभाड़ना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयीका उसे पुरस्काररूपमें आभूषण देना और वर माँगनेके लिये प्रेरित करना

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता ।
प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया ॥ १ ॥

रानी कैकेयीके पास एक दासी थी, जो उसके मायकेसे आयी हुई थी । वह सदा कैकेयीके ही साथ रहा करती थी । उसका जन्म कहाँ हुआ था ? उसके देश और माता-पिता कौन थे ? इसका पता किसीको नहीं था । अभिषेकसे एक दिन पहले वह स्वेच्छासे ही कैकेयीके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् महलकी छतपर जा चढ़ी ॥ १ ॥

सिक्तराजपथां कृत्स्नां प्रकीर्णकमलोत्पलाम् ।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात् प्रासादादन्ववैक्षत ॥ २ ॥

उस दासीका नाम था—मन्थरा । उसने उस महलकी छतसे देखा—अयोध्याकी सड़कोंपर छिड़काव किया गया है और सारी पुरीमें यत्र-तत्र खिले हुए कमल और उत्पल बिखेरे गये हैं ॥ २ ॥

पताकाभिर्वरार्हाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम् ।
सिक्तां चन्दनतोयैश्च शिरःस्नातजनैर्युताम् ॥ ३ ॥

सब ओर बहुमूल्य पताकाएँ फहरा रही हैं । ध्वजाओंसे इस पुरीकी अपूर्व शोभा हो रही है । राजमार्गोंपर चन्दन-मिश्रित जलका छिड़काव किया गया है तथा अयोध्यापुरीके सब लोग उबटन लगाकर सिरके ऊपरसे स्नान किये हुए हैं ॥ ३ ॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् ।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनादिताम् ॥ ४ ॥
सम्प्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषनिनादिताम् ।
प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां सम्प्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥

श्रीरामके दिये हुए माल्य और मोदक हाथमें लिये श्रेष्ठ ब्राह्मण हर्षनाद कर रहे हैं, देवमन्दिरोंके दरवाजे चूने और चन्दन आदिसे लीपकर सफेद एवं सुन्दर बनाये गये हैं, सब प्रकारके बाजोंकी मनोहर ध्वनि हो रही है, अत्यन्त हर्षमें भरे हुए मनुष्योंसे सारा नगर परिपूर्ण है और चारों ओर वेद-पाठकोंकी ध्वनि गूँज रही है, श्रेष्ठ हाथी और घोड़े हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देते हैं तथा गाय-बैल प्रसन्न होकर रँभा रहे हैं ॥४-५॥

हृष्टप्रमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम् ।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥

सारे नगरनिवासी हर्षजनित रोमाञ्चसे युक्त और आनन्द-मग्न हैं तथा नगरमें सब ओर श्रेणीबद्ध ऊँचे-ऊँचे ध्वज फहरा रहे हैं । अयोध्याकी ऐसी शोभाको देखकर मन्थराको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम् ।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥

उसने पासके ही कोठेपर रामकी धायको खड़ी देखा, उसके नेत्र प्रसन्नतासे खिले हुए थे और शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पा रही थी । उसे देखकर मन्थराने उससे पूछा—॥ ७ ॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती ।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति ॥ ८ ॥
अतिमात्रं प्रहर्षः किं जनस्यास्य च शंस मे ।
कारयिष्यति किं वापि सम्प्रहृष्टो महापतिः ॥ ९ ॥

'धाय ! आज श्रीरामचन्द्रजीकी माता अपने किसी अभीष्ट मनोरथके साधनमें तत्पर हो अत्यन्त हर्षमें भरकर लोगोंको धन क्यों बाँट रही हैं ? आज यहाँके सभी मनुष्योंको इतनी अधिक प्रसन्नता क्यों है ? इसका कारण मुझे बताओ । आज महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न होकर कौन-सा कर्म करायेंगे' ॥ ८-९ ॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा ।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम् ॥ १० ॥
श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन चानघम् ।
राजा दशरथो राममभिषेक्ता हि राघवम् ॥ ११ ॥

श्रीरामकी धाय तो हर्षसे फूली नहीं समाती थी, उसने कुब्जाके पूछनेपर बड़े आनन्दके साथ उसे बताया—'कुब्जे ! रघुनाथजीको बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त होनेवाली है । कल महाराज दशरथ पुष्यनक्षत्रके योगमें क्रोधको जीतनेवाले, पापरहित, रघुकुलनन्दन श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे' ॥ १०-११ ॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता ।
कैलासशिखराकारात् प्रासादादवरोहत ॥ १२ ॥

धायका यह वचन सुनकर कुब्जा मन-ही-मन कुढ़ गयी और उस कैलास-शिखरकी भाँति उज्ज्वल एवं गगनचुम्बी प्रासादसे तुरंत ही नीचे उतर गयी ॥ १२ ॥

सा दह्यमाना क्रोधेन मन्थरा पापदर्शिनी ।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

मन्थराको इसमें कैकेयीका अनिष्ट दिखायी देता था, वह क्रोधसे जल रही थी । उसने महलमें लेटी हुई कैकेयीके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।
उपप्लुतमघौघेन नात्मानमवबुध्यसे ॥ १४ ॥

'मूर्खे ! उठ । क्या सो रही है ? तुझपर बड़ा भारी भय आ रहा है । अरी ! तेरे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है, फिर भी तुझे अपनी इस दुरवस्थाका बोध नहीं होता ? ॥ १४ ॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे ।
चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ॥ १५ ॥

'तेरे प्रियतम तेरे सामने ऐसा आकार बनाये आते हैं मानो सारा सौभाग्य तुझे ही अर्पित कर देते हों, परंतु पीठ-पीछे वे तेरा अनिष्ट करते हैं । तू उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर सौभाग्यकी डींग हाँका करती है; परंतु जैसे ग्रीष्म ऋतुमें नदीका प्रवाह सूखता चला जाता है, उसी प्रकार तेरा वह सौभाग्य अब अस्थिर हो गया है—तेरे हाथसे चला जाना चाहता है !' ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः ।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत् परम् ॥ १६ ॥

इष्टमें भी अनिष्टका दर्शन करानेवाली रोषभरी कुब्जाके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर कैकेयीके मनमें बड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

कैकेयी त्वब्रवीत् कुब्जां कच्चित् क्षेमं न मन्थरे ।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥ १७ ॥

उस समय केकयराजकुमारीने कुब्जासे पूछा—'मन्थरे ! कोई अमङ्गलकी बात तो नहीं हो गयी; क्योंकि तेरे मुखपर विषाद छा रहा है और तू मुझे बहुत दुखी दिखायी देती है' ॥ १७ ॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् ।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥
सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्यां हितैषिणी ।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥ १९ ॥

मन्थरा बात-चीत करनेमें बड़ी कुशल थी; वह कैकेयीके मीठे वचन सुनकर और भी खिन्न हो गयी, उसके प्रति अपनी हितैषिता प्रकट करती हुई कुपित हो उठी और कैकेयीके मनमें श्रीरामके प्रति भेदभाव और विषाद उत्पन्न करती हुई इस प्रकार बोली—॥ १८-१९ ॥

अक्षयं सुमहद् देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् ।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥

'देवि ! तुम्हारे सौभाग्यके महान् विनाशका कार्य आरम्भ हो गया है, जिसका कोई प्रतिकार नहीं है । कल महाराज दशरथ श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर देंगे ॥ २० ॥

साऽस्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ।
दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥ २१ ॥

'यह समाचार पाकर मैं दुःख और शोकसे व्याकुल हो अगाध भयके समुद्रमें डूब गयी हूँ, चिन्ताकी आगसे मानो जली जा रही हूँ और तुम्हारे हितकी बात बतानेके लिये यहाँ आयी हूँ ॥ २१ ॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद् भवेत् ।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः ॥ २२ ॥

'कैकेयनन्दिनि ! यदि तुमपर कोई दुःख आया तो उससे मुझे भी बड़े भारी दुःखमें पड़ना होगा । तुम्हारी उन्नतिमें ही मेरी भी उन्नति है, इसमें संशय नहीं है ॥ २२ ॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥ २३ ॥

'देवि ! तुम राजाओंके कुलमें उत्पन्न हुई हो और एक महाराजकी महारानी हो, फिर भी राजधर्मोंकी उग्रताको कैसे नहीं समझ रही हो ? ॥ २३ ॥

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः ।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता ॥ २४ ॥

'तुम्हारे स्वामी धर्मकी बातें तो बहुत करते हैं, परंतु हैं बड़े शठ । मुँहसे चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, परंतु हृदयके बड़े क्रूर हैं । तुम समझती हो कि वे सारी बातें शुद्ध भावसे ही कहते हैं, इसीलिये आज उनके द्वारा तुम बेतरह ठगी गयी ॥ २४ ॥

उपस्थितः प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् ।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥ २५ ॥

'तुम्हारे पति तुम्हें व्यर्थ सान्त्वना देनेके लिये यहाँ उपस्थित होते हैं, वे ही अब रानी कौसल्याको अर्थसे सम्पन्न करने जा रहे हैं ॥ २५ ॥

अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६ ॥

'उनका हृदय इतना दूषित है कि भरतको तो उन्होंने तुम्हारे मायके भेज दिया और कल सबेरे ही अवधके निष्कण्टक राज्यपर वे श्रीरामका अभिषेक करेंगे ॥ २६ ॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया ।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिधृतस्त्वया ॥ २७ ॥

'बाले ! जैसे माता हितकी कामनासे पुत्रका पोषण करती है, उसी प्रकार 'पति' कहलानेवाले जिस व्यक्तिका तुमने पोषण किया है, वह वास्तवमें शत्रु निकला । जैसे कोई अज्ञानवश सर्पको अपनी गोदमें लेकर उसका लालन करे, उसी प्रकार तुमने उन सर्पवत् बर्ताव करनेवाले महाराजको अपने अङ्कमें स्थान दिया है ॥ २७ ॥

यथा हि कुर्याच्छत्रुर्वा सर्पो वा प्रत्युपेक्षितः ।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥

'उपेक्षित शत्रु अथवा सर्प जैसा बर्ताव कर सकता है, राजा दशरथने आज पुत्रसहित तुझ कैकेयीके प्रति वैसा ही बर्ताव किया है ॥ २८ ॥

पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यं सुखोचिता ।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥ २९ ॥

'बाले ! तुम सदा सुख भोगनेके योग्य हो, परंतु मनमें पाप (दुर्भावना) रखकर ऊपरसे झूठी सान्त्वना देनेवाले महाराजने अपने राज्यपर श्रीरामको स्थापित करनेका विचार करके आज सगे-सम्बन्धियोंसहित तुमको मानो मौतके मुखमें डाल दिया है ॥ २९ ॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव ।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥ ३० ॥

'केकयराजकुमारी ! तुम दुःखजनक बात सुनकर भी मेरी ओर इस तरह देख रही हो, मानो तुम्हें प्रसन्नता हुई हो और मेरी बातोंसे तुम्हें विस्मय हो रहा हो, परंतु यह विस्मय छोड़ो और जिसे करनेका समय आ गया है, अपने उस हितकर कार्यको शीघ्र करो तथा ऐसा करके अपनी, अपने पुत्रकी और मेरी भी रक्षा करो' ॥ ३० ॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना ।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥

मन्थराकी यह बात सुनकर सुन्दर मुखवाली कैकेयी सहसा शय्यासे उठ बैठी । उसका हृदय हर्षसे भर गया । वह शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलकी भाँति उद्दीप्त हो उठी ॥

अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ।
दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥

कैकेयी मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हुई । विस्मयविमुग्ध हो मुसकराते हुए उसने कुब्जाको पुरस्कारके रूपमें एक बहुत सुन्दर दिव्य आभूषण प्रदान किया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा ।
कैकेयी मन्थरां हृष्टा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥
इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम् ।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते ॥ ३४ ॥

कुब्जाको वह आभूषण देकर हर्षसे भरी हुई रमणी-शिरोमणि कैकेयीने पुनः मन्थरासे इस प्रकार कहा—'मन्थरे ! यह तूने मुझे बड़ा ही प्रिय समाचार सुनाया । तूने मेरे लिये जो यह प्रिय संवाद सुनाया, इसके लिये मैं तेरा और कौन-सा उपकार करूँ ॥ ३३-३४ ॥

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये ।
तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ ३५ ॥

'मैं भी राम और भरतमें कोई भेद नहीं समझती । अतः यह जानकर कि राजा श्रीरामका अभिषेक करनेवाले हैं मुझे बड़ी खुशी हुई है ॥ ३५ ॥

न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम् ।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु ॥ ३६ ॥

'मन्थरे ! तू मुझसे प्रिय वस्तु पानेके योग्य है । मेरे लिये श्रीरामके अभिषेकसम्बन्धी इस समाचारसे बढ़कर दूसरा कोई प्रिय एवं अमृतके समान मधुर वचन नहीं कहा जा सकता । ऐसी परम प्रिय बात तुमने कही है; अतः अब यह प्रिय संवाद सुनानेके बाद तू कोई श्रेष्ठ वर माँग ले, मैं उसे अवश्य दूँगी' ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

मन्थराका पुनः श्रीरामके राज्याभिषेकको कैकेयीके लिये अनिष्टकारी बताना, कैकेयीका श्रीरामके गुणोंको बताकर उनके अभिषेकका समर्थन करना तत्पश्चात् कुब्जाका पुनः श्रीराम-राज्यको भरतके लिये भयजनक बताकर कैकेयीको भड़काना

मन्थरा त्वभ्यसूय्यैनामुत्सृज्याभरणं हि तत् ।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

यह सुनकर मन्थराने कैकेयीकी निन्दा करके उसके दिये हुए आभूषणको उठाकर फेंक दिया और कोप तथा दुःखसे भरकर वह इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

हर्षं किमर्थमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे ।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥

'रानी ! तुम बड़ी नादान हो । अहो ! तुमने यह बेमौके हर्ष किस लिये प्रकट किया ? तुम्हें शोकके स्थानपर प्रसन्नता कैसे हो रही है ? अरी ! तुम शोकके समुद्रमें डूबी हुई हो, तो भी तुम्हें अपनी इस विपन्नावस्थाका बोध नहीं हो रहा है ॥

मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती ।
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्य त्वं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

'देवि ! महान् संकटमें पड़नेपर जहाँ तुम्हें शोक होना

चाहिये, वहीं हर्ष हो रहा है। तुम्हारी यह अवस्था देखकर मुझे मन-ही-मन बड़ा क्लेश सहन करना पड़ता है। मैं दुःख-से व्याकुल हुई जाती हूँ ॥ ३ ॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत्।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥

'मुझे तुम्हारी दुर्बुद्धिके लिये ही अधिक शोक होता है। अरी सौतका बेटा शत्रु होता है। वह सौतेली माँके लिये साक्षात् मृत्युके समान है। भला, उसके अभ्युदयका अवसर आया देख कौन बुद्धिमती स्त्री अपने मनमें हर्ष मानेगी ॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद् भयम्।
तद् विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥ ५ ॥

'यह राज्य भरत और राम दोनोंके लिये साधारण भोग्य-वस्तु है, इसपर दोनोंका समान अधिकार है, इसलिये श्रीरामको भरतसे ही भय है। यही सोचकर मैं विषादमें डूबी जाती हूँ; क्योंकि भयभीतसे ही भय प्राप्त होता है अर्थात् आज जिसे भय है, वही राज्य प्राप्त कर लेनेपर जब सबल हो जायगा, तब अपने भयके हेतुको उखाड़ फेंकेगा ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महाबाहू रामं सर्वात्मना गतः।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

'महाबाहु लक्ष्मण सम्पूर्ण हृदयसे श्रीरामचन्द्रजीके अनुगत हैं। जैसे लक्ष्मण श्रीरामके अनुगत हैं, उसी तरह शत्रुघ्न भी भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि।
राज्यक्रमो विसृष्टस्तु तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

'भामिनि ! उत्पत्तिके क्रमसे श्रीरामके बाद भरतका ही पहले राज्यपर अधिकार हो सकता है (अतः भरतसे भय होना स्वाभाविक है)। लक्ष्मण और शत्रुघ्न तो छोटे हैं; अतः उनके लिये राज्यप्राप्तिकी सम्भावना दूर है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।
भयात् प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥

'श्रीराम समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, विशेषतः क्षत्रिय-चरित्र (राजनीति) के पण्डित हैं तथा समयोचित कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं; अतः उनका तुम्हारे पुत्रके प्रति जो क्रूरतापूर्ण बर्ताव होगा, उसे सोचकर मैं भयसे काँप उठती हूँ ॥

सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

'वास्तवमें कौसल्या ही सौभाग्यवती हैं, जिनके पुत्रका कल पुष्यनक्षत्रके योगमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा युवराजके महान् पदपर अभिषेक होने जा रहा है ॥ ९ ॥

प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां हतविद्विषम्।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीवत् त्वं कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

'वे भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य पाकर प्रसन्न होंगी; क्योंकि वे राजाकी विश्वासपात्र हैं और तुम दासीकी भाँति हाथ जोड़कर उनकी सेवामें उपस्थित होओगी ॥ १० ॥

एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यति ॥ ११ ॥

'इस प्रकार हमलोगोंके साथ तुम भी कौसल्याकी दासी बनोगी और तुम्हारे पुत्र भरतको भी श्रीरामचन्द्रजीकी गुलामी करनी पड़ेगी ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः।
अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये ॥ १२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके अन्तःपुरकी परम सुन्दरी स्त्रियाँ—सीतादेवी और उनकी सखियाँ निश्चय ही बहुत प्रसन्न होंगी और भरतके प्रभुत्वका नाश होनेसे तुम्हारी बहुएँ शोकमग्न हो जायँगी' ॥ १२ ॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः।
रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥

मन्थराको अत्यन्त अप्रसन्नताके कारण इस प्रकार बहकी-बहकी बातें करती देख देवी कैकेयीने श्रीरामके गुणोंकी ही प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १३ ॥

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥

'कुब्जे ! श्रीराम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं; अतः युवराज होनेके योग्य वे ही हैं ॥ १४ ॥

भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥

'वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और भृत्योंका पिताकी भाँति पालन करेंगे। कुब्जे ! उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी जल क्यों रही है ? ॥ १५ ॥

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात् परम्।
पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः ॥ १६ ॥

'श्रीरामकी राज्यप्राप्तिके सौ वर्ष बाद नरश्रेष्ठ भरतको भी निश्चय ही अपने पिता-पितामहोंका राज्य मिलेगा ॥ १६ ॥

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे।
भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे ॥ १७ ॥

'मन्थरे ! ऐसे अभ्युदयकी प्राप्तिके समय, जब कि भविष्यमें कल्याण-ही-कल्याण दिखायी दे रहा है, तू इस प्रकार जलती हुई-सी संतप्त क्यों हो रही है ? ॥ १७ ॥

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥ १८ ॥

'मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही बल्कि

उनसे भी बढ़कर श्रीराम हैं; क्योंकि वे कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी बहुत सेवा किया करते हैं ॥ १८ ॥

राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा ।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं यथा भ्रातॄंस्तु राघवः ॥ १९ ॥

'यदि श्रीरामको राज्य मिल रहा है तो उसे भरतको मिला हुआ समझ; क्योंकि श्रीरामचन्द्र अपने भाइयोंको भी अपने ही समान समझते हैं' ॥ १९ ॥

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता ।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

कैकेयीकी यह बात सुनकर मन्थराको बड़ा दुःख हुआ । वह लंबी और गरम साँस खींचकर कैकेयीसे बोली— ॥ २० ॥

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे ।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥

'रानी ! तुम मूर्खतावश अनर्थको ही अर्थ समझ रही हो ! तुम्हें अपनी स्थितिका पता नहीं है । तुम दुःखके उस महासागरमें डूब रही हो, जो शोक (इष्टसे वियोगकी चिन्ता) और व्यसन (अनिष्टकी प्राप्तिके दुःख) से महान् विस्तारको प्राप्त हो रहा है ॥ २१ ॥

भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः ।
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥ २२ ॥

'केकयराजकुमारी ! जब श्रीरामचन्द्र राजा हो जायँगे, तब उनके बाद उनका जो पुत्र होगा, उसीको राज्य मिलेगा । भरत तो राजपरम्परासे अलग हो जायँगे ॥ २२ ॥

नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥

'भामिनि ! राजाके सभी पुत्र राज्यसिंहासनपर नहीं बैठते हैं; यदि सबको बिठा दिया जाय तो बड़ा भारी अनर्थ हो जाय ॥ २३ ॥

तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥ २४ ॥

'परमसुन्दरी केकयनन्दिनि ! इसीलिये राजालोग राज-काजका भार ज्येष्ठ पुत्रपर ही रखते हैं । यदि ज्येष्ठ पुत्र गुणवान् न हो तो दूसरे गुणवान् पुत्रोंको भी राज्य सौंप देते हैं ॥ २४ ॥

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
अनाथवत् सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

'पुत्रवत्सले ! तुम्हारा पुत्र राज्यके अधिकारसे तो बहुत दूर हटा ही दिया जायगा, वह अनाथकी भाँति समस्त सुखोंसे भी वञ्चित हो जायगा ॥ २५ ॥

साहं त्वदर्थे सम्प्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे ।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि ॥ २६ ॥

'इसलिये मैं तुम्हारे ही हितकी बात सुझानेके लिये यहाँ आयी हूँ; परंतु तुम मेरा अभिप्राय तो समझती नहीं, उलटे सौतका अभ्युदय सुनकर मुझे पारितोषिक देने चली हो ॥ २६ ॥

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा ॥ २७ ॥

'याद रखो, यदि श्रीरामको निष्कण्टक राज्य मिल गया तो वे भरतको अवश्य ही इस देशसे बाहर निकाल देंगे अथवा उन्हें परलोकमें भी पहुँचा सकते हैं ॥ २७ ॥

बाल एव तु मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया ।
संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्विव ॥ २८ ॥

'छोटी अवस्थामें ही तुमने भरतको मामाके घर भेज दिया । निकट रहनेसे सौहार्द उत्पन्न होता है । यह बात स्थावर योनियोंमें भी देखी जाती है (लता और वृक्ष आदि एक दूसरेके निकट होनेपर परस्पर आलिङ्गन-पाशमें बद्ध हो जाते हैं । यदि भरत यहाँ होते तो राजाका उनमें भी समानरूपसे स्नेह बढ़ता; अतः वे उन्हें भी आधा राज्य दे देते) ॥२८॥

भरतानुवशात् सोऽपि शत्रुघ्नस्तत्समं गतः ।
लक्ष्मणो हि यथा रामं तथायं भरतं गतः ॥ २९ ॥

'भरतके अनुरोधसे शत्रुघ्न भी उनके साथ ही चले गये (यदि वे यहाँ होते तो भरतका काम बिगड़ने नहीं पाता । क्योंकि—) जैसे लक्ष्मण रामके अनुगामी हैं, उसी प्रकार शत्रुघ्न भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ २९ ॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीवनैः ।
संनिकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद् भयात् ॥ ३० ॥

'सुना जाता है, जंगलकी लकड़ी बेचकर जीविका चलाने-वाले कुछ लोगोंने किसी वृक्षको काटनेका निश्चय किया, परंतु वह वृक्ष कँटीली झाड़ियोंसे घिरा हुआ था; इसलिये वे उसे काट नहीं सके । इस प्रकार उन कँटीली झाड़ियोंने निकट रहनेके कारण उस वृक्षको महान् भयसे बचा लिया ॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः ।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण श्रीरामकी रक्षा करते हैं और श्रीराम उनकी । उन दोनोंका उत्तम भ्रातृ-प्रेम दोनों अश्विनी-कुमारोंकी भाँति तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किंचित् करिष्यति ।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादेव न संशयः ॥ ३२ ॥

'इसलिये श्रीराम लक्ष्मणका तो किञ्चित् भी अनिष्ट नहीं करेंगे, परंतु भरतका अनिष्ट किये बिना वे रह नहीं सकते; इसमें संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥

'अतः श्रीरामचन्द्र महाराजके महलसे ही सीधे वनको चले जायँ—मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है और इसीमें तुम्हारा परम हित है ॥ ३३ ॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति।
यदि चेद् भरतो धर्मात् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

'यदि भरत धर्मानुसार अपने पिताका राज्य प्राप्त कर लेंगे तो तुम्हारा और तुम्हारे पक्षके अन्य सब लोगोंका भी कल्याण होगा ॥ ३४ ॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः।
समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥

'सौतेला भाई होनेके कारण जो श्रीरामका सहज शत्रु है, वह सुख भोगनेके योग्य तुम्हारा बालक भरत राज्य और धनसे वञ्चित हो राज्य पाकर समृद्धिशाली बने हुए श्रीरामके वशमें पड़कर कैसे जीवित रहेगा ॥ ३५ ॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम्।
प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'जैसे वनमें सिंह हाथियोंके यूथपतिपर आक्रमण करता है और वह भागा फिरता है, उसी प्रकार राजा राम भरतका तिरस्कार करेंगे; अतः उस तिरस्कारसे तुम भरतकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत् ॥ ३७ ॥

'तुमने पहले पतिका अत्यन्त प्रेम प्राप्त होनेके कारण घमंडमें आकर जिनका अनादर किया था, वे ही तुम्हारी सौत श्रीराममाता कौसल्या पुत्रकी राज्यप्राप्तिसे परम सौभाग्यशालिनी हो उठी हैं; अब वे तुमसे अपने वैरका बदला क्यों नहीं लेंगी ॥ ३७ ॥

यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते
प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम्।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥

'भामिनि! जब श्रीराम अनेक समुद्रों और पर्वतोंसे युक्त समस्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब तुम अपने पुत्र भरतके साथ ही दीन-हीन होकर अशुभ पराभवका पात्र बन जाओगी ॥ ३८ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति।
अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवास्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

'याद रखो, जब श्रीराम इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे, तब निश्चय ही तुम्हारे पुत्र भरत नष्टप्राय हो जायँगे। अतः ऐसा कोई उपाय सोचो, जिससे तुम्हारे पुत्रको तो राज्य मिले और शत्रुभूत श्रीरामका वनवास हो जाय' ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें आँठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

कुब्जाके कुचक्रसे कैकेयीका कोपभवनमें प्रवेश

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

मन्थराके ऐसा कहनेपर कैकेयीका मुख क्रोधसे तमतमा उठा। वह लंबी और गरम साँस खींचकर उससे इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम्।
यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये ॥ २ ॥

'कुब्जे! मैं श्रीरामको शीघ्र ही यहाँसे वनमें भेजूँगी और तुरंत ही युवराजके पदपर भरतका अभिषेक कराऊँगी ॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन साधये।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥

'परंतु इस समय यह तो सोचो कि किस उपायसे अपना अभीष्टसाधन करूँ? भरतको राज्य प्राप्त हो जाय और श्रीराम उसे किसी तरह भी न पा सकें—यह काम कैसे बने?' ॥ ३ ॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई वहाँ कैकेयीसे इस प्रकार बोली—॥ ४ ॥

हन्तेदानीं प्रपश्य त्वं कैकेयि श्रूयतां वचः।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥

'केकयनन्दिनि! अच्छा, अब देखो कि मैं क्या करती हूँ? तुम मेरी बात सुनो, जिससे केवल तुम्हारे पुत्र भरत ही राज्य प्राप्त करेंगे (श्रीराम नहीं) ॥ ५ ॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे।

यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

'कैकेयि ! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ? या स्मरण होनेपर भी मुझसे छिपा रही हो ? जिसकी तुम मुझसे अनेक बार चर्चा करती रहती हो, अपने उसी प्रयोजनको तुम मुझसे सुनना चाहती हो ? इसका क्या कारण है ? ॥ ६ ॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद् विधीयताम् ॥ ७ ॥

'विलासिनि ! यदि मेरे ही मुँहसे सुननेके लिये तुम्हारा आग्रह है तो बताती हूँ, सुनो और सुनकर इसीके अनुसार कार्य करो' ॥ ७ ॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी।
किंचिदुत्थाय शयनात् स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

'मन्थराका यह वचन सुनकर कैकेयी अच्छी तरहसे बिछे हुए उस पलंगसे कुछ उठकर उससे यों बोली—॥ ८ ॥

कथयस्व ममोपायं केनोपायेन मन्थरे।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥

'मन्थरे ! मुझसे वह उपाय बताओ । किस उपायसे भरतको तो राज्य मिल जायगा, किंतु श्रीराम उसे किसी तरह नहीं पा सकेंगे' ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तदा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई उस समय कैकेयीसे इस प्रकार बोली—॥ १० ॥

पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः।
अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥ ११ ॥

'देवि ! पूर्वकालकी बात है कि देवासुर-संग्रामके अवसर-पर राजर्षियोंके साथ तुम्हारे पतिदेव तुम्हें साथ लेकर देवराज-की सहायता करनेके लिये गये थे ॥ ११ ॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥ १२ ॥
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥ १३ ॥

'केकयराजकुमारी ! दक्षिण दिशामें दण्डकारण्यके भीतर वैजयन्त नामसे विख्यात एक नगर है, जहाँ शम्बर नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर रहता था । वह अपनी ध्वजामें तिमि (ह्वेल मछली) का चिह्न धारण करता था और सैकड़ों मायाओंका जानकार था । देवताओंके समूह भी उसे पराजित नहीं कर पाते थे । एक बार उसने इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥ १२-१३ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान्।
रात्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसापास्य राक्षसाः ॥ १४ ॥

'उस महान् संग्राममें क्षत-विक्षत हुए पुरुष जब रातमें थककर सो जाते, उस समय राक्षस उन्हें उनके बिस्तरसे खींच ले जाते और मार डालते थे ॥ १४ ॥

तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः ॥ १५ ॥

'उन दिनों महाबाहु राजा दशरथने भी वहाँ असुरोंके साथ बड़ा भारी युद्ध किया । उस युद्धमें असुरोंने अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा उनके शरीरको जर्जर कर दिया ॥ १५ ॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥

'देवि ! जब राजाकी चेतना लुप्त-सी हो गयी, उस समय सारथिका काम करती हुई तुमने अपने पतिको रणभूमिसे दूर हटाकर उनकी रक्षा की । जब वहाँ भी राक्षसोंके शस्त्रों-से वे घायल हो गये, तब तुमने पुनः वहाँसे अन्यत्र ले जाकर उनकी रक्षा की ॥ १६ ॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम् ॥ १७ ॥
गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा ॥ १८ ॥

'शुभदर्शने ! इससे संतुष्ट होकर महाराजने तुम्हें दो वरदान देनेको कहा—देवि ! उस समय तुमने अपने पतिसे कहा—'प्राणनाथ ! जब मेरी इच्छा होगी, तब मैं इन वरोंको माँग लूँगी ।' उस समय उन महात्मा नरेशने 'तथास्तु' कहकर तुम्हारी बात मान ली थी । देवि ! मैं इस कथाको नहीं जानती थी । पूर्वकालमें तुम्हींने मुझसे यह वृत्तान्त कहा था ॥

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥

'तबसे तुम्हारे स्नेहवश मैं इस बातको मन-ही-मन सदा याद रखती आयी हूँ । तुम इन वरोंके प्रभावसे स्वामीको वशमें करके श्रीरामके अभिषेकके आयोजनको पलट दो ॥

तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम्।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश ॥ २० ॥

'तुम उन दोनों वरोंको अपने स्वामीसे माँगो । एक वरके द्वारा भरतका राज्याभिषेक और दूसरेके द्वारा श्रीरामका चौदह वर्षतकका वनवास माँग लो ॥ २० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥

जब श्रीराम चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जायँगे तब उतने समयमें तुम्हारे पुत्र भरत समस्त प्रजाके हृदयमें

अपने लिये स्नेह पैदा कर लेंगे और इस राज्यपर स्थिर हो जायँगे ॥ २१ ॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥

'अश्वपतिकुमारी ! तुम इस समय मैले वस्त्र पहन लो और कोपभवनमें प्रवेश करके कुपित-सी होकर बिना बिस्तरके ही भूमिपर लेट जाओ ॥ २२ ॥

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।
रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा ॥ २३ ॥

'राजा आवें तो उनकी ओर आँखें उठाकर न देखो और न उनसे कोई बात ही करो । महाराजको देखते ही रोती हुई शोकमग्न हो धरतीपर लोटने लगो ॥ २३ ॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।
त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥

'इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि तुम अपने पतिको सदा ही बड़ी प्यारी रही हो । तुम्हारे लिये महाराज आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ २४ ॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।
तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥

'वे न तो तुम्हें कुपित कर सकते हैं और न कुपित अवस्थामें तुम्हें देख ही सकते हैं । राजा दशरथ तुम्हारा प्रिय करनेके लिये अपने प्राणोंका भी त्याग कर सकते हैं ॥ २५ ॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।
मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः ॥ २६ ॥

'महाराज तुम्हारी बात किसी तरह टाल नहीं सकते । मुग्धे ! तुम अपने सौभाग्यके बलका स्मरण करो ॥ २६ ॥

मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च ।
दद्याद् दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥

'राजा दशरथ तुम्हें भुलावेमें डालनेके लिये मणि, मोती, सुवर्ण तथा भाँति-भाँतिके रत्न देनेकी चेष्टा करेंगे; किंतु तुम उनकी ओर मन न चलाना ॥ २७ ॥

यौ तौ देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो न त्वाक्रमेदति ॥ २८ ॥

'महाभागे ! देवासुर-संग्राममें अवसरपर राजा दशरथने ते जो दो वर दिये थे, उनका उन्हें स्मरण दिलाना । वरदान-के रूपमें माँगा गया वह तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकता ॥ २८ ॥

यदा तु ते वरं दद्यात् स्वयमुत्थाप्य राघवः ।
व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥ २९ ॥

'रघुकुलनन्दन राजा दशरथ जब स्वयं तुम्हें धरतीसे उठाकर वर देनेको उद्यत हो जायँ, तब उन महाराजो सत्यकी शपथ दिलाकर खूब पक्का करके उनसे वर माँगना ॥ २९ ॥

रामप्रव्रजनं दूरं नव वर्षाणि पञ्च च ।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्यां पार्थिवर्षभ ॥ ३० ॥

'वर माँगते समय कहना कि नृपश्रेष्ठ ! आप श्रीरामको चौदह वर्षोंके लिये बहुत दूर वनमें भेज दीजिये और भरतको भूमण्डलका राजा बनाइये ॥ ३० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥

'श्रीरामके चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जानेपर तुम्हारे पुत्र भरतका राज्य सुदृढ़ हो जायगा और प्रजा आदिको वशमें कर लेनेसे यहाँ उनकी जड़ जम जायगी । फिर चौदह वर्षोंके बाद भी वे आजीवन स्थिर बने रहेंगे ॥ ३१ ॥

रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनि ॥ ३२ ॥

'देवि ! तुम राजासे श्रीरामके वनवासका वर अवश्य माँगो । पुत्रके लिये राज्यकी कामना करनेवाली कैकेयि ! ऐसा करनेसे तुम्हारे पुत्रके सभी मनोरथ सिद्ध हो जायँगे ॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति ।
भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

'इस प्रकार वनवास मिल जानेपर ये राम राम नहीं रह जायँगे (इनका आज जो प्रभाव है वह भविष्यमें नहीं रह सकेगा) और तुम्हारे भरत भी शत्रुहीन राजा होंगे ॥ ३३ ॥

येन कालेन रामश्च वनात् प्रत्यागमिष्यति ।
अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥

जिस समय श्रीराम वनसे लौटेंगे, उस समयतक तुम्हारे पुत्र भरत भीतर और बाहरसे भी दृढ़मूल हो जायँगे ॥ ३४ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान् ।
प्राप्तकालं नु मन्येऽहं राजानं वीतसाध्वसा ॥ ३५ ॥
रामाभिषेकसंकल्पान्निगृह्य विनिवर्तय ।

'उनके पास सैनिकबलका भी संग्रह हो जायगा; जितेन्द्रिय तो वे हैं ही; अपने सुहृदोंके साथ रहकर दृढ़मूल हो जायँगे । इस समय मेरी मान्यताके अनुसार राजाको श्रीरामके राज्याभिषेकके संकल्पसे हटा देनेका समय आ गया है; अतः तुम निर्भय होकर राजाको अपने वचनोंमें बाँध लो और उन्हें श्रीरामके अभिषेकके संकल्पसे हटा दो' ॥ ३५½ ॥

अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥
हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता ॥ ३७ ॥
कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना ।

ऐसी बातें कहकर मन्थराने कैकेयीकी बुद्धिमें अनर्थको

ही अर्थरूपमें जँचा दिया। कैकेयीको उसकी बातपर विश्वास हो गया और वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई। यद्यपि वह बहुत समझदार थी, तो भी कुबरीके कहनेसे नादान बालिका-की तरह कुमार्गपर चली गयी—अनुचित काम करनेको तैयार हो गयी। उसे मन्थराकी बुद्धिपर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह उससे इस प्रकार बोली—॥ ३६-३७½ ॥

प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठाभिधायिनि ॥ ३८ ॥
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥

'हितकी बात बतानेमें कुशल कुब्जे! तू एक श्रेष्ठ स्त्री है; मैं तेरी बुद्धिकी अवहेलना नहीं करूँगी। बुद्धिके द्वारा किसी कार्यका निश्चय करनेमें तू इस पृथ्वीपर सभी कुब्जाओं-में उत्तम है। केवल तू ही मेरी हितैषिणी है और सदा सावधान रहकर मेरा कार्य सिद्ध करनेमें लगी रहती है ॥ ३८-३९ ॥

नाहं समवबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम्।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जाः वक्राः परमपापिकाः॥ ४० ॥

'कुब्जे! यदि तू न होती तो राजा जो षड्यन्त्र रचना चाहते हैं, वह कदापि मेरी समझमें नहीं आता। तेरे सिवा जितनी कुब्जाएँ हैं, वे बेडौल शरीरवाली, टेढ़ी-मेढ़ी और बड़ी पापिनी होती हैं ॥ ४० ॥

त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत् स्कन्धात् समुन्नतम् ४१

'तू तो वायुके द्वारा झुकायी हुई कमलिनीकी भाँति कुछ झुकी हुई होनेपर भी देखनेमें प्रिय (सुन्दर) है। तेरा वक्षः-स्थल कुब्जताके दोषसे व्याप्त है, अतएव कंधोंतक ऊँचा दिखायी देता है ॥ ४१ ॥

अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाभमिव लज्जितम्।
प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥

'वक्षःस्थलसे नीचे सुन्दर नाभिसे युक्त जो उदर है, वह मानो वक्षःस्थलकी ऊँचाई देखकर लज्जित-सा हो गया है, इसीलिये शान्त—कृश प्रतीत होता है। तेरा जघन विस्तृत है और दोनों स्तन सुन्दर एवं स्थूल हैं ॥ ४२ ॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे।
जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामभूषितम् ॥ ४३ ॥

'मन्थरे! तेरा मुख निर्मल चन्द्रमाके समान अद्भुत शोभा पा रहा है। करधनीकी लड़ियोंसे विभूषित तेरी कटिका अग्रभाग बहुत ही स्वच्छ—रोमादिसे रहित है ॥ ४३ ॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥ ४४ ॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने।

'मन्थरे! तेरी पिण्डलियाँ परस्पर अधिक सटी हुई हैं और दोनों पैर बड़े-बड़े हैं। तू विशाल ऊरुओं (जाँघों) से सुशोभित होती है। शोभने! जब तू रेशमी साड़ी पहनकर मेरे आगे-आगे चलती है, तब तेरी बड़ी शोभा होती है ॥४४½॥

आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥
हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः।
तदेव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते।

'असुरराज शम्बरको जिन सहस्रों मायाओंका ज्ञान है, वे सब तेरे हृदयमें स्थित हैं; इनके अलावे भी तू हजारों प्रकारकी मायाएँ जानती है। इन मायाओंका समुदाय ही तेरा यह बड़ा-सा कुब्बड़ है, जो रथके नकुए (अग्रभाग) के समान बड़ा है। इसीमें तेरी मति, स्मृति और बुद्धि, क्षत्र-विद्या (राजनीति) तथा नाना प्रकारकी मायाएँ निवास करती हैं ॥ ४५-४६½ ॥

अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम्॥ ४७ ॥
अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ॥ ४८ ॥
लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु।

'सुन्दरी कुब्जे! यदि भरतका राज्याभिषेक हुआ और श्रीराम वनको चले गये तो मैं सफलमनोरथ एवं संतुष्ट होकर अच्छी जातिके खूब तपाये हुए सोनेकी बनी हुई सुन्दर स्वर्णमाला तेरे इस कुब्बड़को पहनाऊँगी और इसपर चन्दनका लेप लगवाऊँगी ॥ ४७-४८½ ॥

मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥
कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

'कुब्जे! तेरे मुख (ललाट) पर सुन्दर और विचित्र सोनेका टीका लगवा दूँगी और तू बहुत-से सुन्दर आभूषण एवं दो उत्तम वस्त्र (लहँगा और दुपट्टा) धारण करके देवाङ्गनाके समान विचरण करेगी ॥ ४९-५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्वयन्ती द्विषज्जने ॥ ५१ ॥

'चन्द्रमासे होड़ लगानेवाले अपने मनोहर मुखद्वारा तू ऐसी सुन्दर लगेगी कि तेरे मुखकी कहीं समता नहीं रह जायगी तथा शत्रुओंके बीचमें अपने सौभाग्यपर गर्व प्रकट करती हुई तू सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेगी ॥ ५१ ॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

'जैसे तू सदा मेरे चरणोंकी सेवा किया करती है, उसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बहुत-सी कुब्जाएँ तुझ कुब्जाके भी चरणोंकी सदा परिचर्या किया करेंगी' ॥ ५२ ॥

इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीमिदमब्रवीत्।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

जब इस प्रकार कुब्जाकी प्रशंसा की गयी, तब उसने वेदीपर प्रज्वलित अग्निशिखाके समान शुभ्र शय्यापर शयन करनेवाली कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥ ५४ ॥

'कल्याणि! नदीका पानी निकल जानेपर उसके लिये बाँध नहीं बाँधा जाता, (यदि रामका अभिषेक हो गया तो तुम्हारा वर माँगना व्यर्थ होगा; अतः बातोंमें समय न बिताओ) जल्दी उठो और अपना कल्याण करो। कोपभवनमें जाकर राजाको अपनी अवस्थाका परिचय दो' ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥
अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

मन्थराके इस प्रकार प्रोत्साहन देनेपर सौभाग्यके मदसे गर्व करनेवाली विशाललोचना सुन्दरी कैकेयी देवी उसके साथ ही कोपभवनमें जाकर लाखोंकी लागतके मोतियोंके हार तथा दूसरे-दूसरे सुन्दर बहुमूल्य आभूषणोंको अपने शरीरसे उतार-उतारकर फेंकने लगी ॥ ५५-५६ ॥

तदा हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

सोनेके समान सुन्दर कान्तिवाली कैकेयी कुब्जाकी बातोंके वशीभूत हो गयी थी, अतः वह धरतीपर लेटकर मन्थरासे इस प्रकार बोली—॥ ५७ ॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यते क्षितिम् ॥ ५८ ॥
सुवर्णेन न मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

'कुब्जे! मुझे न तो सुवर्णसे, न रत्नोंसे और न भाँति-भाँतिके भोजनोंसे ही कोई प्रयोजन है; यदि श्रीरामका राज्याभिषेक हुआ तो यह मेरे जीवनका अन्त होगा। अब या तो श्रीरामके वनमें चले जानेपर भरतको इस भूतलका राज्य प्राप्त होगा अथवा तू यहाँ महाराजको मेरी मृत्युका समाचार सुनायेगी' ॥ ५८-५९ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर कुब्जा महाराज दशरथकी रानी और भरतकी माता कैकेयीसे अत्यन्त क्रूर वचनोंद्वारा पुनः ऐसी बात कहने लगी, जो लौकिक दृष्टिसे भरतके लिये हितकर और श्रीरामके लिये अहितकर थी ॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे।
ततो हि कल्याणि यतस्व तत् तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

'कल्याणि! यदि श्रीराम इस राज्यको प्राप्त कर लेंगे तो निश्चय ही अपने पुत्र भरतसहित तुम भारी संतापमें पड़ जाओगी; अतः ऐसा प्रयत्न करो, जिससे तुम्हारे पुत्र भरतका राज्याभिषेक हो जाय' ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महिषीति कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः।
विधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां कुपिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार कुब्जाने अपने वचनरूपी बाणोंका बारंबार प्रहार करके जब रानी कैकेयीको अत्यन्त घायल कर दिया, तब वह अत्यन्त विस्मित और कुपित हो अपने हृदयपर दोनों हाथ रखकर कुब्जासे बारंबार इस प्रकार कहने लगी—॥ ६२ ॥

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशाम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

'कुब्जे! अब या तो रामचन्द्रके अधिक कालके लिये वनमें चले जानेपर भरतका मनोरथ सफल होगा या तू मुझे यहाँसे यमलोकमें चली गयी सुनकर महाराजसे यह समाचार निवेदन करेगी ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम्।
न किंचिदिच्छामि न चेह जीवनं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

'यदि राम यहाँसे वनको नहीं गये तो मैं न तो भाँति-भाँतिके बिछौने, न फूलोंके हार, न चन्दन, न अञ्जन, न पान, न भोजन और न दूसरी ही कोई वस्तु लेना चाहूँगी। उस दशामें तो मैं यहाँ इस जीवनको भी नहीं रखना चाहूँगी' ॥ ६४ ॥

अथैवमुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी।
असंस्कृतामास्तरणेन मेदिनीं
तदाधिशिश्ये पतितेव किंनरी ॥ ६५ ॥

ऐसे अत्यन्त कठोर वचन कहकर कैकेयीने सारे आभूषण उतार दिये और बिना बिस्तरके ही वह खाली जमीनपर लेट गयी। उस समय वह स्वर्गसे भूतलपर गिरी हुई किसी किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना
तदावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

उसका मुख बढ़े हुए अमर्षरूपी अन्धकारसे आच्छादित हो रहा था। उसके अङ्गोंसे उत्तम पुष्पहार और आभूषण उतर चुके थे। उस दशामें उदास मनवाली राजरानी कैकेयी जिसके तारे डूब गये हों, उस अन्धकाराच्छन्न आकाशके समान प्रतीत होती थी ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुखी होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् ।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किंनरी ॥ १ ॥

पापिनी कुब्जाने जब देवी कैकेयीको बहुत उलटी बातें समझा दीं, तब वह विषाक्त बाणसे विद्ध हुई किन्नरीके समान धरतीपर लोटने लगी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥

मन्थराके बताये हुए समस्त कार्यको यह बहुत उत्तम है—ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके बात-चीतमें कुशल भामिनी कैकेयीने मन्थरासे धीरे-धीरे अपना सारा मन्तव्य बता दिया ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम् ।

मन्थराके वचनोंसे मोहित एवं दीन हुई भामिनी कैकेयी पूर्वोक्त निश्चय करके नागकन्याकी भाँति गरम और लंबी साँस खींचने लगी और दो घड़ीतक अपने लिये सुखदायक मार्गका विचार करती रही ॥ ३½ ॥

सा सुहृच्चार्थकामा च तं निशम्य विनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।

और वह मन्थरा जो कैकेयीका हित चाहनेवाली सुहृद् थी और उसीके मनोरथको सिद्ध करनेकी अभिलाषा रखती थी, कैकेयीके उस निश्चयको सुनकर बहुत प्रसन्न हुई मानो उसे कोई बहुत बड़ी सिद्धि मिल गयी हो ॥ ४½ ॥

अथ सा रुषिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥
संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटिं मुखे ।

तदनन्तर रोषमें भरी हुई देवी कैकेयी अपने कर्तव्यका भलीभाँति निश्चय कर मुखमण्डलमें स्थित भौंहोंको टेढ़ी करके धरतीपर सो गयी। और क्या करती अबला ही तो थी ॥ ५½ ॥

ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ६ ॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।

तदनन्तर उस केकयराजकुमारीने अपने विचित्र पुष्पहारों और दिव्य आभूषणोंको उतारकर फेंक दिया। वे सारे आभूषण धरतीपर यत्र-तत्र पड़े थे ॥ ६½ ॥

तया तान्यपविद्धानि माल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।

जैसे छिटके हुए तारे आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार फेंके हुए वे पुष्पहार और आभूषण वहाँ भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७½ ॥

क्रोधागारे च पतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किंनरी ।

मलिन वस्त्र पहनकर और सारे केशोंको दृढ़तापूर्वक एक ही वेणीमें बाँधकर कोपभवनमें पड़ी हुई कैकेयी बलहीन अथवा अचेत हुई किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ८½ ॥

आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥
उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।

उधर महाराज दशरथ मन्त्री आदिको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारीके लिये आज्ञा दे सबको यथासमय उपस्थित होनेके लिये कहकर रनिवासमें गये ॥ ९½ ॥

अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥ १० ॥
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी ।

उन्होंने सोचा—आज ही श्रीरामके अभिषेककी बात प्रसिद्ध की गयी है, इसलिये यह समाचार अभी किसी रानीको नहीं मालूम हुआ होगा; ऐसा विचारकर जितेन्द्रिय

राजा दशरथने अपनी प्यारी रानीको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिये अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।

उन महायशस्वी नरेशने पहले कैकेयीके श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया, मानो श्वेत बादलोंसे युक्त राहुयुक्त आकाशमें चन्द्रमाने पदार्पण किया हो ॥ ११½ ॥

शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥ १२ ॥
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥

उस भवनमें तोते, मोर, क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी कलरव कर रहे थे, वहाँ वाद्योंका मधुर घोष गूँज रहा था, बहुत-सी कुब्जा और बौनी दासियाँ भरी हुई थीं, चम्पा और अशोकसे सुशोभित बहुत-से लताभवन और चित्रमन्दिर उस महलकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२-१३ ॥

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम् ॥ १४ ॥

हाथीदाँत, चाँदी और सोनेकी बनी हुई वेदियोंसे संयुक्त उस भवनको नित्य फूलने-फलनेवाले वृक्ष और बहुत-सी बावड़ियाँ सुशोभित कर रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।

उसमें हाथीदाँत, चाँदी और सोनेके बने हुए उत्तम सिंहासन रखे गये थे। नाना प्रकारके अन्न, पान और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे वह भवन भरा-पूरा था। बहुमूल्य आभूषणोंसे सम्पन्न कैकेयीका वह भवन स्वर्गके समान शोभा पा रहा था ॥ १५½ ॥

स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥
न ददर्श स्त्रियं राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।

अपने उस समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश करके महाराज राजा दशरथने वहाँकी उत्तम शय्यापर रानी कैकेयीको नहीं देखा ॥ १६½ ॥

स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थी मनुजाधिपः ॥ १७ ॥
अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च ।

कामबलसे संयुक्त वे नरेश रानीकी प्रसन्नता बढ़ानेकी अभिलाषासे भीतर गये थे। वहाँ अपनी प्यारी पत्नीको न देखकर उनके मनमें बड़ा विषाद हुआ और वे उनके विषयमें पूछ-ताछ करने लगे ॥ १७½ ॥

नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत ॥ १८ ॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥
यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।

इससे पहले रानी कैकेयी राजाके आगमनकी उस बेलामें कहीं अन्यत्र नहीं जाती थीं, राजाने कभी सूने भवनमें प्रवेश नहीं किया था, इसीलिये वे घरमें आकर कैकेयीके बारेमें पूछने लगे। उन्हें यह मालूम नहीं था कि वह मूर्खा कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहती है, अतः उन्होंने पहलेकी ही भाँति प्रतिहारीसे उसके विषयमें पूछा ॥ १८-१९½ ॥

प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता तु कृताञ्जलिः ॥ २० ॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।

प्रतिहारी बहुत डरी हुई थी। उसने हाथ जोड़कर कहा—'देव ! देवी कैकेयी अत्यन्त कुपित हो कोपभवनकी ओर दौड़ी गयी हैं' ॥ २०½ ॥

प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥
विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।

प्रतिहारीकी यह बात सुनकर राजाका मन बहुत उदास हो गया, उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल एवं व्याकुल हो उठीं और वे पुनः अधिक विषाद करने लगे ॥ २१½ ॥

तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।

कोपभवनमें वह भूमिपर पड़ी थी और इस तरह लेटी हुई थी, जो उसके लिये योग्य नहीं था। राजाने दुःखके कारण संतप्त-से होकर उसे इस अवस्थामें देखा ॥ २२½ ॥

स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २३ ॥
अपापः पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

राजा बूढ़े थे और उनकी वह पत्नी तरुणी थी, अतः वे उसे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर मानते थे। राजाके मनमें कोई पाप नहीं था; परंतु कैकेयी अपने मनमें पापपूर्ण संकल्प लिये हुए थी। उन्होंने उसे कटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर पड़ी देखा—मानो कोई देवाङ्गना स्वर्गसे भूतलपर गिर पड़ी हो ॥ २३-२४ ॥

किंनरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा ।
मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥

वह स्वर्गभ्रष्ट किन्नरी, देवलोकसे च्युत हुई अप्सरा, लक्ष्यभ्रष्ट माया और जालमें बँधी हुई हरिणीके समान जान पड़ती थी ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहात् परमदुःखिताम् ॥ २६ ॥
परिमृज्य च पाणिभ्यामभिसंत्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥

जैसे कोई महान् गजराज वनमें व्याधके द्वारा विषलिप्त बाणसे विद्ध होकर गिरी हुई अत्यन्त दुःखित हथिनीका स्नेहवश स्पर्श करता है, उसी प्रकार कामी राजा दशरथने महान् दुःखमें पड़ी हुई कमलनयनी भार्या कैकेयीका स्नेहपूर्वक दोनों हाथोंसे स्पर्श किया। उस समय उनके मनमें सब ओरसे यह भय समा गया था कि न जाने यह क्या कहेगी और क्या करेगी? वे उसके अङ्गोंपर हाथ फेरते हुए उससे इस प्रकार बोले—॥ २६-२७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम्।
देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता ॥ २८ ॥

'देवि! तुम्हारा क्रोध मुझपर है, ऐसा तो मुझे विश्वास नहीं होता। फिर किसने तुम्हारा तिरस्कार किया है? किसके द्वारा तुम्हारी निन्दा की गयी है? ॥ २८ ॥

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥ २९ ॥
भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनि।

'कल्याणि! तुम जो इस तरह मुझे दुःख देनेके लिये धूलमें लोट रही हो, इसका क्या कारण है? मेरे चित्तको मथ डालनेवाली सुन्दरी! मेरे मनमें तो सदा तुम्हारे कल्याणकी ही भावना रहती है। फिर मेरे रहते हुए तुम किस लिये धरतीपर सो रही हो? जान पड़ता है तुम्हारे चित्तपर किसी पिशाचने अधिकार कर लिया है ॥ २९½ ॥

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि।

'भामिनि! तुम अपना रोग बताओ। मेरे यहाँ बहुत-से चिकित्साकुशल वैद्य हैं, जिन्हें मैंने सब प्रकारसे संतुष्ट कर रक्खा है, वे तुम्हें सुखी कर देंगे ॥ ३०½ ॥

कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥ ३१ ॥
कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्।

'अथवा कहो, आज किसका प्रिय करना है? या किसने तुम्हारा अप्रिय किया है? तुम्हारे किस उपकारीको आज प्रिय मनोरथ प्राप्त हो अथवा किस अपकारीको अत्यन्त अप्रिय—कठोर दण्ड दिया जाय? ॥ ३१½ ॥

मा रौत्सीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥ ३२ ॥
अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचनः ॥ ३३ ॥

'देवि! तुम न रोओ, अपनी देहको न सुखाओ; आज तुम्हारी इच्छाके अनुसार किस अवध्यका वध किया जाय? अथवा किस प्राणदण्ड पाने योग्य अपराधीको भी मुक्त कर दिया जाय? किस दरिद्रको धनवान् और किस धनवान्‌को कंगाल बना दिया जाय? ॥ ३२-३३ ॥

अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः।
न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम्।

'मैं और मेरे सभी सेवक तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं। तुम्हारे किसी भी मनोरथको मैं भंग नहीं कर सकता—उसे पूरा करके ही रहूँगा, चाहे उसके लिये मुझे अपने प्राण ही क्यों न देने पड़ें; अतः तुम्हारे मनमें जो कुछ हो, उसे स्पष्ट कहो ॥ ३४½ ॥

बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे।

'अपने बलको जानते हुए भी तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ, जिससे तुम्हें प्रसन्नता हो, वही करूँगा ॥ ३५½ ॥

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥ ३६ ॥
द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥ ३७ ॥

'जहाँतक सूर्यका चक्र घूमता है, वहाँतक सारी पृथ्वी मेरे अधिकारमें है। द्रविड़, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण भारतके सारे प्रदेश तथा अङ्ग, बङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी और कोसल—इन सभी समृद्धिशाली देशोंपर मेरा आधिपत्य है ॥

तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम्।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद् यत् त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

'केकयराजनन्दिनि! उनमें पैदा होनेवाले भाँति-भाँतिके द्रव्य, धन-धान्य और बकरी-भेड़ आदि जो भी तुम मनसे लेना चाहती हो, वह मुझसे माँग लो ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम्।
तत् ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव रश्मिवान् ॥ ३९ ॥

'भीरु! इतना क्लेश उठाने—प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? शोभने! उठो, उठो। कैकेयि! ठीक-ठीक बताओ, तुम्हें किससे कौन-सा भय प्राप्त हुआ है? जैसे अंशुमाली सूर्य कुहरा दूर कर देते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे भयका सर्वथा निवारण कर दूँगा' ॥ ३९ ॥

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम्।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

राजाके ऐसा कहनेपर कैकेयीको कुछ सान्त्वना मिली। अब उसे अपने स्वामीसे वह अप्रिय बात कहनेकी इच्छा हुई। उसने पतिको और अधिक पीड़ा देनेकी तैयारी की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

कैकेयीका राजाको प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहलेके दिये हुए दो वरोंका स्मरण दिलाकर भरतके लिये अभिषेक और रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास माँगना

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम्।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः॥ १॥

भूपाल दशरथ कामदेवके बाणोंसे पीड़ित तथा कामवेगके वशीभूत हो उसीका अनुसरण कर रहे थे। उनसे कैकेयीने यह कठोर वचन कहा—॥ १॥

नास्मि विप्रकृता देव केनचिन्नावमानिता।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तमिच्छामि त्वया कृतम्॥ २॥

'देव! न तो किसीने मेरा अपकार किया है और न किसीके द्वारा मैं अपमानित या निन्दित ही हुई हूँ। मेरा कोई एक अभिप्राय (मनोरथ) है और मैं आपके द्वारा उसकी पूर्ति चाहती हूँ॥ २॥

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि।
अथ ते व्याहरिष्यामि यथाभिप्रार्थितं मया॥ ३॥

'यदि आप उसे पूर्ण करना चाहते हों तो प्रतिज्ञा कीजिये। इसके बाद मैं अपना वास्तविक अभिप्राय आपसे कहूँगी'॥ ३॥

तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मयः।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम्॥ ४॥

महाराज दशरथ कामके अधीन हो रहे थे। वे कैकेयीकी बात सुनकर किंचित् मुस्कराये और पृथ्वीपर पड़ी हुई उस देवीके केशोंको हाथसे पकड़कर—उसके सिरको अपनी गोदमें रखकर उससे इस प्रकार बोले—॥ ४॥

अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम।
मनुजो मनुजव्याघ्राद् रामादन्यो न विद्यते॥ ५॥

'अपने सौभाग्यपर गर्व करनेवाली कैकेयी! क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि नरश्रेष्ठ श्रीरामके अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा मनुष्य नहीं है, जो मुझे तुमसे अधिक प्रिय हो॥ ५॥

तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम्॥ ६॥

'जो प्राणोंके द्वारा भी आराधनीय हैं और जिन्हें जीतना किसीके लिये भी असम्भव है, उन प्रमुख वीर महात्मा श्रीरामकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कामना पूर्ण होगी; अतः तुम्हारे मनकी जो इच्छा हो उसे बताओ॥ ६॥

यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ७॥

'कैकेयि! जिन्हें दो घड़ी भी न देखनेपर निश्चय ही मैं जीवित नहीं रह सकता, उन श्रीरामकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम जो कहोगी, उसे पूर्ण करूँगा॥ ७॥

आत्मना चात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ८॥

'केकयनन्दिनि! अपने तथा अपने दूसरे पुत्रोंको निछावर करके भी मैं जिन नरश्रेष्ठ श्रीरामका वरण करनेको उद्यत हूँ, उन्हींकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कही हुई बात पूरी करूँगा॥ ८॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे।
एतत् समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत् साधु मन्यसे॥ ९॥

'भद्रे! केकयराजकुमारी! मेरा यह हृदय भी तुम्हारे वचनोंकी पूर्तिके लिये तत्पर है। ऐसा सोचकर तुम अपनी इच्छा व्यक्त करके इस दुःखसे मेरा उद्धार करो। श्रीराम सबको अधिक प्रिय हैं—इस बातपर दृष्टिपात करके तुम्हें जो अच्छा जान पड़े, वह कहो॥ ९॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न विशङ्कितुमर्हसि।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे॥ १०॥

'अपने बलको देखते हुए भी तुम्हें मुझपर शङ्का नहीं करनी चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा'॥ १०॥

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम्।
निर्माध्यस्थ्याच्च हर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः॥ ११॥

रानी कैकेयीका मन स्वार्थकी सिद्धिमें ही लगा हुआ था। उसके हृदयमें भरतके प्रति पक्षपात था और राजाको अपने वशमें देखकर हर्ष हो रहा था; अतः यह सोचकर कि अब मेरे लिये अपना मतलब साधनका अवसर आ गया है, वह राजासे ऐसी बात बोली, जिसे मुँहसे निकालना (शत्रुके लिये भी) कठिन है॥ ११॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम्॥ १२॥

राजाके उस शपथयुक्त वचनसे उसको बड़ा हर्ष हुआ था। उसने अपने उस अभिप्रायको जो पास आये हुए यमराजके समान अत्यन्त भयंकर था, इन शब्दोंमें व्यक्त किया—॥ १२॥

यथा क्रमेण शपसे वरं मम ददासि च।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमाः॥ १३॥

'राजन्! आप जिस तरह क्रमशः शपथ खाकर

मुझे वर देनेको उद्यत हुए हैं, उसे इन्द्र आदि तैंतीस देवता सुन लें ॥ १३ ॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः ।
जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वाः सराक्षसाः ॥ १४ ॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः ।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥ १५ ॥

'चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन, दिशा, जगत्, यह पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, रातमें विचरनेवाले प्राणी, घरोंमें रहनेवाले गृहदेवता तथा इनके अतिरिक्त भी जितने प्राणी हों, वे सब आपके कथनको जान लें—आपकी बातोंके साक्षी बनें ॥ १४-१५ ॥

सत्यसंधो महातेजा धर्मज्ञः सत्यवाक्शुचिः ।
वरं मम ददात्येष सर्वे शृण्वन्तु दैवताः ॥ १६ ॥

'सब देवता सुनें ! महातेजस्वी सत्यप्रतिज्ञ, धर्मके ज्ञाता, सत्यवादी तथा शुद्ध आचार-विचारवाले ये महाराज मुझे वर दे रहे हैं' ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च ।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार काममोहित होकर वर देनेको उद्यत हुए महाधनुर्धर राजा दशरथको अपनी मुट्ठीमें करके देवी कैकेयीने पहले उनकी प्रशंसा की; फिर इस प्रकार कहा—॥ १७ ॥

स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् देवासुरे रणे ।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

'राजन् ! उस पुरानी बातको याद कीजिये, जब कि देवासुरसंग्राम हो रहा था । वहाँ शत्रुने आपको घायल करके गिरा दिया था, केवल प्राण नहीं लिये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः ।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥ १९ ॥

'देव ! उस युद्धस्थलमें सारी रात जागकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करके जो मैंने आपके जीवनकी रक्षा की थी, उससे संतुष्ट होकर आपने मुझे दो वर दिये थे ॥ १९ ॥

तौ दत्तौ च वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् ।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे रघुनन्दन ॥ २० ॥

'देव ! पृथ्वीपाल रघुनन्दन ! आपके दिये हुए वे दोनों वर मैंने धरोहरके रूपमें आपके ही पास रख दिये थे । आज इस समय उन्हींकी मैं खोज करती हूँ ॥ २० ॥

तत् प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद् दास्यसि मे वरम् ।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥ २१ ॥

'इस प्रकार धर्मतः प्रतिज्ञा करके यदि आप मेरे उन वरोंको नहीं देंगे तो मैं अपनेको आपके द्वारा अपमानित हुई समझकर आज ही प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ २१ ॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः ।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥

जैसे मृग बहेलियेकी वाणीमात्रसे अपने ही विनाशके लिये उसके जालमें फँस जाता है, उसी प्रकार कैकेयीके वशीभूत हुए राजा दशरथ उस समय पूर्वकालके वरदान-वाक्यका स्मरण करानेमात्रसे अपने ही विनाशके लिये प्रतिज्ञाके बन्धनमें बँध गये ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।
वरौ देयौ त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।
अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।

तदनन्तर कैकेयीने काममोहित होकर वर देनेके लिये उद्यत हुए राजासे इस प्रकार कहा—'देव ! पृथ्वीनाथ ! उन दिनों आपने जो दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन्हें अब मुझे देना चाहिये । उन दोनों वरोंको मैं अभी बताऊँगी—आप मेरी बात सुनिये—यह जो श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी की गयी है, इसी अभिषेक-सामग्रीद्वारा मेरे पुत्र भरतका अभिषेक किया जाय ॥ २३-२४½ ॥

यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥ २५ ॥
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः ।

'देव ! आपने उस समय देवासुरसंग्राममें प्रसन्न होकर मेरे लिये जो दूसरा वर दिया था, उसे प्राप्त करनेका यह समय भी अभी आया है ॥ २५½ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः ।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

'धीर स्वभाववाले श्रीराम तपस्वीके वेशमें वल्कल तथा मृगचर्म धारण करके चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें जाकर रहें । भरतको आज निष्कण्टक युवराजपद प्राप्त हो जाय ॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे ।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ॥ २८ ॥

'यही मेरी सर्वश्रेष्ठ कामना है । मैं आपसे पहलेका दिया हुआ वर ही माँगती हूँ । आप ऐसी व्यवस्था करें, जिससे मैं आज ही श्रीरामको वनकी ओर जाते देखूँ ॥ २८ ॥

स राजराजो भव सत्यसंगरः
कुलं च शीलं च हि जन्म रक्ष च ।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

'आप राजाओंके राजा हैं; अतः सत्यप्रतिज्ञ बनिये और

उस सत्यके द्वारा अपने कुल, शील तथा जन्मकी रक्षा कीजिये। तपस्वी पुरुष कहते हैं कि सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ धर्म है। वह परलोकमें निवास होनेपर मनुष्योंके लिये परम कल्याणकारी होता है ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

महाराज दशरथकी चिन्ता, विलाप, कैकेयीको फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न माँगनेके लिये अनुरोध करना

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥

कैकेयीका वह कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथको बड़ी चिन्ता हुई। वे एक मुहूर्ततक अत्यन्त संताप करते रहे ॥ १ ॥

किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा—'क्या दिनमें ही यह मुझे स्वप्न दिखायी दे रहा है? अथवा मेरे चित्तका मोह है? या किसी भूत (ग्रह आदि) के आवेशसे चित्तमें विकलता आ गयी है? या आधि-व्याधिके कारण यह कोई मनका ही उपद्रव है?' ॥ २ ॥

इति संचिन्त्य तद् राजा नाध्यगच्छत् तदासुखम्।
प्रतिलभ्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥

यही सोचते हुए उन्हें अपने भ्रमके कारणका पता नहीं लगा। उस समय राजाको मूर्च्छित कर देनेवाला महान् दुःख प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् होशमें आनेपर कैकेयीकी बातको याद करके उन्हें पुनः संताप होने लगा ॥ ३ ॥

व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः।

जैसे किसी बाघिनको देखकर मृग व्यथित हो जाता है, उसी प्रकार वे नरेश कैकेयीको देखकर पीड़ित एवं व्याकुल हो उठे। बिस्तररहित खाली भूमिपर बैठे हुए राजा लंबी साँस खींचने लगे, मानो कोई महाविषैला सर्प किसी मण्डलमें मन्त्रोंद्वारा अवरुद्ध हो गया हो ॥ ४½ ॥

अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥
मोहमापेदिवान् भूयः शोकोपहतचेतनः।

राजा दशरथ रोषमें भरकर 'अहो! धिक्कार है' यह कहकर पुनः मूर्च्छित हो गये। शोकके कारण उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी ॥ ५½ ॥

चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥
कैकेयीमब्रवीत् क्रुद्धो निर्दहन्निव तेजसा।

बहुत देरके बाद जब उन्हें फिर चेत हुआ, तब वे नरेश अत्यन्त दुखी होकर कैकेयीको अपने तेजसे दग्ध-सी करते हुए क्रोधपूर्वक उससे बोले— ॥ ६½ ॥

नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा।

'दयाहीन दुराचारिणी कैकेयि! तू इस कुलका विनाश करनेवाली डाइन है। पापिनि! बता, मैंने अथवा श्रीरामने तेरा क्या बिगाड़ा है?' ॥ ७½ ॥

सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥
तस्यैवं त्वमनर्थाय किंनिमित्तमिहोद्यता।

'श्रीरामचन्द्र तो तेरे साथ सदा सगी माताका-सा बर्ताव करते आये हैं; फिर तू किस लिये उनका इस तरह अनिष्ट करनेपर उतारू हो गयी है' ॥ ८½ ॥

त्वं मयाऽऽत्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता ॥ ९ ॥
अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा।

'मालूम होता है—मैंने अपने विनाशके लिये ही तुझे अपने घरमें लाकर रखा था। मैं नहीं जानता था कि तू राजकन्याके रूपमें तीखे विषवाली नागिन है' ॥ ९½ ॥

जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम्।

'जब सारा जीव-जगत् श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करता है, तब मैं किस अपराधके कारण अपने उस प्यारे पुत्रको त्याग दूँ?' ॥ १०½ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥ ११ ॥
जीवितं चात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम्।

'मैं कौसल्या और सुमित्राको भी छोड़ सकता हूँ, राजलक्ष्मीका भी परित्याग कर सकता हूँ, परंतु अपने प्राणस्वरूप पितृभक्त श्रीरामको नहीं छोड़ सकता ॥ ११½ ॥

परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥
अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम्।

'अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखते ही मेरे हृदयमें परम

प्रेम उमड़ आता है; परंतु जब मैं श्रीरामको नहीं देखता हूँ, तब मेरी चेतना नष्ट होने लगती है ॥ १२½ ॥

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥ १३ ॥
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।

'सम्भव है सूर्यके बिना यह संसार टिक सके अथवा पानीके बिना खेती उपज सके, परंतु श्रीरामके बिना मेरे शरीरमें प्राण नहीं रह सकते ॥ १३½ ॥

तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ।
किमर्थं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥ १५ ॥

'अतः ऐसा वर माँगनेसे कोई लाभ नहीं । पापपूर्ण निश्चयवाली कैकेयि ! तू इस निश्चय अथवा दुराग्रहको त्याग दे । यह लो, मैं तेरे पैरोंपर अपना मस्तक रखता हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जा । पापिनि ! तूने ऐसी परम क्रूरतापूर्ण बात किस लिये सोची है ? ॥ १४-१५ ॥

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥

'यदि यह जानना चाहती है कि भरत मुझे प्रिय हैं या अप्रिय तो रघुनन्दन भरतके सम्बन्धमें तू पहले जो कुछ कह चुकी है, वह पूर्ण हो अर्थात् तेरे प्रथम वरके अनुसार मैं भरतका राज्याभिषेक स्वीकार करता हूँ ॥ १६ ॥

स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।
तत् त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

'तू पहले कहा करती थी कि 'श्रीराम मेरे बड़े बेटे हैं, वे धर्माचरणमें भी सबसे बड़े हैं !' परंतु अब मालूम हुआ कि तू ऊपर-ऊपरसे चिकनी-चुपड़ी बातें किया करती थी और वह बात तूने श्रीरामसे अपनी सेवा करानेके लिये ही कही होगी ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम् ।
आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

'आज श्रीरामके अभिषेककी बात सुनकर तू शोकसे संतप्त हो उठी है और मुझे भी बहुत संताप दे रही है; इससे जान पड़ता है कि इस सूने घरमें तुझपर भूत आदिका आवेश हो गया है, अतः तू परवश होकर ऐसी बातें कह रही है ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

'देवि ! न्यायशील इक्ष्वाकुवंशमें यह बड़ा भारी अन्याय आकर उपस्थित हुआ है, जहाँ तेरी बुद्धि इस प्रकार विकृत हो गयी है ॥ १९ ॥

नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम ।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते ॥ २० ॥

'विशाललोचने ! आजसे पहले तूने कभी कोई ऐसा आचरण नहीं किया है, जो अनुचित अथवा मेरे लिये अप्रिय हो; इसीलिये तेरी आजकी बातपर भी मुझे विश्वास नहीं होता है ॥ २० ॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना ।
बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

'तेरे लिये तो श्रीराम भी महात्मा भरतके ही तुल्य हैं । बाले ! तू बहुत बार बातचीतके प्रसंगमें स्वयं ही यह बात मुझसे कहती रही है ॥ २१ ॥

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥

'भीरु स्वभाववाली देवि ! उन्हीं धर्मात्मा और यशस्वी श्रीरामका चौदह वर्षोंके लिये वनवास तुझे कैसे अच्छा लगता है ? ॥ २२ ॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः ।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥

'जो अत्यन्त सुकुमार और धर्ममें दृढ़तापूर्वक मन लगाये रखनेवाले हैं, उन्हीं श्रीरामको वनवास देना तुझे कैसे रुचिकर जान पड़ता है ? अहो ! तेरा हृदय बड़ा कठोर है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥

'सुन्दर नेत्रोंवाली कैकेयि ! जो सदा तेरी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको देशनिकाला दे देनेकी इच्छा तुझे किसलिये हो रही है ? ॥ २४ ॥

रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।
विशेषं त्वयि तस्मात् तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

'मैं देखता हूँ, भरतसे अधिक श्रीराम ही सदा तेरी सेवा करते हैं । भरत उनसे अधिक तेरी सेवामें रहते हों, ऐसा मैंने कभी नहीं देखा है ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् ।
कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषर्षभात् ॥ २६ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामसे बढ़कर दूसरा कौन है, जो गुरुजनोंकी सेवा करने, उन्हें गौरव देने, उनकी बातोंको मान्यता देने और उनकी आज्ञाका तुरंत पालन करनेमें अधिक तत्परता दिखाता हो ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥ २७ ॥

'मेरे यहाँ कई सहस्र स्त्रियाँ हैं और बहुत-से उपजीवी भृत्यजन हैं; परंतु किसीके मुँहसे श्रीरामके सम्बन्धमें सच्ची या झूठी किसी प्रकारकी शिकायत नहीं सुनी जाती ॥ २७ ॥

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥ २८ ॥

पुरुषसिंह श्रीराम समस्त प्राणियोंको शुद्ध हृदयसे सान्त्वना देते हुए प्रिय आचरणोंद्वारा राज्यकी समस्त प्रजाओं-को अपने वशमें किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः।
गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥

'वीर श्रीरामचन्द्र अपने सात्त्विक भावसे समस्त लोकोंको, दानके द्वारा द्विजोंको, सेवासे गुरुजनोंको और धनुष-बाणद्वारा युद्धस्थलमें शत्रु-सैनिकोंको जीतकर अपने अधीन कर लेते हैं॥

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

'सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरुशुश्रूषा—ये सभी सद्गुण श्रीराममें स्थिररूपसे रहते हैं ॥ ३० ॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम्।
पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

'देवि ! महर्षियोंके समान तेजस्वी उन सीधे-सादे देव-तुल्य श्रीरामका तू क्यों अनिष्ट करना चाहती है ! ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥

'श्रीराम सब लोगोंसे प्रिय बोलते हैं। उन्होंने कभी किसीको अप्रिय वचन कहा हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। ऐसे सर्वप्रिय रामसे मैं तेरे लिये अप्रिय बात कैसे कहूँगा ?॥ ३२ ॥

क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

'जिनमें क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और समस्त जीवोंके प्रति दया भरी हुई है, उन श्रीरामके बिना मेरी क्या गति होगी ? ॥ ३३ ॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

'कैकेयि ! मैं बूढ़ा हूँ। मौतके किनारे बैठा हूँ। मेरी अवस्था शोचनीय हो रही है और मैं दीनभावसे तेरे सामने गिड़गिड़ा रहा हूँ। तुझे मुझपर दया करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत् किंचिदधिगम्यते।
तत् सर्वं तव दास्यामि मा च त्वं मन्युमाविश ॥ ३५ ॥

'समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर जो कुछ मिल सकता है, वह सब मैं तुझे दे दूँगा, परंतु तू ऐसे दुराग्रहमें न पड़, जो मुझे मौतके मुँहमें ढकेलनेवाला हो ॥ ३५ ॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

'केकयनन्दिनि ! मैं हाथ जोड़ता हूँ और तेरे पैरों पड़ता हूँ। तू श्रीरामको शरण दे, जिससे यहाँ मुझे पाप न लगे'॥

इति दुःखाभिसंतप्तं विलपन्तमचेतनम्।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥ ३७ ॥
पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

महाराज दशरथ इस प्रकार दुःखसे संतप्त होकर विलाप कर रहे थे। उनकी चेतना बार-बार लुप्त हो जाती थी। उनके मस्तिष्कमें चक्कर आ रहा था और वे शोकमग्न हो उस शोकसागरसे शीघ्र पार होनेके लिये बारंबार अनुनय-विनय कर रहे थे, तो भी कैकेयीका हृदय नहीं पिघला। वह और भी भीषण रूप धारण करके अत्यन्त कठोर वाणीमें उन्हें इस प्रकार उत्तर देने लगी—॥ ३७-३८ ॥

यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

'राजन् यदि दो वरदान देकर आप फिर उनके लिये पश्चात्ताप करते हैं तो वीर नरेश्वर ! इस भूमण्डलमें आप अपनी धार्मिकताका ढिंढोरा कैसे पीट सकेंगे ? ॥ ३९ ॥

यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

'धर्मके ज्ञाता महाराज ! जब बहुत-से राजर्षि एकत्र होकर आपके साथ मुझे दिये हुए वरदानके विषयमें बातचीत करेंगे उस समय वहाँ आप उन्हें क्या उत्तर देंगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत्।
तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥ ४१ ॥

'यही कहेंगे न, कि जिसके प्रसादसे मैं जीवित हूँ, जिसने (बहुत बड़े संकटसे) मेरी रक्षा की, उसी कैकेयीको वर देनेके लिये की हुई प्रतिज्ञा मैंने झूठी कर दी ॥ ४१ ॥

किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप।
यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

'महाराज ! आज ही वरदान देकर यदि आप फिर उससे विपरीत बात कहेंगे तो अपने कुलके राजाओंके माथे कलंक-का टीका लगायेंगे ॥ ४२ ॥

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

'राजा शैब्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये) बाज नामक पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था। इसी तरह राजा अलर्कने (एक अंधे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी ॥ ४३ ॥

सागरः समयं कृत्वा न वेलामतिवर्तते।
समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

'समुद्रने (देवताओंके समक्ष) अपनी नियत सीमाको

न लाँघनेकी प्रतिज्ञा की थी, सो अबतक वह उसका उल्लङ्घन नहीं करता है । आप भी पूर्ववर्ती महापुरुषोंके बर्तावको सदा ध्यानमें रखकर अपनी प्रतिज्ञा झूठी न करें ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

'(परंतु आप मेरी बात क्यों सुनेंगे ?) दुर्बुद्धि नरेश ! आप तो धर्मको तिलाञ्जलि देकर श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करके रानी कौसल्याके साथ सदा मौज उड़ाना चाहते हैं ॥४५॥

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम् ।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

'अब धर्म हो या अधर्म, झूठ हो या सच, जिस बातके लिये आपने मुझसे प्रतिज्ञा कर ली है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः ।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥

यदि श्रीरामका राज्याभिषेक होगा तो मैं आपके सामने आपके देखते-देखते आज ही बहुत-सा विष पीकर मर जाऊँगी ॥ ४७ ॥

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् ।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥

'यदि मैं एक दिन भी राममाता कौसल्याको राजमाता होनेके नाते दूसरे लोगोंसे अपनेको हाथ जोड़वाती देख लूँगी तो उस समय मैं अपने लिये मर जाना ही अच्छा समझूँगी ॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥

'नरेश्वर ! मैं आपके सामने अपनी और भरतकी शपथ खाकर कहती हूँ कि श्रीरामको इस देशसे निकाल देनेके सिवा दूसरे किसी वरसे मुझे संतोष नहीं होगा' ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह ।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥

इतना कहकर कैकेयी चुप हो गयी । राजा बहुत रोये-गिड़गिड़ाये; किंतु उसने उनकी किसी बातका जवाब नहीं दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा तु राजा कैकेय्या वाक्यं परमशोभनम् ।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥
नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

'श्रीरामका वनवास हो और भरतका राज्याभिषेक', कैकेयीके मुखसे यह परम अमङ्गलकारी वचन सुनकर राजाकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं । वे एक मुहूर्ततक कैकेयीसे कुछ न बोले । उस अप्रिय वचन बोलनेवाली प्यारी रानीकी ओर केवल एकटक दृष्टिसे देखते रहे ॥ ५१-५२ ॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।
दुःखशोकमयीं श्रुत्वा राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

मनको अप्रिय लगनेवाली कैकेयीकी वह वज्रके समान कठोर तथा दुःख-शोकमयी वाणी सुनकर राजाको बड़ा दुःख हुआ । उनकी सुख-शान्ति छिन गयी ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम् ।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥ ५४ ॥

देवी कैकेयीके उस घोर निश्चय और किये हुए शपथकी ओर ध्यान जाते ही वे 'हा राम !' कहकर लंबी साँस खींचते हुए कटे वृक्षकी भाँति गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथातुरः ।
हृततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी । वे उन्मादग्रस्त-से प्रतीत होने लगे । उनकी प्रकृति विपरीत-सी हो गयी । वे रोगी-से जान पड़ते थे । इस प्रकार भूपाल दशरथ मन्त्रसे जिसका तेज हर लिया गया हो उस सर्पके समान निश्चेष्ट हो गये ॥

दीनयाऽऽतुरया वाचा इति होवाच कैकयीम् ।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदेशिता ॥ ५६ ॥

तदनन्तर उन्होंने दीन और आतुर वाणीमें कैकेयीसे इस प्रकार कहा—'अरी ! मुझे अनर्थ ही अर्थ-सा प्रतीत हो रहा है, किसने तुझे इसका उपदेश दिया है ? ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे ।
शीलव्यसनमेतत् ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

'जान पड़ता है, तेरा चित्त किसी भूतके आवेशसे दूषित हो गया है । पिशाचग्रस्त नारीकी भाँति मेरे सामने ऐसी बातें कहती हुई तू लज्जित क्यों नहीं होती ? मुझे पहले इस बातका पता नहीं था कि तेरा यह कुलाङ्गनोचित शील इस तरह नष्ट हो गया है ॥ ५७ ॥

बालायास्तत् त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधिं वरम् ॥ ५८ ॥
राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने ।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन च ॥ ५९ ॥

'बालावस्थामें जो तेरा शील था, उसे इस समय मैं विपरीत-सा देख रहा हूँ । तुझे किस बातका भय हो गया है जो इस तरहका वर माँगती है ? भरत राज्य-सिंहासनपर बैठें और श्रीराम वनमें रहें—यही तू माँग रही है । यह बड़ा असत्य तथा ओछा विचार है। तू अब भी इससे विरत हो जा ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च ।
नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

'क्रूर स्वभाव और पापपूर्ण विचारवाली नीच दुराचारिणि !

यदि अपने पतिका, सारे जगत्का और भरतका भी प्रिय करना चाहती है तो इस दूषित संकल्पको त्याग दे ॥ ६० ॥

किं नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि ।
न कथंचिदृते रामाद् भरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥

'तू मुझमें या श्रीराममें कौन-सा दुःखदायक या अप्रिय बर्ताव देख रही है (कि ऐसा नीच कर्म करनेपर उतारू हो गयी है); श्रीरामके बिना भरत किसी तरह राज्य लेना स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ६१ ॥

रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥
मुखवर्णं विवर्णं तु यथैवेन्दुमुपप्लुतम् ।

'क्योंकि मेरी समझमें धर्मपालनकी दृष्टिसे भरत श्रीरामसे भी बढ़े-चढ़े हैं । श्रीरामसे यह कह देनेपर कि तुम वनको जाओ; जब उनके मुखकी कान्ति राहुग्रस्त चन्द्रमाकी भाँति फीकी पड़ जायगी, उस समय मैं कैसे उनके उस उदास मुखकी ओर देख सकूँगा ॥ ६२½ ॥

तां तु मे सुकृतां बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम् ॥ ६३ ॥
कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम् ।

'मैंने श्रीरामके अभिषेकका निश्चय सुहृदोंके साथ विचार करके किया है, मेरी यह बुद्धि शुभ कर्ममें प्रवृत्त हुई है; अब मैं इसे शत्रुओंद्वारा पराजित हुई सेनाकी भाँति पलटी हुई कैसे देखूँगा ? ॥ ६३½ ॥

किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ६४
बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत् ।

'नाना दिशाओंसे आये हुए राजा लोग मुझे लक्ष्य करके खेदपूर्वक कहेंगे कि इस मूढ इक्ष्वाकुवंशी राजाने कैसे दीर्घकालतक इस राज्यका पालन किया है ? ॥ ६४½ ॥

यदा हि बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा ।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया ॥ ६६ ॥

'जब बहुत-से बहुश्रुत गुणवान् एवं वृद्ध पुरुष आकर मुझसे पूछेंगे कि श्रीराम कहाँ हैं ? तब मैं उनसे कैसे यह कहूँगा कि कैकेयीके दबाव देनेपर मैंने अपने बेटेको घरसे निकाल दिया ॥ ६५-६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति ।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।

यदि कहूँ कि श्रीरामको वनवास देकर मैंने सत्यका पालन किया है तो इसके पहले जो उन्हें राज्य देनेकी बात कह चुका हूँ, वह असत्य हो जायगी । यदि राम वनको चले गये तो कौसल्या मुझे क्या कहेगी ? उसका ऐसा महान् अपकार करके मैं उसे क्या उत्तर दूँगा ? ॥ ६७½ ॥

यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च ॥ ६८ ॥
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।

'हाय ! जिसका पुत्र मुझे सबसे अधिक प्रिय है, वह प्रिय वचन बोलनेवाली कौसल्या जब-जब दासी, सखी, पत्नी, बहिन और माताकी भाँति मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे मेरी सेवामें उपस्थित होती थी, तब-तब उस सत्कार पानेयोग्य देवीका भी मैंने तेरे ही कारण कभी सत्कार नहीं किया ॥ ६८-६९½ ॥

इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि ॥ ७० ॥
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् ।

'तेरे साथ जो मैंने इतना अच्छा बर्ताव किया, वह याद आकर इस समय मुझे उसी प्रकार संताप दे रहा है, जैसे अपथ्य (हानिकारक) व्यञ्जनोंसे युक्त खाया हुआ अन्न किसी रोगीको कष्ट देता है ॥ ७०½ ॥

विप्रकारं च रामस्य सम्प्रयाणं वनस्य च ॥ ७१ ॥
सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति ।

'श्रीरामके अभिषेकका निवारण और उनका वनकी ओर प्रस्थान देखकर निश्चय ही सुमित्रा भयभीत हो जायगी, फिर वह कैसे मेरा विश्वास करेगी ? ॥ ७१½ ॥

कृपणं बत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥ ७२ ॥
मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम् ।

'हाय ! बेचारी सीताको एक ही साथ दो दुःखद एवं अप्रिय समाचार सुनने पड़ेंगे—श्रीरामका वनवास और मेरी मृत्यु ॥ ७२½ ॥

वैदेही बत मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति ॥ ७३ ॥
हीना हिमवतः पार्श्वे किंनरेणेव किंनरी ।

'जब वह श्रीरामके लिये शोक करने लगेगी, उस समय मेरे प्राणोंका नाश कर डालेगी—उसका शोक देखकर मेरे प्राण इस शरीरमें नहीं रह सकेंगे । उसकी दशा हिमालयके पार्श्वभागमें अपने स्वामी किन्नरसे बिछुड़ी हुई किन्नरीके समान हो जायगी ॥ ७३½ ॥

नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥ ७४ ॥
चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् ।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥

'मैं श्रीरामको विशाल वनमें निवास करते और मिथिलेशकुमारी सीताको रोती देख अधिक कालतक जीवित रहना नहीं चाहता । ऐसी दशामें तू निश्चय ही विधवा होकर बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करना ॥ ७४-७५ ॥

सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ।
रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ॥ ७६ ॥

'ओह ! मैं तुझे अत्यन्त सती-साध्वी समझता था, परंतु तू बड़ी दुष्टा निकली; ठीक उसी तरह जैसे कोई मनुष्य देखनेमें सुन्दर मदिराको पीकर पीछे उसके द्वारा किये गये विकारसे यह समझ पाता है कि इसमें विष मिला हुआ था ॥ ७६ ॥

अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ।
गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥ ७७ ॥

'अबतक जो तू सान्त्वनापूर्ण मीठे वचन बोलकर मुझे आश्वासन देती हुई बातें किया करती थी, वे तेरी कही हुई सारी बातें झूठी थीं । जैसे व्याध हरिणको मधुर संगीतसे आकृष्ट करके उसे मार डालता है उसी प्रकार तू भी पहले मुझे लुभाकर अब मेरे प्राण ले रही है ॥ ७७ ॥

अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम् ।
विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ॥ ७८ ॥

'श्रेष्ठ पुरुष निश्चय ही मुझे नीच और एक नारीके मोहमें पड़कर बेटेको बेच देनेवाला कहकर शराबी ब्राह्मणकी भाँति मेरी राह-बाट और गली-कूचोंमें निन्दा करेंगे ॥ ७८ ॥

अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ।
दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम् ॥ ७९ ॥

'अहो ! कितना दुःख है ! कितना कष्ट है !! जहाँ मुझे तेरी ये बातें सहन करनी पड़ती हैं । मानो यह मेरे पूर्वजन्मके किये हुए पापका अशुभ फल है, जो मुझपर ऐसा महान् दुःख आ पड़ा ॥ ७९ ॥

चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ।
अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ॥ ८० ॥

'पापिनि ! मुझ पापीने बहुत दिनोंसे तेरी रक्षा की और अज्ञानवश तुझे गले लगाया; किंतु तू आज मेरे गलेमें पड़ी हुई फाँसीकी रस्सी बन गयी ॥ ८० ॥

रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ।
बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥ ८१ ॥

'जैसे बालक एकान्तमें खेलता-खेलता काले नागको हाथमें पकड़ ले, उसी प्रकार मैंने एकान्तमें तेरे साथ क्रीड़ा करते हुए तेरा आलिङ्गन किया है; परंतु उस समय मुझे यह न सूझा कि तू ही एक दिन मेरी मृत्युका कारण बनेगी ॥८१॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥ ८२ ॥

'हाय ! मुझ दुरात्माने जीतेजी ही अपने महात्मा पुत्रको पितृहीन बना दिया । मुझे यह सारा संसार निश्चय ही धिक्कारेगा—गालियाँ देगा, जो उचित ही होगा ॥ ८२ ॥

बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ।
स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ॥ ८३ ॥

'लोग मेरी निन्दा करते हुए कहेंगे कि राजा दशरथ बड़ा ही मूर्ख और कामी है, जो एक स्त्रीको संतुष्ट करनेके लिये अपने प्यारे पुत्रको वनमें भेज रहा है ॥ ८३ ॥

वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः ।
भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ॥ ८४ ॥

'हाय ! अबतक तो श्रीराम वेदोंका अध्ययन करने, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने तथा अनेकानेक गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहनेके कारण दुबले होते चले आये हैं । अब जब इनके लिये सुखभोगका समय आया है, तब ये वनमें जाकर महान् कष्टमें पड़ेंगे ॥ ८४ ॥

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ॥ ८५ ॥

'अपने पुत्र श्रीरामसे यदि मैं कह दूँ कि तुम वनको चले जाओ तो वे तुरंत 'बहुत अच्छा' कहकर मेरी आज्ञाको स्वीकार कर लेंगे । मेरे पुत्र राम दूसरी कोई बात कहकर मुझे प्रतिकूल उत्तर नहीं दे सकते ॥ ८५ ॥

यदि मे राघवः कुर्याद् वनं गच्छेति चोदितः ।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ॥ ८६ ॥

'यदि मेरे वन जानेकी आज्ञा दे देनेपर भी श्रीरामचन्द्र उसके विपरीत करते—वनमें नहीं जाते तो वही मेरे लिये प्रिय कार्य होगा; किंतु मेरा बेटा ऐसा नहीं कर सकता ॥८६॥

राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ।
मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ॥ ८७ ॥

'यदि रघुनन्दन राम वनको चले गये तो सब लोगोंके धिक्कार-पात्र बने हुए मुझ अक्षम्य अपराधीको मृत्यु अवश्य यमलोकमें पहुँचा देगी ॥ ८७ ॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
इष्टे मम जने शेषे किं पापं प्रतिपत्स्यसे ॥ ८८ ॥

'यदि नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर मेरी मृत्यु हो गयी तो शेष जो मेरे प्रियजन (कौसल्या आदि) यहाँ रहेंगे, उनपर तू कौन-सा अत्याचार करेगी ? ॥ ८८ ॥

कौसल्या मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ।
दुःखान्यसहती देवी मामेवानुगमिष्यति ॥ ८९ ॥

'देवी कौसल्याको यदि मुझसे, श्रीरामसे तथा शेष दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे बिछोह हो जायगा तो वह इतने बड़े दुःखको सहन नहीं कर सकेगी; अत मेरे ही पीछे वह भी परलोक सिधार जायगी । (सुमित्राका भी यही हाल होगा) ॥ ८९ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ।
प्रक्षिप्य नरके सा त्वं कैकेयि सुखिता भव ॥ ९० ॥

'कैकेयि ! इस प्रकार कौसल्याको, सुमित्राको और तीनों

पुत्रोंके साथ मुझे भी नरक-तुल्य महान् शोकमें डालकर तू स्वयं सुखी होना ॥ ९० ॥

मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं सत्कृतं गुणैः ।
इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ॥ ९१ ॥

अनेकानेक गुणोंसे सत्कृत, शाश्वत तथा क्षोभरहित यह इक्ष्वाकुकुल जब मुझसे और श्रीरामसे परित्यक्त होकर शोकसे व्याकुल हो जायगा, तब उस अवस्थामें तू इसका पालन करेगी ॥ ९१ ॥

प्रियं चेद् भरतस्यैतद् रामप्रव्राजनं भवेत् ।
मा स्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं गतायुषः ॥ ९२ ॥

'यदि भरतको भी श्रीरामका यह वनमें भेजा जाना प्रिय लगता हो तो मेरी मृत्युके बाद वे मेरे शरीरका दाह-संस्कार न करें ॥ ९२ ॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे ।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ९३ ॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीरामके वन-गमनके पश्चात् मेरी मृत्यु हो जानेपर अब विधवा होकर तू बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करेगी ॥ ९३ ॥

त्वं राजपुत्रि दैवेन न्यवसो मम वेश्मनि ।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ॥
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ॥ ९४ ॥

'राजकुमारी ! तू मेरे दुर्भाग्यसे मेरे घरमें आकर बस गयी । तेरे कारण संसारमें पापाचारीकी भाँति मुझे निश्चय ही अनुपम अपयश, तिरस्कार और समस्त प्राणियोंसे अवहेलना प्राप्त होगी ॥ ९४ ॥

कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ।
पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ॥ ९५ ॥

'मेरे पुत्र सामर्थ्यशाली राम बारंबार रथों, हाथियों और घोड़ोंसे यात्रा किया करते थे । वे ही अब उस विशाल वनमें पैदल कैसे चलेंगे ? ॥ ९५ ॥

यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ।
अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥ ९६ ॥
स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ।
भक्षयन् वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ॥ ९७ ॥

'भोजनके समय जिनके लिये कुण्डलधारी रसोइये प्रसन्न होकर 'पहले मैं बनाऊँगा' ऐसा कहते हुए खाने-पीनेकी वस्तुएँ तैयार करते थे, वे ही मेरे पुत्र रामचन्द्र वनमें कसैले, तिक्त और कड़वे फलोंका आहार करते हुए किस तरह निर्वाह करेंगे ॥ ९६-९७ ॥

महार्हवस्त्रसम्बद्धो भूत्वा चिरसुखोचितः ।
काषायपरिधानस्तु कथं रामो भविष्यति ॥ ९८ ॥

'जो सदा बहुमूल्य वस्त्र पहना करते थे और जिनका चिरकालसे सुखमें ही समय बीता है, वे ही श्रीराम वनमें गेरुए वस्त्र पहनकर कैसे रह सकेंगे ? ॥ ९८ ॥

कस्येदं दारुणं वाक्यमेवंविधमपीरितम् ।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥ ९९ ॥

'श्रीरामका वनगमन और भरतका अभिषेक—ऐसा कठोर वाक्य तूने किसकी प्रेरणासे अपने मुँहसे निकाला है ॥ ९९ ॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः ।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥ १०० ॥

'स्त्रियोंको धिक्कार है; क्योंकि वे शठ और स्वार्थपरायण होती हैं; परंतु मैं सारी स्त्रियोंके लिये ऐसा नहीं कह सकता, केवल भरतकी माताकी ही निन्दा करता हूँ ॥ १०० ॥

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निवेशितासि ।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथवापि रामे ॥ १०१ ॥

'अनर्थमें ही अर्थबुद्धि रखनेवाली क्रूर कैकेयि ! तू मुझे संताप देनेके लिये ही इस घरमें बसायी गयी है । अरी ! मेरे कारण तू अपना कौन-सा अप्रिय होता देख रही है ? अथवा सबका निरन्तर हित करनेवाले श्रीराममें ही तुझे कौन-सी बुराई दिखायी देती है ॥ १०१ ॥

परित्यजेयुः पितरोऽपि पुत्रान्
भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः ।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत् स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥ १०२ ॥

'श्रीरामको संकटके समुद्रमें डूबा हुआ देखकर तो पिता अपने पुत्रोंको त्याग देंगे । अनुरागिणी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंको त्याग देंगी । इस प्रकार यह सारा जगत् ही कुपित-विपरीत व्यवहार करनेवाला हो जायगा ॥ १०२ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वैव पुनर्युवेव ॥ १०३ ॥

'देवकुमारके समान कमनीय रूपवाले अपने पुत्र श्रीरामको जब वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित होकर सामने आते देखता हूँ तो नेत्रोंसे उनकी शोभा निहारकर निहाल हो जाता हूँ । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो मैं फिर जवान हो गया ॥ १०३ ॥

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वापि ।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न कश्चित्त्विति चेतना मे ॥ १०४ ॥

'कदाचित् सूर्यके बिना भी संसारका काम चल जाय, वज्रधारी इन्द्रके वर्षा न करनेपर भी प्राणियोंका जीवन सुरक्षित रह जाय' परंतु रामको यहाँसे वनकी ओर जाते देखकर कोई भी जीवित नहीं रह सकता—मेरी ऐसी धारणा है ॥ १०४ ॥

विनाशकामामहिताममित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम् ।
चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात् ॥ १०५ ॥

'अरी ! तू मेरा विनाश चाहनेवाली, अहित करनेवाली और शत्रुरूप है । जैसे कोई अपनी ही मृत्युको घरमें स्थान दे दे, उसी प्रकार मैंने तुझे घरमें बसा लिया है । खेदकी बात है कि मैंने मोहवश तुझ महाविषैली नागिनको चिरकालसे अपने अङ्कमें धारण कर रक्खा है; इसीलिये आज मैं मारा गया ॥ १०५ ॥

मया च रामेण सलक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह ।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी ॥ १०६ ॥

'मुझसे, श्रीराम और लक्ष्मणसे हीन होकर भरत समस्त बान्धवोंका विनाश करके तेरे साथ इस नगर तथा राष्ट्रका शासन करें तथा तू मेरे शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाली हो ॥ १०६ ॥

नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि
प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे ।
न नाम ते तेन मुखात् पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥ १०७ ॥

'क्रूरतापूर्ण बर्ताव करनेवाली कैकेयी ! तू संकटमें पड़े हुएपर प्रहार कर रही है । अरी ! जब तू दुराग्रहपूर्वक आज ऐसी कठोर बातें मुँहसे निकालती है, उस समय तेरे दाँतोंके हजारों टुकड़े होकर मुँहसे नीचे क्यों नहीं गिर जाते ? ॥ १०७ ॥

न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम् ।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते ॥ १०८ ॥

'श्रीराम कभी किसीसे कोई अहितकारक या अप्रिय वचन नहीं कहते हैं । वे कटुवचन बोलना जानते ही नहीं हैं । उनका अपने गुणोंके कारण सदा-सर्वदा सम्मान होता है । उन्हीं मनोहर वचन बोलनेवाले श्रीराममें तू दोष कैसे बता रही है ? क्योंकि वनवास उसीको दिया जाता है, जिसके बहुत-से दोष सिद्ध हो चुके हों ॥ १०८ ॥

प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज ।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसने ॥ १०९ ॥

'ओ केकयराजके कुलकी जीती-जागती कलङ्क ! तू चाहे ग्लानिमें डूब जा अथवा आगमें जलकर खाक हो जा या विष खाकर प्राण दे दे अथवा पृथ्वीमें हजारों दरारें बनाकर उसीमें समा जा; परंतु मेरा अहित करनेवाली तेरी यह अत्यन्त कठोर बात मैं कदापि नहीं मानूँगा ॥ १०९ ॥

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां
प्रदुष्टभावां स्वकुलोपघातिनीम् ।
न जीवितुं त्वां विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम् ॥ ११० ॥

'तू छुरेके समान घात करनेवाली है । बातें तो मीठी-मीठी करती है, परंतु वे सदा झूठी और सद्भावनासे रहित होती हैं । तेरे हृदयका भाव अत्यन्त दूषित है तथा तू अपने कुलका भी नाश करनेवाली है । इतना ही नहीं, तू प्राणों-सहित मेरे हृदयको भी जलाकर भस्म कर डालना चाहती है; इसीलिये मेरे मनको नहीं भाती है । तुझ पापिनीका जीवित रहना मैं नहीं सह सकता ॥ ११० ॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः ।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥ १११ ॥

'देवि ! अपने बेटे श्रीरामके बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता, फिर कहाँसे सुख हो सकता है ? आत्मज्ञ पुरुषोंको भी अपने पुत्रसे बिछोह हो जानेपर कैसे चैन मिल सकती है ? अतः तू मेरा अहित न कर । मैं तेरे पैर छूता हूँ, तू मुझपर प्रसन्न हो जा' ॥ १११ ॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्
स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया ।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसम्प्राप्य यथाऽऽतुरस्तथा ॥ ११२ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ मर्यादाका उल्लङ्घन करने-वाली उस हठीली स्त्रीके वशमें पड़कर अनाथकी भाँति विलाप कर रहे थे । वे देवी कैकेयीके फैलाये हुए दोनों चरणोंको छूना चाहते थे; परंतु उन्हें न पाकर बीचमें ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े । ठीक उसी तरह, जैसे कोई रोगी किसी वस्तुको छूना चाहता है, किंतु दुर्बलताके कारण वहाँतक न पहुँचकर बीचमें ही अचेत होकर गिर जाता है ॥ ११२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

राजाका विलाप और कैकेयीसे अनुनय-विनय

अतदर्हं महाराजं शयानमतथोचितम्।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात् परिच्युतम्॥ १॥
अनर्थरूपासिद्धार्था ह्यभीता भयदर्शिनी।
पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना॥ २॥

महाराज दशरथ उस अयोग्य और अनुचित अवस्थामें पृथ्वीपर पड़े थे। उस समय वे पुण्य समाप्त होनेपर देवलोकसे भ्रष्ट हुए राजा ययातिके समान जान पड़ते थे। उनकी वैसी दशा देख अनर्थकी साक्षात् मूर्ति कैकेयी, जिसका प्रयोजन अभीतक सिद्ध नहीं हुआ था, जो लोकापवादका भय छोड़ चुकी थी और श्रीरामसे भरतके लिये भय देखती थी, पुनः उसी वरके लिये राजाको सम्बोधित करके कहने लगी—॥ १-२॥

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः।
मम चेदं वरं कस्माद् विधारयितुमिच्छसि॥ ३॥

'महाराज! आप तो डींग मारा करते थे कि मैं बड़ा सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ हूँ, फिर आप मेरे इस वरदानको क्यों हजम कर जाना चाहते हैं?'॥ ३॥

एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव॥ ४॥

कैकेयीके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ दो घड़ीतक व्याकुलकी-सी अवस्थामें रहे। तत्पश्चात् कुपित होकर उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे—॥ ४॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव॥ ५॥

'ओ नीच! तू मेरी शत्रु है। नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर जब मेरी मृत्यु हो जायगी, उस समय तू सफलमनोरथ होकर सुखसे रहना॥ ५॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम्।
प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कथं बत॥ ६॥

'हाय! स्वर्गमें भी जब देवता मुझसे श्रीरामका कुशल-समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा? यदि कहूँ, उन्हें वनमें भेज दिया तो उसके बाद वे लोग जो मेरे प्रति धिक्कारपूर्ण बात कहेंगे, उसे कैसे सह सकूँगा? इसके लिये मुझे बड़ा खेद है॥ ६॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो वनम्।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति॥ ७॥

'कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके माँगे हुए वरदानके अनुसार मैंने श्रीरामको वनमें भेज दिया, यदि ऐसा कहूँ और इसे सत्य बताऊँ तो मेरी वह पहली बात असत्य हो जायगी, जिसके द्वारा मैंने रामको राज्य देनेका आश्वासन दिया है॥ ७॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥ ८॥

'मैं पहले पुत्रहीन था, फिर महान् परिश्रम करके मैंने जिन महातेजस्वी महापुरुष श्रीरामको पुत्ररूपमें प्राप्त किया है, उनका मेरे द्वारा त्याग कैसे किया जा सकता है?॥ ८॥

शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते॥ ९॥

'जो शूरवीर, विद्वान्, क्रोधको जीतनेवाले और क्षमापरायण हैं, उन कमलनयन श्रीरामको मैं देशनिकाला कैसे दे सकता हूँ?॥ ९॥

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम्।
अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान्॥ १०॥

'जिनकी अङ्गकान्ति नीलकमलके समान श्याम है, भुजाएँ विशाल और बल महान् हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको मैं दण्डकवनमें कैसे भेज सकूँगा?॥ १०॥

सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः॥ ११॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य हैं, कदापि दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन बुद्धिमान् श्रीरामको दुःख उठाते मैं कैसे देख सकता हूँ?॥ ११॥

यदि दुःखमकृत्वा तु मम संक्रमणं भवेत्।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम्॥ १२॥

'जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन श्रीरामको यह वनवासका दुःख दिये बिना ही यदि मैं इस संसारसे विदा हो जाता तो मुझे बड़ा सुख मिलता॥ १२॥

नृशंसे पापसंकल्पे रामं सत्यपराक्रमम्।
किं विप्रियेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम॥ १३॥
अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवं परिभविष्यति।

'ओ पापपूर्ण विचार रखनेवाली पाषाणहृदया कैकेयि! सत्यपराक्रमी श्रीराम मुझे बहुत प्रिय हैं, तू मुझसे उनका विछोह क्यों करा रही है? अरी! ऐसा करनेसे निश्चय ही संसारमें तेरी वह अपकीर्ति फैलेगी, जिसकी कहीं तुलना नहीं है'॥ १३½॥

तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः॥ १४॥
अस्तमभ्यागमत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत।

इस प्रकार विलाप करते-करते राजा दशरथका चित्त

अत्यन्त व्याकुल हो उठा। इतनेमें ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और प्रदोषकाल आ पहुँचा ॥ १४½ ॥

सा त्रियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥ १५ ॥
राज्ञो विलपमानस्य न व्यभासत शर्वरी।

वह तीन पहरोंवाली रात यद्यपि चन्द्रमण्डलकी चारु-चन्द्रिकासे आलोकित हो रही थी, तो भी उस समय आर्त होकर विलाप करते हुए राजा दशरथके लिये प्रकाश या उल्लास न दे सकी ॥ १५½ ॥

सदैवोष्णं विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥
विललापार्तवद् दुःखं गगनासक्तलोचनः।

बूढ़े राजा दशरथ निरन्तर गरम उच्छ्वास लेते हुए आकाशकी ओर दृष्टि लगाये आर्तकी भाँति दुःखपूर्ण विलाप करने लगे —॥ १६½ ॥

न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते ॥ १७ ॥
क्रियतां मे दया भद्रे मयायं रचितोऽञ्जलिः।

'नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत कल्याणमयी रात्रिदेवि ! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे द्वारा प्रभात-काल लाया जाय। मुझपर दया करो। मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूँ ॥ १७½ ॥

अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम् ॥ १८ ॥
नृशंसां कैकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं मम।

'अथवा शीघ्र बीत जाओ; क्योंकि जिसके कारण मुझे भारी संकट प्राप्त हुआ है, उस निर्दय और क्रूर कैकेयीको अब मैं नहीं देखना चाहता' ॥ १८½ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥ १९ ॥
प्रसादयामास पुनः कैकेयीं राजधर्मवित्।

कैकेयीसे ऐसा कहकर राजधर्मके ज्ञाता राजा दशरथने पुनः हाथ जोड़कर उसे मनाने या प्रसन्न करनेकी चेष्टा आरम्भ की—॥ १९½ ॥

साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः ॥ २० ॥
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः।

'कल्याणमयी देवि ! जो सदाचारी, दीन, तेरे आश्रित, गतायु (मरणासन्न) और विशेषतः राजा है—ऐसे मुझ दशरथपर कृपा कर ॥ २०½ ॥

शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥ २१ ॥
कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली केकयनन्दिनि ! मैंने जो यह श्रीरामको राज्य देनेकी बात कही है, वह किसी सूने घरमें नहीं भरी सभामें घोषित की है, अतः बाले ! तू बड़ी सहृदय है; इसलिये मुझपर भलीभाँति कृपा कर (जिससे सभासदोंद्वारा मेरा उपहास न हो) ॥ २१½ ॥

प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ॥ २२ ॥
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्स्यसि।

'देवि ! प्रसन्न हो जा। कजरारे नेत्रप्रान्तवाली प्रिये ! मेरे श्रीराम तेरे ही दिये हुए इस अक्षय राज्यको प्राप्त करें, इससे तुझे उत्तम यशकी प्राप्ति होगी ॥ २२½ ॥

मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च ॥ २३ ॥
प्रियमेतद् गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे।

'पृथुल नितम्बवाली देवि ! सुमुखि ! सुलोचने ! यह प्रस्ताव मुझको, श्रीरामको, समस्त प्रजावर्गको, गुरुजनोंको तथा भरतको भी प्रिय होगा, अतः इसे पूर्ण कर' ॥ ॥ २३ ॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः।
श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥

राजाके हृदयका भाव अत्यन्त शुद्ध था, उनके आँसू-भरे नेत्र लाल हो गये थे और वे दीन भावसे विचित्र करुणा-जनक विलाप कर रहे थे, किंतु मनमें दूषित विचार रखने-वाली निष्ठुर कैकेयीने पतिके उस विलापको सुनकर भी उनकी आज्ञाका पालन नहीं किया ॥ २४ ॥

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम्।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

(इतनी अनुनय-विनयके बाद भी) जब प्रिया कैकेयी किसी तरह संतुष्ट न हो सकी और बराबर प्रतिकूल बात ही मुँहसे निकालती गयी, तब पुत्रके वनवासकी बात सोचकर राजा पुनः दुःखके मारे मूर्च्छित हो गये और सुध-बुध खोकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २५ ॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

इस प्रकार व्यथित होकर भयंकर उच्छ्वास लेते हुए मनस्वी राजा दशरथकी वह रात धीरे-धीरे बीत गयी। प्रातः-काल राजाको जगानेके लिये मनोहर वाद्योंके साथ मङ्गल-गान होने लगा, परंतु उन राजशिरोमणिने तत्काल मनाही भेजकर वह सब बंद करा दिया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

कैकेयीका राजाको सत्यपर दृढ़ रहनेके लिये प्रेरणा देकर अपने वरोंकी पूर्तिके लिये दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठका अन्तःपुरके द्वारपर आगमन और सुमन्त्रको महाराजके पास भेजना, राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको बुलानेके लिये जाना

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि।
विचेष्टमानमुत्प्रेक्ष्य ऐक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ १॥

इक्ष्वाकुनन्दन राजा दशरथ पुत्रशोकसे पीड़ित हो पृथ्वीपर अचेत पड़े थे और वेदनासे छटपटा रहे थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर पापिनी कैकेयी इस प्रकार बोली—॥ १॥

पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम्।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि॥ २॥

'महाराज! आपने मुझे दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी और जब मैंने उन्हें माँगा, तब आप इस प्रकार सन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो कोई पाप करके पछता रहे हों, यह क्या बात है? आपको सत्पुरुषोंकी मर्यादामें स्थिर रहना चाहिये॥ २॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।
सत्यमाश्रित्य च मया त्वं धर्मं प्रतिचोदितः॥ ३॥

'धर्मज्ञ पुरुष सत्यको ही सबसे श्रेष्ठ धर्म बतलाते हैं, उस सत्यका सहारा लेकर मैंने आपको धर्मका पालन करनेके लिये ही प्रेरित किया है॥ ३॥

संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः।
प्रदाय पक्षिणे राजा जगाम गतिमुत्तमाम्॥ ४॥

पृथ्वीपति राजा शैब्यने बाज पक्षीको अपना शरीर देकर प्रतिज्ञा करके उसे दे ही दिया और देकर उत्तम गति प्राप्त कर ली॥ ४॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ॥ ५॥

'इसी प्रकार तेजस्वी राजा अलर्कने वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको उसके याचना करनेपर मनमें खेद न लाते हुए अपनी दोनों आँखें निकालकर दे दी थीं॥ ५॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः।
सत्यानुरोधात् समये वेलां स्वां नातिवर्तते॥ ६॥

'सत्यको प्राप्त हुआ समुद्र सत्यका ही अनुसरण करनेके कारण पर्व आदिके समय भी अपनी छोटी-सी सीमातट—भूमिका भी उल्लङ्घन नहीं करता॥ ६॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥ ७॥

सत्य ही प्रणवरूप शब्दब्रह्म है, सत्यमें ही धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्यसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है॥ ७॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम॥ ८॥

'इसलिये यदि आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है तो सत्यका अनुसरण कीजिये! साधुशिरोमणे! मेरा माँगा हुआ वह वर सफल होना चाहिये; क्योंकि आप स्वयं ही उस वरके दाता हैं॥ ८॥

धर्मस्यैवाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात्।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम्॥ ९॥

'धर्मके ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये तथा मेरी प्रेरणासे भी आप अपने पुत्र श्रीरामको घरसे निकाल दीजिये। मैं अपने इस कथनको तीन बार दुहराती हूँ॥ ९॥

समयं च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम्॥ १०॥

'आर्य! यदि मुझसे की हुई इस प्रतिज्ञाका आप पालन नहीं करेंगे तो मैं आपसे परित्यक्त (उपेक्षित) होकर आपके सामने ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगी'॥ १०॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया।
नाशकत् पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा॥ ११॥

इस प्रकार कैकेयीने जब निःशङ्क होकर राजाको प्रेरित किया, तब वे उस सत्यरूपी बन्धनको वैसे ही नहीं खोल सके—उस बन्धनसे अपनेको उसी तरह नहीं मुक्त कर सके, जैसे राजा बलि इन्द्रप्रेरित वामनके पाशसे अपनेको मुक्त करनेमें असमर्थ हो गये थे॥ ११॥

उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत्।
स धुर्यो वै परिस्पन्दन् युगचक्रान्तरं यथा॥ १२॥

दो पहियोंके बीचमें फँसकर वहाँसे निकलनेकी चेष्टा करनेवाले गाड़ीके बैलकी भाँति उनका हृदय उद्भ्रान्त हो उठा था और उनके मुखकी कान्ति भी फीकी पड़ गयी थी॥

विकलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव भूमिपः।
कृच्छ्राद् धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ १३॥

अपने विकल नेत्रोंसे कुछ भी देखनेमें असमर्थ-से होकर भूपाल दशरथने बड़ी कठिनाईसे धैर्य धारण करके अपने हृदयको सँभाला और कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १३॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः ।
संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

'पापिनि ! मैंने अग्निके समीप 'साङ्गुष्ठं ते गृभ्णामि सौभगत्वाय हस्तम्०' इत्यादि वैदिक मन्त्रका पाठ करके तेरे जिस हाथको पकड़ा था, उसे आज छोड़ रहा हूँ। साथ ही तेरे और अपनेद्वारा उत्पन्न हुए तेरे पुत्रका भी त्याग करता हूँ ॥ १४ ॥

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति ।
अभिषेकाय हि जनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥

'देवि ! रात बीत गयी। सूर्योदय होते ही सब लोग निश्चय ही श्रीरामका राज्याभिषेक करनेके लिये मुझे शीघ्रता करनेको कहेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः ।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया ।

'उस समय जो सामान श्रीरामके अभिषेकके लिये जुटाया गया है, उसके द्वारा मेरे मरनेके बाद श्रीरामके हाथसे मुझे जलाञ्जलि दिलवा देना; परंतु अपने पुत्रसहित तू मेरे लिये जलाञ्जलि न देना ॥ १६½ ॥

व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥
न शक्तोऽद्यास्म्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथामुखम् ।
हतहर्षं तथानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥

'पापाचारिणि ! यदि तू श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न डालेगी (तो तुझे मेरे लिये जलाञ्जलि देनेका कोई अधिकार न होगा)। मैं पहले श्रीरामके राज्याभिषेकके समाचारसे जो जन-समुदायका हर्षोल्लाससे परिपूर्ण उन्नत मुख देख चुका हूँ, वैसा देखनेके पश्चात् आज पुनः उसी जनताके हर्ष और आनन्दसे शून्य, नीचे लटके हुए मुखको मैं नहीं देख सकूँगा' ॥

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः ।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रमालिनी ॥ १९ ॥

महात्मा राजा दशरथके कैकेयीसे इस तरहकी बातें करते-करते ही चन्द्रमा और नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत वह पुण्यमयी रजनी बीत गयी और प्रभातकाल आ गया ॥ १९ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः ।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्च्छिता ॥ २० ॥

तदनन्तर बातचीतके मर्मको समझनेवाली पापाचारिणी कैकेयी रोषसे मूर्छित-सी होकर राजासे पुनः कठोर वाणीमें बोली—॥ २० ॥

किमिदं भाषसे राजन् वाक्यं गररुजोपमम् ।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥
स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम् ।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

'राजन् ! आप विष और शूल आदि रोगोंके समान कष्ट देनेवाले ऐसे वचन क्यों बोल रहे हैं (इन बातोंसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है)। आप बिना किसी क्लेशके अपने पुत्र श्रीरामको यहाँ बुलवाइये। मेरे पुत्रको रा यपर प्रतिष्ठित कीजिये और श्रीरामको वनमें भेजकर मुझे निष्कण्टक बनाइये; तभी आप कृतकृत्य हो सकेंगे' ॥ २१-२२ ॥

स तुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः ।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेय्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तीखे कोड़ेकी मारसे पीड़ित हुए उत्तम अश्वकी भाँति कैकेयीद्वारा बारंबार प्रेरित होनेपर व्यथित हुए राजा दशरथने इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना ।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥ २४ ॥

'मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ हूँ। मेरी चेतना लुप्त होती जा रही है। इसलिये इस समय मैं अपने धर्मपरायण परम प्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखना चाहता हूँ' ॥ २४ ॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे ।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समागते ॥ २५ ॥
वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तथा ।
उपगृह्याशु सम्भारान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥

उधर जब रात बीती, प्रभात हुआ, सूर्यदेवका उदय हो गया और पुष्यनक्षत्रके योगमें अभिषेकका शुभ मुहूर्त आ पहुँचा, उस समय शिष्योंसे घिरे हुए शुभगुणसम्पन्न महर्षि वसिष्ठ अभिषेककी आवश्यक सामग्रियोंका संग्रह करके शीघ्रता-पूर्वक उस श्रेष्ठ पुरीमें आये ॥ २५-२६ ॥

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम् ।
संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ॥ २७ ॥

उस पुण्यवेलामें अयोध्याकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं और उनपर जलका छिड़काव हुआ था। सारी पुरी उत्तम पताकाओंसे सुशोभित थी। वहाँके सभी मनुष्य हर्ष और उत्साहसे भरे हुए थे। बाजार और दूकानें इस तरह सजी हुई थीं कि उनकी समृद्धि देखते ही बनती थी ॥ २७ ॥

महोत्सवसमायुक्तां राघवार्थे समुत्सुकाम् ।
चन्दनागुरुधूपैश्च सर्वतः परिधूमिताम् ॥ २८ ॥

सब ओर महान् उत्सव हो रहा था। सारी नगरी श्रीराम-चन्द्रजीके अभिषेकके लिये उत्सुक थी। चारों ओर चन्दन,अगर और धूपकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥ २८ ॥

तां पुरीं समतिक्रम्य पुरंदरपुरोपमाम् ।
ददर्शान्तःपुरं श्रीमान् नानाध्वजगणायुतम् ॥ २९ ॥

इन्द्रनगरी अमरावतीके समान शोभा पानेवाली उस पुरीको पार करके श्रीमान् वसिष्ठजीने राजा दशरथके अन्तः-पुरका दर्शन किया। जहाँ सहस्रों ध्वजाएँ फहरा रही थीं ॥

पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम्।
यष्टिमद्भिः सुसम्पूर्णं सदश्वैः परमार्चितैः ॥ ३० ॥

नगर और जनपदके लोग वहाँ भरे हुए थे। बहुत-से ब्राह्मण उस स्थानकी शोभा बढ़ाते थे। छड़ीदार राजसेवक तथा सजे-सजाये सुन्दर घोड़े वहाँ अधिक संख्यामें उपस्थित थे॥

तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम्।
वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिभिरावृतः ॥ ३१ ॥

श्रेष्ठ महर्षियोंसे घिरे हुए वसिष्ठजी परम प्रसन्न हो उस अन्तःपुरमें पहुँचकर उस जन-समुदायको लाँघकर आगे बढ़ गये॥

स त्वपश्यद् विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम्।
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ॥ ३२ ॥

वहाँ उन्होंने महाराजके सुन्दर सचिव तथा सारथि सुमन्त्रको अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित देखा, जो उसी समय भीतरसे निकले थे॥ ३२॥

तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम्।
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ॥ ३३ ॥

तब महातेजस्वी वसिष्ठने परम चतुर सूतपुत्र सुमन्त्रसे कहा—'सूत! तुम महाराजको शीघ्र ही मेरे आगमनकी सूचना दो॥ ३३॥

इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः।
औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ॥ ३४ ॥

'(उन्हें बताओ कि श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र कर ली गयी है) ये गङ्गाजलसे भरे कलश रखे हैं, इन सोनेके कलशोंमें समुद्रोंसे लाया हुआ जल भरा हुआ है। यह गूलरकी लकड़ीका बना हुआ भद्रपीठ है, जो अभिषेकके लिये लाया गया है (इसीपर बिठाकर श्रीरामका अभिषेक होगा)॥ ३४॥

सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ३५ ॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः।
चतुरश्वो रथः श्रीमान् निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम् ॥ ३६ ॥
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसंनिभम्।
श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारं च हिरण्मयम् ॥ ३७ ॥
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान् पाण्डुरो वृषः।
केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः ॥ ३८ ॥
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिधश्च हुताशनः।
सर्वे वादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालंकृताः स्त्रियः ॥ ३९ ॥
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः।
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह ॥ ४० ॥
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ॥ ४१ ॥

'सब प्रकारके बीज, गन्ध, भाँति-भाँतिके रत्न, मधु, दही, घी, लावा या खील, कुश, फूल, दूध, आठ सुन्दरी कन्याएँ, मत्त गजराज, चार घोड़ोंवाला रथ, चमचमाता हुआ खड्ग, उत्तम धनुष, मनुष्योंद्वारा ढोयी जानेवाली सवारी (पालकी आदि), चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र, सफेद चँवर, सोनेकी झारी, सुवर्णकी मालासे अलंकृत ऊँचे डीलवाला श्वेत पीतवर्णका वृषभ, चार दाढ़ोंवाला सिंह, महाबलवान् उत्तम अश्व, सिंहासन, व्याघ्रचर्म, समिधाएँ, अग्नि, सब प्रकारके बाजे, वाराङ्गनाएँ, शृङ्गारयुक्त सौभाग्यवती स्त्रियाँ, आचार्य, ब्राह्मण, गौ, पवित्र पशु-पक्षी, नगर और जनपदके श्रेष्ठ पुरुष अपने सेवक-गणोंसहित प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यापारी—ये तथा और भी बहुत-से प्रियवादी मनुष्य बहुसंख्यक राजाओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामके अभिषेकके लिये यहाँ उपस्थित हैं॥ ३५—४१॥

त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि।
पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

'तुम महाराजसे शीघ्रता करनेके लिये कहो, जिससे अब सूर्योदयके पश्चात् पुष्य नक्षत्रके योगमें श्रीराम राज्य प्राप्त कर लें'॥ ४२॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महाबलः।
स्तुवन् नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ॥ ४३ ॥

वसिष्ठजीके ये वचन सुनकर महाबली सूतपुत्र सुमन्त्रने राजसिंह दशरथकी स्तुति करते हुए उनके भवनमें प्रवेश किया॥

तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः।
न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥ ४४ ॥

राजाका प्रिय करनेकी इच्छा रखनेवाले और उनके द्वारा सम्मानित द्वारपाल उन बूढ़े सचिवको भीतर जानेसे रोक न सके; क्योंकि उनके लिये पहलेसे ही महाराजकी आज्ञा थी कि ये किसी समय भी भीतर आनेसे रोके न जायँ॥ ४४॥

स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान्।
वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ॥ ४५ ॥

सुमन्त्र राजाके पास जाकर खड़े हो गये। उन्हें उनकी उस अवस्थाका पता नहीं था; इसलिये वे अत्यन्त संतोषप्रदायक वचनोंद्वारा उनकी स्तुति करनेको उद्यत हुए॥ ४५॥

ततः सूतो यथापूर्वं पार्थिवस्य निवेशने।
सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम् ॥ ४६ ॥

सूत सुमन्त्र राजाके उस महलमें पहलेकी ही भाँति हाथ जोड़कर उन महाराजकी स्तुति करने लगे—॥ ४६॥

यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तथा नन्दय नस्ततः ॥ ४७ ॥

'महाराज! जैसे सूर्योदय होनेपर तेजस्वी समुद्र स्वयं

हर्षकी तरंगोंसे उल्लसित हो उसमें स्नानकी इच्छावाले मनुष्यों-को आनन्दित करता है, उसी प्रकार आप स्वयं प्रसन्न हो प्रसन्नतापूर्ण हृदयसे हम सेवकोंको आनन्द प्रदान कीजिये ॥

इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः ।
सोऽजयद् दानवान् सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४८ ॥

'देवसारथि मातलिने इसी वेलामें देवराज इन्द्रकी स्तुति की थी, जिससे उन्होंने समस्त दानवोंपर विजय प्राप्त कर ली, उसी प्रकार मैं भी स्तुति-वचनोंद्वारा आपको जगा रहा हूँ ॥

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम् ।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ४९ ॥

'छहों अङ्गोंसहित चारों वेद तथा समस्त विद्याएँ जैसे स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माको जगाती हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ४९ ॥

आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम् ।
बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ५० ॥

'जैसे चन्द्रमाके साथ सूर्य समस्त भूतोंकी आधारभूता इस शुभ-स्वरूपा पृथ्वीको जगाया करते हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ५० ॥

उत्तिष्ठ सुमहाराज कृतकौतुकमङ्गलः ।
विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ॥ ५१ ॥

'महाराज ! उठिये और उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित शरीरसे सिंहासनपर विराजमान होइये। फिर मेरु पर्वतसे ऊपर उठनेवाले सूर्यदेवके समान आपकी शोभा होती रहे ॥ ५१ ॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ।
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ॥ ५२ ॥

'ककुत्स्थ-कुलनन्दन ! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें ॥ ५२ ॥

गता भगवती रात्रिः कृतं कृत्यमिदं तव ।
बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ॥ ५३ ॥

'राजसिंह ! भगवती रात्रिदेवी विदा हो गयीं। आपने जिसके लिये आज्ञा दी थी, आपका वह सारा कार्य पूर्ण हो गया। इस बातको आप जान लें और इसके बाद जो अभिषेक-का कार्य शेष है, उसे पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम् ।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥ ५४ ॥

श्रीरामके अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है। नगर और जनपदके लोग तथा मुख्य-मुख्य व्यापारी भी हाथ जोड़े हुए उपस्थित हैं ॥ ५४ ॥

स्वयं वसिष्ठो भगवान् ब्राह्मणैः सह तिष्ठति ।
क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन् राघवस्याभिषेचनम् ॥ ५५ ॥

'राजन् ! भगवान् वसिष्ठ मुनि ब्राह्मणोंके साथ द्वार-पर खड़े हैं; अतः श्रीरामके अभिषेकका कार्य आरम्भ करने-के लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥ ५५ ॥

यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायका ।
यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ॥ ५६ ॥
एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ।

'जैसे चरवाहोंके बिना पशु, सेनापतिके बिना सेना, चन्द्रमाके बिना रात्रि और साँड़के बिना गौओंकी शोभा नहीं होती, ऐसी ही दशा उस राष्ट्रकी हो जाती है, जहाँ राजाका दर्शन नहीं होता है' ॥ ५६½ ॥

एवं तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ॥ ५७ ॥
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ।

सुमन्त्रके इस प्रकार कहे हुए सान्त्वनापूर्ण और सार्थक वचनको सुनकर राजा दशरथ पुनः शोकसे ग्रस्त हो गये ॥ ५७½ ॥

ततस्तु राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ॥ ५८ ॥
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ।
वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ॥ ५९ ॥

उस समय पुत्रके वियोगकी सम्भावनासे उनकी प्रसन्नता नष्ट हो चुकी थी। शोकके कारण उनके नेत्र लाल हो गये थे। उन धर्मात्मा श्रीमान् नरेशने एक बार दृष्टि उठाकर सूतकी ओर देखा और इस प्रकार कहा—'तुम ऐसी बातें सुनाकर मेरे मर्म-स्थानोंपर और अधिक आघात क्यों कर रहे हो' ॥ ५८-५९ ॥

सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम् ।
प्रगृहीताञ्जलिः किंचित् तस्माद् देशादपाक्रमत् ॥ ६० ॥

राजाके ये करुण वचन सुनकर और उनकी दीन दशापर दृष्टिपात करके सुमन्त्र हाथ जोड़े हुए उस स्थानसे कुछ पीछे हट गये ॥ ६० ॥

यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ।
तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ॥ ६१ ॥

जब दुःख और दीनताके कारण राजा स्वयं कुछ भी न कह सके, तब मन्त्रणाका ज्ञान रखनेवाली कैकेयीने सुमन्त्रको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६१ ॥

सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ।
प्रजागरपरिश्रान्तो निद्रावशमुपागतः ॥ ६२ ॥

'सुमन्त्र ! राजा रातभर श्रीरामके राज्याभिषेकजनित हर्षके कारण उत्कण्ठित होकर जागते रहे हैं। अधिक जागरणसे थक जानेके कारण इस समय इन्हें नींद आ गयी है ॥ ६२ ॥

तद् गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ॥ ६३ ॥

'अतः सूत ! तुम्हारा भला हो । तुम तुरंत जाओ और यशस्वी राजकुमार श्रीरामको यहाँ बुला लाओ । इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ ६३ ॥

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत् ॥ ६४ ॥

तब सुमन्त्रने कहा—'भामिनि ! मैं महाराजकी आज्ञा सुने बिना कैसे जा सकता हूँ ?' मन्त्रीकी बात सुनकर राजाने उनसे कहा—॥ ६४ ॥

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६५ ॥

'सुमन्त्र ! मैं सुन्दर श्रीरामको देखना चाहता हूँ । तुम शीघ्र उन्हें यहाँ ले आओ ।' उस समय श्रीरामके दर्शनसे ही कल्याण मानते हुए राजा मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ६५ ॥

निर्जगाम च स प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६६ ॥

इधर सुमन्त्र राजाकी आज्ञासे तुरंत प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये । कैकेयीने जो तुरंत श्रीरामको बुला लानेकी आज्ञा दी थी, उसे याद करके वे सोचने लगे—'पता नहीं, यह उन्हें बुलानेके लिये इतनी जल्दी क्यों मचा रही है ? ॥ ६६ ॥

व्यक्तं रामाभिषेकार्थे इहायास्यति धर्मराट् ।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता पुनः ॥ ६७ ॥
निर्जगाम महातेजा राघवस्य दिदृक्षया ।
सागरह्रदसंकाशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६८ ॥

'जान पड़ता है, श्रीरामचन्द्रके अभिषेकके लिये ही यह जल्दी कर रही है । इस कार्यमें धर्मराज राजा दशरथको अधिक आयास करना पड़ता है (शायद इसीलिये ये बाहर नहीं निकलते) ।' ऐसा निश्चय करके महातेजस्वी सूत सुमन्त्र फिर बड़े हर्षके साथ श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे चल पड़े । समुद्रके अन्तर्वर्ती जलाशयके समान उस सुन्दर अन्तःपुरसे निकलकर सुमन्त्रने द्वारके सामने मनुष्योंकी भारी भीड़ एकत्र हुई देखी ॥ ६७-६८ ॥

ततः पुरस्तात् सहसा विनिःसृतो
महीपतेर्द्वारगतान् विलोकयन् ।
ददर्श पौरान् विविधान् महाधना-
नुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्ठितान् ॥ ६९ ॥

राजाके अन्तःपुरसे सहसा निकलकर सुमन्त्रने द्वारपर एकत्र हुए लोगोंकी ओर दृष्टिपात किया । उन्होंने देखा, बहुसंख्यक पुरवासी वहाँ उपस्थित थे और अनेकानेक महाधनी पुरुष राजद्वारपर आकर खड़े थे ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुमन्त्रका राजाकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये उनके महलमें जाना

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपतस्थुरुपस्थानं सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥

वे वेदोंके पारङ्गत ब्राह्मण तथा राजपुरोहित वह रात बिताकर प्रातःकाल (राजाकी प्रेरणाके अनुसार) राजद्वारपर उपस्थित हुए थे ॥ १ ॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।
राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणाः सुसंगताः ॥ २ ॥

मन्त्री, सेनाके मुख्य-मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ एकत्र हुए थे ॥ २ ॥

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम् ।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥
रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा ।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात् संगमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥

निर्मल सूर्योदय होनेपर दिनमें जब पुष्य नक्षत्रका योग आया तथा श्रीरामके जन्मका कर्क लग्न उपस्थित हुआ, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने श्रीरामके अभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र करके उसे जँचाकर रख दिया । जलसे भरे हुए सोनेके कलश, भलीभाँति सजाया हुआ भद्रपीठ, चमकीले व्याघ्रचर्मसे अच्छी तरह आवृत रथ, गङ्गा-यमुनाके पवित्र सङ्गमसे लाया हुआ जल—ये सब वस्तुएँ एकत्र कर ली गयी थीं ॥ ३–५ ॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च ।
प्राग्वहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः ॥ ६ ॥
ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ७ ॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ।

सजलाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥ ८ ॥
पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।

इनके सिवा जो अन्य नदियाँ, पवित्र जलाशय, कूप और सरोवर हैं तथा जो पूर्वकी ओर बहनेवाली (गोदावरी और कावेरी आदि) नदियाँ हैं, ऊपरकी ओर प्रवाहवाले जो (ब्रह्मावर्त आदि) सरोवर हैं तथा दक्षिण और उत्तरकी ओर बहनेवाली जो (गण्डकी एवं शोणभद्र आदि) नदियाँ हैं, जिनमें दूधके समान निर्मल जल भरा रहता है, उन सबसे और समस्त समुद्रोंसे भी लाया हुआ जल वहाँ संग्रह करके रखा गया था । इनके अतिरिक्त दूध, दही, घी, मधु, लावा, कुश, फूल, आठ सुन्दर कन्याएँ, मदमत्त गजराज और दूधवाले वृक्षोंके पल्लवोंसे ढके हुए सोने-चाँदीके जलपूर्ण कलश भी वहाँ विराजमान थे, जो उत्तम जलसे भरे होनेके साथ ही पद्म और उत्पलोंसे संयुक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६–८½ ॥

चन्द्रांशुविकचप्रख्यं पाण्डुरं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥
सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।

श्रीरामके लिये चन्द्रमाकी किरणोंके समान विकसित कान्तिसे युक्त श्वेत, पीतवर्णका रत्नजटित उत्तम चँवर सुसज्जितरूपसे रखा हुआ था ॥ ९½ ॥

चन्द्रमण्डलसंकाशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्सरम् ।

चन्द्रमण्डलके समान सुसज्जित श्वेत छत्र भी अभिषेक-सामग्रीके साथ शोभा पा रहा था, जो परम सुन्दर और प्रकाश फैलानेवाला था ॥ १०½ ॥

पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुराश्वश्च संस्थितः ॥ ११ ॥

सुसज्जित श्वेत वृषभ और श्वेत अश्व भी खड़े थे ॥११॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथापरे ।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥ १२ ॥
तथाजातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम् ।
ते राजवचनात् तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १३ ॥

सब प्रकारके बाजे मौजूद थे । स्तुति-पाठ करनेवाले वन्दी तथा अन्य मागध आदि भी उपस्थित थे । इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें जैसी अभिषेक-सामग्रीका संग्रह होना चाहिये, राजकुमारके अभिषेककी वैसी ही सामग्री साथ लेकर वे सब लोग महाराज दशरथकी आज्ञाके अनुसार वहाँ उनके दर्शनके लिये एकत्र हुए थे ॥ १२-१३ ॥

अपश्यन्तोऽब्रुवन् को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत् ।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १४ ॥
यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।

राजाको द्वारपर न देखकर वे कहने लगे—'कौन महाराजके पास जाकर हमारे आगमनकी सूचना देगा । हम महाराजको यहाँ नहीं देखते हैं । सूर्योदय हो गया है और बुद्धिमान् श्रीरामके यौवराज्याभिषेककी सारी सामग्री जुट गयी है' ॥ १४½ ॥

इति तेषु ब्रुवाणेषु सर्वांस्तांश्च महीपतीन् ॥ १५ ॥
अब्रवीत् तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।

वे सब लोग जब इस प्रकारकी बातें कर रहे थे, उसी समय राजाद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने वहाँ खड़े हुए उन समस्त भूपतियोंसे यह बात कही—॥ १५½ ॥

रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम् ॥ १६ ॥
पूज्या राज्ञो भवन्तश्च रामस्य तु विशेषतः ।
अयं पृच्छामि वचनात् सुखमायुष्मतामहम् ॥ १७ ॥

'मैं महाराजकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये तुरंत जा रहा हूँ । आप सब लोग महाराजके तथा विशेषतः श्रीराम-चन्द्रजीके पूजनीय हैं । मैं उन्हींकी ओरसे आप समस्त चिरंजीवी पुरुषोंके कुशल-समाचार पूछ रहा हूँ । आपलोग सुखसे हैं न ?' ॥ १६-१७ ॥

राज्ञः सम्प्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम् ।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित् ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर और जगे हुए होनेपर श्रीमहाराजके बाहर न आनेका कारण बताकर पुरातन वृत्तान्तोंको जाननेवाले सुमन्त्र पुनः अन्तःपुरके द्वारपर लौट आये ॥ १८ ॥

सदा सक्तं च तद् वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशाम्पतेः ॥ १९ ॥

वह राजभवन सुमन्त्रके लिये सदा खुला रहता था । उन्होंने भीतर प्रवेश किया और प्रवेश करके महाराजके वंशकी स्तुति की ॥ १९ ॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ।
सोऽत्यासाद्य तु तद्वेश्म तिरस्करणिमन्तरा ॥ २० ॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम् ।

तदनन्तर वे राजाके शयनगृहके पास जाकर खड़े हो गये । उस घरके अत्यन्त निकट पहुँचकर जहाँ बीचमें केवल चिकका अन्तर रह गया था, खड़े हो वे गुणवर्णनपूर्वक आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा रघुकुल-नरेशकी स्तुति करने लगे—॥ २०½ ॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ २१ ॥
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।

'ककुत्स्थनन्दन ! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें ॥ २१½ ॥

गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ २२ ॥
बुद्ध्यस्व राजशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।

'भगवती रात्रि विदा हो गयी । अब कल्याणस्वरूप दिन उपस्थित हुआ है । राजसिंह ! निद्रा त्यागकर जग जाइये और अब जो कार्य प्राप्त है उसे कीजिये ॥ २२½ ॥

ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागतास्त्विह ॥ २३ ॥
दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुद्ध्यस्व राघव ।

'ब्राह्मण, सेनाके मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार यहाँ आ गये हैं । वे सब लोग आपका दर्शन चाहते हैं । रघुनन्दन ! जागिये' ॥ २३½ ॥

स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २४ ॥
प्रतिबुद्ध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।

मन्त्रणा करनेमें कुशल सूत सुमन्त्र जब इस प्रकार स्तुति करने लगे, तब राजाने जाकर उनसे यह बात कही—॥ २४½ ॥

राममानय सूतेति यदस्यभिहितो मया ॥ २५ ॥
किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिवाह्यते ।
न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २६ ॥

'सूत ! श्रीरामको बुला लाओ'—यह जो मैंने तुमसे कहा था, उसका पालन क्यों नहीं हुआ ? ऐसा कौन-सा कारण है, जिससे मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया जा रहा है ! मैं सोया नहीं हूँ । तुम श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥ २५-२६ ॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात् पुनः ।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रतिपूज्य तम् ॥ २७ ॥
निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् ।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजा दशरथने जब सूतको फिर उपदेश दिया, तब वे राजाकी वह आज्ञा सुनकर सिर झुकाकर उसका सम्मान करते हुए राजभवनसे बाहर निकल गये । वे मन-ही-मन अपना महान् प्रिय हुआ मानने लगे । राजभवनसे निकलकर सुमन्त्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित राजमार्गपर आ गये ॥ २७-२८ ॥

हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन् ।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः ॥ २९ ॥
अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत् ।

वे हर्ष और उल्लासमें भरकर सब ओर दृष्टि डालते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने लगे । सूत सुमन्त्र वहाँ मार्गमें सब लोगोंके मुँहसे श्रीरामके राज्याभिषेककी आनन्ददायिनी बातें सुनते जा रहे थे ॥ २९½ ॥

ततो ददर्श रुचिरं कैलासस‍दृशप्रभम् ॥ ३० ॥
रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम् ।
महाकपाटपिहितं वितर्दिशतशोभितम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर सुमन्त्रको श्रीरामका सुन्दर भवन दिखायी दिया, जो कैलासपर्वतके समान श्वेत प्रभासे प्रकाशित हो रहा था । वह इन्द्रभवनके समान दीप्तिमान् था । उसका फाटक विशाल किवाड़ोंसे बंद था (उसके भीतरका छोटा-सा द्वार ही खुला हुआ था) । सैकड़ों वेदिकाएँ उस भवनकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ ३०-३१ ॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम् ।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहासमम् ॥ ३२ ॥

उसका मुख्य अग्रभाग सोनेकी देव-प्रतिमाओंसे अलंकृत था । उसके बाहर फाटकमें मणि और मूँगे जड़े हुए थे । वह सारा भवन शरद्-ऋतुके बादलोंकी भाँति श्वेत कान्तिसे युक्त, दीप्तिमान् और मेरुपर्वतकी कन्दराके समान शोभायमान था ॥ ३२ ॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम् ।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम् ॥ ३३ ॥

सुवर्णनिर्मित पुष्पोंकी मालाओंके बीच-बीचमें पिरोयी हुई बहुमूल्य मणियोंसे वह भवन सजा हुआ था । दीवारोंमें जड़ी हुई मुक्तामणियोंसे व्याप्त होकर जगमगा रहा था (अथवा वहाँ मोती और मणियोंके भण्डार भरे हुए थे) । चन्दन और अगरकी सुगन्ध उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ३३ ॥

गन्धान् मनोज्ञान् विसृजद् दार्दुरं शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च विनदद्भिर्विराजितम् ॥ ३४ ॥

वह भवन मलयाचलके समीपवर्ती दर्दुर नामक चन्दन-गिरिके शिखरकी भाँति सब ओर मनोहर सुगन्ध बिखेर रहा था । कलरव करते हुए सारस और मयूर आदि पक्षी उसकी शोभावृद्धि कर रहे थे ॥ ३४ ॥

सुकृतेहामृगाकीर्णमुत्कीर्णं भक्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत् तिग्मतेजसा ॥ ३५ ॥

सोने आदिकी सुन्दर ढंगसे बनी हुई भेड़ियोंकी मूर्तियोंसे वह व्याप्त था । शिल्पियोंने उसकी दीवारोंमें बड़ी सुन्दर नक्काशी की थी । वह अपनी उत्कृष्ट शोभासे समस्त प्राणियोंके मन और नेत्रोंको आकृष्ट कर लेता था ॥ ३५ ॥

चन्द्रभास्करसंकाशं कुबेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी, कुबेर-भवनके समान अक्षय सम्पत्तिसे पूर्ण तथा इन्द्रधामके समान भव्य एवं मनोरम उस श्रीरामभवनमें नाना प्रकारके पक्षी चहक रहे थे ॥ ३६ ॥

मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्म ददर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३७ ॥

सुमन्त्रने देखा—श्रीरामका महल मेरु पर्वतके शिखरकी भाँति शोभा पा रहा है। हाथ जोड़कर श्रीरामकी वन्दना करनेके लिये उपस्थित हुए असंख्य मनुष्योंसे वह भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तदा जानपदैर्जनैः।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलंकृतम् ॥ ३८ ॥

भाँति-भाँतिके उपहार लेकर जनपद-निवासी मनुष्य उस समय वहाँ पहुँचे हुए थे। श्रीरामके अभिषेकका समाचार सुनकर उनके मुख प्रसन्नतासे खिल उठे थे। वे उस उत्सवको देखनेके लिये उत्कण्ठित थे। उन सबकी उपस्थितिसे भवनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३८ ॥

महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविराजितम्।
नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरपि चावृतम् ॥ ३९ ॥

वह विशाल राजभवन महान् मेघखण्डके समान ऊँचा और सुन्दर शोभासे सम्पन्न था। उसकी दीवारोंमें नाना प्रकारके रत्न जड़े गये थे और कुबड़े सेवकोंसे वह भरा हुआ था ॥ ३९ ॥

स वाजियुक्तेन रथेन सारथिः
समाकुलं राजकुलं विराजयन्।
वरूथिना राजगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४० ॥

सारथि सुमन्त्र राजभवनकी ओर जानेवाले वरूथ (लोहेकी चद्दर या सींकचोंके बने हुए आवरण) से युक्त तथा अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा मनुष्योंकी भीड़से भरे राजमार्गकी शोभा बढ़ाते तथा समस्त नगर-निवासियोंके मनको आनन्द प्रदान करते हुए श्रीरामके भवनके पास जा पहुँचे ॥ ४० ॥

ततः समासाद्य महाधनं महत्
प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्बणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥ ४१ ॥

उत्तम वस्तुको प्राप्त करनेके अधिकारी श्रीरामका वह महान् समृद्धिशाली विशाल भवन शचीपति इन्द्रके भवनकी भाँति सुशोभित होता था। इधर-उधर फैले हुए मृगों और मयूरोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। वहाँ पहुँचकर सारथि सुमन्त्रके शरीरमें अधिक हर्षके कारण रोमाञ्च हो आया ॥ ४१ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलंकृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः।
प्रियान् वरान् राममते स्थितान् बहून्
व्यपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४२ ॥

वहाँ कैलास और स्वर्गके समान दिव्य शोभासे युक्त, सुन्दर सजी हुई अनेक ड्योढ़ियोंको लाँघकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञामें चलनेवाले बहुतेरे श्रेष्ठ मनुष्योंको बीचमें छोड़ते हुए रथसहित सुमन्त्र अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थकृतां जनानाम्।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥

उस स्थानपर उन्होंने श्रीरामके अभिषेक-सम्बन्धी कर्म करनेवाले लोगोंकी हर्षभरी बातें सुनीं, जो राजकुमार श्रीरामके लिये सब ओरसे मङ्गलकामना सूचित करती थीं। इसी प्रकार उन्होंने अन्य सब लोगोंकी भी हर्षोल्लाससे परिपूर्ण वार्ताओंको श्रवण किया ॥ ४३ ॥

महेन्द्रसद्मप्रतिमं च वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम्।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४४ ॥

श्रीरामका वह भवन इन्द्रसदनकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा था। मृगों और पक्षियोंसे सेवित होनेके कारण उसकी रमणीयता और भी बढ़ गयी थी। सुमन्त्रने उस भवनको देखा। वह अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले मेरुगिरिके ऊँचे शिखरकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ४४ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारिभिश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च।
कोट्या परार्धैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपदं ददर्श ॥ ४५ ॥

'उस भवनके द्वारपर पहुँचकर सुमन्त्रने देखा—श्रीरामकी वन्दनाके लिये हाथ जोड़े उपस्थित हुए जनपदवासी मनुष्य अपनी सवारियोंसे उतरकर हाथोंमें भाँति-भाँतिके उपहार लिये करोड़ों और परार्धोंकी संख्यामें खड़े थे, जिससे वहाँ बड़ी भारी भीड़ लग गयी थी ॥ ४५ ॥

ततो महामेघमहीधराभं
प्रभिन्नमत्यङ्कुशमत्यसह्यम्।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उन्होंने श्रीरामकी सवारीमें आनेवाले सुन्दर शत्रुञ्जय नामक विशालकाय गजराजको देखा, जो महान् मेघसे युक्त पर्वतके समान प्रतीत होता था। उसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी। वह अंकुशसे काबूमें आनेवाला नहीं था। उसका वेग शत्रुओंके लिये अत्यन्त असह्य था। उसका जैसा नाम था, वैसा ही गुण भी था ॥ ४६ ॥

स्वलंकृतान् साश्वरथान् सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यांश्च ददर्श वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान् समन्ततः
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ह ॥ ४७ ॥

उन्होंने वहाँ राजाके परम प्रिय मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंको भी एक साथ उपस्थित देखा, जो सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित थे और घोड़े, रथ तथा हाथियोंके साथ वहाँ आये थे। सुमन्त्रने उन सबको एक ओर हटाकर स्वयं श्रीरामके समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

ततोऽद्रिकूटाचलमेघसंनिभं
महाविमानोपमवेश्मसंयुतम् ।
अवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथार्णवम् ॥ ४८ ॥

जैसे मगर प्रचुर रत्नोंसे भरे हुए समुद्रमें बेरोक-टोक प्रवेश करता है, उसी प्रकार सारथि सुमन्त्रने पर्वत-शिखरपर आरूढ़ हुए अविचल मेघके समान शोभायमान महान् विमानके सदृश सुन्दर गृहोंसे संयुक्त तथा प्रचुर रत्न-भण्डारसे भरपूर उस महलमें बिना किसी रोक-टोकके प्रवेश किया ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

सुमन्त्रका श्रीरामके महलमें पहुँचकर महाराजका संदेश सुनाना और श्रीरामका सीतासे अनुमति ले लक्ष्मणके साथ रथपर बैठकर गाजे-बाजेके साथ मार्गमें स्त्री-पुरुषोंकी बातें सुनते हुए जाना

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥

पुरातन वृत्तान्तोंके ज्ञाता सूत सुमन्त्र मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए उस अन्तःपुरके द्वारको लाँघकर महलकी एकान्त-कक्षामें जा पहुँचे, जहाँ भीड़ बिल्कुल नहीं थी ॥ १ ॥

प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवतिभिर्मृष्टकुण्डलैः ।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वानुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

वहाँ श्रीरामके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले एकाग्रचित्त एवं सावधान युवक प्रास और धनुष आदि लिये डटे हुए थे। उनके कानोंमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए कुण्डल झलमला रहे थे ॥ २ ॥

तत्र काषायिणो वृद्धान् वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान् ।
ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान् ॥ ३ ॥

उस ड्यौढ़ीमें सुमन्त्रको गेरुआ वस्त्र पहने और हाथमें छड़ी लिये वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत बहुतसे वृद्ध पुरुष बड़ी सावधानीके साथ द्वारपर बैठे दिखायी दिये, जो अन्तःपुरकी स्त्रियोंके अध्यक्ष (संरक्षक) थे ॥ ३ ॥

ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥

सुमन्त्रको आते देख श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सभी पुरुष सहसा वेगपूर्वक आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥

राजसेवामें अत्यन्त कुशल तथा विनीत हृदयवाले सूतपुत्र सुमन्त्रने उनसे कहा—'आपलोग श्रीरामचन्द्रजीसे शीघ्र जाकर कहें कि सुमन्त्र दरवाजेपर खड़े हैं' ॥ ५ ॥

ते राममुपसङ्गम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥

स्वामीका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सब सेवक श्रीरामचन्द्रजीके पास जा पहुँचे। उस समय श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ विराजमान थे। उन सेवकोंने शीघ्र ही उन्हें सुमन्त्रका संदेश सुना दिया ॥ ६ ॥

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

द्वाररक्षकोंद्वारा दी हुई सूचना पाकर श्रीरामने पिताकी प्रसन्नताके लिये उनके अन्तरङ्ग सेवक सुमन्त्रको वहीं अन्तःपुरमें बुलवा लिया ॥ ७ ॥

तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥

वहाँ पहुँचकर सुमन्त्रने देखा श्रीरामचन्द्रजी वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो कुबेरके समान जान पड़ते हैं और बिछौनोंसे युक्त सोनेके पलंगपर विराजमान हैं ॥ ८ ॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परंतपम् ॥ ९ ॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया ।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥ १० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीके श्रीअङ्गोंमें वाराहके रुधिरकी भाँति लाल, पवित्र और सुगन्धित उत्तम चन्दनका लेप लगा हुआ है और देवी सीता उनके पास बैठकर अपने हाथसे चवँर डुला रही हैं। सीताके अत्यन्त समीप बैठे हुए श्रीराम चित्रासे संयुक्त चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हैं ॥ ९-१० ॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा।
ववन्दे वरदं वन्दी विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

विनयके ज्ञाता वन्दी सुमन्त्रने तपते हुए सूर्यकी भाँति अपने नित्य प्रकाशसे सम्पन्न रहकर अधिक प्रकाशित होनेवाले वरदायक श्रीरामको विनीतभावसे प्रणाम किया ॥ ११ ॥

प्राञ्जलिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥

विहारकालिक शयनके लिये जो आसन था, उस पलंगपर बैठे हुए प्रसन्न मुखवाले राजकुमार श्रीरामका दर्शन करके राजा दशरथद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति।
महिष्यापि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ १३ ॥

'श्रीराम! आपको पाकर महारानी कौसल्या सर्वश्रेष्ठ संतानवाली हो गयी हैं। इस समय रानी कैकेयीके साथ बैठे हुए आपके पिताजी आपको देखना चाहते हैं, अतः वहाँ चलिये, विलम्ब न कीजिये' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥

सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी नरश्रेष्ठ श्रीरामने सीताजीका सम्मान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उनसे इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे।
मन्त्रयेते ध्रुवं किंचिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥

'देवि! जान पड़ता है, पिताजी और माता कैकेयी दोनों मिलकर मेरे विषयमें ही कुछ विचार कर रहे हैं। निश्चय ही मेरे अभिषेकके सम्बन्धमें ही कोई बात होती होगी ॥ १५ ॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा।
संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा ॥ १६ ॥

'मेरे अभिषेकके विषयमें राजाके अभिप्रायको लक्ष्य करके उनका प्रिय करनेकी इच्छावाली परम उदार एवं समर्थ कजरारे नेत्रोंवाली कैकेयी मेरे अभिषेकके लिये ही राजाको प्रेरित कर रही होंगी ॥ १६ ॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥ १७ ॥

'मेरी माता केकयराजकुमारी इस समाचारसे बहुत प्रसन्न हुई होंगी। वे महाराजका हित चाहनेवाली और उनकी अनुगामिनी हैं। साथ ही वे मेरा भी भला चाहती हैं। अतः वे महाराजको अभिषेक करनेके लिये जल्दी करनेको कह रही होंगी ॥ १७ ॥

दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह।
सुमन्त्रं प्राहिणोद् दूतमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥

सौभाग्यकी बात है कि महाराज अपनी प्यारी रानीके साथ बैठे हैं और उन्होंने मेरे अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाले सुमन्त्रको ही दूत बनाकर भेजा है ॥ १८ ॥

यादृशी परिषत् तत्र तादृशो दूत आगतः।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

'जैसी वहाँ अन्तरङ्ग परिषद् बैठी है, वैसे ही दूत सुमन्त्र-जी यहाँ पधारे हैं। अवश्य आज ही महाराज मुझे युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे ॥ १९ ॥

हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम्।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्स्व रमस्व च ॥ २० ॥

'अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक यहाँसे शीघ्र जाकर महाराजका दर्शन करूँगा। तुम परिजनोंके साथ यहाँ सुखपूर्वक बैठो और आनन्द करो' ॥ २० ॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा।
आ द्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी ॥ २१ ॥

'पतिके द्वारा इस प्रकार सम्मानित होकर कजरारे नेत्रोंवाली सीतादेवी उनका मङ्गल-चिन्तन करती हुई स्वामीके साथ-साथ द्वारतक उन्हें पहुँचानेके लिये गयीं ॥ २१ ॥

राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम्।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥

उस समय वे बोलीं—'आर्यपुत्र! ब्राह्मणोंके साथ रहकर आपका युवराजपदपर अभिषेक करके महाराज दूसरे समयमें राजसूय-यज्ञमें सम्राट्के पदपर आपका अभिषेक करनेयोग्य हैं। ठीक उसी तरह जैसे लोकस्रष्टा ब्रह्माने देवराज इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ २२ ॥

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम्।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥

'आप राजसूय यज्ञमें दीक्षित हो तदनुकूल व्रतका पालन करनेमें तत्पर, श्रेष्ठ मृगचर्मधारी, पवित्र तथा हाथमें मृगका शृङ्ग धारण करनेवाले हों और इस रूपमें आपका दर्शन करती हुई मैं आपकी सेवामें संलग्न रहूँ—यही मेरी शुभकामना है ॥ २३ ॥

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥

'आपकी पूर्व दिशामें वज्रधारी इन्द्र, दक्षिण दिशामें

यमराज, पश्चिम दिशामें वरुण और उत्तर दिशामें कुबेर रक्षा करें' ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः ।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सीताकी अनुमति ले उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रके साथ अपने महलसे बाहर निकले ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत् प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥

पर्वतकी गुफामें शयन करनेवाला सिंह जैसे पर्वतसे निकलकर आता है, उसी प्रकार महलसे निकलकर श्रीरामचन्द्रजीने द्वारपर लक्ष्मणको उपस्थित देखा, जो विनीतभावसे हाथ जोड़े खड़े थे ॥ २६ ॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत् सुहृज्जनैः ।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥
ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तमम् ।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

तदनन्तर मध्यम कक्षामें आकर वे मित्रोंसे मिले फिर प्रार्थी जनोंको उपस्थित देख उन सबसे मिलकर उन्हें संतुष्ट करके पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम व्याघ्रचर्मसे आवृत, शोभाशाली तथा अग्निके समान तेजस्वी उत्तम रथपर आरूढ़ हुए ॥ २७-२८ ॥

मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया मेरुवर्चसम् ॥ २९ ॥

उस रथकी घरघराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान प्रतीत होती थी। उसमें स्थानकी संकीर्णता नहीं थी। वह विस्तृत था और मणि एवं सुवर्णसे विभूषित था। उसकी कान्ति सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान जान पड़ती थी। वह रथ अपनी प्रभासे लोगोंकी आँखोंमें चकाचौंध-सा पैदा कर देता था ॥

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः ।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥

उसमें उत्तम घोड़े जुते हुए थे, जो अधिक पुष्ट होनेके कारण हाथीके बच्चोंके समान प्रतीत होते थे। जैसे सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त शीघ्रगामी रथपर सवार होते हैं, उसी प्रकार श्रीराम अपने उस रथपर आरूढ़ थे ॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया ।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥
निकेतान्निर्ययौ श्रीमान् महाभ्रादिव चन्द्रमाः ।

अपनी सहज शोभासे प्रकाशित श्रीरघुनाथजी उस रथपर आरूढ़ हो तुरंत वहाँसे चल दिये। वह तेजस्वी रथ आकाशमें गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी घर्घर ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओं-को प्रतिध्वनित करता हुआ महान् मेघखण्डसे निकलनेवाले चन्द्रमाके समान श्रीरामके उस भवनसे बाहर निकला ॥

चित्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः ।

श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण भी हाथमें विचित्र चवँर लिये उस रथपर बैठ गये और पीछेसे अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकी रक्षा करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥
तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः ।

फिर तो सब ओरसे मनुष्योंकी भारी भीड़ निकलने लगी। उस समय उस जन-समूहके चलनेसे सहसा भयंकर कोलाहल मच गया ॥ ३३½ ॥

ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसंनिभाः ॥ ३४ ॥
अनुजग्मुस्तथा रामं शतशोऽथ सहस्रशः ।

श्रीरामके पीछे-पीछे अच्छे-अच्छे घोड़े और पर्वतोंके समान विशालकाय श्रेष्ठ गजराज सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें चलने लगे ॥ ३४½ ॥

अग्रतश्चास्य संनद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः ॥ ३५ ॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो जनाः ।

उनके आगे-आगे कवच आदिसे सुसज्जित तथा चन्दन और अगुरुसे विभूषित हो खड्ग और धनुष धारण किये बहुत-से शूरवीर तथा मङ्गलाशंसी मनुष्य—वन्दी आदि चल रहे थे ॥ ३५½ ॥

ततो वादित्रशब्दाश्च स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥ ३६ ॥
सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि ।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिंदमः ।

तदनन्तर मार्गमें वाद्योंकी ध्वनि, वन्दीजनोंके स्तुतिपाठके शब्द तथा शूरवीरोंके सिंहनाद सुनायी देने लगे। महलोंकी खिड़कियोंमें बैठी हुई वस्त्राभूषणोंसे विभूषित वनिताएँ सब ओरसे शत्रुदमन श्रीरामपर ढेर-के-ढेर सुन्दर पुष्प बिखेर रही थीं। इस अवस्थामें श्रीराम आगे बढ़ते चले जा रहे थे ॥

रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामपिप्रीषया ततः ॥ ३८ ॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे ।

उस समय अट्टालिकाओं और भूतलपर खड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी युवतियाँ श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रेष्ठ वचनों-द्वारा उनकी स्तुति गाने लगीं ॥ ३८½ ॥

नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥
पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम् ।

'माताको आनन्द प्रदान करनेवाले रघुवीर! आपकी यह यात्रा सफल होगी और आपको पैतृक राज्य प्राप्त होगा।

इस अवस्थामें आपको देखती हुई आपकी माता कौसल्या निश्चय ही आनन्दित हो रही होंगी ॥ ३९½ ॥

सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥ ४० ॥
अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत् तपः ॥ ४१ ॥
रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।

'वे नारियाँ श्रीरामकी हृदयवल्लभा सीमन्तिनी सीताको संसारकी समस्त सौभाग्यवती स्त्रियोंसे श्रेष्ठ मानती हुई कहने लगीं—'उन देवी सीताने पूर्वकालमें निश्चय ही बड़ा भारी तप किया होगा, तभी उन्होंने चन्द्रमासे संयुक्त हुई रोहिणीकी भाँति श्रीरामका संयोग प्राप्त किया है' ॥ ४०-४१½ ॥

इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ।
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार राजमार्गपर रथपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रासादशिखरोंपर बैठी हुई युवती स्त्रियोंके द्वारा कही गयी ये प्यारी बातें सुन रहे थे ॥ ४२ ॥

स राघवस्तत्र तदा प्रलापा-
ञ्शुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥ ४३ ॥

उस समय अयोध्यामें आये हुए दूर-दूरके लोग अत्यन्त हर्षसे भरकर यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें जो वार्तालाप और तरह-तरहकी बातें करते थे, अपने विषयमें कही गयी उन सभी बातोंको श्रीरघुनाथजी सुनते जा रहे थे ॥ ४३ ॥

एष श्रियं गच्छति राघवोऽद्य
राजप्रसादाद् विपुलां गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४४ ॥

वे कहते थे—'इस समय ये श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथकी कृपासे बहुत बड़ी सम्पत्तिके अधिकारी होने जा रहे हैं। अब हम सब लोगोंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी, क्योंकि ये श्रीराम हमारे शासक होंगे ॥ ४४ ॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किंचन जातु कश्चित्
पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४५ ॥

'यदि यह सारा राज्य चिरकालके लिये इनके हाथमें आ जाय तो इस जगत्की समस्त जनताके लिये यह महान् लाभ होगा। इनके राजा होनेपर कभी किसीका अप्रिय नहीं होगा और किसीको कोई दुःख भी नहीं देखना पड़ेगा' ॥ ४५ ॥

स घोषवद्भिश्च हयैः सनागैः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४६ ॥

हिनहिनाते हुए घोड़ों, चिग्घाड़ते हुए हाथियों, जय-जयकार करते हुए आगे-आगे चलनेवाले बन्दियों, स्तुतिपाठ करनेवाले सूतों, वंशकी विरुदावलि बखाननेवाले मागधों तथा सर्वश्रेष्ठ गुणगायकोंके तुमुल घोषके बीच उन वन्दी आदि-से पूजित एवं प्रशंसित होते हुए श्रीरामचन्द्रजी कुबेरके समान चल रहे थे ॥ ४६ ॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसंकुलं
महाजनौघैः परिपूर्णचत्वरम् ।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसंचयं
ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥ ४७ ॥

यात्रा करते हुए श्रीरामने उस विशाल राजमार्गको देखा, जो हथिनियों, मतवाले हाथियों, रथों और घोड़ोंसे खचाखच भरा हुआ था। उसके प्रत्येक चौराहेपर मनुष्यों-की भारी भीड़ इकट्ठी हो रही थी। उसके दोनों पार्श्वभागोंमें प्रचुर रत्नोंसे भरी हुई दूकानें थीं तथा विक्रयके योग्य और भी बहुत-से द्रव्योंके ढेर वहाँ दिखायी देते थे। वह राजमार्ग बहुत साफ-सुथरा था ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश

स रामो रथमास्थाय सम्प्रहृष्टसुहृज्जनः ।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागुरुधूपितम् ॥ १ ॥
अपश्यन्नगरं श्रीमान् नानाजनसमन्वितम् ।
स गृहैरभ्रसंकाशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥
राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम् ।

इस प्रकार श्रीमान् रामचन्द्रजी अपने सुहृदोंको आनन्द प्रदान करते हुए रथपर बैठे राजमार्गके बीचसे चले जा रहे थे, उन्होंने देखा—सारा नगर ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित हो रहा है, चारों ओर बहुमूल्य अगुरुनामक धूपकी सुगन्ध छा रही है और सब ओर असंख्य मनुष्योंकी भीड़ दिखायी

देती है। वह राजमार्ग श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल भव्य भवनोंसे सुशोभित तथा अगुरुकी सुगन्धसे व्याप्त हो रहा था ॥

चन्दनानां च मुख्यानामगुरूणां च संचयैः ॥ ३ ॥
उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥
शोभमानमसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम्।
संवृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥
ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥
नानामाल्योपगन्धैश्च सदाभ्यर्चितचत्वरम्।

अच्छी श्रेणीके चन्दनों, अगुरु नामक धूपों, उत्तम गन्ध-द्रव्यों, अलसी या सन आदिके रेशोंसे बने हुए कपड़ों तथा रेशमी वस्त्रोंके ढेर, अनबिंधे मोती और उत्तमोत्तम स्फटिक रत्न उस विस्तृत एवं उत्तम राजमार्गकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह नाना प्रकारके पुष्पों तथा भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थोंसे भरा हुआ था। उसके चौराहोंकी दही, अक्षत, हविष्य, लावा, धूप, अगर, चन्दन, नाना प्रकारके पुष्पहार और गन्ध-द्रव्योंसे सदा पूजा की जाती थी। स्वर्गलोकमें बैठे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति रथारूढ़ श्रीरामने उस राजमार्गको देखा ॥

आशीर्वादान् बहूञ्शृण्वन् सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥
यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान् ययौ।

वे अपने सुहृदोंके मुखसे कहे गये बहुत-से आशीर्वादोंको सुनते और यथायोग्य उन सब लोगोंका सम्मान करते हुए चले जा रहे थे ॥ ७½ ॥

पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥
अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय।

(उनके हितैषी सुहृद् कहते थे—) 'रघुनन्दन! तुम्हारे पितामह और प्रपितामह (दादे और परदादे) जिसपर चलते आये हैं, आज उसी मार्गको ग्रहण करके युवराज-पदपर अभिषिक्त हो आप हम सब लोगोंका निरन्तर पालन करें' ॥

यथा स्म पोषिताः पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः।
ततः सुखतरं सर्वे रामे वत्स्याम राजनि ॥ ९ ॥

(फिर वे आपसमें कहने लगे-) 'भाइयो! श्रीरामके पिता तथा समस्त पितामहोंद्वारा जिस प्रकार हमलोगोंका पालन-पोषण हुआ है, श्रीरामके राजा होनेपर हम उससे भी अधिक सुखी रहेंगे ॥ ९ ॥

अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः।
यदि पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

'यदि हम राज्यपर प्रतिष्ठित हुए श्रीरामको पिताके घरसे निकलते हुए देख लें—यदि राजा रामका दर्शन कर लें तो अब हमें इहलोकके भोग और परमार्थस्वरूप मोक्ष लेकर क्या करना है ॥ १० ॥

ततो हि नः प्रियतरं नान्यत् किंचिद् भविष्यति।
यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ॥ ११ ॥

'अमिततेजस्वी श्रीरामका यदि राज्यपर अभिषेक हो जाय तो वह हमारे लिये जैसा प्रियतर कार्य होगा, उससे बढ़कर दूसरा कोई परम प्रिय कार्य नहीं होगा' ॥ ११ ॥

एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः।
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन् ययौ रामो महापथम् ॥ १२ ॥

सुहृदोंके मुँहसे निकली हुई ये तथा और भी कई तरहकी अपनी प्रशंसासे सम्बन्ध रखनेवाली सुन्दर बातें सुनते हुए श्रीरामचन्द्रजी राजपथपर बढ़े चले जा रहे थे ॥ १२ ॥

न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥ १३ ॥

(जो श्रीरामकी ओर एक बार देख लेता, वह उन्हें देखता ही रह जाता था।) श्रीरघुनाथजीके दूर चले जानेपर भी कोई उन पुरुषोत्तमकी ओरसे अपना मन या दृष्टि नहीं हटा पाता था ॥ १३ ॥

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥ १४ ॥

उस समय जो श्रीरामको नहीं देखता और जिसे श्रीराम नहीं देख लेते थे, वह समस्त लोकोंमें निन्दित समझा जाता था तथा स्वयं उसकी अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारती थी ॥ १४ ॥

सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम्।
चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ १५ ॥

धर्मात्मा श्रीराम चारों वर्णोंके सभी मनुष्योंपर उनकी अवस्थाके अनुरूप दया करते थे, इसलिये वे सभी उनके भक्त थे ॥ १५ ॥

चतुष्पथान् देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च।
प्रदक्षिणं परिहरञ्जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥

राजकुमार श्रीराम चौराहों, देवमार्गों, चैत्यवृक्षों तथा देवमन्दिरोंको अपने दाहिने छोड़ते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥

स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः।
प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ॥ १७ ॥
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः।
वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥ १८ ॥
तत् पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रसदनोपमम्।
राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ॥ १९ ॥

राजा दशरथका भवन मेघसमूहोंके समान शोभा पानेवाले, सुन्दर अनेक रूप-रंगवाले कैलासशिखरके समान उज्ज्वल प्रासादशिखरों (अट्टालिकाओं) से सुशोभित था। उसमें रत्नोंकी जालीसे विभूषित तथा विमानाकार क्रीड़ागृह

भी बने हुए थे, जो अपनी श्वेत आभासे प्रकाशित होते थे । वे अपनी ऊँचाईसे आकाशको भी लाँघते हुए-से प्रतीत होते थे; ऐसे गृहोंसे युक्त वह श्रेष्ठ भवन इस भूतलपर इन्द्रसदनके समान शोभा पाता था । उस राजभवनके पास पहुँचकर अपनी शोभासे प्रकाशित होनेवाले राजकुमार श्रीरामने पिताके महलमें प्रवेश किया ॥ १७—१९ ॥

स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः ।
पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ॥ २० ॥

उन्होंने धनुर्धर वीरोंद्वारा सुरक्षित महलकी तीन ड्यौढ़ियोंको तो घोड़े जुते हुए रथसे ही पार किया, फिर दो ड्यौढ़ियोंमें वे पुरुषोत्तम राम पैदल ही गये ॥ २० ॥

स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः ।
संनिवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तःपुरमत्यगात् ॥ २१ ॥

इस प्रकार सारी ड्यौढ़ियोंको पार करके दशरथनन्दन श्रीराम साथ आये हुए सब लोगोंको लौटाकर स्वयं अन्तःपुरमें गये ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे ।
प्रतीक्षते तस्य पुनः स्म निर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥

जब राजकुमार श्रीराम पिताके पास जानेके लिये अन्तःपुरमें प्रविष्ट हुए, तब आनन्दमग्न हुए सब लोग बाहर खड़े होकर उनके पुनः निकलनेकी प्रतीक्षा करने लगे, ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र चन्द्रोदयकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने माँगे हुए वरोंका वृत्तान्त बताकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना

स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे ।
कैकेय्या सहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

महलमें जाकर श्रीरामने पिताको कैकेयीके साथ एक सुन्दर आसनपर बैठे देखा । वे विषादमें डूबे हुए थे, उनका मुँह सूख गया था और वे बड़े दयनीय दिखायी देते थे ॥ १ ॥

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत् ।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥

निकट पहुँचनेपर श्रीरामने विनीतभावसे पहले अपने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया; उसके बाद बड़ी सावधानीके साथ उन्होंने कैकेयीके चरणोंमें भी मस्तक झुकाया ॥ २ ॥

रामेत्युक्त्वा तु वचनं वाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥

उस समय दीनदशामें पड़े हुए राजा दशरथ एक बार 'राम !' ऐसा कहकर चुप हो गये (इससे आगे उनसे बोला नहीं गया) । उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये, अतः वे श्रीरामकी ओर न तो देख सके और न उनसे कोई बात ही कर सके ॥ ३ ॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम् ।
रामोऽपि भयमापन्नः तदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

राजाका वह अभूतपूर्व भयंकर रूप देखकर श्रीरामको भी भय हो गया, मानो उन्होंने पैरसे किसी सर्पको छू दिया हो ॥ ४ ॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसंतापकर्शितम् ।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥
ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम् ।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥

राजाकी इन्द्रियोंमें प्रसन्नता नहीं थी; वे शोक और संतापसे दुर्बल हो रहे थे, बारंबार लंबी साँसें भरते थे तथा उनके चित्तमें बड़ी व्यथा और व्याकुलता थी । वे ऐसे दीखते थे, मानो तरङ्गमालाओंसे उपलक्षित अक्षोभ्य समुद्र क्षुब्ध हो उठा हो, सूर्यको राहुने ग्रस लिया हो अथवा किसी महर्षिने झूठ बोल दिया हो ॥

अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन् ।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥

राजाका वह शोक सम्भावनासे परे था । इस शोकका क्या कारण है—यह सोचते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूर्णिमाके समुद्रकी भाँति अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठे ॥ ७ ॥

चिन्तयामास चतुरो रामः पितृहिते रतः ।
किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥

पिताके हितमें तत्पर रहनेवाले परम चतुर श्रीराम सोचने लगे कि 'आज ही ऐसी क्या बात हो गयी, जिससे महाराज मुझसे प्रसन्न होकर बोलते नहीं हैं ॥ ८ ॥

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

'और दिन तो पिताजी कुपित होनेपर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, आज मेरी ओर दृष्टिपात करके इन्हें क्लेश क्यों हो रहा है' ॥ ९ ॥

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

यह सब सोचकर श्रीराम दीन-से हो गये, शोकसे कातर हो उठे, विषादके कारण उनके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे कैकेयीको प्रणाम करके उसीसे पूछने लगे—॥ १० ॥

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद् येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥

'मा! मुझसे अनजानमें कोई अपराध तो नहीं हो गया, जिससे पिताजी मुझपर नाराज हो गये हैं। तुम यह बात मुझे बताओ और तुम्हीं इन्हें मना दो ॥ ११ ॥

अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः।
विषण्णवदनो दीनः नहि मां प्रति भाषते ॥ १२ ॥

'ये तो सदा मुझे प्यार करते थे, आज इनका मन अप्रसन्न क्यों हो गया? देखता हूँ, ये आज मुझसे बोलतेतक नहीं हैं, इनके मुखपर विषाद छा रहा है और ये अत्यन्त दुखी हो रहे हैं ॥ १२ ॥

शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते।
संतापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥ १३ ॥

'कोई शारीरिक व्याधिजनित संताप अथवा मानसिक अभिताप (चिन्ता) तो इन्हें पीड़ित नहीं कर रहा है? क्योंकि मनुष्यको सदा सुख-ही-सुख मिले—ऐसा सुयोग प्रायः दुर्लभ होता है ॥ १३ ॥

कच्चिन्न किंचिद् भरते कुमारे प्रियदर्शने।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥

'प्रियदर्शन कुमार भरत, महाबली शत्रुघ्न अथवा मेरी माताओंका तो कोई अमङ्गल नहीं हुआ है? ॥ १४ ॥

अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥

'महाराजको असंतुष्ट करके अथवा इनकी आज्ञा न मानकर इन्हें कुपित कर देनेपर मैं दो घड़ी भी जीवित रहना नहीं चाहूँगा ॥ १५ ॥

यतोमूलं नरः पश्येत् प्रादुर्भावमिहात्मनः।
कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥

'मनुष्य जिसके कारण इस जगत्में अपना प्रादुर्भाव (जन्म) देखता है, उस प्रत्यक्ष देवता पिताके जीते-जी वह उसके अनुकूल बर्ताव क्यों न करेगा? ॥ १६ ॥

कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात् पिता मम।
उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः ॥ १७ ॥

कहीं तुमने तो अभिमान या रोषके कारण मेरे पिताजीसे कोई कठोर बात नहीं कह डाली, जिससे इनका मन दुखी हो गया है? ॥ १७ ॥

एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः।
किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥ १८ ॥

देवि! मैं सची बात पूछता हूँ, बताओ, किस कारणसे महाराजके मनमें आज इतना विकार (संताप) है? इनकी ऐसी अवस्था तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी' ॥ १८ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥ १९ ॥

महात्मा श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर अत्यन्त निर्लज्ज कैकेयी बड़ी ढिठाईके साथ अपने मतलबकी बात इस प्रकार बोली—॥ १९ ॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किंचन।
किंचिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नानुभाषते ॥ २० ॥

'राम! महाराज कुपित नहीं हैं और न इन्हें कोई कष्ट ही हुआ है। इनके मनमें कोई बात है, जिसे तुम्हारे डरसे ये कह नहीं पा रहे हैं ॥ २० ॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥ २१ ॥

तुम इनके प्रिय हो, तुमसे कोई अप्रिय बात कहनेके लिये इनकी जबान नहीं खुलती; किंतु इन्होंने जिस कार्यके लिये मेरे सामने प्रतिज्ञा की है, उसका तुम्हें अवश्य पालन करना चाहिये ॥ २१ ॥

एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च।
स पश्चात् तप्यते राजा यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥ २२ ॥

'इन्होंने पहले तो मेरा सत्कार करते हुए मुझे मुँह-माँगा वरदान दे दिया और अब ये दूसरे गँवार मनुष्योंकी भाँति उसके लिये पश्चात्ताप करते हैं ॥ २२ ॥

अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशाम्पतिः।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥

'ये प्रजानाथ पहले 'मैं दूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके मुझे वर दे चुके हैं और अब उसके निवारणके लिये व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं, पानी निकल जानेपर उसे रोकनेके लिये बाँध बाँधनेकी निरर्थक चेष्टा करते हैं ॥ २३ ॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि।
तत् सत्यं न त्यजेद् राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥

'राम! सत्य ही धर्मकी जड़ है, यह सत्पुरुषोंका भी

निश्चय है। कहीं ऐसा न हो कि ये महाराज तुम्हारे कारण मुझपर कुपित होकर अपने उस सत्यको ही छोड़ बैठें। जैसे भी इनके सत्यका पालन हो, वैसा तुम्हें करना चाहिये ॥ २४ ॥

यदि तद् वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाशुभम्।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥

'यदि राजा जिस बातको कहना चाहते हैं, वह शुभ हो या अशुभ, तुम सर्वथा उसका पालन करो तो मैं सारी बात पुनः तुमसे कहूँगी ॥ २५ ॥

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥

'यदि राजाकी कही हुई बात तुम्हारे कानोंमें पड़कर वहीं नष्ट न हो जाय—यदि तुम उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुमसे सब कुछ खोलकर बता दूँगी, ये स्वयं तुमसे कुछ नहीं कहेंगे' ॥ २६ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम्।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसंनिधौ ॥ २७ ॥

कैकेयीकी कही हुई यह बात सुनकर श्रीरामके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने राजाके समीप ही देवी कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ २७ ॥

अहो धिङ्नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ३० ॥

'अहो! धिक्कार है! देवि! तुम्हें मेरे प्रति ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं महाराजके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भी भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ। महाराज मेरे गुरु, पिता और हितैषी हैं, मैं उनकी आज्ञा पाकर क्या नहीं कर सकता? इसलिये देवि! राजाको जो अभीष्ट है, वह बात मुझे बताओ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ' उसे पूर्ण करूँगा। राम दो तरहकी बात नहीं करता है' ॥ २८–३० ॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम सरल स्वभावसे युक्त और सत्यवादी थे, उनकी बात सुनकर अनार्या कैकेयीने अत्यन्त दारुण वचन कहना आरम्भ किया—॥ ३१ ॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥

'रघुनन्दन! पहलेकी बात है, देवासुरसंग्राममें तुम्हारे पिता शत्रुओंके बाणोंसे बिंध गये थे, उस महासमरमें मैंने इनकी रक्षा की थी, उससे प्रसन्न होकर इन्होंने मुझे दो वर दिये थे ॥ ३२ ॥

तत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम्।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥

'राघव! उन्हींमेंसे एक वरके द्वारा तो मैंने महाराजसे यह याचना की है कि भरतका राज्याभिषेक हो और दूसरा वर यह माँगा है कि तुम्हें आज ही दण्डकारण्यमें भेज दिया जाय ॥ ३३ ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥

'नरश्रेष्ठ! यदि तुम अपने पिताको सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहते हो और अपनेको भी सत्यवादी सिद्ध करनेकी इच्छा रखते हो तो मेरी यह बात सुनो ॥ ३४ ॥

संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम्।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥

'तुम पिताकी आज्ञाके अधीन रहो, जैसी इन्होंने प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार तुम्हें चौदह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ३५ ॥

भरतश्चाभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम्।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

रघुनन्दन! राजाने तुम्हारे लिये जो यह अभिषेकका सामान जुटाया है, उस सबके द्वारा यहाँ भरतका अभिषेक किया जाय ॥ ३६ ॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः।
अभिषेकमिदं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव ॥ ३७ ॥

'और तुम इस अभिषेकको त्यागकर चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहते हुए जटा और चीर धारण करो ॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम्।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथसंकुलाम् ॥ ३८ ॥

'कोसलनरेशकी इस वसुधाका, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और घोड़े तथा रथोंसे व्याप्त है, भरत शासन करें ॥ ३८ ॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः।
शोकैः संक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥

'बस, इतनी ही बात है, ऐसा करनेसे तुम्हारे वियोगका कष्ट सहन करना पड़ेगा, यह सोचकर महाराज करुणामें डूब रहे हैं। इसी शोकसे इनका मुख सूख गया है और इन्हें तुम्हारी ओर देखनेका साहस नहीं होता ॥ ३९ ॥

एतत् कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन।

सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥

'रघुनन्दन राम! तुम राजाकी इस आज्ञाका पालन करो और इनके महान् सत्यकी रक्षा करके इन नरेशको संकटसे उबार लो' ॥ ४० ॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम्।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

कैकेयीके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर भी श्रीरामके हृदयमें शोक नहीं हुआ, परंतु महानुभाव राजा दशरथ पुत्रके भावी वियोगजनित दुःखसे संतप्त एवं व्यथित हो उठे ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीरामकी कैकेयीके साथ बातचीत और वनमें जाना स्वीकार करके उनका माता कौसल्याके पास आज्ञा लेनेके लिये जाना

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम्।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वह अप्रिय तथा मृत्युके समान कष्टदायक वचन सुनकर भी शत्रुसूदन श्रीराम व्यथित नहीं हुए। उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥

'मा! बहुत अच्छा! ऐसा ही हो। मैं महाराजकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये जटा और चीर धारण करके वनमें रहनेके निमित्त अवश्य यहाँसे चला जाऊँगा ॥ २ ॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः ॥ ३ ॥

'परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आज दुर्जय तथा शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज मुझसे पहलेकी तरह प्रसन्नतापूर्वक बोलते क्यों नहीं हैं? ॥ ३ ॥

मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥

'देवि! मैं तुम्हारे सामने ऐसी बात पूछ रहा हूँ, इसलिये तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये। निश्चय चीर और जटा धारण करके मैं वनको चला जाऊँगा, तुम प्रसन्न रहो ॥ ४ ॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥

'राजा मेरे हितैषी, गुरु, पिता और कृतज्ञ हैं। इनकी आज्ञा होनेपर मैं इनका कौन-सा ऐसा प्रिय कार्य है, जिसे निःशङ्क होकर न कर सकूँ? ॥ ५ ॥

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥

'किंतु मेरे मनको एक ही हार्दिक दुःख अधिक जला रहा है कि स्वयं महाराजने मुझसे भरतके अभिषेककी बात नहीं कही ॥ ६ ॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥ ७ ॥

'मैं केवल तुम्हारे कहनेसे भी अपने भाई भरतके लिये इस राज्यको, सीताको, प्यारे प्राणोंको तथा सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ ॥ ७ ॥

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

'फिर यदि स्वयं महाराज—मेरे पिताजी आज्ञा दें और वह भी तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये, तो मैं प्रतिज्ञाका पालन करते हुए उस कार्यको क्यों नहीं करूँगा? ॥ ८ ॥

तथाश्वासय ह्रीमन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥

'तुम मेरी ओरसे विश्वास दिलाकर इन लज्जाशील महाराजको आश्वासन दो। ये पृथ्वीनाथ पृथ्वीकी ओर दृष्टि किये धीरे-धीरे आँसू क्यों बहा रहे हैं? ॥ ९ ॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥

'आज ही महाराजकी आज्ञासे दूत शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर भरतको मामाके यहाँसे बुलानेके लिये चले जायँ ॥

दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥

मैं अभी पिताकी बातपर कोई विचार न करके चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये तुरंत दण्डकारण्यको चला ही जाता हूँ' ॥ ११ ॥

सा हृष्टा तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी ।
प्रस्थानं श्रद्दधाना सा त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई। उसे विश्वास हो गया कि ये वनको चले जायँगे। अतः श्रीरामको जल्दी जानेकी प्रेरणा देती हुई वह बोली—॥ १२ ॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥

'तुम ठीक कहते हो, ऐसा ही होना चाहिये। भरतको मामाके यहाँसे बुला लानेके लिये दूतलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर अवश्य जायँगे ॥ १३ ॥

तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम् ।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

'परंतु राम! तुम वनमें जानेके लिये स्वयं ही उत्सुक जान पड़ते हो; अतः तुम्हारा विलम्ब करना मैं ठीक नहीं समझती। जितना शीघ्र सम्भव हो, तुम्हें यहाँसे वनको चल देना चाहिये ॥ १४ ॥

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।
नैतत् किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ! राजा लज्जित होनेके कारण जो स्वयं तुमसे नहीं कहते हैं, वह कोई विचारणीय बात नहीं है। अतः इसका दुःख तुम अपने मनसे निकाल दो ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादतित्वरम् ।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥ १६ ॥

'श्रीराम! तुम जबतक अत्यन्त उतावलीके साथ इस नगरसे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान अथवा भोजन नहीं करेंगे' ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।
मूर्च्छितो न्यपतत् तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

कैकेयीकी यह बात सुनकर शोकमें डूबे हुए राजा दशरथ लंबी साँस खींचकर बोले—'धिक्कार है! हाय! बड़ा कष्ट हुआ!' इतना कहकर वे मूर्च्छित हो उस सुवर्णभूषित पलंगपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकय्याभिप्रचोदितः ।
कशयेव हतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

उस समय श्रीरामने राजाको उठाकर बैठा दिया और कैकेयीसे प्रेरित हो कोड़ेकी चोट खाये हुए घोड़ेकी भाँति वे शीघ्रतापूर्वक वनको जानेके लिये उतावले हो उठे ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् ।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

अनार्या कैकेयीके उस अप्रिय एवं दारुण वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें व्यथा नहीं हुई। वे कैकेयीसे बोले—॥ १९ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥

'देवि! मैं धनका उपासक होकर संसारमें नहीं रहना चाहता। तुम विश्वास रखो! मैंने भी ऋषियोंकी ही भाँति निर्मल धर्मका आश्रय ले रखा है ॥ २० ॥

यत् तत्र भवतः किंचिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

'पूज्य पिताजीका जो भी प्रिय कार्य मैं कर सकता हूँ, उसे प्राण देकर भी करूँगा। तुम उसे सर्वथा मेरे द्वारा हुआ ही समझो ॥ २१ ॥

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

'पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन करना, जैसा महत्त्वपूर्ण धर्म है, उससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्र भवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

'यद्यपि पूज्य पिताजीने स्वयं मुझसे नहीं कहा है, तथापि मैं तुम्हारे ही कहनेसे चौदह वर्षोंतक इस भूतलपर निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान् ।
यद् राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥ २४ ॥

'कैकेयि! तुम्हारा मुझपर पूरा अधिकार है। मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सकता हूँ; फिर भी तुमने स्वयं मुझसे न कहकर इस कार्यके लिये महाराजसे कहा—इनको कष्ट दिया। इससे जान पड़ता है कि तुम मुझमें कोई गुण नहीं देखती हो ॥ २४ ॥

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद् वनम् ॥ २५ ॥

'अच्छा! अब मैं माता कौसल्यासे आज्ञा ले लूँ और सीताको भी समझा-बुझा लूँ, इसके बाद आज ही विशाल दण्डकवनकी यात्रा करूँगा ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद् राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

'तुम ऐसा प्रयत्न करना, जिससे भरत इस राज्यका पालन और पिताजीकी सेवा करते रहें; क्योंकि यही सनातन धर्म है' ॥ २६ ॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता ।
शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर पिताको बहुत दुःख हुआ। वे शोकके आवेगसे कुछ बोल न सके, केवल फूट-फूटकर रोने लगे ॥ २७ ॥

वन्दित्वा चरणौ राज्ञो विसंज्ञस्य पितुस्तदा ।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः ॥ २८ ॥

महातेजस्वी श्रीराम उस समय अचेत पड़े हुए पिता महाराज दशरथ तथा अनार्या कैकेयीके भी चरणोंमें प्रणाम करके उस भवनसे निकले ॥ २८ ॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥

पिता दशरथ और माता कैकेयीकी परिक्रमा करके उस अन्तःपुरसे बाहर निकलकर श्रीराम अपने सुहृदोंसे मिले ॥

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह ।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मण उस अन्यायको देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे थे, तथापि दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर वे चुपचाप श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले गये ॥

अभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।
शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें अब वन जानेकी आकांक्षाका उदय हो गया था, अतः अभिषेकके लिये एकत्र की हुई सामग्रियोंकी प्रदक्षिणा करते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये। उनकी ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया ॥ ३१ ॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति ।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥ ३२ ॥

श्रीराम अविनाशी कान्तिसे युक्त थे, इसलिये उस समय राज्यका न मिलना उन लोककमनीय श्रीरामकी महती शोभामें कोई अन्तर न डाल सका; जैसे चन्द्रमाका क्षीण होना उसकी सहज शोभाका अपकर्ष नहीं कर पाता है ॥ ३२ ॥

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम् ।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥

वे वनमें जानेको उत्सुक थे और सारी पृथ्वीका राज्य छोड़ रहे थे; फिर भी उनके चित्तमें सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त महात्माकी भाँति कोई विकार नहीं देखा गया ॥ ३३ ॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते ।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च ।
प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥

श्रीरामने अपने ऊपर सुन्दर छत्र लगानेकी मनाही कर दी। डुलाये जानेवाले सुसज्जित चँवर भी रोक दिये। वे रथको लौटाकर स्वजनों तथा पुरवासी मनुष्योंको भी विदा करके (आत्मीय जनोंके दुःखसे होनेवाले) दुःखको मनमें ही दबाकर इन्द्रियोंको काबूमें करके यह अप्रिय समाचार सुनानेके लिये माता कौसल्याके महलमें गये। उस समय उन्होंने मनको पूर्णतः वशमें कर रखा था ॥ ३४-३५ ॥

सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाञ्श्रीमतः सत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥ ३६ ॥

जो शोभाशाली मनुष्य सदा सत्यवादी श्रीमान् रामके निकट रहा करते थे, उन्होंने भी उनके मुखपर कोई विकार नहीं देखा ॥ ३६ ॥

उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥

मनको वशमें रखनेवाले महाबाहु श्रीरामने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता उसी तरह नहीं छोड़ी थी, जैसे शरद्-कालका उद्दीप्त किरणोंवाला चन्द्रमा अपने सहज तेजका परित्याग नहीं करता है ॥ ३७ ॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।
मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥

महायशस्वी धर्मात्मा श्रीराम मधुर वाणीसे सब लोगोंका सम्मान करते हुए अपनी माताके समीप गये ॥ ३८ ॥

तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन् दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥

उस समय गुणोंमें श्रीरामकी ही समानता करनेवाले महापराक्रमी भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी अपने मानसिक दुःखको मनमें ही धारण किये हुए श्रीरामके पीछे-पीछे गये ॥

प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदा युतं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम् ।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥ ४० ॥

अत्यन्त आनन्दसे भरे हुए उस भवनमें प्रवेश करके लौकिक दृष्टिसे अपने अभीष्ट अर्थका विनाश हुआ देखकर भी हितैषी सुहृदोंके प्राणोंपर संकट आ जानेकी आशङ्कासे श्रीरामने यहाँ अपने मुखपर कोई विकार नहीं प्रकट होने दिया ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

राजा दशरथकी अन्य रानियोंका विलाप, श्रीरामका कौसल्याजीके भवनमें जाना और उन्हें अपने वनवासकी बात बताना, कौसल्याका अचेत होकर गिरना और श्रीरामके उठा देनेपर उनकी ओर देखकर विलाप करना

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्र निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो महान् जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा॥ १॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम हाथ जोड़े हुए ज्यों ही कैकेयीके महलसे बाहर निकलने लगे, त्यों ही अन्तःपुरमें रहनेवाली राजमहिलाओंका महान् आर्तनाद प्रकट हुआ॥ १॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति॥ २॥

वे कह रही थीं—'हाय! जो पिताके आज्ञा न देनेपर भी समस्त अन्तःपुरके आवश्यक कार्योंमें स्वतः संलग्न रहते थे, जो हमलोगोंके सहारे और रक्षक थे, वे श्रीराम आज वनको चले जायँगे॥ २॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः॥ ३॥

'वे रघुनाथजी जन्मसे ही अपनी माता कौसल्याके प्रति सदा जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही हमारे साथ भी करते थे॥ ३॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन्।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति॥ ४॥

'जो कठोर बात कह देनेपर भी कुपित नहीं होते थे, दूसरोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करनेवाली बातें नहीं बोलते थे तथा जो सभी रूठे हुए व्यक्तियोंको मना लिया करते थे, वे ही श्रीराम आज यहाँसे वनको चले जायँगे॥ ४॥

अबुद्धिर्बत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम्।
यो गतिं सर्वभूतानां परित्यजति राघवम्॥ ५॥

'बड़े खेदकी बात है कि हमारे महाराजकी बुद्धि मारी गयी। ये इस समय सम्पूर्ण जीव-जगत्का विनाश करनेपर तुले हुए हैं, तभी तो ये समस्त प्राणियोंके जीवनाधार श्रीरामका परित्याग कर रहे हैं'॥ ५॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः।
पतिमाचुक्रुशुश्चापि सस्वनं चापि चुक्रुशुः॥ ६॥

इस प्रकार समस्त रानियाँ अपने पतिको कोसने लगीं और बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगीं॥ ६॥

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतासने॥ ७॥

अन्तःपुरका वह भयङ्कर आर्तनाद सुनकर महाराज दशरथने पुत्रशोकसे संतप्त हो लज्जाके मारे बिछौनेमें ही अपनेको छिपा लिया॥ ७॥

रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी॥ ८॥

इधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्रजी स्वजनोंके दुःखसे अधिक खिन्न होकर हाथीके समान लंबी साँस खींचते हुए भाई लक्ष्मणके साथ माताके अन्तःपुरमें गये॥ ८॥

सोऽपश्यत् पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम्।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान् बहून्॥ ९॥

वहाँ उन्होंने उस घरके दरवाजेपर एक परम पूजित वृद्ध पुरुषको बैठा हुआ देखा और दूसरे भी बहुत-से मनुष्य वहाँ खड़े दिखायी दिये॥ ९॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे समुपस्थिताः।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम्॥ १०॥

वे सब-के-सब विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन श्रीरामको देखते ही जय-जयकार करते हुए उनकी सेवामें उपस्थित हुए और उन्हें बधाई देने लगे॥ १०॥

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् वृद्धान् राज्ञाभिसत्कृतान्॥

पहली ड्योढ़ी पार करके जब वे दूसरीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें राजाके द्वारा सम्मानित बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण दिखायी दिये॥ ११॥

प्रणम्य रामस्तान् वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च द्वाररक्षणतत्पराः॥ १२॥

उन वृद्ध ब्राह्मणोंको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजी जब तीसरी ड्योढ़ीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें द्वाररक्षाके कार्यमें लगी हुई बहुत-सी नववयस्का एवं वृद्ध अवस्थावाली स्त्रियाँ दिखायी दीं॥ १२॥

वर्धयित्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः।
न्यवेदयन्त त्वरितं राममातुः प्रियं तदा॥ १३॥

उन्हें देखकर उन स्त्रियोंको बड़ा हर्ष हुआ। श्रीरामको बधाई देकर उन स्त्रियोंने तत्काल महलके भीतर प्रवेश किया और तुरंत ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताको उनके आगमनका प्रिय समाचार सुनाया॥ १३॥

कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत् पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥ १४॥

उस समय देवी कौसल्या पुत्रकी मङ्गलकामनासे रातभर जागकर सवेरे एकाग्रचित्त हो भगवान् विष्णुकी पूजा कर रही थीं ॥ १४ ॥

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥ १५ ॥

वे रेशमी वस्त्र पहनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ निरन्तर व्रतपरायण होकर मङ्गलकृत्य पूर्ण करनेके पश्चात् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक उस समय अग्निमें आहुति दे रही थीं ॥ १५ ॥

प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥

उसी समय श्रीरामने माताके शुभ अन्तःपुरमें प्रवेश करके वहाँ माताको देखा । वे अग्निमें हवन करा रही थीं ॥ १६ ॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत् समुद्यतम्।
दध्यक्षतघृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥ १७ ॥
लाजान् माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं तथा।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥

रघुनन्दनने देखा तो वहाँ देव-कार्यके लिये बहुत-सी सामग्री संग्रह करके रखी हुई है । दही, अक्षत, घी, मोदक, हविष्य, धानका लावा, सफेद माला, खीर, खिचड़ी, समिधा और भरे हुए कलश—ये सब वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥ १७-१८ ॥

तां शुक्लक्षौमसं वीतां व्रतयोगेन कर्शिताम्।
तर्पयन्तीं ददर्शाद्भिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥ १९ ॥

उत्तम कान्तिवाली माता कौसल्या सफेद रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं । वे व्रतके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गयी थीं और इष्टदेवताका तर्पण कर रही थीं । इस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें देखा ॥ १९ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम्।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २० ॥

माताका आनन्द बढ़ानेवाले प्रिय पुत्रको बहुत देरके बाद सामने उपस्थित देख कौसल्यादेवी बड़े हर्षमें भरकर उसकी ओर चलीं, मानो कोई घोड़ी अपने बछेड़ेको देखकर बड़े हर्षसे उसके पास आयी हो ॥ २० ॥

स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥ २१ ॥

श्रीरघुनाथजीने निकट आयी हुई माताके चरणोंमें प्रणाम किया और माता कौसल्याने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया तथा बड़े प्यारसे उनका मस्तक सूँघा ॥ २१ ॥

तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः।
कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ॥ २२ ॥

उस समय कौसल्या देवीने अपने दुर्जय पुत्र श्रीरामचन्द्रजी-से पुत्रस्नेहवश यह प्रिय एवं हितकर बात कही—॥ २२ ॥

वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम्।
प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥ २३ ॥

'बेटा ! तुम धर्मशील, वृद्ध एवं महात्मा राजर्षियोंके समान आयु, कीर्ति और कुलोचित धर्म प्राप्त करो ॥ २३ ॥

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव।
अद्यैव त्वां स धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन ! अब तुम जाकर अपने सत्यप्रतिज्ञ पिता राजाका दर्शन करो । वे धर्मात्मा नरेश आज ही तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे' ॥ २४ ॥

दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः।
मातरं राघवः किंचित् प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत् ॥ २५ ॥

यह कहकर माताने उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया और भोजन करनेको कहा । भोजनके लिये निमन्त्रित होकर श्रीरामने उस आसनका स्पर्शमात्र कर लिया । फिर वे अञ्जलि फैलाकर मातासे कुछ कहनेको उद्यत हुए ॥ २५ ॥

स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तथानतः।
प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २६ ॥

वे स्वभावसे ही विनयशील थे तथा माताके गौरवसे भी उनके सामने नतमस्तक हो गये थे । उन्हें दण्डकारण्यको प्रस्थान करना था, अतः वे उसके लिये आज्ञा लेनेका उपक्रम करने लगे ॥ २६ ॥

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम्।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ॥ २७ ॥

उन्होंने कहा—'देवि ! निश्चय ही तुम्हें मालूम नहीं है, तुम्हारे ऊपर महान् भय उपस्थित हो गया है । इस समय मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, उसे सुनकर तुमको, सीताको और लक्ष्मणको भी दुःख होगा; तथापि कहूँगा ॥ २७ ॥

गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे।
विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ॥ २८ ॥

'अब तो मैं दण्डकारण्यमें जाऊँगा, अतः ऐसे बहुमूल्य आसनकी मुझे क्या आवश्यकता है ? अब मेरे लिये यह कुशकी चटाईपर बैठनेका समय आया है ॥ २८ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥ २९ ॥

'मैं राजभोग्य वस्तुका त्याग करके मुनिकी भाँति कन्द, मूल और फलोंसे जीवन-निर्वाह करता हुआ चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २९ ॥

भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति।
मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम् ॥ ३० ॥

महाराज युवराजका पद भरतको दे रहे हैं और मुझे तपस्वी बनाकर दण्डकारण्यमें भेज रहे हैं ॥ ३० ॥

स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥ ३१ ॥

'अतः चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें रहूँगा और जंगलमें सुलभ होनेवाले वल्कल आदिको धारण करके फल-मूलके आहारसे ही जीवन निर्वाह करता रहूँगा' ॥ ३१ ॥

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥ ३२ ॥

यह अप्रिय बात सुनकर वनमें फरसेसे काटी हुई शालवृक्षकी शाखाके समान कौसल्या देवी सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं, मानो स्वर्गसे कोई देवाङ्गना भूतलपर आ गिरी हो ॥ ३२ ॥

तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव।
रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ॥ ३३ ॥

जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा था—जो दुःख भोगनेके योग्य थीं ही नहीं, उन्हीं माता कौसल्याको कटी हुई कदलीकी भाँति अचेत अवस्थामें भूमिपर पड़ी देख श्रीरामने हाथका सहारा देकर उठाया ॥ ३३ ॥

उपावृत्त्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम्।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ॥ ३४ ॥

जैसे कोई घोड़ी पहले बड़ा भारी बोझ ढो चुकी हो और थकावट दूर करनेके लिये धरतीपर लोट-पोटकर उठी हो, उसी तरह उठी हुई कौसल्याजीके समस्त अङ्गोंमें धूल लिपट गयी थी और वे अत्यन्त दीन दशाको पहुँच गयी थीं। उस अवस्थामें श्रीरामने अपने हाथसे उनके अङ्गोंकी धूल पोंछी ॥ ३४ ॥

सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता।
उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ॥ ३५ ॥

कौसल्याजीने जीवनमें पहले सदा सुख ही देखा था और उसीके योग्य थीं, परंतु उस समय वे दुःखसे कातर हो उठी थीं। उन्होंने लक्ष्मणके सुनते हुए अपने पास बैठे पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ ३५ ॥

यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥ ३६ ॥

'बेटा रघुनन्दन! यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे इस एक ही बातका शोक रहता। आज जो मुझपर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, इसे वन्ध्या होनेपर मुझे नहीं देखना पड़ता ॥ ३६ ॥

एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः।
अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ॥ ३७ ॥

'बेटा! वन्ध्याको एक मानसिक शोक होता है। उसके मनमें यह संताप बना रहता है कि मुझे कोई संतान नहीं है, इसके सिवा दूसरा कोई दुःख उसे नहीं होता ॥ ३७ ॥

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया ॥ ३८ ॥

'बेटा राम! पतिके प्रभुत्वकालमें एक ज्येष्ठ पत्नीको जो कल्याण या सुख प्राप्त होना चाहिये, वह मुझे पहले कभी नहीं देखनेको मिला। सोचती थी, पुत्रके राज्यमें मैं सब सुख देख लूँगी और इसी आशासे मैं अबतक जीती रही ॥ ३८ ॥

सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम्।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥ ३९ ॥

'बड़ी रानी होकर भी मुझे अपनी बातोंसे हृदयको विदीर्ण कर देनेवाली छोटी सौतोंके बहुत-से अप्रिय वचन सुनने पड़ेंगे ॥ ३९ ॥

अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥ ४० ॥

'स्त्रियोंके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा अतः मेरा शोक और विलाप जैसा है, उसका कभी अन्त नहीं है ॥ ४० ॥

त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि ॥ ४१ ॥

'तात! तुम्हारे निकट रहनेपर भी मैं इस प्रकार सौतोंसे तिरस्कृत रही हूँ, फिर तुम्हारे परदेश चले जानेपर मेरी क्या दशा होगी? उस दशामें तो मेरा मरण ही निश्चित है ॥४१॥

अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ॥ ४२ ॥

'पतिकी ओरसे मुझे सदा अत्यन्त तिरस्कार अथवा कड़ी फटकार ही मिली है, कभी प्यार और सम्मान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं कैकेयीकी दासियोंके बराबर अथवा उनसे भी गयी-बीती समझी जाती हूँ ॥ ४२ ॥

यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥ ४३ ॥

'जो कोई मेरी सेवामें रहता या मेरा अनुसरण करता है, वह भी कैकेयीके बेटेको देखकर चुप हो जाता है, मुझसे बात नहीं करता है ॥ ४३ ॥

नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत्।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता ॥ ४४ ॥

'बेटा! इस दुर्गतिमें पड़कर मैं सदा क्रोधी स्वभावके कारण कटुवचन बोलनेवाले उस कैकेयीके मुखको कैसे देख सकूँगी ॥ ४४ ॥

दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव राघव।
अतीतानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन! तुम्हारे उपनयनरूप द्वितीय जन्म लिये सत्रह वर्ष बीत गये (अर्थात् तुम अब सत्ताईस वर्षके हो गये)। अबतक मैं यही आशा लगाये चली आ रही थी कि अब मेरा दुःख दूर हो जायगा ॥ ४५ ॥

तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात्।
विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ॥ ४६ ॥

'राघव! अब इस बुढ़ापेमें इस तरह सौतोंका तिरस्कार और उससे होनेवाले महान् अक्षय दुःखको मैं अधिक कालतक नहीं सह सकती ॥ ४६ ॥

अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम्।
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविका ॥ ४७ ॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान तुम्हारे मनोहर मुखको देखे बिना मैं दुःखिनी दयनीय जीवनवृत्तिसे रहकर कैसे निर्वाह करूँगी ॥

उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः।
दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥ ४८ ॥

'बेटा! (यदि तुझे इस देशसे निकल ही जाना है तो) मुझ भाग्यहीनाने बारंबार उपवास, देवताओंका ध्यान तथा बहुत-से परिश्रमजनक उपाय करके व्यर्थ ही तुम्हारा इतने कष्टसे पालन-पोषण किया है ॥ ४८ ॥

स्थिरं तु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते।
प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥ ४९ ॥

'मैं समझती हूँ कि निश्चय ही यह मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो तुम्हारे बिछोहकी बात सुनकर भी वर्षाकालके नूतन जलके प्रवाहसे टकराये हुए महानदीके कगारकी भाँति फट नहीं जाता है ॥ ४९ ॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते
न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति
प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥ ५० ॥

'निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है, यमराजके घरमें भी मेरे लिये जगह नहीं है, तभी तो जैसे किसी रोती हुई मृगीको सिंह जबरदस्ती उठा ले जाता है, उसी प्रकार यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता है ॥ ५० ॥

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं
न भिद्यते यद् भुवि नो विदीर्यते।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥ ५१ ॥

'अवश्य ही मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है, जो पृथिवीपर पड़नेपर भी न तो फटता है और न टूक-टूक हो जाता है। इसी दुःखसे व्याप्त हुए इस शरीरके भी टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते हैं। निश्चय ही, मृत्युकाल आये बिना किसीका मरण नहीं होता है ॥ ५१ ॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया
सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥ ५२ ॥

'सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि पुत्रके सुखके लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतानकी हित-कामनासे जो तप किया है, वह भी ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति निष्फल हो गया ॥ ५२ ॥

यदि ह्यकाले मरणं यदृच्छया
लभेत कश्चिद् गुरुदुःखकर्शितः।
गताहमद्यैव परेतसंसदं
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥ ५३ ॥

'यदि कोई मनुष्य भारी दुःखसे पीड़ित हो असमयमें भी अपनी इच्छाके अनुसार मृत्यु पा सके तो मैं तुम्हारे बिना अपने बछड़ेसे बिछुड़ी हुई गायकी भाँति आज ही यमराजकी सभामें चली जाऊँ ॥ ५३ ॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवाभिकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥

'चन्द्रमाके समान मनोहर मुख-कान्तिवाले श्रीराम! यदि मेरी मृत्यु नहीं होती है तो तुम्हारे बिना यहाँ व्यर्थ कुत्सित जीवन क्यों बिताऊँ? बेटा! जैसे गौ दुर्बल होनेपर भी अपने बछड़ेके लोभसे उसके पीछे-पीछे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चली चलूँगी' ॥ ५४ ॥

भृशमसुखममर्षिता तदा बहु
विललाप समीक्ष्य राघवम्।
व्यसनमुपनिशाम्य सा महत्
सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किंनरी ॥ ५५ ॥

आनेवाले भारी दुःखको सहनेमें असमर्थ हो महान् संकटका विचार करके सत्यके ध्यानमें बँधे हुए अपने पुत्र श्रीरघुनाथजीकी ओर देखकर माता कौसल्या उस समय बहुत विलाप करने लगीं, मानो कोई किंनरी अपने पुत्रको बन्धनमें पड़ा हुआ देखकर बिलख रही हो ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

लक्ष्मणका रोष, उनका श्रीरामको बलपूर्वक राज्यपर अधिकार कर लेनेके लिये प्रेरित करना तथा श्रीरामका पिताकी आज्ञाके पालनको ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मणको समझाना

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम्।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः॥ १॥

इस प्रकार विलाप करती हुई श्रीराममाता कौसल्यासे अत्यन्त दुखी हुए लक्ष्मणने उस समयके योग्य बात कही—

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद् राघवो वनम्।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत् स्त्रिया वाक्यवशंगतः॥२॥
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः॥ ३॥

'बड़ी माँ! मुझे भी यह अच्छा नहीं लगता कि श्रीराम राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके वनमें जायँ। महाराज तो इस समय स्त्रीकी बातमें आ गये हैं, इसलिये उनकी प्रकृति विपरीत हो गयी है। एक तो वे बूढ़े हैं, दूसरे विषयोंने उन्हें वशमें कर लिया है; अतः कामदेवके वशीभूत हुए वे नरेश कैकेयी-जैसी स्त्रीकी प्रेरणासे क्या नहीं कह सकते हैं?॥ २-३॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम्।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद् वनवासाय राघवः॥ ४॥

'मैं श्रीरघुनाथजीका ऐसा कोई अपराध या दोष नहीं देखता, जिससे इन्हें राज्यसे निकाला जाय और वनमें रहनेके लिये विवश किया जाय॥ ४॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत्॥ ५॥

'मैं संसारमें एक मनुष्यको भी ऐसा नहीं देखता, जो अत्यन्त शत्रु एवं तिरस्कृत होनेपर भी परोक्षमें भी इनका कोई दोष बता सके॥ ५॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम्।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत् पुत्रमकारणात्॥ ६॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाला कौन ऐसा राजा होगा, जो देवताके समान शुद्ध, सरल, जितेन्द्रिय और शत्रुओंपर भी स्नेह रखनेवाले (श्रीराम-जैसे) पुत्रका अकारण परित्याग करेगा?॥ ६॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः।
पुत्रः को हृदये कुर्याद् राजवृत्तमनुस्मरन्॥ ७॥

'जो पुनः बालभाव (विवेकशून्यता) को प्राप्त हो गये हैं, ऐसे राजाके इस वचनको राजनीतिका ध्यान रखनेवाला कौन पुत्र अपने हृदयमें स्थान दे सकता है?॥ ७॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम्॥ ८॥

'रघुनन्दन! जब तक कोई भी मनुष्य आपके वनवासकी बातको नहीं जानता है, तबतक ही, आप मेरी सहायतासे इस राज्यके शासनकी बागडोर अपने हाथमें ले लीजिये॥ ८॥

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः॥ ९॥

'रघुवीर! जब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करता रहूँ और आप कालके समान युद्धके लिये डट जायँ, उस समय आपसे अधिक पौरुष प्रकट करनेमें कौन समर्थ हो सकता है?॥ ९॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये॥ १०॥

'नरश्रेष्ठ! यदि नगरके लोग विरोधमें खड़े होंगे तो मैं अपने तीखे बाणोंसे सारी अयोध्याको मनुष्योंसे सूनी कर दूँगा॥ १०॥

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति।
सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते॥ ११॥

'जो-जो भरतका पक्ष लेगा अथवा केवल जो उन्हींका हित चाहेगा, उन सबका मैं वध कर डालूँगा; क्योंकि जो कोमल या नम्र होता है, उसका सभी तिरस्कार करते हैं॥ ११॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि नः पिता।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि॥ १२॥

'यदि कैकेयीके प्रोत्साहन देनेपर उसके ऊपर संतुष्ट हो पिताजी हमारे शत्रु बन रहे हैं तो हमें भी मोह-ममता छोड़कर इन्हें कैद कर लेना या मार डालना चाहिये॥ १२॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥ १३॥

'क्योंकि यदि गुरु भी घमंडमें आकर कर्तव्या-कर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक हो जाता है॥ १३॥

बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषोत्तम।
दातुमिच्छति कैकेय्यै उपस्थितमिदं तव॥ १४॥

'पुरुषोत्तम! राजा किस बलका सहारा लेकर अथवा किस कारणको सामने रखकर आपको न्यायतः प्राप्त हुआ यह राज्य अब कैकेयीको देना चाहते हैं॥ १४॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥ १५॥

'शत्रुदमन श्रीराम ! आपके और मेरे साथ भारी वैर बाँधकर इनकी क्या शक्ति है कि यह राज्यलक्ष्मी ये भरतको दे दें ॥ १५ ॥

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥ १६ ॥

'देवि ! (बड़ी माँ !) मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञ आदिकी शपथ खाकर तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि मेरा अपने पूज्य भ्राता श्रीराममें हार्दिक अनुराग है ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

'देवि ! आप विश्वास रक्खें, यदि श्रीराम जलती हुई आगमें या घोर वनमें प्रवेश करनेवाले होंगे तो मैं इनसे भी पहले उसमें प्रविष्ट हो जाऊँगा ॥ १७ ॥

हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

'इस समय आप, रघुनाथजी तथा अन्य सब लोग भी मेरे पराक्रमको देखें । जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्तिसे आपके सब दुःख दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

'जो कैकेयीमें आसक्तचित्त होकर दीन बन गये हैं, बालभाव (अविवेक) में स्थित हैं और अधिक बुढ़ापेके कारण निन्दित हो रहे हैं, उन वृद्ध पिताको मैं अवश्य मार डालूँगा ॥ १९ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
उवाच रामं कौसल्या रुदती शोकलालसा ॥ २० ॥

महामनस्वी लक्ष्मणके ये ओजस्वी वचन सुनकर शोकमग्न कौसल्या श्रीरामसे रोती हुई बोलीं—॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

'बेटा ! तुमने अपने भाई लक्ष्मणकी कही हुई सारी बातें सुन लीं, यदि जँचे तो अब इसके बाद तुम जो कुछ करना उचित समझो, उसे करो ॥ २१ ॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् ।
विहाय शोकसंतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

'मेरी सौतकी कही हुई अधर्मयुक्त बात सुनकर मुझ शोकसे संतप्त हुई माताको छोड़कर तुम्हें यहाँसे नहीं जाना चाहिये ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि ।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

'धर्मिष्ठ ! तुम धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये यदि धर्मका पालन करना चाहो तो यहीं रहकर मेरी सेवा करो और इस प्रकार परम उत्तम धर्मका आचरण करो ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्र स्वगृहे नियतो वसन् ।
परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

'वत्स ! अपने घरमें नियमपूर्वक रहकर माताकी सेवा करनेवाले काश्यप उत्तम तपस्यासे युक्त हो स्वर्गलोकमें चले गये थे ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

'जैसे गौरवके कारण राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ । मैं तुम्हें वन जानेकी आज्ञा नहीं देती, अतः तुम्हें यहाँसे वनको नहीं जाना चाहिये ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन च ।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

'तुम्हारे साथ तिनके चबाकर रहना भी मेरे लिये श्रेयस्कर है, परंतु तुमसे विलग हो जानेपर न मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन है और न सुखसे ॥ २६ ॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥

'यदि तुम मुझे शोकमें डूबी हुई छोड़कर वनको चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राण त्याग दूँगी । जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ २७ ॥

ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

'बेटा ! ऐसा होनेपर तुम संसारप्रसिद्ध वह नरकतुल्य कष्ट पाओगे, जो ब्रह्महत्याके समान है और जिसे सरिताओंके स्वामी समुद्रने अपने अधर्मके फलरूपसे प्राप्त किया था* ॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः ।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

माता कौसल्याको इस प्रकार दीन होकर विलाप करती देख धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रने यह धर्मयुक्त वचन कहा—॥ २९ ॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

'माता ! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ । मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है, अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

* किसी कल्पमें समुद्रने अपनी माताको दुःख दिया था, उससे पिप्पलाद नामक ब्रह्मर्षिने उस अधर्मका दण्ड देनेके लिये उसके ऊपर एक कृत्याका प्रयोग किया । इससे समुद्रको नरकवास-तुल्य महान् दुःख भोगना पड़ा था ।

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा।
गौर्हता जानताधर्मं कण्डुना च विपश्चिता ॥ ३१ ॥

'वनवासी विद्वान् कण्डु मुनिने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अधर्म समझते हुए भी गौका वध कर डाला था ॥ ३१ ॥

अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान् वधः ॥ ३२ ॥

'हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं, जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए बुरी तरहसे मारे गये ॥ ३२ ॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम्।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात् ॥ ३३ ॥

'जमदग्निके पुत्र परशुरामने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही वनमें फरसेसे अपनी माता रेणुकाका गला काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम्।
पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

'देवि ! इन्होंने तथा और भी बहुत-से देवतुल्य मनुष्योंने उत्साहके साथ पिताके आदेशका पालन किया है। अतः मैं भी कायरता छोड़कर पिताका हित-साधन करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम्।
एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

'देवि ! केवल मैं ही इस प्रकार पिताके आदेशका पालन नहीं कर रहा हूँ। जिनकी मैंने अभी चर्चा की है, उन सबने भी पिताके आदेशका पालन किया है ॥ ३५ ॥

नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

'मा ! मैं तुम्हारे प्रतिकूल किसी नवीन धर्मका प्रचार नहीं कर रहा हूँ। पूर्वकालके धर्मात्मा पुरुषोंको भी यह अभीष्ट था। मैं तो उनके चले हुए मार्गका ही अनुसरण करता हूँ ॥ ३६ ॥

तदेतत् तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा।
पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

'इस भूमण्डलपर जो सबके लिये करने योग्य है वही मैं भी करने जा रहा हूँ। इसके विपरीत कोई न करने योग्य काम नहीं कर रहा हूँ। पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला कोई भी पुरुष धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता' ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत्।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥

अपनी मातासे ऐसा कहकर वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ समस्त धनुर्धरशिरोमणि श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा— ॥

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

'लक्ष्मण ! मेरे प्रति तुम्हारा जो परम उत्तम स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजका भी मुझे ज्ञान है ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥ ४० ॥

शुभलक्षण लक्ष्मण ! मेरी माताको जो अनुपम एवं महान् दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरे अभिप्रायको न समझनेके कारण है ॥ ४० ॥

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

'संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है। पिताजीका यह वचन भी धर्मके आश्रित होनेके कारण परम उत्तम है ॥ ४१ ॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥ ४२ ॥

'वीर ! धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता, माता अथवा ब्राह्मणके वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥ ४३ ॥

'वीर ! अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता; क्योंकि पिताजीके कहनेसे ही कैकेयीने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दी है ॥ ४३ ॥

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥ ४४ ॥

'इसलिये केवल क्षात्रधर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो, धर्मका आश्रय लो, कठोरता छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो' ॥ ४४ ॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥ ४५ ॥

अपने भाई लक्ष्मणसे सौहार्दवश ऐसी बात कहकर उनके बड़े भ्राता श्रीरामने पुनः कौसल्याके चरणोंमें मस्तक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा— ॥ ४५ ॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥ ४६ ॥

'देवि ! मैं यहाँसे वनको जाऊँगा। तुम मुझे आज्ञा दो और स्वस्तिवाचन कराओ। यह बात मैं अपने प्राणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ ॥ ४६ ॥

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात् पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥ ४७ ॥

'जैसे पूर्वकालमें राजर्षि ययाति स्वर्गलोकका त्याग करके पुनः भूतलपर उतर आये थे, उसी प्रकार मैं भी प्रतिज्ञा पूर्ण करके पुनः वनसे अयोध्यापुरीको लौट आऊँगा ॥ ४७ ॥

शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः ।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥

'मा ! शोकको अपने हृदयमें ही अच्छी तरह दबाये रक्खो । शोक न करो । पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं फिर वनवाससे यहाँ लौट आऊँगा ॥ ४८ ॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥

'तुमको, मुझको, सीताको, लक्ष्मणको और माता सुमित्राको भी पिताजीकी आज्ञामें ही रहना चाहिये । यही सनातन धर्म है ॥ ४९ ॥

अम्ब सम्भृत्य सम्भारान् दुःखं हृदि निगृह्य च ।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

'मा ! यह अभिषेककी सामग्री ले जाकर रख दो । अपने मनका दुःख मनमें ही दबा लो और वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा धर्मानुकूल विचार है, उसका अनुसरण करो—मुझे जानेकी आज्ञा दो' ॥ ५० ॥

एतद् वचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह धर्मानुकूल तथा व्यग्रता और आकुलतासे रहित बात सुनकर जैसे मरे हुए मनुष्यमें प्राण आ जाय, उसी प्रकार देवी कौसल्या मूर्च्छा त्यागकर होशमें आ गयीं तथा अपने पुत्र श्रीरामकी ओर देखकर इस प्रकार कहने लगीं—॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वानुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥ ५२ ॥

'बेटा ! धर्म और सौहार्दके नाते जैसे पिता तुम्हारे लिये आदरणीय गुरुजन हैं, वैसी ही मैं भी हूँ । मैं तुम्हें वनमें जानेकी आज्ञा नहीं देती । वत्स ! मुझ दुखियाको छोड़कर तुम्हें कहीं नहीं जाना चाहिये ॥ ५२ ॥

किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधयामृतेन ।
श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं
ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात् ॥ ५३ ॥

'तुम्हारे बिना मुझे यहाँ इस जीवनसे क्या लाभ है ? इन स्वजनोंसे, देवता तथा पितरोंकी पूजासे और अमृतसे भी क्या लेना है ? तुम दो घड़ी भी मेरे पास रहो तो वही मेरे लिये सम्पूर्ण संसारके राज्यसे भी बढ़कर सुख देनेवाला है' ॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमभिप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेवं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई विशाल गजराज किसी अन्धकूपमें पड़ जाय और लोग उसे जलते लुआठोंसे मार-मारकर पीड़ित करने लगें, उस दशामें वह क्रोधसे जल उठे; उसी प्रकार श्रीराम भी माताका बारंबार करुण-विलाप सुनकर (इसे स्वधर्म-पालनमें बाधा मानकर) आवेशमें भर गये (वनमें जानेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया) ॥ ५४ ॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥

उन्होंने धर्ममें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अचेत-सी हो रही मातासे और आर्त एवं संतप्त हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे भी ऐसी धर्मानुकूल बात कही, जैसी उस अवसरपर वे ही कह सकते थे ॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मा सुदुःखम् ॥ ५६ ॥

'लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो और तुम्हारा पराक्रम कितना महान् है, यह भी मुझसे छिपा नहीं है; तथापि तुम मेरे अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर माताजीके साथ स्वयं भी मुझे पीड़ा दे रहे हो । इस तरह मुझे अत्यन्त दुःखमें न डालो ॥ ५६ ॥

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥

'इस जीवजगत्में पूर्वकृत धर्मके फलकी प्राप्तिके अवसरोंपर जो धर्म, अर्थ और काम तीनों देखे गये हैं, वे सब-के-सब जहाँ धर्म है, वहाँ अवश्य प्राप्त होते हैं—इसमें संशय नहीं है; ठीक उसी तरह जैसे भार्या धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी साधन होती है । वह पतिके वशीभूत या अनुकूल रहकर अतिथि-सत्कार आदि धर्मके पालनमें सहायक होती है । प्रेयसी

रूपसे कामका साधन बनती है और पुत्रवती होकर उत्तम लोककी प्राप्तिरूप अर्थकी साधिका होती है ॥ ५७ ॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥ ५८ ॥

'जिस कर्ममें धर्म आदि सब पुरुषार्थोंका समावेश न हो, उसको नहीं करना चाहिये। जिससे धर्मकी सिद्धि होती हो, उसीका आरम्भ करना चाहिये। जो केवल अर्थपरायण होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है तथा धर्मविरुद्ध काममें अत्यन्त आसक्त होना प्रशंसा नहीं निन्दाकी बात है ॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात् प्रहर्षादथवापि कामात् ।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

'महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही बड़े-बूढ़े माननीय पुरुष हैं। वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामसे प्रेरित होकर भी यदि किसी कार्यके लिये आज्ञा दें तो हमें धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये। जिसके आचरणोंमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष पिताकी आज्ञाके पालनरूप धर्मका आचरण नहीं करेगा ॥ ५९ ॥

न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमां न कर्तुं सकलां यथावत् ।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः ॥ ६० ॥

'इसलिये मैं पिताकी इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता। तात लक्ष्मण! वे हम दोनोंको आज्ञा देनेमें समर्थ गुरु हैं और माताजीके तो वे ही पति, गति तथा धर्म हैं ॥ ६० ॥

तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।
देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्
कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥

'वे धर्मके प्रवर्तक महाराज अभी जीवित हैं और विशेषतः अपने धर्ममय मार्गपर स्थित हैं, ऐसी दशामें माताजी, जैसे दूसरी कोई विधवा स्त्री बेटेके साथ रहती है, उस प्रकार मेरे साथ यहाँसे वनमें कैसे चल सकती हैं ? ॥ ६१ ॥

सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥ ६२ ॥

'अतः देवि! तुम मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दो और हमारे मङ्गलके लिये स्वस्तिवाचन कराओ, जिससे वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर मैं फिर तुम्हारी सेवामें आ जाऊँ। जैसे राजा ययाति सत्यके प्रभावसे फिर स्वर्गमें लौट आये थे ॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकालेन तु देवि जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥

'केवल धर्महीन राज्यके लिये मैं महान् फलदायक धर्मपालनरूप सुयशको पीछे नहीं ढकेल सकता। मा! जीवन अधिक कालतक रहनेवाला नहीं है; इसके लिये मैं आज अधर्मपूर्वक इस तुच्छ पृथ्वीका राज्य लेना नहीं चाहता' ॥

प्रसादयन्नरवृषभः स मातरं
पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं
चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणम् ॥ ६४ ॥

इस प्रकार नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने धैर्यपूर्वक दण्डकारण्यमें जानेकी इच्छासे माताको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया तथा अपने छोटे भाई लक्ष्मणको भी अपने विचारके अनुसार भलीभाँति धर्मका रहस्य समझाकर मन-ही-मन माताकी परिक्रमा करनेका संकल्प किया ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणको समझाते हुए अपने वनवासमें दैवको ही कारण बताना और अभिषेककी सामग्रीको हटा लेनेका आदेश देना

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम् ।
सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

(श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण) सुमित्राकुमार लक्ष्मण मानसिक व्यथासे बहुत दुःखी थे।

उनके मनमें विशेष अमर्ष भरा हुआ था। वे रोषसे भरे हुए गजराजकी भाँति क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। अपने मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम धैर्यपूर्वक चित्तको निर्विकाररूपसे काबूमें रखते हुए अपने हितैषी सुहृद् प्रिय भाई लक्ष्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ १-२ ॥

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम्।
अवमानं निरस्यैनं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम्॥ ३ ॥
उपक्लृप्तं यदेतन्मे अभिषेकार्थमुत्तमम्।
सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम्॥ ४ ॥

'लक्ष्मण! केवल धैर्यका आश्रय लेकर अपने मनके क्रोध और शोकको दूर करो, चित्तसे अपमानकी भावना निकाल दो और हृदयमें भलीभाँति हर्ष भरकर मेरे अभिषेकके लिये यह जो उत्तम सामग्री एकत्र की गयी है, इसे शीघ्र हटा दो और ऐसा कार्य करो, जिससे मेरे वनगमनमें बाधा उपस्थित न हो॥ ३-४ ॥

सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः॥ ५ ॥

'सुमित्रानन्दन! अबतक अभिषेकके लिये सामग्री जुटानेमें जो तुम्हारा उत्साह था, वह इसे रोकने और मेरे वन जानेकी तैयारी करनेमें होना चाहिये॥ ५ ॥

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु॥ ६ ॥

'मेरे अभिषेकके कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे किसी तरहकी शङ्का न रह जाय, वही काम करो॥ ६ ॥

तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥ ७ ॥

'लक्ष्मण! उसके मनमें संदेहके कारण दुःख उत्पन्न हो इस बातको मैं दो घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता और न इसकी उपेक्षा ही कर सकता हूँ॥ ७ ॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥ ८ ॥

'मैंने यहाँ कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओंका अथवा पिताजीका कोई छोटा-सा भी अपराध किया हो, ऐसा याद नहीं आता॥ ८ ॥

सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम॥ ९ ॥

'पिताजी सदा सत्यवादी और सत्यपराक्रमी रहे हैं। वे परलोकके भयसे सदा डरते रहते हैं; इसलिये मुझे वही काम करना चाहिये, जिससे मेरे पिताजीका पारलौकिक भय दूर हो जाय॥ ९ ॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम्॥ १० ॥

'यदि इस अभिषेकसम्बन्धी कार्यको रोक नहीं दिया गया तो पिताजीको भी मन-ही-मन यह सोचकर संताप होगा कि मेरी बात सच्ची नहीं हुई और उनका वह मनस्ताप मुझे सदा संतप्त करता रहेगा॥ १० ॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात् संहृत्य लक्ष्मण।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः॥ ११ ॥

'लक्ष्मण! इन्हीं सब कारणोंसे मैं अपने अभिषेकका कार्य रोककर शीघ्र ही इस नगरसे वनको चला जाना चाहता हूँ॥

मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः॥ १२ ॥

'आज मेरे चले जानेसे कृतकृत्य हुई राजकुमारी कैकेयी अपने पुत्र भरतका निर्भय एवं निश्चिन्त होकर अभिषेक करावे॥ १२ ॥

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम्॥ १३ ॥

'मैं वल्कल और मृगचर्म धारण करके सिरपर जटाजूट बाँधे जब वनको चला जाऊँगा, तभी कैकेयीके मनको सुख प्राप्त होगा॥ १३ ॥

बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम्।
तं नु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम्॥ १४ ॥

'जिस विधाताने कैकेयीको ऐसी बुद्धि प्रदान की है तथा जिसकी प्रेरणासे उसका मन मुझे वन भेजनेमें अत्यन्त दृढ़ हो गया है, उसे विफलमनोरथ करके कष्ट देना मेरे लिये उचित नहीं है॥ १४ ॥

कृतान्त एव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने॥ १५ ॥

'सुमित्राकुमार! मेरे इस प्रवासमें तथा पिताद्वारा दिये हुए राज्यके फिर हाथसे निकल जानेमें दैवको ही कारण समझना चाहिये॥ १५ ॥

कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने।
यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥ १६ ॥

'मेरी समझसे कैकेयीका यह विपरीत मनोभाव दैवका ही विधान है। यदि ऐसा न होता तो वह मुझे वनमें भेजकर पीड़ा देनेका विचार क्यों करती?॥ १६ ॥

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम्।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा॥ १७ ॥

'सौम्य! तुम तो जानते ही हो कि मेरे मनमें पहले भी कभी माताओंके प्रति भेदभाव नहीं हुआ और कैकेयी भी पहले मुझमें या अपने पुत्रमें कोई अन्तर नहीं समझती थी॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद् दैवात् समर्थये॥ १८ ॥

'मेरे अभिषेकको रोकने और मुझे वनमें भेजनेके लिये उसने राजाको प्रेरित करनेके निमित्त जिन भयंकर और कटुवचनों-का प्रयोग किया है, उन्हें साधारण मनुष्योंके लिये भी मुँहसे निकालना कठिन है। उसकी ऐसी चेष्टामें मैं दैवके सिवा दूसरे किसी कारणका समर्थन नहीं करता ॥ १८ ॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा।
ब्रूयात् सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीड्यं भर्तृसंनिधौ ॥ १९ ॥

'यदि ऐसी बात न होती तो वैसे उत्तम स्वभाव और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमारी कैकेयी एक साधारण स्त्रीकी भाँति अपने पतिके समीप मुझे पीड़ा देनेवाली बात कैसे कहती—मुझे कष्ट देनेके लिये रामको वनमें भेजनेका प्रस्ताव कैसे उपस्थित करती ? ॥ १९ ॥

यदचिन्त्यं तु तद् दैवं भूतेष्वपि न हन्यते।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥ २० ॥

'जिसके विषयमें कभी कुछ सोचा न गया हो, वही दैवका विधान है। प्राणियोंमें अथवा उनके अधिष्ठाता देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो उस दैवके विधानको मेट सके; अतः निश्चय ही उसीकी प्रेरणासे मुझमें और कैकेयीमें यह भारी उलट-फेर हुआ है (मेरे हाथमें आया हुआ राज्य चला गया और कैकेयीकी बुद्धि बदल गयी) ॥ २० ॥

कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य नु ग्रहणं किंचित् कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते ॥ २१ ॥

'सुमित्रानन्दन ! कर्मोंके सुख-दुःखादिरूप फल प्राप्त होनेपर ही जिसका ज्ञान होता है, कर्मफलसे अन्यत्र कहीं भी जिसका पता नहीं चलता, उस दैवके साथ कौन पुरुष युद्ध कर सकता है ? ॥ २१ ॥

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २२ ॥

'सुख-दुःख, भय-क्रोध (क्षोभ), लाभ-हानि, उत्पत्ति और विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने परिणाम प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब दैवके ही कर्म हैं ॥ २२ ॥

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥ २३ ॥

'उग्र तपस्वी ऋषि भी दैवसे प्रेरित होकर अपने तीव्र नियमोंको छोड़ बैठते और काम-क्रोधके द्वारा विवश हो मर्यादासे भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २४ ॥

जो बात बिना सोचे-विचारे अकस्मात् सिरपर आ पड़ती है और प्रयत्नोंद्वारा आरम्भ किये हुए कार्यको रोककर एक नया ही काण्ड उपस्थित कर देती है, अवश्य वह दैवका ही विधान है ॥ २४ ॥

एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥ २५ ॥

'इस तात्त्विक बुद्धिके द्वारा स्वयं ही मनको स्थिर कर लेनेके कारण मुझे अपने अभिषेकमें विघ्न पड़ जानेपर भी दुःख या संताप नहीं हो रहा है ॥ २५ ॥

तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम्।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम् ॥ २६ ॥

'इसी प्रकार तुम भी मेरे विचारका अनुसरण करके संतापशून्य हो राज्याभिषेकके इस आयोजनको शीघ्र बंद करा दो ॥ २६ ॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसम्भृतैः।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥ २७ ॥

'लक्ष्मण ! राज्याभिषेकके लिये सँजोकर रखे गये इन्हीं सब कलशोंद्वारा मेरा तापस-व्रतके संकल्पके लिये आवश्यक स्नान होगा ॥ २७ ॥

अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥ २८ ॥

'अथवा राज्याभिषेकसम्बन्धी मङ्गल द्रव्यमय इस कलशजलकी मुझे क्या आवश्यकता है ? स्वयं मेरे द्वारा अपने हाथसे निकाला हुआ जल ही मेरे व्रतादेशका साधक होगा ॥

मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ २९ ॥

'लक्ष्मण ! लक्ष्मीके इस उलट-फेरके विषयमें तुम कोई चिन्ता न करो। मेरे लिये राज्य अथवा वनवास दोनों समान हैं, बल्कि विशेष विचार करनेपर वनवास ही महान् अभ्युदय-कारी प्रतीत होता है ॥ २९ ॥

न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने
माता यवीयस्यभिशङ्कितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचि-
ज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम् ॥ ३० ॥

'लक्ष्मण ! मेरे राज्याभिषेकमें जो विघ्न आया है, इसमें मेरी सबसे छोटी माता कारण है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह दैवके अधीन थी। इसी प्रकार पिताजी भी किसी तरह इसमें कारण नहीं हैं। तुम तो दैव और उसके अद्भुत प्रभावको जानते ही हो, वही कारण है' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकि निर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २२ ॥

त्रयोविंशः सर्गः

लक्ष्मणकी ओजभरी बातें, उनके द्वारा दैवका खण्डन और पुरुषार्थका प्रतिपादन तथा उनका श्रीरामके अभिषेकके निमित्त विरोधियोंसे लोहा लेनेके लिये उद्यत होना

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽवाक्शिरा इव ।
ध्यात्वा मध्यं जगामाशु सहसा दैन्यहर्षयोः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय लक्ष्मण सिर झुकाये कुछ सोचते रहे; फिर सहसा शीघ्रतापूर्वक वे दुःख और हर्षके बीचकी स्थितिमें आ गये (श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण उन्हें दुःख हुआ और उनकी धर्ममें दृढ़ता देखकर प्रसन्नता हुई) ॥ १ ॥

तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।
निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ लक्ष्मणने उस समय ललाटमें भौंहोंको चढ़ाकर लंबी साँस खींचना आरम्भ किया, मानो बिलमें बैठा हुआ महान् सर्प रोषमें भरकर फुंकार मार रहा हो ॥ २ ॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद् भ्रुकुटीसहितं तदा ।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

तनी हुई भौंहोंके साथ उस समय उनका मुख कुपित हुए सिंहके मुखके समान जान पड़ता था, उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था ॥ ३ ॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्ती हस्तमिवात्मनः ।
तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।

जैसे हाथी अपनी सूँड हिलाया करता है, उसी प्रकार वे अपने दाहिने हाथको हिलाते और गर्दनको शरीरमें ऊपर-नीचे और अगल-बगल सब ओर घुमाते हुए नेत्रोंके अग्रभागसे टेढ़ी नजरोंद्वारा अपने भाई श्रीरामको देखकर उनसे बोले—॥ ४½ ॥

अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥
धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया ।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥
यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः ।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥ ७ ॥

'भैया ! आप समझते हैं कि यदि पिताकी इस आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं वनको न जाऊँ तो धर्मके विरोधका प्रसङ्ग उपस्थित होता है, इसके सिवा लोगोंके मनमें यह बड़ी भारी शङ्का उठ खड़ी होगी कि जो पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह यदि राजा ही हो जाय तो हमारा धर्मपूर्वक पालन कैसे करेगा ? साथ ही आप यह भी सोचते हैं कि यदि मैं पिताकी इस आज्ञाका पालन नहीं करूँ तो दूसरे लोग भी नहीं करेंगे। इस प्रकार धर्मकी अवहेलना होनेसे जगत्के विनाशका भय उपस्थित होगा। इन सब दोषों और शङ्काओंका निराकरण करनेके लिये आपके मनमें वनगमनके प्रति जो यह बड़ा भारी सम्भ्रम (उतावलापन) आ गया है, यह सर्वथा अनुचित एवं भ्रममूलक ही है; क्योंकि आप असमर्थ 'दैव' नामक तुच्छ वस्तुको प्रबल बता रहे हैं। दैवका निराकरण करनेमें समर्थ आप-जैसा क्षत्रियशिरोमणि वीर यदि भ्रममें नहीं पड़ गया होता तो ऐसी बात कैसे कह सकता था ? अतः असमर्थ पुरुषोंद्वारा ही अपनाये जाने योग्य और पौरुषके निकट कुछ भी करनेमें असमर्थ 'दैव' की आप साधारण मनुष्यके समान इतनी स्तुति या प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ? ॥ ५—७ ॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते ।
सन्ति धर्मोपधासक्ता धर्मात्मन् किं न बुध्यसे ॥ ८ ॥

'धर्मात्मन् ! आपको उन दोनों पापियोंपर संदेह क्यों नहीं होता ? संसारमें कितने ही ऐसे पापासक्त मनुष्य हैं, जो दूसरोंको ठगनेके लिये धर्मका ढोंग बनाये रहते हैं, क्या आप उन्हें नहीं जानते हैं ? ॥ ८ ॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात् परिजिहीर्षतोः ।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव ।
तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद् वरः प्रकृतश्च सः ॥ ९ ॥

रघुनन्दन ! वे दोनों अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये शठतावश धर्मके बहाने आप-जैसे सच्चरित्र पुरुषका परित्याग करना चाहते हैं। यदि उनका ऐसा विचार न होता तो जो कार्य आज हुआ है, वह पहले ही हो गया होता। यदि वरदानवाली बात सच्ची होती तो आपके अभिषेकका कार्य प्रारम्भ होनेसे पहले ही इस तरहका वर दे दिया गया होता ॥ ९ ॥

लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ।
नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

(गुणवान् ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटेका अभिषेक करना) यह लोकविरुद्ध कार्य है, जिसका आज आरम्भ किया गया है। आपके सिवा दूसरे किसीका राज्याभिषेक हो, यह मुझसे सहन नहीं होनेका। इसके लिये आप मुझे क्षमा करेंगे ॥ १० ॥

येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ।
सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसङ्गाद् विमुह्यसि ॥ ११ ॥

'महामते ! पिताके जिस वचनको मानकर आप मोहमें

पड़े हुए हैं और जिसके कारण आपकी बुद्धिमें दुविधा उत्पन्न हो गयी है, मैं उसे धर्म माननेका पक्षपाती नहीं हूँ; ऐसे धर्मका तो मैं घोर विरोध करता हूँ ॥ ११ ॥

कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ।
करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ॥ १२ ॥

'आप अपने पराक्रमसे सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी कैकेयीके वशमें रहनेवाले पिताके अधर्मपूर्ण एवं निन्दित वचनका पालन कैसे करेंगे ? ॥ १२ ॥

यदयं किल्बिषाद् भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ।
जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ॥ १३ ॥

वरदानकी झूठी कल्पनाका पाप करके आपके अभिषेकमें रोड़ा अटकाया गया है, फिर भी आप इस रूपमें नहीं ग्रहण करते हैं । इसके लिये मेरे मनमें बड़ा दुःख होता है । ऐसे कपटपूर्ण धर्मके प्रति होनेवाली आसक्ति निन्दित है ॥ १३ ॥

तवायं धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः ।
मनसापि कथं कामं कुर्यात् त्वां कामवृत्तयोः ।
तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ॥ १४ ॥

'ऐसे पाखण्डपूर्ण धर्मके पालनमें जो आपकी प्रवृत्ति हो रही है, वह यहाँके जनसमुदायकी दृष्टिमें निन्दित है । आपके सिवा दूसरा कोई पुरुष सदा पुत्रका अहित करनेवाले, पिता-माता नामधारी उन कामाचारी शत्रुओंके मनोरथको मनसे भी कैसे पूर्ण कर सकता है (उसकी पूर्तिका विचार भी मनमें कैसे ला सकता है ?) ॥ १४ ॥

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ।
तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ॥ १५ ॥

'माता-पिताके इस विचारको कि—'आपका राज्याभिषेक न हो' जो आप दैवकी प्रेरणाका फल मानते हैं, यह भी मुझे अच्छा नहीं लगता । यद्यपि वह आपका मत है, तथापि आपको उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥ १६ ॥

'जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही दैवका भरोसा करता है ! सारा संसार जिन्हें आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे शक्तिशाली वीर पुरुष दैवकी उपासना नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥ १७ ॥

'जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेमें समर्थ है, वह पुरुष दैवके द्वारा अपने कार्यमें बाधा पड़नेपर खेद नहीं करता—शिथिल होकर नहीं बैठता ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥ १८ ॥

'आज संसारके लोग देखेंगे कि दैवकी शक्ति बड़ी है या पुरुषका पुरुषार्थ । आज दैव और मनुष्यमें कौन बलवान् है और कौन दुर्बल—इसका स्पष्ट निर्णय हो जायगा ॥ १८ ॥

अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः ।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

'जिन लोगोंने दैवके बलसे आज आपके राज्याभिषेकको नष्ट हुआ देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे अवश्य ही दैवका भी विनाश देख लेंगे ॥ १९ ॥

अत्यङ्कुशमिवोद्दामं गजं मदजलोद्धतम् ।
प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥ २० ॥

'जो अङ्कुशकी परवा नहीं करता और रस्से या साँकलको भी तोड़ देता है, मदकी धारा बहानेवाले उस मत्त गजराजकी भाँति वेगपूर्वक दौड़नेवाले दैवको भी आज मैं अपने पुरुषार्थसे पीछे लौटा दूँगा ॥ २० ॥

लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ।
न च कृत्स्नास्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ॥ २१ ॥

'समस्त लोकपाल और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण प्राणी आज श्रीरामके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर केवल पिताजीकी तो बात ही क्या है ? ॥ २१ ॥

यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन् समर्थितः ।
अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥ २२ ॥

'राजन् ! जिन लोगोंने आपसमें आपके वनवासका समर्थन किया है, वे स्वयं चौदह वर्षोंतक वनमें जाकर छिपे रहेंगे ॥ २२ ॥

अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥ २३ ॥

'मैं पिताकी और जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके प्रयत्नमें लगी हुई है, उस कैकेयीकी भी उस आशाको जलाकर भस्म कर डालूँगा ॥ २३ ॥

मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद् दैवबलं तथा ।
प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ॥ २४ ॥

'जो मेरे बलके विरोधमें खड़ा होगा, उसे मेरा भयंकर पुरुषार्थ जैसा दुःख देनेमें समर्थ होगा, वैसा दैवबल उसे सुख नहीं पहुँचा सकेगा ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ।
आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥ २५ ॥

'सहस्रों वर्ष बीतनेके पश्चात् जब आप अवस्थाक्रमसे वनमें निवास करनेके लिये जायँगे, उस समय आपके बाद आपके पुत्र प्रजापालनरूप कार्य करेंगे (अर्थात् उस समय भी दूसरोंको इस राज्यमें दखल देनेका अवसर नहीं प्राप्त होगा) ॥ २५ ॥

पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासोऽभिधीयते ।
प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत् परिपालने ॥ २६ ॥

'पुरातन राजर्षियोंकी आचारपरम्पराके अनुसार प्रजाका पुत्रवत् पालन करनेके निमित्त प्रजावर्गको पुत्रोंके हाथमें सौंपकर वृद्ध राजाका वनमें निवास करना उचित बताया जाता है ॥ २६ ॥

स चेद् राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया ।
नैवमिच्छसि धर्मात्मन् राज्यं राम त्वमात्मनि ॥ २७ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम ! हमारे महाराज वानप्रस्थधर्मके पालनमें चित्तको एकाग्र नहीं कर रहे हैं, इसीलिये यदि आप यह समझते हों कि उनकी आज्ञाके विरुद्ध राज्य ग्रहण कर लेनेपर समस्त जनता विद्रोही हो जायगी, अतः राज्य अपने हाथमें नहीं रह सकेगा और इसी शङ्कासे यदि आप अपने ऊपर राज्यका भार नहीं लेना चाहते हैं अथवा वनमें चले जाना चाहते हैं तो इस शङ्काको छोड़ दीजिये ॥ २७ ॥

प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् ।
राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥ २८ ॥

'वीर ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जैसे तटभूमि समुद्रको रोके रहती है, उसी प्रकार मैं आपकी और आपके राज्यकी रक्षा करूँगा । यदि ऐसा न करूँ तो वीरलोकका भागी न होऊँ ॥ २८ ॥

मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो भव ।
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ॥ २९ ॥

'इसलिये आप मङ्गलमयी अभिषेक-सामग्रीसे अपना अभिषेक होने दीजिये । इस अभिषेकके कार्यमें आप तत्पर हो जाइये । मैं अकेला ही बलपूर्वक समस्त विरोधी भूपालोंको रोक रखनेमें समर्थ हूँ ॥ २९ ॥

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥ ३० ॥

'ये मेरी दोनों भुजाएँ केवल शोभाके लिये नहीं हैं । मेरे इस धनुषका आभूषण नहीं बनेगा । यह तलवार केवल कमरमें बाँधे रखनेके लिये नहीं है तथा इन बाणोंके खम्भे नहीं बनेंगे ॥ ३० ॥

अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतच्चतुष्टयम् ।
न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ॥ ३१ ॥

'ये सब चारों वस्तुएँ शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हैं । जिसे मैं अपना शत्रु समझता हूँ, उसे कदापि जीवित रहने देना नहीं चाहता ॥ ३१ ॥

असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा ।
प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥ ३२ ॥

'जिस समय मैं इस तीखी धारवाली तलवारको हाथमें लेता हूँ, यह बिजलीकी तरह चञ्चल प्रभासे चमक उठती है । इसके द्वारा अपने किसी भी शत्रुको, वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, मैं कुछ नहीं समझता ॥ ३२ ॥

खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे ।
हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ॥ ३३ ॥

'आज मेरे खड्गके प्रहारसे पीस डाले गये हाथी, घोड़े और रथियोंके हाथ, जाँघ और मस्तकोंद्वारा पटी हुई यह पृथ्वी ऐसी गहन हो जायगी कि इसपर चलना-फिरना कठिन हो जायगा ॥ ३३ ॥

खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्नयः ।
पतिष्यन्ति द्विषो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

'मेरी तलवारकी धारसे कटकर रक्तसे लथपथ हुए शत्रु जलती हुई आगके समान जान पड़ेंगे और बिजलीसहित मेघोंके समान आज पृथ्वीपर गिरेंगे ॥ ३४ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ।
कथं पुरुषमानी स्यात् पुरुषाणां मयि स्थिते ॥ ३५ ॥

'अपने हाथोंमें गोहके चर्मसे बने हुए दस्तानेको बाँधकर जब हाथमें धनुष ले मैं युद्धके लिये खड़ा हो जाऊँगा, उस समय पुरुषोंमेंसे कोई भी मेरे सामने कैसे अपने पौरुषपर अभिमान कर सकेगा ? ॥ ३५ ॥

बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन च बहूञ्जनान् ।
विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ॥ ३६ ॥

'मैं बहुत-से बाणोंद्वारा एकको और एक ही बाणसे बहुत-से योद्धाओंको धराशायी करता हुआ मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके मर्मस्थानोंपर बाण मारूँगा ॥ ३६ ॥

अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति ।
राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ॥ ३७ ॥

'प्रभो ! आज राजा दशरथकी प्रभुताको मिटाने और आपके प्रभुत्वकी स्थापना करनेके लिये अस्त्रबलसे सम्पन्न मुझ लक्ष्मणका प्रभाव प्रभाव प्रकट होगा ॥ ३७ ॥

अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च ।
वसूनां च विमोक्षस्य सुहृदां पालनस्य च ॥ ३८ ॥
अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः ।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे ॥ ३९ ॥

'श्रीराम ! आज मेरी ये दोनों भुजाएँ, जो चन्दनका लेप लगाने, बाजूबंद पहनने, धनका दान करने और सुहृदोंके पालनमें संलग्न रहनेके योग्य हैं, आपके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेवालोंको रोकनेके लिये अपने अनुरूप पराक्रम प्रकट करेंगे ॥ ३८-३९ ॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत् प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः ॥ ४० ॥

'प्रभो ! बतलाइये, मैं आपके किस शत्रुको अभी प्राण, यश और सुहृज्जनोंसे सदाके लिये विलग कर दूँ। जिस उपायसे भी यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपका दास हूँ' ॥४०॥

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृत्
स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः॥ ४१ ॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने लक्ष्मणकी ये बातें सुनकर उनके आँसू पोंछे और उन्हें बारंबार सान्त्वना देते हुए कहा—'सौम्य ! मुझे तो तुम माता-पिताकी आज्ञाके पालनमें ही दृढ़तापूर्वक स्थित समझो। यही सत्पुरुषोंका मार्ग है' ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

विलाप करती हुई कौसल्याका श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये आग्रह करना तथा पतिकी सेवा ही नारीका धर्म है, यह बताकर श्रीरामका उन्हें रोकना और वन जानेके लिये उनकी अनुमति प्राप्त करना

तं समीक्ष्य व्यवसितं पितुर्निर्देशपालने।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत्॥ १ ॥

कौसल्याने जब देखा कि श्रीरामने पिताकी आज्ञाके पालनका ही दृढ़ निश्चय कर लिया है, तब वे आँसुओंसे रुँधी हुई गद्गद वाणीमें धर्मात्मा श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं—॥ १ ॥

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत्॥ २ ॥

'हाय ! जिसने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा है, जो समस्त प्राणियोंसे सदा प्रिय वचन बोलता है, जिसका जन्म महाराज दशरथसे मेरे द्वारा हुआ है, वह मेरा धर्मात्मा पुत्र उञ्छवृत्तिसे—खेतमें गिरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर कैसे जीवन-निर्वाह कर सकेगा ? ॥ २ ॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम्॥ ३ ॥

'जिनके भृत्य और दास भी शुद्ध, स्वादिष्ट अन्न खाते हैं, वे ही श्रीराम वनमें फल-मूलका आहार कैसे करेंगे ?॥३॥

क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद् भयम्।
गुणवान् दयितो राज्ञः काकुत्स्थो यद् विवास्यते॥ ४ ॥

'जो सद्गुणसम्पन्न और महाराज दशरथके प्रिय हैं, उन्हीं ककुत्स्थकुल-भूषण श्रीरामको जो वनवास दिया जा रहा है, इसे सुनकर कौन इसपर विश्वास करेगा ? अथवा ऐसी बात सुनकर किसको भय नहीं होगा ? ॥ ४ ॥

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि॥ ५ ॥

'श्रीराम ! निश्चय ही इस जगत्‌में दैव सबसे बड़ा बलवान् है। उसकी आज्ञा सबके ऊपर चलती है—वही सबको सुख-दुःखसे संयुक्त करता है; क्योंकि उसीके प्रभावमें आकर तुम्हारे-जैसा लोकप्रिय मनुष्य भी वनमें जानेको उद्यत है ॥ ५ ॥

अयं तु मामात्मभवस्त्वादर्शनमारुतः।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः॥ ६ ॥
चिन्ताबाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः।
कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान्।
प्रधक्ष्यति यथा कक्ष्यं चित्रभानुर्हिमात्यये॥ ८ ॥

'परंतु बेटा ! तुमसे बिछुड़ जानेपर यहाँ मुझे,शोककी अनुपम एवं बहुत बढ़ी हुई आग उसी तरह जलाकर भस्म कर डालेगी, जैसे ग्रीष्मऋतुमें दावानल सूखी लकड़ियों और घास-फूसको जला डालता है। शोककी यह आग मेरे अपने ही मनमें प्रकट हुई है। तुम्हें न देख पानेकी सम्भावना ही वायु बनकर इस अग्निको उद्दीप्त कर रही है। विलापजनित दुःख ही इसमें ईंधनका काम कर रहे हैं। रोनेसे जो अश्रुपात होते हैं, वे ही मानो इसमें दी हुई घीकी आहुति हैं। चिन्ताके कारण जो गरम-गरम उच्छ्वास उठ रहा है, वही इसका महान् धूम है। तुम दूर देशमें जाकर फिर किस तरह आओगे—इस प्रकारकी चिन्ता ही इस शोकाग्निको जन्म दे रही है। साँस लेनेका जो प्रयत्न है, उसीसे इस आगकी प्रतिक्षण वृद्धि हो रही है। तुम्हीं इसे बुझानेके लिये जल हो। तुम्हारे बिना यह आग मुझे अधिक सुखाकर जला डालेगी ॥ ६-८ ॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि॥ ९ ॥

'वत्स ! धेनु आगे जाते हुए अपने बछड़ेके पीछे-पीछे

कैसे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम जहाँ भी जाओगे, तुम्हारे पीछे-पीछे चली चलूँगी' ॥ ९ ॥

यथा निगदितं मात्रा तद् वाक्यं पुरुषर्षभः ।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १० ॥

माता कौसल्याने जैसे जो कुछ कहा, उस वचनको सुनकर पुरुषोत्तम श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें डूबी हुई अपनी मासे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥ ११ ॥

'मा ! कैकेयीने राजाके साथ धोखा किया है । इधर मैं वनको चला जा रहा हूँ । इस दशामें यदि तुम भी उनका परित्याग कर दोगी तो निश्चय ही वे जीवित नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥ १२ ॥

'पतिका परित्याग नारीके लिये बड़ा ही क्रूरतापूर्ण कर्म है । सत्पुरुषोंने इसकी बड़ी निन्दा की है; अतः तुम्हें तो ऐसी बात कभी मनमें नहीं लानी चाहिये ॥ १२ ॥

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥

'मेरे पिता ककुत्स्थकुल-भूषण महाराज दशरथ जबतक जीवित हैं, तबतक तुम उन्हींकी सेवा करो । पतिकी सेवा ही स्त्रीके लिये सनातन धर्म है' ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना ।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥ १४ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शुभ कर्मोंपर दृष्टि रखनेवाली देवी कौसल्याने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामसे कहा—'अच्छा बेटा ! ऐसा ही करूँगी' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतां वरः ।
भूयस्तामब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १५ ॥

माके इस प्रकार स्वीकृतिसूचक बात कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें पड़ी हुई अपनी मातासे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १६ ॥

'मा ! पिताजीकी आज्ञाका पालन करना मेरा और तुम्हारा—दोनोंका कर्तव्य है; क्योंकि राजा हम सब लोगोंके स्वामी, श्रेष्ठ गुरु, ईश्वर एवं प्रभु हैं ॥ १६ ॥

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च ।
वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव ॥ १७ ॥

'इन चौदह वर्षोंतक मैं विशाल वनमें घूम-फिरकर लौट आऊँगा और बड़े प्रेमसे तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहूँगा' ॥ १७ ॥

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा ।
उवाच परमार्ता तु कौसल्या सुतवत्सला ॥ १८ ॥

उनके ऐसा कहनेपर पुत्रवत्सला कौसल्याके मुखपर पुनः आँसुओंकी धारा बह चली । वे उस समय अत्यन्त आर्त होकर अपने प्रिय पुत्रसे बोलीं—॥ १८ ॥

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् ।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव ॥ १९ ॥
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया ।

'बेटा राम ! अब मुझसे इन सौतोंके बीचमें नहीं रहा जायगा । काकुत्स्थ ! यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे तुमने वनमें जानेका ही निश्चय किया है तो मुझे भी वनवासिनी हरिणीकी भाँति वनमें ही ले चलो' ॥ १९½ ॥

तां तथा रुदतीं रामो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च ।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥ २१ ॥

यह कहकर माता कौसल्या रोने लगीं । उन्हें उस तरह रोती देख श्रीराम भी रो पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—'मा ! स्त्रीके जीते-जी उसका पति ही उसके लिये देवता और ईश्वरके समान है । महाराज तुम्हारे और मेरे दोनोंके प्रभु हैं ॥ २०-२१ ॥

न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता ।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥ २२ ॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।

'जबतक बुद्धिमान् जगदीश्वर महाराज दशरथ जीवित हैं, तबतक हमें अपनेको अनाथ नहीं समझना चाहिये । भरत भी बड़े धर्मात्मा हैं । वे समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सदा ही धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं; अतः वे तुम्हारा अनुसरण—तुम्हारी सेवा करेंगे ॥ २२½ ॥

यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥ २३ ॥
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु ।

'मेरे चले जानेपर जिस तरह भी महाराजको पुत्रशोकके कारण कोई विशेष कष्ट न हो, तुम सावधानीके साथ वैसा ही प्रयत्न करना ॥ २३½ ॥

दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥ २४ ॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता ।

'कहीं ऐसा न हो कि यह दारुण शोक इनकी जीवनलीला ही समाप्त कर डाले । जैसे भी सम्भव हो, तुम सदा सावधान रहकर बूढ़े महाराजके हित-साधनमें लगी रहना ॥ २४½ ॥

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ २५ ॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ।

'उत्कृष्ट गुण और जाति आदिकी दृष्टिसे परम उत्तम तथा व्रत-उपवासमें तत्पर होकर भी जो नारी पतिकी सेवा नहीं करती है, उसे पापियोंको मिलनेवाली गति (नरक आदि) की प्राप्ति होती है ॥ २५½ ॥

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।

'जो अन्यान्य देवताओंकी वन्दना और पूजासे दूर रहती है, वह नारी भी केवल पतिकी सेवामात्रसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेती है ॥ २६½ ॥

शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥ २७ ॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः ।

'अतः नारीको चाहिये कि वह पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें तत्पर रहकर सदा उसकी सेवा ही करे, यही स्त्रीका वेद और लोकमें प्रसिद्ध नित्य (सनातन) धर्म है । इसी-का श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है ॥ २७½ ॥

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥ २८ ॥
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः ।

'देवि ! तुम्हें मेरी मङ्गल कामनासे सदा अग्निहोत्रके अवसरोंपर पुष्पोंसे देवताओंका तथा सत्कारपूर्वक ब्राह्मणोंका भी पूजन करते रहना चाहिये ॥ २८½ ॥

एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥ २९ ॥
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता ।

'इस प्रकार तुम नियमित आहार करके नियमोंका पालन करती हुई स्वामीकी सेवामें लगी रहो और मेरे आगमनकी इच्छा रखकर समयकी प्रतीक्षा करो ॥ २९½ ॥

प्राप्स्यसे परमं कामं मयि पर्यागते सति ॥ ३० ॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् ।

'यदि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज जीवित रहेंगे तो मेरे लौट आनेपर तुम्हारी भी शुभ कामना पूर्ण होगी' ॥ ३०½ ॥

एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ ३१ ॥
कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् ।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसू छलक आये । वे पुत्रशोकसे पीड़ित होकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोलीं—॥ ३१½ ॥

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥ ३२ ॥
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ।

'बेटा ! मैं तुम्हारे वनमें जानेके निश्चित विचारको नहीं पलट सकती । वीर ! निश्चय ही कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३२½ ॥

गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥ ३३ ॥
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा ।

'सामर्थ्यशाली पुत्र ! अब तुम निश्चिन्त होकर वनको जाओ, तुम्हारा सदा ही कल्याण हो । जब फिर तुम वनसे लौट आओगे, उस समय मेरे सारे क्लेश—सब संताप दूर हो जायँगे ॥ ३३½ ॥

प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ।
पितुरानृण्यतां प्राप्ते स्वपिष्ये परमं सुखम् ॥ ३४ ॥

'बेटा ! जब तुम वनवासका महान् व्रत पूर्ण करके कृतार्थ एवं महान् सौभाग्यशाली होकर लौट आओगे और ऐसा करके पिताके ऋणसे उऋण हो जाओगे तभी मैं उत्तम सुखकी नींद सो सकूँगी ॥ ३४ ॥

कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ।
यस्त्वां संचोदयति मे वच आविध्य राघव ॥ ३५ ॥

'बेटा रघुनन्दन ! इस भूतलपर दैवकी गतिको समझना बहुत ही कठिन है, जो मेरी बात काटकर तुम्हें वन जानेके लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ३५ ॥

गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ।
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना श्लक्ष्णेन चारुणा ॥ ३६ ॥

'बेटा ! महाबाहो ! इस समय जाओ, फिर कुशलपूर्वक लौटकर सान्त्वनाभरे मधुर एवं मनोहर वचनोंसे मुझे आनन्दित करना ॥ ३६ ॥

अपीदानीं स कालः स्याद् वनात् प्रत्यागतं पुनः ।
यत् त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥ ३७ ॥

'वत्स ! क्या वह समय अभी आ सकता है, जब कि जटा-वल्कल धारण किये वनसे लौटकर आये हुए तुमको फिर देख सकूँगी' ॥ ३७ ॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
ददर्श देवी परमेण चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो
बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥ ३८ ॥

देवी कौसल्याने जब देखा कि इस प्रकार श्रीराम वन-वासका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, तब वे परम आदरयुक्त हृदयसे उनको शुभसूचक आशीर्वाद देने और उनके लिये स्वस्तिवाचन करानेकी इच्छा करने लगीं ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

कौसल्याका श्रीरामकी वनयात्राके लिये मङ्गलकामनापूर्वक स्वस्तिवाचन करना और श्रीरामका उन्हें प्रणाम करके सीताके भवनकी ओर जाना

सा विनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि।
चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी॥ १॥

तदनन्तर उस क्लेशजनक शोकको मनसे निकालकर श्रीरामकी मनस्विनी माता कौसल्याने पवित्र जलसे आचमन किया, फिर वे यात्राकालिक मङ्गलकृत्योंका अनुष्ठान करने लगीं॥ १॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥ २॥

(इसके बाद वे आशीर्वाद देती हुई बोलीं—) 'रघुकुलभूषण! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती, इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ॥ २॥

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥ ३॥

'रघुकुलसिंह! तुम नियमपूर्वक प्रसन्नताके साथ जिस धर्मका पालन करते हो, वही सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करे॥ ३॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥ ४॥

बेटा! देवस्थानों और मन्दिरोंमें जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो, वे सब देवता महर्षियोंके साथ वनमें तुम्हारी रक्षा करें॥ ४॥

यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा॥ ५॥

'तुम सद्गुणोंसे प्रकाशित हो, बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने तुम्हें जो-जो अस्त्र दिये हैं, वे सब-के-सब सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ५॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः॥ ६॥

'महाबाहु पुत्र! तुम पिताकी शुश्रूषा, माताकी सेवा तथा सत्यके पालनसे सुरक्षित होकर चिरंजीवी बने रहो॥६॥

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च।
स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः।
पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम॥ ७॥

'नरश्रेष्ठ! समिधा, कुशा, पवित्री, वेदियाँ, मन्दिर, ब्राह्मणोंके देवपूजनसम्बन्धी स्थान, पर्वत, वृक्ष, क्षुप (छोटी शाखावाले वृक्ष), जलाशय, पक्षी, सर्प और सिंह वनमें तुम्हारी रक्षा करें॥ ७॥

स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः।
स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा॥ ८॥

'साध्य, विश्वेदेव तथा महर्षियोंसहित मरुद्गण तुम्हारा कल्याण करें; धाता और विधाता तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों; पूषा, भग और अर्यमा तुम्हारा कल्याण करें॥ ८॥

लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा।
ऋतवः षट् च ते सर्वे मासाः संवत्सराः क्षपाः॥ ९॥
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा।
श्रुतिः स्मृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः॥ १०॥

'वे इन्द्र आदि समस्त लोकपाल, छहों ऋतुएँ, सभी मास, संवत्सर, रात्रि, दिन और मुहूर्त सदा तुम्हारा मङ्गल करें। बेटा! श्रुति, स्मृति और धर्म भी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ९-१०॥

स्कन्दश्च भगवान् देवः सोमश्च सबृहस्पतिः।
सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः॥ ११॥

'भगवान् स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण और नारद—ये सभी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ११॥

ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः।
स्तुता मया वने तस्मिन् पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः॥ १२॥

'बेटा! वे प्रसिद्ध सिद्धगण, दिशाएँ और दिक्पाल मेरी की हुई स्तुतिसे संतुष्ट हो उस वनमें सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ १२॥

शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च।
द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी वायुश्च सचराचरः॥ १३॥
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः।
अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम्॥ १४॥

'समस्त पर्वत, समुद्र, राजा वरुण, द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, चराचर प्राणी, समस्त नक्षत्र, देवताओंसहित ग्रह, दिन और रात तथा दोनों संध्याएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर सदा तुम्हारी रक्षा करें॥ १३-१४॥

ऋतवश्चापि षट् चान्ये मासाः संवत्सरास्तथा।
कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते॥ १५॥

'छः ऋतुएँ, अन्यान्य मास, संवत्सर, कला और काष्ठा—ये सब तुम्हें कल्याण प्रदान करें॥ १५॥

महावनेऽपि चरतो मुनिवेषस्य धीमतः।
तथा देवाश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा॥ १६॥

'मुनिका वेष धारण करके उस विशाल वनमें विचरते

हुए तुझ बुद्धिमान् पुत्रके लिये समस्त देवता और दैत्य सदा सुखदायक हों ॥ १६ ॥

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ।
क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत् पुत्रक ते भयम् ॥ १७ ॥

'बेटा ! तुम्हें भयंकर राक्षसों, क्रूरकर्मा पिशाचों तथा समस्त मांसभक्षी जन्तुओंसे कभी भय न हो ॥ १७ ॥

प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ।
सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन् गहने तव ॥ १८ ॥

'वनमें जो मेढक या वानर, बिच्छू, डाँस, मच्छर, पर्वतीय सर्प और कीड़े होते हैं, वे उस गहन वनमें तुम्हारे लिये हिंसक न हों ॥ १८ ॥

महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ।
महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ॥ १९ ॥

'पुत्र ! बड़े-बड़े हाथी, सिंह, व्याघ्र, रीछ, दाढ़वाले अन्य जीव तथा विशाल सींगवाले भयंकर भैंसे वनमें तुमसे द्रोह न करें ॥ १९ ॥

नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजातयः ।
मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ॥ २० ॥

'वत्स ! इनके सिवा जो सभी जातियोंमें नरमांसभक्षी भयंकर प्राणी हैं, वे मेरे द्वारा यहाँ पूजित होकर वनमें तुम्हारी हिंसा न करें ॥ २० ॥

आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ।
सर्वसम्पत्तयो राम स्वस्तिमान् गच्छ पुत्रक ॥ २१ ॥

'बेटा राम ! सभी मार्ग तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों । तुम्हारे पराक्रम सफल हों तथा तुम्हें सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती रहें । तुम सकुशल यात्रा करो ॥ २१ ॥

स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ।
सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः ॥ २२ ॥

'तुम्हें आकाशचारी प्राणियोंसे, भूतलके जीव-जन्तुओंसे, समस्त देवताओंसे तथा जो तुम्हारे शत्रु हैं, उनसे भी सदा कल्याण प्राप्त होता रहे ॥ २२ ॥

शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ।
पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २३ ॥

'श्रीराम ! शुक्र, सोम, सूर्य, कुबेर तथा यम—ये मुझसे पूजित हो दण्डकारण्यमें निवास करते समय सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ २३ ॥

अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखच्युताः ।
उपस्पर्शनकाले तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन ! स्नान और आचमनके समय अग्नि, वायु, धूम तथा ऋषियोंके मुखसे निकले हुए मन्त्र तुम्हारी रक्षा करें ॥

सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतकर्तृ तथर्षयः ।
ये च शेषाः सुरास्ते तु रक्षन्तु वनवासिनम् ॥ २५ ॥

'समस्त लोकोंके स्वामी ब्रह्मा, जगत्के कारणभूत परब्रह्म, ऋषिगण तथा उनके अतिरिक्त जो देवता हैं, वे सब-के-सब वनवासके समय तुम्हारी रक्षा करें' ॥ २५ ॥

इति माल्यैः सुरगणान् गन्धैश्चापि यशस्विनी ।
स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर विशाललोचना यशस्विनी रानी कौसल्याने पुष्पमाला और गन्ध आदि उपचारोंसे तथा अनुरूप स्तुतियों-द्वारा देवताओंका पूजन किया ॥ २६ ॥

ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ।
हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ॥ २७ ॥

उन्होंने श्रीरामकी मङ्गल-कामनासे अग्निको लाकर एक महात्मा ब्राह्मणके द्वारा उसमें विधिपूर्वक होम करवाया ॥

घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधश्चैव सर्षपान् ।
उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ नारी महारानी कौसल्याने घी, श्वेत पुष्प और माला, समिधा तथा सरसों आदि वस्तुएँ ब्राह्मणके समीप रखवा दीं ॥ २८ ॥

उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम् ।
हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् ॥ २९ ॥

पुरोहितजीने समस्त उपद्रवोंकी शान्ति और आरोग्यके उद्देश्यसे विधिपूर्वक अग्निमें होम करके हवनसे बचे हुए हविष्यके द्वारा होमकी वेदीसे बाहर दसों दिशाओंमें इन्द्र आदि लोकपालोंके लिये बलि अर्पित की ॥ २९ ॥

मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः ।
वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचनके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको मधु, दही, अक्षत और घृत अर्पित करके 'वनमें श्रीरामका सदा मङ्गल हो' इस कामनासे कौसल्याजीने उन सबसे स्वस्त्ययन-सम्बन्धी मन्त्रोंका पाठ करवाया ॥ ३० ॥

ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ।
दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

इसके बाद यशस्विनी श्रीराममाताने उन विप्रवर पुरोहित-जीको उनकी इच्छाके अनुसार दक्षिणा दी और श्रीरघुनाथजी-से इस प्रकार कहा— ॥ ३१ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३२ ॥

वृत्रासुरका नाश करनेके निमित्त सर्वदेववन्दित सहस्र-नेत्रधारी इन्द्रको जो मङ्गलमय आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी हो ॥ ३२ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥

'पूर्वकालमें विनतादेवीने अमृत लानेकी इच्छावाले अपने पुत्र गरुड़के लिये जो मङ्गलकृत्य किया था, वही मङ्गल तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३३ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'अमृतकी उत्पत्तिके समय दैत्योंका संहार करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये माता अदितिने जो मङ्गलमय आशीर्वाद दिया था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी सुलभ हो ॥ ३४ ॥

त्रिविक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३५ ॥

'श्रीराम ! तीन पगोंको बढ़ाते हुए अनुपम तेजस्वी भगवान् विष्णुके लिये जो मङ्गलाशंसा की गयी थी, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलम् ॥ ३६ ॥

'महाबाहो ! ऋषि, समुद्र, द्वीप, वेद, समस्त लोक और दिशाएँ तुम्हें मङ्गल प्रदान करें । तुम्हारा सदा शुभ मङ्गल हो' ॥ ३६ ॥

इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि भामिनी ।
गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ॥ ३७ ॥
ओषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम् ।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देकर विशाललोचना भामिनी कौसल्याने पुत्रके मस्तकपर अक्षत रखकर चन्दन और रोली लगायी तथा सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली विशल्यकरणी नामक शुभ ओषधि लेकर रक्षाके उद्देश्यसे मन्त्र पढ़ते हुए उसको श्रीरामके हाथमें बाँध दिया; फिर उसमें उत्कर्ष लानेके लिये मन्त्रका जप भी किया ॥ ३७-३८ ॥

उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ।
वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ॥ ३९ ॥

तदनन्तर दुःखके अधीन हुई कौसल्याने ऊपरसे प्रसन्न-सी होकर मन्त्रोंका स्पष्ट उच्चारण भी किया । उस समय वे वाणीमात्रसे ही मन्त्रोच्चारण कर सकीं, हृदयसे नहीं (क्योंकि हृदय श्रीरामके वियोगकी सम्भावनासे व्यथित था, इसीलिये) वे खेदसे गद्गद, लड़खड़ाती हुई वाणीसे मन्त्र बोल रही थीं ॥

आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ।
अवदत् पुत्रमिष्टार्थो गच्छ राम यथासुखम् ॥ ४० ॥
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ।
पश्यामि त्वां सुखं वत्स संधितं राजवर्त्मसु ॥ ४१ ॥

इसके बाद उनके मस्तकको कुछ झुकाकर यशस्विनी माताने सूँघा और बेटेको हृदयसे लगाकर कहा—'वत्स राम ! तुम सफलमनोरथ होकर सुखपूर्वक वनको जाओ । जब पूर्णकाम होकर रोगरहित सकुशल अयोध्यामें लौटोगे, उस समय तुम्हें राजमार्गपर स्थित देखकर सुखी होऊँगी ॥ ४०-४१ ॥

प्रणष्टदुःखसंकल्पा हर्षविद्योतितानना ।
द्रक्ष्यामि त्वां वनात् प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ ४२ ॥

'उस समय मेरे दुःखपूर्ण संकल्प मिट जायँगे, मुखपर हर्षजनित उल्लास छा जायगा और मैं वनसे आये हुए तुमको पूर्णिमाकी रातमें उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति देखूँगी ॥

भद्रासनगतं राम वनवासादिहागतम् ।
द्रक्ष्यामि च पुनस्त्वां तु तीर्णवन्तं पितुर्वचः ॥ ४३ ॥

'श्रीराम ! वनवाससे यहाँ आकर पिताकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करके जब तुम राजसिंहासनपर बैठोगे, उस समय मैं पुनः प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा दर्शन करूँगी ॥ ४३ ॥

मङ्गलैरुपसम्पन्नो वनवासादिहागतः ।
वध्वाश्च मम नित्यं त्वं कामान् संवर्धयाहि भोः ॥ ४४ ॥

'अब जाओ और वनवाससे यहाँ लौटकर राजोचित मङ्गलमय वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो तुम सदा मेरी बहू सीताकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते रहो ॥ ४४ ॥

मयार्चिता देवगणाः शिवादयो
महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन ! मैंने सदा जिनका पूजन और सम्मान किया है, वे शिव आदि देवता, महर्षि, भूतगण, देवोपम, नाग और सम्पूर्ण दिशाएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर चिरकालतक तुम्हारे हित-साधनकी कामना करते रहें' ॥ ४५ ॥

अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे ॥ ४६ ॥

इस प्रकार माताने नेत्रोंमें अत्यन्त आँसू भरकर विधिपूर्वक वह स्वस्तिवाचन कर्म पूर्ण किया । फिर श्रीरामकी परिक्रमा की और बारंबार उनकी ओर देखकर उन्हें छातीसे लगाया ॥ ४६ ॥

तया हि देव्या च कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितस्तया श्रिया ॥ ४७ ॥

देवी कौसल्याने जब श्रीरामकी प्रदक्षिणा कर ली, तब महायशस्वी रघुनाथजी बारंबार माताके चरणोंको दबाकर प्रणाम करके माताकी मङ्गलकामनाजनित उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न हो सीताजीके महलकी ओर चल दिये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामको उदास देखकर सीताका उनसे इसका कारण पूछना और श्रीरामका पिताकी आज्ञासे वनमें जानेका निश्चय बताते हुए सीताको घरमें रहनेके लिये समझाना

अभिवाद्य तु कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥

धर्मिष्ठ मार्गपर स्थित हुए श्रीराम माताद्वारा स्वस्ति-वाचन कर्म सम्पन्न हो जानेपर कौसल्याको प्रणाम करके वहाँसे वनके लिये प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

विराजयन् राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।
हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥

उस समय मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गको प्रकाशित करते हुए राजकुमार श्रीराम अपने सद्‌गुणोंके कारण लोगोंके मनको मथने-से लगे (ऐसे गुणवान् श्रीरामको वनवास दिया जा रहा है, यह सोचकर वहाँके लोगोंका जी कचोटने लगा) ॥ २ ॥

वैदेही चापि तत् सर्वं न शुश्राव तपस्विनी ।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥

तपस्विनी विदेहनन्दिनी सीताने अभीतक वह सारा हाल नहीं सुना था । उनके हृदयमें यही बात समायी हुई थी कि मेरे पतिका युवराजपदपर अभिषेक हो रहा होगा ॥ ३ ॥

देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना ।
अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षति ॥ ४ ॥

बिदेहराजकुमारी सीता सामयिक कर्तव्यों तथा राजधर्मों-को जानती थीं, अतः देवताओंकी पूजा करके प्रसन्नचित्तसे श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं ॥ ४ ॥

प्रविवेशाथ रामस्तु स्ववेश्म सुविभूषितम् ।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

इतनेमें ही श्रीरामने अपने भलीभाँति सजे-सजाये अन्तःपुरमें, जो प्रसन्न मनुष्योंसे भरा हुआ था, प्रवेश किया । उस समय लज्जासे उनका मुख कुछ नीचा हो रहा था ॥ ५ ॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।
अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

सीता उन्हें देखते ही आसनसे उठकर खड़ी हो गयीं । उनकी अवस्था देखकर काँपने लगीं और चिन्तासे व्याकुल इन्द्रियोंवाले अपने उन शोकसंतप्त पतिको निहारने लगीं ॥ ६ ॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीराम सीताको देखकर अपने मानसिक शोकका वेग सहन न कर सके, अतः उनका वह शोक प्रकट हो गया ॥ ७ ॥

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् ।
आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

उनका मुख उदास हो गया था । उनके अङ्गोंसे पसीना निकल रहा था । वे अपने शोकको दबाये रखनेमें असमर्थ हो गये थे । उन्हें इस अवस्थामें देखकर सीता दुःखसे संतप्त हो उठीं और बोलीं—'प्रभो ! इस समय यह आपकी कैसी दशा है ? ॥ ८ ॥

अद्य बार्हस्पतः श्रीमान् युक्तः पुष्येण राघव ।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन ! आज बृहस्पति देवता-सम्बन्धी मङ्गल-मय पुष्यनक्षत्र है, जो अभिषेकके योग्य है । उसी पुष्यनक्षत्रके योगमें विद्वान् ब्राह्मणोंने आपका अभिषेक बताया है । ऐसे समयमें जब कि आपको प्रसन्न होना चाहिये था, आपका मन इतना उदास क्यों है ? ॥ ९ ॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च ।
आवृतं वदनं वल्गु च्छत्रेणाभिविराजते ॥ १० ॥

'मैं देखती हूँ, इस समय आपका मनोहर मुख जलके फेनके समान उज्ज्वल तथा सौ तीलियोंवाले श्वेत छत्रसे आच्छादित नहीं है, अतएव अधिक शोभा नहीं पा रहा है ॥ १० ॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम् ।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

'कमल-जैसे सुन्दर नेत्र धारण करनेवाले आपके इस मुखपर चन्द्रमा और हंसके समान श्वेत वर्णवाले दो श्रेष्ठ चँवरोंद्वारा हवा नहीं की जा रही है ॥ ११ ॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ ।
स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! प्रवचनकुशल वन्दी, सूत और मागध-जन आज अत्यन्त प्रसन्न हो अपने माङ्गलिक वचनोंद्वारा आप-की स्तुति करते नहीं दिखायी देते हैं ॥ १२ ॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः ॥ १३ ॥

'वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंने आज मूर्धाभिषिक्त हुए आपके मस्तकपर तीर्थोदकमिश्रित मधु और दधिका विधि-पूर्वक अभिषेक नहीं किया ॥ १३ ॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥ १४ ॥

'मन्त्री-सेनापति आदि सारी प्रकृतियाँ, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित मुख्य-मुख्य सेठ-साहूकार तथा नगर और जनपदके लोग आज आपके पीछे-पीछे चलनेकी इच्छा नहीं कर रहे हैं ? (इसका क्या कारण है ?) ॥ १४ ॥

चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः।
मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥ १५ ॥

'सुनहरे साज-बाजसे सजे हुए चार वेगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ श्रेष्ठ पुष्परथ (पुष्पभूषित केवल भ्रमणोपयोगी रथ) आज आपके आगे-आगे क्यों नहीं चल रहा है ? ॥ १५ ॥

न हस्ती चाग्रतः श्रीमान् सर्वलक्षणपूजितः।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥ १६ ॥

'वीर ! आपकी यात्राके समय समस्त शुभ लक्षणोंसे प्रशंसित तथा काले मेघवाले पर्वतके समान विशालकाय तेजस्वी गजराज आज आपके आगे क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १६ ॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम् ॥ १७ ॥

'प्रियदर्शन वीर ! आज आपके सुवर्णजटित भद्रासनको सादर हाथमें लेकर अग्रगामी सेवक आगे जाता क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १७ ॥

अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥ १८ ॥

'जब अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है, ऐसे समयमें आपकी यह क्या दशा हो रही है ? आपके मुखकी कान्ति उड़ गयी है। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। आपके चेहरेपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता है। इसका क्या कारण है ?' ॥ १८ ॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई सीतासे रघुनन्दन श्रीरामने कहा—'सीते ! आज पूज्य पिताजी मुझे वनमें भेज रहे हैं ॥ १९ ॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम ॥ २० ॥

'महान् कुलमें उत्पन्न, धर्मको जाननेवाली तथा धर्मपरायणे जनकनन्दिनि ! जिस कारण यह वनवास आज मुझे प्राप्त हुआ है, वह क्रमशः बताता हूँ, सुनो ॥ २० ॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ ॥ २१ ॥

मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिता महाराज दशरथने माता कैकेयीको पहले कभी दो महान् वर दिये थे ॥ २१ ॥

तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते।
प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥ २२ ॥

'इधर जब महाराजके उद्योगसे मेरे राज्याभिषेककी तैयारी होने लगी, तब कैकेयीने उस वरदानकी प्रतिज्ञाको याद दिलाया और महाराजको धर्मतः अपने काबूमें कर लिया ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥ २३ ॥

'इससे विवश होकर पिताजीने भरतको तो युवराजके पदपर नियुक्त किया और मेरे लिये दूसरा वर स्वीकार किया, जिसके अनुसार मुझे चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें निवास करना होगा ॥ २३ ॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम्।
भरतस्य समीपे ते नाहं कथ्यः कदाचन ॥ २४ ॥
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥ २५ ॥

'इस समय मैं निर्जन वनमें जानेके लिये प्रस्थान कर चुका हूँ और तुमसे मिलनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम भरतके समीप कभी मेरी प्रशंसा न करना; क्योंकि समृद्धिशाली पुरुष दूसरेकी स्तुति नहीं सहन कर पाते हैं। इसीलिये कहता हूँ कि तुम भरतके सामने मेरे गुणोंकी प्रशंसा न करना ॥ २४-२५ ॥

अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम् ॥ २६ ॥

'विशेषतः तुम्हें भरतके समक्ष अपनी सखियोंके साथ भी बारंबार मेरी चर्चा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनके मनके अनुकूल बर्ताव करके ही तुम उनके निकट रह सकती हो ॥ २६ ॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम्।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥ २७ ॥

'सीते ! राजाने उन्हें सदाके लिये युवराजपद दे दिया है, इसलिये तुम्हें विशेष प्रयत्नपूर्वक उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये; क्योंकि अब वे ही राजा होंगे ॥ २७ ॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन्।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि ॥ २८ ॥

'मैं भी पिताजीकी उस प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये आज ही वनको चला जाऊँगा। मनस्विनि ! तुम धैर्य धारण करके रहना ॥ २८ ॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम्।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥

'कल्याणि ! निष्पाप सीते ! मेरे मुनिजनसेवित वनको चले जानेपर तुम्हें प्रायः व्रत और उपवासमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २९ ॥

कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ॥ ३० ॥

'प्रतिदिन सबेरे उठकर देवताओंकी विधिपूर्वक पूजा करके तुम्हें मेरे पिता महाराज दशरथकी वन्दना करनी चाहिये ॥ ३० ॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता ।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥

'मेरी माता कौसल्याको भी प्रणाम करना चाहिये। एक तो वे बूढ़ी हुईं, दूसरे दुःख और संतापने उन्हें दुर्बल कर दिया है; अतः धर्मको ही सामने रखकर तुमसे वे विशेष सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ ३१ ॥

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥ ३२ ॥

'जो मेरी शेष माताएँ हैं, उनके चरणोंमें भी तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये; क्योंकि स्नेह, उत्कृष्ट प्रेम और पालन-पोषणकी दृष्टिसे सभी माताएँ मेरे लिये समान हैं ॥ ३२ ॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥

'भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं, अतः तुम्हें उन दोनोंको विशेषतः अपने भाई और पुत्रके समान देखना और मानना चाहिये ॥ ३३ ॥

विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।
स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! तुम्हें भरतकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस समय वे मेरे देश और कुलके राजा हैं ॥ ३४ ॥

आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥

'अनुकूल आचरणके द्वारा आराधना और प्रयत्नपूर्वक सेवा करनेपर राजा लोग प्रसन्न होते हैं तथा विपरीत बर्ताव करनेपर वे कुपित हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

औरस्यानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।
समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥

'जो अहित करनेवाले हैं, वे अपने औरस पुत्र ही क्यों न हों, राजा उन्हें त्याग देते हैं और आत्मीय न होनेपर भी जो सामर्थ्यवान् होते हैं, उन्हें वे अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥ ३७ ॥

'अतः कल्याणि ! तुम राजा भरतके अनुकूल बर्ताव करती हुई धर्म एवं सत्यव्रतमें तत्पर रहकर यहाँ निवास करो ॥ ३७ ॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्
तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

'प्रिये ! अब मैं उस विशाल वनमें चला जाऊँगा । भामिनि ! तुम्हें यहीं निवास करना होगा। तुम्हारे बर्तावसे किसी-को कष्ट न हो, इसका ध्यान रखते हुए तुम्हें यहाँ मेरी इस आज्ञाका पालन करते रहना चाहिये' ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

सीताकी श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये प्रार्थना

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।
प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर प्रियवादिनी विदेहकुमारी सीताजी, जो सब प्रकारसे अपने स्वामीका प्यार पाने योग्य थीं, प्रेमसे ही कुछ कुपित होकर पतिसे इस प्रकार बोलीं—॥ १ ॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरोत्तम ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम ! आप मुझे ओछी समझकर यह क्या कह रहे हैं ? आपकी ये बातें सुनकर मुझे बहुत हँसी आती है ॥ २ ॥

वीराणां राजपुत्राणां शस्त्रास्त्रविदुषां नृप ।
अनर्हमयशस्यं च न श्रोतव्यं त्वयेरितम् ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! आपने जो कुछ कहा है, वह अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता वीर राजकुमारोंके योग्य नहीं है । वह अपयशका टीका लगानेवाला होनेके कारण सुनने योग्य भी नहीं है ॥ ३ ॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।

स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥ ४ ॥

'आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्य (शुभाशुभ कर्म) के अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ४ ॥

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ५ ॥

'पुरुषप्रवर ! केवल पत्नी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है, अतः आपके साथ ही मुझे भी वनमें रहनेकी आज्ञा मिल गयी है ॥ ५ ॥

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ६ ॥

'नारियोंके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है । पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है ॥ ६ ॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव ।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ॥ ७ ॥

'रघुनन्दन ! यदि आप आज ही दुर्गम वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्तेके कुश और काँटोंको कुचलती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी ॥ ७ ॥

ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम् ।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते ॥ ८ ॥

अतः वीर ! आप ईर्ष्या[1] और रोषको[2] दूर करके पीनेसे[3] बचे हुए जलकी भाँति मुझे निःशङ्क होकर साथ ले चलिये । मुझमें ऐसा कोई पाप—अपराध नहीं है, जिसके कारण आप मुझे यहाँ त्याग दें ॥ ८ ॥

प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा ।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥ ९ ॥

'ऊँचे-ऊँचे महलोंमें रहना, विमानोंपर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियोंके द्वारा आकाशमें विचरना—इन सबकी अपेक्षा स्त्रीके लिये सभी अवस्थाओंमें पतिके चरणोंकी छायामें रहना विशेष महत्त्व रखता है ॥ ९ ॥

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम् ।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ १० ॥

'मुझे किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें मेरी माता और पिताने मुझे अनेक प्रकारसे शिक्षा दी है । इस समय इसके विषयमें मुझे कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम् ॥ ११ ॥

'अतः नाना प्रकारके वन्य पशुओंसे व्याप्त तथा सिंहों और व्याघ्रोंसे सेवित उस निर्जन एवं दुर्गम वनमें मैं अवश्य चलूँगी ॥ ११ ॥

सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः ।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥ १२ ॥

'मैं तो जैसे अपने पिताके घरमें रहती थी, उसी प्रकार उस वनमें भी सुखपूर्वक निवास करूँगी । वहाँ तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको भी कुछ न समझती हुई मैं सदा पतिव्रत धर्मका चिन्तन करती हुई आपकी सेवामें लगी रहूँगी ॥ १२ ॥

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी ।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १३ ॥

'वीर ! नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगी और सदा आपकी सेवामें तत्पर रहकर आपहीके साथ मीठी-मीठी सुगन्धसे भरे हुए वनोंमें विचरूँगी ॥ १३ ॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम् ।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥ १४ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले श्रीराम ! आप तो वनमें रहकर दूसरे लोगोंकी भी रक्षा कर सकते हैं, फिर मेरी रक्षा करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १४ ॥

साहं त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः ।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥ १५ ॥

महाभाग ! अतः मैं आपके साथ आज अवश्य वनमें चलूँगी । इसमें संशय नहीं है । मैं हर तरह चलनेको तैयार हूँ । मुझे किसी तरह भी रोका नहीं जा सकता ॥ १५ ॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा ॥ १६ ॥

'वहाँ चलकर मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूँगी, सदा आपके साथ रहूँगी और प्रतिदिन फल-मूल खाकर ही निर्वाह करूँगी । मेरे इस कथनमें किसी प्रकारके संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥ १६ ॥

अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि ।
इच्छामि परतः शैलान् पल्वलानि सरांसि च ॥ १७ ॥
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता ।

'आपके आगे-आगे चलूँगी और आपके भोजन कर लेनेपर जो कुछ बचेगा, उसे ही खाकर रहूँगी । प्रभो ! मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं आप बुद्धिमान् प्राणनाथके साथ निर्भय हो वनमें सर्वत्र घूमकर पर्वतों, छोटे-छोटे तालाबों और सरोवरोंको देखूँ ॥ १७½ ॥

---

१. स्त्री होकर यह वनमें जानेका साहस कैसे करती है ? इस विचारसे ईर्ष्या होती है । २. यह मेरी बात नहीं मान रही है, यह सोचकर रोष प्रकट होता है । इन दोनोंका त्याग अपेक्षित है । ३. जैसे किसी जलहीन बीहड़ पथमें लोग अपने पीनेसे बचे हुए पानीको साथ ले चलते हैं, उसी प्रकार मुझे भी आप साथ ले चलें—यह सीताका अनुरोध है ।

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ॥ १८ ॥
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण संगता ।

'आप मेरे वीर स्वामी हैं। मैं आपके साथ रहकर सुखपूर्वक उन सुन्दर सरोवरोंकी शोभा देखना चाहती हूँ, जो श्रेष्ठ कमलपुष्पोंसे सुशोभित हैं तथा जिनमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी भरे रहते हैं ॥ १८½ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ।

'विशाल नेत्रोंवाले आर्यपुत्र! आपके चरणोंमें अनुरक्त रहकर मैं प्रतिदिन उन सरोवरोंमें स्नान करूँगी और आपके साथ वहाँ सब ओर विचरूँगी, इससे मुझे परम आनन्दका अनुभव होगा ॥ १९½ ॥

एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ॥ २० ॥
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः ।

'इस तरह सैकड़ों या हजारों वर्षोंतक भी यदि आपके साथ रहनेका सौभाग्य मिले तो मुझे कभी कष्टका अनुभव नहीं होगा। यदि आप साथ न हों तो मुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी अभीष्ट नहीं है ॥ २०½ ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये ॥ २१ ॥

'पुरुषसिंह रघुनन्दन! आपके बिना यदि मुझे स्वर्गलोकका निवास भी मिल रहा हो तो वह मेरे लिये रुचिकर नहीं हो सकता—मैं उसे लेना नहीं चाहूँगी ॥ २१ ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैश्च ।
वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य सम्मता ॥ २२ ॥

'प्राणनाथ! अतः उस अत्यन्त दुर्गम वनमें, जहाँ सहस्रों मृग, वानर और हाथी निवास करते हैं, मैं अवश्य चलूँगी और आपके ही चरणोंकी सेवामें रहकर आपके अनुकूल चलती हुई उस वनमें उसी तरह सुखसे रहूँगी, जैसे पिताके घरमें रहा करती थी ॥ २२ ॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मा साधु कुरुष्व याचनां
नातो मया ते गुरुता भविष्यति ॥ २३ ॥

'मेरे हृदयका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र आपको ही अर्पित है, आपके सिवा और कहीं मेरा मन नहीं जाता, यदि आपसे वियोग हुआ तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जायगी। इसलिये आप मेरी याचना सफल करें, मुझे साथ ले चलें; यही अच्छा होगा; मेरे रहनेसे आपपर कोई भार नहीं पड़ेगा' ॥ २३ ॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलां
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति ।
उवाच चैनां बहु संनिवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २४ ॥

धर्ममें अनुरक्त रहनेवाली सीताके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भी नरश्रेष्ठ श्रीरामको उन्हें साथ ले जानेकी इच्छा नहीं हुई। वे उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये वहाँके कष्टोंका अनेक प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामका वनवासके कष्टका वर्णन करते हुए सीताको वहाँ चलनेसे मना करना

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः ।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली सीताके इस प्रकार कहनेपर भी धर्मवत्सल श्रीरामने वनमें होनेवाले दुःखोंको सोचकर उन्हें साथ ले जानेका विचार नहीं किया ॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा ततस्तां तु बाष्पदूषितलोचनाम् ।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

सीताके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे। धर्मात्मा श्रीराम उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा ।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम् ॥ ३ ॥

'सीते! तुम अत्यन्त उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई हो और सदा धर्मके आचरणमें ही लगी रहती हो; अतः यहीं रहकर धर्मका पालन करो, जिससे मेरे मनको संतोष हो ॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले ।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान् निबोध मे ॥ ४ ॥

'सीते! मैं तुमसे जैसा कहूँ, वैसा ही करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम अबला हो, वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं; उन्हें बता रहा हूँ, मुझसे सुनो ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

'सीते! वनवासके लिये चलनेका यह विचार छोड़ दो, वनको अनेक प्रकारके दोषोंसे व्याप्त और दुर्गम बताया जाता है ॥ ५ ॥

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥

'तुम्हारे हितकी भावनासे ही मैं ये सब बातें कह रहा हूँ। जहाँतक मेरी जानकारी है, वनमें सदा सुख नहीं मिलता। वहाँ तो सदा दुःख ही मिला करता है ॥ ६ ॥

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥

'पर्वतोंसे गिरनेवाले झरनोंके शब्दको सुनकर उन पर्वतोंकी कन्दराओंमें रहनेवाले सिंह दहाड़ने लगते हैं। उनकी वह गर्जना सुननेमें बड़ी दुःखदायिनी प्रतीत होती है, इसलिये वन दुःखमय ही है ॥ ७ ॥

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥

'सीते! सूने वनमें निर्भय होकर क्रीड़ा करनेवाले मतवाले जंगली पशु मनुष्यको देखते ही उसपर चारों ओरसे टूट पड़ते हैं; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है ॥ ८ ॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥

'वनमें जो नदियाँ होती हैं, उनके भीतर ग्राह निवास करते हैं, उनमें कीचड़ अधिक होनेके कारण उन्हें पार करना अत्यन्त कठिन होता है। इसके सिवा वनमें मतवाले हाथी सदा घूमते रहते हैं। इन सब कारणोंसे वन बहुत ही दुःखदायक होता है ॥ ९ ॥

लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥ १० ॥

'वनके मार्ग लताओं और काँटोंसे भरे रहते हैं। वहाँ जंगली मुर्गे बोला करते हैं, उन मार्गोंपर चलनेमें बड़ा कष्ट होता है तथा वहाँ आस-पास जल नहीं मिलता, इससे वनमें दुःख-ही-दुःख है ॥ १० ॥

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दुःखमतो वनम् ॥ ११ ॥

'दिनभरके परिश्रमसे थके-माँदे मनुष्यको रातमें जमीनके ऊपर अपने-आप गिरे हुए सूखे पत्तोंके बिछौनेपर सोना पड़ता है; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है ॥ ११ ॥

अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १२ ॥

'सीते! वहाँ मनको वशमें रखकर वृक्षोंसे स्वतः गिरे हुए फलोंके आहारपर ही दिन-रात संतोष करना पड़ता है, अतः वन दुःख देनेवाला ही है ॥ १२ ॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम् ॥ १३ ॥

'मिथिलेशकुमारी! अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना, सिरपर जटाका भार ढोना और वल्कल वस्त्र धारण करना—यही वहाँकी जीवनशैली है ॥ १३ ॥

देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ॥ १४ ॥

'देवताओंका, पितरोंका तथा आये हुए अतिथियोंका प्रतिदिन शास्त्रोक्तविधिके अनुसार पूजन करना—यह वनवासीका प्रधान कर्तव्य है ॥ १४ ॥

कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम् ॥ १५ ॥

'वनवासीको प्रतिदिन नियमपूर्वक तीनों समय स्नान करना होता है। इसलिये वन बहुत ही कष्ट देनेवाला है ॥ १५ ॥

उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः।
आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम् ॥ १६ ॥

'सीते! वहाँ स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंद्वारा वेदोक्त विधिसे वेदीपर देवताओंकी पूजा करनी पड़ती है। इसलिये वनको कष्टप्रद कहा गया है ॥ १६ ॥

यथालब्धेन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि।
यताहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम् ॥ १७ ॥

'मिथिलेशकुमारी जानकी! वनवासियोंको जब जैसा आहार मिल जाय उसीपर संतोष करना पड़ता है; अतः वन दुःखरूप ही है ॥ १७ ॥

अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चाति नित्यशः।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम् ॥ १८ ॥

'वनमें प्रचण्ड आँधी, घोर अन्धकार, प्रतिदिन भूखका कष्ट तथा और भी बड़े-बड़े भय प्राप्त होते हैं, अतः वन अत्यन्त कष्टप्रद है ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि।
चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम् ॥ १९ ॥

'भामिनि! वहाँ बहुत-से पहाड़ी सर्प, जो अनेक प्रकारके रूपवाले होते हैं, दर्पवश बीच रास्तेमें विचरते रहते हैं; अतः वन अत्यन्त कष्टदायक है ॥ १९ ॥

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम् ॥ २० ॥

'जो नदियोंमें निवास करते और नदियोंके समान ही

कुटिल गतिसे चलते हैं, ऐसे बहुसंख्यक सर्प वनमें रास्तेको घेरकर पड़े रहते हैं; इसलिये वन बहुत ही कष्टदायक है ॥ २० ॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमबले सर्वं दुःखमतो वनम् ॥ २१ ॥

'अबले ! पतंगे, बिच्छू, कीड़े, डाँस और मच्छर वहाँ सदा कष्ट पहुँचाते रहते हैं, अतः सारा वन दुःखरूप ही है ॥

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि ।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम् ॥ २२ ॥

'भामिनि ! वनमें काँटेदार वृक्ष, कुश और कास होते हैं, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओर फैले हुए होते हैं; इसलिये वन विशेष कष्टदायक होता है ॥ २२ ॥

कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च ।
अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम् ॥ २३ ॥

'वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से शारीरिक क्लेशों और नाना प्रकारके भयोंका सामना करना पड़ता है, अतः वन सदा दुःखरूप ही होता है ॥ २३ ॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।
न भेतव्यं च भेतव्ये दुःखं नित्यमतो वनम् ॥ २४ ॥

'वहाँ क्रोध और लोभको त्याग देना होता है, तपस्यामें मन लगाना पड़ता है और जहाँ भयका स्थान है, वहाँ भी भयभीत न होनेकी आवश्यकता होती है; अतः वनमें सदा दुःख-ही-दुःख है ॥ २४ ॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव ।
विमृशन्निव पश्यामि बहुदोषकरं वनम् ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम्हारा वनमें जाना ठीक नहीं है। वहाँ जाकर तुम सकुशल नहीं रह सकती। मैं बहुत सोच-विचारकर देखता और समझता हूँ कि वनमें रहना अनेक दोषोंका उत्पादक बहुत ही कष्टदायक है ॥ २५ ॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिर्यदा
बभूव रामेण तदा महात्मना ।
न तस्य सीता वचनं चकार तं
ततोऽब्रवीद् राममिदं सुदुःखिता ॥ २६ ॥

जब महात्मा श्रीरामने उस समय सीताको वनमें ले जानेका विचार नहीं किया, तब सीताने भी उनकी उस बातको नहीं माना। वे अत्यन्त दुखी होकर श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीताका श्रीरामके समक्ष उनके साथ अपने वनगमनका औचित्य बताना

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता ।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सीताको बड़ा दुःख हुआ, उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगीं —॥ १ ॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।
गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता ॥ २ ॥

'प्राणनाथ ! आपने वनमें रहनेके जो-जो दोष बताये हैं, वे सब आपका स्नेह पाकर मेरे लिये गुणरूप हो जायँगे। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ २ ॥

मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा ।
चमराः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥ ३ ॥
अदृष्टपूर्वरूपत्वात् सर्वे ते तव राघव ।
रूपं दृष्ट्वापसर्पेयुस्तव सर्वे हि बिभ्यति ॥ ४ ॥

'रघुनन्दन ! मृग, सिंह, हाथी, शेर, शरभ, चमरी गाय, नीलगाय तथा जो अन्य जंगली जीव हैं, वे सब-के-सब आपका रूप देखकर भाग जायँगे; क्योंकि ऐसा प्रभावशाली स्वरूप उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होगा। आपसे तो सभी डरते हैं; फिर वे पशु क्यों नहीं डरेंगे ? ॥ ३-४ ॥

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! मुझे गुरुजनोंकी आज्ञासे निश्चय ही आपके साथ चलना है; क्योंकि आपका वियोग हो जानेपर मैं यहाँ अपने जीवनका परित्याग कर दूँगी ॥ ५ ॥

नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्रोऽपि राघव ।
सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥

'रघुनाथजी आपके समीप रहनेपर देवताओंके राजा इन्द्र भी बलपूर्वक मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् ।
काममेवंविधं राम त्वया मम निदर्शितम् ॥ ७ ॥

'श्रीराम ! पतिव्रता स्त्री अपने पतिसे वियोग होनेपर जीवित नहीं रह सकेगी; ऐसी बात आपने भी मुझे भलीभाँति दर्शायी है ॥ ७ ॥

अथापि च महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम्।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने॥ ८॥

'महाप्राज्ञ! यद्यपि वनमें दोष और दुःख ही भरे हैं तथापि अपने पिताके घरपर रहते समय मैं ब्राह्मणोंके मुखसे पहले यह बात सुन चुकी हूँ कि 'मुझे अवश्य ही वनमें रहना पड़ेगा' यह बात मेरे जीवनमें सत्य होकर रहेगी॥ ८॥

लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल॥ ९॥

'महाबली वीर! हस्तरेखा देखकर भविष्यकी बातें जान लेनेवाले ब्राह्मणोंके मुखसे अपने घरपर ऐसी बात सुनकर मैं सदा ही वनवासके लिये उत्साहित रहती हूँ॥ ९॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल।
सा त्वया सह भर्त्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा॥ १०॥

'प्रियतम! ब्राह्मणसे ज्ञात हुआ वनमें रहनेका आदेश एक-न-एक दिन मुझे पूरा करना ही पड़ेगा, यह किसी तरह पलट नहीं सकता। अतः मैं अपने स्वामी आपके साथ वनमें अवश्य चलूँगी॥ १०॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि त्वया सह।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवान् भवतु द्विजः॥ ११॥

'ऐसा होनेसे मैं उस भाग्यके विधानको भोग लूँगी। उसके लिये यह समय आ गया है, अतः आपके साथ मुझे चलना ही है; इससे उस ब्राह्मणकी बात भी सच्ची हो जायगी॥ ११॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः॥ १२॥

'वीर! मैं जानती हूँ कि वनवासमें अवश्य ही बहुत-से दुःख प्राप्त होते हैं; परंतु वे उन्हींको दुःख जान पड़ते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ और मन अपने वशमें नहीं हैं॥ १२॥

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया।
भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः॥ १३॥

'पिताके घरपर कुमारी अवस्थामें एक शान्तिपरायणा भिक्षुकीके मुखसे भी मैंने अपने वनवासकी बात सुनी थी। उसने मेरी माताके सामने ही ऐसी बात कही थी॥ १३॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया॥ १४॥

'प्रभो! यहाँ आनेपर भी मैंने पहले ही कई बार आपसे कुछ कालतक वनमें रहनेके लिये प्रार्थना की थी और आपको राजी भी कर लिया था। इससे आप निश्चितरूपसे जान लें कि आपके साथ वनको चलना मुझे पहलेसे ही अभीष्ट है॥

कृतक्षणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव।
वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते॥ १५॥

'रघुनन्दन! आपका भला हो। मैं वहाँ चलनेके लिये पहलेसे ही आपकी अनुमति प्राप्त कर चुकी हूँ। अपने शूरवीर वनवासी पतिकी सेवा करना मेरे लिये अधिक रुचिकर है॥

शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदैवतम्॥ १६॥

'शुद्धात्मन्! आप मेरे स्वामी हैं, आपके पीछे प्रेमभावसे वनमें जानेपर मेरे पाप दूर हो जायँगे; क्योंकि स्वामी ही स्त्रीके लिये सबसे बड़ा देवता है॥ १६॥

प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम्॥ १७॥

'आपके अनुगमनसे परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा और सदा आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा। इस विषयमें यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक पवित्र श्रुति सुनी जाती है (जो इस प्रकार है—)॥ १७॥

इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा॥ १८॥

'महाबली वीर! इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है॥ १८॥

एवमस्मात् स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम्।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना॥ १९॥

'मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और पतिव्रता हूँ, फिर क्या कारण है कि आप मुझे यहाँसे अपने साथ ले चलना नहीं चाहते हैं॥ १९॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम्॥ २०॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! मैं आपकी भक्त हूँ, पातिव्रत्यका पालन करती हूँ, आपके बिछोहके भयसे दीन हो रही हूँ तथा आपके सुख-दुःखमें समानरूपसे हाथ बँटानेवाली हूँ। मुझे सुख मिले या दुःख, मैं दोनों अवस्थाओंमें सम रहूँगी—हर्ष या शोकके वशीभूत नहीं होऊँगी। अतः आप अवश्य ही मुझे साथ ले चलनेकी कृपा करें॥ २०॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात्॥ २१॥

'यदि आप इस प्रकार दुःखमें पड़ी हुई मुझ सेविकाको अपने साथ वनमें ले जाना नहीं चाहते हैं तो मैं मृत्युके लिये विष खा लूँगी, आगमें कूद पड़ूँगी अथवा जलमें डूब जाऊँगी'॥ २१॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम्॥ २२॥

इस तरह अनेक प्रकारसे सीताजी वनमें जानेके लिये याचना कर रही थीं तथापि महाबाहु श्रीरामने उन्हें अपने

साथ निर्जन वनमें ले जानेकी अनुमति नहीं दी ॥ २२ ॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता ।
स्नापयन्तीव गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥ २३ ॥

इस प्रकार उनके अस्वीकार कर देनेपर मिथिलेश-कुमारी सीताको बड़ी चिन्ता हुई और वे अपने नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाकर धरतीको भिगोने-सी लगीं ॥ २३ ॥

चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान् ।
क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बह्वसान्त्वयत् ॥ २४ ॥

उस समय विदेहनन्दिनी जानकीको चिन्तित और कुपित देख मनको वशमें रखनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये भाँति-भाँतिकी बातें कहकर समझाया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

सीताका वनमें चलनेके लिये अधिक आग्रह, विलाप और घबराहट देखकर श्रीरामका उन्हें साथ ले चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा सीताको वनमें चलनेकी तैयारीके लिये घरकी वस्तुओंका दान करनेकी आज्ञा देना

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके समझानेपर मिथिलेशकुमारी जानकी वनवासकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने पतिसे फिर इस प्रकार बोलीं ॥

सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम् ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम् ॥ २ ॥

सीता अत्यन्त डरी हुई थीं । वे प्रेम और स्वाभिमानके कारण विशाल वक्षःस्थलवाले श्रीरामचन्द्रजीपर आक्षेप-सा करती हुई कहने लगीं—॥ २ ॥

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥

'श्रीराम ! क्या मेरे पिता मिथिलानरेश विदेहराज जनकने आपको जामाताके रूपमें पाकर कभी यह भी समझा था कि आप केवल शरीरसे ही पुरुष हैं; कार्यकलापसे तो स्त्री ही हैं ॥

अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद् यदि वक्ष्यति ।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥

'नाथ ! आपके मुझे छोड़कर चले जानेपर संसारके लोग अज्ञानवश यदि यह कहने लगें कि सूर्यके समान तपनेवाले श्रीरामचन्द्रमें तेज और पराक्रमका अभाव है तो उनकी यह असत्य धारणा मेरे लिये कितने दुःखकी बात होगी ॥ ४ ॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।
यत् परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥

'आप क्या सोचकर विषादमें पड़े हुए हैं अथवा किससे आपको भय हो रहा है, जिसके कारण आप अपनी पत्नी मुझ सीताका जो एकमात्र आपके ही आश्रित है, परित्याग करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

'जैसे सावित्री द्युमत्सेनकुमार वीरवर सत्यवान्‌की ही अनुगामिनी थी, उसी प्रकार आप मुझे भी अपनी ही आज्ञाके अधीन समझिये ॥ ६ ॥

न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! जैसी दूसरी कोई कुलकलङ्किनी स्त्री परपुरुषपर दृष्टि रखती है, वैसी मैं नहीं हूँ । मैं तो आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषको मनसे भी नहीं देख सकती । इसलिये आपके साथ ही चलूँगी (आपके बिना अकेली यहाँ नहीं रहूँगी ॥ ७ ॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥

'श्रीराम ! जिसका कुमारावस्थामें ही आपके साथ विवाह हुआ है और जो चिरकालतक आपके साथ रह चुकी है, उसी मुझ अपनी सती-साध्वी पत्नीको आप औरतकी कमाई खानेवाले नटकी भाँति दूसरोंके हाथमें सौंपना चाहते हैं ? ॥ ८ ॥

यस्य पथ्यंचरामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ ॥ ९ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! आप मुझे जिसके अनुकूल चलनेकी शिक्षा दे रहे हैं और जिसके लिये आपका राज्याभिषेक रोक दिया गया है, उस भरतके सदा ही वशवर्ती और आज्ञापालक बनकर आप ही रहिये, मैं नहीं रहूँगी ॥ ९ ॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि ।
तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गो वा स्यात् त्वया सह ॥ १० ॥

'इसलिये आपका मुझे अपने साथ लिये बिना वनकी ओर प्रस्थान करना उचित नहीं है । यदि तपस्या करनी हो, वनमें रहना हो अथवा स्वर्गमें जाना हो तो सभी जगह मैं आपके साथ रहना चाहती हूँ ॥ १० ॥

न च मे भविता तत्र कश्चित् पथि परिश्रमः ।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव ॥ ११ ॥

'जैसे बगीचोंमें घूमने और पलंगपर सोनेमें कोई कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार आपके पीछे-पीछे वनके मार्गपर चलनेमें भी मुझे कोई परिश्रम नहीं जान पड़ेगा ॥ ११ ॥

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः ।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥ १२ ॥

'रास्तेमें जो कुश-कास, सरकंडे, सींक और काँटेदार वृक्ष मिलेंगे, उनका स्पर्श मुझे आपके साथ रहनेसे रूई और मृगचर्मके समान सुखद प्रतीत होगा ॥ १२ ॥

महावातसमुद्भूतं यन्मामवकरिष्यति ।
रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

'प्राणवल्लभ ! प्रचण्ड आँधीसे उड़कर मेरे शरीरपर जो धूल पड़ेगी, उसे मैं उत्तम चन्दनके समान समझूँगी ॥ १३ ॥

शाद्वलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा ।
कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात् सुखतरं ततः ॥ १४ ॥

'जब वनके भीतर रहूँगी, तब आपके साथ घासोंपर भी सो लूँगी । रंग-बिरंगे कालीनों और मुलायम बिछौनोंसे युक्त पलंगोंपर क्या उससे अधिक सुख हो सकता है ? ॥१४॥

पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु ।
दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥ १५ ॥

'आप अपने हाथसे लाकर थोड़ा या बहुत फल, मूल या पत्ता, जो कुछ दे देंगे, वही मेरे लिये अमृत-रसके समान होगा ॥ १५ ॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः ।
आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च ॥ १६ ॥

'ऋतुके अनुकूल जो भी फल-फूल प्राप्त होंगे, उन्हें खाकर रहूँगी और माता-पिता अथवा महलको कभी याद नहीं करूँगी ॥ १६ ॥

न च तत्र ततः किंचिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम् ।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा ॥ १७ ॥

'वहाँ रहते समय मेरा कोई भी प्रतिकूल व्यवहार आप नहीं देख सकेंगे । मेरे लिये आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा । मेरा निर्वाह आपके लिये दूभर नहीं होगा ॥ १७ ॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना ।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥ १८ ॥

'आपके साथ जहाँ भी रहना पड़े, वही मेरे लिये स्वर्ग है और आपके बिना जो कोई भी स्थान हो, वह मेरे लिये नरकके समान है । श्रीराम ! मेरे इस निश्चयको जानकर आप मेरे साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वनको चलें ॥ १८ ॥

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसे ।
विषमद्यैव पास्यामि मां वशं द्विषतां गमम् ॥ १९ ॥

'मुझे वनवासके कष्टसे कोई घबराहट नहीं है । यदि इस दशामें भी आप अपने साथ मुझे वनमें नहीं ले चलेंगे तो मैं आज ही विष पी लूँगी, परंतु शत्रुओंके अधीन होकर नहीं रहूँगी ॥ १९ ॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम् ।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥ २० ॥

'नाथ ! यदि आप मुझे त्यागकर वनको चले जायँगे तो पीछे भी इस भारी दुःखके कारण मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं है; ऐसी दशामें मैं इसी समय आपके जाते ही अपना प्राण त्याग देना अच्छा समझती हूँ ॥ २० ॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥ २१ ॥

'आपके विरहका यह शोक मैं दो घड़ी भी नहीं सह सकूँगी । फिर मुझ दुखियासे यह चौदह वर्षोंतक कैसे सहा जायगा ?' ॥ २१ ॥

इति सा शोकसंतप्ता विलप्य करुणं बहु ।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करके शोकसे संतप्त हुई सीता शिथिल हो अपने पतिको जोरसे पकड़कर—उनका गाढ़ आलिङ्गन करके फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २२ ॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजाङ्गना ।
चिरसंनियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः ॥ २३ ॥

जैसे कोई हथिनी विषमें बुझे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घायल कर दी गयी हो, उसी प्रकार सीता श्रीरामचन्द्रजीके पूर्वोक्त अनेकानेक वचनोंद्वारा मर्माहत हो उठी थीं; अतः जैसे अरणी आग प्रकट करती है, उसी प्रकार वे बहुत देरसे रोके हुए आँसुओंको बरसाने लगीं ॥ २३ ॥

तस्याः स्फटिकसंकाशं वारि संतापसम्भवम् ।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥ २४ ॥

उनके दोनों नेत्रोंसे स्फटिकके समान निर्मल संतापजनित अश्रुजल झर रहा था, मानो दो कमलोंसे जलकी धारा गिर रही हो ॥ २४ ॥

तत्सितामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम् ।
पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृत मिवाम्बुजम् ॥ २५ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंसे सुशोभित और पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमाके समान कान्तिमान् उनका वह मनोहर मुख संतापजनित तापके कारण पानीसे बाहर निकाले हुए कमलके समान सूख-सा गया था ॥ २५ ॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥ २६ ॥

सीताजी दुःखके मारे अचेत-सी हो रही थीं । श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें दोनों हाथोंसे सँभालकर हृदयसे लगा लिया और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २६ ॥

न देवि बत दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये ।
नहि मेऽस्ति भयं किंचित् स्वयम्भोरिव सर्वतः ॥ २७ ॥

'देवि ! तुम्हें दुःख देकर मुझे स्वर्गका सुख मिलता हो तो मैं उसे भी लेना नहीं चाहूँगा । स्वयम्भू ब्रह्माजीकी भाँति मुझे किसीसे किञ्चित् भी भय नहीं है ॥ २७ ॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥ २८ ॥

'शुभानने ! यद्यपि वनमें तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं सर्वथा समर्थ हूँ तो भी तुम्हारे हार्दिक अभिप्रायको पूर्णरूपसे जाने बिना तुमको वनवासिनी बनाना मैं उचित नहीं समझता था ॥ २८ ॥

यत् सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।
न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा ॥ २९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! जब तुम मेरे साथ वनमें रहनेके लिये ही उत्पन्न हुई हो तो मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता, ठीक उसी तरह जैसे आत्मज्ञानी पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रसन्नताका त्याग नहीं करते ॥ २९ ॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा ।
तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३० ॥

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघवाली जनककिशोरी ! पूर्वकालके सत्पुरुषोंने अपनी पत्नीके साथ रहकर जिस धर्मका आचरण किया था, उसीका मैं भी तुम्हारे साथ रहकर अनुसरण करूँगा तथा जैसे सुवर्चला (संज्ञा) अपने पति सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार तुम भी मेरा अनुसरण करो ॥ ३० ॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥

'जनकनन्दिनि ! यह तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है कि मैं वनको न जाऊँ; क्योंकि पिताजीका वह सत्ययुक्त वचन ही मुझे वनकी ओर ले जा रहा है ॥ ३१ ॥

एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता ।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥

'सुश्रोणि ! पिता और माताकी आज्ञाके अधीन रहना पुत्रका धर्म है, इसलिये मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जीवित नहीं रह सकता ॥ ३२ ॥

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ॥ ३३ ॥

'जो अपनी सेवाके अधीन हैं, उन प्रत्यक्ष देवता माता, पिता एवं गुरुका उल्लङ्घन करके जो सेवाके अधीन नहीं है, उस अप्रत्यक्ष देवता दैवकी विभिन्न प्रकारसे किस तरह आराधना की जा सकती है ॥ ३३ ॥

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥

'सुन्दर नेत्रप्रान्तवाली सीते ! जिनकी आराधना करनेपर धर्म, अर्थ और काम तीनों प्राप्त होते हैं तथा तीनों लोकोंकी आराधना सम्पन्न हो जाती है, उन माता, पिता और गुरुके समान दूसरा कोई पवित्र देवता इस भूतलपर नहीं है । इसीलिये भूतलके निवासी इन तीनों देवताओंकी आराधना करते हैं ॥ ३४ ॥

न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता ॥ ३५ ॥

'सीते ! पिताकी सेवा करना कल्याणकी प्राप्तिका जैसा प्रबल साधन माना गया, वैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं ॥ ३५ ॥

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥

'गुरुजनोंकी सेवाका अनुसरण करनेसे स्वर्ग, धन-धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ३६ ॥

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान् ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥ ३७ ॥

'माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः ।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

'इसीलिये सत्य और धर्मके मार्गपर स्थित रहनेवाले पूज्य पिताजी मुझे जैसी आज्ञा दे रहे हैं, मैं वैसा ही बर्ताव करना चाहता हूँ; क्योंकि वह सनातनधर्म है ॥ ३८ ॥

मम सन्ना मतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम् ।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥ ३९ ॥

'सीते ! 'मैं आपके साथ वनमें निवास करूँगी'—ऐसा कहकर तुमने मेरे साथ चलनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है,

इसलिये तुम्हें दण्डकारण्य ले चलनेके सम्बन्धमें जो मेरा पहला विचार था, वह अब बदल गया है ॥ ३९ ॥

सा हि दिष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥ ४० ॥

'मदभरे नेत्रोंवाली सुन्दरी ! अब मैं तुम्हें वनमें चलनेके लिये आज्ञा देता हूँ । भीरु ! तुम मेरी अनुगामिनी बनो और मेरे साथ रहकर धर्मका आचरण करो ॥ ४० ॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥

'प्राणवल्लभे सीते ! तुमने मेरे साथ चलनेका जो यह परम सुन्दर निश्चय किया है, यह तुम्हारे और मेरे कुलके सर्वथा योग्य ही है ॥ ४१ ॥

आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥

'सुश्रोणि ! अब तुम वनवासके योग्य दान आदि कर्म प्रारम्भ करो । सीते ! इस समय तुम्हारे इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेपर तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम् ॥ ४३ ॥

'ब्राह्मणोंको रत्नस्वरूप उत्तम वस्तुएँ दान करो और भोजन माँगनेवाले भिक्षुकोंको भोजन दो। शीघ्रता करो, विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च।
रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥
शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

तुम्हारे पास जितने बहुमूल्य आभूषण हों, जो-जो अच्छे-अच्छे वस्त्र हों, जो कोई भी रमणीय पदार्थ हों तथा मनोरञ्जनकी जो-जो सुन्दर सामग्रियाँ हों, मेरे और तुम्हारे उपयोगमें आनेवाली जो उत्तमोत्तम शय्याएँ, सवारियाँ तथा अन्य वस्तुएँ हों, उनमेंसे ब्राह्मणोंको दान करनेके पश्चात् जो बचें उन सबको अपने सेवकोंको बाँट दो' ॥ ४४-४५ ॥

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेव प्रचक्रमे ॥ ४६ ॥

'स्वामीने वनमें मेरा जाना स्वीकार कर लिया—मेरा वनगमन उनके मनके अनुकूल हो गया' यह जानकर देवी सीता बहुत प्रसन्न हुई और शीघ्रतापूर्वक सब वस्तुओंका दान करनेमें जुट गयीं ॥ ४६ ॥

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

तदनन्तर अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेसे अत्यन्त हर्षमें भरी हुई यशस्विनी एवं मनस्विनी सीता देवी स्वामीके आदेशपर विचार करके धर्मात्मा ब्राह्मणोंको धन और रत्नोंका दान करनेके लिये उद्यत हो गयीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सुहृदोंसे पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वनगमनके लिये तैयार होना, श्रीरामका उनसे ब्राह्मणोंको धन बाँटनेका विचार व्यक्त करना

एवं श्रुत्वा स संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥

जिस समय श्रीराम और सीतामें बातचीत हो रही थी लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे । उन दोनोंका ऐसा संवाद सुनकर उनका मुखमण्डल आँसुओंसे भींग गया । भाईके विरहका शोक अब उनके लिये भी असह्य हो उठा ॥ १ ॥

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले लक्ष्मणने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीके दोनों पैर जोरसे पकड़ लिये और अत्यन्त यशस्विनी सीता तथा महान् व्रतधारी श्रीरघुनाथजीसे कहा— ॥ २ ॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥

'आर्य ! यदि आपने सहस्रों वन्य पशुओं तथा हाथियोंसे भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर ही लिया है तो मैं भी आपका अनुसरण करूँगा । धनुष हाथमें लेकर आगे-आगे चलूँगा ॥ ३ ॥

मया समेतोऽरण्यानि रम्याणि विचरिष्यसि।

पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

'आप मेरे साथ पक्षियोंके कलरव और भ्रमरसमूहोंके गुञ्जारसे गूँजते हुए रमणीय वनोंमें सब ओर विचरण कीजियेगा ॥ ४ ॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥ ५ ॥

'मैं आपके बिना स्वर्गमें जाने, अमर होने तथा सम्पूर्ण लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता' ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

वनवासके लिये निश्चित विचार करके ऐसी बात कहनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा समझाकर जब वनमें चलनेसे मना किया, तब वे फिर बोले—॥ ६ ॥

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम्।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

'भैया ! आपने तो पहलेसे ही मुझे अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे रखी है, फिर इस समय आप मुझे क्यों रोकते हैं ?

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! जिस कारणसे आपके साथ चलनेकी इच्छावाले मुझको आप मना करते हैं, उस कारणको मैं जानना चाहता हूँ । मेरे हृदयमें इसके लिये बड़ा संशय हो रहा है' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः।
स्थितं प्राग्गामिनं धीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर धीर-वीर लक्ष्मण आगे जानेके लिये तैयार हो भगवान् श्रीरामके सामने खड़े हो गये और हाथ जोड़कर याचना करने लगे। तब महातेजस्वी श्रीरामने उनसे कहा—॥ ९ ॥

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर-वीर तथा सदा सन्मार्गमें स्थित रहनेवाले हो। मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले आज्ञापालक और सखा हो ॥

मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम्।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥ ११ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यदि आज मेरे साथ तुम भी वनको चल दोगे तो परमयशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्राकी सेवा कौन करेगा ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥

'जैसे मेघ पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार जो सबकी कामनाएँ पूर्ण करते थे, वे महातेजस्वी महाराज दशरथ अब कैकेयीके प्रेमपाशमें बँध गये हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥ १३ ॥

'केकयराज अश्वपतिकी पुत्री कैकेयी महाराजके इस राज्यको पाकर मेरे वियोगके दुःखमें डूबी हुई अपनी सौतोंके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करेगी ॥ १३ ॥

न भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम्।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

'भरत भी राज्य पाकर कैकेयीके अधीन रहनेके कारण दुखिया कौसल्या और सुमित्राका भरण-पोषण नहीं करेंगे ॥

तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥ १५ ॥

'अतः सुमित्राकुमार ! तुम यहीं रहकर अपने प्रयत्नसे अथवा राजाकी कृपा प्राप्त करके माता कौसल्याका पालन करो। मेरे बताये हुए इस प्रयोजनको ही सिद्ध करो ॥ १५ ॥

एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता।
धर्मज्ञगुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

'ऐसा करनेसे मेरे प्रति जो तुम्हारी भक्ति है, वह भी भलीभाँति प्रकट हो जायगी तथा धर्मज्ञ गुरुजनोंकी पूजा करनेसे जो अनुपम एवं महान् धर्म होता है, वह भी तुम्हें प्राप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत् सुखम् ॥ १७ ॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार ! तुम मेरे लिये ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोगोंसे बिछुड़ी हुई हमारी माको कभी सुख नहीं होगा (वह सदा हमारी ही चिन्तामें डूबी रहेगी)' ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १८ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर बातचीतके मर्मको समझनेवाले लक्ष्मणने उस समय बातका तात्पर्य समझनेवाले श्रीरामको मधुर वाणीमें उत्तर दिया ॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नास्ति संशयः ॥ १९ ॥

'वीर ! आपके ही तेज (प्रभाव) से भरत माता कौसल्या और सुमित्रा दोनोंका पवित्र भावसे पूजन करेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम्।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥ २० ॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः।
तत्पक्षानपि तान् सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं तु सा ॥ २१ ॥
कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रं मद्विधानपि।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ॥ २२ ॥

'वीरवर ! इस उत्तम राज्यको पाकर यदि भरत बुरे रास्तेपर चलेंगे और दूषित हृदय एवं विशेषतः घमंडके कारण माताओंकी रक्षा नहीं करेंगे तो मैं उन दुर्बुद्धि और क्रूर भरतका तथा उनके पक्षका समर्थन करनेवाले उन सब लोगोंका वध कर डालूँगा; इसमें संशय नहीं है। यदि सारी त्रिलोकी उनका पक्ष करने लगे तो उसे भी अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, परंतु बड़ी माता कौसल्या तो स्वयं ही मेरे-जैसे सहस्रों मनुष्योंका भी भरण कर सकती हैं; क्योंकि उन्हें अपने आश्रितोंका पालन करनेके लिये एक सहस्र गाँव मिले हुए हैं ॥ २०—२२ ॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥ २३ ॥

'इसलिये वे मनस्विनी कौसल्या स्वयं ही अपना, मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ हैं ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥ २४ ॥

'अतः आप मुझको अपना अनुगामी बना लीजिये। इसमें कोई धर्मकी हानि नहीं होगी। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा तथा आपका भी प्रयोजन मेरे द्वारा सिद्ध हुआ करेगा ॥२४॥

धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥ २५ ॥

'प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर खंती और पिटारी लिये आपको रास्ता दिखाता हुआ मैं आपके आगे-आगे चलूँगा ॥

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥ २६ ॥

'प्रतिदिन आपके लिये फल-मूल लाऊँगा तथा तपस्वीजनोंके लिये वनमें मिलनेवाली तथा अन्यान्य हवन-सामग्री जुटाता रहूँगा ॥ २६ ॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यसे।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ॥ २७ ॥

'आप विदेहकुमारीके साथ पर्वतशिखरोंपर भ्रमण करेंगे। वहाँ आप जागते हों या सोते, मैं हर समय आपके सभी आवश्यक कार्य पूर्ण करूँगा' ॥ २७ ॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मणकी इस बातसे श्रीरामचन्द्रजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! जाओ, माता आदि सभी सुहृदोंसे मिलकर अपनी वनयात्राके विषयमें पूछ लो—उनकी आज्ञा एवं अनुमति ले लो ॥ २८ ॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥ २९ ॥
अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ।
आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥ ३० ॥
सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि।
सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण ॥ ३१ ॥

'लक्ष्मण ! राजा जनकके महान् यज्ञमें स्वयं महात्मा वरुणने उन्हें जो देखनेमें भयंकर दो दिव्य धनुष दिये थे, साथ ही, जो दो दिव्य अभेद्य कवच, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस तथा सूर्यकी भाँति निर्मल दीप्तिसे दमकते हुए जो दो सुवर्णभूषित खड्ग प्रदान किये थे (वे सभी दिव्यास्त्र मिथिलानरेशने मुझे दहेजमें दे दिये थे), उन सबको आचार्यदेवके घरमें सत्कारपूर्वक रक्खा गया है। तुम उन सारे आयुधोंको लेकर शीघ्र लौट आओ' ॥ २९—३१ ॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी गये और सुहृज्जनोंकी अनुमति लेकर वनवासके लिये निश्चितरूपसे तैयार हो इक्ष्वाकुकुलके गुरु वसिष्ठजीके यहाँ गये। वहाँसे उन्होंने उन उत्तम आयुधोंको ले लिया ॥ ३२ ॥

तद् दिव्यं राजशार्दूलः सत्कृतं माल्यभूषितम्।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥ ३३ ॥

क्षत्रियशिरोमणि सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सत्कारपूर्वक रखे हुए उन माल्यविभूषित समस्त दिव्य आयुधोंको लाकर उन्हें श्रीरामको दिखाया ॥ ३३ ॥

तमुवाचात्मवान् रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम्।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण ॥ ३४ ॥

तब मनस्वी श्रीरामने वहाँ आये हुए लक्ष्मणसे प्रसन्न होकर कहा—'सौम्य ! लक्ष्मण ! तुम ठीक समयपर आ गये। इसी समय तुम्हारा आना मुझे अभीष्ट था ॥ ३४ ॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप ॥ ३५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! मेरा जो यह धन है, इसे मैं तुम्हारे साथ रहकर तपस्वी ब्राह्मणोंको बाँटना चाहता हूँ ॥ ३५ ॥

वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥ ३६ ॥

'गुरुजनोंके प्रति सुदृढ़ भक्तिभावसे युक्त जो श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ मेरे पास रहते हैं, उनको तथा समस्त आश्रितजनोंको भी मुझे अपना यह धन बाँटना है ॥ ३६ ॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्य
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्।
अपि प्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान् द्विजातीन् ॥ ३७॥

'वसिष्ठजीके पुत्र जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ आर्य सुयज्ञ हैं, उन्हें तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ। मैं इन सबका तथा और जो ब्राह्मण शेष रह गये हों, उनका भी सत्कार करके वनको जाऊँगा' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदिका दान तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामद्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, त्रिजट ब्राह्मण और सुहृज्जनोंको धनका वितरण

**ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः प्रियकरं हितम्।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥ १ ॥**

तदनन्तर अपने भाई श्रीरामकी प्रियकारक एवं हितकर आज्ञा पाकर लक्ष्मण वहाँसे चल दिये। उन्होंने शीघ्र ही गुरुपुत्र सुयज्ञके घरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

**तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥ २ ॥**

उस समय विप्रवर सुयज्ञ अग्निशालामें बैठे हुए थे। लक्ष्मणने उन्हें प्रणाम करके कहा—'सखे! दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके घरपर आओ और उनका कार्य देखो' ॥ २ ॥

**ततः संध्यामुपास्थाय गत्वा सौमित्रिणा सह।
ऋद्धं स प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥**

सुयज्ञने मध्याह्नकालकी संध्योपासना पूरी करके लक्ष्मणके साथ जाकर श्रीरामके रमणीय भवनमें प्रवेश किया, जो लक्ष्मी-से सम्पन्न था ॥ ३ ॥

**तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥**

होमकालमें पूजित अग्निके समान तेजस्वी वेदवेत्ता सुयज्ञ-को आया जान सीतासहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उनकी अगवानी की ॥ ४ ॥

**जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ ५ ॥
अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत्।**

तत्पश्चात् ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने सोनेके बने हुए श्रेष्ठ अङ्गदों, सुन्दर कुण्डलों, सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई मणियों, केयूरों, वलयों तथा अन्य बहुत-से रत्नोंद्वारा उनका पूजन किया ॥ ५½ ॥

**सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥
हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय।
रशनां चाथ सा सीता दातुमिच्छति ते सखी ॥ ७ ॥**

इसके बाद सीताकी प्रेरणासे श्रीरामने सुयज्ञसे कहा—'सौम्य! तुम्हारी पत्नीकी सखी सीता तुम्हें अपना हार, सुवर्ण-सूत्र और करधनी देना चाहती है। इन वस्तुओंको अपनी पत्नीके लिये ले जाओ ॥ ६-७ ॥

**अङ्गदानि च चित्राणि केयूराणि शुभानि च।
प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥**

'वनको प्रस्थान करनेवाली तुम्हारी स्त्रीकी सखी सीता तुम्हें तुम्हारी पत्नीके लिये विचित्र अङ्गद और सुन्दर केयूर भी देना चाहती है ॥ ८ ॥

**पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम्।
तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥**

'उत्तम बिछौनोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित जो पलंग है, उसे भी विदेहनन्दिनी सीता तुम्हारे ही घरमें भेज देना चाहती है ॥ ९ ॥

**नागः शत्रुंजयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥ १० ॥**

'विप्रवर! शत्रुञ्जय नामक जो हाथी है, जिसे मेरे मामाने मुझे भेंट किया था, उसे एक हजार अशर्फियोंके साथ मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ' ॥ १० ॥

**इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत्।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः शिवाः ॥ ११ ॥**

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुयज्ञने वे सब वस्तुएँ ग्रहण करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये मङ्गलमय आशीर्वाद प्रदान किये ॥ ११ ॥

**अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदम्।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥**

तदनन्तर श्रीरामने शान्तभावसे खड़े हुए और प्रिय वचन बोलनेवाले अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे

उसी तरह निम्नाङ्कित बात कही, जैसे ब्रह्मा देवराज इन्द्रसे कुछ कहते हैं ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
अर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥ १३ ॥
तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रेण राघव ।
सुवर्णरजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! अगस्त्य और विश्वामित्र दोनों उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाकर रत्नोंद्वारा उनकी पूजा करो । महाबाहु रघुनन्दन ! जैसे मेघ जलकी वर्षाद्वारा खेतीको तृप्त करता है, उसी प्रकार तुम उन्हें सहस्रों गौओं, सुवर्णमुद्राओं, रजतद्रव्यों और बहुमूल्य मणियोंद्वारा संतुष्ट करो ॥ १३-१४ ॥

कौसल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥
तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत् तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥

'लक्ष्मण ! यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके जो आचार्य और सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् हैं, साथ ही जिनमें दानप्राप्तिकी योग्यता है तथा जो माता कौसल्याके प्रति भक्तिभाव रखकर प्रतिदिन उनके पास आकर उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते हैं, उनको सवारी, दास-दासी, रेशमी वस्त्र और जितने धनसे वे ब्राह्मणदेवता संतुष्ट हों, उतना धन खजानेसे दिलवाओ ॥ १५-१६ ॥

सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥
पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।

'चित्ररथ नामक सूत श्रेष्ठ सचिव भी हैं। वे सुदीर्घकालसे यहीं राजकुलकी सेवामें रहते हैं । इनको भी तुम बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन देकर संतुष्ट करो । साथ ही, इन्हें उत्तम श्रेणीके अज आदि सभी पशु और एक सहस्र गौएँ अर्पित करके पूर्ण संतोष प्रदान करो ॥ १७½ ॥

ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः ॥ १८ ॥
नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत् कुर्वन्ति किंचन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥ १९ ॥
तेषामशीतियानानि रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं च द्वे शते भद्रकांस्तथा ॥ २० ॥

'मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले जो कठशाखा और कलापशाखाके अध्येता बहुत-से दण्डधारी ब्रह्मचारी हैं, वे सदा स्वाध्यायमें ही संलग्न रहनेके कारण दूसरा कोई कार्य नहीं कर पाते । भिक्षा माँगनेमें आलसी हैं, परंतु स्वादिष्ट अन्न खानेकी इच्छा रखते हैं । महान् पुरुष भी उनका सम्मान करते हैं । उनके लिये रत्नोंके बोझसे लदे हुए अस्सी ऊँट, अगहनी चावलका भार ढोनेवाले एक सहस्र बैल तथा भद्रक नामक धान्यविशेष (चने, मूँग आदि) का भार लिये हुए दो सौ बैल और दिलवाओ ॥ १८–२० ॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ॥ २१ ॥

'सुमित्राकुमार ! उपर्युक्त वस्तुओंके सिवा उनके लिये दही, घी आदि व्यञ्जनके निमित्त एक सहस्र गौएँ भी हँकवा दो । माता कौसल्याके पास मेखलाधारी ब्रह्मचारियोंका बहुत बड़ा समुदाय आया है । उनमेंसे प्रत्येकको एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिलवा दो ॥ २१ ॥

अम्बा यथा नो नन्देच्च कौसल्या मम दक्षिणाम् ।
तथा द्विजातींस्तान् सर्वाँल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ॥ २२ ॥

'लक्ष्मण ! उन समस्त ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंको मेरेद्वारा दिलायी हुई दक्षिणा देखकर जिस प्रकार मेरी माता कौसल्या आनन्दित हो उठें, उसी प्रकार तुम उन सबकी सब प्रकारसे पूजा करो' ॥ २२ ॥

ततः पुरुषशार्दूलस्तद् धनं लक्ष्मणः स्वयम् ।
यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद् धनदो यथा ॥ २३ ॥

इस प्रकार आज्ञा प्राप्त होनेपर पुरुषसिंह लक्ष्मणने स्वयं ही कुबेरकी भाँति श्रीरामके कथनानुसार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उस धनका दान किया ॥ २३ ॥

अथाब्रवीद् वाष्पगलांस्तिष्ठतश्चोपजीविनः ।
स प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥
लक्ष्मणस्य च यद् वेश्म गृहं च यदिदं मम ।
अशून्यं कार्यमेकैकं यावदागमनं मम ॥ २५ ॥

इसके बाद वहाँ खड़े हुए अपने आश्रित सेवकोंको जिनका गला आँसुओंसे रुँधा हुआ था, बुलाकर श्रीरामने उनमेंसे एक-एकको चौदह वर्षोंतक जीविका चलानेयोग्य बहुत-सा द्रव्य प्रदान किया और उन सबसे कहा—'जबतक मैं वनसे लौटकर न आऊँ, तबतक तुमलोग लक्ष्मणके और मेरे इस घरको कभी सूना न करना—छोड़कर अन्यत्र न जाना' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ।
उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतां मम ॥ २६ ॥

वे सब सेवक श्रीरामके वनगमनसे बहुत दुखी थे। उनसे उपर्युक्त बात कहकर श्रीराम अपने धनाध्यक्ष (खजांची) से बोले—'खजानेमें मेरा जितना धन है, वह सब ले आओ' ॥

ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्व एवोपजीविनः ।
स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ॥ २७ ॥

यह सुनकर सभी सेवक उनका धन ढो-ढोकर ले आने लगे। वहाँ उस धनकी बहुत बड़ी राशि एकत्र हुई दिखायी देने लगी, जो देखने ही योग्य थी ॥ २७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद् धनं सहलक्ष्मणः।
द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत् ॥ २८ ॥

तब लक्ष्मणसहित पुरुषसिंह श्रीरामने बालक और बूढ़े ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियोंको वह सारा धन बँटवा दिया ॥

तत्रासीत् पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली ॥ २९ ॥

उन दिनों वहाँ अयोध्याके आस-पास वनमें त्रिजट नामवाले एक गर्गगोत्रीय ब्राह्मण रहते थे। उनके पास जीविकाका कोई साधन नहीं था, इसलिये उपवास आदिके कारण उनके शरीरका रंग पीला पड़ गया था। वे सदा फाल, कुदाल और हल लिये वनमें फल-मूलकी तलाशमें घूमा करते थे ॥ २९ ॥

तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान्।
अब्रवीद् ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवता ॥ ३० ॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम।
रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किंचिदवाप्स्यसि ॥ ३१ ॥

वे स्वयं तो बूढ़े हो चले थे, परंतु उनकी पत्नी अभी तरुणी थी। उसने छोटे बच्चोंको लेकर ब्राह्मणदेवतासे यह बात कही—'प्राणनाथ! (यद्यपि) स्त्रियोंके लिये पति ही देवता हैं, (अतः मुझे आपको आदेश देनेका कोई अधिकार नहीं है, तथापि मैं आपकी भक्त हूँ; इसलिये विनयपूर्वक यह अनुरोध करती हूँ कि—) आप यह फाल और कुदाल फेंककर मेरा कहना कीजिये। धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीसे मिलिये। यदि आप ऐसा करें तो वहाँ अवश्य कुछ पा जायँगे' ॥ ३०-३१ ॥

स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम्।
स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ॥ ३२ ॥

पत्नीकी बात सुनकर ब्राह्मण एक फटी धोती, जिससे मुश्किलसे शरीर ढक पाता था, पहनकर उस मार्गपर चल दिये, जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका महल था ॥ ३२ ॥

भृग्वङ्गिरःसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि।
आपञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत् ॥ ३३ ॥

भृगु और अङ्गिराके समान तेजस्वी त्रिजट जनसमुदायके बीचसे होकर श्रीरामभवनकी पाँचवीं ड्योढ़ीतक चले गये, परंतु उनके लिये किसीने रोक-टोक नहीं की ॥ ३३ ॥

स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत्।
निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल ॥ ३४ ॥
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति।

उस समय श्रीरामके पास पहुँचकर त्रिजटने कहा—'महाबली राजकुमार! मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुत-से पुत्र हैं; जीविका नष्ट हो जानेसे सदा वनमें ही रहता हूँ, आप मुझपर कृपादृष्टि कीजिये' ॥ ३४½ ॥

तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम् ॥ ३५ ॥
गवां सहस्रमप्येकं न च विश्राणितं मया।
परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसे ॥ ३६ ॥

तब श्रीरामने विनोदपूर्वक कहा—'ब्रह्मन्! मेरे पास असंख्य गौएँ हैं, इनमेंसे एक सहस्रका भी मैंने अभीतक किसीको दान नहीं किया है। आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे, वहाँतककी सारी गौएँ आपको मिल जायँगी' ॥

स शाटीं परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम्।
आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः ॥ ३७ ॥

यह सुनकर उन्होंने बड़ी तेजीके साथ धोतीके पल्लेको सब ओरसे कमरमें लपेट लिया और अपनी सारी शक्ति लगाकर डंडेको बड़े वेगसे घुमाकर फेंका ॥ ३७ ॥

स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः।
गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षणसंनिधौ ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणके हाथसे छूटा हुआ वह डंडा सरयूके उस पार जाकर हजारों गौओंसे भरे हुए गोष्ठमें एक साँड़के पास गिरा ॥ ३८ ॥

तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात् सरयूतटात्।
आनयामास ता गावस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

धर्मात्मा श्रीरामने त्रिजटको छातीसे लगा लिया और उस सरयूतटसे लेकर उस पार गिरे हुए डंडेके स्थानतक जितनी गौएँ थीं, उन सबको मँगवाकर त्रिजटके आश्रमपर भेज दिया ॥ ३९ ॥

उवाच च तदा रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन्।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥ ४० ॥

उस समय श्रीरामने गर्गवंशी त्रिजटको सान्त्वना देते हुए कहा—'ब्रह्मन्! मैंने विनोदमें यह बात कही थी, आप इसके लिये बुरा न मानियेगा ॥ ४० ॥

इदं हि तेजस्तव यद् दुरत्ययं
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
वृणीष्व किं चेदपरं व्यवस्यसि ॥ ४१ ॥

'आपका यह जो दुर्लङ्घ्य तेज है, इसीको जाननेकी इच्छासे मैंने आपको यह डंडा फेंकनेके लिये प्रेरित किया था, यदि आप और कुछ चाहते हों तो माँगिये ॥ ४१ ॥

ब्रवीमि सत्येन न ते स्म यन्त्रणां
धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात्।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन
मयार्जितं चैव यशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥

'मैं सच कहता हूँ कि इसमें आपके लिये कोई संकोचकी बात नहीं है। मेरे पास जो-जो धन हैं; वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। आप-जैसे ब्राह्मणोंको शास्त्रीय विधिके अनुसार दान देनेसे मेरे द्वारा उपार्जित किया हुआ धन मेरे यशकी वृद्धि करनेवाला होगा' ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-
स्तदाशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥ ४३ ॥

गौओंके उस महान् समूहको पाकर पत्नीसहित महामुनि त्रिजटको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे महात्मा श्रीरामको यश, बल, प्रीति तथा सुख बढ़ानेवाले आशीर्वाद देने लगे ॥ ४३ ॥

स चापि रामः प्रतिपूर्णपौरुषो
महाधनं धर्मबलैरुपार्जितम् ।
नियोजयामास सुहृज्जने चिराद्
यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर पूर्ण पराक्रमी भगवान् श्रीराम धर्मबलसे उपार्जित किये हुए उस महान् धनको लोगोंके यथायोग्य सम्मानपूर्ण वचनोंसे प्रेरित हो बहुत देरतक अपने सुहृदोंमें बाँटते रहे ॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृद् भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत् ।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

उस समय वहाँ कोई भी ब्राह्मण, सुहृद्, सेवक, दरिद्र अथवा भिक्षुक ऐसा नहीं था, जो श्रीरामके यथायोग्य सम्मान, दान तथा आदर-सत्कारसे तृप्त न किया गया हो ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका दुखी नगरवासियोंके मुखसे तरह-तरहकी बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें जाना

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु ।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥

विदेहकुमारी सीताके साथ श्रीराम और लक्ष्मण ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके वन जानेके लिये उद्यत हो पिताका दर्शन करनेके लिये गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते प्रेष्याभ्यामशोभेतां तदायुधे ।
मालादामभिरासक्ते सीतया समलंकृते ॥ २ ॥

उनके साथ दो सेवक श्रीराम और लक्ष्मणके वे धनुष आदि आयुध लेकर चले, जिन्हें फूलकी मालाओंसे सजाया गया था और सीताजीने पूजाके लिये चढ़ाये हुए चन्दन आदिसे अलंकृत किया था। उन दोनोंके आयुधोंकी उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २ ॥

ततः प्रासादहर्म्याणि विमानशिखराणि च ।
अभिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ॥ ३ ॥

उस अवसरपर धनी लोग प्रासादों (तिमंजिले महलों), हर्म्यगृहों (राजभवनों) तथा विमानों (सात मंजिले महलों) की ऊपरी छतोंपर चढ़कर उदासीनभावसे उन तीनोंकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

न हि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः ।
आरुह्य तस्मात् प्रासादाद् दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥ ४ ॥

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भीड़से भरी थीं । इसलिये उनपर सुगमतापूर्वक चलना कठिन हो गया था। अतः अधिकांश मनुष्य प्रासादों (तिमंजिले मकानों) पर चढ़कर वहींसे दुखी होकर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देख रहे थे ॥ ४ ॥

पदातिं सानुजं दृष्ट्वा ससीतं च जनास्तदा ।
ऊचुर्बहुजना वाचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥

श्रीरामको अपने छोटे भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताके साथ पैदल जाते देख बहुत-से मनुष्योंका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा। वे खेदपूर्वक कहने लगे—॥ ५ ॥

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् ।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

'हाय ! यात्राके समय जिनके पीछे विशाल चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम आज अकेले जा रहे हैं और उनके पीछे सीताके साथ लक्ष्मण चल रहे हैं ॥ ६ ॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः सन् कामानां चाकरो महान् ।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात् ॥ ७ ॥

'जो ऐश्वर्यके सुखका अनुभव करनेवाले तथा भोग्य वस्तुओंके महान् भण्डार थे—जहाँ सबकी कामनाएँ पूर्ण होती थीं, वे ही श्रीराम आज धर्मका गौरव रखनेके लिये पिताकी बात झूठी करना नहीं चाहते हैं ॥ ७ ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥

'ओह! पहले जिसे आकाशमें विचरनेवाले प्राणी भी नहीं देख पाते थे, उसी सीताको इस समय सड़कोंपर खड़े हुए लोग देख रहे हैं ॥ ८ ॥

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम्।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥

'सीता अङ्गराग-सेवनके योग्य हैं, लाल चन्दनका सेवन करनेवाली हैं। अब वर्षा, गर्मी और सर्दी शीघ्र ही इनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी कर देगी ॥ ९ ॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते।
नहि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमर्हति ॥ १० ॥

'निश्चय ही आज राजा दशरथ किसी पिशाचके आवेशमें पड़कर अनुचित बात कह रहे हैं; क्योंकि अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहनेवाला कोई भी राजा अपने प्यारे पुत्रको घरसे निकाल नहीं सकता ॥ १० ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् विनिवासनम्।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥ ११ ॥

'पुत्र यदि गुणहीन हो तो भी उसे घरसे निकाल देनेका साहस कैसे हो सकता है? फिर जिसके केवल चरित्रसे ही यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसको वनवास देनेकी तो बात ही कैसे की जा सकती है? ॥ ११ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥ १२ ॥

'क्रूरताका अभाव, दया, विद्या, शील, दम (इन्द्रिय-संयम) और शम (मनोनिग्रह)—ये छः गुण नरश्रेष्ठ श्रीराम-को सदा ही सुशोभित करते हैं ॥ १२ ॥

तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः।
औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥ १३ ॥

'अतः इनके ऊपर आघात करने—इनके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेसे प्रजाको उसी तरह महान् क्लेश पहुँचा है, जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी सूख जानेसे उसके भीतर रहनेवाले जीव तड़पने लगते हैं ॥ १३ ॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः।
मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥

'इन जगदीश्वर श्रीरामकी व्यथासे सम्पूर्ण जगत् व्यथित हो उठा है, जैसे जड़ काट देनेसे पुष्प और फलसहित सारा वृक्ष सूख जाता है ॥ १४ ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥

'ये महान् तेजस्वी श्रीराम सम्पूर्ण मनुष्योंके मूल हैं, धर्म ही इनका बल है। जगत्‌के दूसरे प्राणी पत्र, पुष्प, फल और शाखाएँ हैं ॥ १५ ॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सहबान्धवाः।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥

'अतः हम लोग भी लक्ष्मणकी भाँति पत्नी और बन्धु-बान्धवोंके साथ शीघ्र ही इन जानेवाले श्रीरामके ही पीछे-पीछे चल दें। जिस मार्गसे श्रीरघुनाथजी जा रहे हैं, उसीका हम भी अनुसरण करें ॥ १६ ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च।
एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥ १७ ॥

'बाग-बगीचे, घर-द्वार और खेती-बारी—सब छोड़कर धर्मात्मा श्रीरामका अनुगमन करें। इनके दुःख-सुखके साथी बनें ॥ १७ ॥

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥ १८ ॥
रजसाभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥ १९ ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च।
अस्मत्त्यक्तानि कैकेयी वेश्मानि प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥

'हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें। आँगन-की फर्श खोद डालें। सारा धन-धान्य साथ ले लें। सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें। इनमें चारों ओर धूल भर जाय। देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ। चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें और उनसे ये घर भर जायँ। इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे। यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय। मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ। इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कैकेयी आकर अधिकार कर ले ॥ १८–२१ ॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥

'जहाँ पहुँचनेके लिये ये श्रीरामचन्द्रजी जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर भी वनके रूपमें परिणत हो जाय ॥ २२ ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥ २३ ॥

'वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ। पर्वतपर रहनेवाले मृग और पक्षी उसके शिखरोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी उन वनोंको त्याग-कर दूर चले जायँ ॥ २३ ॥

अस्मत्त्यक्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम् ॥ २४ ॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सह बान्धवैः।
राघवेण वयं सर्वे वने वत्स्याम निर्वृताः ॥ २५ ॥

'वे सर्प आदि उन स्थानोंमें चले जायँ, जिन्हें हमलोगोंने छोड़ रखा है और उन स्थानोंको त्याग दें, जिनका हम सेवन करते हैं। यह देश घास चरनेवाले पशुओं, मांसभक्षी हिंसक जन्तुओं और फल खानेवाले पक्षियोंका निवासस्थान बन जाय। यहाँ सर्प, पशु और पक्षी रहने लगें। उस दशामें पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित कैकेयी इसे अपने अधिकारमें कर ले। हम सब लोग वनमें श्रीरघुनाथजीके साथ बड़े आनन्दसे रहेंगे' ॥ २४-२५ ॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः।
शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥ २६ ॥
स तु वेश्म पुनर्मातुः कैलासशिखरप्रभम्।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से मनुष्योंके मुँहसे निकली हुई तरह-तरहकी बातें सुनीं; किंतु सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। मतवाले गजराजके समान पराक्रमी धर्मात्मा श्रीराम पुनः माता कैकेयीके कैलासशिखरके सदृश शुभ्र भवनमें गये ॥ २६-२७ ॥

विनीतवीरपुरुषं प्रविश्य तु नृपालयम्।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥ २८ ॥

विनयशील वीर पुरुषोंसे युक्त उस राजभवनमें प्रवेश करके उन्होंने देखा—सुमन्त्र पास ही दुखी होकर खड़े हैं ॥२८॥

प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ।
जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥ २९ ॥

पूर्वजोंकी निवासभूमि अवधके मनुष्य वहाँ शोकसे आतुर होकर खड़े थे। उन्हें देखकर भी श्रीराम स्वयं शोकसे पीड़ित नहीं हुए—उनके शरीरपर व्यथाका कोई चिह्न प्रकट नहीं हुआ। वे पिताकी आज्ञाका विधिपूर्वक पालन करनेकी इच्छासे उनका दर्शन करनेके लिये हँसते हुए-से आगे बढ़े ॥ २९ ॥

तत्पूर्वमैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन् नृपमार्तरूपम्।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥ ३० ॥

शोकाकुलरूपसे पड़े हुए राजाके पास जानेवाले महात्मा महामना इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीराम वहाँ पहुँचनेसे पहले सुमन्त्र-को देखकर पिताके पास अपने आगमनकी सूचना भेजनेके लिये उस समय वहीं ठहर गये ॥ ३० ॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥ ३१ ॥

पिताके आदेशसे वनमें प्रवेश करनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय करके आये हुए धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रकी ओर देखकर बोले—'आप महाराजको मेरे आगमनकी सूचना दे दें' ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रानियोंसहित राजा दशरथके पास जाकर वनवासके लिये विदा माँगना, राजाका शोक और मूर्छा, श्रीरामका उन्हें समझाना तथा राजाका श्रीरामको हृदयसे लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥ १ ॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियम्।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥ २ ॥

जब कमलनयन श्यामसुन्दर उपमारहित महापुरुष श्रीरामने सूत सुमन्त्रसे कहा—'आप पिताजीको मेरे आगमन-की सूचना दे दीजिये।' तब श्रीरामकी प्रेरणासे शीघ्र ही भीतर जाकर सारथि सुमन्त्रने राजाका दर्शन किया। उनकी सारी इन्द्रियाँ संतापसे कलुषित हो रही थीं। वे लंबी साँस खींच रहे थे ॥ १-२ ॥

उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥ ३ ॥
आलोड्य च महाप्राज्ञः परमाकुलचेतनम्।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

सुमन्त्रने देखा, पृथ्वीपति महाराज दशरथ राहुग्रस्त सूर्य, राखसे ढकी हुई आग तथा जलशून्य तालाबके समान श्रीहीन हो रहे हैं। उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल है और वे श्रीरामका ही चिन्तन कर रहे हैं। तब महाप्राज्ञ सूतने महाराजको सम्बोधित करके हाथ जोड़कर कहा ॥ ३-४ ॥

तं वर्धयित्वा राजानं पूर्वं सूतो जयाशिषा।

भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णयाब्रवीत् ॥ ५ ॥

पहले तो सूत सुमन्त्रने विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए महाराजकी अभ्युदय-कामना की; फिर भयसे व्याकुल मन्द मधुर वाणीद्वारा यह बात कही—॥ ५ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।
सर्वान् सुहृद आपृच्छ्य त्वां हीदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥
गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते ।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥

'पृथ्वीनाथ ! आपके पुत्र ये सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणों तथा आश्रित सेवकोंको अपना सारा धन देकर द्वारपर खड़े हैं। आपका कल्याण हो, ये अपने सब सुहृदोंसे मिलकर—उनसे विदा लेकर इस समय आपका दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो यहाँ आकर आपका दर्शन करें। राजन् ! अब ये विशाल वनमें चले जायँगे, अतः किरणोंसे युक्त सूर्यकी भाँति समस्त राजोचित गुणसे सम्पन्न इन श्रीरामको आप भी जी भरकर देख लीजिये' ॥ ६—८ ॥

स सत्यवाक्यो धर्मात्मा गाम्भीर्यात् सागरोपमः ।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥

यह सुनकर समुद्रके समान गम्भीर तथा आकाशकी भाँति निर्मल, सत्यवादी धर्मात्मा महाराज दशरथने उन्हें उत्तर दिया—॥ ९ ॥

सुमन्त्रानय मे दारान् ये केचिदिह मामकाः ।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम् ॥ १० ॥

'सुमन्त्र ! यहाँ जो कोई भी मेरी स्त्रियाँ हैं, उन सबको बुलाओ । उन सबके साथ मैं श्रीरामको देखना चाहता हूँ' ॥ १० ॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत् ।
आर्या ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ११ ॥

तब सुमन्त्रने बड़े वेगसे अन्तःपुरमें जाकर सब स्त्रियोंसे कहा—'देवियो ! आपलोगोंको महाराज बुला रहे हैं, अतः वहाँ शीघ्र चलें' ॥ ११ ॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया ।
प्रचक्रमुस्तद् भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥ १२ ॥

राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर वे सब रानियाँ स्वामीका आदेश समझकर उस भवनकी ओर चलीं ॥ १२ ॥

अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः ।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥ १३ ॥

कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाली साढ़े तीन सौ पतिव्रता युवती स्त्रियाँ महारानी कौसल्याको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे उस भवनमें गयीं ॥ १३ ॥

आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः ।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥ १४ ॥

उन सबके आ जानेपर उन्हें देखकर पृथ्वीपति राजा दशरथने सूतसे कहा—'सुमन्त्र ! अब मेरे पुत्रको ले आओ' ॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तथा ।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्र गये और श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीताको साथ लेकर शीघ्र ही महाराजके पास लौट आये ॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा चारात् कृताञ्जलिम् ।
उत्पपातासनात् तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥ १६ ॥

महाराज दूरसे ही अपने पुत्रको हाथ जोड़कर आते देख सहसा अपने आसनसे उठ खड़े हुए । उस समय स्त्रियोंसे घिरे हुए वे नरेश शोकसे आर्त हो रहे थे ॥ १६ ॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशाम्पतिः ।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामको देखते ही वे प्रजापालक महाराज बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े, किंतु उनके पास पहुँचनेके पहले ही दुःखसे व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये ॥ १७ ॥

तं रामोऽभ्यपतत् क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तथा ॥ १८ ॥

उस समय श्रीराम और महारथी लक्ष्मण बड़ी तेजीसे चलकर दुःखके कारण अचेत-से हुए शोकमग्न महाराजके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि ।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमिश्रितः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें उस राजभवनके भीतर सहसा आभूषणोंकी ध्वनिके साथ सहस्रों स्त्रियोंका 'हा राम ! हा राम !' यह आर्तनाद गूँज उठा ॥ १९ ॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥ २० ॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई भी सीताके साथ रो पड़े और उन तीनोंने महाराजको दोनों भुजाओंसे उठाकर पलंगपर बिठा दिया ॥ २० ॥

अथ रामो मुहूर्तस्य लब्धसंज्ञं महीपतिम् ।
उवाच प्राञ्जलिर्बाष्पशोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥

शोकाश्रुके सागरमें डूबे हुए महाराज दशरथको दो घड़ीमें जब फिर चेत हुआ, तब श्रीरामने हाथ जोड़कर उनसे कहा—॥ २१ ॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः ।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! आप हमलोगोंके स्वामी हैं। मैं दण्डकारण्यको जा रहा हूँ और आपसे आज्ञा लेने आया हूँ । आप अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखिये ॥ २२ ॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेतु मां वनम् ।
कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

अनुजानीहि सर्वान् नः शोकमुत्सृज्य मानद ।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिवात्मजान् ॥ २४ ॥

'मेरे साथ लक्ष्मणको भी वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये । साथ ही यह भी स्वीकार कीजिये कि सीता भी मेरे साथ वनको जाय । मैंने बहुत-से सच्चे कारण बताकर इन दोनोंको रोकनेकी चेष्टा की है, परंतु ये यहाँ रहना नहीं चाहते हैं; अतः दूसरोंको मान देनेवाले नरेश ! आप शोक छोड़कर हम सबको—मुझको, लक्ष्मणको और सीताको भी उसी तरह वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये, जैसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र सनकादिकोंको तपके लिये वनमें जानेकी अनुमति दी थी' ॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः ।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार शान्तभावसे वनवासके लिये राजाकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर महाराजने उनसे कहा—॥ २५ ॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः ।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥ २६ ॥

'रघुनन्दन ! मैं कैकेयीको दिये हुए वरके कारण मोहमें पड़ गया हूँ । तुम मुझे कैद करके स्वयं ही अब अयोध्याके राजा बन जाओ' ॥ २६ ॥

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतां वरः ।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥ २७ ॥

महाराजके ऐसा कहनेपर बात-चीत करनेमें कुशल धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने दोनों हाथ जोड़कर पिताको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २७ ॥

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ॥ २८ ॥

'महाराज ! आप सहस्रों वर्षोंतक इस पृथ्वीके अधिपति बने रहें ! मैं तो अब वनमें ही निवास करूँगा । मुझे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं है ॥ २८ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते ।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥ २९ ॥

'नरेश्वर ! चौदह वर्षोंतक वनमें घूम-फिरकर आपकी प्रतिज्ञा पूरी कर लेनेके पश्चात् मैं पुनः आपके युगल चरणोंमें मस्तक झुकाऊँगा ॥ २९ ॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः ।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत् ॥ ३० ॥

राजा दशरथ एक तो सत्यके बन्धनमें बँधे हुए थे, दूसरे एकान्तमें कैकेयी उन्हें श्रीरामको वनमें तुरंत भेजनेके लिये बाध्य कर रही थी—इस अवस्थामें वे आर्तभावसे रोते हुए वहाँ अपने प्रिय पुत्र श्रीरामसे बोले—॥ ३० ॥

श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च ।
गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥ ३१ ॥

'तात ! तुम कल्याणके लिये, वृद्धिके लिये और फिर लौट आनेके लिये शान्तभावसे जाओ । तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित और निर्भय हो ॥ ३१ ॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव ।
संनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥ ३२ ॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम् ॥ ३३ ॥

'बेटा रघुनन्दन ! तुम सत्यस्वरूप और धर्मात्मा हो। तुम्हारे विचारको पलटना तो असम्भव है; परंतु रातभर और रह जाओ । सिर्फ एक रातके लिये सर्वथा अपनी यात्रा रोक दो । केवल एक दिन भी तो मैं तुम्हें देखनेका सुख उठा लूँ ॥ ३२-३३ ॥

मातरं मां च सम्पश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम् ।
तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि ॥ ३४ ॥

'अपनी माताको और मुझको इस अवस्थामें देखकर आजकी इस रातमें यहीं रह जाओ । मेरे द्वारा सम्पूर्ण अभिलषित वस्तुओंसे तृप्त होकर कल प्रातःकाल यहाँसे जाना ॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव प्रिय ।
त्वया हि मत्प्रियार्थं तु वनमेवमुपाश्रितम् ॥ ३५ ॥

'मेरे प्रिय पुत्र श्रीराम ! तुम सर्वथा दुष्कर कार्य कर रहे हो । मेरा प्रिय करनेके लिये ही तुमने इस प्रकार वनका आश्रय लिया है ॥ ३५ ॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।
छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया ॥ ३६ ॥
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि ।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥

'परंतु बेटा रघुनन्दन ! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यह मुझे प्रिय नहीं है । मुझे तुम्हारा वनमें जाना अच्छा नहीं लगता । यह मेरी स्त्री कैकेयी राखमें छिपी हुई आगके समान भयंकर है । इसने अपने क्रूर अभिप्रायको छिपा रखा था । इसीने आज मुझे मेरे अभीष्ट संकल्पसे विचलित कर दिया है । कुलोचित सदाचारका विनाश करनेवाली इस कैकेयीने मुझे वरदानके लिये प्रेरित करके मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा किया है । इसके द्वारा जो वञ्चना मुझे प्राप्त हुई है, उसीको तुम पार करना चाहते हो ॥ ३६-३७ ॥

न चैतदाश्चर्यतमं यत् त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

'पुत्र ! तुम अपने पिताको सत्यवादी बनाना चाहते हो । तुम्हारे लिये यह कोई अधिक आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि तुम गुण और अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो' ॥ ३८ ॥

अथ रामस्तदा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

अपने शोकाकुल पिताका यह कथन सुनकर उस समय छोटे भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने दुखी होकर कहा—॥ ३९ ॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति ।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥

'महाराज ! आज यात्रा करके मैं जिन गुणों (लाभों) को पाऊँगा, उन्हें कल कौन मुझे देगा ?* अतः मैं सम्पूर्ण कामनाओंके बदले आज यहाँसे निकल जाना ही अच्छा समझता हूँ और इसीका वरण करता हूँ ॥ ४० ॥

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

'राष्ट्र और यहाँके निवासी मनुष्योंसहित धनधान्यसे सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी। आप इसे भरतको दे दें ॥४१॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति ।
यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।

'मेरा वनवासविषयक निश्चय अब बदल नहीं सकेगा। वरदायक नरेश ! आपने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको जो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे पूर्णरूपसे दीजिये और सत्यवादी बनिये ॥ ४२½ ॥

अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

'मैं आपकी उक्त आज्ञाका पालन करता हुआ चौदह वर्षोंतक वनमें वनचारी प्राणियोंके साथ निवास करूँगा । आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये । आप यह सारी पृथ्वी भरतको दे दीजिये ॥ ४३-४४ ॥

नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम् ।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन ! मैंने अपने मनको सुख देने अथवा स्वजनोंका प्रिय करनेके उद्देश्यसे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की थी । आपकी आज्ञाका यथावत्‌रूपसे पालन करनेके लिये ही मैंने उसे ग्रहण करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ४५ ॥

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः ।
नहि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥

'आपका दुःख दूर हो जाय, आप इस प्रकार आँसू न बहावें । सरिताओंका स्वामी दुर्धर्ष समुद्र क्षुब्ध नहीं होता है—अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता है (इसी तरह आपको भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिये) ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम् ।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम् ॥ ४७ ॥

'मुझे न तो इस राज्यकी, न सुखकी, न पृथ्वीकी, न इन सम्पूर्ण भोगोंकी, न स्वर्गकी और न जीवनकी ही इच्छा है ॥ ४७ ॥

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥

'पुरुषशिरोमणे ! मेरे मनमें यदि कोई इच्छा है तो यही कि आप सत्यवादी बनें । आपका वचन मिथ्या न होने पावे । यह बात मैं आपके सामने सत्य और शुभ कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥ ४८ ॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो ।
स शोकं धारयस्वेमं नहि मेऽस्ति विपर्ययः ॥ ४९ ॥

'तात ! प्रभो ! अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता । अतः आप इस शोकको अपने भीतर ही दबा लें। मैं अपने निश्चयके विपरीत कुछ नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव ।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥

'रघुनन्दन ! कैकेयीने मुझसे यह याचना की कि 'राम ! तुम वनको चले जाओ' मैंने वचन दिया था कि 'अवश्य जाऊँगा' उस सत्यका मुझे पालन करना है ॥ ५० ॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम् ।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते ॥ ५१ ॥

'देव ! बीचमें हमें देखने या हमसे मिलनेके लिये आप उत्कण्ठित न होंगे । शान्तस्वभाववाले मृगोंसे भरे हुए और भाँति-भाँतिके पक्षियोंके कलरवोंसे गूँजते हुए उस वनमें हम-लोग बड़े आनन्दसे रहेंगे ॥ ५१ ॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् ।
तस्माद् दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥

'तात ! पिता देवताओंके भी देवता माने गये हैं अतः मैं देवता समझकर ही पिता (आप) की आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ५२ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नृपसत्तम ।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं संतापोऽयं विमुच्यताम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ ! अब यह संताप छोड़िये । चौदह वर्ष बीत जानेपर आप फिर मुझे आया हुआ देखेंगे ॥ ५३ ॥

येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पकलो जनः ।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

'पुरुषसिंह ! यहाँ जितने लोग आँसू बहा रहे हैं, इन सबको धैर्य बँधाना आपका कर्तव्य है; फिर आप स्वयं ही इतने विकल कैसे हो रहे हैं ? ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम् ।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्
वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

'यह नगर, यह राज्य और यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी । आप यह सब कुछ भरतको दे दीजिये । अब मैं आपके आदेशका पालन करता हुआ दीर्घकालतक वनमें निवास

* 'प्राप्स्यामि ··· ···' इस आधे श्लोकका अर्थ यह भी हो सकता है कि आज यहाँ रहकर जिन उत्तमोत्तम अभीष्ट पदार्थोंको मैं पाऊँगा, उन्हें कलसे कौन देगा ?

करनेके लिये यहाँसे यात्रा कर रहा हूँ ॥ ५५ ॥

मया विसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरोपकाननाम् ।
शिवासु सीमास्वनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥ ५६ ॥

'मेरी छोड़ी हुई पर्वतखण्डों, नगरों और उपवनोंसहित इस सारी पृथ्वीका भरत कल्याणकारिणी मर्यादाओंमें स्थित रहकर पालन करें । नरेश्वर ! आपने जो वचन दिया है, वह पूर्ण हो ॥ ५६ ॥

न मे तथा पार्थिव धीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये ।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥ ५७ ॥

'पृथ्वीनाथ ! निष्पाप महाराज ! सत्पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आपकी आज्ञाका पालन करनेमें मेरा मन जैसा लगता है, वैसा बड़े-बड़े भोगोंमें तथा अपने किसी प्रिय पदार्थमें भी नहीं लगता; अतः मेरे लिये आपके मनमें जो दुःख है, वह दूर हो जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान् वसुधां न मैथिलीम् ।
न चिन्तितं त्वामनृतेन योजयन्
वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥ ५८ ॥

'निष्पाप नरेश ! आज आपको मिथ्यावादी बनाकर मैं अक्षय राज्य, सब प्रकारके भोग, वसुधाका आधिपत्य, मिथिलेशकुमारी सीता तथा अन्य किसी अभिलषित पदार्थको भी स्वीकार नहीं कर सकता । मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि 'आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो' ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने
गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च ।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः ॥ ५९ ॥

'मैं विचित्र वृक्षोंसे युक्त वनमें प्रवेश करके फल-मूलका भोजन करता हुआ वहाँके पर्वतों, नदियों और सरोवरोंको देख-देखकर सुखी होऊँगा; इसलिये आप अपने मनको शान्त कीजिये' ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्न-
स्तापेन दुःखेन च पीड्यमानः ।
आलिङ्गय पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
भूमिं गतो नैव विचेष्ट किंचित् ॥ ६० ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर पुत्र-विछोहके संकटमें पड़े हुए राजा दशरथने दुःख और संतापसे पीड़ित हो उन्हें छातीसे लगाया और फिर अचेत होकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े । उस समय उनका शरीर जडकी भाँति कुछ भी चेष्टा न कर सका ॥

देव्यः समस्ता रुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम् ।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥ ६१ ॥

यह देख राजरानी कैकेयीको छोड़कर वहाँ एकत्र हुई अन्य सभी रानियाँ रो पड़ीं । सुमन्त्र भी रोते-रोते मूर्छित हो गये तथा वहाँ सब ओर हाहाकार मच गया ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सुमन्त्रके समझाने और फटकारनेपर भी कैकेयीका टस-से-मस न होना

ततो निधूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत् ।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च ॥ १ ॥
लोचने कोपसंरक्ते वर्णं पूर्वोचितं जहत् ।
कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥ २ ॥
मनः समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य च ।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्शरैः शितैः ॥ ३ ॥

तदनन्तर होशमें आनेपर सारथि सुमन्त्र सहसा उठकर खड़े हो गये । उनके मनमें बड़ा संताप हुआ, जो अमङ्गलकारी था । वे क्रोधके मारे काँपने लगे । उनके शरीर और मुखकी पहली स्वाभाविक कान्ति बदल गयी । वे क्रोधसे आँखें लाल करके दोनों हाथोंसे सिर पीटने लगे और बारंबार लंबी साँस खींचकर, हाथसे हाथ मलकर, दाँत कटकटाकर राजा दशरथके मनकी वास्तविक अवस्था देखते हुए अपने वचनरूपी तीखे बाणोंसे कैकेयीके हृदयको कम्पित-सा करने लगे ॥ १—३ ॥

वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुभैः ।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

अपने अशुभ एवं अनुपम वचनरूपी वज्रसे कैकेयीके सारे मर्मस्थानोंको विदीर्ण-से करते हुए सुमन्त्रने उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ४ ॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम् ।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥
न ह्यकार्यतमं किंचित्तव देवीह विद्यते ।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥ ६ ॥

'देवि ! जब तुमने सम्पूर्ण चराचर जगत्‌के स्वामी स्वयं अपने पति महाराज दशरथका ही त्याग कर दिया, तब इस जगत्‌में कोई ऐसा कुकर्म नहीं है, जिसे तुम न कर सको; मैं तो समझता हूँ कि तुम पतिकी हत्या करनेवाली तो हो ही; अन्ततः कुलघातिनी भी हो ॥ ५-६ ॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥

'ओह ! जो देवराज इन्द्रके समान अजेय, पर्वतके समान अकम्पनीय और महासागरके समान क्षोभरहित हैं, उन महाराज दशरथको भी तुम अपने कर्मोंसे संतप्त कर रही हो ॥

मावमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते ॥ ८ ॥

राजा दशरथ तुम्हारे पति, पालक और वरदाता हैं । तुम इनका अपमान न करो । नारियोंके लिये पतिकी इच्छा-का महत्त्व करोड़ों पुत्रोंसे भी अधिक है ॥ ८ ॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तं लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥

'इस कुलमें राजाका परलोकवास हो जानेपर उसके पुत्रोंकी अवस्थाका विचार करके जो ज्येष्ठ पुत्र होते हैं, वे ही राज्य पाते हैं । राजकुलके इस परम्परागत आचारको तुम इन इक्ष्वाकुवंशके स्वामी महाराज दशरथके जीते-जी ही मिटा देना चाहती हो ॥ ९ ॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥ १० ॥

'तुम्हारे पुत्र भरत राजा हो जायँ और इस पृथ्वीका शासन करें; किंतु हमलोग तो वहीं चले जायँगे जहाँ श्रीराम जायँगे ॥ १० ॥

न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति ।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि ॥ ११ ॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम् ।

'तुम्हारे राज्यमें कोई भी ब्राह्मण निवास नहीं करेगा; यदि तुम आज वैसा मर्यादाहीन कर्म करोगी तो निश्चय ही हम सब लोग उसी मार्गपर चले जायँगे, जिसका श्रीरामने सेवन किया है ॥ ११½ ॥

त्यक्ता या बान्धवैः सर्वैर्ब्राह्मणैः साधुभिः सदा ॥ १२ ॥
का प्रीती राज्यलाभेन तव देवि भविष्यति ।
तादृशं त्वममर्यादं कर्म कर्तुं चिकीर्षसि ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण बन्धु-बान्धव और सदाचारी ब्राह्मण भी तुम्हारा त्याग कर देंगे । देवि ! फिर इस राज्यको पाकर तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा । ओह ! तुम ऐसा मर्यादाहीन कर्म करना चाहती हो ॥ १२-१३ ॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।
आचरन्त्या न विदृता सद्यो भवति मेदिनी ॥ १४ ॥

'मुझे तो यह देखकर आश्चर्य-सा हो रहा है कि तुम्हारे इतने बड़े अत्याचार करनेपर भी पृथ्वी तुरंत फट क्यों नहीं जाती ? ॥ १४ ॥

महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीमदर्शनाः ।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥ १५ ॥

'अथवा बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंके धिक्कारपूर्ण वाग्दण्ड (शाप) जो देखनेमें भयंकर और जलाकर भस्म कर देनेवाले होते हैं, श्रीरामको घरसे निकालनेके लिये तैयार खड़ी हुई तुम जैसी पाषाणहृदयाका सर्वनाश क्यों नहीं कर डालते हैं ? ॥ १५ ॥

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत् तु कः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥ १६ ॥

'भला आमको कुल्हाड़ीसे काटकर उसकी जगह नीमका सेवन कौन करेगा ? जो आमकी जगह नीमको ही दूधसे सींचता है, उसके लिये भी यह नीम मीठा फल देने-वाला नहीं हो सकता (अतः वरदानके बहाने श्रीरामको वनवास देकर कैकेयीके चित्तको संतुष्ट करना राजाके लिये कभी सुखद परिणामका जनक नहीं हो सकता) ॥ १६ ॥

आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च ।
न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥ १७ ॥

'कैकेयि ! मैं समझता हूँ कि तुम्हारी माताका अपने कुलके अनुरूप जैसा स्वभाव था, वैसा ही तुम्हारा भी है । लोकमें कही जानेवाली यह कहावत सत्य ही है कि नीमसे मधु नहीं टपकता ॥ १७ ॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यथा श्रुतम् ।
पितुस्ते वरदः कश्चिद् ददौ वरमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

'तुम्हारी माताके दुराग्रहकी बात भी हम जानते हैं । इसके विषयमें पहले जैसा सुना गया है, वह बताया जाता है । एक समय किसी वर देनेवाले साधुने तुम्हारे पिताको अत्यन्त उत्तम वर दिया था ॥ १८ ॥

सर्वभूतरुतं तस्मात् संजज्ञे वसुधाधिपः ।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥ १९ ॥

'उस वरके प्रभावसे केकयनरेश समस्त प्राणियोंकी बोली समझने लगे । तिर्यक् योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी बातें भी उनकी समझमें आ जाती थीं ॥ १९ ॥

ततो जृम्भस्य शयने विरुताद् भूरिवर्चसः ।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥ २० ॥

'एक दिन तुम्हारे महातेजस्वी पिता शय्यापर लेटे हुए थे । उसी समय जृम्भ नामक पक्षीकी आवाज उनके कानोंमें पड़ी । उसकी बोलीका अभिप्राय उनकी समझमें आ गया । अतः वे वहाँ कई बार हँसे ॥ २० ॥

तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्युपाशमभीप्सती ।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

'उसी शय्यापर तुम्हारी माँ भी सोयी थी । वह यह समझकर कि राजा मेरी ही हँसी उड़ा रहे हैं, कुपित हो उठी और गलेमें मौतकी फाँसी लगानेकी इच्छा रखती हुई बोली—

'सौम्य ! नरेश्वर ! तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है, यह मैं जानना चाहती हूँ' ॥ २१ ॥

नृपश्चोवाच तां देवीं हास्यं शंसामि ते यदि ।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥ २२ ॥

'तब राजाने उस देवीसे कहा—'रानी ! यदि मैं अपने हँसनेका कारण बता दूँ तो उसी क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ २२ ॥

माता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत् ।
शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहसिष्यसि ॥ २३ ॥

'देवि ! यह सुनकर तुम्हारी रानी माताने तुम्हारे पिता केकयराजसे फिर कहा—'तुम जीओ या मरो, मुझे कारण बता दो । भविष्यमें तुम फिर मेरी हँसी नहीं उड़ा सकोगे' ॥ २३ ॥

प्रियया च तथोक्तः स केकयः पृथिवीपतिः ।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्त्वतः ॥ २४ ॥

'अपनी प्यारी रानीके ऐसा कहनेपर केकयनरेशने उस वर देनेवाले साधुके पास जाकर सारा समाचार ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ २४ ॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत ।
म्रियतां ध्वंसतां वेयं मा शंसीस्त्वं महीपते ॥ २५ ॥

'तब उस वर देनेवाले साधुने राजाको उत्तर दिया—महाराज ! रानी मरे या घरसे निकल जाय; तुम कदापि यह बात उसे न बताना' ॥ २५ ॥

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ।
मातरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥ २६ ॥

'प्रसन्न चित्तवाले उस साधुका यह वचन सुनकर केकयनरेशने तुम्हारी माताको तुरंत घरसे निकाल दिया और स्वयं कुबेरके समान विहार करने लगे ॥ २६ ॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि ।
असद्ग्राहमिमं मोहात् कुरुषे पापदर्शिनी ॥ २७ ॥

'तुम भी इसी प्रकार दुर्जनोंके मार्गपर स्थित हो पापपर ही दृष्टि रखकर मोहवश राजासे यह अनुचित आग्रह कर रही हो ॥ २७ ॥

सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति माम् ।
पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥ २८ ॥

'आज मुझे यह लोकोक्ति सोलह आने सच मालूम होती है कि पुत्र पिताके समान होते हैं और कन्याएँ माताके समान ॥ २८ ॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २९ ॥

'तुम ऐसी न बनो—इस लोकोक्तिको अपने जीवनमें चरितार्थ न करो । राजाने जो कुछ कहा है, उसे स्वीकार करो (श्रीरामका राज्याभिषेक होने दो) अपने पतिकी इच्छाका अनुसरण करके इस जन-समुदायको यहाँ शरण देनेवाली बनो ॥ २९ ॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादध ॥ ३० ॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर तुम देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी अपने लोक-प्रतिपालक स्वामीको अनुचित कर्ममें न लगाओ ॥ ३० ॥

नहि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।
श्रीमान् दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥

'देवि ! कमलनयन श्रीमान् राजा दशरथ पापसे दूर रहते हैं । वे अपनी प्रतिज्ञा झूठी नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्यापि रक्षिता ।
रक्षिता जीवलोकस्य बली रामोऽभिषिच्यताम् ॥ ३२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयोंमें ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, स्वधर्मके पालक, जीवजगत्के रक्षक और बलवान् हैं । इनका इस राज्यपर अभिषेक होने दो ॥ ३२ ॥

परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति ।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३३ ॥

'देवि ! यदि श्रीराम अपने पिता राजा दशरथको छोड़कर वनको चले जायँगे तो संसारमें तुम्हारी बड़ी निन्दा होगी ॥ ३३ ॥

स्वराज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ।
नहि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसन् ॥ ३४ ॥

'अतः श्रीरामचन्द्रजी ही अपने राज्यका पालन करें और तुम निश्चिन्त होकर बैठो । श्रीरामके सिवा दूसरा कोई राजा इस श्रेष्ठ नगरमें रहकर तुम्हारे अनुकूल आचरण नहीं कर सकता ॥ ३४ ॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

'श्रीरामके युवराजपदपर प्रतिष्ठित हो जानेके बाद महाधनुर्धर राजा दशरथ पूर्वजोंके वृत्तान्तका स्मरण करके स्वयं वनमें प्रवेश करेंगे' ॥ ३५ ॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।
भूयः संक्षोभयामास सुमन्त्रस्तु कृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥
नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कैकेयीको उस राजभवनमें सान्त्वनापूर्ण तथा तीखे वचनोंसे भी बारंबार विचलित करनेकी चेष्टा की; किंतु वह टस-से-मस न हुई । देवी कैकेयीके मनमें न तो क्षोभ हुआ और न दुःख ही । उस समय उसके चेहरेके रंगमें भी कोई फर्क पड़ता नहीं दिखायी दिया ॥ ३६-३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका श्रीरामके साथ सेना और खजाना भेजनेका आदेश, कैकेयीद्वारा इसका विरोध, सिद्धार्थका कैकेयीको समझाना तथा राजाका श्रीरामके साथ जानेकी इच्छा प्रकट करना

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया।
सबाष्पमतिनिःश्वस्य जगादेदं पुनर्वचः॥ १॥

तब इक्ष्वाकुकुलनन्दन राजा दशरथ वहाँ अपनी प्रतिज्ञासे पीड़ित हो आँसू बहाते हुए लंबी साँस खींचकर सुमन्त्रसे फिर इस प्रकार बोले—॥ १॥

सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः।
राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम्॥ २॥

'सूत! तुम शीघ्र ही रत्नोंसे भरी-पूरी चतुरङ्गिणी सेनाको श्रीरामके पीछे-पीछे जानेकी आज्ञा दो॥ २॥

रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः॥ ३॥

'रूपसे आजीविका चलाने और सरस वचन बोलनेवाली स्त्रियाँ तथा महाधनी एवं विक्रययोग्य द्रव्योंका प्रसारण करनेमें कुशल वैश्य राजकुमार श्रीरामकी सेनाओंको सुशोभित करें॥ ३॥

ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः।
तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय॥ ४॥

'जो श्रीरामके पास रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं तथा जिन मल्लोंसे ये उनका पराक्रम देखकर प्रसन्न रहते हैं, उन सबको अनेक प्रकारका धन देकर उन्हें भी इनके साथ जानेकी आज्ञा दे दो॥ ४॥

आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च।
अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यकोविदाः॥ ५॥

'मुख्य-मुख्य आयुध, नगरके निवासी, छकड़े तथा वनके भीतरी रहस्यको जाननेवाले व्याध ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके पीछे-पीछे जायँ॥ ५॥

निघ्नन् मृगान् कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु।
नदीश्च विविधाः पश्यन् न राज्यं संस्मरिष्यति॥ ६॥

'वे रास्तेमें आये हुए मृगों एवं हाथियोंको पीछे लौटाते, जंगली मधुका पान करते और नाना प्रकारकी नदियोंको देखते हुए अपने राज्यका स्मरण नहीं करेंगे॥ ६॥

धान्यकोशश्च यः कश्चिद् धनकोशश्च मामकः।
तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने॥ ७॥

'श्रीराम निर्जन वनमें निवास करनेके लिये जा रहे हैं, अतः मेरा खजाना और अन्नभण्डार—ये दोनों वस्तुएँ इनके साथ जायँ॥ ७॥

यजन् पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः।
ऋषिभिश्चापि संगम्य प्रवत्स्यति सुखं वने॥ ८॥

'ये वनके पावन प्रदेशोंमें यज्ञ करेंगे, उनमें आचार्य आदिको पर्याप्त दक्षिणा देंगे तथा ऋषियोंसे मिलकर वनमें सुखपूर्वक रहेंगे॥ ८॥

भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति।
सर्वकामैः पुनः श्रीमान् रामः संसाध्यतामिति॥ ९॥

'महाबाहु भरत अयोध्याका पालन करेंगे। श्रीमान् रामको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न करके यहाँसे भेजा जाय'॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम्।
मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि व्यरुध्यत॥ १०॥

जब महाराज दशरथ ऐसी बातें कहने लगे, तब कैकेयीको बड़ा भय हुआ। उसका मुँह सूख गया और उसका स्वर भी रुँध गया॥ १०॥

सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता।
राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत्॥ ११॥

वह केकयराजकुमारी विषादग्रस्त एवं त्रस्त होकर सूखे मुँहसे राजाकी ओर ही मुँह करके बोली—॥ ११॥

राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव।
निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते॥ १२॥

'श्रेष्ठ महाराज! जिसका सारभाग पहलेसे ही पी लिया गया हो, उस आस्वादरहित सुराको जैसे उसका सेवन करनेवाले लोग नहीं ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार इस धनहीन और सूने राज्यको, जो कदापि सेवन करने योग्य नहीं रह जायगा, भरत कदापि नहीं ग्रहण करेंगे'॥ १२॥

कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम्।
राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम्॥ १३॥

कैकेयी लाज छोड़कर जब वह अत्यन्त दारुण वचन बोलने लगी, तब राजा दशरथने उस विशाललोचना कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १३॥

वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते।
अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः॥ १४॥

'अनार्ये! अहितकारिणि! तू रामको वनवास देनेके दुर्वह भारमें लगाकर जब मैं उस भारको ढो रहा हूँ, उस अवस्थामें क्यों अपने वचनोंका चाबुक मारकर मुझे पीड़ा दे रही है! इस समय जो कार्य तूने आरम्भ किया है अर्थात् श्रीरामके साथ सेना और सामग्री भेजनेमें जो प्रतिबन्ध लगाया है, इसके लिये तूने पहले ही क्यों नहीं प्रार्थना की थी? (अर्थात् पहले ही यह क्यों नहीं कह दिया था कि

श्रीरामको अकेले वनमें जाना पड़ेगा, उनके साथ सेना आदि सामग्री नहीं जा सकती)' ॥ १४ ॥

तस्यैतत् क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना ।
कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

राजाका यह क्रोधयुक्त वचन सुनकर सुन्दरी कैकेयी उनकी अपेक्षा दूना क्रोध करके उनसे इस प्रकार बोली—॥ १५ ॥

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् ।
असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

'महाराज ! आपके ही वंशमें पहले राजा सगर हो गये हैं, जिन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र असमञ्जको निकालकर उसके लिये राज्यका दरवाजा सदाके लिये बंद कर दिया था । इसी तरह इनको भी यहाँसे निकल जाना चाहिये' ॥ १६ ॥

एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् ।
व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तन्नावबुध्यत ॥ १७ ॥

उसके ऐसा कहनेपर राजा दशरथने कहा—'धिक्कार है !' वहाँ जितने लोग बैठे थे सभी लाजसे गड़ गये; किंतु कैकेयी अपने कथनके अनौचित्यको अथवा राजाद्वारा दिये गये धिक्कारके औचित्यको नहीं समझ सकी ॥ १७ ॥

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः ।
शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उस समय वहाँ राजाके प्रधान और वयोवृद्ध मन्त्री सिद्धार्थ बैठे थे । वे बड़े ही शुद्ध स्वभाववाले और राजाके विशेष आदरणीय थे । उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान् ।
सरय्वां प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥ १९ ॥

'देवि ! असमञ्ज बड़ी दुष्ट बुद्धिका राजकुमार था । वह मार्गपर खेलते हुए बालकोंको पकड़कर सरयूके जलमें फेंक देता था और ऐसे ही कार्योंसे अपना मनोरञ्जन करता था ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन् ।
असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान् वा राष्ट्रवर्धन ॥ २० ॥

'उसकी यह करतूत देखकर सभी नगरनिवासी कुपित हो राजाके पास जाकर बोले—'राष्ट्रकी वृद्धि करनेवाले महाराज ! या तो आप अकेले असमञ्जको लेकर रहिये या इन्हें निकालकर हमें इस नगरमें रहने दीजिये' ॥

तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम् ।
ताश्चापि राज्ञा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥ २१ ॥

'तब राजाने उनसे पूछा—'तुम्हें असमञ्जसे किस कारण भय हुआ है ?' राजाके पूछनेपर उन प्रजाजनोंने यह बात कही—॥ २१ ॥

क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान् बालानुद्भ्रान्तचेतसः ।
सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥ २२ ॥

'महाराज ! यह हमारे खेलते हुए छोटे-छोटे बच्चोंको पकड़ लेते हैं और जब वे बहुत घबरा जाते हैं, तब उन्हें सरयूमें फेंक देते हैं । मूर्खतावश ऐसा करके इन्हें अनुपम आनन्द प्राप्त होता है' ॥ २२ ॥

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः ।
तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया ॥ २३ ॥

'उन प्रजाजनोंकी वह बात सुनकर राजा सगरने उनका प्रिय करनेकी इच्छासे अपने उस अहितकारक दुष्ट पुत्रको त्याग दिया ॥ २३ ॥

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् ।
यावज्जीवं विवास्योऽयमिति तानन्वशात् पिता ॥ २४ ॥

'पिताने अपने उस पुत्रको पत्नी और आवश्यक सामग्रीसहित शीघ्र रथपर बिठाकर अपने सेवकोंको आज्ञा दी—'इसे जीवनभरके लिये राज्यसे बाहर निकाल दो' ॥

स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोकयत् ।
दिशः सर्वास्त्वनुचरन् स यथा पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥
इत्येनमत्यजद् राजा सगरो वै सुधार्मिकः ।
रामः किमकरोत् पापं येनैवमुपरुध्यते ॥ २६ ॥

'असमञ्जने फल और पिटारी लेकर पर्वतोंकी दुर्गम गुफाओंको ही अपने निवासके योग्य देखा और कन्द आदिके लिये वह सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरने लगा । वह जैसा कि बताया गया है, पापाचारी था, इसलिये परम धार्मिक राजा सगरने उसको त्याग दिया था । श्रीरामने ऐसा कौन-सा अपराध किया है, जिसके कारण इन्हें इस तरह राज्य पानेसे रोका जा रहा है ? ॥ २५-२६ ॥

नहि कंचन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम् ।
दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम् ॥ २७ ॥

'हमलोग तो श्रीरामचन्द्रजीमें कोई अवगुण नहीं देखते हैं; जैसे (शुक्लपक्षकी द्वितीयाके) चन्द्रमामें मलिनताका दर्शन दुर्लभ है, उसी प्रकार इनमें कोई पाप या अपराध ढूँढ़नेसे भी नहीं मिल सकता ॥ २७ ॥

अथवा देवि त्वं कंचिद् दोषं पश्यसि राघवे ।
तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन तदा रामो विवास्यते ॥ २८ ॥

'अथवा देवि ! यदि तुम्हें श्रीरामचन्द्रजीमें कोई दोष दिखायी देता हो तो आज उसे ठीक-ठीक बताओ । उस दशामें श्रीरामको निकाल दिया जा सकता है ॥ २८ ॥

अदुष्टस्य हि संत्यागः सत्पथे निरतस्य च ।
निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मविरोधवान् ॥ २९ ॥

'जिसमें कोई दुष्टता नहीं है, जो सदा सन्मार्गमें

स्थित है, ऐसे पुरुषका त्याग धर्मसे विरुद्ध माना जाता है। ऐसा धर्मविरोधी कर्म तो इन्द्रके भी तेजको दग्ध कर देगा ॥२९॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया।
लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥ ३० ॥

'अतः देवि! श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेसे तुम्हें कोई लाभ नहीं होगा। शुभानने! तुम्हें लोकनिन्दासे भी बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये' ॥ ३० ॥

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वरः।
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सिद्धार्थकी बातें सुनकर राजा दशरथ अत्यन्त थके हुए स्वरसे शोकाकुल वाणीमें कैकेयीसे इस प्रकार बोले—॥ ३१ ॥

एतद्वचो नेच्छसि पापरूपे
हितं न जानासि ममात्मनोऽथवा।
आस्थाय मार्गं कृपणं कुचेष्टा
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥ ३२ ॥

'पापिनि! क्या तुझे यह बात नहीं रुची? तुझे मेरे या अपने हितका भी बिल्कुल ज्ञान नहीं है? तू दुःखद मार्गका आश्रय लेकर ऐसी कुचेष्टा कर रही है! तेरी यह सारी चेष्टा साधु पुरुषोंके मार्गके विपरीत है ॥ ३२ ॥

अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं
राज्यं परित्यज्य सुखं धनं च।
सर्वे च राज्ञा भरतेन च त्वं
यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥ ३३ ॥

'अब मैं भी यह राज्य, धन और सुख छोड़कर श्रीरामके पीछे चला जाऊँगा। ये सब लोग भी उन्हींके साथ जायँगे। तू अकेली राजा भरतके साथ चिरकालतक सुखपूर्वक राज्य भोगती रह' ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्त्रिंशः सर्गः ॥ ३६ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

श्रीराम आदिका वल्कल-वस्त्र-धारण, सीताके वल्कल-धारणसे रनिवासकी स्त्रियोंको खेद तथा गुरु वसिष्ठका कैकेयीको फटकारते हुए सीताके वल्कल-धारणका अनौचित्य बताना

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा।
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥

प्रधान मन्त्रीकी पूर्वोक्त बात सुनकर विनयके ज्ञाता श्रीरामने उस समय राजा दशरथसे विनीत होकर कहा—॥१॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥

'राजन्! मैं भोगोंका परित्याग कर चुका हूँ। मुझे जंगलके फल-मूलोंसे जीवन-निर्वाह करना है। जब मैं सब ओरसे आसक्ति छोड़ चुका हूँ, तब मुझे सेनासे क्या प्रयोजन है? ॥ २ ॥

यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥

'जो श्रेष्ठ गजराजका दान करके उसके रस्सेमें मन लगाता है—लोभवश रस्सेको रख लेना चाहता है, वह अच्छा नहीं करता; क्योंकि उत्तम हाथीका त्याग करनेवाले पुरुषको उसके रस्सेमें आसक्ति रखनेकी क्या आवश्यकता है? ॥ ३ ॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज! इसी तरह मुझे सेना लेकर क्या करना है? मैं ये सारी वस्तुएँ भरतको अर्पित करनेकी अनुमति देता हूँ। मेरे लिये तो (माता कैकेयीकी दासियाँ) चीर (चिथड़े या वल्कलवस्त्र) ला दें ॥ ४ ॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥

'दासियो! जाओ, खन्ती और पेटारी अथवा कुदारी और खाँची ये दोनों वस्तुएँ लाओ। चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये ये चीजें उपयोगी हो सकती हैं' ॥ ५ ॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम्।
उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥ ६ ॥

कैकेयी लाज-संकोच छोड़ चुकी थी। वह स्वयं ही जाकर बहुत-सी चीर ले आयी और जनसमुदायमें श्रीरामचन्द्रजीसे बोली, 'लो, पहन लो' ॥ ६ ॥

स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥ ७ ॥

पुरुषसिंह श्रीरामने कैकेयीके हाथसे दो चीर ले लिये और अपने महीन वस्त्र उतारकर मुनियोंके-से वस्त्र धारण कर लिये ॥ ७ ॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥

इसी प्रकार लक्ष्मणने भी अपने पिताके सामने ही दोनों सुन्दर वस्त्र उतारकर तपस्वियोंके-से वल्कल-वस्त्र पहन लिये ॥ ८ ॥

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी।
सम्प्रेक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥ ९ ॥
सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः।
कैकेय्याः कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥ १० ॥
अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी।
गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

तदनन्तर रेशमी वस्त्र पहनने और धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाली धर्मज्ञा शुभलक्षणा जनकनन्दिनी सीता अपने पहननेके लिये भी चीर वस्त्रको प्रस्तुत देख उसी प्रकार डर गयी, जैसे मृगी बिछे हुए जालको देखकर भयभीत हो जाती है। वे कैकेयीके हाथसे दो वल्कल वस्त्र लेकर लज्जित-सी हो गयीं। उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ और नेत्रोंमें आँसू भर आये। उस समय उन्होंने गन्धर्वराजके समान तेजस्वी पतिसे इस प्रकार पूछा—'नाथ! वनवासी मुनिलोग चीर कैसे बाँधते हैं?' यह कहकर उसे धारण करनेमें कुशल न होनेके कारण सीता बारंबार मोहमें पड़ जाती थीं—भूल कर बैठती थीं ॥ ९–१२ ॥

कृत्वा कण्ठे स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥ १३ ॥

चीर-धारणमें कुशल न होनेसे जनकनन्दिनी सीता लज्जित हो एक वल्कल गलेमें डाल दूसरा हाथमें लेकर चुपचाप खड़ी रहीं ॥ १३ ॥

तस्यास्तत् क्षिप्रमागत्य रामो धर्मभृतां वरः।
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥ १४ ॥

तब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीराम जल्दीसे उनके पास आकर स्वयं अपने हाथोंसे उनके रेशमी वस्त्रके ऊपर वल्कल-वस्त्र बाँधने लगे ॥ १४ ॥

रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम्।
अन्तःपुरचरा नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम् ॥ १५ ॥

सीताको उत्तम चीरवस्त्र पहनाते हुए श्रीरामकी ओर देखकर रनवासकी स्त्रियाँ अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं ॥ १५ ॥

ऊचुश्च परमायत्ता रामं ज्वलिततेजसम्।
वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥ १६ ॥

वे सब अत्यन्त खिन्न होकर उद्दीप्त तेजवाले श्रीरामसे बोलीं—'बेटा! मनस्विनी सीताको इस प्रकार वनवासकी आज्ञा नहीं दी गयी है ॥ १६ ॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम्।
तावद् दर्शनमस्या नः सफलं भवतु प्रभो ॥ १७ ॥

'प्रभो! तुम पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये जबतक निर्जन वनमें जाकर रहोगे, तबतक इसीको देखकर हमारा जीवन सफल होने दो ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक।
नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद् वने ॥ १८ ॥

'बेटा! तुम लक्ष्मणको अपना साथी बनाकर उनके साथ वनको जाओ, परंतु यह कल्याणी सीता तपस्वी मुनिकी भाँति वनमें निवास करनेके योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी।
धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥ १९ ॥

'पुत्र! तुम हमारी यह याचना सफल करो। भामिनी सीता यहीं रहे। तुम तो नित्य धर्मपरायण हो अतः स्वयं इस समय यहाँ नहीं रहना चाहते हो (परंतु सीताको तो रहने दो)' ॥ १९ ॥

तासामेवंविधा वाचः शृण्वन् दशरथात्मजः।
बबन्धैव तथा चीरं सीतया तुल्यशीलया ॥ २० ॥
चीरे गृहीते तु तया सबाष्पो नृपतेर्गुरुः।
निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

माताओंकी ऐसी बातें सुनते हुए भी दशरथनन्दन श्रीरामने सीताको वल्कल वस्त्र पहना ही दिया। पतिके समान शीलस्वभाववाली सीताके वल्कल धारण कर लेनेपर राजाके गुरु वशिष्ठजीके नेत्रोंमें आँसू भर आया। उन्होंने सीताको रोककर कैकेयीसे कहा—॥ २०-२१ ॥

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसि ॥ २२ ॥

'मर्यादाका उलङ्घन करके अधर्मकी ओर पैर बढ़ानेवाली दुर्बुद्धि कैकेयी! तू केकयराजके कुलकी जीती-जागती कलङ्क है। अरी, राजाको धोखा देकर अब तू सीमाके भीतर नहीं रहना चाहती है? ॥ २२ ॥

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ॥ २३ ॥

शीलका परित्याग करनेवाली दुष्टे! देवी सीता वनमें नहीं जायँगी! रामके लिये प्रस्तुत हुए राजसिंहासनपर ये ही बैठेंगी ॥ २३ ॥

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ २४ ॥

'सम्पूर्ण गृहस्थोंकी पत्नियाँ उनका आधा अङ्ग हैं। इस तरह सीता देवी भी श्रीरामकी आत्मा हैं; अतः उनकी जगह ये ही इस राज्यका पालन करेंगी ॥ २४ ॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता।
वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥ २५ ॥
अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः।
सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम् ॥ २६ ॥

'यदि विदेहनन्दिनी सीता श्रीरामके साथ वनमें जायँगी तो हमलोग भी इनके साथ चले जायँगे । यह सारा नगर भी चला जायगा और अन्तःपुरके रक्षक भी चले जायँगे । अपनी स्त्रीके साथ श्रीरामचन्द्रजी जहाँ निवास करेंगे, वहीं इस राज्य और नगरके लोग भी धन-दौलत और आवश्यक सामान लेकर चले जायँगे ॥ २५-२६ ॥

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः।
वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥ २७ ॥

'भरत और शत्रुघ्न भी चीरवस्त्र धारण करके वनमें रहेंगे और वहाँ निवास करनेवाले अपने बड़े भाई श्रीरामकी सेवा करेंगे ॥ २७ ॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥ २८ ॥

'फिर तू वृक्षोंके साथ अकेली रहकर इस निर्जन एवं सूनी पृथ्वीका राज्य करना । तू बड़ी दुराचारिणी है और प्रजाका अहित करनेमें लगी हुई है ॥ २८ ॥

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २९ ॥

याद रख, श्रीराम जहाँके राजा न होंगे, वह राज्य राज्य नहीं रह जायगा—जंगल हो जायगा तथा श्रीराम जहाँ निवास करेंगे, वह वन एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन जायगा ॥ २९ ॥

न ह्यदत्तां महीं पित्रा भरतः शास्तुमिच्छति।
त्वयि वा पुत्रवद् वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥ ३० ॥

'यदि भरत राजा दशरथसे पैदा हुए हैं तो पिताके प्रसन्नतापूर्वक दिये बिना इस राज्यको कदापि लेना नहीं चाहेंगे तथा तेरे साथ पुत्रवत् बर्ताव करनेके लिये भी यहाँ बैठे रहनेकी इच्छा नहीं करेंगे ॥ ३० ॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद् गगनं चोत्पतिष्यसि।
पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥ ३१ ॥

'तू पृथ्वी छोड़कर आसमानमें उड़ जाय तो भी अपने पितृकुलके आचार-व्यवहारको जाननेवाले भरत उसके विरुद्ध कुछ नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

तत् त्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम्।
लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥ ३२ ॥

'तूने पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छासे वास्तवमें उसका अप्रिय ही किया है; क्योंकि संसारमें कोई ऐसा पुरुष नहीं है जो श्रीरामका भक्त न हो ॥ ३२ ॥

द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान्।
गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान् ॥ ३३ ॥

'कैकेयि ! तू आज ही देखेगी कि वनको जाते हुए श्रीरामके साथ पशु, सर्प, मृग और पक्षी भी चले जा रहे हैं । औरोंकी तो बात ही क्या, वृक्ष भी उनके साथ जानेको उत्सुक हैं ॥ ३३ ॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि
देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम्।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति
न्यवारयत् तद् वसनं वसिष्ठः ॥ ३४ ॥

'देवि ! सीता तेरी पुत्रवधू है । इनके शरीरसे वल्कल-वस्त्र हटाकर तू इन्हें पहननेके लिये उत्तमोत्तम वस्त्र और आभूषण दे । इनके लिये वल्कलवस्त्र देना कदापि उचित नहीं है ।' ऐसा कहकर वसिष्ठने उसे जानकीको वल्कलवस्त्र पहनानेसे मना किया ॥ ३४ ॥

एकस्य रामस्य वने निवास-
स्त्वया वृतः केकयराजपुत्रि।
विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या
वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥ ३५ ॥

वे फिर बोले—'केकयराजकुमारी ! तूने अकेले श्रीरामके लिये ही वनवासका वर माँगा है (सीताके लिये नहीं); अतः ये राजकुमारी वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर सदा शृङ्गार धारण करके वनमें श्रीरामचन्द्रजीके साथ निवास करें ॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च
सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानै-
र्नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने ॥ ३६ ॥

'राजकुमारी सीता मुख्य-मुख्य सेवकों तथा सवारियोंके साथ सब प्रकारके वस्त्रों और आवश्यक उपकरणोंसे सम्पन्न होकर वनकी यात्रा करें । तूने वर माँगते समय पहले सीताके वनवासकी कोई चर्चा नहीं की थी (अतः इन्हें वल्कलवस्त्र नहीं पहनाया जा सकता)' ॥ ३६ ॥

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा
प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणशिरोमणि अप्रतिम प्रभावशाली राजगुरु महर्षि वसिष्ठके ऐसा कहनेपर भी सीता अपने प्रियतम पतिके समान ही वेष-भूषा धारण करनेकी इच्छा रखकर उस चीर-धारणसे विरत नहीं हुई ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

राजा दशरथका सीताको वल्कल धारण कराना अनुचित बताकर कैकेयीको फटकारना और श्रीरामका उनसे कौसल्यापर कृपादृष्टि रखनेके लिये अनुरोध करना

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्।
प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक् त्वां दशरथं त्विति॥ १॥

सीताजी सनाथ होकर भी जब अनाथकी भाँति चीर-वस्त्र धारण करने लगीं, तब सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगे—'राजा दशरथ! तुम्हें धिक्कार है!'॥ १॥

तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः।
चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मे यशसि चात्मनः॥ २॥
स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत्।
कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति॥ ३॥

वहाँ होनेवाले उस कोलाहलसे दुखी हो इक्ष्वाकुवंशी महाराज दशरथने अपने जीवन, धर्म और यशकी उत्कट इच्छा त्याग दी। फिर वे गरम साँस खींचकर अपनी भार्या कैकेयीसे इस प्रकार बोले—'कैकेयि! सीता कुश-चीर (वल्कल-वस्त्र) पहनकर वनमें जानेके योग्य नहीं है॥ २-३॥

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखोचिता।
नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम॥ ४॥

'यह सुकुमारी है, बालिका है और सदा सुखोंमें ही पली है। मेरे गुरुजी ठीक कहते हैं कि यह सीता वनमें जाने योग्य नहीं है॥ ४॥

इयं हि कस्यापि करोति किंचित्
तपस्विनी राजवरस्य पुत्री।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये
स्थिता विसंज्ञा श्रमणीव काचित्॥ ५॥

'राजाओंमें श्रेष्ठ जनककी यह तपस्विनी पुत्री क्या किसी-का भी कुछ बिगाड़ती है? जो इस प्रकार जन-समुदायके बीच किसी किंकर्तव्यविमूढ भिक्षुकीके समान चीर धारण करके खड़ी है?॥ ५॥

चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या
नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री
वनं समग्रा सह सर्वरत्नैः॥ ६॥

'जनकनन्दिनी अपने चीर-वस्त्र उतार डाले। 'यह इस रूपमें वन जाय' ऐसी कोई प्रतिज्ञा मैंने पहले नहीं की है और न किसीको इस तरहका वचन ही दिया है। अतः राजकुमारी सीता सम्पूर्ण वस्त्रालंकारोंसे सम्पन्न हो सब प्रकारके रत्नोंके साथ जिस तरह भी वह सुखी रह सके, उसी तरह वनको जा सकती है॥ ६॥

अजीवनार्हेण मया नृशंसा
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत्।
त्वया हि बाल्यात् प्रतिपन्नमेतत्
तन्मा दहेद् वेणुमिवात्मपुष्पम्॥ ७॥

'मैं जीवित रहनेयोग्य नहीं हूँ। मैंने तेरे वचनोंमें बँधकर एक तो यों ही नियम (शपथ) पूर्वक बड़ी क्रूर प्रतिज्ञा कर डाली है, दूसरे तूने अपनी नादानीके कारण सीताको इस तरह चीर पहनाना प्रारम्भ कर दिया। जिस प्रकार बाँसका फूल उसीको सुखा डालता है, उसी प्रकार मेरी की हुई प्रतिज्ञा मुझीको भस्म किये डालती है॥ ७॥

रामेण यदि ते पापे किंचित्कृतमशोभनम्।
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽधमे॥ ८॥

'नीच पापिनि! यदि श्रीरामने तेरा कोई अपराध किया है तो (उन्हें तो तू वनवास दे ही चुकी) विदेहनन्दिनी सीता-ने ऐसा दण्ड पानेयोग्य तेरा कौन-सा अपकार कर डाला है?॥

मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला मनस्विनी।
अपकारं कमिव ते करोति जनकात्मजा॥ ९॥

'जिसके नेत्र हरिणीके नेत्रोंके समान खिले हुए हैं, जिसका स्वभाव अत्यन्त कोमल एवं मधुर है, वह मनस्विनी जनकनन्दिनी तेरा कौन-सा अपराध कर रही है॥ ९॥

ननु पर्याप्तमेवं ते पापे रामविवासनम्।
किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः॥ १०॥

'पापिनि! तूने श्रीरामको वनवास देकर ही पूरा पाप कमा लिया है। अब सीताको भी वनमें भेजने और वल्कल पहनाने आदिका अत्यन्त दुःखद कार्य करके फिर तू इतने पातक किसलिये बटोर रही है?॥ १०॥

प्रतिज्ञातं मया तावत् त्वयोक्तं देवि शृण्वता।
रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः॥ ११॥

'देवि! श्रीराम जब अभिषेकके लिये यहाँ आये थे, उस समय तूने उनसे जो कुछ कहा था, उसे सुनकर मैंने उतनेके लिये ही प्रतिज्ञा की थी॥ ११॥

तत्त्वेतत् समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि।
मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम्॥ १२॥

'उसका उल्लङ्घन करके जो तू मिथिलेशकुमारी जानकी-को भी वल्कलवस्त्र पहने देखना चाहती है, इससे जान पड़ता है, तुझे नरकमें ही जानेकी इच्छा हो रही है'॥ १२॥

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।
अवाक्शिरसमासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

राजा दशरथ सिर नीचा किये बैठे हुए जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय वनकी ओर जाते हुए श्रीरामने पितासे इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी ।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ॥ १४ ॥
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम् ।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः सम्मन्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

'धर्मात्मन् ! ये मेरी यशस्विनी माता कौसल्या अब वृद्ध हो चली हैं । इनका स्वभाव बहुत ही उच्च और उदार है । देव ! यह कभी आपकी निन्दा नहीं करती हैं । इन्होंने पहले कभी ऐसा भारी संकट नहीं देखा होगा । वरदायक नरेश ! ये मेरे न रहनेसे शोकके समुद्रमें डूब जायँगी । अतः आप सदा इनका अधिक सम्मान करते रहें ॥ १४-१५ ॥

पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत् त्वया पूज्येन पूजिता ।
मां हि संचिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत् तपस्विनी ॥ १६ ॥

'आप पूज्यतम पतिसे सम्मानित हो जिस प्रकार यह पुत्रशोकका अनुभव न कर सकें और मेरा चिन्तन करती हुई भी आपके आश्रयमें ही ये मेरी तपस्विनी माता जीवन धारण करें, ऐसा प्रयत्न आपको करना चाहिये ॥ १६ ॥

इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि ।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत् ॥ १७ ॥

'इन्द्रके समान तेजस्वी महाराज ! ये निरन्तर अपने बिछुड़े हुए बेटेको देखनेके लिये उत्सुक रहेंगी । कहीं ऐसा न हो मेरे वनमें रहते समय ये शोकसे कातर हो अपने प्राणोंको त्याग करके यमलोकको चली जायँ । अतः आप मेरी माताको सदा ऐसी ही परिस्थितिमें रखें, जिससे उक्त आशङ्काके लिये अवकाश न रह जाय' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टात्रिंशः सर्गः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका विलाप, उनकी आज्ञासे सुमन्त्रका रामके लिये रथ जोतकर लाना, कोषाध्यक्षका सीताको बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण देना, कौसल्याका सीताको पतिसेवाका उपदेश, सीताके द्वारा उसकी स्वीकृति तथा श्रीरामका अपनी मातासे पिताके प्रति दोषदृष्टि न रखनेका अनुरोध करके अन्य माताओंसे भी विदा माँगना

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम् ।
समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामकी बात सुनकर और उन्हें मुनिवेष धारण किये देख स्त्रियोंसहित राजा दशरथ शोकसे अचेत हो गये ॥ १ ॥

नैनं दुःखेन संतप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम् ।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥

दुःखसे संतप्त होनेके कारण वे श्रीरामकी ओर भर आँख देख भी न सके और देखकर भी मनमें दुःख होनेके कारण उन्हें कुछ उत्तर न दे सके ॥ २ ॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः ।
विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥

दो घड़ीतक अचेत-सा रहनेके बाद जब उन्हें होश हुआ तब वे महाबाहु नरेश श्रीरामका ही चिन्तन करते हुए दुखी होकर विलाप करने लगे—॥ ३ ॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः ।
प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥

'मालूम होता है, मैंने पूर्वजन्ममें अवश्य ही बहुत-सी गौओंका उनके बछड़ोंसे बिछोह कराया है अथवा अनेक प्राणियोंकी हिंसा की है; इसीसे आज मेरे ऊपर यह संकट आ पड़ा है ॥ ४ ॥

न त्वेवानागते काले देहाच्च्यवति जीवितम् ।
कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥

'समय पूरा हुए बिना किसीके शरीरसे प्राण नहीं निकलते; तभी तो कैकेयीके द्वारा इतना क्लेश पानेपर भी मेरी मृत्यु नहीं हो रही है ॥ ५ ॥

योऽहं पावकसंकाशं पश्यामि पुरतः स्थितम् ।
विहाय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

'ओह ! अपने अग्निके समान तेजस्वी पुत्रको महीन वस्त्र त्यागकर तपस्वियोंके-से वल्कल-वस्त्र धारण किये सामने खड़ा देख रहा हूँ (फिर भी मेरे प्राण नहीं निकलते हैं) ॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं खिद्यते जनः ।
स्वार्थे प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमाम् ॥ ७ ॥

'इस वरदानरूप शठताका आश्रय लेकर अपने स्वार्थ-साधनके प्रयत्नमें लगी हुई एकमात्र कैकेयीके कारण ये सब लोग महान् कष्टमें पड़ गये हैं' ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः ॥ ८ ॥

ऐसी बात कहते-कहते राजाके नेत्रोंमें आँसू भर आये। उनकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं और वे एक ही बार 'हे राम!' कहकर मूर्च्छित हो गये। आगे कुछ न बोल सके ॥ ८ ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात् स महीपतिः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

दो घड़ी बाद होशमें आते ही वे महाराज आँसू-भरे नेत्रोंसे देखते हुए सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ ९ ॥

औपवाह्यं रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः।
प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात् परम् ॥ १० ॥

'तुम सवारीके योग्य एक रथको उसमें उत्तम घोड़े जोतकर यहाँ ले आओ और इन महाभाग श्रीरामको उसपर बिठाकर इस जनपदसे बाहरतक पहुँचा आओ ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते।
पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वीरो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

'अपने श्रेष्ठ वीर पुत्रको स्वयं पिता-माता ही जब घरसे निकालकर वनमें भेज रहे हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि शास्त्रमें गुणवान् पुरुषोंके गुणोंका यही फल बताया जाता है' ॥

राज्ञो वचनमाज्ञाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः।
योजयित्वा ययौ तत्र रथमश्वैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके शीघ्रगामी सुमन्त्र गये और उत्तम घोड़ोंसे सुशोभित रथ जोतकर ले आये ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम्।
आचचक्षेऽञ्जलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

फिर सूत सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! राजकुमार श्रीरामके लिये उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ सुवर्ण-भूषित रथ तैयार है' ॥ १३ ॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं वित्तसंचये।
उवाच देशकालज्ञो निश्चितं सर्वतः शुचिः ॥ १४ ॥

तब देश और कालको समझनेवाले, सब ओरसे शुद्ध (इहलोक और परलोकसे उऋण) राजा दशरथने तुरंत ही धन-संग्रहके व्यापारमें नियुक्त कोषाध्यक्षको बुलाकर यह निश्चित बात कही—॥ १४ ॥

वासांसि च वरार्हाणि भूषणानि महान्ति च।
वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

'तुम विदेहकुमारी सीताके पहननेयोग्य बहुमूल्य वस्त्र और महान् आभूषण जो चौदह वर्षोंके लिये पर्याप्त हों गिनकर शीघ्र ले आओ' ॥ १५ ॥

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः।
प्रायच्छत् सर्वमाहृत्य सीतायै क्षिप्रमेव तत् ॥ १६ ॥

महाराजके ऐसा कहनेपर कोषाध्यक्षने खजानेमें जा वहाँसे सब चीजें लाकर शीघ्र ही सीताको समर्पित कर दीं ॥ १६ ॥

सा सुजाता सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम्।
भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

उत्तम कुलमें उत्पन्न अथवा अयोनिजा और वनवासके लिये प्रस्थित विदेहकुमारी सीताने सुन्दर लक्षणोंसे युक्त अपने सभी अङ्गोंको उन विचित्र आभूषणोंसे विभूषित किया ॥ १७ ॥

व्यराजयत वैदेही वेश्म तत् सुविभूषिता।
उद्यतोंऽशुमतः काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥ १८ ॥

उन आभूषणोंसे विभूषित हुई विदेहनन्दिनी सीता उस घरको उसी प्रकार सुशोभित करने लगीं, जैसे प्रातःकाल उगते हुए अंशुमाली सूर्यकी प्रभा आकाशको प्रकाशित करती है ॥

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य श्वश्रूर्वचनमब्रवीत्।
अनाचरन्तीं कृपणं मूर्ध्न्युपाघ्राय मैथिलीम् ॥ १९ ॥

उस समय सास कौसल्याने कभी दुःखद बर्ताव न करनेवाली मिथिलेशकुमारी सीताको अपनी दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया और उनके मस्तकको सूँघकर कहा—॥

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ॥ २० ॥

'बेटी! जो स्त्रियाँ अपने प्रियतम पतिके द्वारा सदा सम्मानित होकर भी संकटमें पड़नेपर उसका आदर नहीं करती हैं, वे इस सम्पूर्ण जगत्में 'असती' (दुष्टा) के नामसे पुकारी जाती हैं ॥ २० ॥

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम्।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥

'दुष्टा स्त्रियोंका यह स्वभाव होता है कि पहले तो वे पतिके द्वारा यथेष्ट सुख भोगती हैं, परंतु जब वह थोड़ी-सी भी विपत्तिमें पड़ता है, तब उसपर दोषारोपण करती और उसका साथ छोड़ देती हैं ॥ २१ ॥

असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा।
असत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः ॥ २२ ॥

'जो झूठ बोलनेवाली, विकृत चेष्टा करनेवाली, दुष्ट पुरुषोंसे संसर्ग रखनेवाली, पतिके प्रति सदा हृदयहीनताका परिचय देनेवाली, कुलटा, पापके ही मनसूबे बाँधनेवाली और छोटी-सी बातके लिये भी क्षणमात्रमें पतिकी ओरसे विरक्त हो जानेवाली हैं, वे सब-की-सब असती या दुष्टा कही गयी हैं ॥ २२ ॥

न कुलं न कृतं विद्या न दत्तं नापि संग्रहः ।
स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥

'उत्तम कुल, किया हुआ उपकार, विद्या, भूषण आदिका दान और संग्रह (पतिके द्वारा स्नेहपूर्वक अपनाया जाना); यह सब कुछ दुष्टा स्त्रियोंके हृदयको नहीं वशमें कर पाता है; क्योंकि उनका चित्त अव्यवस्थित होता है ॥ २३ ॥

साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥ २४ ॥

इसके विपरीत जो सत्य, सदाचार, शास्त्रोंकी आज्ञा और कुलोचित मर्यादाओंमें स्थित रहती हैं, उन साध्वी स्त्रियोंके लिये एकमात्र पति ही परम पवित्र एवं सर्वश्रेष्ठ देवता है ॥ २४ ॥

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ।
तव देवसमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम मेरे पुत्र श्रीरामका, जिन्हें वनवासकी आज्ञा मिली है, कभी अनादर न करना । ये निर्धन हों या धनी, तुम्हारे लिये देवताके तुल्य हैं' ॥ २५ ॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।
कृत्वाञ्जलिमुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिता ॥ २६ ॥

सासके धर्म और अर्थयुक्त वचनोंका तात्पर्य भलीभाँति समझकर उनके सामने खड़ी हुई सीताने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा— ॥ २६ ॥

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुशास्ति माम् ।
अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे ॥ २७ ॥

'आर्ये ! आप मेरे लिये जो कुछ उपदेश दे रही हैं, मैं उसका पूर्णरूपसे पालन करूँगी । स्वामीके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, यह मुझे भलीभाँति विदित है; क्योंकि इस विषयको मैंने पहलेसे ही सुन रखा है ॥ २७ ॥

न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति ।
धर्माद् विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥

'पूजनीया माताजी ! आपको मुझे असती स्त्रियोंके समान नहीं मानना चाहिये; क्योंकि जैसे प्रभा चन्द्रमासे दूर नहीं हो सकती, उसी प्रकार मैं पतिव्रत-धर्मसे विचलित नहीं हो सकती ॥ २८ ॥

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः ।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥

जैसे बिना तारकी वीणा नहीं बज सकती और बिना पहियेका रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार नारी सौ बेटोंकी माता होनेपर भी बिना पतिके सुखी नहीं हो सकती ॥ २९ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥

'पिता, भ्राता और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, परंतु पति अपरिमित सुखका दाता है—उसकी सेवासे इहलोक और परलोक दोनोंमें कल्याण होता है; अतः ऐसी कौन स्त्री है, जो अपने पतिका सत्कार नहीं करेगी ॥ ३० ॥

साहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा ।
आर्ये किमवमन्येयं स्त्रिया भर्ता हि दैवतम् ॥ ३१ ॥

आर्ये ! मैंने श्रेष्ठ स्त्रियों—माता आदिके मुखसे नारीके सामान्य और विशेष धर्मोंका श्रवण किया है । इस प्रकार पातिव्रत्यका महत्त्व जानकर भी मैं पतिका क्यों अपमान करूँगी ? मैं जानती हूँ कि पति ही स्त्रीका देवता है' ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम् ।
शुद्धसत्त्वा मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम् ॥ ३२ ॥

सीताका यह मनोहर वचन सुनकर शुद्ध अन्तःकरणवाली देवी कौसल्याके नेत्रोंसे सहसा दुःख और हर्षके आँसू बहने लगे ॥ ३२ ॥

तां प्राञ्जलिरभिप्रेक्ष्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम् ।
रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

तब परम धर्मात्मा श्रीरामने माताओंके बीचमें अत्यन्त सम्मानित होकर खड़ी हुई माता कौसल्याकी ओर देख हाथ जोड़कर कहा— ॥ ३३ ॥

अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्येस्त्वं पितरं मम ।
क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ ३४ ॥

'माँ ! (इन्हींके कारण मेरे पुत्रका वनवास हुआ है; ऐसा समझकर) तुम मेरे पिताजीकी ओर दुःखित होकर न देखना । वनवासकी अवधि भी शीघ्र ही समाप्त हो जायगी ॥ ३४ ॥

सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।
समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्वृतम् ॥ ३५ ॥

ये चौदह वर्ष तो तुम्हारे सोते-सोते निकल जायँगे, फिर एक दिन देखोगी कि मैं अपने सुहृदोंसे घिरा हुआ सीता और लक्ष्मणके साथ सम्पूर्णरूपसे यहाँ आ पहुँचा हूँ' ॥ ३५ ॥

एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वचः ।
त्रयः शतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातरः ॥ ३६ ॥
ताश्चापि स तथैवार्ता मातृर्दशरथात्मजः ।
धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद कृताञ्जलिः ॥ ३७ ॥

मातासे इस प्रकार अपना निश्चित अभिप्राय बताकर

दशरथनन्दन श्रीरामने अपनी अन्य साढ़े तीन सौ माताओंकी ओर दृष्टिपात किया और उनको भी कौसल्याकी ही भाँति शोकाकुल पाया। तब उन्होंने हाथ जोड़कर उन सबसे यह धर्मयुक्त बात कही ॥ ३६-३७ ॥

संवासात् परुषं किंचिदज्ञानादपि यत् कृतम्।
तन्मे समुपजानीत सर्वाश्चामन्त्रयामि वः ॥ ३८ ॥

माताओ ! सदा एक साथ रहनेके कारण मैंने जो कुछ कठोर वचन कह दिये हों अथवा अनजानमें भी मुझसे जो अपराध बन गये हों, उनके लिये आप मुझे क्षमा कर दें। मैं आप सब माताओंसे विदा माँगता हूँ' ॥ ३८ ॥

वचनं राघवस्यैतद् धर्मयुक्तं समाहितम्।
शुश्रुवुस्ताः स्त्रियः सर्वाः शोकोपहतचेतसः ॥ ३९ ॥

राजा दशरथकी उन सभी स्त्रियोंने श्रीरघुनाथजीका यह समाधानकारी धर्मयुक्त वचन सुना, सुनकर उन सबका चित्त शोकसे व्याकुल हो गया ॥ ३९ ॥

जज्ञेऽथ तासां संनादः क्रौञ्चीनामिव निःस्वनः।
मानवेन्द्रस्य भार्याणामेवं वदति राघवे ॥ ४० ॥

श्रीरामके ऐसी बात कहते समय महाराज दशरथकी रानियाँ कुररियोंके समान विलाप करने लगीं। उनका वह आर्तनाद उस राजभवनमें सब ओर गूँज उठा ॥ ४० ॥

मुरजपणवमेघघोषवद्
दशरथवेश्म बभूव यत् पुरा।
विलपितपरिदेवनाकुलं
व्यसनगतं तदभूत् सुदुःखितम् ॥ ४१ ॥

राजा दशरथका जो भवन पहले मुरज, पणव और मेघ आदि वाद्योंके गम्भीर घोषसे गूँजता रहता था, वही विलाप और रोदनसे व्याप्त हो संकटमें पड़कर अत्यन्त दुःखमय प्रतीत होने लगा ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

चत्वारिंशः सर्गः

सीता, राम और लक्ष्मणका दशरथकी परिक्रमा करके कौसल्या आदिको प्रणाम करना, सुमित्राका लक्ष्मणको उपदेश, सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मणका रथमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थान, पुरवासियों तथा रानियोंसहित महाराज दशरथकी शोकाकुल अवस्था

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः।
उपसंगृह्य राजानं चक्रुर्दीनाः प्रदक्षिणम् ॥ १ ॥

तदनन्तर राम, लक्ष्मण और सीताने हाथ जोड़कर दीनभावसे राजा दशरथके चरणोंका स्पर्श करके उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की ॥ १ ॥

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सह सीतया।
राघवः शोकसम्मूढो जननीमभ्यवादयत् ॥ २ ॥

उनसे विदा लेकर सीतासहित धर्मज्ञ रघुनाथजीने माताका कष्ट देखकर शोकमें व्याकुल हो उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ २ ॥

अन्वक्षं लक्ष्मणो भ्रातुः कौसल्यामभ्यवादयत्।
अपि मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥ ३ ॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मणने भी पहले माता कौसल्याको प्रणाम किया, फिर अपनी माता सुमित्राके भी दोनों पैर पकड़े ॥ ३ ॥

तं वन्दमानं रुदती माता सौमित्रिमब्रवीत्।
हितकामा महाबाहुं मूर्ध्न्युपाघ्राय लक्ष्मणम् ॥ ४ ॥

अपने पुत्र महाबाहु लक्ष्मणको प्रणाम करते देख उनका हित चाहनेवाली माता सुमित्राने बेटेका मस्तक सूँघकर कहा— ॥ ४ ॥

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ ५ ॥

'वत्स ! तुम अपने सुहृद् श्रीरामके परम अनुरागी हो, इसलिये मैं तुम्हें वनवासके लिये विदा करती हूँ। अपने बड़े भाईके वनमें इधर-उधर जाते समय तुम उनकी सेवामें कभी प्रमाद न करना ॥ ५ ॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ॥ ६ ॥

'ये संकटमें हों या समृद्धिमें, ये ही तुम्हारी परम गति हैं। निष्पाप लक्ष्मण ! संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सर्वदा अपने बड़े भाईकी आज्ञाके अधीन रहें ॥ ६ ॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम्।
दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि ॥ ७ ॥

'दान देना, यज्ञमें दीक्षा ग्रहण करना और युद्धमें शरीर त्यागना—यही इस कुलका उचित एवं सनातन आचार है' ॥ ७ ॥

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वासौ संसिद्धं प्रियराघवम्।
सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनः पुनरुवाच तम् ॥ ८ ॥

अपने पुत्र लक्ष्मणसे ऐसा कहकर सुमित्राने वनवासके

लिये निश्चित विचार रखनेवाले सर्वप्रिय श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'बेटा ! जाओ, जाओ (तुम्हारा मार्ग मङ्गलमय हो)।' इसके बाद वे लक्ष्मणसे फिर बोलीं—॥ ८ ॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥ ९ ॥

'बेटा ! तुम श्रीरामको ही अपने पिता महाराज दशरथ समझो, जनकनन्दिनी सीताको ही अपनी माता सुमित्रा मानो और वनको ही अयोध्या जानो। अब सुखपूर्वक यहाँसे प्रस्थान करो' ॥ ९ ॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा॥ १० ॥

इसके बाद जैसे मातलि इन्द्रसे कोई बात कहते हैं, उसी प्रकार विनयके ज्ञाता सुमन्त्रने ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामसे विनयपूर्वक हाथ जोड़कर कहा—॥ १० ॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः।
क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसे॥ ११ ॥

'महायशस्वी राजकुमार श्रीराम ! आपका कल्याण हो। आप इस रथपर बैठिये। आप मुझसे जहाँ कहेंगे, वहीं मैं शीघ्र आपको पहुँचा दूँगा ॥ ११ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया।
तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्या प्रचोदितः॥ १२ ॥

'आपको जिन चौदह वर्षोंतक वनमें रहना है, उनकी गणना आजसे ही आरम्भ हो जानी चाहिये; क्योंकि देवी कैकेयीने आज ही आपको वनमें जानेके लिये प्रेरित किया है' ॥

तं रथं सूर्यसंकाशं सीता हृष्टेन चेतसा।
आरुरोह वरारोहा कृत्वालंकारमात्मनः॥ १३ ॥

तब सुन्दरी सीता अपने अङ्गोंमें उत्तम अलंकार धारण करके प्रसन्न चित्तसे उस सूर्यके समान तेजस्वी रथपर आरूढ़ हुई ॥ १३ ॥

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च।
भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै श्वशुरो ददौ॥ १४ ॥

पतिके साथ जानेवाली सीताके लिये उनके श्वशुरने वनवासकी वर्षसंख्या गिनकर उसके अनुसार ही वस्त्र और आभूषण दिये थे ॥ १४ ॥

तथैवायुधजातानि भ्रातृभ्यां कवचानि च।
रथोपस्थे प्रविन्यस्य सचर्म कठिनं च यत्॥ १५ ॥

इसी प्रकार महाराजने दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणके लिये जो बहुत-से अस्त्र-शस्त्र और कवच प्रदान किये थे, उन्हें रथके पिछले भागमें रखकर उन्होंने चमड़ेसे मढ़ी हुई पिटारी और खन्ती या कुदारी भी उसीपर रख दी ॥ १५ ॥

अथो ज्वलनसंकाशं चामीकरविभूषितम्।
तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ १६ ॥

इसके बाद दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उस अग्निके समान दीप्तिमान् सुवर्णभूषित रथपर शीघ्र ही आरूढ़ हो गये ॥

सीतातृतीयानारूढान् दृष्ट्वा रथमचोदयत्।
सुमन्त्रः सम्मतानश्वान् वायुवेगसमाञ्जवे॥ १७ ॥

जिनमें सीताकी संख्या तीसरी थी, उन श्रीराम आदिको रथपर आरूढ़ हुआ देख सारथि सुमन्त्रने रथको आगे बढ़ाया। उसमें जुते हुए वायुके समान वेगशाली उत्तम घोड़ोंको हाँका ॥ १७ ॥

प्रयाते तु महारण्यं चिररात्राय राघवे।
बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छा जनस्य च॥ १८ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजी सुदीर्घकालके लिये महान् वनकी ओर जाने लगे, उस समय समस्त पुरवासियों, सैनिकों तथा दर्शकरूपमें आये हुए बाहरी लोगोंको भी मूर्च्छा आ गयी ॥

तत् समाकुलसम्भ्रान्तं मत्तसंकुपितद्विपम्।
हयसिञ्जितनिर्घोषं पुरमासीन्महास्वनम्॥ १९ ॥

उस समय सारी अयोध्यामें महान् कोलाहल मच गया। सब लोग व्याकुल होकर घबरा उठे। मतवाले हाथी श्रीरामके वियोगसे कुपित हो उठे और इधर-उधर भागते हुए घोड़ोंके हिनहिनाने एवं उनके आभूषणोंके खनखनानेकी आवाज सब ओर गूँजने लगी ॥ १९ ॥

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता।
राममेवाभिदुद्राव घर्मार्तः सलिलं यथा॥ २० ॥

अयोध्यापुरीके आबाल-वृद्ध सब लोग अत्यन्त पीड़ित होकर श्रीरामके ही पीछे दौड़े, मानो धूपसे पीड़ित हुए प्राणी पानीकी ओर भागे जाते हों ॥ २० ॥

पार्श्वतः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः।
बाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भृशनिःस्वनाः॥ २१ ॥

उनमेंसे कुछ लोग रथके पीछे और अगल-बगलमें लटक गये। सभी श्रीरामके लिये उत्कण्ठित थे और सबके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। वे सब-के-सब उच्चस्वरसे कहने लगे—॥ २१ ॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन् सूत याहि शनैः शनैः।
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति॥ २२ ॥

'सूत ! घोड़ोंकी लगाम खींचो। रथको धीरे-धीरे ले चलो। हम श्रीरामका मुख देखेंगे; क्योंकि अब इस मुखका दर्शन हमलोगोंके लिये दुर्लभ हो जायगा ॥ २२ ॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम्।
यद् देवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते॥ २३ ॥

'निश्चय ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताका हृदय लोहेका बना हुआ है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। तभी तो देव

कुमारके समान तेजस्वी पुत्रके वनकी ओर जाते समय फट नहीं जाता है ॥ २३ ॥

कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्।
न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ २४ ॥

'विदेहनन्दिनी सीता कृतार्थ हो गयीं; क्योंकि वे पतिव्रत-धर्ममें तत्पर रहकर छायाकी भाँति पतिके पीछे-पीछे चली जा रही हैं। वे श्रीरामका साथ उसी प्रकार नहीं छोड़ती हैं, जैसे सूर्यकी प्रभा मेरुपर्वतका त्याग नहीं करती है ॥ २४ ॥

अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम्।
भ्रातरं देवसंकाशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥ २५ ॥

'अहो लक्ष्मण! तुम भी कृतार्थ हो गये; क्योंकि तुम सदा प्रिय वचन बोलनेवाले अपने देवतुल्य भाईकी वनमें सेवा करोगे ॥ २५ ॥

महत्येषा हि ते बुद्धिरेष चाभ्युदयो महान्।
एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥ २६ ॥

'तुम्हारी यह बुद्धि विशाल है। तुम्हारा यह महान् अभ्युदय है और तुम्हारे लिये यह स्वर्गका मार्ग मिल गया है; क्योंकि तुम श्रीरामका अनुसरण कर रहे हो' ॥ २६ ॥

एवं वदन्तस्ते सोढुं न शेकुर्बाष्पमागतम्।
नरास्तमनुगच्छन्ति प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम् ॥ २७ ॥

ऐसी बातें कहते हुए वे पुरवासी मनुष्य उमड़े हुए आँसुओंका वेग न सह सके। वे लोग सबके प्रेमपात्र इक्ष्वाकु-कुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले जा रहे थे ॥ २७ ॥

अथ राजा वृतः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः।
निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन् गृहात् ॥ २८ ॥

उसी समय दयनीय दशाको प्राप्त हुई अपनी स्त्रियोंसे घिरे हुए राजा दशरथ अत्यन्त दीन होकर 'मैं अपने प्यारे पुत्र श्रीरामको देखूँगा' ऐसा कहते हुए महलसे बाहर निकल आये ॥ २८ ॥

शुश्रुवे चाग्रतः स्त्रीणां रुदतीनां महास्वनः।
यथा नादः करेणूनां बद्धे महति कुञ्जरे ॥ २९ ॥

उन्होंने अपने आगे रोती हुई स्त्रियोंका महान् आर्तनाद सुना। वह वैसा ही जान पड़ता था, जैसे बड़े हाथी यूथपतिके बाँध लिये जानेपर हथिनियोंका चीत्कार सुनायी देता है ॥

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान् सन्नस्तदा बभौ।
परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामके पिता ककुत्स्थवंशी श्रीमान् राजा दशरथ उसी तरह खिन्न जान पड़ते थे, जैसे पर्वके समय राहुसे ग्रस्त होनेपर पूर्ण चन्द्रमा श्रीहीन प्रतीत होते हैं ॥

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा रामो दशरथात्मजः।
सूतं संचोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥ ३१ ॥

यह देख अचिन्त्यस्वरूप दशरथनन्दन श्रीमान् भगवान् रामने सुमन्त्रको प्रेरित करते हुए कहा—'आप रथको तेजीसे चलाइये' ॥ ३१ ॥

रामो याहीति तं सूतं तिष्ठेति च जनस्तथा।
उभयं नाशकत् सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥ ३२ ॥

एक ओर श्रीरामचन्द्रजी सारथिसे रथ हाँकनेके लिये कहते थे और दूसरी ओर सारा जनसमुदाय उन्हें ठहर जानेके लिये कहता था। इस प्रकार दुविधामें पड़कर सारथि सुमन्त्र उस मार्गपर दोनोंमेंसे कुछ न कर सके—न तो रथको आगे बढ़ा सके और न सर्वथा रोक ही सके ॥ ३२ ॥

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः।
पतितैरभ्यवहितं प्रणनाश महीरजः ॥ ३३ ॥

महाबाहु श्रीरामके नगरसे निकलते समय पुरवासियोंके नेत्रोंसे गिरे हुए आँसुओंद्वारा भीगकर धरतीकी उड़ती हुई धूल शान्त हो गयी ॥ ३३ ॥

रुदिताश्रुपरिद्यूनं हाहाकृतमचेतनम्।
प्रयाणे राघवस्यासीत् पुरं परमपीडितम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रस्थान करते समय सारा नगर अत्यन्त पीड़ित हो गया। सब रोने और आँसू बहाने लगे तथा सभी हाहाकार करते-करते अचेत-से हो गये ॥ ३४ ॥

सुस्राव नयनैः स्त्रीणामस्रमायाससम्भवम्।
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥

नारियोंके नेत्रोंसे उसी तरह खेदजनित अश्रु झर रहे थे, जैसे मछलियोंके उछलनेसे हिले हुए कमलोंद्वारा जलकणोंकी वर्षा होने लगती है ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वा तु नृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं पुरम्।
निपपातैव दुःखेन कृत्तमूल इव द्रुमः ॥ ३६ ॥

श्रीमान् राजा दशरथ सारी अयोध्यापुरीके लोगोंको एक-सा व्याकुलचित्त देखकर अत्यन्त दुःखके कारण जड़से कटे हुए वृक्षकी भाँति भूमिपर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो हलहलाशब्दो जज्ञे रामस्य पृष्ठतः।
नराणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुःखितम् ॥ ३७ ॥

उस समय राजाको अत्यन्त दुःखमें मग्न हो कष्ट पाते देख श्रीरामके पीछे जाते हुए मनुष्योंका पुनः महान् कोलाहल प्रकट हुआ ॥ ३७ ॥

हा रामेति जनाः केचिद् राममातेति चापरे।
अन्तःपुरसमृद्धं च क्रोशन्तं पर्यदेवयन् ॥ ३८ ॥

अन्तःपुरकी रानियोंके सहित राजा दशरथको उच्चस्वरसे विलाप करते देख कोई 'हा राम!' कहकर और कोई 'हा राममाता!' की पुकार मचाकर करुणक्रन्दन करने लगे ॥

अन्वीक्षमाणो रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम् ।
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥ ३९ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीने पीछे घूमकर देखा तो उन्हें विषादग्रस्त तथा भ्रान्तचित्त पिता राजा दशरथ और दुःखमें डूबी हुई माता कौसल्या दोनों ही मार्गपर अपने पीछे आते हुए दिखायी दिये ॥ ३९ ॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा ।
धर्मपाशेन संयुक्तः प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥ ४० ॥

जैसे रस्सीमें बँधा हुआ घोड़ेका बच्चा अपनी माको नहीं देख पाता, उसी प्रकार धर्मके बन्धनमें बँधे हुए श्रीरामचन्द्रजी अपनी माताकी ओर स्पष्टरूपसे न देख सके ॥ ४० ॥

पदातिनौ च यानार्हावदुःखार्हौ सुखोचितौ ।
दृष्ट्वा संचोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥

जो सवारीपर चलने योग्य, दुःख भोगनेके अयोग्य और सुख भोगनेके ही योग्य थे, उन माता-पिताको पैदल ही अपने पीछे-पीछे आते देख श्रीरामचन्द्रजीने सारथिको शीघ्र रथ हाँकनेके लिये प्रेरित किया ॥ ४१ ॥

नहि तत् पुरुषव्याघ्रो दुःखजं दर्शनं पितुः ।
मातुश्च सहितुं शक्तस्तोत्त्रैर्नुन्न इव द्विपः ॥ ४२ ॥

जैसे अङ्कुशसे पीड़ित किया हुआ गजराज उस कष्टको नहीं सहन कर पाता है, उसी प्रकार पुरुषसिंह श्रीरामके लिये माता-पिताको इस दुःखद अवस्थामें देखना असह्य हो गया ॥

प्रत्यगारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात् ।
बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताभ्यधावत ॥ ४३ ॥

जैसे बँधे हुए बछड़ेवाली सवत्सा गौ शामको घरकी ओर लौटते समय बछड़ेके स्नेहसे दौड़ी चली आती है, उसी प्रकार श्रीरामकी माता कौसल्या उनकी ओर दौड़ी आ रही थीं ॥

तथा रुदन्तीं कौसल्यां रथं तमनुधावतीम् ।
क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ ४४ ॥
रामलक्ष्मणसीतार्थं स्रवन्तीं वारि नेत्रजम् ।
असकृत् प्रैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव मातरम् ॥ ४५ ॥

'हा राम ! हा राम ! हा सीते ! हा लक्ष्मण !' की रट लगाती और रोती हुई कौसल्या उस रथके पीछे दौड़ रही थीं । वे श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये नेत्रोंसे आँसू बहा रही थीं एवं इधर-उधर नाचती—चक्कर लगाती-सी डोल रही थीं । इस अवस्थामें माता कौसल्याको श्रीरामचन्द्रजीने बारंबार देखा ॥ ४४-४५ ॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः ।
सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥

राजा दशरथ चिल्लाकर कहते थे—'सुमन्त्र ! ठहरो ।' किंतु श्रीरामचन्द्रजी कहते थे—'आगे बढ़िये, शीघ्र आगे बढ़िये ।' उन दो प्रकारके आदेशोंमें पड़े हुए बेचारे सुमन्त्रका मन उस समय दो पहियोंके बीचमें फँसे हुए मनुष्यका-सा हो रहा था ॥ ४६ ॥

नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।
चिरं दुःखस्य पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

उस समय श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—'यहाँ अधिक विलम्ब करना मेरे और पिताजीके लिये दुःख ही नहीं, महान् दुःखका कारण होगा; इसलिये रथ आगे बढ़ाइये । लौटनेपर महाराज उलाहना दें तो कह दीजियेगा, मैंने आपकी बात नहीं सुनी' ॥ ४७ ॥

स रामस्य वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम् ।
व्रजतोऽपि हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥

अन्तमें श्रीरामके ही आदेशका पालन करते हुए सारथिने पीछेसे आनेवाले लोगोंसे जानेकी आज्ञा ली और स्वतः चलते हुए घोड़ोंको भी तीव्रगतिसे चलनेके लिये हाँका ॥ ४८ ॥

न्यवर्तत जनो राज्ञो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
मनसाप्याशुवेगेन न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥

राजा दशरथके साथ आनेवाले लोग मन-ही-मन श्रीरामकी परिक्रमा करके शरीरमात्रसे लौटे (मनसे नहीं लौटे); क्योंकि वह उनके रथकी अपेक्षा भी तीव्रगामी था । दूसरे मनुष्योंका समुदाय शीघ्रगामी मन और शरीर दोनोंसे ही नहीं लौटा (वे सब लोग श्रीरामके पीछे-पीछे दौड़े चले गये) ॥

यमिच्छेत् पुनरायातं नैनं दूरमनुव्रजेत् ।
इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥ ५० ॥

इधर मन्त्रियोंने महाराज दशरथसे कहा—'राजन् ! जिसके लिये यह इच्छा की जाय कि वह पुनः शीघ्र लौट आये, उसके पीछे दूरतक नहीं जाना चाहिये' ॥ ५० ॥

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नः
प्रस्विन्नगात्रः प्रविषण्णरूपः ।
निशम्य राजा कृपणः सभार्यो
व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

सर्वगुणसम्पन्न राजा दशरथका शरीर पसीनेसे भीग रहा था, वे विषादके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते थे । अपने मन्त्रियोंकी उपर्युक्त बात सुनकर वे वहीं खड़े हो गये और रानियोंसहित अत्यन्त दीनभावसे पुत्रकी ओर देखने लगे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चत्वारिंशः सर्गः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामके वनगमनसे रनवासकी स्त्रियोंका विलाप तथा नगरनिवासियोंकी शोकाकुल अवस्था

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ ।
आर्तशब्दो हि संजज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥ १ ॥

पुरुषसिंह श्रीरामने माताओंसहित पिताके लिये दूरसे ही हाथ जोड़ रखे थे, उसी अवस्थामें जब वे रथद्वारा नगरसे बाहर निकलने लगे, उस समय रनवासकी रानियोंमें बड़ा हाहाकार मच गया ॥ १ ॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्बलस्य तपस्विनः ।
यो गतिः शरणं चासीत् स नाथः क नु गच्छति ॥ २ ॥

वे रोती हुई कहने लगीं—'हाय ! जो हम अनाथ, दुर्बल और शोचनीय जनोंकी गति (सब सुखोंकी प्राप्ति करानेवाले) और शरण (समस्त आपत्तियोंसे रक्षा करनेवाले) थे, वे हमारे नाथ (मनोरथ पूर्ण करनेवाले) श्रीराम कहाँ चले जा रहे हैं ? ॥ २ ॥

न क्रुध्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् समदुःखः क गच्छति ॥ ३ ॥

'जो किसीके द्वारा झूठा कलंक लगाये जानेपर भी क्रोध नहीं करते थे, क्रोध दिलानेवाली बातें नहीं कहते थे और रूठे हुए सभी लोगोंको मनाकर प्रसन्न कर लेते थे, वे दूसरोंके दुःखमें समवेदना प्रकट करनेवाले राम कहाँ जा रहे हैं ? ॥ ३ ॥

कौसल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते ।
तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा क नु गच्छति ॥ ४ ॥

'जो महातेजस्वी महात्मा श्रीराम अपनी माता कौसल्याके साथ जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही बर्ताव हमारे साथ भी करते थे, वे कहाँ चले जा रहे हैं ? ॥ ४ ॥

कैकेय्या क्लिश्यमानेन राज्ञा संचोदितो वनम् ।
परित्राता जनस्यास्य जगतः क नु गच्छति ॥ ५ ॥

'कैकेयीके द्वारा क्लेशमें डाले गये महाराजके वन जानेके लिये कहनेपर हमलोगोंकी अथवा समस्त जगत्‌की रक्षा करनेवाले श्रीरघुवीर कहाँ चले जा रहे हैं ? ॥ ५ ॥

अहो निश्चेतनो राजा जीवलोकस्य संक्षयम् ।
धर्म्यं सत्यव्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥

'अहो ! ये राजा बड़े बुद्धिहीन हैं, जो कि जीव-जगत्‌के आश्रयभूत, धर्मपरायण, सत्यव्रती श्रीरामको वनवासके लिये देश-निकाला दे रहे हैं' ॥ ६ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।
रुरुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वे सब-की-सब रानियाँ बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह दुःखसे आर्त होकर रोने और उच्चस्वरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ ७ ॥

स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा चासीत् सुदुःखितः ॥ ८ ॥

अन्तःपुरमें वह घोर आर्तनाद सुनकर पुत्रशोकसे संतप्त हुए महाराज दशरथ बहुत दुखी हो गये ॥ ८ ॥

नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन् गृहमेधिनः ।
अकुर्वन् न प्रजाः कार्यं सूर्यश्चान्तरधीयत ॥
व्यसृजन् कवलान् नागा गावो वत्सान् न पाययन् ।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ १० ॥

उस दिन अग्निहोत्र बंद हो गया, गृहस्थोंके घर भोजन नहीं बना, प्रजाओंने कोई काम नहीं किया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये, हाथियोंने मुँहमें लिया हुआ चारा छोड़ दिया, गौओंने बछड़ोंको दूध नहीं पिलाया और पहले-पहल पुत्रको जन्म देकर भी कोई माता प्रसन्न नहीं हुई ॥ ९-१० ॥

त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि ।
दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥ ११ ॥

त्रिशंकु, मङ्गल, गुरु, बुध तथा अन्य समस्त ग्रह शुक्र, शनि आदि रातमें वक्रगतिसे चन्द्रमाके पास पहुँचकर दारुण (क्रूरकान्तियुक्त) होकर स्थित हो गये ॥ ११ ॥

नक्षत्राणि गतार्चींषि ग्रहाश्च गततेजसः ।
विशाखाश्च सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥ १२ ॥

नक्षत्रोंकी कान्ति फीकी पड़ गयी और ग्रह निस्तेज हो गये । वे सब-के-सब आकाशमें विपरीत मार्गपर स्थित हो धूमाच्छन्न प्रतीत हो रहे थे ॥ १२ ॥

कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः ।
रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचाल तत् ॥ १३ ॥

आकाशमें छायी हुई मेघमाला वायुके वेगसे उमड़े हुए समुद्रके समान प्रतीत होती थी । श्रीरामके वनको जाते समय वह सारा नगर जोर-जोरसे हिलने लगा (वहाँ भूकम्प आ गया) ॥ १३ ॥

दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः ।
न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किंचन ॥ १४ ॥

समस्त दिशाएँ व्याकुल हो उठीं, उनमें अन्धकार-सा छा गया । न कोई ग्रह प्रकाशित होता था, न नक्षत्र ॥ १४ ॥

अकस्मान्नागरः सर्वो जनो दैन्यमुपागमत् ।
आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥ १५ ॥

सहसा सारे नागरिक दीन दशाको प्राप्त हो गये। किसीने भी आहार या विहारमें मन नहीं लगाया ॥ १५ ॥

शोकपर्यायसंतप्तः सततं दीर्घमुच्छ्वसन्।
अयोध्यायां जनः सर्वश्चुक्रोश जगतीपतिम् ॥ १६ ॥

अयोध्यावासी सब लोग शोकपरम्परासे संतप्त हो निरन्तर लंबी साँस खींचते हुए राजा दशरथको कोसने लगे ॥ १६ ॥

बाष्पपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः।
न हृष्टो लभ्यते कश्चित् सर्वः शोकपरायणः ॥ १७ ॥

सड़कपर निकला हुआ कोई भी मनुष्य प्रसन्न नहीं दिखायी देता था। सबका मुख आँसुओंसे भीगा हुआ था और सभी शोकमग्न हो रहे थे ॥ १७ ॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः।
न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥ १८ ॥

शीतल वायु नहीं चलती थी। चन्द्रमा सौम्य नहीं दिखायी देता था। सूर्य भी जगत्‌को उचित मात्रामें ताप या प्रकाश नहीं दे रहा था। सारा संसार ही व्याकुल हो उठा था ॥ १८ ॥

अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्तारो भ्रातरस्तथा।
सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥ १९ ॥

बालक माँ-बापको भूल गये। पतियोंको स्त्रियोंकी याद नहीं आती थी और भाई-भाईका स्मरण नहीं करते थे—सभी सब कुछ छोड़कर केवल श्रीरामका ही चिन्तन करने लगे ॥ १९ ॥

ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः।
शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं नैव भेजिरे ॥ २० ॥

जो श्रीरामके मित्र थे, वे सब तो और भी अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। शोकके भारसे आक्रान्त होनेके कारण वे रातमें सोयेतक नहीं ॥ २० ॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना
पुरंदरेणेव मही सपर्वता।
चचाल घोरं भयशोकदीपिता
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥ २१ ॥

इस प्रकार सारी अयोध्यापुरी श्रीरामसे रहित होकर भय और शोकसे प्रज्वलित-सी होकर उसी प्रकार घोर हलचलमें पड़ गयी, जैसे देवराज इन्द्रसे रहित हुई मेरुपर्वतसहित यह पृथ्वी डगमगाने लगती है। हाथी, घोड़े और सैनिकोंसहित उस नगरीमें भयंकर आर्तनाद होने लगा ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४१ ॥

द्विचत्वारिंशः सर्गः

राजा दशरथका पृथ्वीपर गिरना, श्रीरामके लिये विलाप करना, कैकेयीको अपने पास आनेसे मना करना और उसे त्याग देना, कौसल्या और सेवकोंकी सहायतासे उनका कौसल्याके भवनमें आना और वहाँ भी श्रीरामके लिये दुःखका ही अनुभव करना

यावत् तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत् संजहारात्मचक्षुषी ॥ १ ॥

वनकी ओर जाते हुए श्रीरामके रथकी धूल जबतक दिखायी देती रही, तबतक इक्ष्वाकुवंशके स्वामी राजा दशरथने उधरसे अपनी आँखें नहीं हटायीं ॥ १ ॥

यावद् राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यत्यन्तधार्मिकम्।
तावद् व्यवर्धतेवास्य धरण्यां पुत्रदर्शने ॥ २ ॥

वे महाराज अपने अत्यन्त धार्मिक प्रिय पुत्रको जबतक देखते रहे, तबतक पुत्रको देखनेके लिये उनका शरीर मानो पृथ्वीपर बढ़ रहा था—वे ऊँचे उठ-उठकर उनकी ओर निहार रहे थे ॥ २ ॥

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः।
तदार्तश्च निषण्णश्च पपात धरणीतले ॥ ३ ॥

जब राजाको श्रीरामके रथकी धूल भी नहीं दिखायी देने लगी, तब वे अत्यन्त आर्त और विषादग्रस्त हो पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तस्य दक्षिणमन्वागात् कौसल्या बाहुमङ्गना।
परं चास्यान्वगात् पार्श्वं कैकेयी सा सुमध्यमा ॥ ४ ॥

उस समय उन्हें सहारा देनेके लिये उनकी धर्मपत्नी कौसल्या देवी दाहिनी बाँहके पास आयीं और सुन्दरी कैकेयी उनके वामभागमें जा पहुँचीं ॥ ४ ॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन च।
उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः ॥ ५ ॥

कैकेयीको देखते ही नय, विनय और धर्मसे सम्पन्न राजा दशरथकी समस्त इन्द्रियाँ व्यथित हो उठीं; वे बोल उठे— ॥ ५ ॥

कैकेयि मामकाङ्गानि मा स्प्राक्षीः पापनिश्चये।
नहि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च बान्धवी ॥ ६ ॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाली कैकेयि! तू मेरे अङ्गोंका स्पर्श न कर! मैं तुझे देखना नहीं चाहता। तू न तो मेरी भार्या है और न बान्धवी ॥ ६ ॥

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम।
केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

'जो तेरा आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करते हैं, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ और वे मेरे परिजन नहीं हैं। तूने केवल धनमें आसक्त होकर धर्मका त्याग किया है, इसलिये मैं तेरा परित्याग करता हूँ ॥ ७ ॥

अगृह्णां यच्च ते पाणिमग्निं पर्यणयं च यत्।
अनुजानामि तत् सर्वमस्मिँल्लोके परत्र च ॥ ८ ॥

'मैंने जो तेरा पाणिग्रहण किया है और तुझे साथ लेकर अग्निकी परिक्रमा की है, तेरे साथका वह सारा सम्बन्ध इस लोक और परलोकके लिये भी त्याग देता हूँ ॥ ८ ॥

भरतश्चेत् प्रतीतः स्याद् राज्यं प्राप्यैतदव्ययम्।
यन्मे स दद्यात् पित्रर्थं मा मां तद्दत्तमागमत् ॥ ९ ॥

'तेरा पुत्र भरत भी यदि इस विघ्न-बाधासे रहित राज्यको पाकर प्रसन्न हो तो वह मेरे लिये श्राद्धमें जो कुछ पिण्ड या जल आदि दान करे, वह मुझे प्राप्त न हो' ॥ ९ ॥

अथ रेणुसमुद्ध्वस्तं समुत्थाप्य नराधिपम्।
न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता ॥ १० ॥

तदनन्तर शोकसे कातर हुई कौसल्या देवी उस समय धरतीपर लोटनेके कारण धूलसे व्याप्त हुए महाराजको उठाकर उनके साथ राजभवनकी ओर लौटीं ॥ १० ॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामात् स्पृष्ट्वाग्निमिव पाणिना।
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं संचिन्त्य राघवम् ॥ ११ ॥

जैसे कोई जान-बूझकर स्वेच्छापूर्वक ब्राह्मणकी हत्या कर डाले अथवा हाथसे प्रज्वलित अग्निका स्पर्श कर ले और ऐसा करके संतप्त होता रहे, उसी प्रकार धर्मात्मा राजा दशरथ अपने ही दिये हुए वरदानके कारण वनमें गये हुए श्रीरामका चिन्तन करके अनुतप्त हो रहे थे ॥ ११ ॥

निवृत्यैव निवृत्यैव सीदतो रथवर्त्मसु।
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा ॥ १२ ॥

राजा दशरथ बारंबार पीछे लौटकर रथके मार्गोंपर देखनेका कष्ट उठाते थे। उस समय उनका रूप राहुग्रस्त सूर्यकी भाँति अधिक शोभा नहीं पाता था ॥ १२ ॥

विललाप स दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन्।
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्ध्वा पुत्रमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

वे अपने प्रिय पुत्रका बारंबार स्मरण करके दुःखसे आतुर हो विलाप करने लगे। वे बेटेको नगरकी सीमापर पहुँचा हुआ समझकर इस प्रकार कहने लगे— ॥ १३ ॥

वाहनानां च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम्।
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥ १४ ॥

'हाय! मेरे पुत्रको वनकी ओर ले जाते हुए श्रेष्ठ वाहनों (घोड़ों) के पदचिह्न तो मार्गमें दिखायी देते हैं; परंतु उन महात्मा श्रीरामका दर्शन नहीं हो रहा है ॥ १४ ॥

यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः।
वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥ १५ ॥
स नूनं क्वचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः।
काष्ठं वा यदि वाश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥ १६ ॥

'जो मेरे श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम चन्दनसे चर्चित हो तकियोंका सहारा लेकर उत्तम शय्याओंपर सुखसे सोते थे और उत्तम अलंकारोंसे विभूषित सुन्दरी स्त्रियाँ जिन्हें व्यजन डुलाती थीं, वे निश्चय ही आज कहीं वृक्षकी जड़का आश्रय ले अथवा किसी काठ या पत्थरको सिरके नीचे रखकर भूमिपर ही शयन करेंगे ॥ १५-१६ ॥

उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुण्ठितः।
विनिःश्वसन् प्रस्रवणात् करेणूनामिवर्षभः ॥ १७ ॥

'फिर अङ्गोंमें धूल लपेटे दीनकी भाँति लंबी साँस खींचते हुए वे शयन-भूमिसे उसी प्रकार उठेंगे, जैसे किसी झरनेके पाससे गजराज उठता है ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः।
राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत् ॥ १८ ॥

'निश्चय ही वनमें रहनेवाले मनुष्य लोकनाथ महाबाहु श्रीरामको वहाँसे अनाथकी भाँति उठकर जाते हुए देखेंगे ॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदोचिता।
कण्टकाक्रमणक्रान्ता वनमद्य गमिष्यति ॥ १९ ॥

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य है, वह जनककी प्यारी पुत्री सीता आज अवश्य ही काँटोंपर पैर पड़नेसे व्यथाका अनुभव करती हुई वनको जायगी ॥ १९ ॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति।
श्वपदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥ २० ॥

'वह वनके कष्टोंसे अनभिज्ञ है। वहाँ व्याघ्र आदि हिंसक जन्तुओंका गम्भीर तथा रोमाञ्चकारी गर्जन-तर्जन सुनकर निश्चय ही भयभीत हो जायगी ॥ २० ॥

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस।
नहि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥

'अरी कैकेयी! तू अपनी कामना सफल कर ले और विधवा होकर राज्य भोग। मैं पुरुषसिंह श्रीरामके बिना जीवित नहीं रह सकता' ॥ २१ ॥

इत्येवं विलपन् राजा जनौघेनाभिसंवृतः ।
अपस्नात इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए राजा दशरथने मरघटसे नहाकर आये हुए पुरुषकी भाँति मनुष्योंकी भारी भीड़से घिरकर अपने शोकपूर्ण उत्तम भवनमें प्रवेश किया ॥ २२ ॥

शून्यचत्वरवेश्मान्तां संवृतापणवेदिकाम् ।
क्लान्तदुर्बलदुःखार्तां नात्याकीर्णमहापथाम् ॥ २३ ॥
तामवेक्ष्य पुरीं सर्वां राममेवानुचिन्तयन् ।
विलपन् प्राविशद् राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥ २४ ॥

उन्होंने देखा, अयोध्यापुरीके प्रत्येक घरका बाहरी चबूतरा और भीतरी भाग भी सूना हो रहा है । (क्योंकि उन घरोंके सब लोग श्रीरामके पीछे चले गये थे ।) बाजार-हाट बंद है । जो लोग नगरमें हैं, वे भी अत्यन्त क्लान्त, दुर्बल और दुःखसे आतुर हो रहे हैं तथा बड़ी-बड़ी सड़कोंपर भी अधिक आदमी जाते-आते नहीं दिखायी देते हैं । सारे नगरकी यह अवस्था देखकर श्रीरामके लिये ही चिन्ता और विलाप करते हुए राजा उसी तरह महलके भीतर गये, जैसे सूर्य मेघोंकी घटामें छिप जाते हैं ॥ २३-२४ ॥

महाह्रदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् ।
रामेण रहितं वेश्म वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २५ ॥

श्रीराम, लक्ष्मण और सीतासे रहित वह राजभवन उस महान् अक्षोभ्य जलाशयके समान जान पड़ता था, जिसके भीतरके नागको गरुड़ उठा ले गये हों ॥ २५ ॥

अथ गद्गदशब्दस्तु विलपन् वसुधाधिपः ।
उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम् ॥ २६ ॥

उस समय विलाप करते हुए राजा दशरथने गद्गद वाणीमें द्वारपालोंसे यह मधुर, अस्पष्ट, दीनतायुक्त और स्वाभाविक स्वरसे रहित बात कही—॥ २६ ॥

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् ।
नह्यन्यत्र ममाश्वासो हृदयस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

'मुझे शीघ्र ही श्रीराम-माता कौसल्याके घरमें पहुँचा दो; क्योंकि मेरे हृदयको और कहीं शान्ति नहीं मिल सकती' ॥

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन् द्वारदर्शिनः ।
कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेशयत विनीतवत् ॥ २८ ॥

ऐसी बात कहते हुए राजा दशरथको द्वारपालोंने बड़ी विनयके साथ रानी कौसल्याके भवनमें पहुँचाया और पलंगपर सुला दिया ॥ २८ ॥

ततस्तत्र प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।
अधिरुह्यापि शयनं बभूव लुलितं मनः ॥ २९ ॥

वहाँ कौसल्याके भवनमें प्रवेश करके पलंगपर आरूढ़ हो जानेपर भी राजा दशरथका मन चञ्चल एवं मलिन ही रहा ॥ २९ ॥

पुत्रद्वयविहीनं च स्नुषया च विवर्जितम् ।
अपश्यद् भवनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥ ३० ॥

दोनों पुत्र और पुत्रवधू सीतासे रहित वह भवन राजाको चन्द्रहीन आकाशकी भाँति श्रीहीन दिखायी देने लगा ॥ ३० ॥

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान् ।
उच्चैःस्वरेण प्राक्रोशद्धा राम विजहासि नौ ॥ ३१ ॥
सुखिता बत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः ।
परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३२ ॥

उसे देखकर पराक्रमी महाराजने एक बाँह ऊपर उठाकर उच्चस्वरसे विलाप करते हुए कहा—'हा राम ! तुम हम दोनों माता-पिताको त्याग दे रहे हो । जो नरश्रेष्ठ चौदह वर्षोंकी अवधितक जीवित रहेंगे और अयोध्यामें पुनः लौटे हुए श्रीरामको हृदयसे लगाकर देखेंगे, वे ही वास्तवमें सुखी होंगे' ॥ ३१-३२ ॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां कालरात्र्यामिवात्मनः ।
अर्धरात्रे दशरथः कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

तदनन्तर अपनी कालरात्रिके समान वह रात्रि आनेपर राजा दशरथने आधी रात होनेपर कौसल्यासे इस प्रकार कहा—॥ ३३ ॥

न त्वां पश्यामि कौसल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते ॥ ३४ ॥

'कौसल्ये ! मेरी दृष्टि श्रीरामके ही साथ चली गयी और वह अबतक नहीं लौटी है; अतः मैं तुम्हें देख नहीं पाता हूँ । एक बार अपने हाथसे मेरे शरीरका स्पर्श तो करो' ॥ ३४ ॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं
समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।
उपोपविश्याधिकमार्तरूपा
विनिःश्वसन्तं विललाप कृच्छ्रम् ॥ ३५ ॥

शय्यापर पड़े हुए महाराज दशरथको श्रीरामका ही चिन्तन करते और लंबी साँस खींचते देख देवी कौसल्या अत्यन्त व्यथित हो उनके पास आ बैठीं और बड़े कष्टसे विलाप करने लगीं ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बयालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

महारानी कौसल्याका विलाप

ततः समीक्ष्य शयने सन्नं शोकेन पार्थिवम् ।
कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

शय्यापर पड़े हुए राजाको पुत्रशोकसे व्याकुल देख पुत्रके ही शोकसे पीड़ित हुई कौसल्याने उन महाराजसे कहा—॥ १ ॥

राघवे नरशार्दूले विषं मुक्त्वाहिजिह्मगा ।
विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव हि पन्नगी ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामपर अपना विष उँड़ेलकर टेढ़ी चालसे चलनेवाली कैकेयी केंचुल छोड़कर नूतन शरीरसे प्रकट हुई सर्पिणीकी भाँति अब स्वच्छन्द विचरेगी ॥ २ ॥

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता ।
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेश्मनि ॥ ३ ॥

'जैसे घरमें रहनेवाला दुष्ट सर्प बारंबार भय देता रहता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रको वनवास देकर सफलमनोरथ हुई सुभगा कैकेयी सदा सावधान होकर मुझे त्रास देती रहेगी ॥

अथास्मिन् नगरे रामश्चरन् भैक्षं गृहे वसेत् ।
कामकारो वरं दातुमपि दासं ममात्मजम् ॥ ४ ॥

'यदि श्रीराम इस नगरमें भीख माँगते हुए भी घरमें रहते अथवा मेरे पुत्रको कैकेयीका दास भी बना दिया गया होता तो वैसा वरदान मुझे भी अभीष्ट होता (क्योंकि उस दशामें मुझे भी श्रीरामका दर्शन होता रहता । श्रीरामके वनवासका वरदान तो कैकेयीने मुझे दुःख देनेके लिये ही माँगा है ।) ॥ ४ ॥

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद् यथेष्टतः ।
प्रविद्धो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना ॥ ५ ॥

'कैकेयीने अपनी इच्छाके अनुसार श्रीरामको उनके स्थानसे भ्रष्ट करके वैसा ही किया है, जैसे किसी अग्निहोत्रीने पर्वके दिन देवताओंको उनके भागसे वञ्चित करके राक्षसोंको वह भाग अर्पित कर दिया हो ॥ ५ ॥

नागराजगतिर्वीरो महाबाहुर्धनुर्धरः ।
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ६ ॥

'गजराजके समान मन्द गतिसे चलनेवाले वीर महाबाहु धनुर्धर श्रीराम निश्चय ही अपनी पत्नी और लक्ष्मणके साथ वनमें प्रवेश कर रहे होंगे ॥ ६ ॥

वने त्वदृष्टदुःखानां कैकेय्यनुमते त्वया ।
त्यक्तानां वनवासाय कान्यावस्था भविष्यति ॥ ७ ॥

'महाराज ! जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखे थे, उन श्रीराम, लक्ष्मण और सीताको आपने कैकेयीकी बातोंमें आकर वनमें भेज दिया । अब उन बेचारोंकी वनवासके कष्ट भोगनेके सिवा और क्या अवस्था होगी ? ॥ ७ ॥

ते रत्नहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥

'रत्नतुल्य उत्तम वस्तुओंसे वञ्चित वे तीनों तरुण सुख-रूप फल भोगनेके समय घरसे निकाल दिये गये । अब वे बेचारे फल-मूलका भोजन करके कैसे रह सकेंगे ? ॥ ८ ॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।
सहभार्यं सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥

'क्या अब फिर मेरे शोकको नष्ट करनेवाला वह शुभ समय आयेगा, जब मैं सीता और लक्ष्मणके साथ वनसे लौटे हुए श्रीरामको देखूँगी ? ॥ ९ ॥

श्रुत्वैवोपस्थितौ वीरौ कदायोध्या भविष्यति ।
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छ्रितध्वजमालिनी ॥ १० ॥

'कब वह शुभ अवसर प्राप्त होगा जब कि 'वीर श्रीराम और लक्ष्मण वनसे लौट आये' यह सुनते ही यशस्विनी अयोध्यापुरीके सब लोग हर्षसे उल्लसित हो उठेंगे और घर-घर फहराये गये ऊँचे-ऊँचे ध्वज-समूह पुरीकी शोभा बढ़ाने लगेंगे ॥ १० ॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघ्रावरण्यात् पुनरागतौ ।
भविष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥ ११ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम और लक्ष्मणको पुनः वनसे आया हुआ देख यह अयोध्यापुरी पूर्णिमाके उमड़ते हुए समुद्रकी भाँति कब हर्षोल्लाससे परिपूर्ण होगी ? ॥ ११ ॥

कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥ १२ ॥

'जैसे साँड़ गायको आगे करके चलता है, उसी प्रकार वीर महाबाहु श्रीराम रथपर सीताको आगे करके कब अयोध्यापुरीमें प्रवेश करेंगे ? ॥ १२ ॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ ।
लाजैरवकरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिंदमौ ॥ १३ ॥

'कब यहाँके सहस्रों मनुष्य पुरीमें प्रवेश करते और राजमार्गपर चलते हुए मेरे दोनों शत्रुदमन पुत्रोंपर लावा (खील) की वर्षा करेंगे ? ॥ १३ ॥

प्रविशन्तौ कदायोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ ।
उदग्रायुधनिस्त्रिंशौ सशृङ्गाविव पर्वतौ ॥ १४ ॥

'उत्तम आयुध एवं खड्ग लिये शिखरयुक्त पर्वतोंके समान प्रतीत होनेवाले श्रीराम और लक्ष्मण सुन्दर कुण्डलोंसे

अलंकृत हो कब अयोध्यापुरीमें प्रवेश करते हुए मेरे नेत्रोंके समक्ष प्रकट होंगे ? ॥ १४ ॥

कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च ।
प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

'कब ब्राह्मणोंकी कन्याएँ हर्षपूर्वक फूल और फल अर्पण करती हुई अयोध्यापुरीकी परिक्रमा करेंगी ? ॥ १५ ॥

कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः ।
अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष इव लालयन् ॥ १६ ॥

'कब ज्ञानमें बढ़े-चढ़े और अवस्थामें देवताओंके समान तेजस्वी धर्मात्मा श्रीराम उत्तम वर्षाकी भाँति जनसमुदायका लालन करते हुए यहाँ पधारेंगे ? ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया ।
पातुकामेषु वत्सेषु मातॄणां शातिताः स्तनाः ॥ १७ ॥

'वीर ! इसमें संदेह नहीं कि पूर्व जन्ममें मुझ नीच आचार-विचारवाली नारीने बछड़ोंके दूध पीनेके लिये उद्यत होते ही उनकी माताओंके स्तन काट दिये होंगे ॥ १७ ॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।
कैकेय्या पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्बलात् ॥ १८ ॥

'पुरुषसिंह ! जैसे किसी सिंहने छोटेसे बछड़ेवाली वत्सला गौको बलपूर्वक बछड़ेसे हीन कर दिया हो, उसी प्रकार कैकेयीने मुझे बलात्कारपूर्वक अपने बेटेसे विलग कर दिया है ॥ १८ ॥

नहि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।
एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥ १९ ॥

'जो उत्तम गुणोंसे युक्त और सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीण हैं, उन अपने पुत्र श्रीरामके बिना मैं इकलौते बेटेवाली माँ जीवित नहीं रह सकती ॥ १९ ॥

न हि मे जीविते किंचित् सामर्थ्यमिह कल्प्यते ।
अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २० ॥

'अब प्यारे पुत्र श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको देखे बिना मुझमें जीवित रहनेकी कुछ भी शक्ति नहीं है ॥ २० ॥

अयं हि मां दीपयतेऽद्य वह्नि-
स्तनूजशोकप्रभवो महाहितः ।
महीमिमां रश्मिभिरुत्तमप्रभो
यथा निदाघे भगवान् दिवाकरः ॥ २१ ॥

'जैसे ग्रीष्म ऋतुमें उत्कृष्ट प्रभावाले भगवान् सूर्य अपनी किरणोंद्वारा इस पृथ्वीको अधिक ताप देते हैं, उसी प्रकार यह पुत्रशोकजनित महान् अहितकारक अग्नि आज मुझे जलाये दे रही है' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

सुमित्राका कौसल्याको आश्वासन देना

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।
इदं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याको इस प्रकार विलाप करती देख धर्मपरायणा सुमित्रा यह धर्मयुक्त बात बोली— ॥ १ ॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः स पुत्रः पुरुषोत्तमः ।
किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

'आर्ये ! तुम्हारे पुत्र श्रीराम उत्तम गुणोंसे युक्त और पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं । उनके लिये इस प्रकार विलाप करना और दीनतापूर्वक रोना व्यर्थ है, इस तरह रोने-धोनेसे क्या लाभ ? ॥ २ ॥

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।
साधु कुर्वन् महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥
शिष्टैराचरिते सम्यक्शश्वत् प्रेत्य फलोदये ।
रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥

'बहिन ! जो राज्य छोड़कर अपने महात्मा पिताको भलीभाँति सत्यवादी बनानेके लिये वनमें चले गये हैं, वे तुम्हारे महाबली श्रेष्ठ पुत्र श्रीराम उस उत्तम धर्ममें स्थित हैं, जिसका सत्पुरुषोंने सर्वदा और सम्यक् प्रकारसे पालन किया है तथा जो परलोकमें भी सुखमय फल प्रदान करनेवाला है । ऐसे धर्मात्माके लिये कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ ३-४ ॥

वर्तते चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन् सदानघः ।
दयावान् सर्वभूतेषु लाभस्तस्य महात्मनः ॥ ५ ॥

'निष्पाप लक्ष्मण समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु हैं । वे सदा श्रीरामके प्रति उत्तम बर्ताव करते हैं, अतः उन महात्मा लक्ष्मणके लिये यह लाभकी ही बात है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यद् दुःखं जानन्त्येव सुखोचिता ।
अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

'विदेहनन्दिनी सीता भी जो सुख भोगनेके ही योग्य है, वनवासके दुःखोंको भलीभाँति सोच-समझकर ही तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण करती है ॥ ६ ॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः ।
धर्मः सत्यव्रतपरः किं न प्राप्तस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

'जो प्रभु संसारमें अपनी कीर्तिमयी पताका फहरा रहे हैं और सदा सत्यव्रतके पालनमें तत्पर रहते हैं, उन धर्म-स्वरूप तुम्हारे पुत्र श्रीरामको कौन-सा श्रेय प्राप्त नहीं हुआ ॥ ७ ॥

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं माहात्म्यमुत्तमम् ।
न गात्रमंशुभिः सूर्यः संतापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

'श्रीरामकी पवित्रता और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य अपनी किरणोंद्वारा उनके शरीरको संतप्त नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

'सभी समयोंमें वनोंसे निकली हुई उचित सरदी और गरमीसे युक्त सुखद एवं मङ्गलमय वायु श्रीरघुनाथजीकी सेवा करेगी ॥ ९ ॥

शयानमनघं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् ।
घर्मघ्नः संस्पृशञ्छीतश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥

'रात्रिकालमें धूपका कष्ट दूर करनेवाले शीतल चन्द्रमा सोते हुए निष्पाप श्रीरामका अपने किरणरूपी करोंसे आलिङ्गन और स्पर्श करके उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे ॥ १० ॥

ददौ चास्त्राणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा महौजसे ।
दानवेन्द्रं हतं दृष्ट्वा तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

'श्रीरामके द्वारा रणभूमिमें तिमिध्वज (शम्बर) के पुत्र दानवराज सुबाहुको मारा गया देख विश्वामित्रजीने उन महातेजस्वी वीरको बहुत-से दिव्यास्त्र प्रदान किये थे ॥ ११ ॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ।
असंत्रस्तो ह्यरण्येऽसौ वेश्मनीव निवत्स्यते ॥ १२ ॥

'वे पुरुषसिंह श्रीराम बड़े शूरवीर हैं । वे अपने ही बाहुबलका आश्रय लेकर जैसे महलमें रहते थे, उसी तरह वनमें भी निडर होकर रहेंगे ॥ १२ ॥

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।
कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥

जिनके बाणोंका लक्ष्य बनकर सभी शत्रु विनाशको प्राप्त होते हैं, उनके शासनमें यह पृथ्वी और यहाँके प्राणी कैसे नहीं रहेंगे ? ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता ।
निवृत्तारण्यवासः स्वं क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

'श्रीरामकी जैसी शारीरिक शोभा है, जैसा पराक्रम है और जैसी कल्याणकारिणी शक्ति है, उससे जान पड़ता है कि वे वनवाससे लौटकर शीघ्र ही अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे ॥ १४ ॥

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।
श्रियाःश्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥ १५ ॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः ।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥ १६ ॥

'देवि ! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि (दाहक) हैं । वे प्रभुके भी प्रभु, लक्ष्मीकी भी उत्तम लक्ष्मी और क्षमाकी भी क्षमा हैं । इतना ही नहीं—वे देवताओंके भी देवता तथा भूतोंके भी उत्तम भूत हैं । वे वनमें रहें या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी दोषावह हो सकते हैं ॥ १५-१६ ॥

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः ।
क्षिप्रं तिसृभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यते ॥ १७ ॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीराम शीघ्र ही पृथ्वी, सीता और लक्ष्मी—इन तीनोंके साथ राज्यपर अभिषिक्त होंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विसृजत्यश्रु निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् ।
अयोध्यायां जनः सर्वः शोकवेगसमाहतः ॥ १८ ॥
कुशचीरधरं वीरं गच्छन्तमपराजितम् ।
सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

'जिनको नगरसे निकलते देख अयोध्याका सारा जनसमुदाय शोकके वेगसे आहत हो नेत्रोंसे दुःखके आँसू बहा रहा है, कुश और चीर धारण करके वनको जाते हुए जिन अपराजित नित्यविजयी वीरके पीछे-पीछे सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी ही गयी है, उनके लिये क्या दुर्लभ है ? ॥ १८-१९ ॥

धनुर्ग्रहवरो यस्य बाणखड्गास्त्रभृत् स्वयम् ।
लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

'जिनके आगे धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ लक्ष्मण स्वय बाण और खड्ग आदि अस्त्र लिये जा रहे हैं, उनके लिये जगत्में कौन-सी वस्तु दुर्लभ है ? ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् ।
जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

'देवि ! मैं तुमसे सत्य कहती हूँ । तुम वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ लौटे हुए श्रीरामको फिर देखोगी, इसलिये तुम शोक और मोह छोड़ दो ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते ।
पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

'कल्याणि ! अनिन्दिते ! तुम नवोदित चन्द्रमाके समान अपने पुत्रको पुनः अपने इन चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते देखोगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्ट्वा तमभिषिक्तं महाश्रियम्।
समुत्स्रक्ष्यसि नेत्राभ्यां शीघ्रमानन्दजं जलम्॥ २३॥

'राजभवनमें प्रविष्ट होकर पुनः राजपदपर अभिषिक्त हुए अपने पुत्रको बड़ी भारी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न देखकर तुम शीघ्र ही अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाओगी ॥ २३ ॥

मा शोको देवि दुःखं वा न रामे दृश्यतेऽशिवम्।
क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं ससीतं सहलक्ष्मणम्॥ २४॥

'देवि! श्रीरामके लिये तुम्हारे मनमें शोक और दुःख नहीं होना चाहिये; क्योंकि उनमें कोई अशुभ बात नहीं दिखायी देती। तुम सीता और लक्ष्मणके साथ अपने पुत्र श्रीरामको शीघ्र ही यहाँ उपस्थित देखोगी ॥ २४ ॥

त्वयाशेषो जनश्चायं समाश्वास्यो यतोऽनघे।
किमिदानीमिदं देवि करोषि हृदि विक्लवम्॥ २५॥

'पापरहित देवि! तुम्हें तो इन सब लोगोंको धैर्य बँधाना चाहिये, फिर स्वयं ही इस समय अपने हृदयमें इतना दुःख क्यों करती हो? ॥ २५ ॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः।
नहि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः॥ २६॥

'देवि! तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि तुम्हें रघुकुलनन्दन राम-जैसा बेटा मिला है। श्रीरामसे बढ़कर सन्मार्गमें स्थिर रहनेवाला मनुष्य संसारमें दूसरा कोई नहीं है ॥ २६ ॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम्।
मुदाश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघरेखेव वार्षिकी॥ २७॥

'जैसे वर्षाकालके मेघोंकी घटा जलकी वृष्टि करती है, उसी प्रकार तुम सुहृदोंसहित अपने पुत्र श्रीरामको अपने चरणोंमें प्रणाम करते देख शीघ्र ही आनन्दपूर्वक आँसुओंकी वर्षा करोगी ॥ २७ ॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्यां पुनरागतः।
कराभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति॥ २८॥

'तुम्हारे वरदायक पुत्र पुनः शीघ्र ही अयोध्यामें आकर अपने मोटे-मोटे कोमल हाथोंद्वारा तुम्हारे दोनों पैरोंको दबायेंगे ॥ २८ ॥

अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम्।
मुदास्रैः प्रोक्षसे पुत्रं मेघराजिरिवाचलम्॥ २९॥

'जैसे मेघमाला पर्वतको नहलाती है, उसी प्रकार तुम अभिवादन करके नमस्कार करते हुए सुहृदोंसहित अपने शूरवीर पुत्रका आनन्दके आँसुओंसे अभिषेक करोगी' ॥ २९ ॥

आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यै-
र्वाक्योपचारे कुशलानवद्या।
रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा
देवी सुमित्रा विरराम रामा॥ ३०॥

बातचीत करनेमें कुशल, दोषरहित तथा रमणीय रूपवाली देवी सुमित्रा इस प्रकार तरह-तरहकी बातोंसे श्रीराम-माता कौसल्याको आश्वासन देती हुई उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गयीं ॥ ३० ॥

निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं
रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः।
सद्यः शरीरे विननाश शोकः
शरद्गतो मेघ इवाल्पतोयः॥ ३१॥

लक्ष्मणकी माताका वह वचन सुनकर महाराज दशरथकी पत्नी तथा श्रीरामकी माता कौसल्याका सारा शोक उनके शरीर (मन) में ही तत्काल विलीन हो गया। ठीक उसी तरह, जैसे शरद् ऋतुका थोड़े जलवाला बादल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाता है ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुश्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४४॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशः सर्गः

श्रीरामका पुरवासियोंसे भरत और महाराज दशरथके प्रति प्रेम-भाव रखनेका अनुरोध करते हुए लौट जानेके लिये कहना; नगरके वृद्ध ब्राह्मणोंका श्रीरामसे लौट चलनेके लिये आग्रह करना तथा उन सबके साथ श्रीरामका तमसातटपर पहुँचना

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।
अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः॥ १॥

उधर सत्यपराक्रमी महात्मा श्रीराम जब वनकी ओर जाने लगे, उस समय उनके प्रति अनुराग रखनेवाले बहुत-से अयोध्यावासी मनुष्य वनमें निवास करनेके लिये उनके पीछे-पीछे चल दिये ॥ १ ॥

निवर्तितेऽतीव बलात् सुहृद्धर्मेण राजनि।
नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम्॥ २॥

'जिसके जल्दी लौटनेकी कामना की जाय, उस स्वजनको दूरतक नहीं पहुँचाना चाहिये'—इत्यादि रूपसे बताये गये सुहृद्धर्मके अनुसार जब राजा दशरथ बलपूर्वक लौटा दिये गये, तब भी जो श्रीरामजीके रथके पीछे-पीछे लगे हुए

थे, वे अयोध्यावासी अपने घरकी ओर नहीं लौटे ॥ २ ॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।
बभूव गुणसम्पन्नः पूर्णचन्द्र इव प्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि अयोध्यावासी पुरुषोंके लिये सद्गुणसम्पन्न महायशस्वी श्रीराम पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रिय हो गये थे ॥ ३ ॥

स याच्यमानः काकुत्स्थस्ताभिः प्रकृतिभिस्तदा ।
कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४ ॥

उन प्रजाजनोंने श्रीरामसे घर लौट चलनेके लिये बहुत प्रार्थना की; किंतु वे पिताके सत्यकी रक्षा करनेके लिये वनकी ओर ही बढ़ते गये ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।
उवाच रामः सस्नेहं ताः प्रजाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥

वे प्रजाजनोंको इस प्रकार स्नेहभरी दृष्टिसे देख रहे थे मानो नेत्रोंसे उन्हें पी रहे हों; उस समय श्रीरामने अपनी संतानके समान प्रिय उन प्रजाजनोंसे स्नेहपूर्वक कहा—॥ ५ ॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥ ६ ॥

'अयोध्यानिवासियोंका मेरे प्रति जो प्रेम और आदर है, वह मेरी ही प्रसन्नताके लिये भरतके प्रति और अधिकरूपमें होना चाहिये ॥ ६ ॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥

उनका चरित्र बड़ा ही सुन्दर और सबका कल्याण करनेवाला है। कैकेयीका आनन्द बढ़ानेवाले भरत आप लोगोंका यथावत् प्रिय और हित करेंगे ॥ ७ ॥

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥

'वे अवस्थामें छोटे होनेपर भी ज्ञानमें बड़े हैं। पराक्रमोचित गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी स्वभावके बड़े कोमल हैं। वे आपलोगोंके लिये योग्य राजा होंगे और प्रजाके भयका निवारण करेंगे ॥ ८ ॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः ।
अपि चापि मया शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥ ९ ॥

'वे मुझसे भी अधिक राजोचित गुणोंसे युक्त हैं, इसीलिये महाराजने उन्हें युवराज बनानेका निश्चय किया है; अतः आपलोगोंको अपने स्वामी भरतकी आज्ञाका सदा पालन करना चाहिये ॥ ९ ॥

न संतप्येद् यथा चासौ वनवासं गते मयि ।
महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥ १० ॥

'मेरे वनमें चले जानेपर महाराज दशरथ जिस प्रकार भी शोकसे संतप्त न होने पायें, इस बातके लिये आपलोग सदा चेष्टा रखें। मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे आपको मेरी इस प्रार्थनापर अवश्य ध्यान देना चाहिये ॥ १० ॥

यथा यथा दाशरथिर्धर्ममेवाश्रितो भवेत् ।
तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने ज्यों-ज्यों धर्मका आश्रय लेनेके लिये ही दृढ़ता दिखायी, त्यों-ही-त्यों प्रजाजनोंके मनमें उन्हींको अपना स्वामी बनानेकी इच्छा प्रबल होती गयी ॥ ११ ॥

बाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह ।
चकर्षेव गुणैर्बद्धं जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२ ॥

समस्त पुरवासी अत्यन्त दीन होकर आँसू बहा रहे थे और लक्ष्मणसहित श्रीराम मानो अपने गुणोंमें बाँधकर उन्हें खींचे लिये जा रहे थे ॥ १२ ॥

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा ।
वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

उनमें बहुत-से ब्राह्मण थे, जो ज्ञान, अवस्था और तपोबल—तीनों ही दृष्टियोंसे बड़े थे। वृद्धावस्थाके कारण कितनोंके तो सिर काँप रहे थे। वे दूरसे ही इस प्रकार बोले—॥ १३ ॥

वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः ।
निवर्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥ १४ ॥

'अरे! ओ तेज चलनेवाले अच्छी जातिके घोड़ो! तुम बड़े वेगशाली हो और श्रीरामको वनकी ओर लिये जा रहे हो, लौटो! अपने स्वामीके हितैषी बनो! तुम्हें वनमें नहीं जाना चाहिये ॥ १४ ॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।
यूयं तस्मान्निवर्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥ १५ ॥

'यों तो सभी प्राणियोंके कान होते हैं, परंतु घोड़ोंके कान बड़े होते हैं; अतः तुम्हें हमारी याचनाका ज्ञान तो हो ही गया होगा; इसलिये घरकी ओर लौट चलो ॥ १५ ॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः ।
उपवाह्यस्तु वो भर्ता नापवाह्यः पुराद् वनम् ॥ १६ ॥

'तुम्हारे स्वामी श्रीराम विशुद्धात्मा, वीर और उत्तम व्रतका दृढ़तासे पालन करनेवाले हैं, अतः तुम्हें इनका उपवहन करना चाहिये—इन्हें बाहरसे नगरके समीप ले चलना चाहिये। नगरसे वनकी ओर इनका अपवहन करना—इन्हें ले जाना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है' ॥ १६ ॥

एवमार्तप्रलापांस्तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान् ।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥ १७ ॥

वृद्ध ब्राह्मणोंको इस प्रकार आर्तभावसे प्रलाप

करते देख श्रीरामचन्द्रजी सहसा रथसे नीचे उतर गये ॥

पद्भ्यामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः।
संनिकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥ १८ ॥

वे सीता और लक्ष्मणके साथ पैदल ही चलने लगे। ब्राह्मणोंका साथ न छूटे, इसके लिये वे अपना पैर बहुत निकट रखते थे—लंबे डगसे नहीं चलते थे। वनमें पहुँचना ही उनकी यात्राका परम लक्ष्य था ॥ १८ ॥

द्विजातीन् हि पदातींस्तान् रामश्चारित्रवत्सलः।
न शशाक घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रमें वात्सल्य-गुणकी प्रधानता थी। उनकी दृष्टिमें दया भरी हुई थी; इसलिये वे रथके द्वारा चलकर उन पैदल चलनेवाले ब्राह्मणोंको पीछे छोड़नेका साहस न कर सके ॥ १९ ॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं सम्भ्रान्तमानसाः।
ऊचुः परमसंतप्ता रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥ २० ॥

श्रीरामको अब भी वनकी ओर ही जाते देख वे ब्राह्मण मन-ही-मन घबरा उठे और अत्यन्त संतप्त होकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

ब्राह्मण्यं कृत्स्नमेतत् त्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति।
द्विजस्कन्धाधिरूढास्त्वामग्नयोऽप्यनुयान्त्वमी ॥ २१ ॥

'रघुनन्दन ! तुम ब्राह्मणोंके हितैषी हो, इसीसे यह सारा ब्राह्मण-समाज तुम्हारे पीछे-पीछे चल रहा है। इन ब्राह्मणोंके कंधोंपर चढ़कर अग्निदेव भी तुम्हारा अनुसरण कर रहे हैं ॥ २१ ॥

वाजपेयसमुत्थानि छत्राण्येतानि पश्य नः।
पृष्ठतोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥ २२ ॥

'वर्षा बीतनेपर शरद् ऋतुमें दिखायी देनेवाले सफेद बादलोंके समान हमारे इन श्वेत छत्रोंकी ओर देखो, जो तुम्हारे पीछे-पीछे चल पड़े हैं। ये हमें वाजपेय यज्ञमें प्राप्त हुए थे ॥ २२ ॥

अनवाप्तातपत्रस्य रश्मिसंतापितस्य ते।
एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयकैः ॥ २३ ॥

'तुम्हें राजकीय श्वेतच्छत्र नहीं प्राप्त हुआ, अतएव तुम सूर्यदेवकी किरणोंसे संतप्त हो रहे हो। इस अवस्थामें हम वाजपेय यज्ञमें प्राप्त हुए इन अपने छत्रोंद्वारा तुम्हारे लिये छाया करेंगे ॥ २३ ॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी।
त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥ २४ ॥

'वत्स ! हमारी जो बुद्धि सदा वेदमन्त्रोंके पीछे चलती थी—उन्हींके चिन्तनमें लगी रहती थी, वही तुम्हारे लिये वनवासका अनुसरण करनेवाली हो गयी है ॥ २४ ॥

हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम्।
वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २५ ॥

'जो हमारे परम धन वेद हैं, वे हमारे हृदयोंमें स्थित हैं। हमारी स्त्रियाँ अपने चरित्रबलसे सुरक्षित रहकर घरोंमें ही रहेंगी ॥ २५ ॥

पुनर्न निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः।
त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद् धर्मपथे स्थितम् ॥ २६ ॥

'अब हमें अपने कर्तव्यके विषयमें पुनः कुछ निश्चय नहीं करना है। हमने तुम्हारे साथ जानेका विचार स्थिर कर लिया है। तो भी हमें इतना अवश्य कहना है कि 'जब तुम ही ब्राह्मणकी आज्ञाके पालनरूपी धर्मकी ओरसे निरपेक्ष हो जाओगे, तब दूसरा कौन प्राणी धर्ममार्गपर स्थित रह सकेगा ॥ २६ ॥

याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः।
शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः ॥ २७ ॥

'सदाचारका पोषण करनेवाले श्रीराम ! हमारे सिरके बाल पककर हंसके समान सफेद हो गये हैं और पृथ्वीपर पड़कर साष्टाङ्ग प्रणाम करनेसे इनमें धूल भर गयी है। हम अपने ऐसे मस्तकोंको झुकाकर तुमसे याचना करते हैं कि तुम घरको लौट चलो (वे तत्त्वज्ञ ब्राह्मण यह जानते थे कि श्रीराम साक्षात् भगवान् विष्णु हैं। इसीलिये उनका श्रीरामके प्रति प्रणाम करना दोषकी बात नहीं है) ॥ २७ ॥

बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः।
तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥

'(इतनेपर भी जब श्रीराम नहीं रुके, तब वे ब्राह्मण बोले—) वत्स ! जो लोग यहाँ आये हैं, इनमें बहुत-से ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने यज्ञ आरम्भ कर दिया है। अब इनके यज्ञोंकी समाप्ति तुम्हारे लौटनेपर ही निर्भर है ॥ २८ ॥

भक्तिमन्तीह भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च।
याचमानेषु तेषु त्वं भक्तिं भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥

'संसारके स्थावर और जङ्गम सभी प्राणी तुम्हारे प्रति भक्ति रखते हैं। वे सब तुमसे लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं। अपने उन भक्तोंपर तुम अपना स्नेह दिखाओ ॥ २९ ॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः।
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥

'ये वृक्ष अपनी जड़ोंके कारण अत्यन्त वेगहीन हैं, इसीसे तुम्हारे पीछे नहीं चल सकते; परंतु वायुके वेगसे इनमें जो सनसनाहट पैदा होती है, उसके द्वारा ये ऊँचे वृक्ष मानो तुम्हें पुकार रहे हैं—तुमसे लौट चलनेकी प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३० ॥

निश्चेष्टाहारसंचारा वृक्षैकस्थाननिश्चिताः।

पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥

'जो सब प्रकारकी चेष्टा छोड़ चुके हैं, चारा चुगनेके लिये भी कहीं उड़कर नहीं जाते हैं और निश्चितरूपसे वृक्षके एक स्थानपर ही पड़े रहते हैं, वे पक्षी भी तुमसे लौट चलनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं; क्योंकि तुम समस्त प्राणियोंपर कृपा करनेवाले हो' ॥ ३१ ॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीरामसे लौटनेके लिये पुकार मचाते हुए उन ब्राह्मणोंपर मानो कृपा करनेके लिये मार्गमें तमसा नदी दिखायी दी, जो अपने तिर्यक्-प्रवाह (तिरछी धारा) से श्रीरघुनाथजीको रोकती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ३२ ॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद् विमुच्य
श्रान्तान् हयान् सम्परिवर्त्य शीघ्रम् ।
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गा-
नचारयद् वै तमसाविदूरे ॥ ३३ ॥

वहाँ पहुँचनेपर सुमन्त्रने भी थके हुए घोड़ोंको शीघ्र ही रथसे खोलकर उन सबको टहलाया, फिर पानी पिलाया और नहलाया, तत्पश्चात् तमसाके निकट ही चरनेके लिये छोड़ दिया ॥ ३३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

षट्चत्वारिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रात्रिमें तमसा-तटपर निवास, माता-पिता और अयोध्याके लिये चिन्ता तथा पुरवासियोंको सोते छोड़कर वनकी ओर जाना

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः ।
सीतामुद्वीक्ष्य सौमित्रिमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर तमसाके रमणीय तटका आश्रय लेकर श्रीरामने सीताकी ओर देखकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम् ।
वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। हमलोग जो वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं, हमारे उस वनवासकी आज यह पहली रात प्राप्त हुई है; अतः अब तुम्हें नगरके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।
यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

'इन सूने वनोंकी ओर तो देखो, इनमें वन्य पशु-पक्षी अपने-अपने स्थानपर आकर अपनी बोली बोल रहे हैं। उनके शब्दसे सारी वनस्थली व्याप्त हो गयी है, मानो वे सारे वन हमें इस अवस्थामें देखकर खिन्न हो सब ओरसे रो रहे हैं ॥ ३ ॥

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम ।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

'आज मेरे पिताकी राजधानी अयोध्या नगरी वनमें आये हुए हमलोगोंके लिये समस्त नर-नारियोंसहित शोक करेगी, इसमें संशय नहीं है ॥ ४ ॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः ।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥

'पुरुषसिंह ! अयोध्याके मनुष्य बहुत-से सद्गुणोंके कारण महाराजमें, तुममें, मुझमें तथा भरत और शत्रुघ्नमें भी अनुरक्त हैं ॥ ५ ॥

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् ।
अपि नान्धौ भवेतां नौ रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥ ६ ॥

'इस समय मुझे पिता और यशस्विनी माताके लिये बड़ा शोक हो रहा है; कहीं ऐसा न हो कि वे निरन्तर रोते रहनेके कारण अंधे हो जायँ ॥ ६ ॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे ।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥

'परंतु भरत बड़े धर्मात्मा हैं। अवश्य ही वे धर्म, अर्थ और काम—तीनोंके अनुकूल वचनोंद्वारा पिताजीको और मेरी माताको भी सान्त्वना देंगे ॥ ७ ॥

भरतस्यानृशंसत्वं संचिन्त्याहं पुनः पुनः ।
नानुशोचामि पितरं मातरं च महाभुज ॥ ८ ॥

'महाबाहो ! जब मैं भरतके कोमल स्वभावका बार-बार स्मरण करता हूँ, तब मुझे माता-पिताके लिये अधिक चिन्ता नहीं होती ॥ ८ ॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् ।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थे सहायता ॥ ९

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुमने मेरे साथ आकर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है; क्योंकि तुम न आते तो मुझे विदेहकुमारी सीताकी रक्षाके लिये कोई सहायक ढूँढ़ना पड़ता ॥ ९ ॥

अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम्।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥ १० ॥

'सुमित्रानन्दन ! यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके जंगली फल-मूल मिल सकते हैं तथापि आजकी यह रात मैं केवल जल पीकर ही बिताऊँगा। यही मुझे अच्छा जान पड़ता है' ॥१०॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः।
अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥ ११ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रसे भी कहा—'सौम्य ! अब आप घोड़ोंकी रक्षापर ध्यान दें, उनकी ओरसे असावधान न हों' ॥ ११ ॥

सोऽश्वान् सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते।
प्रभूतयवसान् कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥ १२ ॥

सुमन्त्रने सूर्यास्त हो जानेपर घोड़ोंको लाकर बाँध दिया और उनके आगे बहुत-सा चारा डालकर वे श्रीरामके पास आ गये ॥ १२ ॥

उपास्य तु शिवां संध्यां दृष्ट्वा रात्रिमुपागताम्।
रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥ १३ ॥

फिर (वर्णानुकूल) कल्याणमयी संध्योपासना करके रात आयी देख लक्ष्मणसहित सुमन्त्रने श्रीरामचन्द्रजीके शयन करने-योग्य स्थान और आसन ठीक किया ॥ १३ ॥

तां शय्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैर्वृताम्।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सभार्यः संविवेश ह ॥ १४ ॥

तमसाके तटपर वृक्षके पत्तोंसे बनी हुई वह शय्या देखकर श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण और सीताके साथ उसपर बैठे ॥१४॥

सभार्यं सम्प्रसुप्तं तु श्रान्तं सम्प्रेक्ष्य लक्ष्मणः।
कथयामास सूताय रामस्य विविधान् गुणान् ॥ १५ ॥

थोड़ी देरमें सीतासहित श्रीरामको थककर सोया हुआ देख लक्ष्मण सुमन्त्रसे उनके नाना प्रकारके गुणोंका वर्णन करने लगे ॥ १५ ॥

जाग्रतोरेव तां रात्रिं सौमित्रेरुदितो रविः।
सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥ १६ ॥

सुमन्त्र और लक्ष्मण तमसाके किनारे श्रीरामके गुणोंकी चर्चा करते हुए रातभर जागते रहे। इतनेहीमें सूर्योदयका समय निकट आ पहुँचा ॥ १६ ॥

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः।
अवसत् तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥ १७ ॥

तमसाका वह तट गौओंके समुदायसे भरा हुआ था। श्रीरामचन्द्रजीने प्रजाजनोंके साथ वहीं रात्रिमें निवास किया। वे प्रजाजनोंसे कुछ दूरपर सोये थे ॥ १७ ॥

उत्थाय च महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च।
अब्रवीद् भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥ १८ ॥

महातेजस्वी श्रीराम तड़के ही उठे और प्रजाजनोंको सोते देख पवित्र लक्षणोंवाले भाई लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले— ॥

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निर्व्यपेक्षान् गृहेष्वपि।
वृक्षमूलेषु संसक्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥ १९ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण ! इन पुरवासियोंकी ओर देखो, ये इस समय वृक्षोंकी जड़से सटकर सो रहे हैं। इन्हें केवल हमारी चाह है। ये अपने घरोंकी ओरसे भी पूर्ण निरपेक्ष हो गये हैं ॥ १९ ॥

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने।
अपि प्राणान् न्यसिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ॥२०॥

'हमें लौटा ले चलनेके लिये ये जैसा उद्योग कर रहे हैं, इससे जान पड़ता है, ये अपना प्राण त्याग देंगे; किंतु अपना निश्चय नहीं छोड़ेंगे ॥ २० ॥

यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु।
रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम् ॥ २१ ॥

'अतः जबतक ये सो रहे हैं तभीतक हमलोग रथपर सवार होकर शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चल दें। फिर हमें इस मार्ग-पर और किसीके आनेका भय नहीं रहेगा ॥ २१ ॥

अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः।
स्वपेयुरनुरक्ता मा वृक्षमूलेषु संश्रिताः ॥ २२ ॥

'अयोध्यावासी हमलोगोंके अनुरागी हैं। जब हम यहाँसे निकल चलेंगे, तब उन्हें फिर अब इस प्रकार वृक्षोंकी जड़ोंसे सटकर नहीं सोना पड़ेगा ॥ २२ ॥

पौरा ह्यात्मकृताद् दुःखाद् विप्रमोच्या नृपात्मजैः।
न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥ २३ ॥

'राजकुमारोंका यह कर्तव्य है कि वे पुरवासियोंको अपने द्वारा होनेवाले दुःखसे मुक्त करें, न कि अपना दुःख देकर उन्हें और दुखी बना दें' ॥ २३ ॥

अब्रवील्लक्ष्मणो रामं साक्षाद् धर्ममिव स्थितम्।
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमारुह्यतामिति ॥ २४ ॥

यह सुनकर लक्ष्मणने साक्षात् धर्मके समान विराजमान भगवान् श्रीरामसे कहा—'परम बुद्धिमान् आर्य ! मुझे आपकी राय पसंद है। शीघ्र ही रथपर सवार होइये' ॥ २४ ॥

अथ रामोऽब्रवीत् सूतं शीघ्रं संयुज्यतां रथः।
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २५ ॥

तब श्रीरामने सुमन्त्रसे कहा—'प्रभो ! आप जाइये और

शीघ्र ही रथ जोतकर तैयार कीजिये। फिर मैं जल्दी ही यहाँसे वनकी ओर चलूँगा' ॥ २५ ॥

सूतस्ततः संत्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः।
योजयित्वा तु रामस्य प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत्॥ २६॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्रने उन उत्तम घोड़ोंको तुरंत ही रथमें जोत दिया और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर निवेदन किया—॥

अयं युक्तो महाबाहो रथस्ते रथिनां वर।
त्वरयाऽऽरोह भद्रं ते ससीतः सहलक्ष्मणः॥ २७॥

'महाबाहो! रथियोंमें श्रेष्ठ वीर! आपका कल्याण हो। आपका यह रथ जुता हुआ तैयार है। अब सीता और लक्ष्मणके साथ शीघ्र इसपर सवार होइये' ॥ २७ ॥

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः।
शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरन्नदीम्॥ २८॥

श्रीरामचन्द्रजी सबके साथ रथपर बैठकर तीव्र-गतिसे बहनेवाली भँवरोंसे भरी हुई तमसा नदीके उस पार गये॥

स संतीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्शिवमकण्टकम्।
प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम्॥ २९॥

नदीको पार करके महाबाहु श्रीमान् राम ऐसे महान् मार्गपर जा पहुँचे जो कल्याणप्रद, कण्टकरहित तथा सर्वत्र भय देखनेवालोंके लिये भी भयसे रहित था ॥ २९ ॥

मोहनार्थं तु पौराणां सूतं रामोऽब्रवीद् वचः।
उदङ्मुखः प्रयाहि त्वं रथमारुह्य सारथे॥ ३०॥
मुहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः।
यथा न विद्युः पौरा मां तथा कुरु समाहितः॥ ३१॥

उस समय श्रीरामने पुरवासियोंको भुलावा देनेके लिये सुमन्त्रसे यह बात कही—'सारथे! (हमलोग तो यहीं उतर जाते हैं;) परंतु आप रथपर आरूढ़ होकर पहले उत्तर दिशाकी ओर जाइये। दो घड़ीतक तीव्र गतिसे उत्तर जाकर फिर दूसरे मार्गसे रथको यहीं लौटा लाइये। जिस तरह भी पुरवासियोंको मेरा पता न चले, वैसा एकाग्रतापूर्वक प्रयत्न कीजिये' ॥ ३०-३१॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा तथा चक्रे च सारथिः।
प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत्॥ ३२॥

श्रीरामजीका यह वचन सुनकर सारथिने वैसा ही किया और लौटकर पुनः श्रीरामकी सेवामें रथ उपस्थित कर दिया ॥ ३२ ॥

तौ सम्प्रयुक्तं तु रथं समास्थितौ
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ।
प्रचोदयामास ततस्तुरंगमान्
स सारथिर्येन पथा तपोवनम्॥ ३३॥

तत्पश्चात् सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मण, जो रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले थे, लौटाकर लाये गये उस रथपर चढ़े। तदनन्तर सारथिने घोड़ोंको उस मार्गपर बढ़ा दिया जिससे तपोवनमें पहुँचा जा सकता था ॥ ३३ ॥

ततः समास्थाय रथं महारथः
ससारथिर्दाशरथिर्वनं ययौ।
उदङ्मुखं तं तु रथं चकार
प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्तदर्शनात्॥ ३४॥

तदनन्तर सारथिसहित महारथी श्रीरामने यात्राकालिक मङ्गलसूचक शकुन देखनेके लिये पहले तो उस रथको उत्तराभिमुख खड़ा किया; फिर वे उस रथपर आरूढ़ होकर वनकी ओर चल दिये ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्चत्वारिंशः सर्गः॥ ४६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

प्रातःकाल उठनेपर पुरवासियोंका विलाप करना और निराश होकर नगरको लौटना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पौरास्ते राघवं विना।
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवुर्हतचेतसः॥ १॥

इधर रात बीतनेपर जब सवेरा हुआ, तब अयोध्यावासी मनुष्य श्रीरघुनाथजीको न देखकर अचेत हो गये। शोकसे व्याकुल होनेके कारण उनसे कोई भी चेष्टा करते न बनी ॥ १ ॥

शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणास्ततस्ततः।
आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः॥ २॥

वे शोकजनित आँसू बहाते हुए अत्यन्त खिन्न हो गये तथा इधर-उधर उनकी खोज करने लगे। परंतु उन दुखी पुरवासियोंको श्रीराम किधर गये, इस बातका पता देनेवाला कोई चिह्नतक नहीं दिखायी दिया ॥ २ ॥

ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता।
कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनीषिणः॥ ३॥

बुद्धिमान् श्रीरामसे विलग होकर वे अत्यन्त दीन हो गये। उनके मुखपर विषादजनित वेदना स्पष्ट दिखायी देती थी। वे मनीषी पुरवासी करुणाभरे वचन बोलते हुए विलाप करने लगे—॥ ३ ॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहतचेतसः।
नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम्॥ ४॥

'हाय ! हमारी उस निद्राको धिक्कार है, जिससे अचेत हो जानेके कारण हम उस समय विशाल वक्षवाले महाबाहु श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित हो गये हैं ॥ ४ ॥

कथं रामो महाबाहुः स तथावितथक्रियः ।
भक्तं जनमभित्यज्य प्रवासं तापसो गतः ॥ ५ ॥

'जिनकी कोई भी क्रिया कभी निष्फल नहीं होती, वे तापसवेषधारी महाबाहु श्रीराम हम भक्तजनोंको छोड़कर परदेश (वन) में कैसे चले गये ? ॥ ५ ॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवौरसान् ।
कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः ॥ ६ ॥

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका पालन करता है, उसी प्रकार जो सदा हमारी रक्षा करते थे, वे ही रघुकुलश्रेष्ठ श्रीराम आज हमें छोड़कर वनको क्यों चले गये ? ॥ ६ ॥

इहैव निधनं याम महाप्रस्थानमेव वा ।
रामेण रहितानां नो किमर्थं जीवितं हितम् ॥ ७ ॥

'अब हमलोग यहीं प्राण दे दें या मरनेका निश्चय करके उत्तर दिशाकी ओर चल दें । श्रीरामसे रहित होकर हमारा जीवन-धारण किसलिये हितकर हो सकता है ? ॥ ७ ॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च ।
तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथवा वयम् ॥ ८ ॥

'अथवा यहाँ बहुत-से बड़े-बड़े सूखे काठ पड़े हैं, उनसे चिता जलाकर हम सब लोग उसीमें प्रवेश कर जायँ ॥ ८ ॥

किं वक्ष्यामो महाबाहुरनसूयः प्रियंवदः ।
नीतः स राघवोऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥ ९ ॥

'(यदि हमसे कोई श्रीरामका वृत्तान्त पूछेगा तो हम उसे क्या उत्तर देंगे ?) क्या हम यह कहेंगे कि जो किसीके दोष नहीं देखते और सबसे प्रिय वचन बोलते हैं, उन महाबाहु श्रीरघुनाथजीको हमने वनमें पहुँचा दिया है ? हाय ! यह अयोग्य बात हमारे मुँहसे कैसे निकल सकती है ? ॥ ९ ॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्ट्वास्मान् राघवं विना ।
भविष्यति निरानन्दा सस्त्रीबालवयोऽधिका ॥ १० ॥

'श्रीरामके बिना हमलोगोंको लौटा हुआ देखकर स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारी अयोध्यानगरी निश्चय ही दीन और आनन्दहीन हो जायगी ॥ १० ॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं महात्मना ।
विहीनास्तेन च पुनः कथं द्रक्ष्याम तां पुरीम् ॥ ११ ॥

'हमलोग वीरवर महात्मा श्रीरामके साथ सर्वदा निवास करनेके लिये निकले थे । अब उनसे बिछुड़कर हम अयोध्यापुरीको कैसे देख सकेंगे' ॥ ११ ॥

इतीव बहुधा वाचो बाहुमुद्यम्य ते जनाः ।
विलपन्ति स्म दुःखार्ता हृतवत्सा इवाग्र्यगाः ॥ १२ ॥

इस प्रकार अनेक तरहकी बातें कहते हुए वे समस्त पुरवासी अपनी भुजा उठाकर विलाप करने लगे । वे बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई अग्रगामिनी गौओंकी भाँति दुःखसे व्याकुल हो रहे थे ॥ १२ ॥

ततो मार्गानुसारेण गत्वा किंचित् ततः क्षणम् ।
मार्गनाशाद् विषादेन महता समभिप्लुताः ॥ १३ ॥

फिर रास्तेपर रथकी लीक देखते हुए सब-के-सब कुछ दूरतक गये; किंतु क्षणभरमें मार्गका चिह्न न मिलनेके कारण वे महान् शोकमें डूब गये ॥ १३ ॥

रथमार्गानुसारेण न्यवर्तन्त मनस्विनः ।
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति ॥ १४ ॥

उस समय यह कहते हुए कि 'यह क्या हुआ ? अब हम क्या करें ? दैवने हमें मार डाला' वे मनस्वी पुरुष रथकी लीकका अनुसरण करते हुए अयोध्याकी ओर लौट पड़े ॥

तदा यथागतेनैव मार्गेण क्लान्तचेतसः ।
अयोध्यामगमन् सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥ १५ ॥

उनका चित्त क्लान्त हो रहा था । वे सब जिस मार्गसे गये थे, उसीसे लौटकर अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे, जहाँके सभी सत्पुरुष श्रीरामके लिये व्यथित थे ॥ १५ ॥

आलोक्य नगरीं तां च क्षयव्याकुलमानसाः ।
आवर्तयन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥ १६ ॥

उस नगरीको देखकर उनका हृदय दुःखसे व्याकुल हो उठा । वे अपने शोकपीड़ित नेत्रोंद्वारा आँसुओंकी वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते ।
आपगा गरुडेनेव ह्रदादुद्धृतपन्नगा ॥ १७ ॥

(वे बोले—) 'जिसके गहरे कुण्डसे वहाँका नाग गरुड़के द्वारा निकाल लिया गया हो, वह नदी जैसे शोभाहीन हो जाती है, उसी प्रकार श्रीरामसे रहित हुई यह अयोध्यानगरी अब अधिक शोभा नहीं पाती है' ॥ १७ ॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम् ।
अपश्यन् निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥ १८ ॥

उन्होंने देखा, सारा नगर चन्द्रहीन आकाश और जलहीन समुद्रके समान आनन्दशून्य हो गया है । पुरीकी यह दुरवस्था देख वे अचेत-से हो गये ॥ १८ ॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि
दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः ।
नैव प्रजग्मुः स्वजनं परं वा
निरीक्ष्यमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

उनके हृदयका सारा उल्लास नष्ट हो चुका था। वे दुःख-से पीड़ित हो उन महान् वैभवसम्पन्न गृहोंमें बड़े क्लेशके साथ प्रविष्ट हो सबको देखते हुए भी अपने और परायेकी पहचान न कर सके ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४७ ॥

अष्टचत्वारिंशः सर्गः

नगरनिवासिनी स्त्रियोंका विलाप करना

तेषामेवं विषण्णानां पीडितानामतीव च।
बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥
अभिगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम्।
उद्गतानीव सत्त्वानि बभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

इस प्रकार जो विषादग्रस्त, अत्यन्त पीड़ित, शोकमग्न तथा प्राण त्याग देनेकी इच्छासे युक्त हो नेत्रोंसे आँसू बहा रहे थे, श्रीरामचन्द्रजीके साथ जाकर भी जो उन्हें लिये बिना लौट आये थे और इसीलिये जिनका चित्त ठिकाने नहीं था, उन नगरवासियोंकी ऐसी दशा हो रही थी मानो उनके प्राण निकल गये हों ॥ १-२ ॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः।
अश्रूणि मुमुचुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥

वे सब अपने-अपने घरमें आकर पत्नी और पुत्रोंसे घिरे हुए आँसू बहाने लगे। उनके मुख अश्रुधारासे आच्छादित थे ॥ ३ ॥

न चाहृष्यन् न चामोदन् वणिजो न प्रसारयन्।
न चाशोभन्त पण्यानि नापचन् गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

उनके शरीरमें हर्षका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता था तथा मनमें भी आनन्दका अभाव ही था। वैश्योंने अपनी दुकानें नहीं खोलीं। क्रय-विक्रयकी वस्तुएँ बाजारोंमें फैलायी जानेपर भी उनकी शोभा नहीं हुई (उन्हें लेनेके लिये ग्राहक नहीं आये)। उस दिन गृहस्थोंके घरमें चूल्हे नहीं जले—रसोई नहीं बनी ॥ ४ ॥

नष्टं दृष्ट्वा नाभ्यनन्दन् विपुलं वा धनागमम्।
पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाप्यनन्दत ॥ ५ ॥

खोयी हुई वस्तु मिल जानेपर भी किसीको प्रसन्नता नहीं हुई, विपुल धन-राशि प्राप्त हो जानेपर भी किसीने उसका अभिनन्दन नहीं किया। जिसने प्रथम बार पुत्रको जन्म दिया था, वह माता भी आनन्दित नहीं हुई ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदत्यश्च भर्तारं गृहमागतम्।
व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भिस्तोत्त्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥

प्रत्येक घरकी स्त्रियाँ अपने पतियोंको श्रीरामके बिना ही लौटकर आये देख रो पड़ीं और दुःखसे आतुर हो कठोर वचनोंद्वारा उन्हें कोसने लगीं, मानो महावत अङ्कुशोंसे हाथियोंको मार रहे हों ॥ ६ ॥

किं नु तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा।
पुत्रैर्वापि सुखैर्वापि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

वे बोलीं—'जो लोग श्रीरामको नहीं देखते, उन्हें घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-दौलत और सुख-भोगोंसे क्या प्रयोजन है? ॥ ७ ॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया।
योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन् वने ॥ ८ ॥

'संसारमें एकमात्र लक्ष्मण ही सत्पुरुष हैं, जो सीताके साथ श्रीरामकी सेवा करनेके लिये उनके पीछे-पीछे वनमें जा रहे हैं ॥ ८ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पद्मिन्यश्च सरांसि च।
येषु यास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥ ९ ॥

'उन नदियों, कमलमण्डित बावड़ियों तथा सरोवरोंने अवश्य ही बहुत पुण्य किया होगा, जिनके पवित्र जलमें स्नान करके श्रीरामचन्द्रजी आगे जायँगे ॥ ९ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमटव्यो रम्यकाननाः।
आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥ १० ॥

जिनमें रमणीय वृक्षावलियाँ शोभा पाती हैं, वे सुन्दर वन-श्रेणियाँ, बड़े कछारवाली नदियाँ और शिखरोंसे सम्पन्न पर्वत श्रीरामकी शोभा बढ़ायेंगे ॥ १० ॥

काननं वापि शैलं वा यं रामोऽनुगमिष्यति।
प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्ष्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

'श्रीराम जिस वन अथवा पर्वतपर जायँगे, वहाँ उन्हें अपने प्रिय अतिथिकी भाँति आया हुआ देख वे वन और पर्वत उनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः।
राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

'विचित्र फूलोंके मुकुट पहने और बहुत-सी मञ्जरियाँ धारण किये भ्रमरोंसे सुशोभित वृक्ष वनमें श्रीरामचन्द्रजीको अपनी शोभा दिखायेंगे ॥ १२ ॥

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च।
दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद् गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

'वहाँके पर्वत अपने यहाँ पधारे हुए श्रीरामको अत्यन्त आदरके कारण असमयमें भी उत्तम-उत्तम फूल और फल दिखायेंगे (भेंट करेंगे) ॥ १३ ॥

प्रस्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः।
विदर्शयन्तो विविधान् भूयश्चित्रांश्च निर्झरान् ॥ १४ ॥

'वे पर्वत बारंबार नाना प्रकारके विचित्र झरने दिखाते हुए श्रीरामके लिये निर्मल जलके स्रोत बहायेंगे ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम्।
यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥
स हि शूरो महाबाहुः पुत्रो दशरथस्य च।
पुरा भवति नोऽदूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

'पर्वत-शिखरोंपर लहलहाते हुए वृक्ष श्रीरघुनाथजीका मनोरञ्जन करेंगे। जहाँ श्रीराम हैं वहाँ न तो कोई भय है और न किसीके द्वारा पराभव ही हो सकता है; क्योंकि दशरथनन्दन महाबाहु श्रीराम बड़े शूरवीर हैं। अतः जबतक वे हमलोगोंसे बहुत दूर नहीं निकल जाते, इसके पहले ही हमें उनके पास पहुँचकर पीछे लग जाना चाहिये ॥ १५-१६ ॥

पादच्छाया सुखं भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः।
स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम् ॥ १७ ॥

'उनके-जैसे महात्मा एवं स्वामीके चरणोंकी छाया ही हमारे लिये परम सुखद है। वे ही हमारे रक्षक, गति और परम आश्रय हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं च राघवम्।
इति पौरस्त्रियो भर्तॄन् दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥

'हम स्त्रियाँ सीताजीकी सेवा करेंगी और तुम सब लोग श्रीरघुनाथजीकी सेवामें लगे रहना।' इस प्रकार पुरवासियोंकी स्त्रियाँ दुःखसे आतुर हो अपने पतियोंसे उपर्युक्त बातें कहने लगीं ॥ १८ ॥

युष्माकं राघवोऽरण्ये योगक्षेमं विधास्यति।
सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

(वे पुनः बोलीं—) 'वनमें श्रीरामचन्द्रजी आपलोगोंका योगक्षेम सिद्ध करेंगे और सीताजी हम नारियोंके योगक्षेमका निर्वाह करेंगी ॥ १९ ॥

को न्वनेनाप्रतीतेन सोत्कण्ठितजनेन च।
सम्प्रीयेतामनोज्ञेन वासेन हृतचेतसा ॥ २० ॥

'यहाँका निवास प्रीति और प्रतीतिसे रहित है। यहाँके सब लोग श्रीरामके लिये उत्कण्ठित रहते हैं। किसीको यहाँका रहना अच्छा नहीं लगता तथा यहाँ रहनेसे मन अपनी सुध-बुध खो बैठता है। भला, ऐसे निवाससे किसको प्रसन्नता होगी ? ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद् राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत्।
न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रैः कुतो धनैः ॥ २१ ॥

'यदि इस राज्यपर कैकेयीका अधिकार हो गया तो यह अनाथ-सा हो जायगा। इसमें धर्मकी मर्यादा नहीं रहने पायेगी। ऐसे राज्यमें तो हमें जीवित रहनेकी ही आवश्यकता नहीं जान पड़ती, फिर यहाँ धन और पुत्रोंसे क्या लेना है ? ॥ २१ ॥

यया पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात्।
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥

'जिसने राज्य-वैभवके लिये अपने पुत्र और पतिको त्याग दिया, वह कुलकलङ्किनी कैकेयी दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ? ॥ २२ ॥

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥

'हम अपने पुत्रोंकी शपथ खाकर कहती हैं कि जबतक कैकेयी जीवित रहेगी, तबतक हम जीते-जी कभी उसके राज्यमें नहीं रह सकेंगी; भले ही यहाँ हमारा पालन-पोषण होता रहे (फिर भी हम यहाँ रहना नहीं चाहेंगी) ॥ २३ ॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा।
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यां दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥

'जिस निर्दय स्वभाववाली नारीने महाराजके पुत्रको राज्यसे बाहर निकलवा दिया है, उस अधर्मपरायणा दुराचारिणी कैकेयीके अधिकारमें रहकर कौन सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है ? ॥ २४ ॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्भमनायकम्।
कैकेय्यास्तु कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

'कैकेयीके कारण यह सारा राज्य अनाथ एवं यज्ञरहित होकर उपद्रवका केन्द्र बन गया है, अतः एक दिन सबका विनाश हो जायगा ॥ २५ ॥

नहि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः।
मृते दशरथे व्यक्तं विलोपस्तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके वनवासी हो जानेपर महाराज दशरथ जीवित नहीं रहेंगे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि राजा दशरथकी मृत्युके पश्चात् इस राज्यका लोप हो जायगा ॥ २६ ॥

ते विषं पिबतालोड्य क्षीणपुण्याः सुदुःखिताः।
राघवं वानुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥ २७ ॥

'इसलिये अब तुमलोग यह समझ लो कि अब हमारे पुण्य समाप्त हो गये। यहाँ रहकर हमें अत्यन्त दुःख ही भोगना पड़ेगा। ऐसी दशामें या तो जहर घोलकर पी जाओ या श्रीरामका अनुसरण करो अथवा किसी ऐसे देशमें चले चलो, जहाँ कैकेयीका नाम भी न सुनायी पड़े ॥ २७ ॥

मिथ्याप्रव्राजितो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः।
भरते संनिबद्धाः स्मः सौनिके पशवो यथा ॥ २८ ॥

'झूठे वरकी कल्पना करके पत्नी और लक्ष्मणके साथ श्रीरामको देशनिकाला दे दिया गया और हमें भरतके साथ बाँध दिया गया। अब हमारी दशा कसाईके घर बँधे हुए पशुओंके समान हो गयी है ॥ २८ ॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥ २९ ॥
पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः।
सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत् प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥

'लक्ष्मणके ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर है। उनके शरीरकी कान्ति श्याम, गलेकी हँसली मांससे ढकी हुई, भुजाएँ घुटनोंतक लंबी और नेत्र कमलके समान सुन्दर हैं। वे सामने आनेपर पहले ही बातचीत छेड़ते हैं तथा मीठे और सत्य वचन बोलते हैं। श्रीराम शत्रुओंका दमन करनेवाले और महान् बलवान् हैं। समस्त जगत्‌के लिये सौम्य (कोमल स्वभाववाले) हैं। उनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्यारा है ॥ २९-३० ॥

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः।
शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन् स महारथः ॥ ३१ ॥

'निश्चय ही मतवाले गजराजके समान पराक्रमी पुरुषसिंह महारथी श्रीराम भूतलपर विचरते हुए वनस्थलियोंकी शोभा बढ़ायेंगे' ॥ ३१ ॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरस्त्रियः।
चुक्रुशुर्दुःखसंतप्ता मृत्योरिव भयागमे ॥ ३२ ॥

नगरमें नागरिकोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप करती हुई दुःखसे संतप्त हो इस तरह जोर-जोरसे रोने लगीं मानो उनपर मृत्युका भय आ गया हो ॥ ३२ ॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेश्मसु राघवम्।
जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ ३३ ॥

अपने-अपने घरोंमें श्रीरामके लिये स्त्रियाँ इस प्रकार दिनभर विलाप करती रहीं। धीरे-धीरे सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और रात हो गयी ॥ ३३ ॥

नष्टज्वलनसंतापा प्रशान्ताध्यायसत्कथा।
तिमिरेणानुलिप्तेव तदा सा नगरी बभौ ॥ ३४ ॥

उस समय किसीके घरमें अग्निहोत्रके लिये भी आग नहीं जली। स्वाध्याय और कथावार्ता भी नहीं हुई। सारी अयोध्यापुरी अन्धकारसे पुती हुई-सी प्रतीत होती थी ॥ ३४ ॥

उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया।
अयोध्या नगरी चासीन्नष्टतारमिवाम्बरम् ॥ ३५ ॥

बनियोंकी दुकानें बंद होनेके कारण वहाँ चहल-पहल नहीं थी, सारी पुरीकी हँसी-खुशी छिन गयी थी, श्रीरामरूपी आश्रयसे रहित अयोध्यानगरी जिसके तारे छिप गये हों, उस आकाशके समान श्रीहीन जान पड़ती थी ॥ ३५ ॥

तदा स्त्रियो रामनिमित्तमातुरा
यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते।
विलप्य दीना रुरुदुर्विचेतसः
सुतैर्हि तासामधिकोऽपि सोऽभवत् ॥ ३६ ॥

उस समय नगरवासिनी स्त्रियाँ श्रीरामके लिये इस तरह शोकातुर हो रही थीं, मानो उनके सगे बेटे या भाईको देश-निकाला दे दिया गया हो। वे अत्यन्त दीनभावसे विलाप करके रोने लगीं और रोते-रोते अचेत हो गयीं; क्योंकि श्रीराम उनके लिये पुत्रों (तथा भाइयों) से भी बढ़कर थे ॥ ३६ ॥

प्रशान्तगीतोत्सवनृत्यवादना
विभ्रष्टहर्षा पिहितापणोदया।
तदा ह्ययोध्या नगरी बभूव सा
महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥ ३७ ॥

वहाँ गाने, बजाने और नाचनेके उत्सव बंद हो गये, सबका उत्साह जाता रहा, बाजारकी दुकानें नहीं खुलीं, इन सब कारणोंसे उस समय अयोध्यानगरी जलहीन समुद्रके समान सूनसान लग रही थी ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥ ४८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४८ ॥

एकोनपञ्चाशः सर्गः

ग्रामवासियोंकी बातें सुनते हुए श्रीरामका कोसल जनपदको लाँघते हुए आगे जाना और वेदश्रुति, गोमती एवं स्यन्दिका नदियोंको पार करके सुमन्त्रसे कुछ कहना

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम्।
जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराज्ञामनुस्मरन् ॥ १ ॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम भी पिताकी आज्ञाका बारंबार स्मरण करते हुए उस शेष रात्रिमें ही बहुत दूर निकल गये।

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद् रजनी शिवा।
उपास्य तु शिवां संध्यां विषयानत्यगाहत ॥ २ ॥

उसी तरह चलते-चलते उनकी वह कल्याणमयी रजनी बीत गयी ... होनेपर मङ्गलमयी संध्योपासना

...करके वे विभिन्न जनपदोंको लाँघते हुए चल दिये ॥ २ ॥

ग्रामान् विकृष्टसीमान्तान् पुष्पितानि वनानि च।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव हयोत्तमैः ॥ ३ ॥

जिनकी सीमाके पास भूमि जोत दी गयी थी, उन ग्रामों तथा फूलोंसे सुशोभित वनोंको देखते हुए वे उन उत्तम घोड़ोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़े जा रहे थे तथापि सुन्दर दृश्योंके देखनेमें तन्मय रहनेके कारण उन्हें उस रथकी गति धीमी-सी ही जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

शृण्वन् वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम्।
राजानं धिग् दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ॥ ४ ॥

मार्गमें जो बड़े और छोटे गाँव मिलते थे, उनमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी निम्नाङ्कित बातें उनके कानोंमें पड़ रही थीं—'अहो ! कामके वशमें पड़े हुए राजा दशरथको धिक्कार है ! ॥ ४ ॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी।
तीक्ष्णा सम्भिन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥

'हाय ! हाय ! पापशीला, पापासक्त, क्रूर तथा धर्म-मर्यादाका त्याग करनेवाली कैकेयीको तो दया छू भी नहीं गयी है, वह क्रूर अब निष्ठुर कर्ममें ही लगी रहती है ॥ ५ ॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम्।
वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

'जिसने महाराजके ऐसे धर्मात्मा, महाज्ञानी, दयालु और जितेन्द्रिय पुत्रको वनवासके लिये घरसे निकलवा दिया है ॥

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी।
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यनुभविष्यति ॥ ७ ॥

'जनकनन्दिनी महाभागा सीता, जो सदा सुखोंमें ही रत रहती थीं, अब वनवासके दुःख कैसे भोग सकेंगी ? ॥ ७ ॥

अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रति।
प्रजानामनघं रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ८ ॥

'अहो ! क्या राजा दशरथ अपने पुत्रके प्रति इतने स्नेह-हीन हो गये, जो प्रजाओंके प्रति कोई अपराध न करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीका यहाँ परित्याग कर देना चाहते हैं ॥ ८ ॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम्।
शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वरः ॥ ९ ॥

छोटे-बड़े गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्योंकी ये बातें सुनते हुए वीर कोसलपति श्रीराम कोसल जनपदकी सीमा लाँघकर आगे बढ़ गये ॥ ९ ॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम्।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम् ॥ १० ॥

तदनन्तर शीतल एवं सुखद जल बहानेवाली वेदश्रुति नामक नदीको पार करके श्रीरामचन्द्रजी अगस्त्यसेवित दक्षिणदिशाकी ओर बढ़ गये ॥ १० ॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शीतवहां नदीम्।
गोमतीं गोयुतानूपामतरत् सागरङ्गमाम् ॥ ११ ॥

दीर्घकालतक चलकर उन्होंने समुद्रगामिनी गोमती नदी-को पार किया, जो शीतल जलका स्रोत बहाती थी। उसके कछारमें बहुत-सी गौएँ विचरती थीं ॥ ११ ॥

गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः।
मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥ १२ ॥

शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा गोमती नदीको लाँघ करके श्रीरघुनाथजीने मोरों और हंसोंके कलरवोंसे व्याप्त स्यन्दिका नामक नदीको भी पार किया ॥ १२ ॥

स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा।
स्फीतां राष्ट्रवृतां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥ १३ ॥

वहाँ जाकर श्रीरामने धन-धान्यसे सम्पन्न और अनेक अवान्तर जनपदोंसे घिरी हुई भूमिका सीताको दर्शन कराया, जिसे पूर्वकालमें राजा मनुने इक्ष्वाकुको दिया था ॥ १३ ॥

सूत इत्येव चाभाष्य सारथिं तमभीक्ष्णशः।
हंसमत्तस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषोत्तमः ॥ १४ ॥

फिर श्रीमान् पुरुषोत्तम श्रीरामने 'सूत !' कहकर सारथिको बारंबार सम्बोधित किया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

कदाहं पुनरागम्य सरय्वाः पुष्पिते वने।
मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च संगतः ॥ १५ ॥

'सूत ! मैं कब पुनः लौटकर माता-पितासे मिलूँगा और सरयूके पार्श्ववर्ती पुष्पित वनमें मृगयाके लिये भ्रमण करूँगा ? ॥ १५ ॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने।
रतिर्ह्येषातुला लोके राजर्षिगणसम्मता ॥ १६ ॥

'मैं सरयूके वनमें शिकार खेलनेकी बहुत अधिक अभिलाषा नहीं रखता। यह लोकमें एक प्रकारकी अनुपम क्रीड़ा है, जो राजर्षियोंके समुदायको अभिमत है ॥ १६ ॥

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन् रत्यर्थं मृगया वने।
काले कृतां तां मनुजैर्धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥ १७ ॥

'इस लोकमें वनमें जाकर शिकार खेलना राजर्षियोंकी क्रीड़ाके लिये प्रचलित हुआ था। अतः मनुपुत्रोंद्वारा उस समय की गयी यह क्रीड़ा अन्य धनुर्धरोंको भी अभीष्ट हुई' ॥ १७ ॥

स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा।

तं तमर्थमभिप्रेत्य ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी विभिन्न विषयोंको लेकर सूतसे मधुर वाणीमें उपयुक्त बातें कहते हुए उस मार्गपर बढ़ते चले गये ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

पञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका मार्गमें अयोध्यापुरीसे वनवासकी आज्ञा माँगना और शृङ्गवेरपुरमें गङ्गातटपर पहुँचकर रात्रिमें निवास करना, वहाँ निषादराज गुहद्वारा उनका सत्कार

विशालान् कोसलान् रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।
अयोध्यासुन्मुखो धीमान् प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार विशाल और रमणीय कोसलदेशकी सीमाको पार करके लक्ष्मणके बड़े भाई बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्याकी ओर अपना मुख किया और हाथ जोड़कर कहा—॥

आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते ।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥ २ ॥

'ककुत्स्थवंशी राजाओंसे परिपालित पुरीशिरोमणि अयोध्ये! मैं तुमसे तथा जो-जो देवता तुम्हारी रक्षा करते और तुम्हारे भीतर निवास करते हैं, उनसे भी वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ ॥ २ ॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः ।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः ॥ ३ ॥

'वनवासकी अवधि पूरी करके महाराजके ऋणसे उऋण हो मैं पुनः लौटकर तुम्हारा दर्शन करूँगा और अपने माता-पितासे भी मिलूँगा' ॥ ३ ॥

ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम् ।
अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम् ॥ ४ ॥

इसके बाद सुन्दर एवं अरुण नेत्रवाले श्रीरामने दाहिनी भुजा उठाकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए दुखी होकर जनपदके लोगोंसे कहा—॥ ४ ॥

अनुक्रोशो दया चैव यथार्हं मयि वः कृतः ।
चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये ॥ ५ ॥

'आपने मुझपर बड़ी कृपा की और यथोचित दया दिखायी। मेरे लिये आपलोगोंने बहुत देरतक कष्ट सहन किया। इस तरह आपका देरतक दुःखमें पड़े रहना अच्छा नहीं है; इसलिये अब आपलोग अपना-अपना कार्य करनेके लिये जाइये' ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठंश्च क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥

यह सुनकर उन मनुष्योंने महात्मा श्रीरामको प्रणाम करके उनकी परिक्रमा की और घोर विलाप करते हुए वे जहाँ-तहाँ खड़े हो गये ॥ ६ ॥

तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः ।
अचक्षुर्विषयं प्रायाद् यथार्कः क्षणदामुखे ॥ ७ ॥

उनकी आँखें अभी श्रीरामके दर्शनसे तृप्त नहीं हुई थीं और वे पूर्वोक्त रूपसे विलाप कर ही रहे थे, इतनेमें ही रघुनाथजी उनकी दृष्टिसे ओझल हो गये जैसे सूर्य प्रदोषकालमें छिप जाते हैं ॥ ७ ॥

ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनाञ्शिवान् ।
अकुतश्चिद्भयान् रम्यांश्चैत्ययूपसमावृतान् ॥ ८ ॥
उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान् ।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान् ॥ ९ ॥
रक्षणीयान् नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥ १० ॥

इसके बाद पुरुषसिंह श्रीराम रथके द्वारा ही उस कोसल जनपदको लाँघ गये, जो धन-धान्यसे सम्पन्न और सुखदायक था। वहाँके सब लोग दानशील थे। उस जनपदमें कहींसे कोई भय नहीं था। वहाँके भूभाग रमणीय एवं चैत्य-वृक्षों तथा यज्ञसम्बन्धी यूपोंसे व्याप्त थे। बहुत-से उद्यान और आमोंके वन उस जनपदकी शोभा बढ़ाते थे। वहाँ जलसे भरे हुए बहुत-से जलाशय सुशोभित थे। सारा जनपद हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था; गौओंके समूहोंसे व्याप्त और सेवित था। वहाँके ग्रामोंकी बहुत-से नरेश रक्षा करते थे तथा वहाँ वेद-मन्त्रोंकी ध्वनि गूँजती रहती थी ॥ ८—१० ॥

मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम् ।
राज्यं भोज्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतां वरः ॥ ११ ॥

कोसलदेशसे आगे बढ़नेपर धैर्यवानोंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी मध्यमार्गसे ऐसे राज्यमें होकर निकले, जो सुख-सुविधासे युक्त, धन-धान्यसे सम्पन्न, रमणीय उद्यानोंसे व्याप्त तथा सामन्त नरेशोंके उपभोगमें आनेवाला था ॥ ११ ॥

तत्र त्रिपथगां दिव्यां शीततोयामशैवलाम् ।
ददर्श राघवो गङ्गां रम्यामृषिनिषेविताम् ॥ १२ ॥

उस राज्यमें श्रीरघुनाथजीने त्रिपथगामिनी दिव्यनदी गङ्गाका दर्शन किया, जो शीतल जलसे भरी हुई, सेवारोंसे रहित तथा रमणीय थीं। बहुत-से महर्षि उनका सेवन करते थे ॥ १२ ॥

आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम् ।
कालेऽप्सरोभिर्हृष्टाभिः सेविताम्भोहृदां शिवाम् ॥ १३ ॥

उनके तटपर थोड़ी-थोड़ी दूरपर बहुत-से सुन्दर आश्रम बने थे, जो उन देवनदीकी शोभा बढ़ाते थे । समय-समयपर हर्षभरी अप्सराएँ भी उतर कर उनके जलकुण्डका सेवन करती हैं । वे गङ्गा सबका कल्याण करनेवाली हैं ॥ १३ ॥

देवदानवगन्धर्वैः किंनरैरुपशोभिताम् ।
नागगन्धर्वपत्नीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥ १४ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व और किन्नर उन शिवस्वरूपा भागीरथीकी शोभा बढ़ाते हैं । नागों और गन्धर्वोंकी पत्नियाँ उनके जलका सदा सेवन करती हैं ॥ १४ ॥

देवाक्रीडशताकीर्णां देवोद्यानयुतां नदीम् ।
देवार्थमाकाशगतां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥ १५ ॥

गङ्गाके दोनों तटोंपर देवताओंके सैकड़ों पर्वतीय क्रीड़ा-स्थल हैं । उनके किनारे देवताओंके बहुत-से उद्यान भी हैं । देवताओंकी क्रीड़ाके लिये आकाशमें भी विद्यमान हैं और वहाँ देवपद्मिनीके रूपमें विख्यात हैं ॥ १५ ॥

जलाघाताट्टहासोग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।
क्वचिद् वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम् ॥ १६ ॥

प्रस्तरखण्डोंसे गङ्गाके जलके टकरानेसे जो शब्द होता है, वही मानो उनका उग्र अट्टहास है । जलसे जो फेन प्रकट होता है, वही उन दिव्य नदीका निर्मल हास है । कहीं तो उनका जल वेणीके आकारका है और कहीं वे भँवरोंसे सुशोभित होती हैं ॥ १६ ॥

क्वचित् स्तिमितगम्भीरां क्वचिद् वेगसमाकुलाम् ।
क्वचिद् गम्भीरनिर्घोषां क्वचिद् भैरवनिःस्वनाम् ॥ १७ ॥

कहीं उनका जल निश्चल एवं गहरा है । कहीं वे महान् वेगसे व्याप्त हैं । कहीं उनके जलसे मृदङ्ग आदिके समान गम्भीर घोष प्रकट होता है और कहीं वज्रपात आदिके समान भयंकर नाद सुनायी पड़ता है ॥ १७ ॥

देवसंघाप्लुतजलां निर्मलोत्पलसंकुलाम् ।
क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम् ॥ १८ ॥

उनके जलमें देवताओंके समुदाय गोते लगाते हैं । कहीं-कहीं उनका जल नील कमलों अथवा कुमुदोंसे आच्छादित होता है । कहीं विशाल पुलिनका दर्शन होता है तो कहीं निर्मल बालुका-राशिका ॥ १८ ॥

हंससारससंघुष्टां चक्रवाकोपशोभिताम् ।
सदामत्तैश्च विहगैरभिपन्नामनिन्दिताम् ॥ १९ ॥

हंसों और सारसोंके कलरव वहाँ गूँजते रहते हैं । चकवे उन देवनदीकी शोभा बढ़ाते हैं । सदा मदमत्त रहनेवाले विहंगम उनके जलपर मँडराते रहते हैं । वे उत्तम शोभासे सम्पन्न हैं ॥ १९ ॥

क्वचित् तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरिव शोभिताम् ।
क्वचित् फुल्लोत्पलच्छन्नां क्वचित् पद्मवनाकुलाम् ॥ २० ॥

कहीं तटवर्ती वृक्ष मालाकार होकर उनकी शोभा बढ़ाते हैं । कहीं तो उनका जल खिले हुए उत्पलोंसे आच्छादित है और कहीं कमलवनोंसे व्याप्त ॥ २० ॥

क्वचित् कुमुदखण्डैश्च कुड्मलैरुपशोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्तां समदामिव च क्वचित् ॥ २१ ॥

कहीं कुमुदसमूह तथा कहीं कलिकाएँ उन्हें सुशोभित करती हैं । कहीं नाना प्रकारके पुष्पोंके परागोंसे व्याप्त होकर वे मदमत्त नारीके समान प्रतीत होती हैं ॥ २१ ॥

व्यपेतमलसंघातां मणिनिर्मलदर्शनाम् ।
दिशागजैर्वनगजैर्मत्तैश्च वरवारणैः ॥ २२ ॥
देवराजोपवाह्यैश्च संनादितवनान्तराम् ।

वे मलसमूह (पापराशि) दूर कर देती हैं । उनका जल इतना स्वच्छ है कि मणिके समान निर्मल दिखायी देता है । उनके तटवर्ती वनका भीतरी भाग मदमत्त दिग्गजों, जंगली हाथियों तथा देवराजकी सवारीमें आनेवाले श्रेष्ठ गजराजोंसे कोलाहलपूर्ण बना रहता है ॥ २२½ ॥

प्रमदामिव यत्नेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥ २३ ॥
फलपुष्पैः किसलयैर्वृतां गुल्मैर्द्विजैस्तथा ।
विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशिनीम् ॥ २४ ॥

वे फलों, फूलों, पल्लवों, गुल्मों तथा पक्षियोंसे आवृत होकर उत्तम आभूषणोंसे यत्नपूर्वक विभूषित हुई युवतीके समान शोभा पाती हैं । उनका प्राकट्य भगवान् विष्णुके चरणोंसे हुआ है । उनमें पापका लेश भी नहीं है । वे दिव्य नदी गङ्गा जीवोंके समस्त पापोंका नाश कर देनेवाली हैं ॥

शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजंगैश्च समन्विताम् ।
शंकरस्य जटाजूटाद् भ्रष्टां सागरतेजसा ॥ २५ ॥
समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् ।
आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ २६ ॥

उनके जलमें सूँस, घड़ियाल और सर्प निवास करते हैं । सगरवंशी राजा भगीरथके तपोमय तेजसे जिनका शंकरजी-के जटाजूटसे अवतरण हुआ था, जो समुद्रकी रानी हैं तथा जिनके निकट सारस और क्रौञ्च पक्षी कलरव करते रहते हैं, उन्हीं देवनदी गङ्गाके पास महाबाहु श्रीरामजी पहुँचे । गङ्गाकी वह धारा शृङ्गवेरपुरमें बह रही थी ॥ २५-२६ ॥

तामूर्मिकलिलावर्तामन्ववेक्ष्य महारथः ।
सुमन्त्रमब्रवीत् सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥ २७ ॥

जिनके आवर्त (भँवरें) लहरोंसे व्याप्त थे, उन

गङ्गाजीका दर्शन करके महारथी श्रीरामने सारथि सुमन्त्रसे कहा—'सूत ! आज हमलोग यहीं रहेंगे ॥ २७ ॥

अविदूरादयं नद्या बहुपुष्पप्रवालवान् ।
सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥ २८ ॥

'सारथे ! गङ्गाजीके समीप ही जो यह बहुत-से फूलों और नये-नये पल्लवोंसे सुशोभित महान् इङ्गुदीका वृक्ष है, इसीके नीचे आज रातमें हम निवास करेंगे ॥ २८ ॥

प्रेक्षामि सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम् ।
देवमानवगन्धर्वमृगपन्नगपक्षिणाम् ॥ २९ ॥

'जिनका जल देवताओं, मनुष्यों, गन्धर्वों, सर्पों, पशुओं तथा पक्षियोंके लिये भी समादरणीय है, उन कल्याण-स्वरूपा, सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीका भी मुझे यहाँसे दर्शन होता रहेगा' ॥ २९ ॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च बाढमित्येव राघवम् ।
उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥ ३० ॥

तब लक्ष्मण और सुमन्त्र भी श्रीरामचन्द्रजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर अश्वोंद्वारा उस इङ्गुदी वृक्षके समीप गये ॥

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः ।
रथादवतरत् तस्मात् सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥

उस रमणीय वृक्षके पास पहुँचकर इक्ष्वाकुनन्दन श्रीराम अपनी पत्नी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ रथसे उतर गये ॥ ३१ ॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्याथ मोचयित्वा हयोत्तमान् ।
वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥

फिर सुमन्त्रने भी उतरकर उत्तम घोड़ोंको खोल दिया और वृक्षकी जड़पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीके पास जाकर वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ३२ ॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः सखा ।
निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुतः ॥ ३३ ॥

शृङ्गवेरपुरमें गुहनामका राजा राज्य करता था । वह श्रीरामचन्द्रजीका प्राणोंके समान प्रिय मित्र था । उसका जन्म निषादकुलमें हुआ था । वह शारीरिक शक्ति और सैनिक शक्तिकी दृष्टिसे भी बलवान् था तथा वहाँके निषादोंका सुविख्यात राजा था ॥ ३३ ॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् ।
वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्ज्ञातिभिश्चाप्युपागतः ॥ ३४ ॥

उसने जब सुना कि पुरुषसिंह श्रीराम मेरे राज्यमें पधारे हैं, तब वह बूढ़े मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ वहाँ आया ॥ ३४ ॥

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम् ।
सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः ॥ ३५ ॥

निषादराजको दूरसे आया हुआ देख श्रीराम लक्ष्मणके साथ आगे बढ़कर उससे मिले ॥ ३५ ॥

तमार्तः सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत् ।
यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ॥ ३६ ॥
ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् ।

श्रीरामचन्द्रजीको वल्कल आदि धारण किये देख गुहको बड़ा दुःख हुआ । उसने श्रीरघुनाथजीको हृदयसे लगाकर कहा—'श्रीराम ! आपके लिये जैसे अयोध्याका राज्य है, उसी प्रकार यह राज्य भी है । बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? महाबाहो ! आप-जैसा प्रिय अतिथि किसको सुलभ होगा ?' ॥ ३६½ ॥

ततो गुणवदन्नाद्यमुपादाय पृथग्विधम् ॥ ३७ ॥
अर्घ्यं चोपानयच्छीघ्रं वाक्यं चेदमुवाच ह ।
स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥ ३८ ॥
वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः ।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम् ।
शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं च ते ॥ ३९ ॥

फिर भाँति-भाँतिका उत्तम अन्न लेकर वह सेवामें उपस्थित हुआ । उसने शीघ्र ही अर्घ्य निवेदन किया और इस प्रकार कहा—'महाबाहो ! आपका स्वागत है । यह सारी भूमि, जो मेरे अधिकारमें है, आपकी ही है । हम आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी, आजसे आप ही हमारे इस राज्यका भलीभाँति शासन करें । यह भक्ष्य (अन्न आदि), भोज्य (खीर आदि), पेय (पानकरस आदि) तथा लेह्य (चटनी आदि) आपकी सेवामें उपस्थित है, इसे स्वीकार करें । ये उत्तमोत्तम शय्याएँ हैं तथा आपके घोड़ोंके खानेके लिये चने और घास आदि भी प्रस्तुत हैं—ये सब सामग्री ग्रहण करें' ॥ ३७–३९ ॥

गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह ।
अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वदा वयम् ॥ ४० ॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च ।

गुहके ऐसा कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'सखे ! तुम्हारे यहाँतक पैदल आने और स्नेह दिखानेसे ही हमारा सदाके लिये भलीभाँति पूजन—स्वागत-सत्कार हो गया । तुमसे मिलकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है' ॥ ४०½ ॥

भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत् ४१
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः ।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च ॥ ४२ ॥

फिर श्रीरामने अपनी दोनों गोल-गोल भुजाओंसे गुहका अच्छी तरह आलिङ्गन करते हुए कहा—'गुह ! सौभाग्यकी बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वस्थ एवं

...न्द देख रहा हूँ। बताओ, तुम्हारे राज्यमें, मित्रोंके यहाँ ...या वनोंमें सर्वत्र कुशल तो है ? ॥ ४१-४२ ॥

यत् त्विदं भवता किंचित् प्रीत्या समुपकल्पितम्।
...र्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे ॥ ४३ ॥

'तुमने प्रेमवश यह जो कुछ सामग्री प्रस्तुत की है, इसे स्वीकार करके मैं तुम्हें वापिस ले जानेकी आज्ञा देता हूँ; क्योंकि इस समय दूसरोंकी दी हुई कोई भी वस्तु मैं ग्रहण नहीं करता—अपने उपयोगमें नहीं लाता ॥ ४३ ॥

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम् ॥ ४४ ॥

'वल्कल और मृगचर्म धारण करके फल-मूलका आहार करता हूँ और धर्ममें स्थित रहकर तापसवेशमें वनके भीतर ही विचरता हूँ। इन दिनों तुम मुझे इसी नियममें स्थित जानो ॥ ४४ ॥

अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्।
एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः ॥ ४५ ॥

'इन सामग्रियोंमें जो घोड़ोंके खाने-पीनेकी वस्तु है, उसीकी इस समय मुझे आवश्यकता है, दूसरी किसी वस्तुकी नहीं। घोड़ोंको खिला-पिला देनेमात्रसे तुम्हारे द्वारा मेरा पूर्ण सत्कार हो जायगा ॥ ४५ ॥

एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे।
एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ॥ ४६ ॥

'ये घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथको बहुत प्रिय हैं। इनके खाने-पीनेका सुन्दर प्रबन्ध कर देनेसे मेरा भलीभाँति पूजन हो जायगा' ॥ ४६ ॥

अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात्।
गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ॥ ४७ ॥

तब गुहने अपने सेवकोंको उसी समय यह आज्ञा दी कि तुम घोड़ोंको खाने-पीनेके लिये आवश्यक वस्तुएँ शीघ्र लाकर दो ॥ ४७ ॥

ततश्चीरोत्तरासङ्गः संध्यामन्वास्य पश्चिमाम्।
जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ४८ ॥

तत्पश्चात् वल्कलका उत्तरीय-वस्त्र धारण करनेवाले श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके भोजनके नामपर स्वयं लक्ष्मणका लाया हुआ केवल जलमात्र पी लिया ॥४८॥

तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः।
सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥

फिर पत्नीसहित श्रीराम भूमिपर ही तृणकी शय्या बिछाकर सोये। उस समय लक्ष्मण उनके दोनों चरणोंको धो-पोंछकर वहाँसे कुछ दूरपर हट आये और एक वृक्षका सहारा लेकर बैठ गये ॥ ४९ ॥

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन्।
अन्वजाग्रत् ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥ ५० ॥

गुह भी सावधानीके साथ धनुष धारण करके सुमन्त्रके साथ बैठकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बातचीत करता हुआ श्रीरामकी रक्षाके लिये रातभर जागता रहा ॥ ५० ॥

तथा शयानस्य ततो यशस्विनो
मनस्विनो दाशरथेर्महात्मनः।
अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा
तदा व्यतीता सुचिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

इस प्रकार सोये हुए यशस्वी मनस्वी दशरथनन्दन महात्मा श्रीरामकी, जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा था तथा जो सुख भोगनेके ही योग्य थे, वह रात उस समय (नींद न आनेके कारण) बहुत देरके बाद व्यतीत हुई ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशः सर्गः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशः सर्गः

निषादराज गुहके समक्ष लक्ष्मणका विलाप

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम्।
गुहः संतापसंतप्तो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मणको अपने भाईके लिये स्वाभाविक अनुरागसे जागते देख निषादराज गुहको बड़ा संताप हुआ। उसने रघुकुलनन्दन लक्ष्मणसे कहा—॥ १ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्र यथासुखम् ॥ २ ॥

'तात ! राजकुमार ! तुम्हारे लिये यह आराम देनेवाली शय्या तैयार है, इसपर सुखपूर्वक सोकर भलीभाँति विश्राम कर लो ॥ २ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वः क्लेशानां त्वं सुखोचितः।
गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वयं निशाम् ॥ ३ ॥

'यह (मैं) सेवक तथा इसके साथके सब लोग वनवासी होनेके कारण सब प्रकारके क्लेश सहन करनेके योग्य हैं

(क्योंकि हम सबको कष्ट सहनेका अभ्यास है), परंतु तुम सुखमें ही पले हो, अतः उसीके योग्य हो (इसलिये सो जाओ)। हम सब लोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये रातभर जागते रहेंगे ॥ ३ ॥

नहि रामात् प्रियतमो ममास्ते भुवि कश्चन।
ब्रवीम्येव च ते सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥

'मैं सत्यकी ही शपथ खाकर तुमसे सत्य कहता हूँ कि इस भूतलपर मुझे श्रीरामसे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई नहीं है ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद् यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च पुष्कलौ ॥ ५ ॥

'इन श्रीरघुनाथजीके प्रसादसे ही मैं इस लोकमें महान् यश, विपुल धर्म-लाभ तथा प्रचुर अर्थ एवं भोग्य वस्तु पानेकी आशा करता हूँ ॥ ५ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वथा ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

'अतः मैं अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ हाथमें धनुष लेकर सीतासहित सोये हुए प्रिय सखा श्रीरामकी सब प्रकारसे रक्षा करूँगा ॥ ६ ॥

न मेऽस्त्यविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यतिबलं सुमहत् संतरेमहि ॥ ७ ॥

'इस वनमें सदा विचरते रहनेके कारण मुझसे यहाँकी कोई बात छिपी नहीं है। हमलोग यहाँ शत्रुकी अत्यन्त शक्तिशालिनी विशाल चतुरङ्गिणी सेनाको भी अनायास ही जीत लेंगे' ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तु तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानघ।
नात्र भीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ८ ॥
कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ ९ ॥

यह सुनकर लक्ष्मणने कहा—'निष्पाप निषादराज! तुम धर्मपर दृष्टि रखते हुए हमारी रक्षा करते हो, इसलिये इस स्थानपर हम सब लोगोंके लिये कोई भय नहीं है। फिर भी जब महाराज दशरथके ज्येष्ठ पुत्र सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उत्तम शय्यापर सोकर नींद लेना, जीवन-धारणके लिये स्वादिष्ट अन्न खाना अथवा दूसरे-दूसरे सुखोंको भोगना कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ ८-९ ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य सुखसंसुप्तं तृणेषु सह सीतया ॥ १० ॥

'देखो! सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको नहीं सह सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ तिनकोंके ऊपर सुखसे सो रहे हैं ॥ १० ॥

यो मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च पराक्रमैः।

एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ ११ ॥
अस्मिन् प्रव्रजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १२ ॥

'गायत्री आदि मन्त्रोंके जप, कृच्छ्रचान्द्रायण आदि तप तथा नाना प्रकारके पराक्रम (यज्ञानुष्ठान आदि प्रयत्न) करनेसे जो महाराज दशरथको अपने समान उत्तम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं इन श्रीरामके वनमें आ जानेसे अब राजा दशरथ अधिक कालतक जीवन धारण नहीं कर सकेंगे। जान पड़ता है, निश्चय ही यह पृथ्वी अब शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ ११-१२ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोषोपरतं तात मन्ये राजनिवेशनम् ॥ १३ ॥

'तात! रनवासकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तनाद करके अधिक श्रमके कारण अब चुप हो गयी होंगी। मैं समझता हूँ, राजभवनका हाहाकार और चीत्कार अब शान्त हो गया होगा ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १४ ॥

'महारानी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा—ये सब लोग आजकी राततक जीवित रहेंगे या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता ॥ १४ ॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया।
तद् दुःखं यदि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १५ ॥

'शत्रुघ्नकी बाट देखनेके कारण सम्भव है मेरी माता जीवित रह जाय, परंतु यदि वीरजननी कौसल्या श्रीरामके विरहमें नष्ट हो जायँगी तो यह हमलोगोंके लिये बड़े दुःखकी बात होगी ॥ १५ ॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा।
राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति ॥ १६ ॥

'जिसमें श्रीरामके अनुरागी मनुष्य भरे हुए हैं तथा जो सदा सुखका दर्शनरूप प्रिय वस्तुकी प्राप्ति करानेवाली रही है, वह अयोध्यापुरी राजा दशरथके निधनजनित दुःखसे युक्त होकर नष्ट हो जायगी ॥ १६ ॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठपुत्रमपश्यतः।
शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥ १७ ॥

'अपने ज्येष्ठ पुत्र महात्मा श्रीरामको न देखनेपर महामना राजा दशरथके प्राण उनके शरीरमें कैसे टिके रह सकेंगे ॥ १७ ॥

विनष्टे नृपतौ पश्चात् कौसल्या विनशिष्यति।
अनन्तरं च मातापि मम नाशमुपैष्यति ॥ १८ ॥

'महाराजके नष्ट होनेपर देवी कौसल्या भी नष्ट हो जायँगी। तदनन्तर मेरी माता सुमित्रा भी नष्ट हुए बिना नहीं रहेंगी ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम्।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १९ ॥

'(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करूँ) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीरामको राज्यपर स्थापित किये बिना ही 'हाय ! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया, नष्ट हो गया' ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ १९ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति राघवम् ॥ २० ॥

'उनकी उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो लोग रहेंगे और मेरे मरे हुए पिता रघुकुलशिरोमणि दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और भाग्यशाली हैं ॥ २० ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां संविभक्तमहापथाम्।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥ २१ ॥
रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादनिनादिताम्।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥
आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम्।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥

'(यदि पिताजी जीवित रहे तो) रमणीय चबूतरों और चौराहोंके सुन्दर स्थानोंसे युक्त, पृथक्-पृथक् बने हुए विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत, धनिकोंकी अट्टालिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजभवनोंसे सम्पन्न, श्रेष्ठ वाराङ्गनाओंसे सुशोभित, रथों, घोड़ों और हाथियोंके आवागमनसे भरी हुई, विविध वाद्योंकी ध्वनियोंसे निनादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंसे भरपूर, हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे सेवित, पुष्पवाटिकाओं और उद्यानोंसे विभूषित तथा सामाजिक उत्सवोंसे सुशोभित हुई मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे, वास्तवमें वे ही सुखी हैं ॥ २१-२३ ॥

अपि जीवेद् दशरथो वनवासात् पुनर्वयम्।
प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्याम सुव्रतम् ॥ २४ ॥

'क्या मेरे पिता महाराज दशरथ हमलोगोंके लौटनेतक जीवित रहेंगे ? क्या वनवाससे लौटकर उन उत्तम व्रतधारी महात्माका हम फिर दर्शन कर सकेंगे ? ॥ २४ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम्।
निवृत्ते वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥ २५ ॥

'क्या वनवासकी इस अवधिके समाप्त होनेपर हमलोग सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामके साथ कुशलपूर्वक अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे ?' ॥ २५ ॥

परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २६ ॥

इस प्रकार दुःखसे आर्त होकर विलाप करते हुए महामना राजकुमार लक्ष्मणको वह सारी रात जागते ही बीती ॥

तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते
नरेन्द्रसूनौ गुरुसौहृदाद् गुहः।
मुमोच बाष्पं व्यसनाभिपीडितो
ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥ २७ ॥

प्रजाके हितमें संलग्न रहनेवाले राजकुमार लक्ष्मण जब बड़े भाईके प्रति सौहार्दवश उपर्युक्तरूपसे यथार्थ बात कह रहे थे, उस समय उसे सुनकर निषादराज गुह दुःखसे पीड़ित हो उठा और व्यथासे व्याकुल हो ज्वरसे आतुर हुए हाथीकी भाँति आँसू बहाने लगा ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकपञ्चाशः सर्गः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

द्विपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामकी आज्ञासे गुहका नाव मँगाना, श्रीरामका सुमन्त्रको समझा-बुझाकर अयोध्यापुरी लौट जानेके लिये आज्ञा देना और माता-पिता आदिसे कहनेके लिये संदेश सुनाना, सुमन्त्रके वनमें ही चलनेके लिये आग्रह करनेपर श्रीरामका उन्हें युक्तिपूर्वक समझाकर लौटनेके लिये विवश करना, फिर तीनोंका नावपर बैठना, सीताकी गङ्गाजीसे प्रार्थना, नावसे पार उतरकर श्रीराम आदिका वत्सदेशमें पहुँचना और सायंकालमें एक वृक्षके नीचे रहनेके लिये जाना

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ॥ १ ॥

जब रात बीती और प्रभात हुआ, उस समय विशाल वक्षवाले महायशस्वी श्रीरामने शुभलक्षण सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

भास्करोदयकालोऽसौ गता भगवती निशा।
असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात कूजति ॥ २ ॥

'तात ! भगवती रात्रि व्यतीत हो गयी। अब सूर्योदय-का समय आ पहुँचा है। वह अत्यन्त काले रंगका पक्षी कोकिल कुहू-कुहू बोल रहा है ॥ २ ॥

बर्हिणानां च निर्घोषः श्रूयते नदतां वने।
तराम जाह्नवीं सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम्॥ ३॥

'वनमें अव्यक्त शब्द करनेवाले मयूरोंकी केका वाणी भी सुनायी देती है; अतः सौम्य! अब हमें तीव्र गतिसे बहनेवाली समुद्रगामिनी गङ्गाजीके पार उतरना चाहिये'॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः।
गुहमामन्त्र्य सूतं च सोऽतिष्ठद् भ्रातुरग्रतः॥ ४॥

मित्रोंको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणने श्रीरामचन्द्रजीके कथनका अभिप्राय समझकर गुह और सुमन्त्रको बुलाकर पार उतरनेकी व्यवस्था करनेके लिये कहा और स्वयं वे भाईके सामने आकर खड़े हो गये॥ ४॥

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्य च।
स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत्॥ ५॥

श्रीरामचन्द्रजीका वचन सुनकर उनका आदेश शिरोधार्य करके निषादराजने तुरंत अपने सचिवोंको बुलाया और इस प्रकार कहा—॥ ५॥

अस्यवाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम्।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर॥ ६॥

'तुम घाटपर शीघ्र ही एक ऐसी नाव ले आओ, जो मजबूत होनेके साथ ही सुगमतापूर्वक खेनेयोग्य हो, उसमें डाँड़ लगा हुआ हो, कर्णधार बैठा हो तथा वह नाव देखनेमें सुन्दर हो'॥ ६॥

तं निशम्य गुहादेशं गुहामात्यो गतो महान्।
उपोह्य रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत्॥ ७॥

निषादराज गुहका वह आदेश सुनकर उसका महान् मन्त्री गया और एक सुन्दर नाव घाटपर पहुँचाकर उसने गुहको इसकी सूचना दी॥ ७॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत्।
उपस्थितेयं नौर्देव भूयः किं करवाणि ते॥ ८॥

तब गुहने हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'देव! यह नौका उपस्थित है; बताइये, इस समय आपकी और क्या सेवा करूँ?॥ ८॥

तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगामिनीम्।
नौरियं पुरुषव्याघ्र शीघ्रमारोह सुव्रत॥ ९॥

'देवकुमारके समान तेजस्वी तथा उत्तम व्रतका पालन करनेवाले पुरुषसिंह श्रीराम! समुद्रगामिनी गङ्गानदीको पार करनेके लिये आपकी सेवामें यह नाव आ गयी है, अब आप शीघ्र इसपर आरूढ़ होइये'॥ ९॥

अथोवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः।
कृतकामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति॥ १०॥

तब महातेजस्वी श्रीराम गुहसे इस प्रकार बोले—'सखे! तुमने मेरा सारा मनोरथ पूर्ण कर दिया, अब शीघ्र ही सब सामान नावपर चढ़ाओ'॥ १०॥

ततः कलापान् संनह्य खड्गौ बध्वा च धन्विनौ।
जग्मतुर्येन तां गङ्गां सीतया सह राघवौ॥ ११॥

यह कहकर श्रीराम और लक्ष्मणने कवच धारण करके तरकस एवं तलवार बाँधी तथा धनुष लेकर वे दोनों भाई जिस मार्गसे सब लोग घाटपर जाया करते थे, उसीसे सीताके साथ गङ्गाजीके तटपर गये॥ ११॥

राममेवं तु धर्मज्ञमुपागत्य विनीतवत्।
किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ १२॥

उस समय धर्मके ज्ञाता भगवान् श्रीरामके पास जाकर सारथि सुमन्त्रने विनीतभावसे हाथ जोड़कर पूछा—'प्रभो! अब मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'॥ १२॥

ततोऽब्रवीद् दाशरथिः सुमन्त्रं
स्पृशन् करेणोत्तमदक्षिणेन।
सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि
राज्ञः सकाशे भव चाप्रमत्तः॥ १३॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामने सुमन्त्रको उत्तम दाहिने हाथसे स्पर्श करते हुए कहा—'सुमन्त्रजी! अब आप शीघ्र ही पुनः महाराजके पास लौट जाइये और वहाँ सावधान होकर रहिये'॥ १३॥

निवर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम।
रथं विहाय पद्भ्यां तु गमिष्यामो महावनम्॥ १४॥

उन्होंने फिर कहा—'इतनी दूरतक महाराजकी आज्ञासे मैंने रथद्वारा यात्रा की है, अब हमलोग रथ छोड़कर पैदल ही महान् वनकी यात्रा करेंगे; अतः आप लौट जाइये'॥ १४॥

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः।
सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रमैक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ १५॥

अपनेको घर लौटनेकी आज्ञा प्राप्त हुई देख सारथि सुमन्त्र शोकसे व्याकुल हो उठे और इक्ष्वाकुनन्दन पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार बोले—॥ १५॥

नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणेह केनचित्।
तव सभ्रातृभार्यस्य वासः प्राकृतवद् वने॥ १६॥

रघुनन्दन! जिसकी प्रेरणासे आपको भाई और पत्नीके साथ साधारण मनुष्योंकी भाँति वनमें रहनेको विवश होना पड़ा है, उस दैवका इस संसारमें किसी भी पुरुषने उल्लङ्घन नहीं किया॥ १६॥

न मन्ये ब्रह्मचर्ये वा स्वधीते वा फलोदयः।
मार्दवार्जवयोर्वापि त्वां चेद् व्यसनमागतम्॥ १७॥

'जब आप-जैसे महान् पुरुषपर यह संकट आ गया, तब मैं समझता हूँ कि ब्रह्मचर्य-पालन, वेदोंके स्वाध्याय,

दयालुता अथवा सरलतामें भी किसी फलकी सिद्धि नहीं है ॥ १७ ॥

सह राघव वैदेह्या भ्रात्रा चैव वने वसन्।
त्वं गतिं प्राप्स्यसे वीर त्रींल्लोकांस्तु जयन्निव ॥ १८ ॥

'वीर रघुनन्दन ! (इस प्रकार पिताके सत्यकी रक्षाके लिये) विदेहनन्दिनी सीता और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें निवास करते हुए आप तीनों लोकोंपर विजय प्राप्त करनेवाले महापुरुष नारायणकी भाँति उत्कर्ष (महान् यश) प्राप्त करेंगे ॥ १८ ॥

वयं खलु हता राम ये त्वया ह्युपवञ्चिताः।
कैकेय्या वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥ १९ ॥

'श्रीराम ! निश्चय ही हमलोग हर तरहसे मारे गये; क्योंकि आपने हम पुरवासियोंको अपने साथ न ले जाकर अपने दर्शनजनित सुखसे वञ्चित कर दिया । अब हम पापिनी कैकेयीके वशमें पड़ेंगे और दुःख भोगते रहेंगे' ॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं सुमन्त्रः सारथिस्तदा।
दृष्ट्वा दूरगतं रामं दुःखार्तो रुरुदे चिरम् ॥ २० ॥

आत्माके समान प्रिय श्रीरामचन्द्रजीसे ऐसी बात कहकर उन्हें दूर जानेको उद्यत देख सारथि सुमन्त्र दुःखसे व्याकुल होकर देरतक रोते रहे ॥ २० ॥

ततस्तु विगते बाष्पे सूतं स्पृष्टोदकं शुचिम्।
रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥ २१ ॥

आँसुओंका प्रवाह रुकनेपर आचमन करके पवित्र हुए सारथिसे श्रीरामचन्द्रजीने बारंबार मधुर वाणीमें कहा—॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत् तथा कुरु ॥ २२ ॥

'सुमन्त्रजी ! मेरी दृष्टिमें इक्ष्वाकुवंशियोंका हित करनेवाला सुहृद् आपके समान दूसरा कोई नहीं है। आप ऐसा प्रयत्न करें, जिससे महाराज दशरथको मेरे लिये शोक न हो ॥ २२ ॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः।
कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद् ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

'पृथिवीपति महाराज दशरथ एक तो बूढ़े हैं, दूसरे उनका सारा मनोरथ चूर-चूर हो गया है; इसलिये उनका हृदय शोकसे पीड़ित है। यही कारण है कि मैं आपको उनकी सँभालके लिये कहता हूँ ॥ २३ ॥

यद् यथा ज्ञापयेत् किंचित् स महात्मा महीपतिः।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया ॥ २४ ॥

'वे महामनस्वी महाराज कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे आपको जो कुछ जैसी भी आज्ञा दें, उसका आप आदरपूर्वक पालन करें—यही मेरा अनुरोध है ॥ २४ ॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥ २५ ॥

'राजालोग इसीलिये राज्यका पालन करते हैं कि किसी भी कार्यमें इनके मनकी इच्छा-पूर्तिमें विघ्न न डाला जाय ॥ २५ ॥

यद् यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति।
न च ताम्यति शोकेन सुमन्त्र कुरु तत् तथा ॥ २६ ॥

'सुमन्त्रजी ! जिस किसी भी कार्यमें जिस किसी तरह भी महाराजको अप्रिय बातसे खिन्न होनेका अवसर न आवे तथा वे शोकसे दुबले न हों, वह आपको उसी प्रकार करना चाहिये ॥ २६ ॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्।
ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः ॥ २७ ॥

'जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा है, उन आर्य, जितेन्द्रिय और वृद्ध महाराजको मेरी ओरसे प्रणाम करके यह बात कहियेगा ॥ २७ ॥

न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा ॥ २८ ॥

'हमलोग अयोध्यासे निकल गये अथवा हमें वनमें रहना पड़ेगा, इस बातको लेकर न तो मैं कभी शोक करता हूँ और न लक्ष्मणको ही इसका शोक है ॥ २८ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः।
लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसे शीघ्रमागतान् ॥ २९ ॥

'चौदह वर्ष समाप्त होनेपर हम पुनः शीघ्र ही लौट आयँगे और उस समय आप मुझे, लक्ष्मणको और सीताको भी फिर देखेंगे ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥ ३० ॥

'सुमन्त्रजी ! महाराजसे ऐसा कहकर आप मेरी मातासे, उनके साथ बैठी हुई अन्य देवियों (माताओं) से तथा कैकेयीसे भी बारंबार मेरा कुशल-समाचार कहियेगा ॥ ३० ॥

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम्।
सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य च ॥ ३१ ॥

'माता कौसल्यासे कहियेगा कि तुम्हारा पुत्र स्वस्थ एवं प्रसन्न है। इसके बाद सीताकी ओरसे, मुझ ज्येष्ठ पुत्रकी ओरसे तथा लक्ष्मणकी ओरसे भी माताकी चरणवन्दना कह दीजियेगा ॥ ३१ ॥

ब्रूयाश्चापि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे ॥ ३२ ॥

'तदनन्तर मेरी ओरसे महाराजसे भी यह निवेदन कीजियेगा कि आप भरतको शीघ्र ही बुलवा लें और जब

वे आ जायँ, तब अपने अभीष्ट युवराजपदपर उनका अभिषेक कर दें ॥ ३२ ॥

भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च ।
अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥ ३३ ॥

'भरतको छातीसे लगाकर और युवराजके पदपर अभिषिक्त करके आपको हमलोगोंके वियोगसे होनेवाला दुःख दबा नहीं सकेगा ॥ ३३ ॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे ।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ ३४ ॥

'भरतसे भी हमारा यह संदेश कह दीजियेगा कि महाराजके प्रति जैसा तुम्हारा बर्ताव है, वैसा ही समानरूपसे सभी माताओंके प्रति होना चाहिये ॥ ३४ ॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः ।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ ३५ ॥

'तुम्हारी दृष्टिमें कैकेयीका जो स्थान है, वही समानरूपसे सुमित्रा और मेरी माता कौसल्याका भी होना उचित है, इन सबमें कोई अन्तर न रखना ॥ ३५ ॥

तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता ।
लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम् ॥ ३६ ॥

पिताजीका प्रिय करनेकी इच्छासे युवराजपदको स्वीकार करके यदि तुम राजकाजकी देखभाल करते रहोगे तो इहलोक और परलोकमें सदा ही सुख पाओगे' ॥ ३६ ॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः प्रतिबोधितः ।
तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात् काकुत्स्थमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने सुमन्त्रको लौटाते हुए जब इस प्रकार समझाया, तब उनकी सारी बातें सुनकर वे श्रीरामसे स्नेहपूर्वक बोले—॥ ३७ ॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवम् ।
भक्तिमानिति तत् तावद् वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥
कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् ।
तव तात वियोगेन पुत्रशोकातुरामिव ॥ ३९ ॥

'तात ! सेवकका स्वामीके प्रति जो सत्कारपूर्ण बर्ताव होना चाहिये, उसका यदि मैं आपसे बात करते समय पालन न कर सकूँ, यदि मेरे मुखसे स्नेहवश कोई धृष्टतापूर्ण बात निकल जाय तो 'यह मेरा भक्त है' ऐसा समझकर आप मुझे क्षमा कीजियेगा । जो आपके वियोगसे पुत्रशोकसे आतुर हुई माताकी भाँति संतप्त हो रही है, उस अयोध्यापुरीमें मैं आपको साथ लिये बिना कैसे लौटकर जा सकूँगा ? ॥ ३८-३९ ॥

सराममपि तावन्मे रथं दृष्ट्वा तदा जनः ।
विना रामं रथं दृष्ट्वा विदीर्येतापि सा पुरी ॥ ४० ॥

आते समय लोगोंने मेरे रथमें श्रीरामको विराजमान देखा था, अब इस रथको श्रीरामसे रहित देखकर उन लोगोंका और उस अयोध्यापुरीका भी हृदय विदीर्ण हो जायगा ॥ ४० ॥

दैन्यं हि नगरी गच्छेद् दृष्ट्वा शून्यमिमं रथम् ।
सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥ ४१ ॥

'जैसे युद्धमें अपने स्वामी वीर रथीके मारे जानेपर जिसमें केवल सारथि शेष रह गया हो ऐसे रथको देखकर उसकी अपनी सेना अत्यन्त दयनीय अवस्थामें पड़ जाती है, उसी प्रकार मेरे इस रथको आपसे सूना देखकर सारी अयोध्या नगरी दीन दशाको प्राप्त हो जायगी ॥ ४१ ॥

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥ ४२ ॥

'आप दूर रहकर भी प्रजाके हृदयमें निवास करनेके कारण सदा उसके सामने ही खड़े रहते हैं । निश्चय ही इस समय प्रजावर्गके सब लोगोंने आपका ही चिन्तन करते हुए खाना-पीना छोड़ दिया होगा ॥ ४२ ॥

दृष्टं तद् वै त्वया राम यादृशं त्वत्प्रवासने ।
प्रजानां संकुलं वृत्तं त्वच्छोकक्लान्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥

'श्रीराम ! जिस समय आप वनको आने लगे, उस समय आपके शोकसे व्याकुलचित्त हुई प्रजाने जैसा आर्तनाद एवं क्षोभ प्रकट किया था, उसे तो आपने देखा ही था ॥ ४३ ॥

आर्तनादो हि यः पौरैरुन्मुक्तस्त्वत्प्रवासने ।
सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥ ४४ ॥

'आपके अयोध्यासे निकलते समय पुरवासियोंने जैसा आर्तनाद किया था, आपके बिना मुझे खाली रथ लिये लौटा देख वे उससे भी सौगुना हाहाकार करेंगे ॥ ४४ ॥

अहं किं चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया ।
नीतोऽसौ मातुलकुलं संतापं मा कृथा इति ॥ ४५ ॥
असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।
कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥

क्या मैं महारानी कौसल्यासे जाकर कहूँगा कि मैंने आपके बेटेको मामाके घर पहुँचा दिया है ? इसलिये आप संताप न करें । यह बात प्रिय होनेपर भी असत्य है, अतः ऐसा असत्य वचन भी मैं कभी नहीं कह सकता । फिर यह अप्रिय सत्य भी कैसे सुना सकूँगा कि मैं आपके पुत्रको वनमें पहुँचा आया ॥ ४५-४६ ॥

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्बन्धुजनवाहिनः ।
कथं रथं त्वया हीनं प्रवाह्यन्ति हयोत्तमाः ॥ ४७ ॥

'ये उत्तम घोड़े मेरी आज्ञाके अधीन रहकर आपके

बन्धुजनोंका भार वहन करते हैं (आपके बन्धुजनोंसे हीन रथका ये वहन नहीं करते हैं), ऐसी दशामें आपसे सूने रथको ये कैसे खींच सकेंगे ? ॥ ४७ ॥

तत्र शक्ष्याम्यहं गन्तुमयोध्यां त्वदृतेऽनघ।
वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

'अतः निष्पाप रघुनन्दन ! अब मैं आपके बिना अयोध्या लौटकर नहीं जा सकूँगा। मुझे भी वनमें चलनेकी ही आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि।
सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्र इह त्वया ॥ ४९ ॥

'यदि इस तरह याचना करनेपर भी आप मुझे त्याग ही देंगे तो मैं आपके द्वारा परित्यक्त होकर यहाँ रथसहित अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा ॥ ४९ ॥

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते।
रथेन प्रतिबाधिष्ये तानि सर्वाणि राघव ॥ ५० ॥

'रघुनन्दन ! वनमें आपकी तपस्यामें विघ्न डालनेवाले जो-जो जन्तु उपस्थित होंगे, मैं इस रथके द्वारा उन सबको दूर भगा दूँगा ॥ ५० ॥

त्वत्कृतेन मया प्राप्तं रथचर्याकृतं सुखम्।
आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥

'श्रीराम ! आपकी कृपासे मुझे आपको रथपर बिठाकर यहाँतक लानेका सुख प्राप्त हुआ। अब आपके ही अनुग्रहसे मैं आपके साथ वनमें रहनेका सुख भी पानेकी आशा करता हूँ ॥ ५१ ॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः।
प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥

'आप प्रसन्न होकर आज्ञा दीजिये। मैं वनमें आपके पास ही रहना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप प्रसन्नतापूर्वक कह दें कि तुम वनमें मेरे साथ ही रहो ॥ ५२ ॥

इमेऽपि च हया वीर यदि ते वनवासिनः।
परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥ ५३ ॥

'वीर ! ये घोड़े भी यदि वनमें रहते समय आपकी सेवा करेंगे तो इन्हें परमगतिकी प्राप्ति होगी ॥ ५३ ॥

तव शुश्रूषणं मूर्ध्ना करिष्यामि वने वसन्।
अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥ ५४ ॥

'प्रभो ! मैं वनमें रहकर अपने सिरसे (सारे शरीरसे) आपकी सेवा करूँगा और इस सुखके आगे अयोध्या तथा देवलोकका भी सर्वथा त्याग कर दूँगा ॥ ५४ ॥

नहि शक्या प्रवेष्टुं सा मयायोध्या त्वया विना।
राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥ ५५ ॥

'जैसे सदाचारहीन प्राणी इन्द्रकी राजधानी स्वर्गमें नहीं प्रवेश कर सकता, उसी प्रकार आपके बिना मैं अयोध्यापुरीमें नहीं जा सकता ॥ ५५ ॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते ममैष हि मनोरथः।
यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥ ५६ ॥

'मेरी यह अभिलाषा है कि जब वनवासकी अवधि समाप्त हो जाय, तब फिर इसी रथपर बिठाकर आपको अयोध्यापुरीमें ले चलूँ ॥ ५६ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने।
क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यानि चान्यथा ॥ ५७ ॥

'वनमें आपके साथ रहनेसे ये चौदह वर्ष मेरे लिये चौदह क्षणोंके समान बीत जायँगे। अन्यथा चौदह सौ वर्षोंके समान भारी जान पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं भर्तृपुत्रगते पथि।
भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्या न मा त्वं हातुमर्हसि ॥ ५८ ॥

'अतः भक्तवत्सल ! आप मेरे स्वामीके पुत्र हैं। आप जिस पथपर चल रहे हैं, उसीपर आपकी सेवाके लिये साथ चलनेको मैं भी तैयार खड़ा हूँ। मैं आपके प्रति भक्ति रखता हूँ, आपका भृत्य हूँ और भृत्यजनोचित मर्यादाके भीतर स्थित हूँ; अतः आप मेरा परित्याग न करें' ॥ ५८ ॥

एवं बहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः।
रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

इस तरह अनेक प्रकारसे दीन वचन कहकर बारंबार याचना करनेवाले सुमन्त्रसे सेवकोंपर कृपा करनेवाले श्रीरामने इस प्रकार कहा—॥ ५९ ॥

जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥ ६० ॥

'सुमन्त्रजी ! आप स्वामीके प्रति स्नेह रखनेवाले हैं। मुझमें आपकी जो उत्कृष्ट भक्ति है, उसे मैं जानता हूँ; फिर भी जिस कार्यके लिये मैं आपको यहाँसे अयोध्यापुरीमें भेज रहा हूँ, उसे सुनिये ॥ ६० ॥

नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥ ६१ ॥

'जब आप नगरको लौट जायँगे, तब आपको देखकर मेरी छोटी माता कैकेयीको यह विश्वास हो जायगा कि राम वनको चले गये ॥ ६१ ॥

विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥ ६२ ॥

'इसके विपरीत यदि आप नहीं गये तो उसे संतोष नहीं होगा। मेरे वनवासी हो जानेपर भी वह धर्मपरायण महाराज दशरथके प्रति मिथ्यावादी होनेका संदेह करे, ऐसा मैं नहीं चाहता ॥ ६२ ॥

एष मे प्रथमः कल्पो यदम्बा मे यवीयसी।
भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्स्यते ॥ ६३ ॥

'आपको भेजनेमें मेरा मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरी छोटी माता कैकेयी भरतद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली राज्यको हस्तगत कर ले ॥ ६३ ॥

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज।
संदिष्टश्चापि यानर्थांस्तांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा ॥ ६४ ॥

'सुमन्त्रजी ! मेरा तथा महाराजका प्रिय करनेके लिये आप अयोध्या पुरीको अवश्य पधारिये और आपको जिनके लिये जो संदेश दिया गया है, वह सब वहाँ जाकर उन लोगोंसे कह दीजिये' ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः।
गुहं वचनमक्लीबो रामो हेतुमदब्रवीत् ॥ ६५ ॥

ऐसा कहकर श्रीरामने सुमन्त्रको बारंबार सान्त्वना दी। इसके बाद उन्होंने गुहसे उत्साहपूर्वक यह युक्तियुक्त बात कही—॥ ६५ ॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने।
अवश्यमाश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥ ६६ ॥

'निषादराज गुह ! इस समय मेरे लिये ऐसे वनमें रहना उचित नहीं है, जहाँ जनपदके लोगोंका आना-जाना अधिक होता हो, अब अवश्य मुझे निर्जन वनके आश्रममें ही वास करना होगा। इसके लिये जटा धारण आदि आवश्यक विधिका मुझे पालन करना चाहिये ॥ ६६ ॥

सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम्।
हितकामः पितुर्भूयः सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ ६७ ॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥ ६८ ॥

'अतः फल मूलका आहार और पृथ्वीपर शयन आदि नियमोंको ग्रहण करके मैं सीता और लक्ष्मणकी अनुमति लेकर पिताका हित करनेकी इच्छासे सिरपर तपस्वी जनोंके आभूषणरूप जटा धारण करके यहाँसे वनको जाऊँगा। मेरे केशोंको जटाका रूप देनेके लिये तुम बड़का दूध ला दो।' गुहने तुरंत ही बड़का दूध लाकर श्रीरामको दिया ॥

लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः।
दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥ ६९ ॥

श्रीरामने उसके द्वारा लक्ष्मणकी तथा अपनी जटाएँ बनायीं। महाबाहु पुरुषसिंह श्रीराम तत्काल जटाधारी हो गये ॥ ६९ ॥

तौ तदा चीरसम्पन्नौ जटामण्डलधारिणौ।
अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७० ॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीराम-लक्ष्मण वल्कल वस्त्र और जटामण्डल धारण करके ऋषियोंके समान शोभा पाने लगे ॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः।
व्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर वानप्रस्थमार्गका आश्रय लेकर लक्ष्मण-सहित श्रीरामने वानप्रस्थोचित व्रतको ग्रहण किया। तत्पश्चात् वे अपने सहायक गुहसे बोले—॥ ७१ ॥

अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा।
भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥ ७२ ॥

'निषादराज ! तुम सेना, खजाना, किला और राज्यके विषयमें सदा सावधान रहना; क्योंकि राज्यकी रक्षाका काम बड़ा कठिन माना गया है' ॥ ७२ ॥

ततस्तं समनुज्ञाप्य गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः।
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥

गुहको इस प्रकार आज्ञा देकर उससे विदा ले इक्ष्वाकु-कुलनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पत्नी और लक्ष्मणके साथ तुरंत ही वहाँसे चल दिये। उस समय उनके चित्तमें तनिक भी व्यग्रता नहीं थी ॥ ७३ ॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः।
तितीर्षुः शीघ्रगां गङ्गामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७४ ॥

नदीके तटपर लगी हुई नावको देखकर इक्ष्वाकुनन्दन श्रीरामने शीघ्रगामी गङ्गानदीके पार जानेकी इच्छासे लक्ष्मणको सम्बोधित करके कहा—॥ ७४ ॥

आरोह त्वं नरव्याघ्र स्थितां नावमिमां शनैः।
सीतां चारोपयान्वक्षं परिगृह्य मनस्विनीम् ॥ ७५ ॥

'पुरुषसिंह ! यह सामने नाव खड़ी है। तुम मनस्विनी सीताको पकड़कर धीरेसे उसपर बिठा दो, फिर स्वयं भी नाव पर बैठ जाओ' ॥ ७५ ॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन्।
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥ ७६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर मनको वशमें रखनेवाले लक्ष्मणने पूर्णतः उसके अनुकूल चलते हुए पहले मिथिलेश कुमारी श्रीसीताको नावपर बिठाया, फिर स्वयं भी उसपर आरूढ़ हुए ॥ ७६ ॥

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः।
ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीनचोदयत् ॥ ७७ ॥

सबके अन्तमें लक्ष्मणके बड़े भाई तेजस्वी श्रीराम स्वयं नौकापर बैठे। तदनन्तर निषादराज गुहने अपने भाई-बन्धुओंको नौका खेनेका आदेश दिया ॥ ७७ ॥

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः।
ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः ॥ ७८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजी भी उस नावपर आरूढ़ होनेके पश्चात् अपने हितके उद्देश्यसे ब्राह्मण और

क्षत्रियके जपने योग्य 'दैवी नाव' इत्यादि वैदिक मन्त्रका जप करने लगे ॥ ७८ ॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नदीं तां सह सीतया ।
प्रणमत्प्रीतिसंतुष्टो लक्ष्मणश्च महारथः ॥ ७९ ॥

फिर शास्त्रविधिके अनुसार आचमन करके सीताके साथ उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर गङ्गाजीको प्रणाम किया । महारथी लक्ष्मणने भी उन्हें मस्तक झुकाया ॥ ७९ ॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् ।
आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥ ८० ॥

इसके बाद श्रीरामने सुमन्त्रको तथा सेनासहित गुहको भी जानेकी आज्ञा दे नावपर भलीभाँति बैठकर मल्लाहोंको उसे चलानेका आदेश दिया ॥ ८० ॥

ततस्तैश्चालिता नौका कर्णधारसमाहिता ।
शुभस्फ्यवेगाभिहता शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥

तदनन्तर मल्लाहोंने नाव चलायी । कर्णधार सावधान होकर उसका संचालन करता था । वेगसे सुन्दर डाँड़ चलानेके कारण वह नाव बड़ी तेजीसे पानीपर बढ़ने लगी ॥ ८१ ॥

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।
वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

भागीरथीकी बीच धारामें पहुँचकर सती साध्वी विदेहनन्दिनी सीताने हाथ जोड़कर गङ्गाजीसे यह प्रार्थना की—॥ ८२ ॥

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।
निदेशं पालयत्वेनं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ ८३ ॥

'देवि गङ्गे ! ये परम बुद्धिमान् महाराज दशरथके पुत्र हैं और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वनमें जा रहे हैं । ये आपसे सुरक्षित होकर पिताकी इस आज्ञाका पालन कर सकें—ऐसी कृपा कीजिये ॥ ८३ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ।
भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥ ८४ ॥

'वनमें पूरे चौदह वर्षोंतक निवास करके ये मेरे तथा अपने भाईके साथ पुनः अयोध्यापुरीको लौटेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।
यक्ष्ये प्रमुदिता गङ्गे सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ८५ ॥

सौभाग्यशालिनी देवि गङ्गे ! उस समय वनसे पुनः कुशलपूर्वक लौटनेपर सम्पूर्ण मनोरथोंसे सम्पन्न हुई मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपकी पूजा करूँगी ॥ ८५ ॥

त्वं हि त्रिपथगे देवि ब्रह्मलोकं समक्षसे ।
भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन् सम्प्रदृश्यसे ॥ ८६ ॥

'स्वर्ग, भूतल और पाताल तीनों मार्गोंपर विचरनेवाली देवि ! तुम यहाँसे ब्रह्मलोकतक फैली हुई हो और इस लोकमें समुद्रराजकी पत्नीके रूपमें दिखायी देती हो ॥ ८६ ॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने ।
प्राप्तराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन पुनरागते ॥ ८७ ॥

'शोभाशालिनी देवि ! पुरुषसिंह श्रीराम जब पुनः वनसे सकुशल लौटकर अपना राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब मैं सीता पुनः आपको मस्तक झुकाऊँगी और आपकी स्तुति करूँगी ॥ ८७ ॥

गवां शतसहस्रं च वस्त्राण्यन्नं च पेशलम् ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया ॥ ८८ ॥

'इतना ही नहीं, मैं आपका प्रिय करनेकी इच्छासे ब्राह्मणोंको एक लाख गौएँ, बहुत-से वस्त्र तथा उत्तमोत्तम अन्न प्रदान करूँगी ॥ ८८ ॥

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च ।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि पुरीं पुनरुपागता ॥ ८९ ॥

'देवि ! पुनः अयोध्यापुरीमें लौटनेपर मैं सहस्रों देवदुर्लभ पदार्थोंसे तथा राजकीय भागसे रहित पृथ्वी, वस्त्र और अन्नके द्वारा भी आपकी पूजा करूँगी । आप मुझपर प्रसन्न हों* ॥ ८९ ॥

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि च सन्ति हि ।
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि तीर्थान्यायतनानि च ॥ ९० ॥

आपके किनारे जो-जो देवता, तीर्थ और मन्दिर हैं, उन सबका मैं पूजन करूँगी ॥ ९० ॥

पुनरेव महाबाहुर्मया भ्रात्रा च संगतः ।
अयोध्यां वनवासात् तु प्रविशत्वनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

'निष्पाप गङ्गे ! ये महाबाहु पापरहित मेरे पतिदेव मेरे तथा अपने भाईके साथ वनवाससे लौटकर पुनः अयोध्या नगरीमें प्रवेश करें' ॥ ९१ ॥

तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता ।
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

पतिके अनुकूल रहनेवाली सती-साध्वी सीता इस प्रकार गङ्गाजीसे प्रार्थना करती हुई शीघ्र ही दक्षिणतटपर जा पहुँचीं ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नरर्षभः ।
प्रातिष्ठत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परंतपः ॥ ९३ ॥

किनारे पहुँचकर शत्रुओंको संताप देनेवाले नरश्रेष्ठ

---

* इस श्लोकमें आये हुए 'सुराघटसहस्रेण' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सुरेषु देवेषु न घटन्ते न सन्तीत्यर्थः, तेषां सहस्रं तेन सहस्रसंख्याकसुरदुर्लभपदार्थेनेत्यर्थः । 'मांसभूतौदनेन' की व्युत्पत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—मांसभूतौदनेन मा नास्ति अंसो राजभागो यस्यां सा एव भूः पृथ्वी च भूतं वस्त्रं च [illegible] एतेषां समाहारः तेन [illegible] त्वां यक्ष्ये ।

श्रीरामने नाव छोड़ दी और भाई लक्ष्मण तथा विदेहनन्दिनी सीताके साथ आगेको प्रस्थान किया ॥ ९३ ॥

अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् ।
भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥ ९४ ॥
अवश्यं रक्षणं कार्यं मद्विधैर्विजने वने ।
अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥ ९५ ॥
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीतां त्वां चानुपालयन् ।
अन्योन्यस्य हि नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥ ९६ ॥

तदनन्तर महाबाहु श्रीराम सुमित्रानन्दन लक्ष्मणसे बोले—'सुमित्राकुमार ! अब तुम सजन या निर्जन वनमें सीताकी रक्षाके लिये सावधान हो जाओ । हम-जैसे लोगोंको निर्जन वनमें नारीकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये । अतः तुम आगे-आगे चलो, सीता तुम्हारे पीछे-पीछे चलें और मैं सीताकी तथा तुम्हारी रक्षा करता हुआ सबसे पीछे चलूँगा । पुरुषप्रवर ! हमलोगोंको एक-दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ९४—९६ ॥

न हि तावदतिक्रान्तासुकरा काचन क्रिया ।
अद्य दुःखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥

'अबतक कोई भी दुष्कर कार्य समाप्त नहीं हुआ है—इस समयसे ही कठिनाइयोंका सामना आरम्भ हुआ है। आज विदेहकुमारी सीताको वनवासके वास्तविक कष्टका अनुभव होगा ॥ ९७ ॥

प्रणष्टजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।
विषमं च प्रपातं च वनमद्य प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥

'अब ये ऐसे वनमें प्रवेश करेंगी, जहाँ मनुष्योंके आने-जानेका कोई चिह्न नहीं दिखायी देगा, न धान आदिके खेत होंगे, न टहलनेके लिये बगीचे । जहाँ ऊँची-नीची भूमि होगी और गड्ढे मिलेंगे, जिसमें गिरनेका भय रहेगा' ॥ ९८ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।
अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह वचन सुनकर लक्ष्मण आगे बढ़े। उनके पीछे सीता चलने लगीं तथा सीताके पीछे रघुकुलनन्दन श्रीराम थे ॥ ९९ ॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु
रामं सुमन्त्रः सततं निरीक्ष्य ।
अध्वप्रकर्षाद् विनिवृत्तदृष्टि-
र्मुमोच बाष्पं व्यथितस्तपस्वी ॥ १०० ॥

श्रीरामचन्द्रजी शीघ्र गङ्गाजीके उस पार पहुँचकर जबतक दिखायी दिये तबतक सुमन्त्र निरन्तर उन्हींकी ओर दृष्टि लगाये देखते रहे । जब वनके मार्गमें बहुत दूर निकल जानेके कारण वे दृष्टिसे ओझल हो गये, तब तपस्वी सुमन्त्रके हृदयमें बड़ी व्यथा हुई । वे नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे ॥ १०० ॥

स लोकपालप्रतिमप्रभाव-
स्तीर्त्वा महात्मा वरदो महानदीम् ।
ततः समृद्धाञ्शुभसस्यमालिनः
क्रमेण वत्सान् मुदितानुपागमत् ॥ १०१ ॥

लोकपालोंके समान प्रभावशाली वरदायक महात्मा श्रीराम महानदी गङ्गाको पार करके क्रमशः समृद्धिशाली वत्सदेश (प्रयाग) में जा पहुँचे, जो सुन्दर धन-धान्यसे सम्पन्न था। वहाँके लोग बड़े हृष्ट-पुष्ट थे ॥ १०१ ॥

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ॥ १०२ ॥

वहाँ उन दोनों भाइयोंने मृगया-विनोदके लिये वराह, ऋश्य, पृषत् और महारुरु—इन चार महामृगोंपर बाणोंका प्रहार किया। तत्पश्चात् जब उन्हें भूख लगी, तब पवित्र कन्द-मूल आदि लेकर सायंकालके समय ठहरनेके लिये (वे सीताजीके साथ) एक वृक्षके नीचे चले गये ॥ १०२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विपञ्चाशः सर्गः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशः सर्गः

श्रीरामका राजाको उपालम्भ देते हुए कैकेयीसे कौसल्या आदिके अनिष्टकी आशङ्का बताकर लक्ष्मणको अयोध्या लौटानेके लिये प्रयत्न करना, लक्ष्मणका श्रीरामके बिना अपना जीवन असम्भव बताकर वहाँ जानेसे इनकार करना, फिर श्रीरामका उन्हें वनवासकी अनुमति देना

स तं वृक्षं समासाद्य संध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।
रामो रमयतां श्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

उस वृक्षके नीचे पहुँचकर आनन्द प्रदान करनेवालोंमें श्रेष्ठ श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके लक्ष्मणसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अद्येयं प्रथमा रात्रिर्याता जनपदाद् बहिः ।

या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

'सुमित्रानन्दन ! आज हमें अपने जनपदसे बाहर यह पहली रात प्राप्त हुई है; जिसमें सुमन्त्र हमारे साथ नहीं हैं। इस रातको पाकर तुम्हें नगरकी सुख-सुविधाओंके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये ॥ २ ॥

जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु।
योगक्षेमौ हि सीताया वर्तेते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! आजसे हम दोनों भाइयोंको आलस्य छोड़कर रातमें जागना होगा; क्योंकि सीताके योगक्षेम हम दोनोंके ही अधीन हैं ॥ ३ ॥

रात्रिं कथंचिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे।
अपवर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यह रात हमलोग किसी तरह बितायेंगे और स्वयं संग्रह करके लाये हुए तिनकों और पत्तोंकी शय्या बनाकर उसे भूमिपर बिछाकर उसपर किसी तरह सो लेंगे' ॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः।
इमाः सौमित्रये रामो व्याजहार कथाः शुभाः ॥ ५ ॥

जो बहुमूल्य शय्यापर सोनेके योग्य थे, वे श्रीराम भूमिपर ही बैठकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे ये शुभ बातें कहने लगे—* ॥ ५ ॥

ध्रुवमद्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण।
कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

'लक्ष्मण ! आज महाराज निश्चय ही बड़े दुःखसे सो रहे होंगे; परंतु कैकेयी सफलमनोरथ होनेके कारण बहुत संतुष्ट होगी ॥ ६ ॥

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात्।
अपि न च्यावयेत् प्राणान् दृष्ट्वा भरतमागतम् ॥ ७ ॥

'कहीं ऐसा न हो कि रानी कैकेयी भरतको आया देख राज्यके लिये महाराजको प्राणोंसे भी वियुक्त कर दे ॥ ७ ॥

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विना कृतः।
किं करिष्यति कामात्मा कैकेय्या वशमागतः ॥ ८ ॥

'महाराजका कोई रक्षक न होनेके कारण वे इस समय अनाथ हैं, बूढ़े हैं और उन्हें मेरे वियोगका सामना करना पड़ा है। उनकी कामना मनमें ही रह गयी तथा वे कैकेयीके वशमें पड़ गये हैं; ऐसी दशामें वे बेचारे अपनी रक्षाके लिये क्या करेंगे? ॥

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥

'अपने ऊपर आये हुए इस संकटको और राजाकी मति-भ्रान्तिको देखकर मुझे ऐसा मालूम होता है कि अर्थ और धर्मकी अपेक्षा कामका ही गौरव अधिक है ॥ ९ ॥

को ह्यविद्वानपि पुमान् प्रमदायाः कृते त्यजेत्।
छन्दानुवर्तिनं पुत्रं तातो मामिव लक्ष्मण ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! पिताजीने जिस तरह मुझे त्याग दिया है, उस प्रकार अत्यन्त अज्ञ होनेपर भी कौन ऐसा पुरुष होगा, जो एक स्त्रीके लिये अपने आज्ञाकारी पुत्रका परित्याग कर दे ?॥

सुखी बत सुभार्यश्च भरतः केकयीसुतः।
मुदितान् कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥

'कैकेयीकुमार भरत ही सुखी और सौभाग्यवती स्त्रीके पति हैं, जो अकेले ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए कोसलदेशका सम्राट्की भाँति पालन करेंगे ॥ ११ ॥

स हि राज्यस्य सर्वस्य सुखमेकं भविष्यति।
ताते तु वयसातीते मयि चारण्यमाश्रिते ॥ १२ ॥

'पिताजी अत्यन्त वृद्ध हो गये हैं और मैं वनमें चला आया हूँ, ऐसी दशामें केवल भरत ही समस्त राज्यके श्रेष्ठ सुखका उपभोग करेंगे ॥ १२ ॥

अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥

'सच है, जो अर्थ और धर्मका परित्याग करके केवल कामका अनुसरण करता है, वह उसी प्रकार शीघ्र ही आपत्तिमें पड़ जाता है, जैसे इस समय महाराज दशरथ पड़े हैं ॥ १३ ॥

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रव्राजनाय च।
कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥ १४ ॥

'सौम्य ! मैं समझता हूँ कि महाराज दशरथके प्राणोंका अन्त करने, मुझे देशनिकाला देने और भरतको राज्य दिलानेके लिये ही कैकेयी इस राजभवनमें आयी थी ॥ १४ ॥

अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता।
कौसल्यां च सुमित्रां च सा प्रबाधेत मत्कृते ॥ १५ ॥

'इस समय भी सौभाग्यके मदसे मोहित हुई कैकेयी मेरे कारण कौसल्या और सुमित्राको कष्ट पहुँचा सकती है ॥ १५ ॥

मातास्मत्कारणाद् देवी सुमित्रा दुःखमावसेत्।
अयोध्यामित एव त्वं काले प्रविश लक्ष्मण ॥ १६ ॥

'हमलोगोंके कारण तुम्हारी माता सुमित्रादेवीको बड़े दुःखके साथ वहाँ रहना पड़ेगा; अतः लक्ष्मण ! तुम यहींसे कल प्रातःकाल अयोध्याको लौट जाओ ॥ १६ ॥

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान्।
अनाथाया हि नाथस्त्वं कौसल्याया भविष्यसि ॥ १७ ॥

* श्लोक ६ से लेकर २६ तक श्रीरामचन्द्रजीने जो बातें कही हैं, वे लक्ष्मणकी परीक्षाके लिये तथा उन्हें अयोध्या लौटानेके लिये कही गयी हैं; वास्तवमें उनकी ऐसी मान्यता नहीं थी। यही बात यहाँ सभी व्याख्याकारोंने स्वीकार की है।

'मैं अकेला ही सीताके साथ दण्डकवनको जाऊँगा। तुम वहाँ मेरी असहाय माता कौसल्याके सहायक हो जाओगे॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत्।
परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम्॥ १८॥

'धर्मज्ञ लक्ष्मण! कैकेयीके कर्म बड़े खोटे हैं। वह द्वेषवश अन्याय भी कर सकती है। तुम्हारी और मेरी माताको जहर भी दे सकती है॥ १८॥

नूनं जात्यन्तरे तात स्त्रियः पुत्रैर्वियोजिताः।
जनन्या मम सौमित्रे तदद्यैतदुपस्थितम्॥ १९॥

'तात सुमित्राकुमार! निश्चय ही पूर्वजन्ममें मेरी माताने कुछ स्त्रियोंका उनके पुत्रोंसे वियोग कराया होगा, उसी पापका यह पुत्रविछोहरूप फल आज उन्हें प्राप्त हुआ है॥ १९॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च।
विप्रयुज्यत कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम्॥ २०॥

'मेरी माताने चिरकालतक मेरा पालन-पोषण किया और स्वयं दुःख सहकर मुझे बड़ा किया। अब जब पुत्रसे प्राप्त होनेवाले सुखरूपी फलके भोगनेका अवसर आया, तब मैंने माता कौसल्याको अपनेसे बिलग कर दिया। मुझे धिक्कार है!॥

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्।
सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्मि शोकमनन्तकम्॥ २१॥

'सुमित्रानन्दन! कोई भी सौभाग्यवती स्त्री कभी ऐसे पुत्रको जन्म न दे, जैसा मैं हूँ; क्योंकि मैं अपनी माताको अनन्त शोक दे रहा हूँ॥ २१॥

मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका।
यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश॥ २२॥

'लक्ष्मण! मैं तो ऐसा मानता हूँ कि माता कौसल्यामें मुझसे अधिक प्रेम उनकी पाली हुई वह सारिका ही करती है; क्योंकि उसके मुखसे माँको सदा यह बात सुनायी देती है, कि 'ऐ तोते! तू शत्रुके पैरको काट खा' (अर्थात् हमें पालनेवाली माता कौसल्याके शत्रुके पाँवको चोंच मार दे। वह पक्षिणी होकर माताका इतना ध्यान रखती है और मैं उनका पुत्र होकर भी उनके लिये कुछ नहीं कर पाता)॥

शोचन्त्याश्चाल्पभाग्याया न किंचिदुपकुर्वता।
पुत्रेण किमपुत्रायाः मया कार्यमरिंदम॥ २३॥

'शत्रुदमन! जो मेरे लिये शोकमग्न रहती है, मन्दभागिनी-सी हो रही है और पुत्रका कोई फल न पानेके कारण निपूती-सी हो गयी है, उस मेरी माताको कुछ भी उपकार न करनेवाले मुझ-जैसे पुत्रसे क्या प्रयोजन है?॥ २३॥

अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया।
शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे॥ २४॥

'मुझसे बिछुड़ जानेके कारण माता कौसल्या वास्तवमें मन्दभागिनी हो गयी है और शोकके समुद्रमें पड़कर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो उसीमें शयन करती है॥ २४॥

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम्॥ २५॥

'लक्ष्मण! यदि मैं कुपित हो जाऊँ तो अपने बाणोंद्वारा अकेला ही अयोध्यापुरी तथा समस्त भूमण्डलको निष्कण्टक बनाकर अपने अधिकारमें कर लूँ; परंतु पारलौकिक हित-साधनमें बल-पराक्रम कारण नहीं होता है (इसीलिये मैं ऐसा नहीं कर रहा हूँ।)॥ २५॥

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानघ।
तेन लक्ष्मण नाद्याहमात्मानमभिषेचये॥ २६॥

'निष्पाप लक्ष्मण! मैं अधर्म और परलोकके डरसे डरता हूँ; इसीलिये आज अयोध्याके राज्यपर अपना अभिषेक नहीं कराता हूँ'॥ २६॥

एतदन्यच्च करुणं विलप्य विजने बहु।
अश्रुपूर्णमुखो दीनो निशि तूष्णीमुपाविशत्॥ २७॥

यह तथा और भी बहुत-सी बातें कहकर श्रीरामने उस निर्जन वनमें करुणाजनक विलाप किया। तत्पश्चात् वे उस रातमें चुपचाप बैठ गये। उस समय उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी और दीनता छा रही थी॥ २७॥

विलापोपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम्।
समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः॥ २८॥

विलापसे निवृत्त होनेपर श्रीराम ज्वालारहित अग्नि और वेगशून्य समुद्रके समान शान्त प्रतीत होते थे। उस समय लक्ष्मणने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—॥ २८॥

ध्रुवमद्य पुरी राम अयोध्याऽऽयुधिनां वर।
निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी॥ २९॥

'अस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम! आपके निकल आनेसे निश्चय ही आज अयोध्यापुरी चन्द्रहीन रात्रिके समान निस्तेज हो गयी॥ २९॥

नैतदौपयिकं राम यदिदं परितप्यसे।
विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ॥ ३०॥

'पुरुषोत्तम श्रीराम! आप जो इस तरह संतप्त हो रहे हैं, यह आपके लिये कदापि उचित नहीं है। आप ऐसा करके सीताको और मुझको भी खेदमें डाल रहे हैं॥ ३०॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव।
मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥ ३१॥

'रघुनन्दन! आपके बिना सीता और मैं दोनों दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकते। ठीक उसी तरह जैसे जलसे निकाले हुए मत्स्य नहीं जीते हैं॥ ३१॥

नहि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परंतप।
द्रष्टुमिच्छेयमद्याहं स्वर्गं चापि त्वया विना ॥ ३२ ॥

'शत्रुओंको ताप देनेवाले रघुवीर ! आपके बिना आज मैं न तो पिताजीको, न भाई शत्रुघ्नको, न माता सुमित्राको और न स्वर्गलोकको ही देखना चाहता हूँ' ॥ ३२ ॥

ततस्तत्र समासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम्।
न्यग्रोधे सुकृतां शय्यां भेजाते धर्मवत्सलौ ॥ ३३ ॥

तदनन्तर वहाँ बैठे हुए धर्मवत्सल सीता और श्रीरामने थोड़ी ही दूरपर वटवृक्षके नीचे लक्ष्मणद्वारा सुन्दर ढंगसे निर्मित हुई शय्या देखकर उसीका आश्रय लिया (अर्थात् वे दोनों वहाँ जाकर सो गये) ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं वचो
निशम्य चैवं वनवासमादरात्।
समाः समस्ता विदधे परंतपः
प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीने इस प्रकार वनवासके प्रति आदरपूर्वक कहे हुए लक्ष्मणके अत्यन्त उत्तम वचनोंको सुनकर स्वयं भी दीर्घकालके लिये वनवासरूप धर्मको स्वीकार करके सम्पूर्ण वर्षोंतक लक्ष्मणको अपने साथ वनमें रहनेकी अनुमति दे दी ॥ ३४ ॥

ततस्तु तस्मिन् विजने महाबलौ
महावने राघववंशवर्धनौ।
न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतु-
र्यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

तदनन्तर उस महान् निर्जन वनमें रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले वे दोनों महाबली वीर पर्वतशिखरपर विचरनेवाले दो सिंहोंके समान कभी भय और उद्वेगको नहीं प्राप्त हुए ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशः सर्गः

लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामका प्रयागमें गङ्गा-यमुना-संगमके समीप भरद्वाज-आश्रममें जाना, मुनिके द्वारा उनका अतिथिसत्कार, उन्हें चित्रकूट पर्वतपर ठहरनेका आदेश तथा चित्रकूटकी महत्ता एवं शोभाका वर्णन

ते तु तस्मिन् महावृक्षे उषित्वा रजनीं शुभाम्।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्माद् देशात् प्रतस्थिरे ॥ १ ॥

उस महान् वृक्षके नीचे वह सुन्दर रात बिताकर वे सब लोग निर्मल सूर्योदयकालमें उस स्थानसे आगेको प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाभिप्रवर्तते।
जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह्य सुमहद् वनम् ॥ २ ॥

जहाँ भागीरथी गङ्गासे यमुना मिलती हैं, उस स्थानपर जानेके लिये वे महान् वनके भीतरसे होकर यात्रा करने लगे ॥ २ ॥

ते भूमिभागान् विविधान् देशांश्चापि मनोहरान्।
अदृष्टपूर्वान् पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥

वे तीनों यशस्वी यात्री मार्गमें जहाँ-तहाँ जो पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे, ऐसे अनेक प्रकारके भू-भाग तथा मनोहर प्रदेश देखते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ३ ॥

यथा क्षेमेण सम्पश्यन् पुष्पितान् विविधान् द्रुमान्।
निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥

सुखपूर्वक आरामसे उठते-बैठते यात्रा करते हुए उन तीनोंने फूलोंसे सुशोभित भाँति-भाँतिके वृक्षोंका दर्शन किया। इस प्रकार जब दिन प्रायः समाप्त हो चला, तब श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम्।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संनिहितो मुनिः ॥ ५ ॥

'सुमित्रानन्दन ! वह देखो, प्रयागके पास भगवान् अग्निदेवकी ध्वजारूप उत्तम धूम उठ रहा है। मालूम होता है, मुनिवर भरद्वाज यहीं हैं ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं गङ्गायमुनयोर्वयम्।
तथाहि श्रूयते शब्दो वारिणोर्वारिघर्षजः ॥ ६ ॥

'निश्चय ही हमलोग गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके पास आ पहुँचे हैं; क्योंकि दो नदियोंके जलोंके परस्पर टकरानेसे जो शब्द प्रकट होता है, वह सुनायी दे रहा है ॥ ६ ॥

दारूणि परिभिन्नानि वनजैरुपजीविभिः।
छिन्नाश्चाप्याश्रमे चैते दृश्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥ ७ ॥

'वनमें उत्पन्न हुए फल-मूल और काष्ठ आदिसे जीविका चलानेवाले लोगोंने जो लकड़ियाँ काटी हैं, वे दिखायी देती हैं तथा जिनकी लकड़ियाँ काटी गयी हैं, वे नाना प्रकारके वृक्ष भी आश्रमके समीप दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ७ ॥

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे।
गङ्गायमुनयोः संधौ प्रापतुर्निलयं मुनेः॥ ८॥

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों धनुर्धर वीर श्रीराम और लक्ष्मण सूर्यास्त होते-होते गङ्गा-यमुनाके सङ्गमके समीप मुनिवर भरद्वाजके आश्रमपर जा पहुँचे॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन् मृगपक्षिणः।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत्॥ ९॥

श्रीरामचन्द्रजी आश्रमकी सीमामें पहुँचकर अपने धनुर्धर वेशके द्वारा वहाँके पशु-पक्षियोंको डराते हुए दो ही घड़ीमें तै करने योग्य मार्गसे चलकर भरद्वाज मुनिके समीप जा पहुँचे॥ ९॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ।
सीतयानुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः॥ १०॥

आश्रममें पहुँचकर महर्षिके दर्शनकी इच्छावाले सीता-सहित वे दोनों वीर कुछ दूरपर ही खड़े हो गये॥ १०॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृतम्।
संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम्॥ ११॥
हुताग्निहोत्रं दृष्ट्वैव महाभागः कृताञ्जलिः।
रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत्॥ १२॥

(दूर खड़े हो महर्षिके शिष्यसे अपने आगमनकी सूचना दिलवाकर भीतर आनेकी अनुमति प्राप्त कर लेनेके बाद) पर्णशालामें प्रवेश करके उन्होंने तपस्याके प्रभावसे तीनों कालोंकी सारी बातें देखनेकी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेने-वाले एकाग्रचित्त तथा तीक्ष्ण व्रतधारी महात्मा भरद्वाज ऋषिका दर्शन किया, जो अग्निहोत्र करके शिष्योंसे घिरे हुए आसनपर विराजमान थे। महर्षिको देखते ही लक्ष्मण और सीतासहित महाभाग श्रीरामने हाथ जोड़कर उनके चरणों-में प्रणाम किया॥ ११-१२॥

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः।
पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ॥ १३॥
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता॥ १४॥

तत्पश्चात् लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरघुनाथजीने उनसे इस प्रकार अपना परिचय दिया—'भगवन्! हम दोनों राजा दशरथके पुत्र हैं। मेरा नाम राम और इनका लक्ष्मण है तथा ये विदेहराज जनककी पुत्री और मेरी कल्याणमयी पत्नी सती साध्वी सीता हैं, जो निर्जन तपोवनमें भी मेरा साथ देनेके लिये आयी हैं॥ १३-१४॥

पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः।
अयमन्वगमद् भ्राता वनमेव धृतव्रतः॥ १५॥

पिताकी आज्ञासे मुझे वनकी ओर आते देख ये मेरे प्रिय अनुज भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी वनमें ही रहनेका व्रत लेकर मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं॥ १५॥

पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्।
धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः॥ १६॥

'भगवन्! इस प्रकार पिताकी आज्ञासे हम तीनों तपोवनमें जायँगे और वहाँ फल-मूलका आहार करते हुए धर्म-का ही आचरण करेंगे'॥ १६॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
उपानयत धर्मात्मा गामर्घ्यमुदकं ततः॥ १७॥

परम बुद्धिमान् राजकुमार श्रीरामका वह वचन सुनकर धर्मात्मा भरद्वाज मुनिने उनके लिये आतिथ्यसत्कारके रूपमें एक गौ तथा अर्घ्य-जल समर्पित किये॥ १७॥

नानाविधानन्नरसान् वन्यमूलफलाश्रयान्।
तेभ्यो ददौ तप्ततपा वासं चैवाभ्यकल्पयत्॥ १८॥

उन तपस्वी महात्माने उन सबको नाना प्रकारके अन्न, रस और जंगली फल-मूल प्रदान किये। साथ ही उनके ठहरनेके लिये स्थानकी भी व्यवस्था की॥ १८॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः।
राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनागतं मुनिः॥ १९॥
प्रतिगृह्य तु तामर्चामुपविष्टं स राघवम्।
भरद्वाजोऽब्रवीद् वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा॥ २०॥

महर्षिके चारों ओर मृग, पक्षी और ऋषि-मुनि बैठे थे और उनके बीचमें वे विराजमान थे। उन्होंने अपने आश्रमपर अतिथिरूपमें पधारे हुए श्रीरामका स्वागतपूर्वक सत्कार किया। उनके उस सत्कारको ग्रहण करके श्रीराम-चन्द्रजी जब आसनपर विराजमान हुए, तब भरद्वाजजीने उनसे यह धर्मयुक्त वचन कहा—॥ १९-२०॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्याम्यहमुपागतम्।
श्रुतं तव मया चैव विवासनमकारणम्॥ २१॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! मैं इस आश्रमपर दीर्घकालसे तुम्हारे शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ (आज मेरा मनोरथ सफल हुआ है)। मैंने यह भी सुना है कि तुम्हें अकारण ही वनवास दे दिया गया है॥ २१॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे।
पुण्यश्च रमणीयश्च वसत्विह भवान् सुखम्॥ २२॥

'गङ्गा और यमुना—इन दोनों महानदियोंके संगमके पासका यह स्थान बड़ा ही पवित्र और एकान्त है। यहाँकी प्राकृतिक छटा भी मनोरम है; अतः तुम यहीं सुखपूर्वक निवास करो'॥ २२॥

एवमुक्तस्तु वचनं भरद्वाजेन राघवः।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः॥ २३॥

भरद्वाज मुनिके ऐसा कहनेपर समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले रघुकुलनन्दन श्रीरामने इन शुभ वचनोंके द्वारा उन्हें उत्तर दिया—॥ २३ ॥

भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः।
सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम् ॥ २४ ॥
आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥

'भगवन् ! मेरे नगर और जनपदके लोग यहाँसे बहुत निकट पड़ते हैं, अतः मैं समझता हूँ कि यहाँ मुझसे मिलना सुगम समझकर लोग इस आश्रमपर मुझे और सीताको देखनेके लिये प्रायः आते-जाते रहेंगे; इस कारण यहाँ निवास करना मुझे ठीक नहीं जान पड़ता ॥ २४-२५ ॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
रमते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

'भगवन् ! किसी एकान्त प्रदेशमें आश्रमके योग्य उत्तम स्थान देखिये (सोचकर बताइये), जहाँ सुख भोगनेके योग्य विदेहराजकुमारी जानकी प्रसन्नतापूर्वक रह सकें' ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो महामुनिः।
राघवस्य तु तद् वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका यह शुभ वचन सुनकर महामुनि भरद्वाजजीने उनके उक्त उद्देश्यकी सिद्धिका बोध करानेवाली बात कही—॥ २७ ॥

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन् निवत्स्यसि।
महर्षिसेवितः पुण्यः पर्वतः शुभदर्शनः ॥ २८ ॥

'तात ! यहाँसे दस कोस (अन्य व्याख्याके अनुसार ३० कोस) * की दूरीपर एक सुन्दर और महर्षियोंद्वारा सेवित परम पवित्र पर्वत है, जिसपर तुम्हें निवास करना होगा ॥ २८ ॥

गोलाङ्गूलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसंनिभः ॥ २९ ॥

'उसपर बहुत-से लंगूर विचरते रहते हैं । वहाँ वानर और रीछ भी निवास करते हैं । वह पर्वत चित्रकूट नामसे विख्यात है और गन्धमादनके समान मनोहर है ॥ २९ ॥

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते।
कल्याणानि समाधत्ते न पापे कुरुते मनः ॥ ३० ॥

'जब मनुष्य चित्रकूटके शिखरोंका दर्शन कर लेता है, तब कल्याणकारी पुण्य कर्मोंका फल पा लेता है और कभी पापमें मन नहीं लगाता है ॥ ३० ॥

ऋषयस्तत्र बहवो विहृत्य शरदां शतम्।
तपसा दिवमारूढाः कपालशिरसा सह ॥ ३१ ॥

'वहाँ बहुत-से ऋषि, जिनके सिरके बाल वृद्धावस्थाके कारण खोपड़ीकी भाँति सफेद हो गये थे, तपस्याद्वारा सैकड़ों वर्षोंतक क्रीड़ा करके स्वर्गलोकको चले गये हैं ॥ ३१ ॥

प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम्।
इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥ ३२ ॥

'उसी पर्वतको मैं तुम्हारे लिये एकान्तवासके योग्य और सुखद मानता हूँ अथवा श्रीराम ! तुम वनवासके उद्देश्यसे मेरे साथ इस आश्रमपर ही रहो' ॥ ३२ ॥

स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम्।
सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह हर्षयन् ॥ ३३ ॥

ऐसा कहकर भरद्वाजजीने पत्नी और भ्रातासहित प्रिय अतिथि श्रीरामका हर्ष बढ़ाते हुए सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुओंद्वारा उन सबका आतिथ्यसत्कार किया ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः।
प्रपन्ना रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥ ३४ ॥

प्रयागमें श्रीरामचन्द्रजी महर्षिके पास बैठकर विचित्र बातें करते रहे, इतनेमें ही पुण्यमयी रात्रिका आगमन हुआ ॥

सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत् सुखम् ॥ ३५ ॥

वे सुख भोगने योग्य होनेपर भी परिश्रमसे बहुत थक गये थे, इसलिये भरद्वाज मुनिके उस मनोहर आश्रममें श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ सुखपूर्वक वह रात्रि व्यतीत की ॥ ३५ ॥

प्रभातायां तु शर्वर्यां भरद्वाजमुपागमत्।
उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥

तदनन्तर जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब पुरुषसिंह श्रीराम प्रज्वलित तेजवाले भरद्वाज मुनिके पास गये और बोले— ॥ ३६ ॥

शर्वरीं भगवन्नद्य सत्यशील तवाश्रमे।
उषिताः स्मोऽह वसतिमनुजानातु नो भवान् ॥ ३७ ॥

'भगवन् ! आप स्वभावतः सत्य बोलनेवाले हैं ! आज हमलोगोंने आपके आश्रममें बड़े आरामसे रात बितायी है, अब आप हमें आगेके गन्तव्य-स्थानपर जानेके लिये आज्ञा प्रदान करें' ॥ ३७ ॥

---

* रामायणशिरोमणिकार दस कोसका अर्थ तीस कोस करते हैं और 'दश च दश च दश च' ऐसी व्युत्पत्ति करके एकशेषके नियमानुसार एक ही दशका प्रयोग होनेपर भी उसे ३० संख्याका बोधक मानते हैं । प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोस मानी जाती है, जो उपर्युक्त संख्यासे मिलती-जुलती ही है । आधुनिक मापके अनुसार प्रयागसे चित्रकूट ८० मील है । इस हिसाबसे चालीस कोसकी दूरी हुई । परंतु पहलेका क्रोशमान आधुनिक मानसे कुछ बड़ा रहा होगा, ऐसा जान पड़ता है ।

रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।
मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं व्रजेति ह ॥ ३८ ॥
वासमौपयिकं मन्ये तव राम महाबल ।

रात बीतने और सवेरा होनेपर श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर भरद्वाजजीने कहा—'महाबली श्रीराम ! तुम मधुर फल-मूलसे सम्पन्न चित्रकूट पर्वतपर जाओ । मैं उसीको तुम्हारे लिये उपयुक्त निवासस्थान मानता हूँ ॥ ३८½ ॥

नानानगगणोपेतः किन्नरोरगसेवितः ॥ ३९ ॥
मयूरनादाभिरतो गजराजनिषेवितः ।
गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

'वह सुविख्यात चित्रकूट पर्वत नाना प्रकारके वृक्षोंसे हरा-भरा है । वहाँ बहुत-से किन्नर और सर्प निवास करते हैं । मोरोंके कलरवोंसे वह और भी रमणीय प्रतीत होता है । बहुत-से गजराज उस पर्वतका सेवन करते हैं । तुम वहीं चले जाओ ॥ ३९-४० ॥

पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः ।
तत्र कुञ्जरयूथानि मृगयूथानि चैव हि ॥ ४१ ॥
विचरन्ति वनान्तेषु तानि द्रक्ष्यसि राघव ।
सरित्प्रस्रवणप्रस्थान् दरीकन्दरनिर्झरान् ।
चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥ ४२ ॥

'वह पर्वत परम पवित्र, रमणीय तथा बहुसंख्यक फल-मूलोंसे सम्पन्न है । वहाँ झुंड-के-झुंड हाथी और हिरन वनके भीतर विचरते रहते हैं । रघुनन्दन ! तुम उन सबको प्रत्यक्ष देखोगे । मन्दाकिनी नदी, अनेकानेक जलस्रोत, पर्वतशिखर, गुफा, कन्दरा और झरने भी तुम्हारे देखनेमें आयेंगे । वह पर्वत सीताके साथ विचरते हुए तुम्हारे मनको आनन्द प्रदान करेगा ॥ ४१-४२ ॥

प्रहृष्टकोयष्टिभकोकिलस्वनै-
र्विनोदयन्तं च सुखं परं शिवम् ।
मृगैश्च मत्तैर्बहुभिश्च कुञ्जरैः
सुरम्यमासाद्य समावसाश्रयम् ॥ ४३ ॥

'हर्षमें भरे हुए टिट्टिभ और कोकिलोंके कलरवोंद्वारा वह पर्वत यात्रियोंका मनोरञ्जन-सा करता है । वह परम सुखद एवं कल्याणकारी है, मदमत्त मृगों और बहुसंख्यक मतवाले हाथियोंने उसकी रमणीयताको और बढ़ा दिया है । तुम उसी पर्वतपर जाकर डेरा डालो और उसमें निवास करो' ॥ ४३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५४ ॥

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

भरद्वाजजीका श्रीराम आदिके लिये स्वस्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताना, उन सबका अपने ही बनाये हुए बेड़ेसे यमुनाजीको पार करना, सीताकी यमुना और श्यामवटसे प्रार्थना, तीनोंका यमुनाके किनारेके मार्गसे एक कोसतक जाकर वनमें घूमना-फिरना, यमुनाजीके समतल तटपर रात्रिमें निवास करना

उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिंदमौ ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥

उस आश्रममें रातभर रहकर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे दोनों राजकुमार महर्षिको प्रणाम करके चित्रकूट पर्वतपर जानेको उद्यत हुए ॥ १ ॥

तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः स चकार ह ।
प्रस्थितान् प्रेक्ष्य तांश्चैव पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ २ ॥

उन तीनोंको प्रस्थान करते देख महर्षिने उनके लिये उसी प्रकार स्वस्तिवाचन किया जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंको यात्रा करते देख उनके लिये मङ्गलसूचक आशीर्वाद देता है ॥ २ ॥

ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।
भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी महामुनि भरद्वाजने सत्यपराक्रमी श्रीरामसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ३ ॥

गङ्गायमुनयोः संधिमासाद्य मनुजर्षभौ ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥ ४ ॥

'नरश्रेष्ठ ! तुम दोनों भाई गङ्गा और यमुनाके संगमपर पहुँचकर जिनमें पश्चिममुखी होकर गङ्गा मिली हैं, उन महानदी यमुनाके निकट जाना ॥ ४ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं प्रतिस्रोतःसमागताम् ।
तस्यास्तीर्थं प्रचरितं प्रकामं प्रेक्ष्य राघव ।
तत्र यूयं प्लवं कृत्वा तरतांशुमतीं नदीम् ॥ ५ ॥

'रघुनन्दन ! तदनन्तर गङ्गाजीके जलके वेगसे अपने प्रवाहके प्रतिकूल दिशामें मुड़ी हुई यमुनाके पास पहुँचकर लोगोंके आने-जानेके कारण उनके पदचिह्नोंसे चिह्नित हुए

अवतरण-प्रदेश (पार उतरनेके लिये उपयोगी घाट) को अच्छी तरह देख-भालकर वहाँ जाना और एक बेड़ा बनाकर उसीके द्वारा सूर्यकन्या यमुनाके उस पार उतर जाना ॥ ५ ॥

ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम्।
परीतं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ॥ ६ ॥
तस्मिन् सीताञ्जलिं कृत्वा प्रयुञ्जीताशिषां क्रियाम्।
समासाद्य च तं वृक्षं वसेद् वातिक्रमेत वा ॥ ७ ॥

'तत्पश्चात् आगे जानेपर एक बहुत बड़ा बरगदका वृक्ष मिलेगा, जिसके पत्ते हरे रंगके हैं। वह चारों ओरसे बहुसंख्यक दूसरे वृक्षोंद्वारा घिरा हुआ है। उस वृक्षका नाम श्यामवट है। उसकी छायाके नीचे बहुत-से सिद्ध पुरुष निवास करते हैं। वहाँ पहुँचकर सीता दोनों हाथ जोड़कर उस वृक्षसे आशीर्वादकी याचना करें। यात्रीकी इच्छा हो तो उस वृक्षके पास जाकर कुछ कालतक वहाँ निवास करे अथवा वहाँसे आगे बढ़ जाय ॥ ६-७ ॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं प्रेक्ष्य च काननम्।
सल्लकीबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः ॥ ८ ॥

'श्यामवटसे एक कोस दूर जानेपर तुम्हें नीलवनका दर्शन होगा; वहाँ सल्लकी (चीड़) और बेरके भी पेड़ मिले हुए हैं। यमुनाके तटपर उत्पन्न हुए बाँसोंके कारण वह और भी रमणीय दिखायी देता है ॥ ८ ॥

स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतस्य बहुशो मया।
रम्यो मार्दवयुक्तश्च दावैश्चैव विवर्जितः ॥ ९ ॥

'यह वही स्थान है जहाँसे चित्रकूटको रास्ता जाता है। मैं उस मार्गसे कई बार गया हूँ। वहाँकी भूमि कोमल और दृश्य रमणीय है। उधर कभी दावानलका भय नहीं होता है' ॥ ९ ॥

इति पन्थानमादिश्य महर्षिः संन्यवर्तत।
अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ॥ १० ॥

इस प्रकार मार्ग बताकर जब महर्षि भरद्वाज लौटने लगे, तब श्रीरामने 'तथास्तु' कहकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'अब आप आश्रमको लौट जाइये' ॥ १० ॥

उपावृत्ते मुनौ तस्मिन् रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ॥ ११ ॥

उन महर्षिके लौट जानेपर श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'सुमित्रानन्दन! तुम्हारा कल्याण हो। ये मुनि हमारे ऊपर जो इतनी कृपा रखते हैं, इससे जान पड़ता है कि हमलोगोंने पहले कभी महान् पुण्य किया है' ॥ ११ ॥

इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ।
सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार बातचीत करते हुए वे दोनों मनस्वी पुरुषसिंह सीताको ही आगे करके यमुना नदीके तटपर गये ॥ १२ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्रोतस्विनीं नदीम्।
चिन्तामापेदिरे सद्यो नदीजलतितीर्षवः ॥ १३ ॥

वहाँ कालिन्दीका स्रोत बड़ी तीव्रगतिसे प्रवाहित हो रहा था। वहाँ पहुँचकर वे इस चिन्तामें पड़े कि कैसे नदीको पार किया जाय; क्योंकि वे तुरंत ही यमुनाजीके जलको पार करना चाहते थे ॥ १३ ॥

तौ काष्ठसंघाटमथो चक्रतुः सुमहाप्लवम्।
शुष्कैर्वंशैः समाकीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ॥ १४ ॥
ततो वेतसशाखाश्च जम्बुशाखाश्च वीर्यवान्।
चकार लक्ष्मणश्छित्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ॥ १५ ॥

फिर उन दोनों भाइयोंने जंगलके सूखे काठ बटोरकर उन्हींके द्वारा एक बहुत बड़ा बेड़ा तैयार किया। वह बेड़ा सूखे बाँसोंसे व्याप्त था और उसके ऊपर खस बिछाया गया था। तदनन्तर पराक्रमी लक्ष्मणने बेंत और जामुनकी टहनियोंको काटकर सीताके बैठनेके लिये एक सुखद आसन तैयार किया ॥ १४-१५ ॥

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम्।
ईषत्सलज्जमानां तामध्यारोपयत प्लवम् ॥ १६ ॥
पार्श्वे तत्र च वैदेह्या वसने भूषणानि च।
प्लवे कठिनकाजं च रामश्चक्रे समाहितः ॥ १७ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामने लक्ष्मीके समान अचिन्त्य ऐश्वर्य-वाली अपनी प्रिया सीताको जो कुछ लज्जित-सी हो रही थीं, उस बेड़ेपर चढ़ा दिया और उनके बगलमें वस्त्र एवं आभूषण रख दिये; फिर श्रीरामने बड़ी सावधानीके साथ खन्ती (कुदारी) और बकरेके चमड़ेसे मढ़ी हुई पिटारीको भी बेड़ेपर ही रक्खा ॥ १६-१७ ॥

आरोप्य सीतां प्रथमं संघाटं परिगृह्य तौ।
ततः प्रतेरतुर्यत्तौ प्रीतौ दशरथात्मजौ ॥ १८ ॥

इस प्रकार पहले सीताको चढ़ाकर वे दोनों भाई दशरथ-कुमार श्रीराम और लक्ष्मण उस बेड़ेको पकड़कर खेने लगे। उन्होंने बड़े प्रयत्न और प्रसन्नताके साथ नदीको पार करना आरम्भ किया ॥ १८ ॥

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत।
स्वस्ति देवि तरामि त्वां पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ॥ १९ ॥

यमुनाकी बीच धारामें आनेपर सीताने उन्हें प्रणाम किया और कहा—'देवि! इस बेड़ेद्वारा मैं आपके पार जा रही हूँ। आप ऐसी कृपा करें, जिससे हमलोग सकुशल पार हो जायँ और मेरे पतिदेव अपनी वनवासविषयक प्रतिज्ञाको निर्विघ्न पूर्ण करें ॥ १९ ॥

यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च।
स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥ २० ॥

'इक्ष्वाकुवंशी वीरोंद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें श्रीरघुनाथजीके सकुशल लौट आनेपर मैं आपके किनारे एक सहस्र गौओंका दान करूँगी और सैकड़ों देवदुर्लभ पदार्थ अर्पित करके आपकी पूजा सम्पन्न करूँगी' ॥ २० ॥

कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ।
तीरमेवाभिसम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ॥ २१ ॥

इस प्रकार सुन्दरी सीता हाथ जोड़कर यमुनाजीसे प्रार्थना कर रही थीं, इतनेहीमें वे दक्षिण तटपर जा पहुँचीं ॥ २१ ॥

ततः प्लवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ।
तीरजैर्बहुभिर्वृक्षैः संतेरुर्यमुनां नदीम् ॥ २२ ॥

इस तरह उन तीनोंने उसी बेड़ेद्वारा बहुसंख्यक तटवर्ती वृक्षोंसे सुशोभित और तरङ्गमालाओंसे अलंकृत शीघ्रगामिनी सूर्य-कन्या यमुना नदीको पार किया ॥ २२ ॥

ते तीर्णाः प्लवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात् ।
श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ॥ २३ ॥

पार उतरकर उन्होंने बेड़ेको तो वहीं तटपर छोड़ दिया और यमुना-तटवर्ती वनसे प्रस्थान करके वे हरे-हरे पत्तोंसे सुशोभित शीतल छायावाले श्यामवटके पास जा पहुँचे ॥

न्यग्रोधं समुपागम्य वैदेही चाभ्यवन्दत ।
नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्व्रतम् ॥ २४ ॥

वटके समीप पहुँचकर विदेहनन्दिनी सीताने उसे मस्तक झुकाया और इस प्रकार कहा—'महावृक्ष ! आपको नमस्कार है। आप ऐसी कृपा करें, जिससे मेरे पतिदेव अपने वनवास-विषयक व्रतको पूर्ण करें ॥ २४ ॥

कौसल्यां चैव पश्येम सुमित्रां च यशस्विनीम् ।
इति सीताञ्जलिं कृत्वा पर्यगच्छन्मनस्विनी ॥ २५ ॥

'तथा हमलोग वनसे सकुशल लौटकर माता कौसल्या तथा यशस्विनी सुमित्रादेवीका दर्शन कर सकें।' इस प्रकार कहकर मनस्विनी सीताने हाथ जोड़े हुए उस वृक्षकी परिक्रमा की ॥ २५ ॥

अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम् ।
दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २६ ॥

सदा अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाली प्राणप्यारी सती-साध्वी सीताको श्यामवटसे आशीर्वादकी याचना करती देख श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—॥ २६ ॥

सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरतानुज ।
पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सायुधो द्विपदां वर ॥ २७ ॥

'भरतके छोटे भाई नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! तुम सीताको साथ लेकर आगे-आगे चलो और मैं धनुष धारण किये पीछेसे तुम लोगोंकी रक्षा करता हुआ चलूँगा ॥ २७ ॥

यद् यत् फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ।
तत् तत् प्रयच्छ वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ॥ २८ ॥

'विदेहकुलनन्दिनी जनकदुलारी सीता जो-जो फल या फूल माँगें अथवा जिस वस्तुको पाकर इनका मन प्रसन्न रहे, वह सब इन्हें देते रहो' ॥ २८ ॥

एकैकं पादपं गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ।
अदृष्टरूपां पश्यन्ती रामं पप्रच्छ साबला ॥ २९ ॥

अबला सीता एक-एक वृक्ष, झाड़ी अथवा पहलेकी न देखी हुई पुष्पशोभित लताको देखकर उसके विषयमें श्रीरामचन्द्रजीसे पूछती थीं ॥ २९ ॥

रमणीयान् बहुविधान् पादपान् कुसुमोत्करान् ।
सीतावचनसंरब्ध आनयामास लक्ष्मणः ॥ ३० ॥

तथा लक्ष्मण सीताके कथनानुसार तुरंत ही भाँति-भाँतिके वृक्षोंकी मनोहर शाखाएँ और फूलोंके गुच्छे ला-लाकर उन्हें देते थे ॥ ३० ॥

विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।
रेमे जनकराजस्य सुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३१ ॥

उस समय जनकराजकिशोरी सीता विचित्र बालुका और जलराशिसे सुशोभित तथा हंस और सारसोंके कलनादसे मुखरित यमुना नदीको देखकर बहुत प्रसन्न होती थीं ॥३१॥

क्रोशमात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बहून् मेध्यान् मृगान् हत्वा चेरतुर्यमुनावने ॥ ३२ ॥

इस तरह एक कोसकी यात्रा करके दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण (प्राणियोंके हितके लिये) मार्गमें मिले हुए हिंसक पशुओंका वध करते हुए यमुना-तटवर्ती वनमें विचरने लगे ॥ ३२ ॥

विहृत्य ते बर्हिणपूगनादिते
शुभे वने वारणवानरायुते ।
समं नदीवप्रमुपेत्य सत्वरं
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥ ३३ ॥

उदार दृष्टिवाले वे सीता, लक्ष्मण और श्रीराम मोरोंके झुंडोंकी मीठी बोलीसे गूँजते तथा हाथियों और वानरोंसे भरे हुए उस सुन्दर वनमें घूम-फिरकर शीघ्र ही यमुना नदीके समतल तटपर आ गये और रातमें उन्होंने वहीं निवास किया ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशः सर्गः

वनकी शोभा देखते-दिखाते हुए श्रीराम आदिका चित्रकूटमें पहुँचना, वाल्मीकिजीका दर्शन करके श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणद्वारा पर्णशालाका निर्माण तथा उसकी वास्तुशान्ति करके उन सबका कुटीमें प्रवेश

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्तमनन्तरम्।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुपुङ्गवः॥ १॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीत होनेपर रघुकुलशिरोमणि श्रीरामने अपने जागनेके बाद वहाँ सोये हुए लक्ष्मणको धीरेसे जगाया (और इस प्रकार कहा—)॥ १॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम्।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप॥ २॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सुमित्राकुमार! मीठी बोली बोलनेवाले शुक-पिक आदि जंगली पक्षियोंका कलरव सुनो। अब हमलोग यहाँसे प्रस्थान करें; क्योंकि प्रस्थानके योग्य समय आ गया है'॥ २॥

प्रसुप्तस्तु ततो भ्रात्रा समये प्रतिबोधितः।
जहौ निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च परिश्रमम्॥ ३॥

सोये हुए लक्ष्मणने अपने बड़े भाईद्वारा ठीक समयपर जगा दिये जानेपर निद्रा, आलस्य तथा राह चलनेकी थकावटको दूर कर दिया॥ ३॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्ट्वा नद्याः शिवं जलम्।
पन्थानमृषिभिर्जुष्टं चित्रकूटस्य तं ययुः॥ ४॥

फिर सब लोग उठे और यमुना नदीके शीतल जलमें स्नान आदि करके ऋषि-मुनियोंद्वारा सेवित चित्रकूटके उस मार्गपर चल दिये॥ ४॥

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह।
सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

उस समय लक्ष्मणके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए श्रीरामने कमलनयनी सीतासे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान् नगान्।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः शिशिरात्यये॥ ६॥

'विदेहराजनन्दिनी! इस वसन्त ऋतुमें सब ओरसे खिले हुए इन पलाश-वृक्षोंको तो देखो। ये अपने ही पुष्पोंसे पुष्पमालाधारी-से प्रतीत होते हैं और उन फूलोंकी अरुण प्रभाके कारण प्रज्वलित होते-से दिखायी देते हैं॥ ६॥

पश्य भल्लातकान् बिल्वान् नरैरनुपसेवितान्।
फलपुष्पैरवनतान् नूनं शक्ष्याम जीवितुम्॥ ७॥

'देखो, ये भिलावे और बेलके पेड़ अपने फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए हैं। दूसरे मनुष्योंका यहाँतक आना सम्भव न होनेसे ये उनके द्वारा उपयोगमें नहीं लाये गये हैं; अतः निश्चय ही इन फलोंसे हम जीवन-निर्वाह कर सकेंगे'॥ ७॥

पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण।
मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे॥ ८॥

(फिर लक्ष्मणसे कहा—) 'लक्ष्मण! देखो, यहाँके एक-एक वृक्षमें मधुमक्खियोंद्वारा लगाये और पुष्ट किये गये मधुके छत्ते कैसे लटक रहे हैं। इन सबमें एक-एक द्रोण (लगभग सोलह सेर) मधु भरा हुआ है॥ ८॥

एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति।
रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकटे॥ ९॥

'वनका यह भाग बड़ा ही रमणीय है, यहाँ फूलोंकी वर्षा-सी हो रही है और सारी भूमि पुष्पोंसे आच्छादित दिखायी देती है। इस वनप्रान्तमें यह चातक 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की रट लगा रहा है। उधर वह मोर बोल रहा है, मानो पपीहेकी बातका उत्तर दे रहा हो॥ ९॥

मातङ्गयूथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम्।
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम्॥ १०॥

'यह रहा चित्रकूट पर्वत—इसका शिखर बहुत ऊँचा है। झुंड-के-झुंड हाथी उसी ओर जा रहे हैं और वहाँ बहुत-से पक्षी चहक रहे हैं॥ १०॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने॥ ११॥

'तात! जहाँकी भूमि समतल है और जो बहुत-से वृक्षोंसे भरा हुआ है, चित्रकूटके उस पवित्र काननमें हमलोग विचरेंगे'॥ ११॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया।
रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम्॥ १२॥

सीताके साथ दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण पैदल ही यात्रा करते हुए यथासमय रमणीय एवं मनोरम पर्वत चित्रकूटपर जा पहुँचे॥ १२॥

तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम्।
बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नसरसोदकम्॥ १३॥

वह पर्वत नाना प्रकारके पक्षियोंसे परिपूर्ण था। वहाँ फल-मूलोंकी बहुतायत थी और स्वादिष्ट जल पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होता था। उस रमणीय शैलके समीप जाकर श्रीरामने कहा—॥ १३॥

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः ।
बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

'सौम्य ! यह पर्वत बड़ा मनोहर है । नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं । यहाँ फल-मूल भी बहुत हैं; यह रमणीय तो है ही । मुझे जान पड़ता है कि यहाँ बड़े सुखसे जीवन-निर्वाह हो सकता ह ॥ १४ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये ।
अयं वासो भवेत् तात वयमत्र वसेमहि ॥ १५ ॥

'इस पर्वतपर बहुत-से महात्मा मुनि निवास करते हैं । तात ! यही हमारा वासस्थान होनेयोग्य है । हम यहीं निवास करेंगे' ॥ १५ ॥

इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥ १६ ॥

ऐसा निश्चय करके सीता, श्रीराम और लक्ष्मणने हाथ जोड़कर महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें प्रवेश किया और सबने उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ १६ ॥

तान् महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित् ।
आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च ॥ १७ ॥

धर्मको जाननेवाले महर्षि उनके आगमनसे बहुत प्रसन्न हुए और 'आपलोगोंका स्वागत है । आइये, बैठिये ।' ऐसा कहते हुए उन्होंने उनका आदर-सत्कार किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महाबाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।
संनिवेद्य यथान्यायमात्मानमृषये प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महाबाहु भगवान् श्रीरामने महर्षिको अपना यथोचित परिचय दिया और लक्ष्मणसे कहा—॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दारूणि दृढानि च वराणि च ।
कुरुष्वावसथं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! तुम जंगलसे अच्छी-अच्छी मजबूत लकड़ियाँ ले आओ और रहनेके लिये एक कुटी तैयार करो । यहीं निवास करनेको मेरा जी चाहता है' ॥ १९ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान् द्रुमान् ।
आजहार ततश्चक्रे पर्णशालामरिंदमः ॥ २० ॥

श्रीरामकी यह बात सुनकर शत्रुदमन लक्ष्मण अनेक प्रकारके वृक्षोंकी डालियाँ काट लाये और उनके द्वारा एक पर्णशाला तैयार की ॥ २० ॥

तां निष्ठितां बद्धकटां दृष्ट्वा रामः सुदर्शनाम् ।
शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

वह कुटी बाहर-भीतरसे लकड़ीकी ही दीवारसे सुस्थिर बनायी गयी थी और उसे ऊपरसे छा दिया गया था, जिससे वर्षा आदिका निवारण हो । वह देखनेमें बड़ी सुन्दर लगती थी । उसे तैयार हुई देख एकाग्रचित्त होकर अपनी बात सुननेवाले लक्ष्मणसे श्रीरामने इस प्रकार कहा—॥ २१ ॥

ऐणेयं मांसमाहृत्य शालां यक्ष्यामहे वयम् ।
कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरजीविभिः ॥ २२ ॥

'सुमित्राकुमार ! हम गजकन्दका गूदा लेकर उसीसे पर्णशालाके अधिष्ठाता देवताओंका पूजन करेंगे;* क्योंकि दीर्घ जीवनकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको वास्तुशान्ति अवश्य करनी चाहिये ॥ २२ ॥

मृगं हत्वाऽऽनय क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण ।
कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्ममनुस्मर ॥ २३ ॥

'कल्याणदर्शी लक्ष्मण ! तुम 'गजकन्द' नामक कन्दको† उखाड़कर या खोदकर शीघ्र यहाँ ले आओ; क्योंकि शास्त्रोक्त विधिका अनुष्ठान हमारे लिये अवश्यकर्तव्य है । तुम धर्मका ही सदा चिन्तन किया करो' ॥ २३ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा ।
चकार च यथोक्तं हि तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥

भाईकी इस बातको समझकर शत्रुवीरोंका वध करनेवाले लक्ष्मणने उनके कथनानुसार कार्य किया । तब श्रीरामने पुनः उनसे कहा—॥ २४ ॥

ऐणेयं श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् ।
त्वर सौम्यमुहूर्तोऽयं ध्रुवश्च दिवसो ह्ययम् ॥ २५ ॥

'लक्ष्मण ! इस गजकन्दको पकाओ । हम पर्णशालाके अधिष्ठाता देवताओंका पूजन करेंगे । जल्दी करो । यह सौम्य-मुहूर्त है और यह दिन भी 'ध्रुव'‡ संज्ञक है (अतः इसीमें यह शुभ कार्य होना चाहिये)' ॥ २५ ॥

---

* यहाँ 'ऐणेयं मांसम्' का अर्थ है—गजकन्द नामक कन्द-विशेषका गूदा । इस प्रसंगमें मांसपरक अर्थ नहीं लेना चाहिये; क्योंकि ऐसा अर्थ लेनेपर 'हित्वा मुनिवदामिषम्' (२ । २० । २९), 'फलानि मूलानि च भक्षयन् वने' (२ । ३४ । ५९) तथा 'धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः' (२ । ५४ । १६)' इत्यादि रूपसे की हुई श्रीरामकी प्रतिज्ञाओंसे विरोध पड़ेगा । इन वचनोंमें निरामिष रहने और फल-मूल खाकर धर्माचरण करनेकी ही बात कही गयी है । 'रामो द्विर्नाभिभाषते' (श्रीराम दो तरहकी बात नहीं कहते हैं, एक बार जो कह दिया, वह अटल है) इस कथनके अनुसार श्रीरामकी प्रतिज्ञा टलनेवाली नहीं है ।

† मदनपाल-निघण्टुके अनुसार 'मृग' का अर्थ गजकन्द है ।

‡ 'उत्तरात्रयरोहिण्यो भास्करश्च ध्रुवं स्थिरम् ।

(मुहूर्तचिन्तामणि)

अर्थात् तीनों उत्तरा और रोहिणी नक्षत्र तथा रविवार—ये 'ध्रुव' एवं 'स्थिर' संज्ञक हैं । इसमें गृहशान्ति या वास्तुशान्ति आदि कार्य अच्छे माने गये हैं

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान्।
अथ चिक्षेप सौमित्रिः समिद्धे जातवेदसि ॥ २६ ॥

प्रतापी सुमित्राकुमार लक्ष्मणने पवित्र और काले छिलकेवाले गजकन्दको उखाड़कर प्रज्वलित आगमें डाल दिया ॥

तत् तु पक्वं समाज्ञाय निष्टप्तं छिन्नशोणितम्।
लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

रक्तविकारका नाश करनेवाले* उस गजकन्दको भलीभाँति पका हुआ जानकर लक्ष्मणने पुरुषसिंह श्रीरघुनाथजीसे कहा—॥ २७ ॥

अयं सर्वः समस्ताङ्गः शृतः कृष्णमृगो मया।
देवता देवसंकाश यजस्व कुशलो ह्यसि ॥ २८ ॥

'देवोपम तेजस्वी श्रीरघुनाथजी! यह काले छिलकेवाला गजकन्द, जो बिगड़े हुए सभी अङ्गोंको ठीक करनेवाला है,† मेरेद्वारा सम्पूर्णतः पका दिया गया है। अब आप वास्तुदेवताओंका यजन कीजिये; क्योंकि आप इस कर्ममें कुशल हैं ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्जपकोविदः।
संग्रहेणाकरोत् सर्वान् मन्त्रान् सत्रावसानिकान् ॥ २९ ॥

सद्गुणसम्पन्न तथा जपकर्मके ज्ञाता श्रीरामचन्द्रजीने स्नान करके शौच-संतोषादि नियमोंके पालनपूर्वक संक्षेपसे उन सभी मन्त्रोंका पाठ एवं जप किया, जिनसे वास्तुयज्ञकी पूर्ति हो जाती है ॥ २९ ॥

इष्ट्वा देवगणान् सर्वान् विवेशावसथं शुचिः।
बभूव च मनोह्लादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

समस्त देवताओंका पूजन करके पवित्र भावसे श्रीरामने पर्णकुटीमें प्रवेश किया। उस समय अमिततेजस्वी श्रीरामके मनमें बड़ा आह्लाद हुआ ॥ ३० ॥

वैश्वदेवबलिं कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च।
वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

तत्पश्चात् बलिवैश्वदेव कर्म, रुद्रयाग तथा वैष्णवयाग करके श्रीरामने वास्तुदोषकी शान्तिके लिये मङ्गलपाठ किया ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नद्यां यथाविधि।
पापसंशमनं रामश्चकार बलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

नदीमें विधिपूर्वक स्नान करके न्यायतः गायत्री आदि मन्त्रोंका जप करनेके अनन्तर श्रीरामने पञ्चसूना आदि दोषोंकी शान्तिके लिये उत्तम बलिकर्म सम्पन्न किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्यायतनानि च।
आश्रमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

रघुनाथजीने अपनी छोटी-सी कुटीके अनुरूप ही वेदिस्थलों (आठ दिक्पालोंके लिये बलि-समर्पणके स्थानों), चैत्यों (गणेश आदिके स्थानों) तथा आयतनों (विष्णु आदि देवोंके स्थानों) का निर्माण एवं स्थापना की ॥ ३३ ॥

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम्।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥ ३४ ॥

वह मनोहर कुटी उपयुक्त स्थानपर बनी थी। उसे वृक्षोंके पत्तोंसे छाया गया था और उसके भीतर प्रचण्ड वायुसे बचनेका पूरा प्रबन्ध था। सीता, लक्ष्मण और श्रीराम सबने एक साथ उसमें निवासके लिये प्रवेश किया। ठीक वैसे ही, जैसे देवतालोग सुधर्मा सभामें प्रवेश करते हैं ॥ ३४ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां माल्यवतीं सुतीर्थाम्।
ननन्द हृष्टो मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ ३५ ॥

चित्रकूट पर्वत बड़ा ही रमणीय था। वहाँ उत्तम तीर्थों (तीर्थस्थान, सीढ़ी और घाटों) से सुशोभित माल्यवती (मन्दाकिनी) नदी बह रही थी, जिसका बहुत-से पशु-पक्षी सेवन करते थे। उस पर्वत और नदीका सांनिध्य पाकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ा हर्ष और आनन्द हुआ। वे नगरसे दूर वनमें आनेके कारण होनेवाले कष्टको भूल गये ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्पञ्चाशः सर्गः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छप्पनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

---

* 'छिन्नशोणितम्' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'छिन्नं शोणितं रक्तविकाररूपं रोगजातं येन सः तम्।' 'गजकन्द' रोग-विकारका नाशक है, यह वैद्यकमें प्रसिद्ध है। मदनपाल-निघण्टुके 'षट्दोषादिकुष्ठहन्ता' आदि वचनसे भी यह चर्मदोष तथा कुष्ठ आदि रक्तविकारका नाशक सिद्ध होता है।

† 'समस्ताङ्गः' की व्युत्पत्ति यों समझनी चाहिये—'समग्रा भवन्ति अस्वानि अङ्गानि येन सः।'

सप्तपञ्चाशः सर्गः

सुमन्त्रका अयोध्याको लौटना, उनके मुखसे श्रीरामका संदेश सुनकर पुरवासियोंका विलाप, राजा दशरथ और कौसल्याकी मूर्च्छा तथा अन्तःपुरकी रानियोंका आर्तनाद

कथयित्वा तु दुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह ।
रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥

इधर, जब श्रीराम गङ्गाके दक्षिणतटपर उतर गये, तब गुह दुःखसे व्याकुल हो सुमन्त्रके साथ बड़ी देरतक बातचीत करता रहा। इसके बाद वह सुमन्त्रको साथ ले अपने घरको चला गया ॥ १ ॥

भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सभाजनम् ।
आ गिरेर्गमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्रजीका प्रयागमें भरद्वाजके आश्रमपर जाना, मुनिके द्वारा सत्कार पाना तथा चित्रकूट पर्वतपर पहुँचना—ये सब वृत्तान्त शृङ्गवेरके निवासी गुप्तचरोंने देखे और लौटकर गुहको इन बातोंसे अवगत कराया ॥ २ ॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान् ।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

इन सब बातोंको जानकर सुमन्त्र गुहसे विदा ले अपने उत्तम घोड़ोंको रथमें जोतकर अयोध्याकी ओर ही लौट पड़े। उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख हो रहा था ॥ ३ ॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च ।
पश्यन् यत्तो ययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

वे मार्गमें सुगन्धित वनों, नदियों, सरोवरों, गाँवों और नगरोंको देखते हुए बड़ी सावधानीके साथ शीघ्रतापूर्वक जा रहे थे ॥ ४ ॥

ततः सायाह्नसमये द्वितीयेऽहनि सारथिः ।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां ददर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्गवेरपुरसे लौटनेके दूसरे दिन सायंकालमें अयोध्या पहुँचकर उन्होंने देखा, सारी पुरी आनन्दशून्य हो गयी है ॥ ५ ॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्ट्वा परमदुर्मनाः ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

वहाँ कहीं एक शब्द भी सुनायी नहीं देता था। सारी पुरी ऐसी नीरव थी, मानो मनुष्योंसे सूनी हो गयी हो। अयोध्याकी ऐसी दशा देखकर सुमन्त्रके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे शोकके वेगसे पीड़ित हो इस प्रकार चिन्ता करने लगे—॥ ६ ॥

कच्चिन्न सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा ।
रामसंतापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥

'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि श्रीरामके विरहजनित संतापके दुःखसे व्यथित हो हाथी, घोड़े, मनुष्य और महाराजसहित सारी अयोध्यापुरी शोकाग्निसे दग्ध हो गयी हो' ॥ ७ ॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इसी चिन्तामें पड़े हुए सारथि सुमन्त्रने शीघ्रगामी घोड़ोंद्वारा नगरद्वारपर पहुँचकर तुरंत ही पुरीके भीतर प्रवेश किया ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमभिधावन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमभ्यद्रवन् नराः ॥ ९ ॥

सुमन्त्रको देखकर सैकड़ों और हजारों पुरवासी मनुष्य दौड़े आये और 'श्रीराम कहाँ हैं?' यह पूछते हुए उनके रथके साथ-साथ दौड़ने लगे ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छ्य राघवम् ।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥ १० ॥
ते तीर्णा इति विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखा नराः ।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति विचुक्रुशुः ॥ ११ ॥

उस समय सुमन्त्रने उन लोगोंसे कहा—'सज्जनो! मैं गङ्गाजीके किनारेतक श्रीरघुनाथजीके साथ गया था। वहाँसे उन धर्मनिष्ठ महात्माने मुझे लौट जानेकी आज्ञा दी। अतः मैं उनसे विदा लेकर यहाँ लौट आया हूँ।' 'वे तीनों व्यक्ति गङ्गाके उस पार चले गये' यह जानकर सब लोगोंके मुखपर आँसुओंकी धाराएँ बह चलीं। 'अहो! हमें धिक्कार है।' ऐसा कहकर वे लंबी साँसें खींचने और 'हा राम!' की पुकार मचाते हुए जोर-जोरसे करुणक्रन्दन करने लगे ॥ १०-११ ॥

शुश्राव च वचस्तेषां वृन्दं वृन्दं च तिष्ठताम् ।
हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

सुमन्त्रने उनकी बातें सुनीं। वे झुंड-के-झुंड खड़े होकर कह रहे थे—'हाय! निश्चय ही हमलोग मारे गये; क्योंकि अब हम यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको नहीं देख पायेंगे ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।
न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा ॥ १३ ॥

'दान, यज्ञ, विवाह तथा बड़े-बड़े सामाजिक उत्सवोंके समय अब हम कभी धर्मात्मा श्रीरामको अपने बीचमें खड़ा हुआ नहीं देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम्।
इति रामेण नगरं पित्रेव परिपालितम्॥ १४॥

'अमुक पुरुषके लिये कौन-सी वस्तु उपयोगी है? क्या करनेसे उसका प्रिय होगा? और कैसे किस-किस वस्तुसे उसे सुख मिलेगा, इत्यादि बातोंका विचार करते हुए श्रीरामचन्द्रजी पिताकी भाँति इस नगरका पालन करते थे'॥ १४॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम्।
राममेवाभितप्तानां शुश्राव परिदेवनम्॥ १५॥

बाजारके बीचसे निकलते समय सारथिके कानोंमें स्त्रियोंके रोनेकी आवाज सुनायी दी, जो महलोंकी खिड़कियोंमें बैठकर श्रीरामके लिये ही संतप्त हो विलाप कर रही थीं॥ १५॥

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम्॥ १६॥

राजमार्गके बीचसे जाते हुए सुमन्त्रने कपड़ेसे अपना मुँह ढक लिया। वे रथ लेकर उसी भवनकी ओर गये, जहाँ राजा दशरथ मौजूद थे॥ १६॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीघ्रं राजवेश्म प्रविश्य च।
कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः॥ १७॥

राजमहलके पास पहुँचकर वे शीघ्र ही रथसे उतर पड़े और भीतर प्रवेश करके बहुत-से मनुष्योंसे भरी हुई सात ड्योढ़ियोंको पार कर गये॥ १७॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम्।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः॥ १८॥

धनियोंकी अट्टालिकाओं, सतमंजिले मकानों तथा राजभवनोंमें बैठी हुई स्त्रियाँ सुमन्त्रको लौटा हुआ देख श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित होनेके दुःखसे दुर्बल हो हाहाकार कर उठीं॥ १८॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः॥ १९॥

उनके कज्जल आदिसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुओंके वेगमें डूबे हुए थे। वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अव्यक्त-भावसे एक दूसरीकी ओर देख रही थीं॥ १९॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः।
रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जल्पितम्॥ २०॥

तदनन्तर राजमहलोंमें जहाँ-तहाँसे श्रीरामके शोकसे संतप्त हुई राजा दशरथकी रानियोंके मन्दस्वरमें कहे गये वचन सुनायी पड़े॥ २०॥

सह रामेण निर्यातो विना राममिहागतः।
सूतः किं नाम कौसल्यां क्रोशन्तीं प्रतिवक्ष्यति॥ २१॥

'ये सारथि सुमन्त्र श्रीरामके साथ यहाँसे गये थे और उनके बिना ही यहाँ लौटे हैं, ऐसी दशामें करुणक्रन्दन करती हुई कौसल्याको ये क्या उत्तर देंगे?॥ २१॥

यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम्।
आच्छिद्य पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति॥ २२॥

'मैं समझती हूँ, जैसे जीवन दुःखजनित है, निश्चय ही उसी प्रकार इसका नाश भी सुकर नहीं है; तभी तो न्यायतः प्राप्त हुए अभिषेकको त्यागकर पुत्रके वनमें चले जानेपर भी कौसल्या अभीतक जीवित हैं'॥ २२॥

सत्यरूपं तु तद् वाक्यं राजस्त्रीणां निशामयन्।
प्रदीप्त इव शोकेन विवेश सहसा गृहम्॥ २३॥

रानियोंकी वह सच्ची बात सुनकर शोकसे दग्ध-से होते हुए सुमन्त्रने सहसा राजभवनमें प्रवेश किया॥ २३॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम्।
पुत्रशोकपरिद्यूनमपश्यत् पाण्डुरे गृहे॥ २४॥

आठवीं ड्योढ़ीमें प्रवेश करके उन्होंने देखा, राजा एक श्वेत भवनमें बैठे और पुत्रशोकसे मलिन, दीन एवं आतुर हो रहे हैं॥ २४॥

अभिगम्य तमासीनं राजानमभिवाद्य च।
सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत्॥ २५॥

सुमन्त्रने वहाँ बैठे हुए महाराजके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उन्हें श्रीरामचन्द्रजीकी कही हुई बातें ज्यों-की-त्यों सुना दीं॥ २५॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विद्रुतमानसः।
मूर्च्छितो न्यपतद् भूमौ रामशोकाभिपीडितः॥ २६॥

राजाने चुपचाप ही वह सुन लिया, सुनकर उनका हृदय द्रवित (व्याकुल) हो गया। फिर वे श्रीरामके शोकसे अत्यन्त पीड़ित हो मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े॥ २६॥

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं मूर्च्छिते पृथिवीपतौ।
उच्छ्रित्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ॥ २७॥

महाराजके मूर्च्छित हो जानेपर सारा अन्तःपुर दुःखसे व्यथित हो उठा। राजाके पृथ्वीपर गिरते ही सब लोग दोनों बाँहें उठाकर जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे॥ २७॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम्।
उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत्॥ २८॥

उस समय कौसल्याने सुमित्राकी सहायतासे अपने गिरे हुए पतिको उठाया और इस प्रकार कहा—॥ २८॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः।
वनवासादनुप्राप्तं कस्मान्न प्रतिभाषसे॥ २९॥

'महाभाग ! ये सुमन्त्रजी दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामके दूत होकर—उनका संदेश लेकर वनवाससे लौटे हैं। आप इनसे बात क्यों नहीं करते हैं ? ॥ २९ ॥

अद्येममनयं कृत्वा व्यपत्रपसि राघव।
उत्तिष्ठ सुकृतं तेऽस्तु शोके न स्यात् सहायता ॥ ३० ॥

'रघुनन्दन ! पुत्रको वनवास दे देना अन्याय है। यह अन्याय करके आप लज्जित क्यों हो रहे हैं ? उठिये, आपको अपने सत्यके पालनका पुण्य प्राप्त हो। जब आप इस तरह शोक करेंगे तब आपके सहायकोंका समुदाय भी आपके साथ ही नष्ट हो जायगा ॥ ३० ॥

देव यस्या भयाद् रामं नानुपृच्छसि सारथिम्।
नेह तिष्ठति कैकेयी विश्रब्धं प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

'देव ! आप जिसके भयसे सुमन्त्रजीसे श्रीरामका समाचार नहीं पूछ रहे हैं, वह कैकेयी यहाँ मौजूद नहीं है; अतः निर्भय होकर बात कीजिये' ॥ ३१ ॥

सा तथोक्त्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा।
धरण्यां निपपाताशु बाष्पविप्लुतभाषिणी ॥ ३२ ॥

महाराजसे ऐसा कहकर कौसल्याका गला भर आया। आँसुओंके कारण उनसे बोला नहीं गया और वे शोकसे व्याकुल होकर तुरंत ही पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ ३२ ॥

विलपन्तीं तथा दृष्ट्वा कौसल्यां पतितां भुवि।
पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः समन्ताद् रुरुदुः स्त्रियः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौसल्याको भूमिपर पड़ी देख और अपने पतिकी मूर्च्छित दशापर दृष्टिपात करके सभी रानियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर रोने लगीं ॥ ३३ ॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं
समीक्ष्य वृद्धास्तरुणाश्च मानवाः।
स्त्रियश्च सर्वा रुरुदुः समन्ततः
पुरं तदासीत् पुनरेव संकुलम् ॥ ३४ ॥

अन्तःपुरसे उठे हुए उस आर्तनादको देख-सुनकर नगरके बूढ़े और जवान पुरुष रो पड़े। सारी स्त्रियाँ भी रोने लगीं। वह सारा नगर उस समय सब ओरसे पुनः शोकसे व्याकुल हो उठा ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशः सर्गः

महाराज दशरथकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीराम और लक्ष्मणके संदेश सुनाना

प्रत्याश्वस्तो यदा राजा मोहात् प्रत्यागतस्मृतिः।
तदाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

मूर्च्छा दूर होनेपर जब राजाको चेत हुआ तब सुस्थिर चित्त होकर उन्होंने श्रीरामका वृत्तान्त सुननेके लिये सारथि सुमन्त्रको सामने बुलाया ॥ १ ॥

तदा सूतो महाराजं कृताञ्जलिरुपस्थितः।
राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

उस समय सुमन्त्र श्रीरामके ही शोक और चिन्तामें निरन्तर डूबे रहनेवाले दुःख-शोकसे व्याकुल महाराज दशरथके पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २ ॥

वृद्धं परमसंतप्तं नवग्रहमिव द्विपम्।
विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तमस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥ ३ ॥
राजा तु रजसा सूतं ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम्।
अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

जैसे जंगलसे तुरंत पकड़कर लाया हुआ हाथी अपने यूथपति गजराजका चिन्तन करके लंबी साँस खींचता और अत्यन्त संतप्त तथा अस्वस्थ हो जाता है, उसी प्रकार बूढ़े राजा दशरथ श्रीरामके लिये अत्यन्त संतप्त हो लंबी साँस खींचकर उन्हींका ध्यान करते हुए अस्वस्थ-से हो गये थे। राजाने देखा, सारथिका सारा शरीर धूलसे भर गया है। यह सामने खड़ा है। इसके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही है और यह अत्यन्त दीन दिखायी देता है। उस अवस्थामें राजाने अत्यन्त आर्त होकर उससे पूछा—॥ ३-४ ॥

क नु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः।
सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥

'सूत ! धर्मात्मा श्रीराम वृक्षकी जड़का सहारा ले कहाँ निवास करेंगे ? जो अत्यन्त सुखमें पले थे, वे मेरे लाड़ले राम वहाँ क्या खायेंगे ? ॥ ५ ॥

दुःखस्यानुचितो दुःखं सुमन्त्र शयनोचितः।
भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥

'सुमन्त्र ! जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन्हीं श्रीरामको भारी दुःख प्राप्त हुआ है। जो राजोचित शय्यापर शयन करनेयोग्य हैं, वे राजकुमार श्रीराम अनाथकी भाँति भूमिपर कैसे सोते होंगे ? ॥ ६ ॥

यं यान्तमनुयान्ति स्म पदातिरथकुञ्जराः ।
स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥

'जिनके यात्रा करते समय पीछे-पीछे पैदलों, रथियों और हाथीसवारोंकी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम निर्जन वनमें पहुँचकर वहाँ कैसे निवास करेंगे ? ॥ ७ ॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् ।
कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपाश्रितौ ॥ ८ ॥

'जहाँ अजगर और व्याघ्र-सिंह आदि हिंसक पशु विचरते हैं तथा काले सर्प जिसका सेवन करते हैं, उसी वनका आश्रय लेनेवाले मेरे दोनों कुमार सीताके साथ वहाँ कैसे रहेंगे ? ॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया ।
राजपुत्रौ कथं पादैरवरुह्य रथाद् गतौ ॥ ९ ॥

'सुमन्त्र ! परम सुकुमारी तपस्विनी सीताके साथ वे दोनों राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण रथसे उतरकर पैदल कैसे गये होंगे ? ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।
वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम् ॥ १० ॥

'सारथे ! तुम कृतकृत्य हो गये; क्योंकि जैसे दोनों अश्विनीकुमार मन्दराचलके वनमें जाते हैं, उसी प्रकार वनके भीतर प्रवेश करते हुए मेरे दोनों पुत्रोंको तुमने अपनी आँखोंसे देखा है ? ॥ १० ॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।
सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥

सुमन्त्र ! वनमें पहुँचकर श्रीरामने तुमसे क्या कहा ? लक्ष्मणने भी क्या कहा ? तथा मिथिलेशकुमारी सीताने क्या संदेश दिया ? ॥ ११ ॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।
जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥

'सूत ! तुम श्रीरामके बैठने, सोने और खाने-पीनेसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें बताओ । जैसे स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययाति सत्पुरुषोंके बीचमें उपस्थित होनेपर सत्संगके प्रभावसे पुनः सुखी हो गये थे, उसी प्रकार तुम-जैसे साधुपुरुषके मुखसे पुत्रका वृत्तान्त सुननेसे मैं सुखपूर्वक जीवन धारण कर सकूँगा' ॥

इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया ।
उवाच वाचा राजानं स बाष्पपरिबद्धया ॥ १३ ॥

महाराजके इस प्रकार पूछनेपर सारथि सुमन्त्रने आँसुओंसे रुँधी हुई गद्गद वाणीद्वारा उनसे कहा— ॥ १३ ॥

अब्रवीन्मे महाराज धर्ममेवानुपालयन् ।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥ १४ ॥
सूत मद्वचनात् तस्य तातस्य विदितात्मनः ।
शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ पादौ महात्मनः ॥ १५ ॥
सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात् त्वया ।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम् ॥ १६ ॥

'महाराज ! श्रीरामचन्द्रजीने धर्मका ही निरन्तर पालन करते हुए दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर कहा है— सूत ! तुम मेरी ओरसे आत्मज्ञानी तथा वन्दनीय मेरे महात्मा पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम कहना तथा अन्तःपुरमें सभी माताओंको मेरे आरोग्यका समाचार देते हुए उनसे विशेषरूपसे मेरा यथोचित प्रणाम निवेदन करना ॥ १४—१६ ॥

माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् ।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः ॥ १७ ॥
धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव ।
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय ॥ १८ ॥

'इसके बाद मेरी माता कौसल्यासे मेरा प्रणाम करके बताना कि 'मैं कुशलसे हूँ और धर्मपालनमें सावधान रहता हूँ ।' फिर उनको मेरा यह संदेश सुनाना कि 'माँ ! तुम सदा धर्ममें तत्पर रहकर यथासमय अग्निशालाके सेवन (अग्निहोत्र-कार्य) में संलग्न रहना । देवि ! महाराजको देवताके समान मानकर उनके चरणोंकी सेवा करना ॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु ।
अनुराजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय ॥ १९ ॥

'अभिमान[1] और मान[2]को त्यागकर सभी माताओंके प्रति समान बर्ताव करना—उनके साथ हिल-मिलकर रहना । अम्ब ! जिसमें राजाका अनुराग है, उस कैकेयीको भी श्रेष्ठ मानकर उसका सत्कार करना ॥ १९ ॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् ।
अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥

'कुमार भरतके प्रति राजोचित बर्ताव करना । राजा छोटी उम्रके हों तो भी वे आदरणीय ही होते हैं—इस राजधर्मको याद रखना' ॥ २० ॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च ।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥ २१ ॥

'कुमार भरतसे भी मेरा कुशल-समाचार बताकर उनसे मेरी ओरसे कहना—'भैया ! तुम सभी माताओंके प्रति न्यायोचित बर्ताव करते रहना ॥ २१ ॥

वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥

'इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महाबाहु भरतसे यह भी कहना चाहिये कि युवराजपदपर अभिषिक्त होनेके बाद भी तुम राज्यसिंहासनपर विराजमान पिताजीकी रक्षा एवं सेवामें संलग्न रहना ॥ २२ ॥

---

१. मुख्य पटरानी होनेका अहङ्कार । २. अपने बड़प्पनके घमंडमें आकर दूसरोंके तिरस्कार करनेकी भावना ।

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः।
कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

'राजा बहुत बूढ़े हो गये हैं—ऐसा मानकर तुम उनका विरोध न करना—उन्हें राजसिंहासनसे न उतारना। युवराज-पदपर ही प्रतिष्ठित रहकर उनकी आज्ञाका पालन करते हुए ही जीवन-निर्वाह करना ॥ २३ ॥

अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन्।
मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥
इत्येवं मां महाबाहुर्ब्रुवन्नेव महायशाः।
रामो राजीवपत्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥

'फिर उन्होंने नेत्रोंसे बहुत आँसू बहाते हुए मुझसे भरतसे कहनेके लिये ही यह संदेश दिया—'भरत ! मेरी पुत्रवत्सला माताको अपनी ही माताके समान समझना।' मुझसे इतना ही कहकर महाबाहु महायशस्वी कमलनयन श्रीराम बड़े वेगसे आँसुओंकी वर्षा करने लगे ॥ २४-२५ ॥

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निःश्वसन् वाक्यमब्रवीत्।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

'परंतु लक्ष्मण उस समय अत्यन्त कुपित हो लंबी साँस खींचते हुए बोले—'सुमन्त्रजी ! किस अपराधके कारण महाराजने इन राजकुमार श्रीरामको देशनिकाला दे दिया है ?॥

राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघु चाश्रुत्य शासनम्।
कृतं कार्यमकार्यं वा वयं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

'राजाने कैकेयीका आदेश सुनकर झटसे उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। उनका यह कार्य उचित हो या अनुचित, परंतु हमलोगोंको उसके कारण कष्ट भोगना ही पड़ता है ॥

यदि प्रव्राजितो रामो लोभकारणकारितम्।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

'श्रीरामको वनवास देना कैकेयीके लोभके कारण हुआ हो अथवा राजाके दिये हुए वरदानके कारण, मेरी दृष्टिमें यह सर्वथा पाप ही किया गया है ॥ २८ ॥

इदं तावद् यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम्।
रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥ २९ ॥

'यह श्रीरामको वनवास देनेका कार्य राजाकी स्वेच्छाचारिताके कारण किया गया हो अथवा ईश्वरकी प्रेरणासे; परंतु मुझे श्रीरामके परित्यागका कोई समुचित कारण नहीं दिखायी देता है ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात्।
जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥

'बुद्धिकी कमी अथवा तुच्छताके कारण उचित-अनुचितका विचार किये बिना ही जो यह राम-वनवासरूपी शास्त्रविरुद्ध कार्य आरम्भ किया गया है, यह अवश्य ही निन्दा और दुःखका जनक होगा ॥ ३० ॥

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

'मुझे इस समय महाराजमें पिताका भाव नहीं दिखायी देता। अब तो रघुकुलनन्दन श्रीराम ही मेरे भाई, स्वामी, बन्धु-बान्धव तथा पिता हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम्।
सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं चानेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

'जो सम्पूर्ण लोकोंके हितमें तत्पर होनेके कारण सब लोगोंके प्रिय हैं, उन श्रीरामका परित्याग करके राजाने जो यह क्रूरतापूर्ण पापकृत किया है, इसके कारण अब सारा संसार उनमें कैसे अनुरक्त रह सकता है ? (अब उनमें राजोचित गुण कहाँ रह गया है ?) ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम्।
सर्वलोकविरोधेन कथं राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

'जिनमें समस्त प्रजाका मन रमता है, उन धर्मात्मा श्रीरामको देशनिकाला देकर समस्त लोकोंका विरोध करनेके कारण अब वे कैसे राजा हो सकेंगे ? ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती तपस्विनी।
भूतोपहतचित्तेव विष्ठिता विस्मृता स्थिता ॥ ३४ ॥

'महाराज ! तपस्विनी जनकनन्दिनी सीता तो लम्बी साँस खींचती हुई इस प्रकार निश्चेष्ट खड़ी थीं; मानो उनमें किसी भूतका आवेश हो गया हो। वे भूली-सी जान पड़ती थीं ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी।
तेन दुःखेन रुदती नैव मां किंचिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

'उन यशस्विनी राजकुमारीने पहले कभी ऐसा संकट नहीं देखा था। वे पतिके ही दुःखसे दुखी होकर रो रही थीं। उन्होंने मुझसे कुछ भी नहीं कहा ॥ ३५ ॥

उद्वीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता।
मुमोच सहसा बाष्पं प्रयान्तमुपवीक्ष्य सा ॥ ३६ ॥

'मुझे इधर आनेके लिये उद्यत देख वे सूखे मुँहसे पतिकी ओर देखती हुई सहसा आँसू बहाने लगी थीं ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः
स्थितोऽब्रवील्लक्ष्मणबाहुपालितः।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी
निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥

'इस प्रकार लक्ष्मणकी भुजाओंसे सुरक्षित श्रीराम उस समय हाथ जोड़े खड़े थे। उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह रही थी। मनस्विनी सीता भी रोती हुई कभी आपके इस रथकी ओर देखती थीं और कभी मेरी ओर' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टपञ्चाशः सर्गः ॥ ५८ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

एकोनषष्टितमः सर्गः

सुमन्त्रद्वारा श्रीरामके शोकसे जड-चेतन एवं अयोध्यापुरीकी दुरवस्थाका वर्णन तथा राजा दशरथका विलाप

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि।
उष्णमश्रु विमुञ्चन्तो रामे सम्प्रस्थिते वनम्॥ १॥
उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम्।
प्रस्थितो रथमास्थाय तद्दुःखमपि धारयन्॥ २॥

सुमन्त्रने कहा—'जब श्रीरामचन्द्रजी वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब मैंने उन दोनों राजकुमारोंको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनके वियोगके दुःखको हृदयमें धारण करके रथपर आरूढ़ हो उधरसे लौटा। लौटते समय मेरे घोड़े नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाने लगे। रास्ता चलनेमें उनका मन नहीं लगता था॥ १-२॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान् बहून्।
आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति॥ ३॥

'मैं गुहके साथ कई दिनोंतक वहाँ इस आशासे ठहरा रहा कि सम्भव है, श्रीराम फिर मुझे बुला लें॥ ३॥

विषये ते महाराज महाव्यसनकर्शिताः।
अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः॥ ४॥

'महाराज! आपके राज्यमें वृक्ष भी इस महान् संकटसे कृशकाय हो गये हैं, फूल, अङ्कुर और कलियोंसहित मुरझा गये हैं॥ ४॥

उपतप्तोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च।
परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च॥ ५॥

'नदियों, छोटे जलाशयों तथा बड़े सरोवरोंके जल गरम हो गये हैं। वनों और उपवनोंके पत्ते सूख गये हैं॥ ५॥

न च सर्पन्ति सत्त्वानि व्याला न प्रचरन्ति च।
रामशोकाभिभूतं तन्निष्कूजमभवद् वनम्॥ ६॥

'वनके जीव-जन्तु आहारके लिये भी कहीं नहीं जाते हैं। अजगर आदि सर्प भी जहाँ-के-तहाँ पड़े हैं, आगे नहीं बढ़ते हैं। श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुआ वह सारा वन नीरव-सा हो गया है॥ ६॥

लीनपुष्करपत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः।
संतप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनमीनविहंगमाः॥ ७॥

नदियोंके जल मलिन हो गये हैं। उनमें फैले हुए कमलोंके पत्ते गल गये हैं। सरोवरोंके कमल भी सूख गये हैं! उनमें रहनेवाले मत्स्य और पक्षी भी नष्टप्राय हो गये हैं॥ ७॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानि स्थलजानि च।
नातिभान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम्॥ ८॥

'जलमें उत्पन्न होनेवाले पुष्प तथा स्थलसे पैदा होनेवाले फूल भी बहुत थोड़ी सुगन्धसे युक्त होनेके कारण अधिक शोभा नहीं पाते हैं तथा फल भी पूर्ववत् नहीं दृष्टिगोचर होते हैं॥ ८॥

अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च।
न चाभिरामानारामान् पश्यामि मनुजर्षभ॥ ९॥

'नरश्रेष्ठ! अयोध्याके उद्यान भी सूने हो गये हैं, उनमें रहनेवाले पक्षी भी कहीं छिप गये हैं। यहाँके बगीचे भी मुझे पहलेकी भाँति मनोहर नहीं दिखायी देते हैं॥ ९॥

प्रविशन्तमयोध्यायां न कश्चिदभिनन्दति।
नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः॥ १०॥

'अयोध्यामें प्रवेश करते समय मुझसे किसीने प्रसन्न होकर बात नहीं की। श्रीरामको न देखकर लोग बारंबार लंबी साँसें खींचने लगे॥ १०॥

देव राजरथं दृष्ट्वा विना राममिहागतम्।
दूरादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गे गतो जनः॥ ११॥

'देव! सड़कपर आये हुए सब लोग राजाका रथ श्रीरामके बिना ही यहाँ लौट आया है, यह देखकर दूरसे ही आँसू बहाने लगे थे॥ ११॥

हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम्।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः॥ १२॥

'अट्टालिकाओं, विमानों और प्रासादोंपर बैठी हुई स्त्रियाँ वहाँसे रथको सूना ही लौटा देखकर श्रीरामको न देखनेके कारण व्यथित हो उठीं और हाहाकार करने लगीं॥ १२॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः स्त्रियः॥ १३॥

'उनके कज्जल आदिसे रहित बड़े-बड़े नेत्र आँसुओंके वेगमें डूबे हुए थे। वे स्त्रियाँ अत्यन्त आर्त होकर अव्यक्त भावसे एक दूसरीकी ओर देख रही थीं॥ १३॥

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च।
अहमार्ततया कंचिद् विशेषं नोपलक्षये॥ १४॥

'शत्रुओं, मित्रों तथा उदासीन (मध्यस्थ) मनुष्योंको

भी मैंने समानरूपसे दुखी देखा है। किसीके शोकमें मुझे कुछ अन्तर नहीं दिखायी दिया है ॥ १४ ॥

अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरंगमा।
आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःस्वना ॥ १५ ॥
निरानन्दा महाराज रामप्रव्राजनातुरा।
कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मे ॥ १६ ॥

'महाराज! अयोध्याके मनुष्योंका हर्ष छिन गया है। वहाँके घोड़े और हाथी भी बहुत दुखी हैं। सारी पुरी आर्तनादसे मलिन दिखायी देती है। लोगोंकी लंबी-लंबी साँसें ही इस नगरीका उच्छ्वास बन गयी हैं। यह अयोध्यापुरी श्रीरामके वनवाससे व्याकुल हुई पुत्रवियोगिनी कौसल्याकी भाँति मुझे आनन्दशून्य प्रतीत हो रही है ॥ १५-१६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा वाचा परमदीनया।
बाष्पोपहतया सूतमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमन्त्रके वचन सुनकर राजाने उनसे अश्रुगद्गद परम दीन वाणीमें कहा—॥ १७ ॥

कैकेय्या विनियुक्तेन पापाभिजनभावया।
मया न मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥

सूत! जो पापी कुल और पापपूर्ण देशमें उत्पन्न हुई है तथा जिसके विचार भी पापसे भरे हैं, उस कैकेयीके कहनेमें आकर मैंने सलाह देनेमें कुशल वृद्ध पुरुषोंके साथ बैठकर इस विषयमें कोई परामर्श भी नहीं किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः।
मयायमर्थः सम्मोहात् स्त्रीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

'सुहृदों, मन्त्रियों और वेदवेत्ताओंसे सलाह लिये बिना ही मैंने मोहवश केवल एक स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये सहसा यह अनर्थमय कार्य कर डाला है ॥ १९ ॥

भवितव्यतया नूनमिदं वा व्यसनं महत्।
कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूत यदृच्छया ॥ २० ॥

'सुमन्त्र! होनहारवश यह भारी विपत्ति निश्चय ही इस कुलका विनाश करनेके लिये अकस्मात् आ पहुँची है ॥ २० ॥

सूत यद्यस्ति ते किंचिन्मयापि सुकृतं कृतम्।
त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः संत्वरयन्ति माम् ॥ २१ ॥

'सारथे! यदि मैंने तुम्हारा कभी कुछ थोड़ा-सा भी उपकार किया हो तो तुम मुझे शीघ्र ही श्रीरामके पास पहुँचा दो। मेरे प्राण मुझे श्रीरामके दर्शनके लिये शीघ्रता करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्तयतु राघवम्।
न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

'यदि आज भी इस राज्यमें मेरी ही आज्ञा चलती हो तो तुम मेरे ही आदेशसे जाकर श्रीरामको वनसे लौटा ले आओ; क्योंकि अब मैं उनके बिना दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ २२ ॥

अथवापि महाबाहुर्गतो दूरं भविष्यति।
मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

'अथवा महाबाहु श्रीराम तो अब दूर चले गये होंगे, इसलिये मुझे ही रथपर बिठाकर ले चलो और शीघ्र ही रामका दर्शन कराओ ॥ २३ ॥

वृत्तदंष्ट्रो महेष्वासः क्वासौ लक्ष्मणपूर्वजः।
यदि जीवामि साध्वेनं पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥

'कुन्दकलीके समान श्वेत दाँतोंवाले, लक्ष्मणके बड़े भाई महाधनुर्धर श्रीराम कहाँ हैं? यदि सीताके साथ भलीभाँति उनका दर्शन कर लूँ, तभी मैं जीवित रह सकता हूँ ॥ २४ ॥

लोहिताक्षं महाबाहुमामुक्तमणिकुण्डलम्।
रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥

'जिनके लाल नेत्र और बड़ी-बड़ी भुजाएँ हैं तथा जो मणियोंके कुण्डल धारण करते हैं; उन श्रीरामको यदि मैं नहीं देखूँगा तो अवश्य यमलोकको चला जाऊँगा ॥ २५ ॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम्।
इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥

'इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या होगी कि मैं इस मरणासन्न अवस्थामें पहुँचकर भी इक्ष्वाकुकुलनन्दन राघवेन्द्र श्रीरामको यहाँ नहीं देख रहा हूँ ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनि।
न मां जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

'हा राम! हा लक्ष्मण! हा विदेहराजकुमारी तपस्विनी सीते! तुम्हें पता नहीं होगा कि मैं किस प्रकार दुःखसे अनाथकी भाँति मर रहा हूँ' ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पितचेतनः।
अवगाढः सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥ २८ ॥

राजा उस दुःखसे अत्यन्त अचेत हो रहे थे, अतः वे उस परम दुर्लङ्घ्य शोकसमुद्रमें निमग्न होकर बोले—॥ २८ ॥

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः।
श्वसितोर्मिमहावर्तो बाष्पवेगजलाविलः ॥ २९ ॥
बाहुविक्षेपमीनोऽसौ विक्रन्दितमहास्वनः।
प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥
ममाश्रुवेगप्रभवः कुब्जावाक्यमहाग्रहः।
वरवेलो नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः ॥ ३१ ॥

यस्मिन् बत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना ।
दुस्तरो जीवता देवि मयायं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

'देवि कौसल्ये ! मैं श्रीरामके बिना जिस शोक-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ, उसे जीते-जी पार करना मेरे लिये अत्यन्त कठिन है । श्रीरामका शोक ही उस समुद्रका महान् वेग है। सीताका बिछोह ही उसका दूसरा छोर है । लंबी-लंबी साँसें उसकी लहरें और बड़ी-बड़ी भवरें हैं । आँसुओंका वेगपूर्वक उमड़ा हुआ प्रवाह ही उसका मलिन जल है। मेरा हाथ पटकना ही उसमें उछलती हुई मछलियोंका विलास है । करुण-क्रन्दन ही उसकी महान् गर्जना है । ये बिखरे हुए केश ही उसमें उपलब्ध होनेवाले सेवार हैं । कैकेयी बड़वानल है । वह शोक-समुद्र मेरी वेगपूर्वक होनेवाली अश्रुवर्षाकी उत्पत्तिका मूल कारण है । मन्थराके कुटिलतापूर्ण वचन ही उस समुद्रके बड़े-बड़े ग्राह हैं । क्रूर कैकेयीके माँगे हुए दो वर ही उसके दो तट हैं तथा श्रीरामका वनवास ही उस शोकसागरका महान् विस्तार है ॥ २९—३२ ॥

अशोभनं योऽहमिहाद्य राघवं
दिदृक्षमाणो न लभे सलक्ष्मणम् ।
इतीव राजा विलपन् महायशाः
पपात तूर्णं शयने स मूर्च्छितः ॥ ३३ ॥

'मैं लक्ष्मणसहित श्रीरामको देखना चाहता हूँ, परंतु इस समय उन्हें यहाँ देख नहीं पाता हूँ—यह मेरे बहुत बड़े पापका फल है ।' इस तरह विलाप करते हुए महायशस्वी राजा दशरथ तुरंत ही मूर्च्छित होकर शय्यापर गिर पड़े ॥

इति विलपति पार्थिवे प्रणष्टे
करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः ।
वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत् पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये इस प्रकार विलाप करते हुए राजा दशरथके मूर्च्छित हो जानेपर उनके उस अत्यन्त करुणाजनक वचनको सुनकर राममाता देवी कौसल्याको पुनः दुगुना भय हो गया ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

कौसल्याका विलाप और सारथि सुमन्त्रका उन्हें समझाना

ततो भूतोपसृष्टेव वेपमाना पुनः पुनः ।
धरण्यां गतसत्त्वेव कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर जैसे उनमें भूतका आवेश हो गया हो, इस प्रकार कौसल्या देवी बारंबार काँपने लगीं और अचेत-सी होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं । उसी अवस्थामें उन्होंने सारथिसे कहा—॥ १ ॥

नय मां यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः ।
तान् विना क्षणमप्यद्य जीवितुं नोत्सहे ह्यहम् ॥ २ ॥

'सुमन्त्र ! जहाँ श्रीराम हैं, जहाँ सीता और लक्ष्मण हैं, वहाँ मुझे भी पहुँचा दो । मैं उनके बिना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती ॥ २ ॥

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान् नय मामपि ।
अथ तान् नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

'जल्दी रथ लौटाओ और मुझे भी दण्डकारण्यमें ले चलो । यदि मैं उनके पास न जा सकी तो यमलोककी यात्रा करूँगी' ॥ ३ ॥

बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया ।
इदमाश्वासयन् देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

देवी कौसल्याकी बात सुनकर सारथि सुमन्त्रने हाथ जोड़कर उन्हें समझाते हुए आँसुओंके वेगसे अवरुद्ध हुई गद्गदवाणीमें कहा—॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं दुःखजं तथा ।
व्यवधूय च संतापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

'महारानी ! यह शोक, मोह और दुःखजनित व्याकुलता छोड़िये । श्रीरामचन्द्रजी इस समय सारा संताप भूलकर वनमें निवास करते हैं ॥ ५ ॥

लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन् वने ।
आराधयति धर्मज्ञः परलोकं जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

'धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय लक्ष्मण भी उस वनमें श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंकी सेवा करते हुए अपना परलोक बना रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव ।
विस्रम्भं लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥

'सीताका मन भगवान् श्रीराममें ही लगा हुआ है । इसलिये निर्जन वनमें रहकर भी वे घरकी ही भाँति प्रेम एवं प्रसन्नता पाती तथा निर्भय रहती हैं ॥ ७ ॥

नास्या दैन्यं कृतं किंचित् सुसूक्ष्ममपि लक्ष्यते।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे ॥ ८ ॥

'वनमें रहनेके कारण उनके मनमें कुछ थोड़ा-सा भी दुःख नहीं दिखायी देता। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो विदेहराजकुमारी सीताको परदेशमें रहनेका पहलेसे ही अभ्यास हो ॥ ८ ॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

'जैसे यहाँ नगरके उपवनमें जाकर वे पहले घूमा करती थीं, उसी प्रकार निर्जन वनमें भी सीता सानन्द विचरती हैं ॥ ९ ॥

बालेव रमते सीता बालचन्द्रनिभानना।
रामा रामे ह्यदीनात्मा विजनेऽपि वने सती ॥ १० ॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली रमणीशिरोमणि उदारहृदया सती-साध्वी सीता उस निर्जन वनमें भी श्रीरामके समीप बालिकाके समान खेलती और प्रसन्न रहती हैं ॥ १० ॥

तद्गतं हृदयं यस्यास्तदधीनं च जीवितम्।
अयोध्या हि भवेदस्या रामहीना तथा वनम् ॥ ११ ॥

'उनका हृदय श्रीराममें ही लगा हुआ है। उनका जीवन भी श्रीरामके ही अधीन है, अतः रामके बिना अयोध्या भी उनके लिये वनके समान ही होगी (और श्रीरामके साथ रहनेपर वे वनमें भी अयोध्याके समान ही सुखका अनुभव करेंगी) ॥ ११ ॥

परिपृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च।
गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान् विविधानपि ॥ १२ ॥

'विदेहनन्दिनी सीता मार्गमें मिलनेवाले गाँवों, नगरों, नदियोंके प्रवाहों और नाना प्रकारके वृक्षोंको देखकर उनका परिचय पूछा करती हैं ॥ १२ ॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि दृष्ट्वा जानाति जानकी।
अयोध्या क्रोशमात्रे तु विहारमिव साश्रिता ॥ १३ ॥

'श्रीराम और लक्ष्मणको अपने पास देखकर जानकीको यही जान पड़ता है कि मैं अयोध्यासे एक कोसकी दूरीपर मानो घूमने-फिरनेके लिये ही आयी हूँ ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजल्पितम्।
कैकेयीसंश्रितं जल्पं नेदानीं प्रतिभाति माम् ॥ १४ ॥

'सीताके सम्बन्धमें मुझे इतना ही स्मरण है। उन्होंने कैकेयीको लक्ष्य करके जो सहसा कोई बात कह दी थी, वह इस समय मुझे याद नहीं आ रही है' ॥ १४ ॥

ध्वंसयित्वा तु तद् वाक्यं प्रमादात् पर्युपस्थितम्।
ह्लादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥ १५ ॥

इस प्रकार भूलसे निकली हुई कैकयीविषयक उस बातको पलटकर सारथि सुमन्त्रने देवी कौसल्याके हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाला मधुर वचन कहा— ॥ १५ ॥

अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन च।
न विगच्छति वैदेह्याश्चन्द्रांशुसदृशी प्रभा ॥ १६ ॥

'मार्गमें चलनेकी थकावट, वायुके वेग, भयदायक वस्तुओंको देखनेके कारण होनेवाली घबराहट तथा धूपसे भी विदेहराजकुमारीकी चन्द्रकिरणोंके समान कमनीय कान्ति उनसे दूर नहीं होती है ॥ १६ ॥

सदृशं शतपत्रस्य पूर्णचन्द्रोपमप्रभम्।
वदनं तद् वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥

'उदारहृदया सीताका विकसित कमलके समान सुन्दर तथा पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्ददायक कान्तिसे युक्त मुख कभी मलिन नहीं होता है ॥ १७ ॥

अलक्तरसरक्ताभावलक्तरसवर्जितौ।
अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

'जिनमें महावरके रंग नहीं लग रहे हैं, सीताके वे दोनों चरण आज भी महावरके समान ही लाल तथा कमलकोशके समान कान्तिमान् हैं ॥ १८ ॥

नूपुरोत्कृष्टलीलेव खेलं गच्छति भामिनी।
इदानीमपि वैदेही तद्रागान्न्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके प्रति अनुरागके कारण उन्हींकी प्रसन्नताके लिये जिन्होंने आभूषणोंका परित्याग नहीं किया है, वे विदेहराजकुमारी भामिनी सीता इस समय भी अपने नूपुरोंकी झनकारसे हंसोंके कलनादका तिरस्कार-सा करती हुई लीलाविलासयुक्त गतिसे चलती हैं ॥ १९ ॥

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता।
नाहारयति संत्रासं बाहू रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

'वे श्रीरामचन्द्रजीके बाहुबलका भरोसा करके वनमें रहती हैं और हाथी, बाघ अथवा सिंहको भी देखकर कभी भय नहीं मानती हैं ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मा ते शोच्यो नापि जनाधिपः।
इदं हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

'अतः आप श्रीराम, लक्ष्मण अथवा सीताके लिये शोक न करें, अपने और महाराजके लिये भी चिन्ता छोड़ें। श्रीरामचन्द्रजीका यह पावन चरित्र संसारमें सदा ही स्थिर रहेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा
महर्षियाते पथि सुव्यवस्थिताः।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः
शुभां प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

'वे तीनों ही शोक छोड़कर प्रसन्नचित्त हो महर्षियोंके मार्गपर दृढ़तापूर्वक स्थित हैं और वनमें रहकर फल-मूलका भोजन करते हुए पिताकी उत्तम प्रतिज्ञाका पालन कर रहे हैं' ॥ २२ ॥

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना
निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।
न चैव देवी विरराम कूजितात्
प्रियेति पुत्रेति च राघवेति च ॥ २३ ॥

इस प्रकार युक्तियुक्त वचन कहकर सारथि सुमन्त्रने पुत्रशोकसे पीड़ित हुई कौसल्याको चिन्ता करने और रोनेसे रोका तो भी देवी कौसल्या विलापसे विरत न हुईं । वे 'हा प्यारे !' 'हा पुत्र !' और 'हा रघुनन्दन !' की रट लगाती हुई करुणक्रन्दन करती ही रहीं ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

कौसल्याका विलापपूर्वक राजा दशरथको उपालम्भ देना

वनं गते धर्मरते रामे रमयतां वरे ।
कौसल्या रुदती चार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

प्रजाजनोंको आनन्द प्रदान करनेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ धर्मपरायण श्रीरामके वनमें चले जानेपर आर्त होकर रोती हुई कौसल्याने अपने पतिसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महद् यशः ।
सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

'महाराज ! यद्यपि तीनों लोकोंमें आपका महान् यश फैला हुआ है—सब लोग यही जानते हैं कि रघुकुलनरेश दशरथ बड़े दयालु, उदार और प्रिय वचन बोलनेवाले हैं ॥ २ ॥

कथं नरवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।
दुःखितौ सुखसंवृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

'नरेशोंमें श्रेष्ठ आर्यपुत्र ! तथापि आपने इस बातका विचार नहीं किया कि सुखमें पले हुए आपके वे दोनों पुत्र सीताके साथ वनवासका कष्ट कैसे सहन करेंगे ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी श्यामा सुकुमारी सुखोचिता ।
कथमुष्णं च शीतं च मैथिली विसहिष्यते ॥ ४ ॥

'वह सोलह-अठारह वर्षोंकी सुकुमारी तरुणी मिथिलेश-कुमारी सीता, जो सुख भोगनेके ही योग्य है, वनमें सर्दी-गरमीका दुःख कैसे सहेगी ? ॥ ४ ॥

भुक्त्वाशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं शुभम् ।
वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

'विशाललोचना सीता सुन्दर व्यञ्जनोंसे युक्त सुन्दर स्वादिष्ट अन्न भोजन किया करती थी, अब वह जंगलकी तिन्नीके चावलका सूखा भात कैसे खायगी ? ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषं श्रुत्वा शुभसमन्विता ।
कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥

'जो माङ्गलिक वस्तुओंसे सम्पन्न रहकर सदा गीत और वाद्यकी मधुर ध्वनि सुना करती थी, वही जंगलमें मांसभक्षी सिंहोंका अशोभन (अमङ्गलकारी) शब्द कैसे सुन सकेगी ? ॥ ६ ॥

महेन्द्रध्वजसंकाशः क्व नु शेते महाभुजः ।
भुजं परिघसंकाशमुपाधाय महाबलः ॥ ७ ॥

'जो इन्द्रध्वजके समान समस्त लोकोंके लिये उत्सव प्रदान करनेवाले थे, वे महाबली, महाबाहु श्रीराम अपनी परिघ-जैसी मोटी बाँहका तकिया लगाकर कहाँ सोते होंगे ? ॥ ७ ॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।
कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

'जिसकी कान्ति कमलके समान है, जिसके ऊपर सुन्दर केश शोभा पाते हैं, जिसकी प्रत्येक साँससे कमलकी-सी सुगन्ध निकलती है तथा जिसमें विकसित कमलके सदृश सुन्दर नेत्र सुशोभित होते हैं, श्रीरामके उस मनोहर मुखको मैं कब देखूँगी ? ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदयं मे न संशयः ।
अपश्यन्त्या न तं यद् वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

'मेरा हृदय निश्चय ही लोहेका बना हुआ है, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि श्रीरामको न देखनेपर भी मेरे इस हृदयके सहस्रों टुकड़े नहीं हो जाते हैं ॥ ९ ॥

यत् त्वया करुणं कर्म व्यपोह्य मम बान्धवाः ।
निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

'आपने यह बड़ा ही निर्दयतापूर्ण कर्म किया है कि बिना कुछ सोच-विचार किये मेरे बान्धवोंको (कैकेयीके कहनेसे) निकाल दिया है, जिसके कारण वे सुख भोगनेके योग्य होनेपर भी दीन होकर वनमें दौड़ रहे हैं ॥ १० ॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।
जह्याद् राज्यं च कोशं च भरतो नोपलक्ष्यते ॥ ११ ॥

'यदि पंद्रहवें वर्षमें श्रीरामचन्द्र पुनः वनसे लौटें तो भरत उनके लिये राज्य और खजाना छोड़ देंगे, ऐसी सम्भावना नहीं दिखायी देती ॥ ११ ॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित् स्वानेव बान्धवान् ।
ततः पश्चात् समीक्षन्ते कृतकार्या द्विजोत्तमान् ॥ १२ ॥
तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः ।
न पश्चात् तेऽभिमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः ॥ १३ ॥

'कहते हैं, कुछ लोग श्राद्धमें पहले अपने बान्धवों (दौहित्र आदि) को ही भोजन करा देते हैं, उसके बाद कृतकृत्य होकर निमन्त्रित श्रेष्ठ ब्राह्मणोंकी ओर ध्यान देते हैं। परंतु वहाँ जो गुणवान् एवं विद्वान् देवतुल्य उत्तम ब्राह्मण होते हैं, वे पीछे अमृत भी परोसा गया हो तो उसको स्वीकार नहीं करते हैं ॥ १२-१३ ॥

ब्राह्मणेष्वपि वृत्तेषु भुक्तशेषं द्विजोत्तमाः ।
नाभ्युपेतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः ॥ १४ ॥

'यद्यपि पहली पंक्तिमें भी ब्राह्मण ही भोजन करके उठे होते हैं, तथापि जो श्रेष्ठ और विद्वान् ब्राह्मण हैं, वे अपमानके भयसे उस भुक्तशेष अन्नको उसी तरह ग्रहण नहीं कर पाते जैसे अच्छे बैल अपने सींग कटानेको नहीं तैयार होते हैं ॥ १४ ॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशाम्पते ।
भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमन्यते ॥ १५ ॥

'महाराज ! इसी प्रकार ज्येष्ठ और श्रेष्ठ भ्राता अपने छोटे भाईके भोगे हुए राज्यको कैसे ग्रहण करेंगे? वे उसका तिरस्कार (त्याग) क्यों नहीं कर देंगे ? ॥ १५ ॥

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः खादितुमिच्छति ।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं न मंस्यते ॥ १६ ॥

'जैसे बाघ गीदड़ आदि दूसरे जन्तुओंके लाये या खाये हुए भक्ष्य पदार्थ (शिकार) को खाना नहीं चाहता, इसी प्रकार पुरुषसिंह श्रीराम दूसरोंके चाटे (भोगे) हुए राज्य-भोगको नहीं स्वीकार करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुरोडाशाः कुशा यूपाश्च खादिराः ।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

'हविष्य, घृत, पुरोडाश, कुश और खदिर (खैर) के यूप—ये एक यज्ञके उपयोगमें आ जानेपर 'यातयाम' (उपभुक्त) हो जाते हैं; इसलिये विद्वान् इनका फिर दूसरे यज्ञमें उपयोग नहीं करते हैं ॥ १७ ॥

तथा ह्यात्तमिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव ।
नाभिमन्तुमलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

'इसी प्रकार निःसार सुरा और भुक्तावशिष्ट यज्ञसम्बन्धी सोमरसकी भाँति इस भोगे हुए राज्यको श्रीराम नहीं ग्रहण कर सकते ॥ १८ ॥

नैवंविधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।
बलवानिव शार्दूलो बालधेरभिमर्शनम् ॥ १९ ॥

'जैसे बलवान् शेर किसीके द्वारा अपनी पूँछका पकड़ा जाना नहीं सह सकता, उसी प्रकार श्रीराम ऐसे अपमानको नहीं सह सकेंगे ॥ १९ ॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युर्महामृधे ।
अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

'समस्त लोक एक साथ होकर यदि महासमरमें आ जायँ तो भी वे श्रीरामचन्द्रजीके मनमें भय उत्पन्न नहीं कर सकते, तथापि इस तरह राज्य लेनेमें अधर्म मानकर उन्होंने इसपर अधिकार नहीं किया। जो धर्मात्मा समस्त जगत्को धर्ममें लगाते हैं, वे स्वयं अधर्म कैसे कर सकते हैं ? ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैर्बाणैर्महावीर्यो महाभुजः ।
युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥

'वे महापराक्रमी महाबाहु श्रीराम अपने सुवर्णभूषित बाणोंद्वारा सारे समुद्रोंको भी उसी प्रकार दग्ध कर सकते हैं, जैसे संवर्तक अग्निदेव प्रलयकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालते हैं ॥ २१ ॥

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।
स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥

'सिंहके समान बल और बैलके समान बड़े-बड़े नेत्र-वाला वैसा नरश्रेष्ठ वीर पुत्र स्वयं अपने पिताके ही हाथों-द्वारा मारा गया (राज्यसे वञ्चित कर दिया गया)। ठीक उसी तरह, जैसे मत्स्यका बच्चा अपने पिता मत्स्यके द्वारा ही खा लिया जाता है ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रे दृष्टः सनातनैः ।
यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥

'आपके द्वारा धर्मपरायण पुत्रको देशनिकाला दे दिया गया, अतः यह प्रश्न उठता है कि सनातन ऋषियोंने वेदमें जिसका साक्षात्कार किया है तथा श्रेष्ठ द्विज जिसे अपने आचरणमें लाये हैं, वह धर्म आपकी दृष्टिमें सत्य है या नहीं ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।
तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ॥ २४ ॥

'राजन् ! नारीके लिये एक सहारा उसका पति है, दूसरा उसका पुत्र है तथा तीसरा सहारा उसके पिता, भाई आदि बन्धु-बान्धव हैं, चौथा कोई सहारा उसके लिये नहीं है ॥ २४ ॥

तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाहितः ।
न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हता त्वया ॥ २५ ॥

'इन सहारोंमेंसे आप तो मेरे हैं ही नहीं (क्योंकि आप सौतके अधीन हैं)। दूसरा सहारा श्रीराम हैं, जो वनमें भेज दिये गये (और बन्धु-बान्धव भी दूर हैं। अतः तीसरा सहारा भी नहीं रहा)। आपकी सेवा छोड़कर मैं श्रीरामके पास वनमें जाना नहीं चाहती हूँ, इसलिये सर्वथा आपके द्वारा मारी ही गयी ॥ २५ ॥

हतं त्वया राष्ट्रमिदं सराज्यं
हताः स्म सर्वाः सह मन्त्रिभिश्च ।
हता सपुत्रास्मि हताश्च पौराः
सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

'आपने श्रीरामको वनमें भेजकर इस राष्ट्रका तथा आस-पासके अन्य राज्योंका भी नाश कर डाला, मन्त्रियोंसहित सारी प्रजाका वध कर डाला। आपके द्वारा पुत्रसहित मैं भी मारी गयी और इस नगरके निवासी भी नष्टप्राय हो गये। केवल आपके पुत्र भरत और पत्नी कैकेयी दो ही प्रसन्न हुए हैं' ॥ २६ ॥

इमां गिरं दारुणशब्दसंहितां
निशम्य रामेति मुमोह दुःखितः ।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः
स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तथास्मरत् ॥ २७ ॥

कौसल्याकी यह कठोर शब्दोंसे युक्त वाणी सुनकर राजा दशरथको बड़ा दुःख हुआ। वे 'हा राम!' कहकर मूर्च्छित हो गये। राजा शोकमें डूब गये। फिर उसी समय उन्हें अपने एक पुराने दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जिसके कारण उन्हें यह दुःख प्राप्त हुआ था ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः ॥ ६१ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमः सर्गः

दुखी हुए राजा दशरथका कौसल्याको हाथ जोड़कर मनाना और कौसल्याका उनके चरणोंमें पड़कर क्षमा माँगना

एवं तु क्रुद्धया राजा राममात्रा सशोकया ।
श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

शोकमग्न हो कुपित हुई श्रीराममाता कौसल्याने जब राजा दशरथको इस प्रकार कठोर वचन सुनाया, तब वे दुःखित होकर बड़ी चिन्तामें पड़ गये ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मोहव्याकुलितेन्द्रियः ।
अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परंतपः ॥ २ ॥

चिन्तित होनेके कारण राजाकी सारी इन्द्रियाँ मोहसे आच्छन्न हो गयीं। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा दशरथको चेत हुआ ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।
कौसल्यां पार्श्वतो दृष्ट्वा ततश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

होशमें आनेपर उन्होंने गरम-गरम लंबी साँस ली और कौसल्याको बगलमें बैठी हुई देख वे फिर चिन्तामें पड़ गये ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात् कर्म दुष्कृतम् ।
यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

चिन्तामें पड़े-पड़े ही उन्हें अपने एक दुष्कर्मका स्मरण हो आया, जो इन शब्दवेधी बाण चलानेवाले नरेशके द्वारा पहले अनजानमें बन गया था ॥ ४ ॥

अमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः ।
द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामभितप्यते ॥ ५ ॥

उस शोकसे तथा श्रीरामके शोकसे भी राजाके मनमें बड़ी वेदना हुई। उन दोनों ही शोकोंसे महाराज संतप्त होने लगे ॥ ५ ॥

दह्यमानस्तु शोकाभ्यां कौसल्यामाह दुःखितः ।
वेपमानोऽञ्जलिं कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

उन दोनों शोकोंसे दग्ध होते हुए दुखी राजा दशरथ नीचे मुँह किये थर-थर काँपने लगे और कौसल्याको मनानेके लिये हाथ जोड़कर बोले—॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाञ्जलिः ।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

'कौसल्ये! मैं तुमसे निहोरा करता हूँ, तुम प्रसन्न हो जाओ। देखो, मैंने ये दोनों हाथ जोड़ लिये हैं। तुम तो दूसरोंपर भी सदा वात्सल्य और दया दिखानेवाली हो (फिर मेरे प्रति क्यों कठोर हो गयीं ?) ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान् निर्गुणोऽपि वा ।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥ ८ ॥

'देवि ! पति गुणवान् हो या गुणहीन, धर्मका विचार करनेवाली सती नारियोंके लिये वह प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा ।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

'तुम तो सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाली और लोकमें भले-बुरेको समझनेवाली हो । यद्यपि तुम भी दुःखित हो तथापि मैं भी महान् दुःखमें पड़ा हुआ हूँ; अतः तुम्हें मुझसे कठोर वचन नहीं कहना चाहिये' ॥ ९ ॥

तद् वाक्यं करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम् ।
कौसल्या व्यसृजद् बाष्पं प्रणालीव नवोदकम् ॥ १० ॥

दुखी हुए राजा दशरथके मुखसे कहे गये उस करुणाजनक वचनको सुनकर कौसल्या अपने नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं, मानो छतकी नालीसे नूतन (वर्षाका) जल गिर रहा हो ॥ १० ॥

सा मूर्ध्नि बद्ध्वा रुदती राज्ञः पद्ममिवाञ्जलिम् ।
सम्भ्रमादब्रवीत् त्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः ॥ ११ ॥

वे अधर्मके भयसे रो पड़ीं और राजाके जुड़े हुए कमलसदृश हाथोंको अपने सिरसे सटाकर घबराहटके कारण शीघ्रतापूर्वक एक-एक अक्षरका उच्चारण करती हुई बोलीं—॥ ११ ॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते ।
याचितासि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया ॥ १२ ॥

'देव ! मैं आपके सामने पृथ्वीपर पड़ी हूँ । आपके चरणोंमें मस्तक रखकर याचना करती हूँ, आप प्रसन्न हों । यदि आपने उलटे मुझसे ही याचना की, तब तो मैं मारी गयी । मुझसे अपराध हुआ हो तो भी मैं आपसे क्षमा पानेके योग्य हूँ, प्रहार पानेके नहीं ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

'पति अपनी स्त्रीके लिये इहलोक और परलोकमें भी स्पृहणीय है । इस जगत्में जो स्त्री अपने बुद्धिमान् पतिके द्वारा मनायी जाती है, वह कुल-स्त्री कहलानेके योग्य नहीं है ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

'धर्मज्ञ महाराज ! मैं स्त्री-धर्मको जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि आप सत्यवादी हैं । इस समय मैंने जो कुछ भी न कहने योग्य बात कह दी है, वह पुत्रशोकसे पीड़ित होनेके कारण मेरे मुखसे निकल गयी है ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥

'शोक धैर्यका नाश कर देता है । शोक शास्त्रज्ञानको भी लुप्त कर देता है तथा शोक सब कुछ नष्ट कर देता है; अतः शोकके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोढुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।
सोढुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥

'शत्रुके हाथसे अपने ऊपर पड़ा हुआ शस्त्रोंका प्रहार सह लिया जा सकता है; परंतु दैववश प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी शोक नहीं सहा जा सकता ॥ १६ ॥

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽत्र गण्यते ।
यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥ १७ ॥

'श्रीरामको वनमें गये आज पाँच रातें बीत गयीं । मैं यही गिनती रहती हूँ । शोकने मेरे हर्षको नष्ट कर दिया है, अतः ये पाँच रात मेरे लिये पाँच वर्षोंके समान प्रतीत हुई हैं ॥ १७ ॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते ।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥ १८ ॥

'श्रीरामका ही चिन्तन करनेके कारण मेरे हृदयका यह शोक बढ़ता जा रहा है, जैसे नदियोंके वेगसे समुद्रका जल बहुत बढ़ जाता है' ॥ १८ ॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौसल्यायाः शुभं वचः ।
मन्दरश्मिरभूत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १९ ॥
अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौसल्यया नृपः ।
शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ॥ २० ॥

कौसल्या इस प्रकार शुभ वचन कह ही रही थीं कि सूर्यकी किरणें मन्द पड़ गयीं और रात्रिकाल आ पहुँचा । देवी कौसल्याकी इन बातोंसे राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई । साथ ही वे श्रीरामके शोकसे भी पीड़ित थे । इस हर्ष और शोककी अवस्थामें उन्हें नींद आ गयी ॥ १९-२० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका शोक और उनका कौसल्यासे अपने द्वारा मुनिकुमारके मारे जानेका प्रसङ्ग सुनाना

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः ।
अथ राजा दशरथः स चिन्तामभ्यपद्यत ॥ १ ॥

राजा दशरथ दो ही घड़ीके बाद फिर जाग उठे । उस समय उनका हृदय शोकसे व्याकुल हो रहा था । वे मन-ही-मन चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद् वासवोपमम्।
आपेदे उपसर्गस्तं तमः सूर्यमिवासुरम्॥ २॥

श्रीराम और लक्ष्मणके वनमें चले जानेसे इन इन्द्र-तुल्य तेजस्वी महाराज दशरथको शोकने उसी प्रकार धर दबाया था, जैसे राहुका अन्धकार सूर्यको ढक देता है॥ २॥

सभार्ये हि गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः।
विवक्षुरसितापाङ्गीं स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः॥ ३॥

पत्नीसहित श्रीरामके वनमें चले जानेपर कोसलनरेश दशरथने अपने पुरातन पापका स्मरण करके कजरारे नेत्रोंवाली कौसल्यासे कहनेका विचार किया॥ ३॥

स राजा रजनीं षष्ठीं रामे प्रव्राजिते वनम्।
अर्धरात्रे दशरथः सोऽस्मरद् दुष्कृतं कृतम्॥ ४॥

उस समय श्रीरामचन्द्रजीको वनमें गये छठी रात बीत रही थी। जब आधी रात हुई, तब राजा दशरथको उस पहलेके किये हुए दुष्कर्मका स्मरण हुआ॥ ४॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

पुत्रशोकसे पीड़ित हुए महाराजने अपने उस दुष्कर्मको याद करके पुत्रशोकसे व्याकुल हुई कौसल्यासे इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ ५॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाशुभम्।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः॥ ६॥

'कल्याणि! मनुष्य शुभ या अशुभ जो भी कर्म करता है, भद्रे! अपने उसी कर्मके फलस्वरूप सुख या दुःख कर्ताको प्राप्त होते हैं॥ ६॥

गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम्।
दोषं वा यो न जानाति स बाल इति होच्यते॥ ७॥

'जो कर्मोंका आरम्भ करते समय उनके फलोंकी गुरुता या लघुताको नहीं जानता, उनसे होनेवाले लाभरूपी गुण अथवा हानिरूपी दोषको नहीं समझता, वह मनुष्य बालक (मूर्ख) कहा जाता है॥ ७॥

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे॥ ८॥

'कोई मनुष्य पलाशका सुन्दर फूल देखकर मन-ही-मन यह अनुमान करके कि इसका फल और भी मनोहर तथा सुस्वादु होगा, फलकी अभिलाषासे आमके बगीचेको काटकर वहाँ पलाशके पौदे लगाता और सींचता है, वह फल लगनेके समय पश्चात्ताप करता है (क्योंकि उससे अपनी आशाके अनुरूप फल वह नहीं पाता है)॥ ८॥

अविज्ञाय फलं यो हि कर्म त्वेवानुधावति।
स शोचेत् फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः॥ ९॥

'जो क्रियमाण कर्मके फलका ज्ञान या विचार न करके केवल कर्मकी ओर ही दौड़ता है, उसे उसका फल मिलनेके समय उसी तरह शोक होता है, जैसा कि आम काटकर पलाश सींचनेवालेको हुआ करता है॥ ९॥

सोऽहमाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम्।
रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः॥ १०॥

'मैंने भी आमका वन काटकर पलाशोंको ही सींचा है, इस कर्मके फलकी प्राप्तिके समय अब श्रीरामको खोकर मैं पश्चात्ताप कर रहा हूँ। मेरी बुद्धि कैसी खोटी है!॥ १०॥

लब्धशब्देन कौसल्ये कुमारेण धनुष्मता।
कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम्॥ ११॥

'कौसल्ये! पिताके जीवनकालमें जब मैं केवल राजकुमार था, एक अच्छे धनुर्धरके रूपमें मेरी ख्याति फैल गयी थी। सब लोग यही कहते थे कि 'राजकुमार दशरथ शब्द-वेधी बाण चलाना जानते हैं।' इसी ख्यातिमें पड़कर मैंने यह एक पाप कर डाला था (जिसे अभी बताऊँगा)॥ ११॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयंकृतम्।
सम्मोहादिह बालेन यथा स्याद् भक्षितं विषम्॥ १२॥

'देवि! उस अपने ही किये हुए कुकर्मका फल मुझे इस महान् दुःखके रूपमें प्राप्त हुआ है। जैसे कोई बालक अज्ञानवश विष खा ले तो उसे भी वह विष मार ही डालता है, उसी प्रकार मोह या अज्ञानवश किये हुए दुष्कर्मका फल भी यहाँ मुझे भोगना पड़ रहा है॥ १२॥

यथान्यः पुरुषः कश्चित् पलाशैर्मोहितो भवेत्।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम्॥ १३॥

'जैसे दूसरा कोई गँवार मनुष्य पलाशके फूलोंपर ही मोहित हो उसके कड़वे फलको नहीं जानता, उसी प्रकार मैं भी 'शब्दवेधी बाण-विद्या' की प्रशंसा सुनकर उसपर लट्टू हो गया। उसके द्वारा ऐसा क्रूरतापूर्ण पापकर्म बन सकता है और ऐसा भयंकर फल प्राप्त हो सकता है, इसका ज्ञान मुझे नहीं हुआ॥ १३॥

देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम्।
ततः प्रावृडनुप्राप्ता मम कामविवर्धिनी॥ १४॥

'देवि! तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था और मैं अभी युवराज ही था, उन्हीं दिनोंकी बात है। मेरी कामभावनाको बढ़ानेवाली वर्षा ऋतु आयी॥ १४॥

अपास्य हि रसान् भौमांस्तप्त्वा च जगदंशुभिः।
परेताचरितां भीमां रविराचरते दिशम्॥ १५॥

'सूर्यदेव पृथ्वीके रसोंको सुखाकर और जगत्‌को अपनी किरणोंसे भलीभाँति संतप्त करके जिसमें यमलोकवर्ती प्रेत विचरा करते हैं, उस भयंकर दक्षिण दिशामें संचरण करते थे ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धा ददृशिरे घनाः ।
ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गबर्हिणः ॥ १६ ॥

'सब ओर सजल मेघ दृष्टिगोचर होने लगे और गरमी तत्काल शान्त हो गयी; इससे समस्त मेढकों, चातकों और मयूरोंमें हर्ष छा गया ॥ १६ ॥

क्लिन्नपक्षोत्तराः स्नाताः कृच्छ्रादिव पतत्रिणः ।
वृष्टिवातावधूताग्रान् पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

'पक्षियोंकी पाँखें ऊपरसे भीग गयी थीं । वे नहा उठे थे और बड़ी कठिनाईसे उन वृक्षोंतक पहुँच पाते थे, जिनकी डालियोंके अग्रभाग वर्षा और वायुके झोंकोंसे झूम रहे थे ॥

पतितेनाम्भसाऽऽच्छन्नः पतमानेन चासकृत् ।
आबभौ मत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

'गिरे हुए और बारंबार गिरते हुए जलसे आच्छादित हुआ मतवाला हाथी तरङ्गरहित प्रशान्त समुद्र तथा भीगे पर्वतके समान प्रतीत होता था ॥ १८ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।
सुस्रुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजंगवत् ॥ १९ ॥

'पर्वतोंसे गिरनेवाले स्रोत या झरने निर्मल होनेपर भी पर्वतीय धातुओंके सम्पर्कसे श्वेत, लाल और भस्मयुक्त होकर सर्पोंकी भाँति कुटिल गतिसे बह रहे थे ॥ १९ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले धनुष्मानिषुमान् रथी ।
व्यायामकृतसंकल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

'वर्षा ऋतुके उस अत्यन्त सुखद सुहावने समयमें मैं धनुष-बाण लेकर रथपर सवार हो शिकार खेलनेके लिये सरयू नदीके तटपर गया ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाभ्यागतं मृगम् ।
अन्यद् वा श्वापदं किंचिज्जिघांसुरजितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

'मेरी इन्द्रियाँ मेरे वशमें नहीं थीं । मैंने सोचा था कि पानी पीनेके घाटपर रातके समय जब कोई उपद्रवकारी भैंसा, मतवाला हाथी अथवा सिंह-व्याघ्र आदि दूसरा कोई हिंसक जन्तु आवेगा तो उसे मारूँगा ॥ २१ ॥

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।
अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

'उस समय वहाँ सब ओर अन्धकार छा रहा था । मुझे अकस्मात् पानीमें घड़ा भरनेकी आवाज सुनायी पड़ी । मेरी [illegible] तो वहाँतक पहुँचती नहीं थी, किंतु वह आवाज मुझे [illegible]के पानी पीते समय होनेवाले शब्दके समान जान पड़ी ॥

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।
शब्दं प्रति गजप्रेप्सुरभिलक्ष्यमपातयम् ॥ २३ ॥

'तब मैंने यह समझकर कि हाथी ही अपनी सूँड़में पानी खींच रहा होगा; अतः वही मेरे बाणका निशाना बनेगा, तरकससे एक तीर निकाला और उस शब्दको लक्ष्य करके चला दिया । वह दीप्तिमान् बाण विषधर सर्पके समान भयंकर था ॥ २३ ॥

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।
तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद् वनौकसः ॥ २४ ॥
हा हेति पततस्तोये बाणाद् व्यथितमर्मणः ।
तस्मिन्निपतिते भूमौ वागभूत् तत्र मानुषी ॥ २५ ॥

'वह उषःकालकी वेला थी । विषैले सर्पके सदृश उस तीखे बाणको मैंने ज्यों ही छोड़ा, त्यों ही वहाँ पानीमें गिरते हुए किसी वनवासीका हाहाकार मुझे स्पष्टरूपसे सुनायी दिया । मेरे बाणसे उसके मर्ममें बड़ी पीड़ा हो रही थी । उस पुरुषके धराशायी हो जानेपर वहाँ यह मानव-वाणी प्रकट हुई—सुनायी देने लगी—॥ २४-२५ ॥

कथमस्मद्विधे शस्त्रं निपतेच्च तपस्विनि ।
प्रविविक्तां नदीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

''आह ! मेरे-जैसे तपस्वीपर शस्त्रका प्रहार कैसे सम्भव हुआ ? मैं तो नदीके इस एकान्त तटपर रातमें पानी लेनेके लिये आया था ॥ २६ ॥

इषुणाभिहतः केन कस्य वापकृतं मया ।
ऋषेर्हि न्यस्तदण्डस्य वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥
कथं नु शस्त्रेण वधो मद्विधस्य विधीयते ।
जटाभारधरस्यैव वल्कलाजिनवाससः ॥ २८ ॥
को वधेन ममार्थी स्यात् किं वास्यापकृतं मया ।
एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

''किसने मुझे बाण मारा है ? मैंने किसका क्या बिगाड़ा था ? मैं तो सभी जीवोंको पीड़ा देनेकी वृत्तिका त्याग करके ऋषि-जीवन बिताता था, वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीविका चलाता था । मुझ-जैसे निरपराध मनुष्यका शस्त्रसे वध क्यों किया जा रहा है ? मैं वल्कल और मृगचर्म पहननेवाला जटाधारी तपस्वी हूँ । मेरा वध करनेमें किसने अपना क्या लाभ सोचा होगा ? मैंने मारनेवालेका क्या अपराध किया था ? मेरी हत्याका प्रयत्न व्यर्थ ही किया गया ! इससे किसीको कुछ लाभ नहीं होगा, केवल अनर्थ ही हाथ लगेगा ॥

न कचित् साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् ।
नेमं तथानुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥
मातरं पितरं चोभावनुशोचामि मद्वधे ।
तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥

मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति।
वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥
केन स्म निहताः सर्वे सुबालेनाकृतात्मना।

"इस हत्यारेको संसारमें कहीं भी कोई उसी तरह अच्छा नहीं समझेगा, जैसे गुरुपत्नीगामीको ! मुझे अपने इस जीवनके नष्ट होनेकी उतनी चिन्ता नहीं है; मेरे मारे जानेसे मेरे माता-पिताको जो कष्ट होगा, उसीके लिये मुझे बारंबार शोक हो रहा है। मैंने इन दोनों वृद्धोंका बहुत समयसे पालन-पोषण किया है; अब मेरे शरीरके न रहनेपर ये किस प्रकार जीवन-निर्वाह करेंगे? घातकने एक ही बाणसे मुझे और मेरे बूढ़े माता-पिताको भी मौतके मुखमें डाल दिया। किस विवेकहीन और अजितेन्द्रिय पुरुषने हम सब लोगोंका एक साथ ही वध कर डाला?' ॥ ३०-३२½ ॥

तां गिरं करुणं श्रुत्वा मम धर्मानुकाङ्क्षिणः ॥ ३३ ॥
कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद् भुवि।

'ये करुणाभरे वचन सुनकर मेरे मनमें बड़ी व्यथा हुई। कहाँ तो मैं धर्मकी अभिलाषा रखनेवाला था और कहाँ यह अधर्मका कार्य बन गया। उस समय मेरे हाथोंसे धनुष और बाण छूटकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३३½ ॥

तस्याहं करुणं श्रुत्वा ऋषेर्विलपतो निशि ॥ ३४ ॥
सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः।

'रातमें विलाप करते हुए ऋषिका वह करुण वचन सुनकर मैं शोकके वेगसे घबरा उठा। मेरी चेतना अत्यन्त विलुप्त-सी होने लगी ॥ ३४½ ॥

तं देशमहमागम्य दीनसत्त्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥
अपश्यमिषुणा तीरे सरय्वास्तापसं हतम्।
अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धकलशोदकम् ॥ ३६ ॥
पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयानं शल्यवेधितम्।
स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतनम् ॥ ३७ ॥
इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा।

'मेरे हृदयमें दीनता छा गयी, मन बहुत दुखी हो गया। सरयूके किनारे उस स्थानपर जाकर मैंने देखा—एक तपस्वी बाणसे घायल होकर पड़े हैं। उनकी जटाएँ बिखरी हुई हैं, घड़ेका जल गिर गया है तथा सारा शरीर धूल और खूनमें सना हुआ है। वे बाणसे बिंधे हुए पड़े थे। उनकी अवस्था देखकर मैं डर गया, मेरा चित्त ठिकाने नहीं था। उन्होंने दोनों नेत्रोंसे मेरी ओर इस प्रकार देखा, मानो अपने तेजसे मुझे भस्म कर देना चाहते हों। वे कठोर वाणीमें यों बोले—॥ ३५-३७½ ॥

किं तवापकृतं राजन् वने निवसता मया ॥ ३८ ॥
जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं यदहं ताडितस्त्वया।

"राजन्! वनमें रहते हुए मैंने तुम्हारा कौन-सा अपराध किया था, जिससे तुमने मुझे बाण मारा? मैं तो माता-पिताके लिये पानी लेनेकी इच्छासे यहाँ आया था ॥ ३८½ ॥

एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥
द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे।

"तुमने एक ही बाणसे मेरा मर्म विदीर्ण करके मेरे दोनों अन्धे और बूढ़े माता-पिताको भी मार डाला ॥ ३९½ ॥

तौ नूनं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥
चिरमाशां कृतां कष्टां तृष्णां संधारयिष्यतः।

"वे दोनों बहुत दुबले और अन्धे हैं। निश्चय ही प्याससे पीड़ित होकर वे मेरी प्रतीक्षामें बैठे होंगे। वे देरतक मेरे आगमनकी आशा लगाये दुःखदायिनी प्यास लिये बाट जोहते रहेंगे ॥ ४०½ ॥

न नूनं तपसो वास्ति फलयोगः श्रुतस्य वा ॥ ४१ ॥
पिता यन्मां न जानीते शयानं पतितं भुवि।

"अवश्य ही मेरी तपस्या अथवा शास्त्रज्ञानका कोई फल यहाँ प्रकट नहीं हो रहा है; क्योंकि पिताजीको यह नहीं मालूम है कि मैं पृथ्वीपर गिरकर मृत्युशय्यापर पड़ा हुआ हूँ ॥

जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तश्चापरिक्रमः ॥ ४२ ॥
भिद्यमानमिवाशक्तस्त्रातुमन्यो नगो नगम्।

"यदि जान भी लें तो क्या कर सकते हैं; क्योंकि असमर्थ हैं और चल-फिर भी नहीं सकते हैं। जैसे वायु आदिके द्वारा तोड़े जाते हुए वृक्षको कोई दूसरा वृक्ष नहीं बचा सकता, उसी प्रकार मेरे पिता भी मेरी रक्षा नहीं कर सकते ॥

पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥
न त्वामनुदहेत् क्रुद्धो वनमग्निरिवैधितः।

"अतः रघुकुलनरेश! अब तुम्हीं जाकर शीघ्र ही मेरे पिताको यह समाचार सुना दो। (यदि स्वयं कह दोगे तो) जैसे प्रज्वलित अग्नि समूचे वनको जला डालती है, उस प्रकार वे क्रोधमें भरकर तुमको भस्म नहीं करेंगे ॥ ४३½ ॥

इयमेकपदी राजन् यतो मे पितुराश्रमः ॥ ४४ ॥
तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वा संकुपितः शपेत्।

"राजन्! यह पगडंडी उधर ही गयी है, जहाँ मेरे पिताका आश्रम है। तुम जाकर उन्हें प्रसन्न करो, जिससे वे कुपित होकर तुम्हें शाप न दें ॥ ४४½ ॥

विशल्यं कुरु मां राजन् मर्म मे निशितः शरः ॥ ४५ ॥
रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरमम्बुरयो यथा।

"राजन्! मेरे शरीरसे इस बाणको निकाल दो। यह तीखा बाण मेरे मर्मस्थानको उसी प्रकार पीड़ा दे रहा है, जैसे नदीके जलका वेग उसके कोमल बालुकामय ऊँचे तटको छिन्न-भिन्न कर देता है ॥ ४५½ ॥

सशल्यः क्लिश्यते प्राणैर्विशल्यो विनशिष्यति ॥ ४६ ॥
इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।
दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य च ॥ ४७ ॥
लक्षयामास स ऋषिश्चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।

'मुनिकुमारकी यह बात सुनकर मेरे मनमें यह चिन्ता समायी कि यदि बाण नहीं निकालता हूँ तो इन्हें क्लेश होता है और निकाल देता हूँ तो ये अभी प्राणोंसे भी हाथ धो बैठते हैं । इस प्रकार बाणको निकालनेके विषयमें मुझ दीन दुखी और शोकाकुल दशरथकी इस चिन्ताको उस समय मुनिकुमारने लक्ष्य किया ॥ ४६-४७½ ॥

ताम्यमानं स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्थवित् ॥ ४८ ॥
सीदमानो निवृत्ताङ्गोऽचेष्टमानो गतः क्षयम् ।
संस्तभ्य शोकं धैर्येण स्थिरचित्तो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

'यथार्थ बातको समझ लेनेवाले उन महर्षिने मुझे अत्यन्त ग्लानिमें पड़ा हुआ देख बड़े कष्टसे कहा—'राजन् ! मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है । मेरी आँखें चढ़ गयी हैं, अङ्ग-अङ्गमें तड़पन हो रही है । मुझसे कोई चेष्टा नहीं बन पाती । अब मैं मृत्युके समीप पहुँच गया हूँ, फिर भी धैर्यके द्वारा शोकको रोककर अपने चित्तको स्थिर करता हूँ (अब मेरी बात सुनो) ॥

ब्रह्महत्याकृतं तापं हृदयादपनीयताम् ।
न द्विजातिरहं राजन् मा भूत् ते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

''मुझसे ब्रह्महत्या हो गयी—इस चिन्ताको अपने हृदयसे निकाल दो । राजन् ! मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, इसलिये तुम्हारे मनमें ब्राह्मणवधको लेकर कोई व्यथा नहीं होनी चाहिये ।

शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप ।
इतीव वदतः कृच्छ्राद् बाणाभिहतमर्मणः ॥ ५१ ॥
विघूर्णतो विचेष्टस्य वेपमानस्य भूतले ।
तस्य त्वाताम्यमानस्य तं बाणमहमुद्धरम् ।
स मामुद्वीक्ष्य संत्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! मैं वैश्य पिताद्वारा शूद्रजातीय माताके गर्भसे उत्पन्न हुआ हूँ ।' बाणसे मर्ममें आघात पहुँचनेके कारण वे बड़े कष्टसे इतना ही कह सके । उनकी आँखें घूम रही थीं । उनसे कोई चेष्टा नहीं बनती थी । वे पृथ्वीपर पड़े-पड़े छटपटा रहे थे और अत्यन्त कष्टका अनुभव करते थे । उस अवस्थामें मैंने उनके शरीरसे उस बाणको निकाल दिया । फिर तो अत्यन्त भयभीत हो उन तपोधनने मेरी ओर देखकर अपने प्राण त्याग दिये ॥ ५१-५२ ॥

जलार्द्रगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रं
मर्मव्रणं संततमुच्छ्वसन्तम् ।
ततः सरय्वां तमहं शयानं
समीक्ष्य भद्रे सुभृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

'पानीमें गिरनेके कारण उनका सारा शरीर भीग गया था । मर्ममें आघात लगनेके कारण बड़े कष्टसे विलाप करके और बारंबार उच्छ्वास लेकर उन्होंने प्राणोंका त्याग किया था । कल्याणी कौसल्ये ! उस अवस्थामें सरयूके तटपर मरे पड़े मुनि-पुत्रको देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ' ॥ ५३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः ॥ ६३ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

राजा दशरथका अपने द्वारा मुनिकुमारके वधसे दुखी हुए उनके माता-पिताके विलाप और उनके दिये हुए शापका प्रसंग सुनाकर कौसल्याके समीप रोते-बिलखते हुए आधी रातके समय अपने प्राणोंको त्याग देना

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।
विलपन्नेव धर्मात्मा कौसल्यामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उन महर्षिके अनुचित वधका स्मरण करके धर्मात्मा रघुकुलनरेशने अपने पुत्रके लिये विलाप करते हुए ही रानी कौसल्यासे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वा संकुलितेन्द्रियः ।
एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कथं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

'देवि ! अनजानमें यह महान् पाप कर डालनेके कारण मेरी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो रही थीं । मैं अकेला ही बुद्धि लगाकर सोचने लगा, अब किस उपायसे मेरा कल्याण हो ? ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा ।
आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

'तदनन्तर उस घड़ेको उठाकर मैंने सरयूके उत्तम जलसे भरा और उसे लेकर मुनिकुमारके बताये हुए मार्गसे उनके आश्रमपर गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलावन्धौ वृद्धावपरिणायकौ ।
अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँचकर मैंने उनके दुबले, अन्धे और बूढ़े माता-पिताको देखा, जिनका दूसरा कोई सहायक नहीं था। उनकी अवस्था पंख कटे हुए दो पक्षियोंके समान थी ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिश्रमौ।
तामाशां मत्कृते हीनावुपासीनावनाथवत् ॥ ५ ॥

वे अपने पुत्रकी ही चर्चा करते हुए उसके आनेकी आशा लगाये बैठे थे। उस चर्चाके कारण उन्हें कुछ परिश्रम या थकावटका अनुभव नहीं होता था। यद्यपि मेरे कारण उनकी वह आशा धूलमें मिल चुकी थी तो भी वे उसीके आसरे बैठे थे। अब वे दोनों सर्वथा अनाथ-से हो गये थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसंत्रस्तचेतनः।
तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

'मेरा हृदय पहलेसे ही शोकके कारण घबराया हुआ था। भयसे मेरा होश ठिकाने नहीं था। मुनिके आश्रमपर पहुँचकर मेरा वह शोक और भी अधिक हो गया ॥ ६ ॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत।
किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

'मेरे पैरोंकी आहट सुनकर वे मुनि इस प्रकार बोले—'बेटा! देर क्यों लगा रहे हो? शीघ्र पानी ले आओ ॥ ७ ॥

यन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया।
उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

"तात! जिस कारणसे तुमने बड़ी देरतक जलमें क्रीड़ा की है, उसी कारणको लेकर तुम्हारी यह माता तुम्हारे लिये उत्कण्ठित हो गयी है; अतः शीघ्र ही आश्रमके भीतर प्रवेश करो ॥ ८ ॥

यद् व्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया।
न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्विना ॥ ९ ॥

"बेटा तात! यदि तुम्हारी माताने अथवा मैंने तुम्हारा कोई अप्रिय किया हो तो उसे तुम्हें अपने मनमें नहीं लाना चाहिये; क्योंकि तुम तपस्वी हो ॥ ९ ॥

त्वं गतिस्त्वगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम्।
समासक्तास्त्वयि प्राणाः कथं त्वं नाभिभाषसे ॥ १० ॥

"हम असहाय हैं, तुम्हीं हमारे सहायक हो। हम अन्धे हैं, तुम्हीं हमारे नेत्र हो। हमलोगोंके प्राण तुम्हींमें अटके हुए हैं! बताओ, तुम बोलते क्यों नहीं हो?' ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया।
हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतचित्त इवाब्रुवम् ॥ ११ ॥

'मुनिको देखते ही मेरे मनमें भय-सा समा गया। मेरी जबान लड़खड़ाने लगी। कितने अक्षरोंका उच्चारण नहीं हो पाता था, इस प्रकार अस्पष्ट वाणीमें मैंने बोलनेका प्रयास किया ॥ ११ ॥

मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तभ्य वाग्बलम्।
आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥ १२ ॥

'मानसिक भयको बाहरी चेष्टाओंसे दबाकर मैंने कुछ कहनेकी क्षमता प्राप्त की और मुनिपर पुत्रकी मृत्युसे जो संकट आ पड़ा था, वह उनपर प्रकट करते हुए कहा—॥ १२ ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः।
सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

"महात्मन्! मैं आपका पुत्र नहीं, दशरथ नामका एक क्षत्रिय हूँ। मैंने अपने कर्मवश यह ऐसा दुःख पाया है, जिसकी सत्पुरुषोंने सदा निन्दा की है ॥ १३ ॥

भगवंश्चापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः।
जिघांसुः श्वापदं किंचिन्निपाने वागतं गजम् ॥ १४ ॥

"भगवन्! मैं धनुष-बाण लेकर सरयूके तटपर आया था। मेरे आनेका उद्देश्य यह था कि कोई जंगली हिंसक पशु अथवा हाथी घाटपर पानी पीनेके लिये आवे तो मैं उसे मारूँ ॥ १४ ॥

ततः श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः।
द्विपोऽयमिति मत्वाहं बाणेनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

"थोड़ी देर बाद मुझे जलमें घड़ा भरनेका शब्द सुनायी पड़ा। मैंने समझा कोई हाथी आकर पानी पी रहा है, इसलिये उसपर बाण चला दिया ॥ १५ ॥

गत्वा तस्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि।
विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

"फिर सरयूके तटपर जाकर देखा कि मेरा बाण एक तपस्वीकी छातीमें लगा है और वे मृतप्राय होकर धरतीपर पड़े हैं ॥ १६ ॥

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः।
स मया सहसा बाण उद्धृतो मर्मतस्तदा ॥ १७ ॥

"उस बाणसे उन्हें बड़ी पीड़ा हो रही थी, अतः उस समय उन्हींके कहनेसे मैंने सहसा वह बाण उनके मर्म-स्थानसे निकाल दिया ॥ १७ ॥

स चोद्धृतेन बाणेन सहसा स्वर्गमास्थितः।
भगवन्तावुभौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥ १८ ॥

बाण निकलनेके साथ ही वे तत्काल स्वर्ग सिधार गये। मरते समय उन्होंने आप दोनों पूजनीय अन्धे पिता-माताके लिये बड़ा शोक और विलाप किया था ॥ १८ ॥

अज्ञानाद् भवतः पुत्रः सहसाभिहतो मया।
शेषमेवं गते यत् स्यात् तत् प्रसीदतु मे मुनिः ॥ १९ ॥

"इस प्रकार अनजानमें मेरे हाथसे आपके पुत्रका वध हो गया है । ऐसी अवस्थामें मेरे प्रति जो शाप या अनुग्रह शेष हो, उसे देनेके लिये आप महर्षि मुझपर प्रसन्न हों' ॥ १९ ॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मया तदघशंसिना।
नाशकत् तीव्रमायासं स कर्तुं भगवानृषिः ॥ २० ॥

'मैंने अपने मुँहसे अपना पाप प्रकट कर दिया था, इसलिये मेरी क्रूरतासे भरी हुई वह बात सुनकर भी वे पूज्यपाद महर्षि मुझे कठोर दण्ड—भस्म हो जानेका शाप नहीं दे सके ॥ २० ॥

स बाष्पपूर्णवदनो निःश्वसञ्शोकमूर्च्छितः।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ २१ ॥

'उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे शोकसे मूर्च्छित होकर दीर्घ निःश्वास लेने लगे। मैं हाथ जोड़े उनके सामने खड़ा था। उस समय उन महातेजस्वी मुनिने मुझसे कहा—॥ २१ ॥

यद्येतदशुभं कर्म न स्म मे कथयेः स्वयम्।
फलेन्मूर्धा स्म ते राजन् सद्यः शतसहस्रधा ॥ २२ ॥

"राजन्! यदि यह अपना पापकर्म तुम स्वयं यहाँ आकर न बताते तो शीघ्र ही तुम्हारे मस्तकके सैकड़ों-हजारों टुकड़े हो जाते ॥ २२ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ २३ ॥

"नरेश्वर! यदि क्षत्रिय जान-बूझकर विशेषतः किसी वानप्रस्थीका वध कर डाले तो वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, वह उसे अपने स्थानसे भ्रष्ट कर देता है ॥ २३ ॥

सप्तधा तु भवेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति।
ज्ञानाद् विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २४ ॥

'तपस्यामें लगे हुए वैसे ब्रह्मवादी मुनिपर जान-बूझकर शस्त्रका प्रहार करनेवाले पुरुषके मस्तकके सात टुकड़े हो जाते हैं ॥ २४ ॥

अज्ञानाद्धि कृतं यस्मादिदं ते तेन जीवसे।
अपि ह्यकुशलं न स्याद् राघवाणां कुतो भवान् ॥ २५ ॥

"तुमने अनजानमें यह पाप किया है, इसीलिये अभीतक जीवित हो। यदि जान-बूझकर किया होता तो समस्त रघुवंशियोंका कुल ही नष्ट हो जाता, अकेले तुम्हारी तो बात ही क्या है ?' ॥ २५ ॥

नय नौ नृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत।
अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम् ॥ २६ ॥

'उन्होंने मुझसे यह भी कहा—'नरेश्वर! तुम हम दोनोंको उस स्थानपर ले चलो, जहाँ हमारा पुत्र मरा पड़ा है। इस समय हम उसे देखना चाहते हैं। यह हमारे लिये उसका अन्तिम दर्शन होगा' ॥ २६ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम्।
शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम् ॥ २७ ॥
अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ।
अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥ २८ ॥

'तब मैं अकेला ही अत्यन्त दुःखमें पड़े हुए उन दम्पतिको उस स्थानपर ले गया, जहाँ उनका पुत्र कालके अधीन होकर पृथ्वीपर अचेत पड़ा था। उसके सारे अङ्ग खूनसे लथपथ हो रहे थे, मृगचर्म और वस्त्र बिखरे पड़े थे। मैंने पत्नीसहित मुनिको उनके पुत्रके शरीरका स्पर्श कराया ॥ २७-२८ ॥

तौ पुत्रमात्मनः स्पृष्ट्वा तमासाद्य तपस्विनौ।
निपेततुः शरीरेऽस्य पिता चैनमुवाच ह ॥ २९ ॥

'वे दोनों तपस्वी अपने उस पुत्रका स्पर्श करके उसके अत्यन्त निकट जाकर उसके शरीरपर गिर पड़े। फिर पिताने पुत्रको सम्बोधित करके उससे कहा—॥ २९ ॥

नाभिवादयसे माद्य न च मामभिभाषसे।
किं च शेषे तु भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥ ३० ॥

"बेटा! आज तुम मुझे न तो प्रणाम करते हो और न मुझसे बोलते ही हो। तुम धरतीपर क्यों सो रहे हो? क्या तुम हमसे रूठ गये हो? ॥ ३० ॥

नन्वहं तेऽप्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिकीम्।
किं च नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद ॥ ३१ ॥

"बेटा! यदि मैं तुम्हारा प्रिय नहीं हूँ तो तुम अपनी इस धर्मात्मा माताकी ओर तो देखो। तुम इसके हृदयसे क्यों नहीं लग जाते हो? वत्स! कुछ तो बोलो ॥ ३१ ॥

कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्।
अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद् विशेषतः ॥ ३२ ॥

"अब पिछली रातमें मधुर स्वरसे शास्त्र या पुराण आदि अन्य किसी ग्रन्थका विशेषरूपसे स्वाध्याय करते हुए किसके मुँहसे मैं मनोरम शास्त्रचर्चा सुनूँगा? ॥ ३२ ॥

को मां संध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः।
श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयार्दितम् ॥ ३३ ॥

'अब कौन स्नान, संध्योपासना तथा अग्निहोत्र करके मेरे पास बैठकर पुत्रशोकके भयसे पीड़ित हुए मुझ बूढ़ेको सान्त्वना देता हुआ मेरी सेवा करेगा? ॥ ३३ ॥

कन्दमूलफलं हृत्वा यो मां प्रियमिवातिथिम्।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यमप्रग्रहमनायकम् ॥ ३४ ॥

"अब कौन ऐसा है, जो कन्द, मूल और फल लाकर मुझ अकर्मण्य, अन्नसंग्रहसे रहित और अनाथको प्रिय अतिथिकी भाँति भोजन करायेगा ॥ ३४ ॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम्।
कथं पुत्र भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३५ ॥

"बेटा! तुम्हारी यह तपस्विनी माता अन्धी, बूढ़ी, दीन तथा पुत्रके लिये उत्कण्ठित रहनेवाली है। मैं (स्वयं अन्धा होकर) इसका भरण-पोषण कैसे करूँगा? ॥ ३५ ॥

तिष्ठ मा मा गमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति।
श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥ ३६ ॥

"पुत्र! ठहरो, आज यमराजके घर न जाओ। कल मेरे और अपनी माताके साथ चलना ॥ ३६ ॥

उभावपि च शोकार्तावनाथौ कृपणौ वने।
क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया हीनौ यमक्षयम् ॥ ३७ ॥

"हम दोनों शोकसे आर्त, अनाथ और दीन हैं। तुम्हारे न रहनेपर हम शीघ्र ही यमलोककी राह लेंगे ॥ ३७ ॥

ततो वैवस्वतं दृष्ट्वा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम्।
क्षमतां धर्मराजो मे बिभृयात् पितरावयम् ॥ ३८ ॥

"तदनन्तर सूर्यपुत्र यमराजका दर्शन करके मैं उनसे यह बात कहूँगा—धर्मराज मेरे अपराधको क्षमा करें और मेरे पुत्रको छोड़ दें, जिससे यह अपने माता-पिताका भरण-पोषण कर सके ॥ ३८ ॥

दातुमर्हति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः।
ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ३९ ॥

"ये धर्मात्मा हैं, महायशस्वी लोकपाल हैं। मुझ-जैसे अनाथको वह एक बार अभय दान दे सकते हैं ॥ ३९ ॥

अपापोऽसि यथा पुत्र निहतः पापकर्मणा।
तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकास्त्वस्त्रयोधिनाम् ॥ ४० ॥
यां हि शूरा गतिं यान्ति संग्रामेष्वनिवर्तिनः।
हतास्त्वभिमुखाः पुत्र गतिं तां परमां व्रज ॥ ४१ ॥

"बेटा! तुम निष्पाप हो, किंतु एक पापकर्मा क्षत्रियने तुम्हारा वध किया है, इस कारण मेरे सत्यके प्रभावसे तुम शीघ्र ही उन लोकोंमें जाओ, जो अस्त्रयोधी शूरवीरोंको प्राप्त होते हैं। बेटा! युद्धमें पीठ न दिखानेवाले शूरवीर सम्मुख युद्धमें मारे जानेपर जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसी उत्तम गतिको तुम भी जाओ ॥ ४०-४१ ॥

यां गतिं सगरः शैब्यो दिलीपो जनमेजयः।
नहुषो धुन्धुमारश्च प्राप्तास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४२ ॥

'वत्स! राजा सगर, शैब्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धुमार जिस गतिको प्राप्त हुए हैं, वही तुम्हें भी मिले ॥ ४२ ॥

या गतिः सर्वभूतानां स्वाध्यायात् तपसश्च या।
भूमिदस्याहिताग्नेश्च एकपत्नीव्रतस्य च ॥ ४३ ॥
गोसहस्रप्रदातॄणां गुरुसेवाभृतामपि।
देहन्यासकृतां या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४४ ॥

"स्वाध्याय और तपस्यासे समस्त प्राणियोंके आश्रयभूत जिस परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो। वत्स! भूमिदाता, अग्निहोत्री, एकपत्नीव्रती, एक हजार गौओंका दान करनेवाले, गुरुकी सेवा करनेवाले तथा महाप्रस्थान आदिके द्वारा देहत्याग करनेवाले पुरुषोंको जो गति मिलती है, वही तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ४३-४४ ॥

न हि त्वस्मिन् कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम्।
स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम बान्धवः ॥ ४५ ॥

'हम-जैसे तपस्वियोंके इस कुलमें पैदा हुआ कोई पुरुष बुरी गतिको नहीं प्राप्त हो सकता। बुरी गति तो उसकी होगी, जिसने मेरे बान्धवरूप तुम्हें अकारण मारा है।' ॥ ४५ ॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत्।
ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४६ ॥

इस प्रकार वे दीनभावसे बारंबार विलाप करने लगे। तत्पश्चात् अपनी पत्नीके साथ वे पुत्रको जलाञ्जलि देनेके कार्यमें प्रवृत्त हुए ॥ ४६ ॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः।
स्वर्गमध्यारुहत् क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४७ ॥

'इसी समय वह धर्मज्ञ मुनिकुमार अपने पुण्य-कर्मोंके प्रभावसे दिव्य रूप धारण करके शीघ्र ही इन्द्रके साथ स्वर्गको जाने लगा ॥ ४७ ॥

आबभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः।
आश्वास्य च मुहूर्तं तु पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

'इन्द्रसहित उस तपस्वीने अपने दोनों बूढ़े पिता-माताको एक मुहूर्ततक आश्वासन देते हुए उनसे बातचीत की; फिर वह अपने पितासे बोला—॥ ४८ ॥

स्थानमस्मि महत् प्राप्तो भवतोः परिचारणात्।
भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यथः ॥ ४९ ॥

'मैं आप दोनोंकी सेवासे महान् स्थानको प्राप्त हुआ हूँ, अब आपलोग भी शीघ्र ही मेरे पास आ जाइयेगा' ॥ ४९ ॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता।
आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५० ॥

'यह कहकर वह जितेन्द्रिय मुनिकुमार उस सुन्दर आकारवाले दिव्य विमानसे शीघ्र ही देवलोकको चला गया ॥

स कृत्वाथोदकं तूर्णं तापसः सह भार्यया।
मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५१ ॥

'तदनन्तर पत्नीसहित उन महातेजस्वी तपस्वी मुनिने तुरंत ही पुत्रको जलाञ्जलि देकर हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा—॥ ५१ ॥

अद्यैव जहि मां राजन् मरणे नास्ति मे व्यथा।
यः शरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम्॥ ५२॥

''राजन्! तुम आज ही मुझे भी मार डालो; अब मरनेमें मुझे कष्ट नहीं होगा। मेरे एक ही बेटा था, जिसे तुमने अपने बाणका निशाना बनाकर मुझे पुत्रहीन कर दिया॥

त्वयापि च यदज्ञानान्निहतो मे स बालकः।
तेन त्वामपि शप्स्येऽहं सुदुःखमतिदारुणम्॥ ५३॥

''तुमने अज्ञानवश जो मेरे बालककी हत्या की है, उसके कारण मैं तुम्हें भी अत्यन्त भयंकर एवं भलीभाँति दुःख देनेवाला शाप दूँगा॥ ५३॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्।
एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन् कालं करिष्यसि॥ ५४॥

'राजन्! इस समय पुत्रके वियोगसे मुझे जैसा कष्ट हो रहा है, ऐसा ही तुम्हें भी होगा। तुम भी पुत्रशोकसे ही कालके गालमें जाओगे॥ ५४॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात् क्षत्रियेण त्वया मुनिः।
तस्मात् त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप॥ ५५॥
त्वामप्येतादृशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति।
जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणाम्॥ ५६॥

''नरेश्वर! क्षत्रिय होकर अनजानमें तुमने वैश्यजातीय मुनिका वध किया है, इसलिये शीघ्र ही तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप तो नहीं लगेगा तथापि जल्दी ही तुम्हें भी ऐसी ही भयानक और प्राण लेनेवाली अवस्था प्राप्त होगी। ठीक उसी तरह, जैसे दक्षिणा देनेवाले दाताको उसके अनुरूप फल प्राप्त होता है'॥ ५५-५६॥

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु।
चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात्॥ ५७॥

'इस प्रकार मुझे शाप देकर वे बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करते रहे; फिर वे दोनों पति-पत्नी अपने शरीरोंको जलती हुई चितामें डालकर स्वर्गको चले गये॥ ५७॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम्।
तदा बाल्याद् कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा॥ ५८॥

'देवि! इस प्रकार बालस्वभावके कारण मैंने पहले शब्दवेधी बाण मारकर और फिर उस मुनिके शरीरसे बाणको खींचकर जो उनका वधरूपी पाप किया था, वह आज इस पुत्र-वियोगकी चिन्तामें पड़े हुए मुझे स्वयं ही स्मरण हो आया है॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः।
अपथ्यैः सह सम्भुक्ते व्याधिरन्नरसे यथा॥ ५९॥
तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद् वचः।

'देवि! अपथ्य वस्तुओंके साथ अन्नरस ग्रहण कर लेनेपर जैसे शरीरमें रोग पैदा हो जाता है, उसी प्रकार यह उस पापकर्मका फल उपस्थित हुआ है। अतः कल्याणि! उन उदार महात्माका शापरूपी वचन इस समय मेरे पास फल देनेके लिये आ गया है'॥ ५९½॥

इत्युक्त्वा स रुदंस्त्रस्तो भार्यामाह तु भूमिपः॥ ६०॥
यदहं पुत्रशोकेन संत्यजिष्यामि जीवितम्।
चक्षुर्भ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये त्वं हि मां स्पृश॥ ६१॥

ऐसा कहकर वे भूपाल मृत्युके भयसे त्रस्त हो अपनी पत्नीसे रोते हुए बोले—'कौसल्ये! अब मैं पुत्र-शोकसे अपने प्राणोंका त्याग करूँगा। इस समय मैं तुम्हें अपनी आँखोंसे देख नहीं पाता हूँ; तुम मेरा स्पर्श करो॥ ६०-६१॥

यमक्षयमनुप्राप्ता द्रक्ष्यन्ति नहि मानवाः।
यदि मां संस्पृशेद् रामः सकृदन्वारभेत वा॥ ६२॥
धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः।

'जो मनुष्य यमलोकमें जानेवाले (मरणासन्न) होते हैं, वे अपने बान्धवजनोंको नहीं देख पाते हैं। यदि श्रीराम आकर एक बार मेरा स्पर्श करें अथवा यह धन-वैभव और युवराजपद स्वीकार कर लें तो मेरा विश्वास है कि मैं जी सकता हूँ॥ ६२½॥

न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम्॥ ६३॥
सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि।

'देवि! मैंने श्रीरामके साथ जो बर्ताव किया है, वह मेरे योग्य नहीं था; परंतु श्रीरामने मेरे साथ जो व्यवहार किया है, वह सर्वथा उन्हींके योग्य है॥ ६३½॥

दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद् भुवि विचक्षणः॥ ६४॥
कश्च प्रव्राज्यमानो वा नासूयेत् पितरं सुतः।

'कौन बुद्धिमान् पुरुष इस भूतलपर अपने दुराचारी पुत्रका भी परित्याग कर सकता है? (एक मैं हूँ, जिसने अपने धर्मात्मा पुत्रको त्याग दिया) तथा कौन ऐसा पुत्र है, जिसे घरसे निकाल दिया जाय और वह पिताको कोसेतक नहीं? (परंतु श्रीराम चुपचाप चले गये। उन्होंने मेरे विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा)॥ ६४½॥

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते॥ ६५॥
दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम्।

'कौसल्ये! अब मेरी आँखें तुम्हें नहीं देख पाती हैं, स्मरण-शक्ति भी लुप्त होती जा रही है। उधर देखो, ये यमराजके दूत मुझे यहाँसे ले जानेके लिये उतावले हो उठे हैं॥ ६५½॥

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये॥ ६६॥
नहि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम्।

'इससे बढ़कर दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है कि मैं प्राणान्तके समय सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ रामका दर्शन नहीं पा रहा हूँ॥ ६६½॥

तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः ॥ ६७ ॥
उच्छोषयति वै प्राणान् वारि स्तोकमिवातपः ।

'जिनकी समता करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है, उन प्रिय-पुत्र श्रीरामके न देखनेका शोक मेरे प्राणोंको उसी तरह सुखाये डालता है, जैसे धूप थोड़े-से जलको शीघ्र सुखा देती है ॥ ६७½ ॥

न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६८ ॥
मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।

'वे मनुष्य नहीं देवता हैं, जो आजके पंद्रहवें वर्ष वनसे लौटनेपर श्रीरामका सुन्दर मनोहर कुण्डलोंसे अलंकृत मुख देखेंगे ॥ ६८½ ॥

पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रु सुदंष्ट्रं चारुनासिकम् ॥ ६९ ॥
धन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपसमं मुखम् ।

'जो कमलके समान नेत्र, सुन्दर भौंहें, स्वच्छ दाँत और मनोहर नासिकासे सुशोभित श्रीरामके चन्द्रोपम मुखका दर्शन करेंगे, वे धन्य हैं ॥ ६९½ ॥

सदृशं शारदस्येन्दोः फुल्लस्य कमलस्य च ॥ ७० ॥
सुगन्धि मम रामस्य धन्या द्रक्ष्यन्ति ये मुखम् ।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७१ ॥
द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।

'जो मेरे श्रीरामके शरच्चन्द्र-सदृश मनोहर और प्रफुल्ल कमलके समान सुवासित मुखका दर्शन करेंगे; वे धन्य हैं । जैसे मूढ़ता आदि अवस्थाओंको त्यागकर अपने उच्च मार्गमें स्थित शुक्रका दर्शन करके लोग सुखी होते हैं, उसी प्रकार वनवासकी अवधि पूरी करके पुनः अयोध्यामें लौटकर आये हुए श्रीरामको जो लोग देखेंगे, वे ही सुखी होंगे ॥७०-७१½॥

कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं सीदतेतराम् ॥ ७२ ॥
वेदये न च संयुक्ताञ्शब्दस्पर्शरसानहम् ।

'कौसल्ये ! मेरे चित्तपर मोह छा रहा है, हृदय विदीर्ण-सा हो रहा है, इन्द्रियोंसे संयोग होनेपर भी मुझे शब्द, स्पर्श और रस आदि विषयोंका अनुभव नहीं हो रहा है ॥ ७२½ ॥

चित्तनाशाद् विपद्यन्ते सर्वाण्येवेन्द्रियाणि हि ।
क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संरक्ता रश्मयो यथा ॥ ७३ ॥

'जैसे तेल समाप्त हो जानेपर दीपककी अरुण प्रभा विलीन हो जाती है, उसी प्रकार चेतनाके नष्ट होनेसे मेरी सारी इन्द्रियाँ ही नष्ट हो चली हैं ॥ ७३ ॥

अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतनम् ।
संसाधयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ॥ ७४ ॥

'जिस प्रकार नदीका वेग अपने ही किनारेको काट गिराता है, उसी प्रकार मेरा अपना ही उत्पन्न किया हुआ शोक मुझे वेगपूर्वक अनाथ और अचेत किये दे रहा है ॥ ७४ ॥

हा राघव महाबाहो हा ममायासनाशन ।
हा पितृप्रिय मे नाथ हा ममासि गतः सुत ॥ ७५ ॥

'हा महाबाहु रघुनन्दन ! हा मेरे कष्टोंको दूर करनेवाले श्रीराम ! हा पिताके प्रिय पुत्र ! हा मेरे नाथ ! हा मेरे बेटे ! तुम कहाँ चले गये ? ॥ ७५ ॥

हा कौसल्ये न पश्यामि हा सुमित्रे तपस्विनि ।
हा नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७६ ॥

'हा कौसल्ये ! अब मुझे कुछ नहीं दिखायी देता । हा तपस्विनि सुमित्रे ! अब मैं इस लोकसे जा रहा हूँ । हा मेरी शत्रु, क्रूर, कुलाङ्गार कैकेयि ! (तेरी कुटिल इच्छा पूरी हुई), ॥ ७६ ॥

इति मातुश्च रामस्य सुमित्रायाश्च संनिधौ ।
राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीराम-माता कौसल्या और सुमित्राके निकट शोकपूर्ण विलाप करते हुए राजा दशरथके जीवनका अन्त हो गया ॥ ७७ ॥

तथा तु दीनः कथयन् नराधिपः
प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडित-
स्तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७८ ॥

अपने प्रिय पुत्रके वनवाससे शोकाकुल हुए राजा दशरथ इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन कहते हुए आधी रात बीतते-बीतते अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और उसी समय उन उदारदर्शी नरेशने अपने प्राणोंको त्याग दिया ॥ ७८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

वन्दीजनोंका स्तुतिपाठ, राजा दशरथको दिवंगत हुआ जान उनकी रानियोंका करुण-विलाप

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि ।
वन्दिनः पर्युपातिष्ठंस्तत्पार्थिवनिवेशनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर रात बीतनेपर दूसरे दिन सवेरे ही वन्दीजन (महाराजकी स्तुति करनेके लिये) राजमहलमें उपस्थित हुए ॥

सूताः परमसंस्कारा मागधाश्चोत्तमश्रुताः ।
गायकाः श्रुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

व्याकरण-ज्ञानसे सम्पन्न (अथवा उत्तम अलङ्कारोंसे विभूषित) सूत, उत्तमरूपसे वंशपरम्पराका श्रवण करानेवाले मागध और सङ्गीतशास्त्रका अनुशीलन करनेवाले गायक अपने-अपने मार्गके अनुसार पृथक्-पृथक् यशोगान करते हुए वहाँ आये ॥ २ ॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम्।
प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दो ह्यवर्तत ॥ ३ ॥

उच्चस्वरसे आशीर्वाद देते हुए राजाकी स्तुति करनेवाले उन सूत-मागध आदिका शब्द राजमहलोंके भीतरी भागमें फैलकर गूँजने लगा ॥ ३ ॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः।
अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादान्यवादयन् ॥ ४ ॥

वे सूतगण स्तुति कर रहे थे; इतनेहीमें पाणिवादक (हाथोंसे ताल देकर गानेवाले) वहाँ आये और राजाओंके बीते हुए अद्भुत कर्मोंका बखान करते हुए तालगतिके अनुसार तालियाँ बजाने लगे ॥ ४ ॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धाश्च सस्वनुः।
शाखास्थाः पञ्जरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

उस शब्दसे वृक्षोंकी शाखाओंपर बैठे हुए तथा राजकुलमें ही विचरनेवाले पिंजड़ेमें बंद शुक आदि पक्षी जागकर चहचहाने लगे ॥ ५ ॥

व्याहृताः पुण्यशब्दाश्च वीणानां चापि निःस्वनाः।
आशीर्गेयं च गाथानां पूरयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

शुक आदि पक्षियों तथा ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए पवित्र शब्द, वीणाओंके मधुर नाद तथा गाथाओंके आशीर्वाद-युक्त गानसे वह सारा भवन गूँज उठा ॥ ६ ॥

ततः शुचिसमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः।
स्त्रीवर्षवरभूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरा ॥ ७ ॥

तदनन्तर सदाचारी तथा परिचर्याकुशल सेवक, जिनमें स्त्रियों और खोजोंकी संख्या अधिक थी, पहलेकी भाँति उस दिन भी राजभवनमें उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

हरिचन्दनसम्पृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः।
आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि ॥ ८ ॥

स्नानविधिके ज्ञाता भृत्यजन विधिपूर्वक सोनेके घड़ोंमें चन्दनमिश्रित जल लेकर ठीक समयपर आये ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान्।
उपानिन्युस्तथा पुण्याः कुमारीबहुलाः स्त्रियः ॥ ९ ॥

पवित्र आचार-विचारवाली स्त्रियाँ, जिनमें कुमारी-कन्याओंकी संख्या अधिक थी, मङ्गलके लिये स्पर्श करने योग्य गौ आदि, पीने योग्य गङ्गाजल आदि तथा अन्य उपकरण—दर्पण, आभूषण और वस्त्र आदि ले आयीं ॥ ९ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम्।
सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत् तदभूदाभिहारिकम् ॥ १० ॥

प्रातःकाल राजाओंके मङ्गलके लिये जो-जो वस्तुएँ लायी जाती हैं, उनका नाम आभिहारिक है। वहाँ लायी गयी सारी आभिहारिक सामग्री समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, विधिके अनुरूप, आदर और प्रशंसाके योग्य उत्तम गुणसे युक्त तथा शोभायमान थी ॥ १० ॥

ततः सूर्योदयं यावत् सर्वं परिसमुत्सुकम्।
तस्थावनुपसम्प्राप्तं किंस्विदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय होनेतक राजाकी सेवाके लिये उत्सुक हुआ सारा परिजनवर्ग वहाँ आकर खड़ा हो गया। जब उस समयतक राजा बाहर नहीं निकले, तब सबके मनमें यह शङ्का हो गयी कि महाराजके न आनेका क्या कारण हो सकता है ? ॥ ११ ॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं प्रत्यनन्तराः।
ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

तदनन्तर जो कोसलनरेश दशरथके समीप रहनेवाली स्त्रियाँ थीं, वे उनकी शय्याके पास जाकर अपने स्वामीको जगाने लगीं ॥ १२ ॥

अथाप्युचितवृत्तास्ता विनयेन नयेन च।
नह्यस्य शयनं स्पृष्ट्वा किंचिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥

वे स्त्रियाँ उनका स्पर्श आदि करनेके योग्य थीं; अतः विनीतभावसे युक्तिपूर्वक उन्होंने उनकी शय्याका स्पर्श किया। स्पर्श करके भी वे उनमें जीवनका कोई चिह्न नहीं पा सकीं ॥ १३ ॥

ताः स्त्रियः स्वप्नशीलज्ञाश्चेष्टां संचलनादिषु।
ता वेपथुपरीताश्च राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥

सोये हुए पुरुषकी जैसी स्थिति होती है, उसको भी वे स्त्रियाँ अच्छी तरह समझती थीं; अतः उन्होंने हृदय एवं हाथके मूलभागमें चलनेवाली नाड़ियोंकी भी परीक्षा की, किंतु वहाँ भी कोई चेष्टा नहीं प्रतीत हुई। फिर तो वे काँप उठीं। उनके मनमें राजाके प्राणोंके निकल जानेकी आशङ्का हो गयी ॥ १४ ॥

प्रतिस्रोतस्तृणाग्राणां सदृशं संचकाशिरे।
अथ संदेहमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम्।
यत् तदाशङ्कितं पापं तदा जज्ञे विनिश्चयः ॥ १५ ॥

वे जलके प्रवाहके सम्मुख पड़े हुए तिनकोंके अग्रभागकी भाँति काँपती हुई प्रतीत होने लगीं। संशयमें पड़ी हुई उन स्त्रियोंको राजाकी ओर देखकर उनकी मृत्युके विषयमें जो शङ्का हुई थी, उसका उस समय उन्हें पूरा निश्चय हो गया ॥ १५ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते।

प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथा कालसमन्विते ॥ १६ ॥

पुत्रशोकसे आक्रान्त हुई कौसल्या और सुमित्रा उस समय मरी हुईके समान सो गयी थीं और उस समयतक उनकी नींद नहीं खुल पायी थी ॥ १६ ॥

निष्प्रभा सा विवर्णा च सन्ना शोकेन संनता ।
न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ॥ १७ ॥

सोयी हुई कौसल्या श्रीहीन हो गयी थीं । उनके शरीरका रंग बदल गया था । वे शोकसे पराजित एवं पीड़ित हो अन्धकारसे आच्छादित हुई तारिकाके समान शोभा नहीं पा रही थीं ॥ १७ ॥

कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ।
न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलुलितानना ॥ १८ ॥

राजाके पास कौसल्या थीं और कौसल्याके समीप देवी सुमित्रा थीं । दोनों ही निद्रामग्न हो जानेके कारण शोभाहीन प्रतीत होती थीं । उन दोनोंके मुखपर शोकके आँसू फैले हुए थे ॥ १८ ॥

ते च दृष्ट्वा तदा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम् ।
सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरममन्यत ॥ १९ ॥

उस समय उन दोनों देवियोंको निद्रामग्न देख अन्तःपुरकी अन्य स्त्रियोंने यही समझा कि सोते अवस्थामें ही महाराजके प्राण निकल गये हैं ॥ १९ ॥

ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः ।
करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः ॥ २० ॥

फिर तो जैसे जंगलमें यूथपति गजराजके अपने वास-स्थानसे अन्यत्र चले जानेपर हथिनियाँ करुण चीत्कार करने लगती हैं, उसी प्रकार वे अन्तःपुरकी सुन्दरी रानियाँ अत्यन्त दुखी हो उच्चस्वरसे आर्तनाद करने लगीं ॥ २० ॥

तासामाक्रन्दशब्देन सहसोद्गतचेतने ।
कौसल्या च सुमित्रा च त्यक्तनिद्रे बभूवतुः ॥ २१ ॥

उनके रोनेकी आवाजसे कौसल्या और सुमित्राकी भी नींद टूट गयी और वे दोनों सहसा जाग उठीं ॥ २१ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च पार्थिवम् ।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥

कौसल्या और सुमित्राने राजाको देखा, उनके शरीरका स्पर्श किया और 'हा नाथ !' की पुकार मचाती हुई वे दोनों रानियाँ पृथ्वीपर गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कोसलेन्द्रदुहिता चेष्टमाना महीतले ।
न भ्राजते रजोध्वस्ता तारेव गगनच्युता ॥ २३ ॥

कोसलराजकुमारी कौसल्या धरतीपर लोटने और छटपटाने लगीं । उनका धूलि-धूसरित शरीर शोभाहीन दिखायी देने लगा, मानो आकाशसे टूटकर गिरी हुई कोई तारा धूलमें लोट रही हो ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणे जाते कौसल्यां पतितां भुवि ।
अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥ २४ ॥

राजा दशरथके शरीरकी उष्णता शान्त हो गयी थी । इस प्रकार उनका जीवन शान्त हो जानेपर भूमिपर अचेत पड़ी हुई कौसल्याको अन्तःपुरकी उन सारी स्त्रियोंने मरी हुई नागिनके समान देखा ॥ २४ ॥

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः ।
रुदत्यः शोकसंतप्ता निपेतुर्गतचेतनाः ॥ २५ ॥

तदनन्तर पीछे आयी हुई महाराजकी कैकेयी आदि सारी रानियाँ शोकसे संतप्त होकर रोने लगीं और अचेत होकर गिर पड़ीं ॥ २५ ॥

ताभिः स बलवान् नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः ।
येन स्फीतीकृतो भूयस्तद् गृहं समनादयत् ॥ २६ ॥

उन क्रन्दन करती हुई रानियोंने वहाँ पहलेसे होनेवाले प्रबल आर्तनादको और भी बढ़ा दिया । उस बढ़े हुए आर्तनादसे वह सारा राजमहल पुनः बड़े जोरसे गूँज उठा ॥ २६ ॥

तत् परित्रस्तसम्भ्रान्तपर्युत्सुकजनाकुलम् ।
सर्वतस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तबान्धवम् ॥ २७ ॥
सद्योनिपतितानन्दं दीनं विक्लवदर्शनम् ।
बभूव नरदेवस्य सद्म दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

कालधर्मको प्राप्त हुए राजा दशरथका वह भवन डरे, घबराये और अत्यन्त उत्सुक हुए मनुष्योंसे भर गया । सब ओर रोने-चिल्लानेका भयंकर शब्द होने लगा । वहाँ राजाके सभी बन्धु-बान्धव शोक-संतापसे पीड़ित होकर जुट गये । वह सारा भवन तत्काल आनन्दशून्य हो दीन-दुखी एवं व्याकुल दिखायी देने लगा ॥ २७-२८ ॥

अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभं
यशस्विनं तं परिवार्य पत्नयः ।
भृशं रुदत्यः करुणं सुदुःखिताः
प्रगृह्य बाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥

उन यशस्वी भूपालशिरोमणिको दिवङ्गत हुआ जान उनकी सारी पत्नियाँ उन्हें चारों ओरसे घेरकर अत्यन्त दुखी हो जोर-जोरसे रोने लगीं और उनकी दोनों बाँहें पकड़कर अनाथकी भाँति करुण-विलाप करने लगीं ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजाके लिये कौसल्याका विलाप और कैकेयीकी भर्त्सना, मन्त्रियोंका राजाके शवको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें सुलाना, रानियोंका विलाप, पुरीकी श्रीहीनता और पुरवासियोंका शोक

तमग्निमिव संशान्तमम्बुहीनमिवार्णवम् ।
गतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य भूमिपम् ॥ १ ॥
कौसल्या बाष्पपूर्णाक्षी विविधं शोककर्शिता ।
उपगृह्य शिरो राज्ञः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

बुझी हुई आग, जलहीन समुद्र तथा प्रभाहीन सूर्यकी भाँति शोभाहीन हुए दिवङ्गत राजाका शव देखकर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसू भर आये । वे अनेक प्रकारसे शोकाकुल होकर राजाके मस्तकको गोदमें ले कैकेयीसे इस प्रकार बोलीं—॥ १-२ ॥

सकामा भव कैकेयि भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ।
त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा नृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

'दुराचारिणी क्रूर कैकेयी ले, तेरी कामना सफल हुई । अब राजाको भी त्यागकर एकाग्रचित्त हो अपना अकण्टक राज्य भोग ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।
विपथे सार्थहीनेव नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

'राम मुझे छोड़कर वनमें चले गये और मेरे स्वामी स्वर्ग सिधारे । अब मैं दुर्गम मार्गमें साथियोंसे बिछुड़कर असहाय हुई अबलाकी भाँति जीवित नहीं रह सकती ॥ ४ ॥

भर्तारं तु परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।
इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेय्यास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

'नारीधर्मको त्याग देनेवाली कैकेयीके सिवा संसारमें दूसरी कौन ऐसी स्त्री होगी, जो अपने लिये आराध्य देवस्वरूप पतिका परित्याग करके जीना चाहेगी ? ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषान् किंपाकमिव भक्षयन् ।
कुब्जानिमित्तं कैकेय्या राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥

जैसे कोई धनका लोभी दूसरोंको विष खिला देता है और उससे होनेवाले हत्याके दोषोंपर ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार इस कैकेयीने कुब्जाके कारण रघुवंशियोंके इस कुलका नाश कर डाला ॥ ६ ॥

अनियोगे नियुक्तेन राज्ञा रामं विवासितम् ।
सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

'कैकेयीने महाराजको अयोग्य कार्यमें लगाकर उनके द्वारा पत्नीसहित श्रीरामको वनवास दिलवा दिया । यह समाचार जब राजा जनक सुनेंगे, तब मेरे ही समान उनको भी बड़ा कष्ट होगा ॥ ७ ॥

स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः ।
रामः कमलपत्राक्षो जीवन्नाशमितो गतः ॥ ८ ॥

'मैं अनाथ और विधवा हो गयी—यह बात मेरे धर्मात्मा पुत्र कमलनयन श्रीरामको नहीं मालूम है । वे तो यहाँसे जीते-जी अदृश्य हो गये हैं ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा चारुतपस्विनी ।
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्विजिष्यति ॥ ९ ॥

'पति-सेवारूप मनोहर तप करनेवाली विदेहराजकुमारी सीता दुःख भोगनेके योग्य नहीं है । वह वनमें दुःखका अनुभव करके उद्विग्न हो उठेगी ॥ ९ ॥

नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम् ।
निशम्यमाना संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

'रातके समय भयानक शब्द करनेवाले पशु-पक्षियोंकी बोली सुनकर भयभीत हो सीता श्रीरामकी ही शरण लेगी—उन्हींकी गोदमें जाकर छिपेगी ॥ १० ॥

वृद्धश्चैवाल्पपुत्रश्च वैदेहीमनुचिन्तयन् ।
सोऽपि शोकसमाविष्टो नूनं त्यक्ष्यति जीवितम् ॥ ११ ॥

'जो बूढ़े हो गये हैं, कन्याएँमात्र ही जिनकी संतति हैं, वे राजा जनक भी सीताकी ही बारंबार चिन्ता करते हुए शोकमें डूबकर अवश्य ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ ११ ॥

साहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।
इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥

'मैं भी आज ही मृत्युका वरण करूँगी । एक पतिव्रताकी भाँति पतिके शरीरका आलिङ्गन करके चिताकी आगमें प्रवेश कर जाऊँगी' ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्विनीम् ।
व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः ॥ १३ ॥

पतिके शरीरको हृदयसे लगाकर अत्यन्त दुःखसे आर्त हो करुण विलाप करती हुई तपस्विनी कौसल्याको राजकाज देखनेवाले मन्त्रियोंने दूसरी स्त्रियोंद्वारा वहाँसे हटवा दिया ॥ १३ ॥

तैलद्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम् ।
राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टाश्चक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥ १४ ॥

फिर उन्होंने महाराजके शरीरको तेलसे भरे हुए कड़ाहमें रखकर वसिष्ठ आदिकी आज्ञाके अनुसार शवकी रक्षा आदि अन्य सब राजकीय कार्योंकी सँभाल आरम्भ कर दी ॥ १४ ॥

न तु संकालनं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः ।
सर्वज्ञाः कर्तुमीषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥ १५ ॥

वे सर्वज्ञ मन्त्री पुत्रके बिना राजाका दाह-संस्कार न कर सके, इसलिये उनके शवकी रक्षा करने लगे ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां शायितं तं सचिवैस्तु नराधिपम् ।
हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥ १६ ॥

जब मन्त्रियोंने राजाके शवको तेलके कड़ाहमें सुलाया, तब यह जानकर सारी रानियाँ 'हाय ! ये महाराज परलोकवासी हो गये' ऐसा कहती हुई पुनः विलाप करने लगीं ॥ १६ ॥

बाहूनुच्छ्रित्य कृपणा नेत्रप्रस्रवणैर्मुखैः ।
रुदत्यः शोकसंतप्ताः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

उनके मुखपर नेत्रोंसे आँसुओंके झरने झर रहे थे । वे अपनी भुजाओंको ऊपर उठाकर दीनभावसे रोने और शोकसंतप्त हो दयनीय विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

हा महाराज रामेण संततं प्रियवादिना ।
विहीनाः सत्यसंधेन किमर्थं विजहासि नः ॥ १८ ॥

वे बोलीं—'हा महाराज ! हम सत्यप्रतिज्ञ एवं सदा प्रिय बोलनेवाले अपने पुत्र श्रीरामसे तो बिछुड़ी ही थीं, अब आप भी क्यों हमारा परित्याग कर रहे हैं ? ॥ १८ ॥

कैकेय्या दुष्टभावाया राघवेण विवर्जिताः ।
कथं सपत्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥ १९ ॥

'श्रीरामसे बिछुड़कर हम सब विधवाएँ इस दुष्ट विचार-वाली सौत कैकेयीके समीप कैसे रहेंगी ? ॥ १९ ॥

स हि नाथः स चास्माकं तव च प्रभुरात्मवान् ।
वनं रामो गतः श्रीमान् विहाय नृपतिश्रियम् ॥ २० ॥

'जो हमारे और आपके भी रक्षक और प्रभु थे, वे मनस्वी श्रीरामचन्द्र राजलक्ष्मीको छोड़कर वन चले गये ॥२०॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।
कथं वयं निवत्स्यामः कैकेय्या च विदूषिताः ॥ २१ ॥

'वीरवर श्रीराम और आपके भी न रहनेसे हमारे ऊपर बड़ा भारी संकट आ गया, जिससे हम मोहित हो रही हैं । अब सौत कैकेयीके द्वारा तिरस्कृत हो हम यहाँ कैसे रह सकेंगी ? ॥ २१ ॥

यया च राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महाबलः ।
सीतया सह संत्यक्ताः सा कमन्यं न हास्यति ॥ २२ ॥

'जिसने राजाका तथा सीतासहित श्रीराम और महाबली लक्ष्मणका भी परित्याग कर दिया, वह दूसरे किसका त्याग नहीं करेगी ?' ॥ २२ ॥

ता बाष्पेण च संवीताः शोकेन विपुलेन च ।
व्यचेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

रघुकुलनरेश दशरथकी वे सुन्दरी रानियाँ महान् शोकसे ग्रस्त हो आँसू बहाती हुई नाना प्रकारकी चेष्टाएँ और विलाप कर रही थीं । उनका आनन्द लुट गया था ॥ २३ ॥

निशा नक्षत्रहीनेव स्त्रीव भर्तृविवर्जिता ।
पुरी नाराजतायोध्या हीना राज्ञा महात्मना ॥ २४ ॥

महामना राजा दशरथसे हीन हुई वह अयोध्यापुरी नक्षत्रहीन रात्रि और पतिविहीना नारीकी भाँति श्रीहीन हो गयी थी ॥ २४ ॥

बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।
शून्यचत्वरवेश्मान्ता न बभ्राज यथापुरम् ॥ २५ ॥

नगरके सभी मनुष्य आँसू बहा रहे थे । कुलवती स्त्रियाँ हाहाकार कर रही थीं । चौराहे तथा घरोंके द्वार सूने दिखायी देते थे (वहाँ झाड़-बुहार, लीपने-पोतने तथा बलि अर्पण करने आदिकी क्रियाएँ नहीं होती थीं) । इस प्रकार वह पुरी पहलेकी भाँति शोभा नहीं पाती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकात् त्रिदिवं नराधिपे
महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।
निवृत्तचारः सहसा गतो रविः
प्रवृत्तचारा रजनी ह्युपस्थिता ॥ २६ ॥

राजा दशरथ शोकवश स्वर्ग सिधारे और उनकी रानियाँ शोकसे ही भूतलपर लोटती रहीं । इस शोकमें ही सहसा सूर्यकी किरणोंका प्रचार बंद हो गया और सूर्यदेव अस्त हो गये । तत्पश्चात् अन्धकारका प्रचार करती हुई रात्रि उपस्थित हुई ॥ २६ ॥

ऋते तु पुत्राद् दहनं महीपते-
र्नारोचयंस्ते सुहृदः समागताः ।
इतीव तस्मिञ्शयने न्यवेशयन्
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

वहाँ पधारे हुए सुहृदोंने किसी भी पुत्रके बिना राजाका दाह-संस्कार होना नहीं पसंद किया । अब राजाका दर्शन अचिन्त्य हो गया, यह सोचते हुए उन सबने उस तैलपूर्ण कड़ाहमें उनके शवको सुरक्षित रख दिया ॥ २७ ॥

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना
व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।
पुरी बभासे रहिता महात्मना
कण्ठास्रकण्ठाकुलमार्गचत्वरा ॥ २८ ॥

सूर्यके बिना प्रभाहीन आकाश तथा नक्षत्रोंके बिना शोभाहीन रात्रिकी भाँति अयोध्यापुरी महात्मा राजा दशरथसे रहित हो श्रीहीन प्रतीत होती थी । उसकी सड़कों और चौराहोंपर आँसुओंसे अवरुद्ध कण्ठवाले मनुष्योंकी भीड़ एकत्र हो गयी थी ॥ २८ ॥

नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।
तदा नगर्यां नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेभिरे ॥ २९ ॥

झुंड-के-झुंड स्त्री और पुरुष एक साथ खड़े होकर भरत-माता कैकेयीकी निन्दा करने लगे । उस समय महाराजकी मृत्युसे अयोध्यापुरीमें रहनेवाले सभी लोग शोकाकुल हो रहे थे । कोई भी शान्ति नहीं पाता था ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

मार्कण्डेय आदि मुनियों तथा मन्त्रियोंका राजाके बिना होनेवाली देशकी दुरवस्थाका वर्णन करके वशिष्ठजीसे किसीको राजा बनानेके लिये अनुरोध

आक्रन्दिता निरानन्दा सास्रकण्ठजनाविला ।
अयोध्यायामवतता सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

अयोध्यामें लोगोंकी वह रात रोते-कलपते ही बीती । उसमें आनन्दका नाम भी नहीं था । आँसुओंसे सब लोगोंके कण्ठ भरे हुए थे । दुःखके कारण वह रात सबको बड़ी लंबी प्रतीत हुई थी ॥ १ ॥

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः ।
समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः ॥ २ ॥

जब रात बीत गयी और सूर्योदय हुआ, तब राज्यका प्रबन्ध करनेवाले ब्राह्मणलोग एकत्र हो दरबारमें आये ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः ।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥
एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन् ।
वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम और महायशस्वी जाबालि—ये सभी ब्राह्मणश्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठजीके सामने बैठकर मन्त्रियोंके साथ अपनी अलग-अलग राय देने लगे ॥ ३-४ ॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा ।
अस्मिन् पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥

वे बोले—'पुत्रशोकसे इन महाराजके स्वर्गवासी होनेके कारण यह रात बड़े दुःखसे बीती है, जो हमारे लिये सौ वर्षोंके समान प्रतीत हुई थी ॥ ५ ॥

स्वर्गस्थश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

'महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे । श्रीरामचन्द्रजी वनमें रहने लगे और तेजस्वी लक्ष्मण भी श्रीरामके साथ ही चले गये ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ केकयेषु परंतपौ ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातामहनिवेशने ॥ ७ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले दोनों भाई भरत और [illegible] केकयदेशके रमणीय राजगृहमें नानाके घरमें निवास करते हैं ॥

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद् राजा विधीयताम् ।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

'इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारोंमेंसे किसीको आज ही यहाँका राजा बनाया जाय; क्योंकि राजाके बिना हमारे इस राज्यका नाश हो जायगा ॥ ८ ॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा ॥ ९ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, ऐसे जनपदमें विद्युन्मालाओंसे अलंकृत महान् गर्जन करनेवाला मेघ पृथ्वीपर दिव्य जलकी वर्षा नहीं करता है ॥ ९ ॥

नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥ १० ॥

'जिस जनपदमें कोई राजा नहीं, वहाँके खेतोंमें मुट्ठी-के-मुट्ठी बीज नहीं बिखेरे जाते । राजासे रहित देशमें पुत्र पिता और स्त्री पतिके वशमें नहीं रहती ॥ १० ॥

अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके ।
इदमत्याहितं चान्यत् कुतः सत्यमराजके ॥ ११ ॥

'राजहीन देशमें धन अपना नहीं होता है । बिना राजाके राज्यमें पत्नी भी अपनी नहीं रह पाती है । राजारहित देशमें यह महान् भय बना रहता है । (जब वहाँ पति-पत्नी आदिका सत्य सम्बन्ध नहीं रह सकता,) तब फिर दूसरा कोई सत्य कैसे रह सकता है ? ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च ॥ १२ ॥

'बिना राजाके राज्यमें मनुष्य कोई पञ्चायत-भवन नहीं बनवाते, रमणीय उद्यानका भी निर्माण नहीं करवाते तथा हर्ष और उत्साहके साथ पुण्यगृह (धर्मशाला, मन्दिर आदि) भी नहीं बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।
[illegible] ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥ १३ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं, उस जनपदमें स्वभावतः यज्ञ करनेवाले द्विज और कठोर व्रतका पालन करनेवाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण उन बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान नहीं करते, जिनमें सभी ऋत्विज और सभी यजमान होते हैं ॥ १३ ॥

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः।
ब्राह्मणा वसुसम्पूर्णा विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः ॥ १४ ॥

'राजारहित जनपदमें कदाचित् महायज्ञोंका आरम्भ हो भी तो उनमें धनसम्पन्न ब्राह्मण भी ऋत्विजोंको पर्याप्त दक्षिणा नहीं देते (उन्हें भय रहता है कि लोग हमें धनी समझकर लूट न लें) ॥ १४ ॥

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥

'अराजक देशमें राष्ट्रको उन्नतिशील बनानेवाले उत्सव, जिनमें नट और नर्तक हर्षमें भरकर अपनी कलाका प्रदर्शन करते हैं, बढ़ने नहीं पाते हैं तथा दूसरे-दूसरे राष्ट्रहितकारी संघ भी नहीं पनपने पाते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः।
कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥

'बिना राजाके राज्यमें वादी और प्रतिवादीके विवादका संतोषजनक निपटारा नहीं हो पाता अथवा व्यापारियोंको लाभ नहीं होता। कथा सुननेकी इच्छावाले लोग कथावाचक पौराणिकोंकी कथाओंसे प्रसन्न नहीं होते ॥ १६ ॥

नाराजके जनपदे तूद्यानानि समागताः।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ १७ ॥

'राजारहित जनपदमें सोनेके आभूषणोंसे विभूषित हुई कुमारियाँ एक साथ मिलकर संध्याके समय उद्यानोंमें क्रीडा करनेके लिये नहीं जाती हैं ॥ १७ ॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १८ ॥

'बिना राजाके राज्यमें धनीलोग सुरक्षित नहीं रह पाते तथा कृषि और गोरक्षासे जीवन-निर्वाह करनेवाले वैश्य भी दरवाजा खोलकर नहीं सो पाते हैं ॥ १८ ॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रवाहिभिः।
नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥ १९ ॥

'राजासे रहित जनपदमें कामी मनुष्य नारियोंके साथ शीघ्रगामी वाहनोंद्वारा वनविहारके लिये नहीं निकलते हैं ॥

नाराजके जनपदे बद्धघण्टा विषाणिनः।
अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः षष्टिहायनाः ॥ २० ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें साठ वर्षके दन्तार हाथी घंटे बाँधकर सड़कोंपर नहीं घूमते हैं ॥ २० ॥

नाराजके जनपदे शरान् संततमस्यताम्।
श्रूयते तलनिर्घोष इष्वस्त्राणामुपासने ॥ २१ ॥

'बिना राजाके राज्यमें धनुर्विद्याके अभ्यासकालमें निरन्तर लक्ष्यकी ओर बाण चलानेवाले वीरोंकी प्रत्यञ्चा तथा करतलका शब्द नहीं सुनायी देता है ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥

'राजासे रहित जनपदमें दूर जाकर व्यापार करनेवाले वणिक् बेचनेकी बहुत-सी वस्तुएँ साथ लेकर कुशलपूर्वक मार्ग तै नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी।
भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं यत्र सायं गृहो मुनिः ॥ २३ ॥

'जहाँ कोई राजा नहीं होता, उस जनपदमें जहाँ संध्या हो वहीं डेरा डाल देनेवाला, अपने अन्तःकरणके द्वारा परमात्माका ध्यान करनेवाला और अकेला ही विचरनेवाला जितेन्द्रिय मुनि नहीं घूमता-फिरता है (क्योंकि उसे कोई भोजन देनेवाला नहीं होता) ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते।
न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि ॥ २४ ॥

'अराजक देशमें लोगोंको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुकी रक्षा नहीं हो पाती। राजाके न रहनेपर सेना भी युद्धमें शत्रुओंका सामना नहीं करती ॥ २४ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः।
नराः संयान्ति सहसा रथैश्च प्रतिमण्डिताः ॥ २५ ॥

'बिना राजाके राज्यमें लोग वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो हृष्ट-पुष्ट उत्तम घोड़ों तथा रथोंद्वारा सहसा यात्रा नहीं करते हैं (क्योंकि उन्हें लुटेरोंका भय बना रहता है) ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः।
संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु वा ॥ २६ ॥

'राजासे रहित राज्यमें शास्त्रोंके विशिष्ट विद्वान् मनुष्य वनों और उपवनोंमें शास्त्रोंकी व्याख्या करते हुए नहीं ठहर पाते हैं ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः।
देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते नियतैर्जनैः ॥ २७ ॥

'जहाँ अराजकता फैल जाती है, उस जनपदमें मनको वशमें रखनेवाले लोग देवताओंकी पूजाके लिये फूल, मिठाई और दक्षिणाकी व्यवस्था नहीं करते हैं ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्दनागुरुरूषिताः।
राजपुत्रा विराजन्ते वसन्ते इव शाखिनः ॥ २८ ॥

'जिस जनपदमें कोई राजा नहीं होता है, वहाँ चन्दन और अगुरुका लेप लगाये हुए राजकुमार वसन्त-ऋतुके खिले हुए वृक्षोंकी भाँति शोभा नहीं पाते हैं ॥ २८ ॥

यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम्।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥ २९ ॥

'जैसे जलके बिना नदियाँ, घासके बिना वन और ग्वालोंके बिना गौओंकी शोभा नहीं होती, उसी प्रकार राजाके बिना राज्य शोभा नहीं पाता है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं धूमो ज्ञानं विभावसोः।
तेषां यो नो ध्वजो राजा स देवत्वमितो गतः ॥ ३० ॥

'जैसे ध्वज रथका ज्ञान कराता है और धूम अग्निका बोधक होता है, उसी प्रकार राजकाज देखनेवाले हमलोगोंके अधिकारको प्रकाशित करनेवाले जो महाराज थे, वे यहाँसे देवलोकको चले गये ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

'राजाके न रहनेपर राज्यमें किसी भी मनुष्यकी कोई भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती। जैसे मत्स्य एक दूसरेको खा जाते हैं, उसी प्रकार अराजक देशके लोग सदा एक-दूसरेको खाते—लूटते-खसोटते रहते हैं ॥ ३१ ॥

ये हि सम्भिन्नमर्यादा नास्तिकाश्छिन्नसंशयाः।
तेऽपि भावाय कल्पन्ते राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

'जो वेद-शास्त्रोंकी तथा अपनी-अपनी जातिके लिये नियत वर्णाश्रमकी मर्यादाको भङ्ग करनेवाले नास्तिक मनुष्य पहले राजदण्डसे पीड़ित होकर दबे रहते थे, वे भी अब राजाके न रहनेसे निःशङ्क होकर अपना प्रभुत्व प्रकट करेंगे ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

'जैसे दृष्टि सदा ही शरीरके हितमें प्रवृत्त रहती है, उसी प्रकार राजा राज्यके भीतर सत्य और धर्मका प्रवर्तक होता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥

'राजा ही सत्य और धर्म है। राजा ही कुलवानोंका कुल है। राजा ही माता और पिता है तथा राजा ही मनुष्योंका हित करनेवाला है ॥ ३४ ॥

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महाबलः।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

'राजा अपने महान् चरित्रके द्वारा यम, कुबेर, इन्द्र और महाबली वरुणसे भी बढ़ जाते हैं (यमराज केवल दण्ड देते हैं, कुबेर केवल धन देते हैं, इन्द्र केवल पालन करते हैं और वरुण केवल सदाचारमें नियन्त्रित करते हैं; परंतु एक श्रेष्ठ राजामें ये चारों गुण मौजूद होते हैं। अतः वह इनसे बढ़ जाता है) ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

'यदि संसारमें भले-बुरेका विभाग करनेवाला राजा न हो तो यह सारा जगत् अन्धकारसे आच्छन्न-सा हो जाय, कुछ भी सूझ न पड़े ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥

'वसिष्ठजी ! जैसे उमड़ता हुआ समुद्र अपनी तटभूमितक पहुँचकर उससे आगे नहीं बढ़ता, उसी प्रकार हम सब लोग महाराजके जीवनकालमें भी केवल आपकी ही बातका उल्लङ्घन नहीं करते थे ॥ ३७ ॥

स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं
नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं
त्वमेव राजानमिहाभिषेचय ॥ ३८ ॥

'अतः विप्रवर ! इस समय हमारे व्यवहारको देखकर तथा राजाके अभावमें जंगल बने हुए इस देशपर दृष्टिपात करके आप ही किसी इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारको अथवा दूसरे किसी योग्य पुरुषको राजाके पदपर अभिषिक्त कीजिये' ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

वसिष्ठजीकी आज्ञासे पाँच दूतोंका अयोध्यासे केकयदेशके राजगृह नगरमें जाना

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
मित्रामात्यजनान् सर्वान् ब्राह्मणांस्तानिदं वचः ॥ १ ॥

मार्कण्डेय आदिके ऐसे वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मित्रों, मन्त्रियों और उन समस्त ब्राह्मणोंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परं सुखी।
भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन मुदान्वितः ॥ २ ॥

'राजा दशरथने जिनको राज्य दिया है, वे भरत इस समय अपने भाई शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ बड़े सुख और प्रसन्नताके साथ निवास करते हैं ॥ २ ॥

तच्छीघ्रं जवना दूता गच्छन्तु त्वरितं हयैः।
आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

'उन दोनों वीर बन्धुओंको बुलानेके लिये शीघ्र ही तेज चलनेवाले दूत घोड़ोंपर सवार होकर यहाँसे जायँ, इसके

सिवा हमलोग और क्या विचार कर सकते हैं?' ॥ ३ ॥

गच्छन्त्विति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन्।
तेषां तद् वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥ ४॥

इसपर सबने वसिष्ठजीसे कहा—'हाँ, दूत अवश्य भेजे जायँ।' उनका वह कथन सुनकर वसिष्ठजीने दूतोंको सम्बोधित करके कहा—॥ ४॥

एहि सिद्धार्थ विजय जयन्ताशोकनन्दन।
श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः॥ ५॥

'सिद्धार्थ! विजय! जयन्त! अशोक! और नन्दन! तुम सब यहाँ आओ और तुम्हें जो काम करना है, उसे सुनो। मैं तुम सब लोगोंसे ही कहता हूँ॥ ५॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः।
त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद् भरतो मम॥ ६॥

'तुमलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर तुरंत ही राजगृह नगरको जाओ और शोकका भाव न प्रकट करते हुए मेरी आज्ञाके अनुसार भरतसे इस प्रकार कहो॥ ६॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥ ७॥

'कुमार! पुरोहितजी तथा समस्त मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है। अब आप यहाँसे शीघ्र ही चलिये। अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है॥ ७॥

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम्।
भवन्तः शंसिषुर्गत्वा राघवाणामितः क्षयम्॥ ८॥

'भरतको श्रीरामचन्द्रके वनवास और पिताकी मृत्युका हाल मत बतलाना और इन परिस्थितियोंके कारण रघुवंशियोंके यहाँ जो कुहराम मचा हुआ है, इसकी चर्चा भी न करना॥ ८॥

कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च।
क्षिप्रमादाय राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत॥ ९॥

'केकयराज तथा भरतको भेंट देनेके लिये रेशमी वस्त्र और उत्तम आभूषण लेकर तुमलोग यहाँसे शीघ्र चल दो'॥ ९॥

दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम्।
केकयांस्ते गमिष्यन्तो हयानारुह्य सम्मतान्॥ १०॥

केकयदेशको जानेवाले वे दूत रास्तेका खर्च ले अच्छे घोड़ोंपर सवार हो अपने-अपने घरको गये॥ १०॥

ततः प्रास्थानिकं कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्।
वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूता संत्वरितं ययुः॥ ११॥

तदनन्तर यात्रासम्बन्धी शेष तैयारी पूरी करके वसिष्ठजीकी आज्ञा ले सभी दूत तुरंत वहाँसे प्रस्थित हो गये॥ ११॥

न्यन्तेनापरतालस्य प्रलम्बस्योत्तरं प्रति।
निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम्॥ १२॥

अपरताल नामक पर्वतके अन्तिम छोर अर्थात् दक्षिणभाग और प्रलम्बगिरिके उत्तरभागमें दोनों पर्वतोंके बीचसे बहनेवाली मालिनी नदीके तटपर होते हुए वे दूत आगे बढ़े॥ १२॥

ते हास्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्मुखा ययुः।
पाञ्चालदेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम्॥ १३॥

हस्तिनापुरमें गङ्गाको पार करके वे पश्चिमकी ओर गये और पाञ्चालदेशमें पहुँचकर कुरुजाङ्गल प्रदेशके बीचसे होते हुए आगे बढ़ गये॥ १३॥

सरांसि च सुफुल्लानि नदीश्च विमलोदकाः।
निरीक्षमाणा जग्मुस्ते दूताः कार्यवशाद् द्रुतम्॥ १४॥

मार्गमें सुन्दर फूलोंसे सुशोभित सरोवरों तथा निर्मल जलवाली नदियोंका दर्शन करते हुए वे दूत कार्यवश तीव्रगतिसे आगे बढ़ते गये॥ १४॥

ते प्रसन्नोदकां दिव्यां नानाविहगसेविताम्।
उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जलाकुलाम्॥ १५॥

तदनन्तर वे स्वच्छ जलसे सुशोभित, पानीसे भरी हुई और भाँति-भाँतिके पक्षियोंसे सेवित दिव्य नदी शरदण्डाके तटपर पहुँचकर उसे वेगपूर्वक लाँघ गये॥ १५॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं सत्योपयाचनम्।
अभिगम्याभिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन् पुरीम्॥ १६॥

शरदण्डाके पश्चिमतटपर एक दिव्य वृक्ष था, जिसपर किसी देवताका आवास था; इसीलिये वहाँ जो याचना की जाती थी, वह सत्य (सफल) होती थी, अतः उसका नाम सत्योपयाचन हो गया था। उस वंदनीय वृक्षके निकट पहुँचकर दूतोंने उसकी परिक्रमा की और वहाँसे आगे जाकर उन्होंने कुलिङ्गा नामक पुरीमें प्रवेश किया॥ १६॥

अभिकालं ततः प्राप्य तेजोऽभिभवनाच्च्युताः।
पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम्॥ १७॥

वहाँसे तेजोऽभिभवन नामक गाँवको पार करते हुए वे अभिकाल नामक गाँवमें पहुँचे और वहाँसे आगे बढ़नेपर उन्होंने राजा दशरथके पिता-पितामहोंद्वारा सेवित पुण्यसलिला इक्षुमती नदीको पार किया॥ १७॥

अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान् वेदपारगान्।
ययुर्मध्येन बाह्लीकान् सुदामानं च पर्वतम्॥ १८॥

वहाँ केवल अञ्जलि भर जल पीकर तपस्या करनेवाले वेदोंके पारगामी ब्राह्मणोंका दर्शन करके वे दूत बाह्लीक देशके मध्यभागमें स्थित सुदामा नामक पर्वतके पास जा पहुँचे॥ १८॥

विष्णोः पदं प्रेक्ष्यमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्।
नदीर्वापीतटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहान् व्याघ्रान् मृगान् द्विपान्।
ययुः पथातिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

उस पर्वतके शिखरपर स्थित भगवान् विष्णुके चरणचिह्नका दर्शन करके वे विपाशा (व्यास) नदी और उसके तटवर्ती शाल्मली वृक्षके निकट गये। वहाँसे आगे बढ़नेपर बहुत-सी नदियों, बावड़ियों, पोखरों, छोटे तालाबों, सरोवरों तथा भाँति-भाँतिके वनजन्तुओं—सिंह, व्याघ्र, मृग और हाथियोंका दर्शन करते हुए वे दूत अत्यन्त विशाल मार्गके द्वारा आगे बढ़ने लगे। वे अपने स्वामीकी आज्ञाका शीघ्र पालन करनेकी इच्छा रखते थे ॥ १९-२० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेन सता पथा।
गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रमासेदुरञ्जसा ॥ २१ ॥

उन दूतोंके वाहन (घोड़े) चलते-चलते थक गये थे। वह मार्ग बड़ी दूरका होनेपर उपद्रवसे रहित था। उसे तै करके सारे दूत शीघ्र ही बिना किसी कष्टके श्रेष्ठ नगर गिरिव्रजमें जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं
भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम्।
अहेडमानास्त्वरया स्म दूता
रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥

अपने स्वामी (आज्ञा देनेवाले वसिष्ठजी) का प्रिय और प्रजावर्गकी रक्षा करने तथा महाराज दशरथके वंशपरम्परागत राज्यको भरतजीसे स्वीकार करानेके लिये सादर तत्पर हुए वे दूत बड़ी उतावलीके साथ चलकर रातमें ही उस नगरमें जा पहुँचे ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

भरतकी चिन्ता, मित्रोंद्वारा उन्हें प्रसन्न करनेका प्रयास तथा उनके पूछनेपर भरतका मित्रोंके समक्ष अपने देखे हुए भयंकर दुःस्वप्नका वर्णन करना

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम्।
भरतेनापि तां रात्रिं स्वप्नो दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रातमें दूतोंने उस नगरमें प्रवेश किया था, उससे पहली रातमें भरतने भी एक अप्रिय स्वप्न देखा था ॥

व्युष्टामेव तु तां रात्रिं दृष्ट्वा तं स्वप्नमप्रियम्।
पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

रात बीतकर प्रायः सबेरा हो चला था तभी उस अप्रिय स्वप्नको देखकर राजाधिराज दशरथके पुत्र भरत मन-ही-मन बहुत संतप्त हुए ॥ २ ॥

तप्यमानं तमाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः।
आयासं विनयिष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥ ३ ॥

उन्हें चिन्तित जान उनके अनेक प्रियवादी मित्रोंने उनका मानसिक क्लेश दूर करनेकी इच्छासे एक गोष्ठी की और उसमें अनेक प्रकारकी बातें करने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तदा शान्तिं लासयन्त्यपि चापरे।
नाटकान्यपरे स्माहुर्हास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

कुछ लोग वीणा आदि बजाने लगे। दूसरे लोग उनके खेदकी शान्तिके लिये नृत्य कराने लगे। दूसरे मित्रोंने नाना प्रकारके नाटकोंका आयोजन किया, जिनमें हास्यरसकी प्रधानता थी ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः।
गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्भिर्न प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

किंतु रघुकुलभूषण महात्मा भरत उन प्रियवादी मित्रोंकी गोष्ठीमें हास्यविनोद करनेपर भी प्रसन्न नहीं हुए ॥ ५ ॥

तमब्रवीत् प्रियसखो भरतं सखिभिर्वृतम्।
सुहृद्भिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥

तब सुहृदोंसे घिरकर बैठे हुए एक प्रिय मित्रने मित्रोंके बीचमें विराजमान भरतसे पूछा—'सखे ! तुम आज प्रसन्न क्यों नहीं होते हो ?' ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच ह।
शृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥
स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम्।
पतन्तमद्रिशिखरात् कलुषे गोमये ह्रदे ॥ ८ ॥

इस प्रकार पूछते हुए सुहृद्को भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—'मित्र ! जिस कारणसे मेरे मनमें यह दैन्य आया है, वह बताता हूँ, सुनो। मैंने आज स्वप्नमें अपने पिताजीको देखा है। उनका मुख मलिन था, बाल खुले हुए थे और वे पर्वतकी चोटीसे एक ऐसे गंदे गढ़ेमें गिर पड़े थे, जिसमें गोबर भरा हुआ था ॥ ७-८ ॥

प्लवमानश्च मे दृष्टः स तस्मिन् गोमये ह्रदे।
पिबन्नञ्जलिना तैलं हसन्निव मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

'मैंने उस गोबरके कुण्डमें उन्हें तैरते देखा था। वे अञ्जलिमें तेल लेकर पी रहे थे और बारंबार हँसते हुए-से प्रतीत होते थे ॥ ९ ॥

ततस्तिलोदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः।
तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवान्वगाहत ॥ १० ॥

'फिर उन्होंने तिल और भात खाया। इसके बाद उनके सारे शरीरमें तेल लगाया गया और फिर वे सिर नीचे किये तेलमें ही गोते लगाने लगे ॥ १० ॥

स्वप्नेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि।
उपरुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥

'स्वप्नमें ही मैंने यह भी देखा है कि समुद्र सूख गया, चन्द्रमा पृथ्वीपर गिर पड़े हैं, सारी पृथ्वी उपद्रवसे ग्रस्त और अन्धकारसे आच्छादित-सी हो गयी है ॥ ११ ॥

औपवाह्यस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम्।
सहसा चापि संशान्ता ज्वलिता जातवेदसः ॥ १२ ॥

'महाराजकी सवारीके काममें आनेवाले हाथीका दाँत टूक-टूक हो गया ह और पहलेसे प्रज्वलित होती हुई आग सहसा बुझ गयी है ॥ १२ ॥

अवदीर्णां च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान् द्रुमान्।
अहं पश्यामि विध्वस्तान् सधूमांश्चैव पर्वतान् ॥ १३ ॥

'मैंने यह भी देखा है कि पृथ्वी फट गयी है, नाना प्रकारके वृक्ष सूख गये हैं तथा पर्वत ढह गये हैं और उनसे धुआँ निकल रहा है ॥ १३ ॥

पीठे कार्ष्णायसे चैव निषण्णं कृष्णवाससम्।
प्रहरन्ति स्म राजानं प्रमदाः कृष्णपिङ्गलाः ॥ १४ ॥

'काले लोहेकी चौकीपर महाराज दशरथ बैठे हैं। उन्होंने काला ही वस्त्र पहन रखा है और काले एवं पिङ्गलवर्णकी स्त्रियाँ उनके ऊपर प्रहार करती हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः।
रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

'धर्मात्मा राजा दशरथ लाल रंगके फूलोंकी माला पहने और लाल चन्दन लगाये गधे जुते हुए रथपर बैठकर बड़ी तेजीके साथ दक्षिण दिशाकी ओर गये हैं ॥ १५ ॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी।
प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥ १६ ॥

'लाल वस्त्र धारण करनेवाली एक स्त्री, जो विकराल मुखवाली राक्षसी प्रतीत होती थी, महाराजको हँसती हुई-सी खींचकर लिये जा रही थी। यह दृश्य भी मेरे देखनेमें आया ॥ १६ ॥

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रिं भयावहाम्।
अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥ १७ ॥

'इस प्रकार इस भयंकर रात्रिके समय मैंने यह स्वप्न देखा है। इसका फल यह होगा कि मैं, श्रीराम, राजा दशरथ अथवा लक्ष्मण—इनमेंसे किसी एककी अवश्य मृत्यु होगी ॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि।
अचिरात्तस्य धूम्राग्रं चितायां सम्प्रदृश्यते ॥ १८ ॥
एतन्निमित्तं दीनोऽहं न वचः प्रतिपूजये।
शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ॥ १९ ॥

'जो मनुष्य स्वप्नमें गधे जुते हुए रथसे यात्रा करता दिखायी देता है, उसकी चिताका धुआँ शीघ्र ही देखनेमें आता है। यही कारण है कि मैं दुखी हो रहा हूँ और आपलोगोंकी बातोंका आदर नहीं करता हूँ। मेरा गला सूखा-सा जा रहा है और मन अस्वस्थ-सा हो चला है ॥ १८-१९ ॥

न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये।
भ्रष्टश्च स्वरयोगो मे छाया चापगता मम।
जुगुप्स इव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥ २० ॥

'मैं भयका कोई कारण नहीं देखता तो भी भयको प्राप्त हो रहा हूँ। मेरा स्वर बदल गया है तथा मेरी कान्ति भी फीकी पड़ गयी है। मैं अपने-आपसे घृणा-सी करने लगा हूँ, परंतु इसका कारण क्या है, यह मेरी समझमें नहीं आता ॥ २० ॥

इमां च दुःस्वप्नगतिं निशम्य हि
त्वनेकरूपामवितर्कितां पुरा।
भयं महत्तद्धृदयान्न याति मे
विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २१ ॥

'जिनके विषयमें मैंने पहले कभी सोचातक नहीं था, ऐसे अनेक प्रकारके दुःस्वप्नोंको देखकर तथा महाराजका दर्शन इस रूपमें क्यों हुआ, जिसकी मेरे मनमें कोई कल्पना नहीं थी—यह सोचकर मेरे हृदयसे महान् भय दूर नहीं हो रहा है' ॥ २१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

दूतोंका भरतको उनके नाना और मामाके लिये उपहारकी वस्तुएँ अर्पित करना और वसिष्ठजीका संदेश सुनाना, भरतका पिता आदिकी कुशल पूछना और नानासे आज्ञा तथा उपहारकी वस्तुएँ पाकर शत्रुघ्नके साथ अयोध्याकी ओर प्रस्थान करना

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः।
प्रविश्यासह्यपरिखं रम्यं राजगृहं पुरम्॥ १॥

इस प्रकार भरत जब अपने मित्रोंको स्वप्नका वृत्तान्त बता रहे थे, उसी समय थके हुए वाहनोंवाले वे दूत उस रमणीय राजगृहपुरमें प्रविष्ट हुए, जिसकी खाईको लाँघनेका कष्ट शत्रुओंके लिये असह्य था॥ १॥

समागम्य च राज्ञा ते राजपुत्रेण चार्चिताः।
राज्ञः पादौ गृहीत्वा च तमूचुर्भरतं वचः॥ २॥

नगरमें आकर वे दूत केकयदेशके राजा और राजकुमारसे मिले तथा उन दोनोंने भी उनका सत्कार किया। फिर वे भावी राजा भरतके चरणोंका स्पर्श करके उनसे इस प्रकार बोले—॥ २॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः।
त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया॥ ३॥

'कुमार! पुरोहितजी तथा समस्त मन्त्रियोंने आपसे कुशल-मङ्गल कहा है। अब आप यहाँसे शीघ्र चलिये। अयोध्यामें आपसे अत्यन्त आवश्यक कार्य है॥ ३॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च।
प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय॥ ४॥

'विशाल नेत्रोंवाले राजकुमार! ये बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण आप स्वयं भी ग्रहण कीजिये और अपने मामाको भी दीजिये॥ ४॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु नृपतेर्मातुलस्य ते।
दशकोट्यस्तु सम्पूर्णास्तथैव च नृपात्मज॥ ५॥

'राजकुमार! यहाँ जो बहुमूल्य सामग्री लायी गयी है, इसमें बीस करोड़की लागतका सामान आपके नाना केकय-नरेशके लिये है और पूरे दस करोड़की लागतका सामान आपके मामाके लिये है'॥ ५॥

प्रतिगृह्य तु तत् सर्वं स्वनुरक्तः सुहृज्जने।
दूतानुवाच भरतः कामैः सम्प्रतिपूज्य तान्॥ ६॥

वे सारी वस्तुएँ लेकर मामा आदि सुहृदोंमें अनुराग रखनेवाले भरतने उन्हें भेंट कर दीं। तत्पश्चात् इच्छानुसार वस्तुएँ देकर दूतोंका सत्कार करनेके अनन्तर उनसे इस प्रकार कहा—॥ ६॥

कच्चित् स कुशली राजा पिता दशरथो मम।
कच्चिदारोग्यता रामे लक्ष्मणे च महात्मनि॥ ७॥

'मेरे पिता महाराज दशरथ सकुशल तो हैं न? महात्मा श्रीराम और लक्ष्मण नीरोग तो हैं न?॥ ७॥

आर्या च धर्मनिरता धर्मज्ञा धर्मवादिनी।
अरोगा चापि कौसल्या माता रामस्य धीमतः॥ ८॥

'धर्मको जानने और धर्मकी ही चर्चा करनेवाली बुद्धिमान् श्रीरामकी माता धर्मपरायणा आर्या कौसल्याको तो कोई रोग या कष्ट नहीं है?॥ ८॥

कच्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या।
शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा॥ ९॥

'क्या वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी जननी मेरी मझली माता धर्मज्ञा सुमित्रा स्वस्थ और सुखी हैं?॥ ९॥

आत्मकामा सदा चण्डी क्रोधना प्राज्ञमानिनी।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह॥ १०॥

'जो सदा अपना ही स्वार्थ सिद्ध करना चाहती और अपनेको बड़ी बुद्धिमती समझती है, उस उग्र स्वभाववाली कोपशीला मेरी माता कैकेयीको तो कोई कष्ट नहीं है? उसने क्या कहा है?'॥ १०॥

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना।
ऊचुः सम्प्रश्रितं वाक्यमिदं तं भरतं तदा॥ ११॥

महात्मा भरतके इस प्रकार पूछनेपर उस समय दूतोंने विनयपूर्वक उनसे यह बात कही—॥ ११॥

कुशलास्ते नरव्याघ्र येषां कुशलमिच्छसि।
श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः॥ १२॥

'पुरुषसिंह! आपको जिनका कुशल-मङ्गल अभिप्रेत है, वे सकुशल हैं। हाथमें कमल लिये रहनेवाली लक्ष्मी (शोभा) आपका वरण कर रही है। अब यात्राके लिये शीघ्र ही आपका रथ जुतकर तैयार हो जाना चाहिये'॥ १२॥

भरतश्चापि तान् दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत।
आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः संत्वरयन्ति माम्॥ १३॥

उन दूतोंके ऐसा कहनेपर भरतने उनसे कहा—'अच्छा मैं महाराजसे पूछता हूँ कि दूत मुझसे शीघ्र अयोध्या चलनेके लिये कह रहे हैं। आपकी क्या आज्ञा है?'॥ १३॥

एवमुक्त्वा तु तान् दूतान् भरतः पार्थिवात्मजः।
दूतैः संचोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह॥ १४॥

दूतोंसे ऐसा कहकर राजकुमार भरत उनसे प्रेरित हो नानाके पास जाकर बोले—॥ १४॥

राजन् पितुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः।
पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

'राजन्! मैं दूतोंके कहनेसे इस समय पिताजीके पास जा रहा हूँ। पुनः जब आप मुझे याद करेंगे, यहाँ आ जाऊँगा' ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु नृपो मातामहस्तदा।
तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याघ्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरतके ऐसा कहनेपर नाना केकयनरेशने उस समय उन रघुकुलभूषण भरतका मस्तक सूँघकर यह शुभ वचन कहा—॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया।
मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परंतप ॥ १७ ॥

'तात! जाओ, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। तुम्हें पाकर कैकेयी उत्तम संतानवाली हो गयी। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! तुम अपनी माता और पितासे यहाँका कुशल-समाचार कहना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः।
तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥

तात! अपने पुरोहितजीसे तथा अन्य जो श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उनसे भी मेरा कुशल-मङ्गल कहना। उन महाधनुर्धर दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे भी यहाँका कुशल-समाचार सुना देना' ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमांश्चित्रान् कम्बलानजिनानि च।
सत्कृत्य केकयो राजा भरताय ददौ धनम् ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर केकयनरेशने भरतका सत्कार करके उन्हें बहुत-से उत्तम हाथी, विचित्र कालीन, मृगचर्म और बहुत-सा धन दिये ॥ १९ ॥

अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान् व्याघ्रवीर्यबलोपमान्।
दंष्ट्रायुक्तान् महाकायाञ्शुनश्चोपायनं ददौ ॥ २० ॥

जो अन्तःपुरमें पाल-पोसकर बड़े किये गये थे, बल और पराक्रममें बाघोंके समान थे, जिनकी दाढ़ें बड़ी-बड़ी और काया विशाल थी, ऐसे बहुत-से कुत्ते भी केकयनरेशने भरतको भेंटमें दिये ॥ २० ॥

रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे षोडशाश्वशतानि च।
सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत् ॥ २१ ॥

दो हजार सोनेकी मोहरें और सोलह सौ घोड़े भी दिये। इस प्रकार केकयनरेशने केकयीकुमार भरतको सत्कारपूर्वक बहुत-सा धन दिया ॥ २१ ॥

तदामात्यानभिप्रेतान् विश्वास्यांश्च गुणान्वितान्।
ददावश्वपतिः शीघ्रं भरतायानुयायिनः ॥ २२ ॥

उस समय केकयनरेश अश्वपतिने अपने अभीष्ट, विश्वासपात्र और गुणवान् मन्त्रियोंको भरतके साथ जानेके लिये शीघ्र आज्ञा दी ॥ २२ ॥

ऐरावतानैन्द्रशिरान् नागान् वै प्रियदर्शनान्।
खराञ्शीघ्रान् सुसंयुक्तान् मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥२३॥

भरतके मामाने उन्हें उपहारमें दिये जानेवाले धनके रूपमें इरावान् पर्वत और इन्द्रशिर नामक स्थानके आस-पास उत्पन्न होनेवाले बहुत-से सुन्दर-सुन्दर हाथी तथा तेज चलनेवाले सुशिक्षित खचर दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत।
भरतः कैकयीपुत्रो गमनत्वरया तदा ॥ २४ ॥

उस समय जानेकी जल्दी होनेके कारण केकयीपुत्र भरतने केकयराजके दिये हुए उस धनका अभिनन्दन नहीं किया ॥

बभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा।
त्वरया चापि दूतानां स्वप्नस्यापि च दर्शनात् ॥ २५ ॥

उस अवसरपर उनके हृदयमें बड़ी भारी चिन्ता हो रही थी। इसके दो कारण थे, एक तो दूत वहाँसे चलनेकी जल्दी मचा रहे थे, दूसरे उन्हें दुःस्वप्नका दर्शन भी हुआ था ॥२५॥

स स्ववेश्माभ्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंकुलम्।
प्रपेदे सुमहच्छ्रीमान् राजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

वे यात्राकी तैयारीके लिये पहले अपने आवासस्थानपर गये। फिर वहाँसे निकलकर मनुष्यों, हाथियों और घोड़ोंसे भरे हुए परम उत्तम राजमार्गपर गये। उस समय भरतजीके पास बहुत बड़ी सम्पत्ति जुट गयी थी ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमनुत्तमम्।
ततस्तद् भरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥ २७ ॥

सड़कको पार करके श्रीमान् भरतने राजभवनके परम उत्तम अन्तःपुरका दर्शन किया और उसमें वे बेरोक-टोक घुस गये ॥

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम्।
रथमारुह्य भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

वहाँ नाना, नानी, मामा युधाजित् और मामीसे विदा ले शत्रुघ्नसहित रथपर सवार हो भरतने यात्रा आरम्भ की ॥

रथान् मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परः शतम्।
उष्ट्रगोऽश्वखरैर्भृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

गोलाकार पहियेवाले सौसे भी अधिक रथोंमें ऊँट, बैल, घोड़े और खच्चर जोतकर सेवकोंने जाते हुए भरतका अनुसरण किया ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा
सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः।
आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-
र्गृहाद् ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

शत्रुहीन महामना भरत अपनी और मामाकी सेनासे

सुरक्षित हो शत्रुघ्नको अपने साथ रथपर लेकर नानाके अपने ही समान माननीय मन्त्रियोंके साथ मामाके घरसे चले; मानो कोई सिद्ध पुरुष इन्द्रलोकसे किसी अन्य स्थानके लिये प्रस्थित हुआ हो ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

रथ और सेनासहित भरतकी यात्रा, विभिन्न स्थानोंको पार करके उनका उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँचना और सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे स्वयं रथद्वारा तीव्रवेगसे आगे बढ़ते हुए सालवनको पार करके अयोध्याके निकट जाना, वहाँसे अयोध्याकी दुरवस्था देखते हुए आगे बढ़ना और सारथिसे अपना दुःखपूर्ण उद्गार प्रकट करते हुए राजभवनमें प्रवेश करना

स प्राङ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान् ।
ततः सुदामां द्युतिमान् संतीर्यावेक्ष्य तां नदीम्॥ १ ॥
ह्लादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्स्रोतस्तरङ्गिणीम् ।
शतद्रुमतरच्छ्रीमान् नदीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥

राजगृहसे निकलपर पराक्रमी भरत पूर्वदिशाकी ओर चले।* उन तेजस्वी राजकुमारने मार्गमें सुदामा नदीका दर्शन करके उसे पार किया। तत्पश्चात् इक्ष्वाकुनन्दन श्रीमान् भरतने जिसका पाट दूरतक फैला हुआ था, उस ह्लादिनी नदीको लाँघकर पश्चिमाभिमुख बहनेवाली शतद्रु नदी (सतलज) को पार किया ॥ १-२ ॥

ऐलधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्वतान् ।
शिलामाकुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकर्षणम् ॥ ३ ॥

वहाँसे ऐलधान नामक गाँवमें जाकर वहाँ बहनेवाली नदीको पार किया। तत्पश्चात् वे अपरपर्वत नामक जनपदमें गये। वहाँ शिला नामकी नदी बहती थी, जो अपने भीतर पड़ी हुई वस्तुको शिलास्वरूप बना देती थी। उसे पार करके भरत वहाँसे आग्नेय कोणमें स्थित शल्यकर्षण नामक देशमें गये, जहाँ शरीरसे काँटेको निकालनेमें सहायता करनेवाली ओषधि उपलब्ध होती थी ॥ ३ ॥

सत्यसंधः शुचिर्भूत्वा प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।
अभ्यगात् स महाशैलान् वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥

तदनन्तर सत्यप्रतिज्ञ भरतने पवित्र होकर शिलावहा नामक नदीका दर्शन किया (जो अपनी प्रखर धारासे शिलाखण्डों—बड़ी-बड़ी चट्टानोंको भी बहा ले जानेके कारण उक्त नामसे प्रसिद्ध थी)। उस नदीका दर्शन करके वे आगे बढ़ गये और बड़े-बड़े पर्वतोंको लाँघते हुए चैत्ररथ नामक वनमें जा पहुँचे ॥ ४ ॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।
उत्तरान् वीरमत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद् वनम्॥ ५ ॥

तत्पश्चात् पश्चिमवाहिनी सरस्वती तथा गङ्गाकी धाराविशेषके सङ्गमसे होते हुए उन्होंने वीरमत्स्य देशके उत्तरवर्ती देशोंमें पदार्पण किया और वहाँसे आगे बढ़कर वे भारुण्डवनके भीतर गये ॥ ५ ॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्लादिनीं पर्वतावृताम् ।
यमुनां प्राप्य संतीर्णो बलमाश्वासयत् तदा ॥ ६ ॥

फिर अत्यन्त वेगसे बहनेवाली तथा पर्वतोंसे घिरी होनेके कारण अपने प्रखर प्रवाहके द्वारा कलकल नाद करनेवाली कुलिङ्गा नदीको पार करके यमुनाके तटपर पहुँचकर उन्होंने सेनाको विश्राम कराया ॥ ६ ॥

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥ ७ ॥
राजपुत्रो महारण्यमनभीक्ष्णोपसेवितम् ।
भद्रो भद्रेण यानेन मारुतः खमिवात्यगात् ॥ ८ ॥

थके हुए घोड़ोंको नहलाकर उनके अङ्गोंको शीतलता प्रदान करके उन्हें छायामें घास आदि देकर आराम करनेका अवसर दे राजकुमार भरत स्वयं भी स्नान और जलपान करके रास्तेके लिये जल साथ ले आगे बढ़े। मङ्गलाचारसे युक्त हो माङ्गलिक रथके द्वारा उन्होंने, जिसमें मनुष्योंका बहुधा आना-जाना या रहना नहीं होता था, उस विशाल वनको उसी प्रकार वेगपूर्वक पार किया, जैसे वायु आकाशको लाँघ जाती है ॥ ७-८ ॥

भागीरथीं दुष्प्रतरां सोंऽशुधाने महानदीम् ।
उपायाद् राघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥

तत्पश्चात् अंशुधान नामक ग्रामके पास महानदी भागीरथी गङ्गाको दुस्तर जानकर रघुनन्दन भरत तुरंत ही प्राग्वट नामसे विख्यात नगरमें आ गये ॥ ९ ॥

* अयोध्यासे जो पाँच दूत चले थे, वे सीधी राहसे राजगृहमें आये थे; अतः उनके मार्गमें जो-जो स्थान पड़े थे, वे भरतके मार्गमें नहीं पड़े थे। भरतके साथ रथ और चतुरङ्गिणी सेना थी; अतः उसके निर्वाहके अनुकूल मार्गसे चलकर वे अयोध्या पहुँचे थे, इसलिये इनके मार्गमें सर्वथा नये ग्रामों और स्थानोंका उल्लेख मिलता है।

स गङ्गां प्राग्वटे तीर्त्वा समायात् कुटिकोष्ठिकाम्।
सबलस्तां स तीर्त्वाथ समगाद् धर्मवर्धनम्॥१०॥

प्राग्वट नगरमें गङ्गाको पार करके वे कुटिकोष्ठिका नामवाली नदीके तटपर आये और सेनासहित उसको भी पार करके धर्मवर्धन नामक ग्राममें जा पहुँचे॥१०॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थं समागमत्।
वरूथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः॥११॥

वहाँसे तोरण ग्रामके दक्षिणार्ध भागमें होते हुए जम्बूप्रस्थमें गये। तदनन्तर दशरथकुमार भरत एक रमणीय ग्राममें गये, जो वरूथके नामसे विख्यात था॥११॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वासौ प्राङ्मुखो ययौ।
उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियका यत्र पादपाः॥१२॥

वहाँ एक रमणीय वनमें निवास करके वे प्रातःकाल पूर्व दिशाकी ओर गये। जाते-जाते उज्जिहाना नगरीके उद्यानमें पहुँच गये, जहाँ कदम्ब नामवाले वृक्षोंकी बहुतायत थी॥१२॥

स तांस्तु प्रियकान् प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः।
अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ॥१३॥

उन कदम्बोंके उद्यानमें पहुँचकर अपने रथमें शीघ्रगामी घोड़ोंको जोतकर सेनाको धीरे-धीरे आनेकी आज्ञा दे भरत तीव्रगतिसे चल दिये॥१३॥

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां नदीम्।
अन्या नदीश्च विविधैः पार्वतीयैस्तुरङ्गमैः॥१४॥
हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामप्यवर्तत।
ततार च नरव्याघ्रो लौहित्ये च कपीवतीम्॥१५॥

तत्पश्चात् सर्वतीर्थ नामक ग्राममें एक रात रहकर उत्तानिका नदी तथा अन्य नदियोंको भी नाना प्रकारके पर्वतीय घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथसे पार करके नरश्रेष्ठ भरतजी हस्तिपृष्ठक नामक ग्राममें जा पहुँचे। वहाँसे आगे जानेपर उन्होंने कुटिका नदी पार की। फिर लोहित्य नामक ग्राममें पहुँचकर कपीवती नामक नदीको पार किया॥१४-१५॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमतीं नदीम्।
कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा॥१६॥

फिर एकसाल नगरके पास स्थाणुमती और विनत-ग्रामके निकट गोमती नदीको पार करके वे तुरंत ही कलिङ्गनगरके पास सालवनमें जा पहुँचे॥१६॥

भरतः क्षिप्रमागच्छत् सुपरिश्रान्तवाहनः।
वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये॥१७॥
अयोध्यां मनुना राज्ञा निर्मितां स ददर्श ह।
तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि॥१८॥

वहाँ जाते-जाते भरतके घोड़े थक गये। तब उन्हें विश्राम देकर वे रातों-रात शीघ्र ही सालवनको लाँघ गये और अरुणोदयकालमें राजा मनुकी बसायी हुई अयोध्यापुरीका उन्होंने दर्शन किया। पुरुषसिंह भरत मार्गमें सात रातें व्यतीत करके आठवें दिन अयोध्यापुरीका दर्शन कर सके थे॥१७-१८॥

अयोध्यामग्रतो दृष्ट्वा सारथिं चेदमब्रवीत्।
एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी॥१९॥
अयोध्या दृश्यते दूरात् सारथे पाण्डुमृत्तिका।
यज्वभिर्गुणसम्पन्नैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः॥२०॥
भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिवरपालिता।

सामने अयोध्यापुरीको देखकर वे अपने सारथिसे इस प्रकार बोले—'सूत! पवित्र उद्यानोंसे सुशोभित यह यशस्विनी नगरी आज मुझे अधिक प्रसन्न नहीं दिखायी देती है। यह वही नगरी है, जहाँ निरन्तर यज्ञ-योग करनेवाले गुणवान् और वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण निवास करते हैं, जहाँ बहुत-से धनियोंकी भी बस्ती है तथा राजर्षियोंमें श्रेष्ठ महाराज दशरथ जिसका पालन करते हैं, वही अयोध्या इस समय दूरसे सफेद मिट्टीके ढूहकी भाँति दीख रही है॥१९-२०½॥

अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान्॥२१॥
समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम्।

'पहले अयोध्यामें चारों ओर नर-नारियोंका महान् तुमुलनाद सुनायी पड़ता था; परंतु आज मैं उसे नहीं सुन रहा हूँ॥२१½॥

उद्यानानि हि सायाह्ने क्रीडित्वोपरतैर्नरैः॥२२॥
समन्ताद् विप्रधावद्भिः प्रकाशन्ते ममान्यथा।
तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः॥२३॥

'सायंकालके समय लोग उद्यानोंमें प्रवेश करके वहाँ क्रीड़ा करते और उस क्रीड़ासे निवृत्त होकर सब ओरसे अपने घरोंकी ओर दौड़ते थे, अतः उस समय इन उद्यानोंकी अपूर्व शोभा होती थी, परंतु आज ये मुझे कुछ और ही प्रकारके दिखायी देते हैं। वे ही उद्यान आज कामीजनोंसे परित्यक्त होकर रोते हुए-से प्रतीत होते हैं॥२२-२३॥

अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति माम्।
नह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः।
निर्यान्तो वाभियान्तो वा नरमुख्या यथा पुरा॥२४॥

'सारथे! यह पुरी मुझे जंगल-सी जान पड़ती है। अब यहाँ पहलेकी भाँति घोड़ों, हाथियों तथा दूसरी-दूसरी सवारियोंसे आते-जाते हुए श्रेष्ठ मनुष्य नहीं दिखायी दे रहे हैं॥२४॥

उद्यानानि पुरा भान्ति मत्तप्रमुदितानि च।
जनानां रतिसंयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च॥२५॥

तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः।
स्रस्तपर्णैरनुपथं विक्रोशद्भिरिव द्रुमैः ॥२६॥

'जो उद्यान पहले मदमत्त एवं आनन्दमग्न भ्रमरों, कोकिलों और नर-नारियोंसे भरे प्रतीत होते थे तथा लोगोंके प्रेम-मिलनके लिये अत्यन्त गुणकारी (अनुकूल सुविधाओंसे सम्पन्न) थे, उन्हींको आज मैं सर्वथा आनन्दशून्य देख रहा हूँ। वहाँ मार्गपर वृक्षोंके जो पत्ते गिर रहे हैं, उनके द्वारा मानो वे वृक्ष करुण क्रन्दन कर रहे हैं (और उनसे उपलक्षित होनेके कारण वे उद्यान आनन्द-हीन प्रतीत होते हैं) ॥ २५-२६ ॥

नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम्।
संरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ॥२७॥

'रागयुक्त मधुर कलरव करनेवाले मतवाले मृगों और पक्षियोंका तुमुल शब्द अभीतक सुनायी नहीं पड़ रहा है ॥ २७ ॥

चन्दनागुरुसम्पृक्तो धूपसम्मूर्च्छितोऽमलः।
प्रवाति पवनः श्रीमान् किं नु नाद्य यथा पुरा ॥२८॥

'चन्दन और अगुरुकी सुगन्धसे मिश्रित तथा धूपकी मनोहर गन्धसे व्याप्त निर्मल मनोरम समीर आज पहलेकी भाँति क्यों नहीं प्रवाहित हो रहा है ? ॥ २८ ॥

भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसंघट्टितः पुनः।
किमद्य शब्दो विरतः सदादीनगतिः पुरा ॥२९॥

'वादनदण्डद्वारा बजायी जानेवाली भेरी, मृदङ्ग और वीणाका जो आघातजनित शब्द होता है, वह पहले अयोध्यामें सदा होता रहता था, कभी उसकी गति अवरुद्ध नहीं होती थी; परंतु आज वह शब्द न जाने क्यों बंद हो गया है ? ॥ २९ ॥

अनिष्टानि च पापानि पश्यामि विविधानि च।
निमित्तान्यमनोज्ञानि तेन सीदति मे मनः ॥३०॥

'मुझे अनेक प्रकारके अनिष्टकारी, क्रूर और अशुभ-सूचक अपशकुन दिखायी दे रहे हैं, जिससे मेरा मन खिन्न हो रहा है ॥ ३० ॥

सर्वथा कुशलं सूत दुर्लभं मम बन्धुषु।
तथा ह्यसति सम्मोहे हृदयं सीदतीव मे ॥३१॥

'सारथे ! इससे प्रतीत होता है कि इस समय मेरे बान्धवोंको कुशल-मङ्गल सर्वथा दुर्लभ है, तभी तो मोहका कोई कारण न होनेपर भी मेरा हृदय बैठा जा रहा है' ॥ ३१ ॥

विषण्णः श्रान्तहृदयस्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः।
भरतः प्रविवेशाशु पुरीमिक्ष्वाकुपालिताम् ॥३२॥

भरत मन-ही-मन बहुत खिन्न थे। उनका हृदय शिथिल हो रहा था। वे डरे हुए थे और उनकी सारी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो उठी थीं, इसी अवस्थामें उन्होंने शीघ्रतापूर्वक इक्ष्वाकु-वंशी राजाओंद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें प्रवेश किया ॥३२॥

द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छ्रान्तवाहनः।
द्वाःस्थैरुत्थाय विजयमुक्तस्तैः सहितो ययौ ॥३३॥

पुरीके द्वारपर सदा वैजयन्ती पताका फहरानेके कारण उस द्वारका नाम वैजयन्त रखा गया था। (यह पुरीके पश्चिम भागमें था।) उस वैजयन्तद्वारसे भरत पुरीके भीतर प्रविष्ट हुए। उस समय उनके रथके घोड़े बहुत थके हुए थे। द्वारपालोंने उठकर कहा—'महाराजकी जय हो।' फिर वे उनके साथ आगे बढ़े ॥ ३३ ॥

स त्वनेकाग्रहृदयो द्वाःस्थं प्रत्यर्च्य तं जनम्।
सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत् तत्र राघवः ॥३४॥

भरतका हृदय एकाग्र नहीं था—वे घबराये हुए थे। अतः उन रघुकुलनन्दन भरतने साथ आये हुए द्वारपालोंको सत्कारपूर्वक लौटा दिया और केकयराज अश्वपतिके थके-माँदे सारथिसे वहाँ इस प्रकार कहा—॥ ३४ ॥

किमहं त्वरयाऽऽनीतः कारणेन विनानघ।
अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं च पततीव मे ॥३५॥

'निष्पाप सूत ! मैं बिना कारण ही इतनी उतावलीके साथ क्यों बुलाया गया ? इस बातका विचार करके मेरे हृदयमें अशुभकी आशङ्का होती है। मेरा दीनतारहित स्वभाव भी अपनी स्थितिसे भ्रष्ट-सा हो रहा है ॥ ३५ ॥

श्रुता नु यादृशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने।
आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ॥३६॥

'सारथे ! अबसे पहले मैंने राजाओंके विनाशके जैसे-जैसे लक्षण सुन रखे हैं, उन सभी लक्षणोंको आज मैं यहाँ देख रहा हूँ ॥ ३६ ॥

सम्मार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये।
असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ॥३७॥
बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च।
अनाशितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ॥३८॥
अलक्ष्मीकानि पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम्।

'मैं देखता हूँ—गृहस्थोंके घरोंमें झाड़ू नहीं लगी है। वे रूखे और श्रीहीन दिखायी देते हैं। इनकी किवाड़ें खुली हैं। इन घरोंमें बलिवैश्वदेवकर्म नहीं हो रहे हैं। ये धूपकी सुगन्धसे वञ्चित हैं। इनमें रहनेवाले कुटुम्बीजनोंको भोजन नहीं प्राप्त हुआ है तथा ये सारे गृह प्रभाहीन (उदास) दिखायी देते हैं। जान पड़ता है—इनमें लक्ष्मीका निवास नहीं है ॥ ३७-३८½ ॥

अपेतमाल्यशोभानि असम्मृष्टाजिराणि च ॥३९॥
देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा।

'देवमन्दिर फूलोंसे सजे हुए नहीं दिखायी देते। इनके आँगन झाड़े-बुहारे नहीं गये हैं। ये मनुष्योंसे सूने हो रहे हैं, अतएव इनकी पहले-जैसी शोभा नहीं हो रही है॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठ्यस्तथैव च॥ ४०॥
माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा।
दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमत्र वै॥ ४१॥
ध्यानसंविग्नहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः।

'देवप्रतिमाओंकी पूजा बंद हो गयी है। यज्ञशालाओंमें यज्ञ नहीं हो रहे हैं। फूलों और मालाओंके बाजारमें आज बिकनेकी कोई वस्तुएँ नहीं शोभित हो रही हैं। यहाँ पहलेके समान बनिये भी आज नहीं दिखायी देते हैं। चिन्तासे उनका हृदय उद्विग्न जान पड़ता है और अपना व्यापार नष्ट हो जानेके कारण वे संकुचित हो रहे हैं॥ ४०-४१½॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिमृगास्तथा॥ ४२॥
मलिनं चाश्रुपूर्णाक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम्।
सस्त्रीपुंसं च पश्यामि जनमुत्कण्ठितं पुरे॥ ४३॥

'देवालयों तथा चैत्य (देव) वृक्षोंपर जिनका निवास है, वे पशु-पक्षी दीन दिखायी दे रहे हैं। मैं देखता हूँ, नगरके सभी स्त्री-पुरुषोंका मुख मलिन है, उनकी आँखोंमें आँसू भरे हैं और वे सब-के-सब दीन, चिन्तित, दुर्बल तथा उत्कण्ठित हैं'॥ ४२-४३॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः।
तान्यनिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ॥ ४४॥

सारथिसे ऐसा कहकर अयोध्यामें होनेवाले उन अनिष्ट-सूचक चिह्नोंको देखते हुए भरत मन-ही-मन दुखी हो राजमहलमें गये॥ ४४॥

तां शून्यशृङ्गाटकवेश्मरथ्यां
रजोरुणद्वारकवाटयन्त्राम्।
दृष्ट्वा पुरीमिन्द्रपुरीप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव॥ ४५॥

जो अयोध्यापुरी कभी देवराज इन्द्रकी नगरीके समान शोभा पाती थी, उसीके चौराहे, घर और सड़कें आज सूनी दिखायी देती थीं तथा दरवाजोंकी किवाड़ें धूलिधूसर हो रही थीं, उसकी ऐसी दुर्दशा देख भरत पूर्णतः दुःखमें निमग्न हो गये॥ ४५॥

बभूव पश्यन् मनसोऽप्रियाणि
यान्यन्यदा नास्य पुरे बभूवुः।
अवाक्शिरा दीनमना न हृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेश्म॥ ४६॥

उस नगरमें जो पहले कभी नहीं हुई थीं, ऐसी अप्रिय बातोंको देखकर महात्मा भरतने अपना मस्तक नीचेको झुका लिया, उनका हर्ष छिन गया और उन्होंने दीन-हृदयसे पिताके भवनमें प्रवेश किया॥ ४६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः॥ ७१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७१॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीके भवनमें जाकर उसे प्रणाम करना, उसके द्वारा पिताके परलोकवासका समाचार पा दुखी हो विलाप करना तथा श्रीरामके विषयमें पूछनेपर कैकेयीद्वारा उनका श्रीरामके वनगमनके वृत्तान्तसे अवगत होना

अपश्यंस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये।
जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये॥ १॥

तदनन्तर पिताके घरमें पिताको न देखकर भरत माताका दर्शन करनेके लिये अपनी माताके महलमें गये॥ १॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम्।
उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम्॥ २॥

अपने परदेश गये हुए पुत्रको घर आया देख उस समय कैकेयी हर्षसे भर गयी और अपने सुवर्णमय आसनको छोड़ उछलकर खड़ी हो गयी॥ २॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम्।
भरतः प्रेक्ष्य जग्राह जनन्याश्चरणौ शुभौ॥ ३॥

धर्मात्मा भरतने अपने उस घरमें प्रवेश करके देखा कि सारा घर श्रीहीन हो रहा है, फिर उन्होंने माताके शुभ चरणोंका स्पर्श किया॥ ३॥

तं मूर्ध्नि समुपाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनम्।
अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे॥ ४॥

अपने यशस्वी पुत्र भरतको छातीसे लगाकर कैकेयीने उनका मस्तक सूँघा और उन्हें गोदमें बिठाकर पूछना आरम्भ किया—॥ ४॥

अद्य ते कतिचिद् रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः।
अपि नाध्वश्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव॥ ५॥

'बेटा! तुम्हें अपने नानाके घरसे चले आज

कितनी रातें व्यतीत हो गयीं ? तुम रथके द्वारा बड़ी शीघ्रताके साथ आये हो । रास्तेमें तुम्हें अधिक थकावट तो नहीं हुई ?॥ ५ ॥

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव ।
प्रवासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

'तुम्हारे नाना सकुशल तो हैं न ? तुम्हारे मामा युधाजित् तो कुशलसे हैं ? बेटा ! जब तुम यहाँसे गये थे, तबसे लेकर अबतक सुखसे रहे हो न ? ये सारी बातें मुझे बताओ' ॥ ६ ॥

एवं पृष्टस्तु कैकेय्या प्रियं पार्थिवनन्दनः ।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैकेयीके इस प्रकार प्रिय वाणीमें पूछनेपर दशरथ-नन्दन कमलनयन भरतने माताको सब बातें बतायीं ॥ ७ ॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेश्मनः ।
अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥

(वे बोले—) 'मा ! नानाके घरसे चले मेरी यह सातवीं रात बीती है । मेरे नानाजी और मामा युधाजित् भी कुशलसे हैं ॥ ८ ॥

यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परंतपः ।
परिश्रान्तं पथ्यभवत् ततोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥
राजवाक्यहरैर्दूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले केकयनरेशने मुझे जो धन-रत्न प्रदान किये हैं, उनके भारसे मार्गमें सब वाहन थक गये थे, इसलिये मैं राजकीय संदेश लेकर गये हुए दूतोंके जल्दी मचानेसे यहाँ पहले ही चला आया हूँ । अच्छा माँ, अब मैं जो कुछ पूछता हूँ, उसे तुम बताओ ॥ ९-१० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः ।
न चायमिक्ष्वाकुजनः प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

'यह तुम्हारी शय्या सुवर्णभूषित पलंग इस समय सूना है, इसका क्या कारण है (आज यहाँ महाराज उपस्थित क्यों नहीं हैं) ? ये महाराजके परिजन आज प्रसन्न क्यों नहीं जान पड़ते हैं ? ॥ ११ ॥

राजा भवति भूयिष्ठमिहाम्बाया निवेशने ।
तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

'महाराज (पिताजी) प्रायः माताजीके ही महलमें रहा करते थे, किंतु आज मैं उन्हें यहाँ नहीं देख रहा हूँ । मैं उन्हींका दर्शन करनेकी इच्छासे यहाँ आया हूँ ॥ १२ ॥

पितुर्ग्रहीष्ये पादौ च तं ममाख्याहि पृच्छतः ।
आहोस्विदम्बाज्येष्ठायाः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥

'मैं पूछता हूँ, बताओ, पिताजी कहाँ हैं ? मैं उनके पैर पकड़ूँगा । अथवा बड़ी माता कौसल्याके घरमें तो वे नहीं हैं ?' ॥ १३ ॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी प्रियवद् घोरमप्रियम् ।
अजानन्तं प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

कैकेयी राज्यके लोभसे मोहित हो रही थी । वह राजाका वृत्तान्त न जाननेवाले भरतसे उस घोर अप्रिय समाचारको प्रिय-सा समझती हुई इस प्रकार बताने लगी—॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।
राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतां गतिः ॥ १५ ॥

'बेटा ! तुम्हारे पिता महाराज दशरथ बड़े महात्मा, तेजस्वी, यज्ञशील और सत्पुरुषोंके आश्रयदाता थे । एक दिन समस्त प्राणियोंकी जो गति होती है, उसी गतिको वे भी प्राप्त हुए हैं' ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाञ्छुचिः ।
पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलार्दितः ॥ १६ ॥
हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् ।
निपपात महाबाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

भरत धार्मिक कुलमें उत्पन्न हुए थे और उनका हृदय शुद्ध था । माताकी बात सुनकर वे पितृशोकसे अत्यन्त पीड़ित हो सहसा पृथ्वीपर गिर पड़े और 'हाय, मैं मारा गया !' इस प्रकार अत्यन्त दीन और दुःखमय वचन कहकर रोने लगे । पराक्रमी महाबाहु भरत अपनी भुजाओंको बारंबार पृथ्वीपर पटककर गिरने और लोटने लगे ॥ १६-१७ ॥

ततः शोकेन संवीतः पितुर्मरणदुःखितः ।
विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलितचेतनः ॥ १८ ॥

उन महातेजस्वी राजकुमारकी चेतना भ्रान्त और व्याकुल हो गयी । वे पिताकी मृत्युसे दुःखी और शोकसे व्याकुलचित्त होकर विलाप करने लगे—॥ १८ ॥

एतत् सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा ।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥
तदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।
व्योमेव शशिना हीनमशुष्क इव सागरः ॥ २० ॥

'हाय ! मेरे पिताजीकी जो यह अत्यन्त सुन्दर शय्या पहले शरत्कालकी रातमें चन्द्रमासे सुशोभित होनेवाले निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी, वही यह आज उन्हीं बुद्धिमान् महाराजसे रहित होकर चन्द्रमासे हीन आकाश और सूखे हुए समुद्रके समान श्रीहीन प्रतीत होती है' ॥ १९-२० ॥

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वात्मना परिपीडितः।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद् वस्त्रेण जयतां वरः ॥ २१ ॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ भरत अपने सुन्दर मुख वस्त्रसे ढककर अपने कण्ठस्वरके साथ आँसू गिराकर मन-ही-मन अत्यन्त पीड़ित हो पृथ्वीपर पड़कर विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि।
निकृत्तमिव सालस्य स्कन्धं परशुना वने ॥ २२ ॥
माता मातङ्गसंकाशं चन्द्रार्कसदृशं सुतम्।
उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

देवतुल्य भरत शोकसे व्याकुल हो वनमें फरसेसे काटे गये साखूके तनेकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे, मतवाले हाथीके समान पुष्ट तथा चन्द्रमा या सूर्यके समान तेजस्वी अपने शोकाकुल पुत्रको इस तरह भूमिपर पड़ा देख माता कैकेयीने उन्हें उठाया और इस प्रकार कहा —॥ २२-२३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजन्नत्र महायशः।
त्वद्विधा नहि शोचन्ति सन्तः सदसि सम्मताः ॥ २४ ॥

'राजन्! उठो! उठो! महायशस्वी कुमार! तुम इस तरह यहाँ धरतीपर क्यों पड़े हो? तुम्हारे-जैसे सभाओंमें सम्मानित होनेवाले सत्पुरुष शोक नहीं किया करते हैं ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शीलश्रुतितपोनुगा।
बुद्धिस्ते बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्य मन्दिरे ॥ २५ ॥

'बुद्धिसम्पन्न पुत्र! जैसे सूर्यमण्डलमें प्रभा निश्चल रूपसे रहती है, उसी प्रकार तुम्हारी बुद्धि सुस्थिर है। वह दान और यज्ञमें लगनेकी अधिकारिणी है; क्योंकि सदाचार और वेदवाक्योंका अनुसरण करनेवाली है' ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ परिविवृत्य च।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

भरत पृथ्वीपर लोटते-पोटते बहुत देरतक रोते रहे। तत्पश्चात् अधिकाधिक शोकसे आकुल होकर वे मातासे इस प्रकार बोले—॥ २६ ॥

अभिषेक्ष्यति रामं तु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते।
इत्यहं कृतसंकल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम् ॥ २७ ॥

'मैंने तो यह सोचा था कि महाराज श्रीरामका राज्याभिषेक करेंगे और स्वयं यज्ञका अनुष्ठान करेंगे—यही सोचकर मैंने बड़े हर्षके साथ वहाँसे यात्रा की थी ॥ २७ ॥

तदिदं ह्यन्यथाभूतं व्यवदीर्णं मनो मम।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

'किंतु यहाँ आनेपर सारी बातें मेरी आशाके विपरीत हो गयीं। मेरा हृदय फटा जा रहा है; क्योंकि सदा अपने प्रिय और हितमें लगे रहनेवाले पिताजीको मैं नहीं देख रहा हूँ ॥ २८ ॥

अम्ब केनात्यगाद् राजा व्याधिना मय्यनागते।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥ २९ ॥

'मा! महाराजको ऐसा कौन-सा रोग हो गया था, जिससे वे मेरे आनेके पहले ही चल बसे? श्रीराम आदि सब भाई धन्य हैं, जिन्होंने स्वयं उपस्थित रहकर पिताजीका अन्त्येष्टि-संस्कार किया ॥ २९ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान्।
उपजिघ्रेत् तु मां मूर्ध्नि तातः संनाम्य सत्वरम् ॥ ३० ॥

'निश्चय ही मेरे पूज्य पिता यशस्वी महाराजको मेरे यहाँ आनेका कुछ पता नहीं है, अन्यथा वे शीघ्र ही मेरे मस्तकको झुकाकर उसे प्यारसे सूँघते ॥ ३० ॥

क्व स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्लिष्टकर्मणः।
यो हि मां रजसा ध्वस्तमभीक्ष्णं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

'हाय! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले मेरे पिताका वह कोमल हाथ कहाँ है, जिसका स्पर्श मेरे लिये बहुत ही सुखदायक था? वे उसी हाथसे मेरे धूलिधूसर शरीरको बारंबार पोंछा करते थे ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि सम्मतः।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्लिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

'अब जो मेरे भाई, पिता और बन्धु हैं तथा जिनका मैं परम प्रिय दास हूँ, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले उन श्रीरामचन्द्रजीको तुम शीघ्र ही मेरे आनेकी सूचना दो ॥ ३२ ॥

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य जानतः।
तस्य पादौ ग्रहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

'धर्मके ज्ञाता श्रेष्ठ पुरुषके लिये बड़ा भाई पिताके समान होता है। मैं उनके चरणोंमें प्रणाम करूँगा। अब वे ही मेरे आश्रय हैं ॥ ३३ ॥

धर्मविद् धर्मशीलश्च महाभागो दृढव्रतः।
आर्ये किमब्रवीद् राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥
पश्चिमं साधुसंदेशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः।

'आर्ये! धर्मका आचरण जिनका स्वभाव बन गया था तथा जो बड़ी दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करते थे, वे मेरे सत्यपराक्रमी और धर्मज्ञ पिता महाराज दशरथ अन्तिम समयमें क्या कह गये थे? मेरे लिये जो उनका उत्तम अन्तिम संदेश हो उसे मैं सुनना चाहता हूँ' ॥ ३४½ ॥

इति पृष्टा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥
रामेति राजा विलपन् हा सीते लक्ष्मणेति च ।
स महात्मा परं लोकं गतो मतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

भरतके इस प्रकार पूछनेपर कैकेयीने सब बात ठीक-ठीक बता दी । वह कहने लगी—'बेटा ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तुम्हारे महात्मा पिता महाराजने 'हा राम ! हा सीते ! हा लक्ष्मण !' इस प्रकार विलाप करते हुए परलोककी यात्रा की थी ॥ ३५-३६ ॥

इतीमां पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मं परिक्षिप्तः पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥

'जैसे पाशोंसे बँधा हुआ महान् गज विवश हो जाता है, उसी प्रकार कालधर्मके वशीभूत हुए तुम्हारे पिताने अन्तिम वचन इस प्रकार कहा था—॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्तु नरा राममागतं सह सीतया ।
लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

'जो लोग सीताके साथ पुनः लौटकर आये हुए श्रीराम और महाबाहु लक्ष्मणको देखेंगे, वे ही कृतार्थ होंगे' ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विषसादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् ।
विषण्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

माताके द्वारा यह दूसरी अप्रिय बात कही जानेपर भरत और भी दुखी ही हुए । उनके मुखपर विषाद छा गया और उन्होंने पुनः मातासे पूछा—॥ ३९ ॥

क्व चेदानीं स धर्मात्मा कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समागतः ॥ ४० ॥

'मा ! माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी इस अवसरपर भाई लक्ष्मण और सीताके साथ कहाँ चले गये हैं ?' ॥ ४० ॥

तथा पृष्टा यथान्यायमाख्यातुमुपचक्रमे ।
मातास्य युगपद्वाक्यं विप्रियं प्रियशंसया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार पूछनेपर उनकी माता कैकेयीने एक साथ ही प्रिय बुद्धिसे वह अप्रिय संवाद यथोचित रीतिसे सुनाना आरम्भ किया—॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् ।
दण्डकान् सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

'बेटा ! राजकुमार श्रीराम वल्कल वस्त्र धारण करके सीताके साथ दण्डकवनमें चले गये हैं । लक्ष्मणने भी उन्हींका अनुसरण किया है' ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्त्रस्तो भ्रातुश्चारित्रशङ्कया ।
स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात् प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

यह सुनकर भरत डर गये, उन्हें अपने भाईके चरित्रपर शङ्का हो आयी । (वे सोचने लगे—श्रीराम कहीं धर्मसे गिर तो नहीं गये ?) अपने वंशकी महत्ता (धर्मपरायणता) का स्मरण करके वे कैकेयीसे इस प्रकार पूछने लगे—॥ ४३ ॥

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

'मा ! श्रीरामने किसी कारणवश ब्राह्मणका धन तो नहीं हर लिया था ? किसी निष्पाप धनी या दरिद्रकी हत्या तो नहीं कर डाली थी ? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ॥ ४५ ॥

'राजकुमार श्रीरामका मन किसी परायी स्त्रीकी ओर तो नहीं चला गया ? किस अपराधके कारण भैया श्रीरामको दण्डकारण्यमें जानेके लिये निर्वासित कर दिया गया है ?' ॥ ४५ ॥

अथास्य चपला माता तत् स्वकर्म यथातथम् ।
तेनैव स्त्रीस्वभावेन व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब चपल स्वभाववाली भरतकी माता कैकेयीने उस विवेकशून्य चञ्चल नारीस्वभावके कारण ही अपनी करतूतको ठीक-ठीक बताना आरम्भ किया ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।
उवाच वचनं हृष्टा वृथापण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

महात्मा भरतके पूर्वोक्त रूपसे पूछनेपर व्यर्थ ही अपनेको बड़ी विदुषी माननेवाली कैकेयीने बड़े हर्षमें भरकर कहा—॥ ४७ ॥

न ब्राह्मणधनं किंचिद्धृतं रामेण कस्यचित् ।
कश्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ।
न रामः परदारान् स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ॥ ४८ ॥

'बेटा ! श्रीरामने किसी कारणवश किञ्चिन्मात्र भी ब्राह्मणके धनका अपहरण नहीं किया है । किसी निरपराध धनी या दरिद्रकी हत्या भी उन्होंने नहीं की है । श्रीराम कभी किसी परायी स्त्रीपर दृष्टि नहीं डालते हैं ॥ ४८ ॥

मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्येहाभिषेचनम् ।
याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ॥ ४९ ॥

'बेटा ! (उनके वनमें जानेका कारण इस प्रकार है—) मैंने सुना था कि अयोध्यामें श्रीरामका राज्याभिषेक होने जा रहा है, तब मैंने तुम्हारे पितासे तुम्हारे लिये राज्य और श्रीरामके लिये वनवासकी प्रार्थना की ॥ ४९ ॥

स स्ववृत्तिं समास्थाय पिता ते तत् तथाकरोत् ।
रामस्तु सहसौमित्रिः प्रेषितः सह सीतया ॥ ५० ॥
तमपश्यन् प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ।
पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ॥ ५१ ॥

'उन्होंने अपने सत्यप्रतिज्ञ स्वभावके अनुसार मेरी माँग पूरी की। श्रीराम लक्ष्मण और सीताके साथ वनको भेज दिये गये, फिर अपने प्रिय पुत्र श्रीरामको न देखकर वे महायशस्वी महाराज पुत्रशोकसे पीड़ित हो परलोकवासी हो गये ॥ ५०-५१ ॥

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम्।
त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं कृतम् ॥ ५२ ॥

'धर्मज्ञ! अब तुम राजपद स्वीकार करो। तुम्हारे लिये ही मैंने इस प्रकारसे यह सब कुछ किया है ॥ ५२ ॥

मा शोकं मा च संतापं धैर्यमाश्रय पुत्रक।
त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनामयम् ॥ ५३ ॥

'बेटा! शोक और संताप न करो, धैर्यका आश्रय लो। अब यह नगर और निष्कण्टक राज्य तुम्हारे ही अधीन है ॥ ५३ ॥

तत् पुत्र शीघ्रं विधिना विधिज्ञै-
र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः।
संकाल्य राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुर्व्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

'अतः वत्स! अब विधि-विधानके ज्ञाता वसिष्ठ आदि प्रमुख ब्राह्मणोंके साथ तुम उदार हृदयवाले महाराजका अन्त्येष्टि संस्कार करके इस पृथ्वीके राज्यपर अपना अभिषेक कराओ' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको धिक्कारना और उसके प्रति महान् रोष प्रकट करना

श्रुत्वा च स पितुर्वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ।
भरतो दुःखसंतप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

पिताके परलोकवास और दोनों भाइयोंके वनवासका समाचार सुनकर भरत दुःखसे संतप्त हो उठे और इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

किं नु कार्यं हतस्येह मम राज्येन शोचतः।
विहीनस्याथ पित्रा च भ्रात्रा पितृसमेन च ॥ २ ॥

'हाय! तूने मुझे मार डाला। मैं पितासे सदाके लिये बिछुड़ गया और पितृतुल्य बड़े भाईसे भी विलग हो गया। अब तो मैं शोकमें डूब रहा हूँ, मुझे यहाँ राज्य लेकर क्या करना है? ॥ २ ॥

दुःखे मे दुःखमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददाः।
राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥

'तूने राजाको परलोकवासी तथा श्रीरामको तपस्वी बनाकर मुझे दुःख-पर-दुःख दिया है, घावपर नमक-सा छिड़क दिया है ॥ ३ ॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता।
अङ्गारमुपगुह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

'तू इस कुलका विनाश करनेके लिये कालरात्रि बनकर आयी थी। मेरे पिताने तुझे अपनी पत्नी क्या बनाया, दहकते हुए अङ्गारको हृदयसे लगा लिया था; किंतु उस समय यह बात उनकी समझमें नहीं आयी थी ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि।
सुखं परिहृतं मोहात् कुलेऽस्मिन् कुलपांसनि ॥ ५ ॥

'पापपर ही दृष्टि रखनेवाली! कुलकलङ्किनी! तूने मेरे महाराजको कालके गालमें डाल दिया और मोहवश इस कुलका सुख सदाके लिये छीन लिया ॥ ५ ॥

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसंधो महायशाः।
तीव्रदुःखाभिसंतप्तो वृत्तो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

'तुझे पाकर मेरे सत्यप्रतिज्ञ महायशस्वी पिता महाराज दशरथ इन दिनों दुःसह दुःखसे संतप्त होकर प्राण त्यागनेको विवश हुए हैं ॥ ६ ॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः।
कस्मात् प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

'बता, तूने मेरे धर्मवत्सल पिता महाराज दशरथका विनाश क्यों किया? मेरे बड़े भाई श्रीरामको क्यों घरसे निकाला और वे भी क्यों (तेरे ही कहनेसे) वनको चले गये? ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते।
दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

'कौसल्या और सुमित्रा भी मेरी माता कहलानेवाली तुझ कैकेयीको पाकर पुत्रशोकसे पीड़ित हो गयीं। अब उनका जीवित रहना अत्यन्त कठिन है ॥ ८ ॥

नन्वार्योऽपि च धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुत्तमाम्।
वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

'बड़े भैया श्रीराम धर्मात्मा हैं; गुरुजनोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये—इसे वे अच्छी तरह जानते हैं, इसलिये उनका अपनी माताके प्रति जैसा बर्ताव था, वैसा ही उत्तम व्यवहार वे तेरे साथ भी करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी ।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

'मेरी बड़ी माता कौसल्या भी बड़ी दूरदर्शिनी हैं। वे धर्मका ही आश्रय लेकर तेरे साथ बहिनका-सा बर्ताव करती हैं ॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।
प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसे ॥ ११ ॥

'पापिनि ! उनके महात्मा पुत्रको चीर और वल्कल पहनाकर तूने वनमें रहनेके लिये भेज दिया। फिर भी तुझे शोक क्यों नहीं हो रहा है ? ॥ ११ ॥

अपापदर्शिनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।
प्रव्राज्य चीरवसनं किं नु पश्यसि कारणम् ॥ १२ ॥

'श्रीराम किसीकी बुराई नहीं देखते। वे शूरवीर, पवित्रात्मा और यशस्वी हैं। उन्हें चीर पहनाकर वनवास दे देनेमें तू कौन-सा लाभ देख रही है ? ॥ १२ ॥

लुब्धाया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं यथा ।
तथा ह्यनर्थो राज्यार्थं त्वयाऽऽनीतो महानयम् ॥ १३ ॥

'तू लोभिनि है। मैं समझता हूँ, इसीलिये तुझे यह पता नहीं है कि मेरा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति कैसा भाव है, तभी तूने राज्यके लिये यह महान् अनर्थ कर डाला है ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन् रामलक्ष्मणौ ।
केन शक्तिप्रभावेण राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

'मैं पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणको न देखकर किस शक्तिके प्रभावसे इस राज्यकी रक्षा कर सकता हूँ ? (मेरे बल तो मेरे भाई ही हैं) ॥ १४ ॥

तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महौजसम् ।
उपाश्रितोऽभूद् धर्मात्मा मेरुर्मेरुवनं यथा ॥ १५ ॥

'मेरे धर्मात्मा पिता महाराज दशरथ भी सदा उन महातेजस्वी बलवान् श्रीरामका ही आश्रय लेते थे (उन्हींसे अपने लोक-परलोककी सिद्धिकी आशा रखते थे), ठीक उसी तरह जैसे मेरुपर्वत अपनी रक्षाके लिये अपने ऊपर उत्पन्न हुए गहन वनका ही आश्रय लेता है (यदि वह दुर्गम वनसे घिरा हुआ न हो तो दूसरे लोग निश्चय ही उसपर आक्रमण कर सकते हैं) ॥ १५ ॥

सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्यतम् ।
दम्यो धुरमिवासाद्य सहेयं केन चौजसा ॥ १६ ॥

'यह राज्यका भार, जिसे किसी महाधुरंधरने धारण किया था, मैं कैसे, किस बलसे धारण कर सकता हूँ ? जैसे कोई छोटा-सा बछड़ा बड़े-बड़े बैलोंद्वारा ढोये जाने योग्य महान् भारको नहीं खींच सकता, उसी प्रकार यह राज्यका महान् भार मेरे लिये असह्य है ॥ १६ ॥

अथवा मे भवेच्छक्तिर्योगैर्बुद्धिबलेन वा ।
सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम् ॥ १७ ॥

'अथवा नाना प्रकारके उपायों तथा बुद्धिबलसे मुझमें राज्यके भरण-पोषणकी शक्ति हो तो भी केवल अपने बेटेके लिये राज्य चाहनेवाली तुझ कैकेयीकी मनःकामना पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुं त्वां पापनिश्चयाम् ।
यदि रामस्य नावेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत् सदा ॥ १८ ॥

'यदि श्रीराम तुझे सदा अपनी माताके समान नहीं देखते होते तो तेरी-जैसी पापपूर्ण विचारवाली माताका त्याग करनेमें मुझे तनिक भी हिचक नहीं होती ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।
साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

'उत्तम चरित्रसे गिरी हुई पापिनि ! मेरे पूर्वजोंने जिसकी सदा निन्दा की है, वह पापपर ही दृष्टि रखनेवाली बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हो गयी ? ॥ १९ ॥

अस्मिन् कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

'इस कुलमें जो सबसे बड़ा होता है, उसीका राज्याभिषेक होता है; दूसरे भाई सावधानीके साथ बड़ेकी आज्ञाके अधीन रहकर कार्य करते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे ।
गतिं वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥ २१ ॥

'क्रूर स्वभाववाली कैकेयि ! मेरी समझमें तू राजधर्मपर दृष्टि नहीं रखती है अथवा उसे बिल्कुल नहीं जानती। राजाओंके बर्तावका जो सनातन स्वरूप है, उसका भी तुझे ज्ञान नहीं है ॥ २१ ॥

सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।
राज्ञामेतत् समं तत् स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

'राजकुमारोंमें जो ज्येष्ठ होता है, सदा उसीका राजाके पदपर अभिषेक किया जाता है। सभी राजाओंके यहाँ समान रूपसे इस नियमका पालन होता है। इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंके कुलमें इसका विशेष आदर है ॥ २२ ॥

तेषां धर्मैकरक्षाणां कुलचारित्रशोभिनाम् ।
अद्य चारित्रशौटीर्यं त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥ २३ ॥

'जिनकी एकमात्र धर्मसे ही रक्षा होती आयी है तथा जो कुलोचित सदाचारके पालनसे ही सुशोभित हुए हैं, उनका यह चरित्रविषयक अभिमान आज तुझे पाकर—तेरे सम्बन्धके कारण दूर हो गया ॥ २३ ॥

तवापि सुमहाभागे जनेन्द्रकुलपूर्वके ।
बुद्धिमोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गर्हितः ॥ २४ ॥

'महाभागे ! तेरा जन्म भी तो महाराज केकयके कुलमें

हुआ है, फिर तेरे हृदयमें यह निन्दित बुद्धिमोह कैसे उत्पन्न हो गया ? ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।
यया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

'अरी ! तेरा विचार बड़ा ही पापपूर्ण है । मैं तेरी इच्छा कदापि नहीं पूर्ण करूँगा । तूने मेरे लिये उस विपत्तिकी नींव डाल दी है, जो मेरे प्राणतक ले सकती है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् ।
निवर्तयिष्यामि वनाद् भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

'यह ले, मैं अभी तेरा अप्रिय करनेके लिये तुल गया हूँ । मैं वनसे निष्पाप भ्राता श्रीरामको, जो स्वजनोंके प्रिय हैं, लौटा लाऊँगा ॥ २६ ॥

निवर्तयित्वा रामं च तस्याहं दीप्ततेजसः ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

श्रीरामको लौटा लाकर उद्दीप्त तेजवाले उन्हीं महापुरुषका दास बनकर स्वस्थचित्तसे जीवन व्यतीत करूँगा ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा
प्रियेतरैर्वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।
शोकार्दितश्चापि ननाद भूयः
सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर महात्मा भरत शोकसे पीड़ित हो पुनः जली-कटी बातोंसे कैकेयीको व्यथित करते हुए उसे जोर-जोरसे फटकारने लगे, मानो मन्दराचलकी गुहामें बैठा हुआ सिंह गरज रहा हो ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

भरतका कैकेयीको कड़ी फटकार देना

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।
रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद् वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार माताकी निन्दा करके भरत उस समय महान् रोषावेशसे भर गये और फिर कठोर वाणीमें कहने लगे—॥ १ ॥

राज्याद् भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।
परित्यक्तासि धर्मेण मा मृतं रुदती भव ॥ २ ॥

दुष्टतापूर्ण बर्ताव करनेवाली क्रूरहृदया कैकेयि ! तू राज्यसे भ्रष्ट हो जा । धर्मने तेरा परित्याग कर दिया है, अतः अब तू मरे हुए महाराजके लिये रोना मत, (क्योंकि तू पत्नी-धर्मसे गिर चुकी है) अथवा मुझे मरा हुआ समझकर तू जन्मभर पुत्रके लिये रोया कर ॥ २ ॥

किं नु तेऽदूषयद् रामो राजा वा भृशधार्मिकः ।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥

'श्रीरामने अथवा अत्यन्त धर्मात्मा महाराज (पिताजी) ने तेरा क्या बिगाड़ा था, जिससे एक साथ ही उन्हें तुम्हारे कारण वनवास और मृत्युका कष्ट भोगना पड़ा ? ॥ ३ ॥

भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् ।
कैकेयि नरकं गच्छ मा च तातसलोकताम् ॥ ४ ॥

कैकेयि ! तूने इस कुलका विनाश करनेके कारण भ्रूण-हत्याका पाप अपने सिरपर लिया है, इसलिये तू नरकमें जा और पिताजीका लोक तुझे न मिले ॥ ४ ॥

यत्त्वया हीदृशं पापं कृतं घोरेण कर्मणा ।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

'तूने इस घोर कर्मके द्वारा समस्त लोकोंके प्रिय श्रीरामको देशनिकाला देकर जो ऐसा बड़ा पाप किया है, उसने मेरे लिये भी भय उपस्थित कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

तेरे कारण मेरे पिताकी मृत्यु हुई, श्रीरामको वनका आश्रय लेना पड़ा और मुझे भी तूने इस जीवजगत्‌में अप-यशका भागी बना दिया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

'राज्यके लोभमें पड़कर क्रूरतापूर्ण कर्म करनेवाली दुराचारिणी पतिघातिनि ! तू माताके रूपमें मेरी शत्रु है । तुझे मुझसे बात नहीं करनी चाहिये ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषिणीम् ॥ ८ ॥

'कौसल्या, सुमित्रा तथा जो अन्य मेरी माताएँ हैं, वे सब तुझ कुलकलङ्किनीके कारण महान् दुःखमें पड़ गयी हैं ॥ ८ ॥

न त्वमश्वपतेः कन्या धर्मराजस्य धीमतः ।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रध्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥

'तू बुद्धिमान् धर्मराज अश्वपतिकी कन्या नहीं है। तू उनके

कुलमें कोई राक्षसी पैदा हो गयी है, जो पिताके वंशका विध्वंस करनेवाली है ॥ ९ ॥

यत् त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।
वनं प्रस्थापितो वीरः पितापि त्रिदिवं गतः ॥ १० ॥
यत् प्रधानासि तत् पापं मयि पित्रा विना कृते ।
भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

'तूने सदा सत्यमें तत्पर रहनेवाले धर्मात्मा वीर श्रीरामको जो वनमें भेज दिया और तेरे कारण जो मेरे पिता स्वर्गवासी हो गये, इन सब कुकृत्योंद्वारा तूने प्रधान रूपसे जिस पापका अर्जन किया है, वह पाप मुझमें आकर अपना फल दिखा रहा है; इसलिये मैं पितृहीन हो गया, अपने दो भाइयोंसे बिछुड़ गया और समस्त जगत्के लोगोंके लिये अप्रिय बन गया ॥ १०-११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां पापनिश्चये ।
कृत्वा कं प्राप्स्यसे ह्यद्य लोकं निरयगामिनि ॥ १२ ॥

पापपूर्ण विचार रखनेवाली नरकगामिनी कैकेयि ! धर्मपरायणा माता कौसल्याको पति और पुत्रसे वञ्चित करके अब तू किस लोकमें जायगी ? ॥ १२ ॥

किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं बन्धुसंश्रयम् ।
ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

'क्रूरहृदये ! कौसल्यापुत्र श्रीराम मेरे बड़े भाई और पिताके तुल्य हैं । वे जितेन्द्रिय और बन्धुओंके आश्रयदाता हैं । क्या तू उन्हें इस रूपमें नहीं जानती है ? ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते ।
तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः ॥ १४ ॥

'पुत्र माताके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और हृदयसे उत्पन्न होता है, इसलिये वह माताको अधिक प्रिय होता है । अन्य भाई-बन्धु केवल प्रिय ही होते हैं (किंतु पुत्र प्रियतर होता है) ॥ १४ ॥

अन्यदा किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्मता ।
वहमानौ ददर्शोर्व्यां पुत्रौ विगतचेतसौ ॥ १५ ॥

'एक समयकी बात है कि धर्मको जाननेवाली देवसम्मानिता सुरभि (कामधेनु) ने पृथ्वीपर अपने दो पुत्रोंको देखा, जो हल जोतते-जोतते अचेत हो गये थे ॥ १५ ॥

तावर्धदिवसं श्रान्तौ दृष्ट्वा पुत्रौ महीतले ।
रुरोद पुत्रशोकेन बाष्पपर्याकुलेक्षणम् ॥ १६ ॥

'मध्याह्नका समय होनेतक लगातार हल जोतनेसे वे बहुत थक गये थे । पृथ्वीपर अपने उन दोनों पुत्रोंको ऐसी दुर्दशामें पड़ा देख सुरभि पुत्रशोकसे रोने लगी । उसके नेत्रोंमें आँसू उमड़ आये ॥ १६ ॥

अधस्ताद् व्रजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।
बिन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥

'उसी समय महात्मा देवराज इन्द्र सुरभिके नीचेसे होकर कहीं जा रहे थे । उनके शरीरपर कामधेनुके दो बूँद सुगन्धित आँसू गिर पड़े ॥ १७ ॥

निरीक्षमाणस्तां शक्रो ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।
आकाशे विष्ठितां दीनां रुदतीं भृशदुःखिताम् ॥ १८ ॥

'जब इन्द्रने ऊपर दृष्टि डाली, तब देखा—आकाशमें सुरभि खड़ी हैं और अत्यन्त दुखी हो दीनभावसे रो रही हैं ॥ १८ ॥

तां दृष्ट्वा शोकसंतप्तां वज्रपाणिर्यशस्विनीम् ।
इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्विग्नः सुरराजोऽब्रवीद् वचः ॥ १९ ॥

'यशस्विनी सुरभिको शोकसे संतप्त हुई देख वज्रधारी देवराज इन्द्र उद्विग्न हो उठे और हाथ जोड़कर बोले— ॥ १९ ॥

भयं कच्चिन्न चास्मासु कुतश्चिद् विद्यते महत् ।
कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २० ॥

'सबका हित चाहनेवाली देवि ! हमलोगोंपर कहींसे कोई महान् भय तो नहीं उपस्थित हुआ है ? बताओ, किस कारणसे तुम्हें यह शोक प्राप्त हुआ है ?' ॥ २० ॥

एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।
प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २१ ॥

'बुद्धिमान् देवराज इन्द्रके इस प्रकार पूछनेपर बोलनेमें चतुर और धीरस्वभाववाली सुरभिने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ २१ ॥

शान्तं पापं न वः किंचित् कुतश्चिदमराधिप ।
अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥ २२ ॥

'देवेश्वर ! पाप शान्त हो । तुमलोगोंपर कहींसे कोई भय नहीं है । मैं तो अपने इन दोनों पुत्रोंको विषम अवस्था (घोर सङ्कट) में मग्न हुआ देख शोक कर रही हूँ ॥ २२ ॥

एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।
वध्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण दुरात्मना ॥ २३ ॥

'ये दोनों बैल अत्यन्त दुर्बल और दुखी हैं, सूर्यकी किरणोंसे बहुत तप गये हैं और ऊपरसे वह दुष्ट किसान इन्हें पीट रहा है ॥ २३ ॥

मम कायात् प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।
यौ दृष्ट्वा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २४ ॥

'मेरे शरीरसे इनकी उत्पत्ति हुई है । ये दोनों भारसे पीड़ित और दुखी हैं, इसीलिये इन्हें देखकर मैं शोकसे संतप्त हो रही हूँ; क्योंकि पुत्रके समान प्रिय दूसरा कोई नहीं है' ॥ २४ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तमिदं जगत्।
तां दृष्ट्वा रुदतीं शक्रो न सुतान् मन्यते परम्॥ २५॥

'जिनके सहस्रों पुत्रोंसे यह सारा जगत् भरा हुआ है, उन्हीं कामधेनुको इस तरह रोती देख इन्द्रने यह माना कि पुत्रसे बढ़कर और कोई नहीं है॥ २५॥

इन्द्रो ह्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम्।
सुरभिं मन्यते दृष्ट्वा भूयसीं तामिहेश्वरः॥ २६॥

देवेश्वर इन्द्रने अपने शरीरपर उस पवित्र गन्धवाले अश्रुपातको देखकर देवी सुरभिको इस जगत्में सबसे श्रेष्ठ माना॥ २६॥

समाप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया।
श्रीमत्या गुणमुख्यायाः स्वभावपरिचेष्टया॥ २७॥
यस्याः पुत्रसहस्राणि सापि शोचति कामधुक्।
किं पुनर्या विना रामं कौसल्या वर्तयिष्यति॥ २८॥

'जिनका चरित्र समस्त प्राणियोंके लिये समान रूपसे हितकर और अनुपम है, जो अभीष्ट दानरूप ऐश्वर्य-शक्तिसे सम्पन्न, सत्यरूप प्रधान गुणसे युक्त तथा लोकरक्षाकी कामनासे कार्यमें प्रवृत्त होनेवाली हैं और जिनके सहस्रों पुत्र हैं, वे कामधेनु भी जब अपने दो पुत्रोंके लिये उनके स्वाभाविक चेष्टामें रत होनेपर भी कष्ट पानेके कारण शोक करती हैं, तब जिनके एक ही पुत्र है, वे माता कौसल्या श्रीरामके बिना कैसे जीवित रहेंगी ?॥ २७-२८॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवत्सेयं त्वया कृता।
तस्मात् त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे॥ २९॥

इकलौते बेटेवाली इन सती-साध्वी कौसल्याका तूने उनके पुत्रसे बिछोह करा दिया है, इसलिये तू सदा ही इस लोक और परलोकमें भी दुःख ही पायेगी॥ २९॥

अहं त्वपचितिं भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम्।
वर्धनं यशसश्चापि करिष्यामि न संशयः॥ ३०॥

'मैं तो यह राज्य लौटाकर भाईकी पूजा करूँगा और यह सारा अन्त्येष्टिसंस्कार आदि करके पिताका भी पूर्णरूपसे पूजन करूँगा तथा निःसंदेह मैं वही कर्म करूँगा, जो (तेरे दिये हुए कलङ्कको मिटानेवाला और) मेरे यशको बढ़ानेवाला हो॥ ३०॥

आनाय्य च महाबाहुं कोसलेन्द्रं महाबलम्।
स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेवितम्॥ ३१॥

'महाबली महाबाहु कोसलनरेश श्रीरामको यहाँ लौटा लाकर मैं स्वयं ही मुनिजनसेवित वनमें प्रवेश करूँगा॥ ३१॥

नह्यहं पापसंकल्पे पापे पापं त्वया कृतम्।
शक्तो धारयितुं पौरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः॥ ३२॥

'पापपूर्ण संकल्प करनेवाली पापिनि! पुरवासी मनुष्य आँसू बहाते हुए अवरुद्धकण्ठ हो मुझे देखें और मैं तेरे किये हुए इस पापका बोझ ढोता रहूँ—यह मुझसे नहीं हो सकता॥ ३२॥

सा त्वमग्निं प्रविश वा स्वयं वा विश दण्डकान्।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कण्ठे नहि तेऽन्यत् परायणम्॥ ३३॥

'अब तू जलती आगमें प्रवेश कर जा, या स्वयं दण्डकारण्यमें चली जा अथवा गलेमें रस्सी बाँधकर प्राण दे दे, इसके सिवा तेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है॥ ३३॥

अहमप्यवनीं प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे।
कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्मषः॥ ३४॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजी जब अयोध्याकी भूमिपर पदार्पण करेंगे तभी मेरा कलङ्क दूर होगा और तभी मैं कृतकृत्य होऊँगा'॥ ३४॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशतोदितः।
पपात भुवि संक्रुद्धो निःश्वसन्निव पन्नगः॥ ३५॥

यह कहकर भरत वनमें तोमर और अङ्कुशद्वारा पीड़ित किये गये हाथीकी भाँति मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े और क्रोधमें भरकर फुफकारते हुए साँपकी भाँति लम्बी साँस खींचने लगे॥ ३५॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा
विधूतसर्वाभरणः परंतपः।
बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये॥ ३६॥

शत्रुओंको तपानेवाले राजकुमार भरत उत्सव समाप्त होनेपर नीचे गिराये गये शचीपति इन्द्रके ध्वजकी भाँति उस समय पृथ्वीपर पड़े थे, उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये थे, वस्त्र ढीले पड़ गये थे और सारे आभूषण टूटकर बिखर गये थे॥ ३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः॥ ७४॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७४॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

कौसल्याके सामने भरतका शपथ खाना

दीर्घकालात् समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा स वीर्यवान्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम्॥ १॥
सोऽमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत्।

बहुत देरके बाद होशमें आनेपर जब पराक्रमी भरत उठे तब आँसू भरे नेत्रोंसे दीन बनी बैठी हुई माताकी ओर देखकर मन्त्रियोंके बीचमें उसकी निन्दा करते हुए बोले—॥

राज्यं न कामये जातु मन्त्रये नापि मातरम्॥ २॥
अभिषेकं न जानामि योऽभूद् राजा समीक्षितः।
विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽभवम्॥ ३॥

'मन्त्रिवरो! मैं राज्य नहीं चाहता और न मैंने कभी मातासे इसके लिये बातचीत ही की है। महाराजने जिस अभिषेकका निश्चय किया था, उसका भी मुझे पता नहीं था; क्योंकि उस समय मैं शत्रुघ्नके साथ दूर देशमें था॥ २-३॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः।
विवासनं च सौमित्रेः सीतायाश्च यथाभवत्॥ ४॥

'महात्मा श्रीरामके वनवास और सीता तथा लक्ष्मणके निर्वासनका भी मुझे ज्ञान नहीं है कि वह कब और कैसे हुआ?'॥ ४॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः।
कौसल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रां चेदमब्रवीत्॥ ५॥

महात्मा भरत जब इस प्रकार अपनी माताको कोस रहे थे, उस समय उनकी आवाजको पहचानकर कौसल्याने सुमित्रासे इस प्रकार कहा—॥ ५॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः।
तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम्॥ ६॥

'क्रूर कर्म करनेवाली कैकेयीके पुत्र भरत आ गये हैं। वे बड़े दूरदर्शी हैं, अतः मैं उन्हें देखना चाहती हूँ'॥ ६॥

एवमुक्त्वा सुमित्रां तां विवर्णवदना कृशा।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेपमाना विचेतना॥ ७॥

सुमित्रासे ऐसा कहकर उदास मुखवाली, दुर्बल और अचेत-सी हुई कौसल्या जहाँ भरत थे, उस स्थानपर जानेके लिये काँपती हुई चलीं॥ ७॥

स तु राजात्मजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा।
प्रतस्थे भरतो येन कौसल्याया निवेशनम्॥ ८॥

उसी समय उधरसे राजकुमार भरत भी शत्रुघ्नको साथ लिये उसी मार्गसे चले आ रहे थे, जिससे कौसल्याके भवनमें आना-जाना होता था॥ ८॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्तां पतितां नष्टचेतनाम्॥ ९॥
रुदन्तौ रुदती दुःखात् समेत्यार्या मनस्विनी।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता॥ १०॥

तदनन्तर शत्रुघ्न और भरतने दूरसे ही देखा कि माता कौसल्या दुःखसे व्याकुल और अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी हैं। यह देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे दौड़कर उनकी गोदीसे लग गये तथा फूट-फूटकर रोने लगे। आर्या मनस्विनी कौसल्या भी दुःखसे रो पड़ीं और उन्हें छातीसे लगाकर अत्यन्त दुःखित हो भरतसे इस प्रकार बोलीं—॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम्।
सम्प्राप्तं बत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा॥ ११॥

'बेटा! तुम राज्य चाहते थे न? सो यह निष्कण्टक राज्य तुम्हें प्राप्त हो गया; किंतु खेद यही है कि कैकेयीने जल्दीके कारण बड़े क्रूर कर्मके द्वारा इसे पाया है॥ ११॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम्।
कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी॥ १२॥

'क्रूरतापूर्ण दृष्टि रखनेवाली कैकेयी न जाने इसमें कौन-सा लाभ देखती थी कि उसने मेरे बेटेको चीर-वस्त्र पहनाकर वनमें भेज दिया और उसे वनवासी बना दिया॥ १२॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति।
हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः॥ १३॥

'अब कैकेयीको चाहिये कि मुझे भी शीघ्र ही उसी स्थानपर भेज दे, जहाँ इस समय सुवर्णमयी नाभिसे सुशोभित मेरे महायशस्वी पुत्र श्रीराम हैं॥ १३॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम्।
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः॥ १४॥

'अथवा सुमित्राको साथ लेकर और अग्निहोत्रको आगे करके मैं स्वयं ही सुखपूर्वक उस स्थानको प्रस्थान करूँगी, जहाँ श्रीराम निवास करते हैं॥ १४॥

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि।
यत्रासौ पुरुषव्याघ्रस्तप्यते मे सुतस्तपः॥ १५॥

'अथवा तुम स्वयं ही अपनी इच्छाके अनुसार अब मुझे वहीं पहुँचा दो, जहाँ मेरे पुत्र पुरुषसिंह श्रीराम तप करते हैं॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम्।
हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं तया॥ १६॥

'यह धन-धान्यसे सम्पन्न तथा हाथी, घोड़े एवं रथोंसे भरा-पूरा विस्तृत राज्य कैकेयीने (श्रीरामसे छीनकर) तुम्हें दिलाया है'॥ १६॥

इत्यादिबहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्त्सितोऽनघः।
विव्यथे भरतोऽतीव व्रणे तुद्येव सूचिना ॥ १७ ॥

इस तरहकी बहुत-सी कठोर बातें कहकर जब कौसल्याने निरपराध भरतकी भर्त्सना की, तब उनको बड़ी पीड़ा हुई; मानो किसीने घावमें सूई चुभो दी हो ॥ १७ ॥

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः।
विलप्य बहुधासंज्ञो लब्धसंज्ञस्तदाभवत् ॥ १८ ॥

वे कौसल्याके चरणोंमें गिर पड़े, उस समय उनके चित्तमें बड़ी घबराहट थी। वे बारंबार विलाप करके अचेत हो गये। थोड़ी देर बाद उन्हें फिर चेत हुआ ॥ १८ ॥

एवं विलपमानां तां प्राञ्जलिर्भरतस्तदा।
कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम् ॥ १९ ॥

तब भरत अनेक प्रकारके शोकोंसे घिरी हुई और पूर्वोक्त रूपसे विलाप करती हुई माता कौसल्यासे हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—॥ १९ ॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकल्मषम्।
विपुलां च मम प्रीतिं स्थितां जानासि राघवे ॥ २० ॥

'आर्ये! यहाँ जो कुछ हुआ है, इसकी मुझे बिल्कुल जानकारी नहीं थी। मैं सर्वथा निरपराध हूँ, तो भी आप क्यों मुझे दोष दे रही हैं? आप तो जानती हैं कि श्रीरघुनाथजी-में मेरा कितना प्रगाढ़ प्रेम है ॥ २० ॥

कृतशास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूत् तस्य कदाचन।
सत्यसंधः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २१ ॥

'जिसकी अनुमतिसे सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, आर्य श्रीरामजी वनमें गये हों उस पापीकी बुद्धि कभी गुरुसे सीखे हुए शास्त्रोंमें बताये गये मार्गका अनुसरण करनेवाली न हो ॥

प्रैष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु।
हन्तु पादेन गाः सुप्ता यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २२ ॥

'जिसकी सलाहसे बड़े भाई श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, वह अत्यन्त पापियों—हीन जातियोंका सेवक हो। सूर्यकी ओर मुँह करके मल-मूत्रका त्याग करे और सोयी हुई गौओंको लातसे मारे (अर्थात् वह इन पापकर्मोंके दुष्परिणामका भागी हो) ॥ २२ ॥

कारयित्वा महत् कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम्।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २३ ॥

'जिसकी सम्मतिसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया हो, उसको वही पाप लगे, जो सेवकसे भारी काम कराकर उसे समुचित वेतन न देनेवाले स्वामीको लगता है ॥ २३ ॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भूतानि पुत्रवत्।
ततस्तु द्रुह्यतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥

'जिसके कहनेसे आर्य श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसको वही पाप लगे, जो समस्त प्राणियोंका पुत्रकी भाँति पालन करनेवाले राजासे द्रोह करनेवाले लोगोंको लगता है ॥

बलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः।
अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २५ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह उसी अधर्मका भागी हो, जो प्रजासे उसकी आयका छठा भाग लेकर भी प्रजावर्गकी रक्षा न करनेवाले राजाको प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम्।
तां चापलतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥

'जिसकी सलाहसे भैया श्रीरामको वनमें जाना पड़ा हो, उसे वही पाप लगे, जो यज्ञमें कष्ट सहनेवाले ऋत्विजोंको दक्षिणा देनेकी प्रतिज्ञा करके पीछे इनकार कर देनेवाले लोगोंको लगता है ॥ २६ ॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले।
मा स्म कार्षीत् सतां धर्मं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २७ ॥

'हाथी, घोड़े और रथोंसे भरे एवं अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षासे व्याप्त संग्राममें सत्पुरुषोंके धर्मका पालन न करनेवाले योद्धाओंको जो पाप लगता है, वही उस मनुष्यको भी प्राप्त हो, जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीरामजीको वनमें भेजा गया हो ॥

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्नेन धीमता।
स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामको वनमें प्रस्थान करना पड़ा है, वह दुष्टात्मा बुद्धिमान् गुरुके द्वारा यत्नपूर्वक प्राप्त हुआ शास्त्रके सूक्ष्म विषयका उपदेश भुला दे ॥ २८ ॥

मा च तं व्यूढबाह्वंसं चन्द्रभास्करतेजसम्।
द्राक्षीद् राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥

'जिसकी सलाहसे बड़े भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, वह चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी तथा विशाल भुजाओं और कंधोंसे सुशोभित श्रीरामचन्द्रजीको राज्यसिंहासन-पर विराजमान न देख सके—वह राजा श्रीरामके दर्शनसे वञ्चित रह जाय ॥ २९ ॥

पायसं कृसरं छागं वृथा सोऽश्नातु निर्घृणः।
गुरूंश्चाप्यवजानातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामचन्द्रजी वनमें गये हों, वह निर्दय मनुष्य खीर, खिचड़ी और बकरीके दूधको देवताओं, पितरों एवं भगवान्‌को निवेदन किये बिना व्यर्थ करके खाय ॥ ३० ॥

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरून् परिवदेत च।
मित्रे द्रुह्येत सोऽत्यर्थं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

'जिसकी सम्मतिसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा

हो, वह पापी मनुष्य गौओंके शरीरका पैरसे स्पर्श, गुरुजनोंकी निन्दा तथा मित्रके प्रति अत्यन्त द्रोह करे ॥ ३१ ॥

विश्वासात् कथितं किंचित् परिवादं मिथः क्वचित्।
विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

'जिसके कहनेसे बड़े भैया श्रीराम वनमें गये हों, वह दुष्टात्मा गुप्त रखनेके विश्वासपर एकान्तमें कहे हुए किसीके दोषको दूसरोंपर प्रकट कर दे (अर्थात् उसे विश्वासघात करनेका पाप लगे) ॥ ३२ ॥

अकर्ता चाकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा निरपत्रपः।
लोके भवतु विद्विष्टो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह मनुष्य उपकार न करनेवाला, कृतघ्न, सत्पुरुषोंद्वारा परित्यक्त, निर्लज्ज और जगत्‌में सबके द्वेषका पात्र हो ॥ ३३ ॥

पुत्रैर्दासैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः।
स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह अपने घरमें पुत्रों, दासों और भृत्योंसे घिरा रहकर भी अकेले ही मिष्टान्न भोजन करनेके पापका भागी हो ॥ ३४ ॥

अप्राप्य सदृशान् दारानलपत्यः प्रमीयताम्।
अनवाप्य क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३५ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह अपने अनुरूप पत्नीको न पाकर अग्निहोत्र आदि धार्मिक कर्मोंका अनुष्ठान किये बिना संतानहीन अवस्थामें ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽऽत्मनः संततिं द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः।
आयुःसमग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

'जिसकी सम्मतिसे मेरे बड़े भाई श्रीराम वनमें गये हों, वह सदा दुखी रहकर अपनी धर्मपत्नीसे होनेवाली संतानका मुँह न देखे तथा सम्पूर्ण आयुका उपभोग किये बिना ही मर जाय ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत् पापमुच्यते।
भृत्यत्यागे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

'राजा, स्त्री, बालक और बूढ़ोंका वध करने तथा भृत्योंको त्याग देनेमें जो पाप होता है, वही पाप उसे भी लगे ॥

लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च।
सदैव बिभृयाद् भृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

जिसकी सम्मतिसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह सदैव लाह, मधु, मांस, लोहा और विष आदि निषिद्ध वस्तुओंको बेचकर कमाये हुए धनसे अपने भरण-पोषणके योग्य कुटुम्बीजनोंका पालन करे ॥ ३८ ॥

संग्रामे समुपोढे च शत्रुपक्षभयंकरे।
पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

'जिसकी रायसे श्रीराम वनमें जानेको विवश हुए हों, वह शत्रुपक्षको भय देनेवाले युद्धके प्राप्त होनेपर उसमें पीठ दिखाकर भागता हुआ मारा जाय ॥ ३९ ॥

कपालपाणिः पृथिवीमटतां चीरसंवृतः।
भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह फटे-पुराने, मैले-कुचैले वस्त्रसे अपने शरीरको ढककर हाथमें खप्पर ले भीख माँगता हुआ उन्मत्तकी भाँति पृथ्वीपर घूमता फिरे ॥ ४० ॥

मद्यप्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः।
कामक्रोधाभिभूतश्च यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥

'जिसकी सलाहसे श्रीरामचन्द्रजीको वनमें जाना पड़ा हो, वह काम-क्रोधके वशीभूत होकर सदा ही मद्यपान, स्त्री-समागम और द्यूतक्रीड़ामें आसक्त रहे ॥ ४१ ॥

मास्य धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम्।
अपात्रवर्षी भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, उसका मन कभी धर्ममें न लगे, वह अधर्मका ही सेवन करे और अपात्रको धन दान करे ॥ ४२ ॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः।
दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

'जिसकी सलाहसे आर्य श्रीरामका वनगमन हुआ हो, उसके द्वारा सहस्रोंकी संख्यामें संचित किये गये नाना प्रकारके धन-वैभवोंको लुटेरे लूट ले जायँ ॥ ४३ ॥

उभे संध्ये शयानस्य यत् पापं परिकल्प्यते।
तच्च पापं भवेत् तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥
यदग्निदायके पापं यत् पापं गुरुतल्पगे।
मित्रद्रोहे च यत् पापं तत् पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

'जिसके कहनेसे भैया श्रीरामको वनमें भेजा गया हो, उसे वही पाप लगे, जो दोनों संध्याओंके समय सोये हुए पुरुषको प्राप्त होता है। आग लगानेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है, गुरुपत्नीगामीको जिस पापकी प्राप्ति होती है तथा मित्रद्रोह करनेसे जो पाप प्राप्त होता है, वही पाप उसे भी लगे ॥ ४४-४५ ॥

देवतानां पितॄणां च मातापित्रोस्तथैव च।
मा स्म कार्षीत् स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४६ ॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह देवताओं, पितरों और माता-पिताकी सेवा कभी न करे (अर्थात् उनकी सेवाके पुण्यसे वञ्चित रह जाय) ॥ ४६ ॥

सतां लोकात् सतां कीर्त्याः सज्जुष्टात् कर्मणस्तथा।
भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

'जिसकी अनुमतिसे विवश होकर भैया श्रीरामने वनमें पदार्पण किया है, वह पापी आज ही सत्पुरुषोंके लोकसे, सत्पुरुषोंकी कीर्तिसे तथा सत्पुरुषोंद्वारा सेवित कर्मसे शीघ्र भ्रष्ट हो जाय ॥ ४७ ॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम् ।
दीर्घबाहुर्महावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

'जिसकी सम्मतिसे बड़ी-बड़ी बाँह और विशाल वक्षवाले आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है, वह माताकी सेवा छोड़कर अनर्थके पथमें स्थित रहे ॥ ४८ ॥

बहुभृत्यो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।
समायात् सततं क्लेशं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

'जिसकी सलाहसे श्रीरामका वनगमन हुआ हो, वह दरिद्र हो, उसके यहाँ भरण-पोषण पानेके योग्य पुत्र आदिकी संख्या बहुत अधिक हो तथा वह ज्वररोगसे पीड़ित होकर सदा क्लेश भोगता रहे ॥ ४९ ॥

आशामाशंसमानानां दीनानामूर्ध्वचक्षुषाम् ।
अर्थिनां वितथां कुर्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

'जिसकी अनुमति पाकर आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह आशा लगाये ऊपरकी ओर आँख उठाकर दाताके मुँहकी ओर देखनेवाले दीन याचकोंकी आशाको निष्फल कर दे ॥ ५० ॥

मायया रमतां नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः ।
राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५१ ॥

'जिसके कहनेसे भैया श्रीरामने वनको प्रस्थान किया हो, वह पापात्मा पुरुष चुगला, अपवित्र तथा राजासे भयभीत रहकर सदा छल-कपटमें ही रचा-पचा रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम् ।
अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

'जिसके परामर्शसे आर्यका वनगमन हुआ हो, वह दुष्टात्मा ऋतु-स्नानकाल प्राप्त होनेके कारण अपने पास आयी हुई सती-साध्वी ऋतुस्नाता पत्नीको ठुकरा दे (उसकी इच्छा न पूर्ण करनेके पापका भागी हो) ॥ ५२ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्य दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यत् ।
तदेतत् प्रतिपद्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

'जिसकी सलाहसे मेरे बड़े भाईको वनमें जाना पड़ा हो, उसको वही पाप लगे, जो (अन्न आदिका दान न करने अथवा स्त्रीसे द्वेष रखनेके कारण) नष्ट हुई संतानवाले ब्राह्मणको प्राप्त होता है ॥ ५३ ॥

ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः ।
बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५४ ॥

'जिसकी रायसे आर्यने वनमें पदार्पण किया हो, वह मलिन इन्द्रियवाला पुरुष ब्राह्मणके लिये की जाती हुई पूजामें विघ्न डाल दे और छोटे बछड़ेवाली (दस दिनके भीतरकी ब्यायी हुई) गायका दूध दुहे ॥ ५४ ॥

धर्मदारान् परित्यज्य परदारान् निषेवताम् ।
त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

'जिसने आर्य श्रीरामके वनगमनकी अनुमति दी हो, वह मूढ़ धर्मपत्नीको छोड़कर परस्त्रीका सेवन करे तथा धर्मविषयक अनुरागको त्याग दे ॥ ५५ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके ।
यत्तदेकः स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

'पानीको गन्दा करनेवाले तथा दूसरोंको जहर देनेवाले मनुष्यको जो पाप लगता है, वह सारा पाप अकेला वही प्राप्त करे, जिसकी अनुमतिसे विवश आर्य श्रीरामको वनमें जाना पड़ा है ॥ ५६ ॥

तृषार्ते सति पानीये विप्रलम्भेन योजयन् ।
यत् पापं लभते तत् स्याद् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

'जिसकी सम्मतिसे आर्यका वनगमन हुआ हो, उसे वही पाप प्राप्त हो, जो पानी होते हुए भी प्यासेको उससे वञ्चित कर देनेवाले मनुष्यको लगता है ॥ ५७ ॥

भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः ।
तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

'जिसकी अनुमतिसे आर्य श्रीराम वनमें गये हों, वह उस पापका भागी हो, जो परस्पर झगड़ते हुए मनुष्योंमेंसे किसी एकके प्रति पक्षपात रखकर मार्गमें खड़ा हो उनका झगड़ा देखनेवाले कलहप्रिय मनुष्यको प्राप्त होता है' ॥ ५८ ॥

एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तोऽनुपपात ह ।
विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार पति और पुत्रसे बिछुड़ी हुई कौसल्याको शपथके द्वारा आश्वासन देते हुए ही राजकुमार भरत दुःखसे व्याकुल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तदा तं शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।
भरतं शोकसंतप्तं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

उस समय दुष्कर शपथोंद्वारा अपनी सफाई देते हुए शोकसंतप्त एवं अचेत भरतसे कौसल्याने इस प्रकार कहा — ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।
शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

'बेटा ! तुम अनेकानेक शपथ खाकर जो मेरे प्राणोंको पीड़ा दे रहे हो, इससे मेरा यह दुःख और भी बढ़ता जा रहा है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या न चलितो धर्मादात्मा ते सहलक्षणः ।
वत्स सत्यप्रतिज्ञो हि सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

'वत्स ! सौभाग्यकी बात है कि शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तुम्हारा चित्त धर्मसे विचलित नहीं हुआ है । तुम सत्यप्रतिज्ञ हो, इसलिये तुम्हें सत्पुरुषोंके लोक प्राप्त होंगे' ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्कमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

ऐसा कहकर कौसल्याने भ्रातृभक्त महाबाहु भरतको गोदमें खींच लिया और अत्यन्त दुखी हो उन्हें गलेसे लगाकर वे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।
मोहाच्च शोकसंरम्भाद् बभूव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥

महात्मा भरत भी दुःखसे आर्त होकर विलाप कर रहे थे । उनका मन मोह और शोकके वेगसे व्याकुल हो गया था ॥ ६४ ॥

लालप्यमानस्य विचेतनस्य
प्रणष्टबुद्धेः पतितस्य भूमौ ।
मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च दीर्घं
सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

पृथ्वीपर पड़े हुए भरतकी बुद्धि (विवेकशक्ति) नष्ट हो गयी थी । वे अचेत-से होकर विलाप करते और बारंबार लंबी साँस खींचते थे । इस तरह शोकमें ही उनकी वह रात बीत गयी ॥ ६५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका अन्त्येष्टिसंस्कार

तमेवं शोकसंतप्तं भरतं कैकयीसुतम् ।
उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

इस प्रकार शोकसे संतप्त हुए केकयीकुमार भरतसे वक्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठने उत्तम वाणीमें कहा—॥ १ ॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।
प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयानमुत्तमम् ॥ २ ॥

'महायशस्वी राजकुमार ! तुम्हारा कल्याण हो । यह शोक छोड़ो; क्योंकि इससे कुछ होने-जानेवाला नहीं है । अब समयोचित कर्तव्यपर ध्यान दो । राजा दशरथके शवको दाहसंस्कारके लिये ले चलनेका उत्तम प्रबन्ध करो' ॥ २ ॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धरणीं गतः ।
प्रेतकृत्यानि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

वसिष्ठजीका वचन सुनकर धर्मज्ञ भरतने पृथ्वीपर पड़कर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और मन्त्रियोंद्वारा पिताके सम्पूर्ण प्रेतकर्मका प्रबन्ध करवाया ॥ ३ ॥

उद्धृत्य तैलसंसेकात् स तु भूमौ निवेशितम् ।
आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूमिपम् ॥ ४ ॥

राजा दशरथका शव तेलके कड़ाहसे निकालकर भूमिपर रखा गया । अधिक समयतक तेलमें पड़े रहनेसे उनका मुख कुछ पीला हो गया । उसे देखनेसे ऐसा जान पड़ता था, मानो भूमिपाल दशरथ सो रहे हों ॥ ४ ॥

संवेश्य शयने चाग्र्ये नानारत्नपरिष्कृते ।
ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

तदनन्तर मृत राजा दशरथको धो-पोंछकर नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित उत्तम शय्या (विमान) पर सुलाकर उनके पुत्र भरत अत्यन्त दुखी हो विलाप करने लगे—॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन् प्रोषिते मय्यनागते ।
विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

'राजन् ! मैं परदेशमें था और आपके पास पहुँचने भी नहीं पाया था, तबतक ही धर्मज्ञ श्रीराम और महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर आपने इस तरह स्वर्गमें जानेका निश्चय कैसे कर लिया ? ॥ ६ ॥

क्व यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् ।
हीनं पुरुषसिंहेन रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥ ७ ॥

'महाराज ! अनायास ही महान् कर्म करनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामसे हीन इस दुखी सेवकको छोड़ आप कहाँ चले जायँगे ? ॥ ७ ॥

योगक्षेमं तु तेऽव्यग्रं कोऽस्मिन् कल्पयिता पुरे ।
त्वयि प्रयाते स्वस्तात रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥

'तात ! आप स्वर्गको चल दिये और श्रीरामने वनका आश्रय लिया—ऐसी दशामें आपके इस नगरमें निश्चिन्ततापूर्वक प्रजाके योगक्षेमकी व्यवस्था कौन करेगा ? ॥

विधवा पृथिवी राजंस्त्वया हीना न राजते ।
हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम् ॥ ९ ॥

राजन् ! आपके बिना यह पृथ्वी विधवाके समान हो गयी, अतः इसकी शोभा नहीं हो रही है। यह पुरी भी मुझे चन्द्रहीन रात्रिके समान श्रीहीन प्रतीत होती है ॥ ९ ॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम्।
अब्रवीद् वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः ॥ १० ॥

इस प्रकार दीनचित्त होकर विलाप करते हुए भरतसे महामुनि वसिष्ठने फिर कहा—॥ १० ॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशाम्पतेः।
तान्यव्यग्रं महाबाहो क्रियतामविचारितम् ॥ ११ ॥

'महाबाहो ! इन महाराजके लिये जो कुछ भी प्रेतकर्म करने हैं, उन्हें बिना विचारे शान्तचित्त होकर करो' ॥ ११ ॥

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत्।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यांस्त्वरयामास सर्वशः ॥ १२ ॥

तब 'बहुत अच्छा' कहकर भरतने वसिष्ठजीकी आज्ञा शिरोधार्य की तथा ऋत्विक्, पुरोहित और आचार्य—सबको इस कार्यके लिये जल्दी करनेको कहा ॥ १२ ॥

ये त्वग्नयो नरेन्द्रस्य अग्न्यगाराद् बहिष्कृताः।
ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव ते हूयन्ते यथाविधि ॥ १३ ॥

राजाकी अग्निशालासे जो अग्नियाँ बाहर निकाली गयी थीं, उनमें ऋत्विजों और याजकोंद्वारा विधिपूर्वक हवन किया गया ॥ १३ ॥

शिबिकायामथारोप्य राजानं गतचेतनम्।
बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूचुः परिचारकाः ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् महाराज दशरथके प्राणहीन शरीरको पालकीमें बिठाकर परिचारकगण उन्हें श्मशानभूमिको ले चले। उस समय आँसुओंसे उनका गला रुँध गया था और मन-ही-मन उन्हें बड़ा दुःख हो रहा था ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च।
प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

मार्गमें राजकीय पुरुष राजाके शवके आगे-आगे सोने, चाँदी तथा भाँति-भाँतिके वस्त्र लुटाते चलते थे ॥ १५ ॥

चन्दनागुरुनिर्यासान् सरलं पद्मकं तथा।
देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथापरे ॥ १६ ॥
गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाथ भूमिपम्।
तत्र संवेशयामासुश्चितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥

श्मशानभूमिमें पहुँचकर चिता तैयार की जाने लगी, किसीने चन्दन लाकर रखा तो किसीने अगर, कोई-कोई गुग्गुल तथा कोई सरल, पद्मक और देवदारुकी लकड़ियाँ ला-लाकर चितामें डालने लगे। कुछ लोगोंने तरह-तरहके सुगन्धित पदार्थ लाकर छोड़े। इसके बाद ऋत्विजोंने राजाके शवको चितापर रखा ॥ १६-१७ ॥

तदा हुताशनं हुत्वा जेपुस्तस्य तदृत्विजः।
जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

उस समय अग्निमें आहुति देकर उनके ऋत्विजोंने वेदोक्त मन्त्रोंका जप किया। सामगान करनेवाले विद्वान् शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार साम-श्रुतियोंका गायन करने लगे ॥ १८ ॥

शिबिकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः।
नगरान्निर्ययुस्तत्र वृद्धैः परिवृतास्तथा ॥ १९ ॥
प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्ऋत्विजोऽग्निचितं नृपम्।
स्त्रियश्च शोकसंतप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

(इसके बाद चितामें आग लगायी गयी) तदनन्तर राजा दशरथकी कौसल्या आदि रानियाँ बूढ़े रक्षकोंसे घिरी हुई यथायोग्य शिबिकाओं तथा रथोंपर आरूढ़ होकर नगरसे निकलीं तथा शोकसे संतप्त हो श्मशानभूमिमें आकर अश्वमेधान्त यज्ञोंके अनुष्ठाता राजा दशरथके शवकी परिक्रमा करने लगीं। साथ ही ऋत्विजोंने भी उस शवकी परिक्रमा की ॥ १९-२० ॥

क्रौञ्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे।
आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय वहाँ करुण क्रन्दन करती हुई सहस्रों शोकार्त रानियोंका आर्तनाद कुररियोंके चीत्कारके समान सुनायी देता था ॥ २१ ॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः।
यानेभ्यः सरयूतीरमवतेरुर्नृपाङ्गनाः ॥ २२ ॥

दाहकर्मके पश्चात् विवश होकर रोती हुई वे राज-रानियाँ बारंबार विलाप करके सवारियोंसे ही सरयूके तटपर जाकर उतरीं ॥ २२ ॥

कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं
नृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश्च।
पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा
भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

भरतके साथ रानियों, मन्त्रियों और पुरोहितोंने भी राजाके लिये जलाञ्जलि दी, फिर सब-के-सब नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए नगरमें आये और दस दिनोंतक भूमिपर शयन करते हुए उन्होंने बड़े दुःखसे अपना समय व्यतीत किया ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः ॥ ७६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७६ ॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

भरतका पिताके श्राद्धमें ब्राह्मणोंको बहुत धन-रत्न आदिका दान देना, तेरहवें दिन अस्थि-संचयका शेष कार्य पूर्ण करनेके लिये पिताकी चिताभूमिपर जाकर भरत और शत्रुघ्नका विलाप करना और वसिष्ठ तथा सुमन्त्रका उन्हें समझाना

**ततो दशाहेऽतिगते कृतशौचो नृपात्मजः।
द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्माण्यकारयत् ॥ १ ॥**

तदनन्तर दशाह व्यतीत हो जानेपर राजकुमार भरतने ग्यारहवें दिन आत्मशुद्धिके लिये स्नान और एकादशाह श्राद्धका अनुष्ठान किया, फिर बारहवाँ दिन आनेपर उन्होंने अन्य श्राद्ध कर्म (मासिक और सपिण्डीकरण श्राद्ध) किये ॥ १ ॥

**ब्राह्मणेभ्यो धनं रत्नं ददावन्नं च पुष्कलम्।
वासांसि च महार्हाणि रत्नानि विविधानि च।
बास्तिकं बहु शुक्लं च गाश्चापि बहुशस्तदा ॥ २ ॥**

उसमें भरतने ब्राह्मणोंको धन, रत्न, प्रचुर अन्न, बहुमूल्य वस्त्र, नाना प्रकारके रत्न, बहुत-से बकरे, चाँदी और बहुतेरी गौएँ दान कीं ॥ २ ॥

**दासीर्दासांश्च यानानि वेश्मानि सुमहान्ति च।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम् ॥ ३ ॥**

राजपुत्र भरतने राजाके पारलौकिक हितके लिये बहुत-से दास, दासियाँ, सवारियाँ तथा बड़े-बड़े घर भी ब्राह्मणोंको दिये ॥ ३ ॥

**ततः प्रभातसमये दिवसे च त्रयोदशे।
विललाप महाबाहुर्भरतः शोकमूर्च्छितः ॥ ४ ॥**

तदनन्तर तेरहवें दिन प्रातःकाल महाबाहु भरत शोकसे मूर्च्छित होकर विलाप करने लगे ॥ ४ ॥

**शब्दापिहितकण्ठश्च शोधनार्थमुपागतः।
चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ॥ ५ ॥
तात यस्मिन् निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे।
तस्मिन् वनं प्रव्रजिते शून्ये त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ॥ ६ ॥**

उस समय रोनेसे उनका गला भर आया था, वे पिताके चितास्थानपर अस्थिसंचयके लिये आये और अत्यन्त दुखी होकर इस प्रकार कहने लगे—'तात ! आपने मुझे जिन ज्येष्ठ भ्राता श्रीरघुनाथजीके हाथमें सौंपा था, उनके वनमें चले जानेपर आपने मुझे सूनेमें ही छोड़ दिया (इस समय मेरा कोई सहारा नहीं) ॥ ५-६ ॥

**यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम्।
तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क्व गतो नृप ॥७॥**

'तात ! नरेश्वर ! जिन अनाथ हुई देवीके एकमात्र आधार पुत्रको आपने वनमें भेज दिया, उन माता कौसल्याको छोड़कर आप कहाँ चले गये ?' ॥ ७ ॥

**दृष्ट्वा भस्मारुणं तच्च दग्धास्थि स्थानमण्डलम्।
पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टनन् विषसाद ह ॥ ८ ॥**

पिताकी चिताका वह स्थानमण्डल भस्मसे भरा हुआ था, अत्यन्त दाहके कारण कुछ लाल दिखायी देता था। वहाँ पिताकी जली हुई हड्डियाँ बिखरी हुई थीं । पिताके शरीरके निर्वाणका वह स्थान देखकर भरत अत्यन्त विलाप करते हुए शोकमें डूब गये ॥ ८ ॥

**स तु दृष्ट्वा रुदन् दीनः पपात धरणीतले।
उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वज इवोच्छ्रितः ॥ ९ ॥**

उस स्थानको देखते ही वे दीनभावसे रोकर पृथ्वीपर गिर पड़े । जैसे इन्द्रका यन्त्रबद्ध ऊँचा ध्वज ऊपरको उठाये जाते समय खिसककर गिर पड़ा हो ॥ ९ ॥

**अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम्।
अन्तकाले निपतितं ययातिमृषयो यथा ॥ १० ॥**

तब उनके सारे मन्त्री उन पवित्र व्रतवाले भरतके पास आ पहुँचे, जैसे पुण्योंका अन्त होनेपर स्वर्गसे गिरे हुए राजा ययातिके पास अष्टक आदि राजर्षि आ गये थे ॥ १० ॥

**शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम्।
विसंज्ञो न्यपतद् भूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ॥ ११ ॥**

भरतको शोकमें डूबा हुआ देख शत्रुघ्न भी अपने पिता महाराज दशरथका बारंबार स्मरण करते हुए अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ११ ॥

**उन्मत्त इव निश्चित्तो विललाप सुदुःखितः।
स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ॥ १२ ॥**

वे समय-समयपर अनुभवमें आये हुए पिताके लालन-पालनसम्बन्धी उन-उन गुणोंका स्मरण करके अत्यन्त दुखी हो सुध-बुध खोकर उन्मत्तके समान विलाप करने लगे—॥

**मन्थराप्रभवस्तीव्रः कैकेयीग्राहसंकुलः।
वरदानमयोऽक्षोभ्योऽमज्जयच्छोकसागरः ॥ १३ ॥**

'हाय ! मन्थरासे जिसका प्राकट्य हुआ है, कैकेयीरूपी ग्राहसे जो व्याप्त है तथा जो किसी प्रकार भी मिटाया नहीं जा सकता, उस वरदानमय शोकरूपी उग्र समुद्रने हम सब लोगोंको अपने भीतर निमग्न कर दिया है ॥ १३ ॥

सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया।
क्व तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ॥ १४ ॥

'तात! आपने जिनका सदा लाड़-प्यार किया है तथा जो सुकुमार और बालक हैं, उन रोते-बिलखते हुए भरतको छोड़कर आप कहाँ चले गये?॥ १४॥

ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च।
प्रवारयति सर्वान् नस्तन्नः कोऽद्य करिष्यति ॥ १५ ॥

'भोजन, पान, वस्त्र और आभूषण—इन सबको अधिक संख्यामें एकत्र करके आप हम सब लोगोंसे अपनी रुचिकी वस्तुएँ ग्रहण करनेको कहते थे। अब कौन हमारे लिये ऐसी व्यवस्था करेगा?॥ १५॥

अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते।
विहीना या त्वया राज्ञा धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १६ ॥

'आप जैसे धर्मज्ञ महात्मा राजासे रहित होनेपर पृथ्वीको फट जाना चाहिये। इस फटनेके अवसरपर भी जो यह फट नहीं रही है, यह आश्चर्यकी बात है॥ १६॥

पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते।
किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १७ ॥

'पिता स्वर्गवासी हो गये और श्रीराम वनमें चले गये। अब मुझमें जीवित रहनेकी क्या शक्ति है? अब तो मैं अग्निमें ही प्रवेश करूँगा॥ १७॥

हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम्।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ॥ १८ ॥

'बड़े भाई और पितासे हीन होकर इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंद्वारा पालित इस सूनी अयोध्यामें मैं प्रवेश नहीं करूँगा; तपोवनको ही चला जाऊँगा'॥ १८॥

तयोर्विलपितं श्रुत्वा व्यसनं चाप्यवेक्ष्य तत्।
भृशमार्ततरा भूयः सर्व एवानुगामिनः ॥ १९ ॥

उन दोनोंका विलाप सुनकर और उस संकटको देखकर समस्त अनुचर-वर्गके लोग पुनः अत्यन्त शोकसे व्याकुल हो उठे॥ १९॥

ततो विषण्णौ श्रान्तौ च शत्रुघ्नभरतावुभौ।
धरायां स्म व्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविवर्षभौ ॥ २० ॥

उस समय भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई विषादग्रस्त और थकित होकर टूटे सींगोंवाले दो बैलोंके समान पृथ्वीपर लोट रहे थे॥ २०॥

ततः प्रकृतिमान् वैद्यः पितुरेषां पुरोहितः।
वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ॥ २१ ॥

तदनन्तर दैवी प्रकृतिसे युक्त और सर्वज्ञ वसिष्ठजी, जो इन श्रीराम आदिके पिताके पुरोहित थे, भरतको उठाकर उनसे इस प्रकार बोले—॥ २१॥

त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य ते विभो।
सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ॥ २२ ॥

'प्रभो! तुम्हारे पिताके दाहसंस्कार हुए यह तेरहवाँ दिन है; अब अस्थिसंचयका जो शेष कार्य है, उसके करनेमें तुम यहाँ विलम्ब क्यों लगा रहे हो?॥ २२॥

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः।
तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥

'भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मृत्यु—ये तीन द्वन्द्व सभी प्राणियोंमें समानरूपसे उपलब्ध होते हैं। इन्हें रोकना सर्वथा असम्भव है—ऐसी स्थितिमें तुम्हें इस तरह शोकाकुल नहीं होना चाहिये'॥ २३॥

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च।
श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ॥ २४ ॥

तत्त्वज्ञ सुमन्त्रने भी शत्रुघ्नको उठाकर उनके चित्तको शान्त किया तथा समस्त प्राणियोंके जन्म और मरणकी अनिवार्यताका उपदेश सुनाया॥ २४॥

उत्थितौ तौ नरव्याघ्रौ प्रकाशेते यशस्विनौ।
वर्षातपपरिग्लानौ पृथगिन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥

उस समय उठे हुए वे दोनों यशस्वी नरश्रेष्ठ वर्षा और धूपसे मलिन हुए दो अलग-अलग इन्द्रध्वजोंके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ २५॥

अश्रूणि परिमृद्नन्तौ रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ।
अमात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

वे आँसू पोंछते हुए दीनतापूर्ण वाणीमें बोलते थे। उन दोनोंकी आँखें लाल हो गयी थीं तथा मन्त्रीलोग उन दोनों राजकुमारोंको दूसरी-दूसरी क्रियाएँ शीघ्र करनेके लिये प्रेरित कर रहे थे॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७७॥

अष्टसप्ततितमः सर्गः

शत्रुघ्नका रोष, उनका कुब्जाको घसीटना और भरतजीके कहनेसे उसे मूर्च्छित अवस्थामें छोड़ देना

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः।
भरतं शोकसंतप्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तेरहवें दिनका कार्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेका विचार करते हुए शोकसंतप्त भरतसे लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्नने इस प्रकार कहा—॥ १॥

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः।

स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥ २ ॥

'भैया ! जो दुःखके समय अपने तथा आत्मीयजनोंके लिये तो बात ही क्या है, समस्त प्राणियोंको भी सहारा देनेवाले हैं, वे सत्त्वगुणसम्पन्न श्रीराम एक स्त्रीके द्वारा वनमें भेज दिये गये (यह कितने खेदकी बात है) ॥ २ ॥

बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।
किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

'तथा वे जो बल और पराक्रमसे सम्पन्न लक्ष्मण नामधारी शूरवीर हैं, उन्होंने भी कुछ नहीं किया । मैं पूछता हूँ कि उन्होंने पिताको कैद करके भी श्रीरामको इस संकटसे क्यों नहीं छुड़ाया ? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु निग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ ।
उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

'जब राजा एक नारीके वशमें होकर बुरे मार्गपर आरूढ़ हो चुके थे, तब न्याय और अन्यायका विचार करके उन्हें पहले ही कैद कर लेना चाहिये था' ॥ ४ ॥

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे ।
प्राग्द्वारेऽभूत् तदा कुब्जा सर्वाभरणभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न जब इस प्रकार रोषमें भरकर बोल रहे थे, उसी समय कुब्जा समस्त आभूषणोंसे विभूषित हो उस राजभवनके पूर्वद्वारपर आकर खड़ी हो गयी॥

लिप्ता चन्दनसारेण राजवस्त्राणि बिभ्रती ।
विविधं विविधैस्तैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उसके अङ्गोंमें उत्तमोत्तम चन्दनका लेप लगा हुआ था तथा वह राजरानियोंके पहनने योग्य विविध वस्त्र धारण करके भाँति-भाँतिके आभूषणोंसे सज-धजकर वहाँ आयी थी ॥ ६ ॥

मेखलादामभिश्चित्रैरन्यैश्च वरभूषणैः ।
बभासे बहुभिर्बद्धा रज्जुभिरिव वानरी ॥ ७ ॥

करधनीकी विचित्र लड़ियों तथा अन्य बहुसंख्यक सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत हो वह बहुत-सी रस्सियोंमें बँधी हुई वानरीके समान जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्थो भृशं पापस्य कारिणीम् ।
गृहीत्वाकरुणं कुब्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥

वही सारी बुराइयोंकी जड़ थी । वही श्रीरामके वनवासरूपी पापका मूल कारण थी । उसपर दृष्टि पड़ते ही द्वारपालने उसे पकड़ लिया और बड़ी निर्दयताके साथ घसीट लाकर शत्रुघ्नके हाथमें देते हुए कहा—॥ ८ ॥

यस्याः कृते वने रामो न्यस्तदेहश्च वः पिता ।
सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु यथामति ॥ ९ ॥

'राजकुमार ! जिसके कारण श्रीरामको वनमें निवास करना पड़ा है और आपलोगोंके पिताने शरीरका परित्याग किया है, वह क्रूर कर्म करनेवाली पापिनी यही है । आप इसके साथ जैसा बर्ताव उचित समझें, करें' ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।
अन्तःपुरचरान् सर्वानित्युवाच धृतव्रतः ॥ १० ॥

द्वारपालकी बातपर विचार करके शत्रुघ्नका दुःख और बढ़ गया । उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और अन्तःपुरमें रहनेवाले सब लोगोंको सुनाकर इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातॄणां मे तथा पितुः ।
यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥

'इस पापिनीने मेरे भाइयों तथा पिताको जैसा दुःसह दुःख पहुँचाया है, अपने उस क्रूर कर्मका वैसा ही फल यह भी भोगे'॥११॥

एवमुक्त्वा च तेनाशु सखीजनसमावृता ।
गृहीता बलवत् कुब्जा सा तद् गृहमनादयत् ॥ १२ ॥

ऐसा कहकर शत्रुघ्नने सखियोंसे घिरी हुई कुब्जाको तुरंत ही बलपूर्वक पकड़ लिया । वह डरके मारे ऐसा चीखने-चिल्लाने लगी कि वह सारा महल गूँज उठा ॥ १२ ॥

ततः सुभृशसंतप्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः ।
क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं व्यपलायत सर्वशः ॥ १३ ॥

फिर तो उसकी सारी सखियाँ अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शत्रुघ्नको कुपित जानकर सब ओर भाग चलीं ॥ १३ ॥

अमन्त्रयत कृत्स्नश्च तस्याः सर्वः सखीजनः ।
यथायं समुपक्रान्तो निःशेषं नः करिष्यति ॥ १४ ॥

उसकी सम्पूर्ण सखियोंने एक जगह एकत्र होकर आपसमें सलाह की कि 'जिस प्रकार इन्होंने बलपूर्वक कुब्जाको पकड़ा है, उससे जान पड़ता है, ये हमलोगोंमेंसे किसीको जीवित नहीं छोड़ेंगे ॥ १४ ॥

सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम् ।
कौसल्यां शरणं यामः सा हि नोऽस्ति ध्रुवा गतिः ॥

'अतः हमलोग परम दयालु, उदार, धर्मज्ञ और यशस्विनी महारानी कौसल्याकी शरणमें चलें । इस समय वे ही हमारी निश्चल गति हैं' ॥ १५ ॥

स च रोषेण संवीतः शत्रुघ्नः शत्रुशासनः ।
विचकर्ष तदा कुब्जां क्रोशन्तीं पृथिवीतले ॥ १६ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले शत्रुघ्न रोषमें भरकर कुब्जाको जमीनपर घसीटने लगे । उस समय वह जोर-जोरसे चीत्कार कर रही थी ॥ १६ ॥

तस्यां ह्याकृष्यमाणायां मन्थरायां ततस्ततः ।
चित्रं बहुविधं भाण्डं पृथिव्यां तद्व्यशीर्यत ॥ १७ ॥

जब मन्थरा घसीटी जा रही थी, उस समय उसके नाना प्रकारके विचित्र आभूषण टूट-टूटकर पृथ्वीपर इधर-उधर बिखरे जाते थे ॥ १७ ॥

तेन भाण्डेन विस्तीर्णं श्रीमद् राजनिवेशनम् ।
अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥

आभूषणोंके उन टुकड़ोंसे वह शोभाशाली विशाल राजभवन नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत शरत्कालके आकाशकी भाँति अधिक सुशोभित हो रहा था ॥ १८ ॥

स बली बलवत् क्रोधाद् गृहीत्वा पुरुषर्षभः ।
कैकेयीमभिनिर्भर्त्स्य बभाषे परुषं वचः ॥ १९ ॥

बलवान् नरश्रेष्ठ शत्रुघ्न जिस समय रोषपूर्वक मन्थराको जोरसे पकड़कर घसीट रहे थे, उस समय उसे छुड़ानेके लिये कैकेयी उनके पास आयी । तब उन्होंने उसे धिक्कारते हुए उसके प्रति बड़ी कठोर बातें कहीं—उसे रोषपूर्वक फटकारा ॥

तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता ।
शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता ॥ २० ॥

शत्रुघ्नके वे कठोर वचन बड़े ही दुःखदायी थे । उन्हें सुनकर कैकेयीको बहुत दुःख हुआ । वह शत्रुघ्नके भयसे थर्रा उठी और अपने पुत्रकी शरणमें आयी ॥ २० ॥

तं प्रेक्ष्य भरतः क्रुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ।
अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥

शत्रुघ्नको क्रोधमें भरा हुआ देख भरतने उनसे कहा—'सुमित्राकुमार ! क्षमा करो । स्त्रियाँ सभी प्राणियोंके लिये अवध्य होती हैं ॥ २१ ॥

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।
यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥ २२ ॥

'यदि मुझे यह भय न होता कि धर्मात्मा श्रीराम मातृघाती समझकर मुझसे घृणा करने लगेंगे तो मैं भी इस दुष्ट आचरण करनेवाली पापिनी कैकेयीको मार डालता ॥ २२ ॥

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः ।
त्वां च मां चैव धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥ २३ ॥

'धर्मात्मा श्रीरघुनाथजी तो इस कुब्जाके भी मारे जानेका समाचार यदि जान लें तो वे निश्चय ही तुमसे और मुझसे बोलना भी छोड़ देंगे' ॥ २३ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
न्यवर्तत ततो दोषात् तां मुमोच च मूर्च्छिताम् ॥ २४ ॥

भरतजीकी यह बात सुनकर लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न मन्थराके वधरूपी दोषसे निवृत्त हो गये और उसे मूर्च्छित अवस्थामें ही छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादमूले कैकेय्या मन्थरा निपपात ह ।
निःश्वसन्ती सुदुःखार्ता कृपणं विललाप ह ॥ २५ ॥

मन्थरा कैकेयीके चरणोंमें गिर पड़ी और लंबी साँस खींचती हुई अत्यन्त दुःखसे आर्त हो करुण विलाप करने लगी ॥२५॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां
समीक्ष्य कुब्जां भरतस्य माता ।
शनैः समाश्वासयदार्तरूपां
क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नके पटकने और घसीटनेसे आर्त एवं अचेत हुई कुब्जाको देखकर भरतकी माता कैकेयी धीरे-धीरे उसे आश्वासन देने—होशमें लानेकी चेष्टा करने लगी । उस समय कुब्जा पिंजड़ेमें बँधी हुई क्रौञ्चीकी भाँति कातर दृष्टिसे उसकी ओर देख रही थी ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टसप्ततितमः सर्गः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमः सर्गः

मन्त्री आदिका भरतसे राज्य ग्रहण करनेके लिये प्रस्ताव तथा भरतका अभिषेक-सामग्रीकी परिक्रमा करके श्रीरामको ही राज्यका अधिकारी बताकर उन्हें लौटा लानेके लिये चलनेके निमित्त व्यवस्था करनेकी सबको आज्ञा देना

ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ चतुर्दशे ।
समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

तदनन्तर चौदहवें दिन प्रातःकाल समस्त राजकर्मचारी मिलकर भरतसे इस प्रकार बोले—॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः ।
रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥
त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः ।
संगत्या नापराध्नोति राज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

महायशस्वी राजकुमार ! जो हमारे सर्वश्रेष्ठ गुरु थे, वे महाराज दशरथ तो अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम तथा महाबली लक्ष्मणको वनमें भेजकर स्वयं स्वर्गलोकको चले गये, अब इस राज्यका कोई स्वामी नहीं है; इसलिये अब आप ही हमारे राजा हों । आपके बड़े भाईको स्वयं महाराजने वनवासकी आज्ञा दी और आपको यह राज्य प्रदान किया !

अतः आपका राजा होना न्यायसङ्गत है। इस सङ्गतिके कारण ही आप राज्यको अपने अधिकारमें लेकर किसीके प्रति कोई अपराध नहीं कर रहे हैं ॥ २-३ ॥

आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव।
प्रतीक्षते त्वां स्वजनः श्रेणयश्च नृपात्मज ॥ ४ ॥

'राजकुमार रघुनन्दन! ये मन्त्री आदि स्वजन, पुरवासी तथा सेठलोग अभिषेककी सब सामग्री लेकर आपकी राह देखते हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम्।
अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान् नरर्षभ ॥ ५ ॥

'भरतजी! आप अपने पिता-पितामहोंके इस राज्यको अवश्य ग्रहण कीजिये। नरश्रेष्ठ! राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये और हमलोगोंकी रक्षा कीजिये' ॥ ५ ॥

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम्।
भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ॥ ६ ॥

यह सुनकर उत्तम व्रतको धारण करनेवाले भरतने अभिषेकके लिये रखी हुई कलश आदि सब सामग्रीकी प्रदक्षिणा की और वहाँ उपस्थित हुए सब लोगोंको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६ ॥

ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः।
नैवं भवन्तो मां वक्तुमर्हन्ति कुशला जनाः ॥ ७ ॥

सज्जनो! आपलोग बुद्धिमान् हैं, आपको मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। हमारे कुलमें सदा ज्येष्ठ पुत्र ही राज्यका अधिकारी होता आया है और यही उचित भी है ॥ ७ ॥

रामः पूर्वो हि नो भ्राता भविष्यति महीपतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ॥ ८ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी हमलोगोंके बड़े भाई हैं, अतः वे ही राजा होंगे। उनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा ॥ ८ ॥

युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला।
आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ॥ ९ ॥

'आपलोग विशाल चतुरङ्गिणी सेना, जो सब प्रकारसे सबल हो, तैयार कीजिये। मैं अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीको वनसे लौटा लाऊँगा ॥ ९ ॥

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम्।
पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ॥ १० ॥
तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम्।
आनयिष्यामि वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ॥ ११ ॥

'अभिषेकके लिये संचित हुई इस सारी सामग्रीको आगे करके मैं श्रीरामसे मिलनेके लिये वनमें चलूँगा और उन नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीका वहीं अभिषेक करके यज्ञसे लायी जानेवाली अग्निके समान उन्हें आगे करके अयोध्यामें ले आऊँगा ॥ १०-११ ॥

न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम्।
वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामो राजा भविष्यति ॥ १२ ॥

'परंतु जिसमें लेशमात्र मातृभाव शेष है, अपनी माता कहलानेवाली इस कैकेयीको मैं कदापि सफलमनोरथ नहीं होने दूँगा। श्रीराम यहाँके राजा होंगे और मैं दुर्गम वनमें निवास करूँगा ॥ १२ ॥

क्रियतां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च।
रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः ॥ १३ ॥

'कारीगर आगे जाकर रास्ता बनायें; ऊँची-नीची भूमिको बराबर करें तथा मार्गमें दुर्गम स्थानोंकी जानकारी रखनेवाले रक्षक भी साथ-साथ चलें' ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम्।
प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद् वाक्यमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके लिये ऐसी बातें कहते हुए राजकुमार भरतसे वहाँ आये हुए सब लोगोंने इस प्रकार सुन्दर एवं परम उत्तम बात कही—॥ १४ ॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरुपतिष्ठताम्।
यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥ १५ ॥

'भरतजी! ऐसे उत्तम वचन कहनेवाले आपके पास कमलवनमें निवास करनेवाली लक्ष्मी अवस्थित हों; क्योंकि आप राजाके ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको स्वयं ही इस पृथिवीका राज्य लौटा देना चाहते हैं' ॥ १५ ॥

अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मजः
प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च।
प्रहर्षजास्तं प्रति बाष्पबिन्दवो
निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः ॥ १६ ॥

उन लोगोंका कहा हुआ वह परम उत्तम आशीर्वचन जब कानमें पड़ा, तब उसे सुनकर राजकुमार भरतको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन सबकी ओर देखकर भरतके मुखमण्डलमें सुशोभित होनेवाले नेत्रोंसे हर्षजनित आँसुओंकी बूँदें गिरने लगीं ॥ १६ ॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः
सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः।
पन्थानं नरवरभक्तिमान् जनश्च
व्यादिष्टस्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥

भरतके मुखसे श्रीरामको ले आनेकी बात सुनकर उस सभाके सभी सदस्यों और मन्त्रियोंसहित समस्त राजकर्मचारी हर्षसे खिल उठे। उनका सारा शोक दूर हो गया

और वे भरतसे बोले—'नरश्रेष्ठ ! आपकी आज्ञाके अनुसार राजपरिवारके प्रति भक्तिभाव रखनेवाले कारीगरों और रक्षकोंको मार्ग ठीक करनेके लिये भेज दिया गया है' ॥ १७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनाशीतितमः सर्गः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

अशीतितमः सर्गः

अयोध्यासे गङ्गातटतक सुरम्य शिविर और कूप आदिसे युक्त सुखद राजमार्गका निर्माण

अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः ।
स्वकर्माभिरताः शूराः खनका यन्त्रकास्तथा ॥ १ ॥
कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः ।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥
सूपकाराः सुधाकारा वंशचर्मकृतस्तथा ।
समर्था ये च द्रष्टारः पुरतश्च प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् ऊँची-नीची एवं सजल-निर्जल भूमिका ज्ञान रखनेवाले, सूत्रकर्म (छावनी आदि बनानेके लिये सूत धारण करने) में कुशल, मार्गकी रक्षा आदि अपने कर्ममें सदा सावधान रहनेवाले शूर-वीर, भूमि खोदने या सुरङ्ग आदि बनानेवाले, नदी आदि पार करनेके लिये तुरंत साधन उपस्थित करनेवाले अथवा जलके प्रवाहको रोकनेवाले वेतनभोगी कारीगर, थवई, रथ और यन्त्र आदि बनानेवाले पुरुष, बढ़ई, मार्गरक्षक, पेड़ काटनेवाले, रसोइये, चूनेसे पोतने आदिका काम करनेवाले, बाँसकी चटाई और सूप आदि बनानेवाले, चमड़ेका चारजामा आदि बनानेवाले तथा रास्तेकी विशेष जानकारी रखनेवाले सामर्थ्यशाली पुरुषोंने पहले प्रस्थान किया ॥ १–३ ॥

स तु हर्षात् तमुद्देशं जनौघो विपुलः प्रयान् ।
अशोभत महावेगः सागरस्येव पर्वणि ॥ ४ ॥

उस समय मार्ग ठीक करनेके लिये एक विशाल जन-समुदाय बड़े हर्षके साथ वनप्रदेशकी ओर अग्रसर हुआ, जो पूर्णिमाके दिन उमड़े हुए समुद्रके महान् वेगकी भाँति शोभा पा रहा था ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः ।
करणैर्विविधोपेतैः पुरस्तात् सम्प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

वे मार्ग-निर्माणमें निपुण कारीगर अपना-अपना दल साथ लेकर अनेक प्रकारके औजारोंके साथ आगे चल दिये ॥ ५ ॥

लता वल्लीश्च गुल्मांश्च स्थाणूनश्मन एव च ।
जनास्ते चक्रिरे मार्गं छिन्दन्तो विविधान् द्रुमान् ॥ ६ ॥

वे लोग लताएँ, बेलें, झाड़ियाँ, ठूँठे वृक्ष तथा पत्थरोंको हटाते और नाना प्रकारके वृक्षोंको काटते हुए मार्ग तैयार करने लगे ॥ ६ ॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिद् वृक्षानरोपयन् ।
केचित् कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन् क्वचित् क्वचित् ॥ ७ ॥

जिन स्थानोंमें वृक्ष नहीं थे, वहाँ कुछ लोगोंने वृक्ष भी लगाये । कुछ कारीगरोंने कुल्हाड़ों, टंकों (पत्थर तोड़नेके औजारों) तथा हँसियोंसे कहीं-कहीं वृक्षों और घासोंको काट-काटकर रास्ता साफ किया ॥ ७ ॥

अपरे वीरणस्तम्बान् बलिनो बलवत्तराः ।
विधमन्ति स्म दुर्गाणि स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥
अपरेऽपूरयन् कूपान् पांसुभिः श्वभ्रमायतम् ।
निम्नभागस्तथैवाशु समांश्चक्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥

अन्य प्रबल मनुष्योंने जिनकी जड़ें नीचेतक जमी हुई थीं, उन कुश, कास आदिके झुरमुटोंको हाथोंसे ही उखाड़ फेंका । वे जहाँ-तहाँ ऊँचे-नीचे दुर्गम स्थानोंको खोद-खोदकर बराबर कर देते थे । दूसरे लोग कुओं और लम्बे-चौड़े गड्ढोंको धूलोंसे ही पाट देते थे । जो स्थान नीचे होते, वहाँ सब ओरसे मिट्टी डालकर वे उन्हें शीघ्र ही बराबर कर देते थे ॥ ८-९ ॥

बबन्धुर्बन्धनीयांश्च क्षोद्यान् संचुक्षुदुस्तथा ।
बिभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान् देशान् नरास्तदा ॥ १० ॥

उन्होंने जहाँ पुल बाँधनेके योग्य पानी देखा, वहाँ पुल बाँध दिये । जहाँ कँकरीली जमीन दिखायी दी, वहाँ उसे ठोक-पीटकर मुलायम कर दिया और जहाँ पानी बहनेके लिये मार्ग बनाना आवश्यक समझा, वहाँ बाँध काट दिया । इस प्रकार विभिन्न देशोंमें वहाँकी आवश्यकताके अनुसार कार्य किया ॥ १० ॥

अचिरेण तु कालेन परिवाहान् बहूदकान् ।
चक्रुर्बहुविधाकारान् सागरप्रतिमान् बहून् ॥ ११ ॥

छोटे-छोटे सोतोंको, जिनका पानी सब ओर बह जाया करता था, चारों ओरसे बाँधकर शीघ्र ही अधिक जलवाला बना दिया । इस तरह थोड़े ही समयमें उन्होंने भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारके बहुत-से सरोवर तैयार कर दिये, जो अगाध जलसे भरे होनेके कारण समुद्रके समान जान पड़ते थे ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान्।
उदपानान् बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान्॥ १२॥

निर्जल स्थानोंमें नाना प्रकारके अच्छे अच्छे कुएँ और बावड़ी आदि बनवा दिये, जो आस-पास बनी हुई वेदिकाओंसे अलंकृत थे॥ १२॥

ससुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः।
मत्तोद्घुष्टद्विजगणः पताकाभिरलंकृतः॥ १३॥
चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः।
बह्वशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः॥ १४॥

इस प्रकार सेनाका वह मार्ग देवताओंके मार्गकी भाँति अधिक शोभा पाने लगा। उसकी भूमिपर चूना सुर्खी और कंकरीट बिछाकर उसे कूट-पीटकर पक्का कर दिया गया था। उसके किनारे-किनारे फूलोंसे सुशोभित वृक्ष लगाये गये थे। वहाँके वृक्षोंपर मतवाले पक्षी चहक रहे थे। सारे मार्गको पताकाओंसे सजा दिया गया था, उसपर चन्दनमिश्रित जलका छिड़काव किया गया था तथा अनेक प्रकारके फूलोंसे वह सड़क सजायी गयी थी॥ १३-१४॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञप्तियुक्तास्तेऽधिकृता नराः।
रमणीयेषु देशेषु बहुस्वादुफलेषु च॥ १५॥
यो निवेशस्त्वभिप्रेतो भरतस्य महात्मनः।
भूयस्तं शोभयामासुर्भूषाभिर्भूषणोपमम्॥ १६॥

मार्ग बन जानेपर जहाँ-तहाँ छावनी आदि बनानेके लिये जिन्हें अधिकार दिया गया था, कार्यमें दत्त-चित्त रहनेवाले उन लोगोंने भरतकी आज्ञाके अनुसार सेवकोंको काम करनेका आदेश देकर जहाँ स्वादिष्ट फलोंकी अधिकता थी, उन सुन्दर प्रदेशोंमें छावनियाँ बनवायीं और जो भरतको अभीष्ट था, मार्गके भूषणरूप उस शिविरको नाना प्रकारके अलंकारोंसे और भी सजा दिया॥ १५-१६॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः।
निवेशान् स्थापयामासुर्भरतस्य महात्मनः॥ १७॥

वास्तु-कर्मके ज्ञाता विद्वानोंने उत्तम नक्षत्रों और मुहूर्तोंमें महात्मा भरतके ठहरनेके लिये जो-जो स्थान बने थे उनकी प्रतिष्ठा करवायी॥ १७॥

बहुपांसुचयाश्चापि परिखाः परिवारिताः।
तत्रेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोलीवरशोभिताः॥ १८॥
प्रासादमालासंयुक्ताः सौधप्राकारसंवृताः।
पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः॥ १९॥
विसर्पद्भिरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः।
समुच्छ्रितैर्निवेशास्ते बभुः शक्रपुरोपमाः॥ २०॥

मार्गमें बने हुए वे निवेश (विश्राम-स्थान) इन्द्रपुरीके समान शोभा पाते थे। उनके चारों ओर खाइयाँ खोदी गयी थीं, धूल-मिट्टीके ऊँचे ढेर लगाये गये थे। खेमोंके भीतर इन्द्रनीलमणिकी बनी हुई प्रतिमाएँ सजायी गयी थीं। गलियों और सड़कोंसे उनकी विशेष शोभा होती थी। राजकीय गृहों और देवस्थानोंसे युक्त वे शिविर चूने पुते हुए प्राकारों (चहारदीवारियों) से घिरे थे। सभी विश्रामस्थान पताकाओंसे सुशोभित थे। सर्वत्र बड़ी-बड़ी सड़कोंका सुन्दर ढंगसे निर्माण किया गया था। विटङ्कों (कबूतरोंके रहनेके स्थानों—काबकों) और ऊँचे-ऊँचे श्रेष्ठ विमानोंके कारण उन सभी शिविरोंकी बड़ी शोभा हो रही थी॥ १८—२०॥

जाह्नवीं तु समासाद्य विविधद्रुमकाननाम्।
शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम्॥ २१॥
सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा
नभः क्षपायाममलं विराजते।
नरेन्द्रमार्गः स तदा व्यराजत
क्रमेण रम्यः शुभशिल्पिनिर्मितः॥२२॥

नाना प्रकारके वृक्षों और वनोंसे सुशोभित, शीतल-निर्मल जलसे भरी हुई और बड़े-बड़े मत्स्योंसे व्याप्त गङ्गाके किनारेतक बना हुआ वह रमणीय राजमार्ग उस समय बड़ी शोभा पा रहा था। अच्छे कारीगरोंने उसका निर्माण किया था। रात्रिके समय वह चन्द्रमा और तारागणोंसे मण्डित निर्मल आकाशके समान सुशोभित होता था॥ २१-२२॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽशीतितमः सर्गः॥ ८०॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अस्सीवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ८०॥

एकाशीतितमः सर्गः

प्रातःकालके मङ्गलवाद्य-घोषको सुनकर भरतका दुखी होना और उसे बंद कराकर विलाप करना, वसिष्ठजीका सभामें आकर मन्त्री आदिको बुलानेके लिये दूत भेजना

ततो नान्दीमुखीं रात्रिं भरतं सूतमागधाः।
तुष्टुवुः सविशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंस्तवैः॥ १॥

इधर अयोध्यामें उस अभ्युदयसूचक रात्रिका थोड़ा-सा ही भाग अवशिष्ट देख स्तुति-कलाके विशेषज्ञ सूत और मागधोंने मङ्गलमयी स्तुतियोंद्वारा भरतका स्तवन आरम्भ किया॥

सुवर्णकोणाभिहतः प्राणदद्यामदुन्दुभिः।
दध्मुः शङ्खांश्च शतशो वाद्यांश्चोच्चावचस्वरान्॥ २॥

प्रहरकी समाप्तिको सूचित करनेवाली दुन्दुभि सोनेके

डंडे से आहत होकर बज उठी। बाजे बजानेवालोंने शङ्ख तथा दूसरे दूसरे नाना प्रकारके सैकड़ों बाजे बजाये ॥ २ ॥

स तूर्यघोषः सुमहान् दिवमापूरयन्निव।
भरतं शोकसंतप्तं भूयः शोकैररन्धयत् ॥ ३ ॥

वाद्योंका वह महान् तुमुल घोष समस्त आकाशको व्याप्त करता हुआ-सा गूँज उठा और शोकसंतप्त भरतको पुनः शोकाग्निकी आँचसे राँधने लगा ॥ ३ ॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं संनिवर्त्य च।
नाहं राजेति चोक्त्वा तं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वाद्योंकी उस ध्वनिसे भरतकी नींद खुल गयी, वे जाग उठे और 'मैं राजा नहीं हूँ' ऐसा कहकर उन्होंने उन बाजोंका बजना बंद करा दिया। तत्पश्चात् वे शत्रुघ्नसे बोले—॥

पश्य शत्रुघ्न कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत्।
विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥

'शत्रुघ्न! देखो तो सही, कैकेयीने जगत्का कितना महान् अपकार किया है। महाराज दशरथ मुझपर बहुत-से दुःखोंका बोझ डालकर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः।
परिभ्रमति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले ॥ ६ ॥

'आज उन धर्मराज महामना नरेशकी यह धर्ममूला राजलक्ष्मी जलमें पड़ी हुई बिना नाविकके नौकाके समान इधर-उधर डगमगा रही है ॥ ६ ॥

यो हि नः सुमहान् नाथः सोऽपि प्रव्राजितो वने।
अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम् ॥ ७ ॥

'जो हमलोगोंके सबसे बड़े स्वामी और संरक्षक हैं, उन श्रीरघुनाथजीको भी स्वयं मेरी इस माताने धर्मको तिलाञ्जलि देकर वनमें भेज दिया' ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं वीक्ष्य विलपन्तमचेतनम्।
कृपणा रुरुदुः सर्वाः सुस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

उस समय भरतको इस प्रकार अचेत हो-होकर विलाप करते देख रनिवासकी सारी स्त्रियाँ दीन-भावसे फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन् विलपति वसिष्ठो राजधर्मवित्।
सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥

जब भरत इस प्रकार विलाप कर रहे थे, उसी समय राजधर्मके ज्ञाता महायशस्वी महर्षि वसिष्ठने इक्ष्वाकुनाथ राजा दशरथके सभाभवनमें प्रवेश किया ॥ ९ ॥

शातकुम्भमयीं रम्यां मणिहेमसमाकुलाम्।
सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥
स काञ्चनमयं पीठं स्वस्त्यास्तरणसंवृतम्।
अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

वह सभाभवन अधिकांश सुवर्णका बना हुआ था। उसमें सोनेके खम्भे लगे थे। वह रमणीय सभा देवताओंकी सुधर्मा सभाके समान शोभा पाती थी। सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता धर्मात्मा वसिष्ठने अपने शिष्यगणके साथ उस सभामें पदार्पण किया और सुवर्णमय पीठपर जो स्वस्तिकाकार बिछौनेसे ढका हुआ था, वे विराजमान हुए। आसन ग्रहण करनेके पश्चात् उन्होंने दूतोंको आज्ञा दी—॥ १०-११ ॥

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् योधानमात्यान् गणवल्लभान्।
क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥
सराजपुत्रं शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
युधाजितं सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥ १३ ॥

'तुमलोग शान्तभावसे जाकर ब्राह्मणों, क्षत्रियों, योद्धाओं, अमात्यों और सेनापतियोंको शीघ्र बुला लाओ। अन्य राजकुमारोंके साथ यशस्वी भरत और शत्रुघ्नको, मन्त्री युधाजित् और सुमन्त्रको तथा और भी जो हितैषी पुरुष वहाँ हों उन सबको शीघ्र बुलाओ। हमें उनसे बहुत ही आवश्यक कार्य है' ॥

ततो हलाहलशब्दो महान् समुदपद्यत।
रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर घोड़े, हाथी और रथोंसे आनेवाले लोगोंका महान् कोलाहल आरम्भ हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः।
प्रत्यनन्दन् प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् जैसे देवता इन्द्रका अभिनन्दन करते हैं, उसी प्रकार समस्त प्रकृतियों (मन्त्री प्रजा आदि) ने आते हुए भरतका राजा दशरथकी ही भाँति अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

ह्रद इव तिमिनागसंवृतः
स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः।
दशरथसुतशोभिता सभा
सदशरथेव बभूव सा पुरा ॥ १६ ॥

तिमिनामक महान् मत्स्य और जलहस्तीसे युक्त, स्थिर जलवाले तथा मुक्ता आदि मणियोंसे युक्त शङ्ख और बालुकावाले समुद्रके जलाशयकी भाँति वह सभा दशरथपुत्र भरतसे सुशोभित होकर वैसी ही शोभा पाने लगी, जैसे पूर्वकालमें राजा दशरथकी उपस्थितिसे शोभा पाती थी* ॥ १६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाशीतितमः सर्गः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८१ ॥

---

* यहाँ सभा उपमेय और ह्रद (जलाशय) उपमान है। जलाशयके जो विशेषण दिये गये हैं, वे सभामें इस प्रकार संगत होते हैं—सभामें तिमि और जलहस्तीके चित्र लगे हैं। स्थिर जलकी जगह उसमें स्थिर तेज है, खम्भोंमें मणियाँ जड़ी गयी हैं, शंखके चित्र हैं तथा फर्शमें सोनेका लेप लगा है, जो स्वर्णपटुका-सा प्रतीत होता है।

द्व्यशीतितमः सर्गः

वसिष्ठजीका भरतको राज्यपर अभिषिक्त होनेके लिये आदेश देना तथा भरतका उसे अनुचित बताकर अस्वीकार करना और श्रीरामको लौटा लानेके लिये वनमें चलनेकी तैयारीके निमित्त सबको आदेश देना

तामार्यगणसम्पूर्णां भरतः प्रग्रहां सभाम्।
ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रां निशामिव ॥ १ ॥

बुद्धिमान् भरतने उत्तम ग्रह नक्षत्रोंसे सुशोभित और पूर्ण चन्द्रमण्डलसे प्रकाशित रात्रिकी भाँति उस सभाको देखा। वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी मण्डलीसे भरी-पूरी तथा वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ मुनियोंकी उपस्थितिसे शोभायमान थी ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा।
वस्त्राङ्गरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

उस समय यथायोग्य आसनोंपर बैठे हुए आर्य पुरुषोंके वस्त्रों तथा अङ्गरागोंकी प्रभासे वह उत्तम सभा अधिक दीप्तिमती हो उठी थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तथा।
अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

जैसे वर्षाकाल व्यतीत होनेपर शरद्ऋतुकी पूर्णिमाको पूर्ण चन्द्रमण्डलसे अलंकृत रजनी बड़ी मनोहर दिखायी देती है, उसी प्रकार विद्वानोंके समुदायसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी ॥ ३ ॥

राज्ञस्तु प्रकृतीः सर्वाः स सम्प्रेक्ष्य च धर्मवित्।
इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मके ज्ञाता पुरोहित वसिष्ठजीने राजाकी सम्पूर्ण प्रकृतियोंको उपस्थित देख भरतसे यह मधुर वचन कहा— ॥ ४ ॥

तात राजा दशरथः स्वर्गतो धर्ममाचरन्।
धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

'तात! राजा दशरथ यह धन-धान्यसे परिपूर्ण समृद्धिशालिनी पृथिवी तुम्हें देकर स्वयं धर्मका आचरण करते हुए स्वर्गगामी हुए हैं ॥ ५ ॥

रामस्तथा सत्यवृत्तिः सतां धर्ममनुस्मरन्।
नाजहात् पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥ ६ ॥

'सत्यपूर्ण बर्ताव करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने सत्पुरुषोंके धर्मका विचार करके पिताकी आज्ञाका उसी प्रकार उल्लङ्घन नहीं किया, जैसे उदित चन्द्रमा अपनी चाँदनीको नहीं छोड़ता है ॥ ६ ॥

पित्रा भ्राता च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम्।
तद् भुङ्क्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥
उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च केवलाः।
कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते ॥ ८ ॥

'इस प्रकार पिता और ज्येष्ठ भ्राता—दोनोंने ही तुम्हें यह अकण्टक राज्य प्रदान किया है। अतः तुम मन्त्रियोंको प्रसन्न रखते हुए इसका पालन करो और शीघ्र ही अपना अभिषेक करा लो। जिससे उत्तर, पश्चिम, दक्षिण, पूर्व और अपरान्त देशके निवासी राजा तथा समुद्रमें जहाजोंद्वारा व्यापार करनेवाले व्यवसायी तुम्हें असंख्य रत्न प्रदान करें' ॥ ७-८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाधिपरिप्लुतः।
जगाम मनसा रामं धर्मज्ञो धर्मकाङ्क्षया ॥ ९ ॥

यह बात सुनकर धर्मज्ञ भरत शोकमें डूब गये और धर्म-पालनकी इच्छासे उन्होंने मन-ही-मन श्रीरामकी शरण ली ॥

सबाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा।
विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥ १० ॥

नवयुवक भरत उस भरी सभामें आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीद्वारा कलहंसके समान मधुर स्वरसे विलाप करने और पुरोहितजीको उपालम्भ देने लगे— ॥ १० ॥

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत् ॥ ११ ॥

'गुरुदेव! जिन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन किया, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात हुए तथा जो सदा ही धर्मके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, उन बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका मेरे-जैसा कौन मनुष्य अपहरण कर सकता है? ॥ ११ ॥

कथं दशरथाज्जातो भवेद् राज्यापहारकः।
राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥ १२ ॥

'महाराज दशरथका कोई भी पुत्र बड़े भाईके राज्यका अपहरण कैसे कर सकता है? यह राज्य और मैं दोनों ही श्रीरामके हैं; यह समझकर आपको इस सभामें धर्मसंगत बात कहनी चाहिये (अन्याययुक्त नहीं) ॥ १२ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः।
लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा ॥ १३ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम मुझसे अवस्थामें बड़े और गुणोंमें भी श्रेष्ठ हैं। वे दिलीप और नहुषके समान तेजस्वी हैं; अतः महाराज दशरथकी भाँति वे ही इस राज्यको पानेके अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि।
इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपांसनः ॥ १४ ॥

'पापका आचरण तो नीच पुरुष करते हैं। वह मनुष्यको निश्चय ही नरकमें डालनेवाला है। यदि श्रीरामचन्द्रजीका राज्य लेकर मैं भी पापाचरण करूँ तो संसारमें इक्ष्वाकुकुलका कलंक समझा जाऊँगा ॥ १४ ॥

यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये।
इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

'मेरी माताने जो पाप किया है, उसे मैं कभी पसंद नहीं करता; इसलिये यहाँ रहकर भी मैं दुर्गम वनमें निवास करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ ॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदां वरः।
त्रयाणामपि लोकानां राघवो राज्यमर्हति ॥ १६ ॥

'मैं श्रीरामका ही अनुसरण करूँगा। मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरघुनाथजी ही इस राज्यके राजा हैं। वे तीनों ही लोकोंके राजा होने योग्य हैं' ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥

भरतका वह धर्मयुक्त वचन सुनकर सभी सभासद् श्रीराममें चित्त लगाकर हर्षके आँसू बहाने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्यं न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात्।
वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरतने फिर कहा—'यदि मैं आर्य श्रीरामको वनसे न लौटा सकूँगा तो स्वयं भी नरश्रेष्ठ लक्ष्मणकी भाँति वहीं निवास करूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं तु वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं बलात्।
समक्षमार्यमिश्राणां साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १९ ॥

'मैं आप सभी सद्गुणयुक्त बर्ताव करनेवाले पूजनीय श्रेष्ठ सभासदोंके समक्ष श्रीरामचन्द्रजीको बलपूर्वक लौटा लानेके लिये सारे उपायोंसे चेष्टा करूँगा ॥ १९ ॥

विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकदक्षकाः।
प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्रा च मम रोचते ॥ २० ॥

'मैंने मार्गशोधनमें कुशल सभी अवैतनिक तथा वेतन-भोगी कार्यकर्ताओंको पहले ही यहाँसे भेज दिया है। अतः मुझे श्रीरामचन्द्रजीके पास चलना ही अच्छा जान पड़ता है' ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

सभासदोंसे ऐसा कहकर भ्रातृवत्सल धर्मात्मा भरत पास बैठे हुए मन्त्रवेत्ता सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ २१ ॥

तूर्णमुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात्।
यात्रामाज्ञापय क्षिप्रं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

'सुमन्त्रजी! आप जल्दी उठकर जाइये और मेरी आज्ञासे सबको वनमें चलनेका आदेश सूचित कर दीजिये और सेनाको भी शीघ्र ही बुला भेजिये' ॥ २२ ॥

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना।
प्रहृष्टः सोऽदिशत् सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरतके ऐसा कहनेपर सुमन्त्रने बड़े हर्षके साथ सबको उनके कथनानुसार वह प्रिय संदेश सुना दिया ॥ २३ ॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च।
श्रुत्वा यात्रां समाज्ञप्तां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये भरत जायँगे और उनके साथ जानेके लिये सेनाको भी आदेश प्राप्त हुआ है'—यह समाचार सुनकर वे सभी प्रजाजन तथा सेनापतिगण बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तॄन् सर्वान् गृहे गृहे।
यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स हर्षिताः ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस यात्राका समाचार पाकर सैनिकोंकी सभी स्त्रियाँ घर-घरमें हर्षसे खिल उठीं और अपने पतियोंको जल्दी तैयार होनेके लिये प्रेरित करने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गोरथैः शीघ्रं स्यन्दनैश्च मनोजवैः।
सह योषिद्बलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

सेनापतियोंने घोड़ों, बैलगाड़ियों तथा मनके समान वेगशाली रथोंसहित सम्पूर्ण सेनाको स्त्रियोंसहित यात्राके लिये शीघ्र तैयार होनेकी आज्ञा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद् बलं दृष्ट्वा भरतो गुरुसंनिधौ।
रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽब्रवीत् ॥ २७ ॥

सेनाको कूँचके लिये उद्यत देख भरतने गुरुके समीप ही बगलमें खड़े हुए सुमन्त्रसे कहा—'आप मेरे रथको शीघ्र तैयार करके लाइये' ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां परिगृह्य प्रहर्षितः।
रथं गृहीत्वोपययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

भरतकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके सुमन्त्र बड़े हर्षके साथ गये और उत्तम घोड़ोंसे जुता हुआ रथ लेकर लौट आये ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः प्रतापवान्
ब्रुवन् सुयुक्तं दृढसत्यविक्रमः।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं
प्रसादयिष्यन् भरतोऽब्रवीत् तदा ॥ २९ ॥

तब सुदृढ़ एवं सत्य पराक्रमवाले सत्यपरायण प्रतापी भरत विशाल वनमें गये हुए अपने बड़े भाई यशस्वी श्रीरामको लौटा लानेके निमित्त राजी करनेके लिये यात्राके उद्देश्यसे उस समय इस प्रकार बोले—॥ २९ ॥

तूर्णं त्वमुत्थाय सुमन्त्र गच्छ
बलस्य योगाय बलप्रधानान्।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं
प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥

'सुमन्त्रजी ! आप शीघ्र उठकर सेनापतियोंके पास जाइये और उनसे कहकर सेनाको कल कूँच करनेके लिये तैयार होनेका प्रबन्ध कीजिये; क्योंकि मैं सारे जगत्‌का कल्याण करनेके लिये उन वनवासी श्रीरामको प्रसन्न करके यहाँ ले आना चाहता हूँ' ॥ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्यगाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः।
शशास सर्वान् प्रकृतिप्रधानान् बलस्य मुख्यांश्च सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरतकी यह उत्तम आज्ञा पाकर सूतपुत्र सुमन्त्रने अपना मनोरथ सफल हुआ समझा और उन्होंने प्रजावर्गके सभी प्रधान व्यक्तियों, सेनापतियों तथा सुहृदोंको भरतका आदेश सुना दिया ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुले कुले ते राजन्यवैश्या वृषलाश्च विप्राः।
अयूयुजन्नुष्ट्ररथान् खरांश्च नागान् हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

तब प्रत्येक घरके लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उठ-उठकर अच्छी जातिके घोड़े, हाथी, ऊँट, गधे तथा रथोंको जोतने लगे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यशीतितमः सर्गः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बयासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८२ ॥

त्र्यशीतितमः सर्गः

भरतकी वनयात्रा और शृङ्गवेरपुरमें रात्रिवास

ततः समुत्थितः कल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम्।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाम्यया ॥ १ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल उठकर भरतने उत्तम रथपर आरूढ़ हो श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी इच्छासे शीघ्रतापूर्वक प्रस्थान किया ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः।
अधिरुह्य हयैर्युक्तान् रथान् सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

उनके आगे-आगे सभी मन्त्री और पुरोहित घोड़े जुते हुए रथोंपर बैठकर यात्रा कर रहे थे। वे रथ सूर्यदेवके रथके समान तेजस्वी दिखायी देते थे ॥ २ ॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि।
अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

यात्रा करते हुए इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरतके पीछे-पीछे विधिपूर्वक सजाये गये नौ हजार हाथी चल रहे थे ॥ ३ ॥

षष्टी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

यात्रापरायण यशस्वी राजकुमार भरतके पीछे साठ हजार रथ और नाना प्रकारके आयुध धारण करनेवाले धनुर्धर योद्धा भी जा रहे थे ॥ ४ ॥

शतं सहस्राण्यश्वानां समारूढानि राघवम्।
अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ५ ॥

उसी प्रकार एक लाख घुड़सवार भी उन यशस्वी रघुकुलनन्दन राजकुमार भरतकी यात्राके समय उनका अनुसरण कर रहे थे ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौसल्या च यशस्विनी।
रामानयनसंतुष्टा ययुर्यानेन भास्वता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौसल्या देवी भी श्रीरामचन्द्रजीको लौटा लानेके लिये की जानेवाली उस यात्रासे संतुष्ट हो तेजस्वी रथके द्वारा प्रस्थित हुईं ॥ ६ ॥

प्रयाताश्चार्यसंघाता रामं द्रष्टुं सलक्ष्मणम्।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्वाणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

ब्राह्मण आदि आर्यों (त्रैवर्णिकों) के समूह मनमें अत्यन्त हर्ष लेकर लक्ष्मणसहित श्रीरामका दर्शन करनेके लिये उन्हींके सम्बन्धसे विचित्र बातें कहते-सुनते हुए यात्रा कर रहे थे ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महाबाहुं स्थिरसत्त्वं दृढव्रतम्।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

(वे आपसमें कहते थे—) 'हमलोग दृढ़ताके साथ उत्तम व्रतका पालन करनेवाले तथा संसारका दुःख दूर करनेवाले, स्थितप्रज्ञ, श्यामवर्ण महाबाहु श्रीरामका कब दर्शन करेंगे ? ॥ ८ ॥

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः।
तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्यन्निव भास्करः ॥ ९ ॥

'जैसे सूर्यदेव उदय लेते ही सारे जगत्‌का अन्धकार हर लेते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी हमारी आँखोंके सामने पड़ते ही हमलोगोंका सारा शोक संताप दूर कर देंगे' ॥ ९ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते सम्प्रहृष्टाः कथाः शुभाः।
परिष्वजानाश्चान्योन्यं ययुर्नागरिकास्तदा ॥ १० ॥

इस प्रकारकी बातें कहते और अत्यन्त हर्षसे भरकर एक-दूसरेका आलिङ्गन करते हुए अयोध्याके नागरिक उस समय यात्रा कर रहे थे ॥ १० ॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः।

रामं प्रतिययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः ॥ ११ ॥

उस नगरमें जो दूसरे सम्मानित पुरुष थे, वे सब लोग तथा व्यापारी और शुभ विचारवाले प्रजाजन भी बड़े हर्षके साथ श्रीरामसे मिलनेके लिये प्रस्थित हुए ॥ ११ ॥

मणिकाराश्च ये केचित् कुम्भकाराश्च शोभनाः ।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥
मायूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा ।
दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥
सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलकारकाः ।
स्नापकोष्णोदका वैद्या धूपकाः शौण्डिकास्तथा ॥ १४ ॥
रजकास्तुन्नवायाश्च ग्रामघोषमहत्तराः ।
शैलूषाश्च सह स्त्रीभिर्यान्ति कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥
समाहिता वेदविदो ब्राह्मणा वृत्तसम्मताः ।
गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

जो कोई मणिकार (मणियोंको सानपर चढ़ाकर चमका देनेवाले), अच्छे कुम्भकार, सूतका ताना-बाना करके वस्त्र बनानेकी कलाके विशेषज्ञ, शस्त्र निर्माण करके जीविका चलानेवाले, मायूरक (मोरकी पाँखोंसे छत्र-व्यजन आदि बनानेवाले), आरेसे चन्दन आदिकी लकड़ी चीरनेवाले, मणि-मोती आदिमें छेद करनेवाले, रोचक (दीवारों और वेदी आदिमें शोभाका सम्पादन करनेवाले), दन्तकार (हाथीके दाँत आदिसे नाना प्रकारकी वस्तुओंका निर्माण करनेवाले), सुधाकार (चूना बनानेवाले), गन्धी, प्रसिद्ध सोनार, कम्बल और कालीन बनानेवाले, गरम जलसे नहलानेका काम करनेवाले, वैद्य, धूपक (धूपन क्रियाद्वारा जीविका चलानेवाले), शौण्डिक (मद्यविक्रेता), धोबी, दर्जी, गाँवों तथा गोशालाओंके महतो, स्त्रियोंसहित नट, केवट तथा समाहितचित्त सदाचारी वेदवेत्ता सहस्रों ब्राह्मण बैलगाड़ियोंपर चढ़कर वनकी यात्रा करनेवाले भरतके पीछे-पीछे गये ॥ १२—१६ ॥

सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपिनः ।
सर्वे ते विविधैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः ॥ १७ ॥

सबके वेश सुन्दर थे । सबने शुद्ध वस्त्र धारण कर रखे थे तथा सबके अङ्गोंमें ताँबेके समान लाल रंगका अङ्गराग लगा था । वे सब-के-सब नाना प्रकारके वाहनोंद्वारा धीरे-धीरे भरतका अनुसरण कर रहे थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात् कैकयीसुतम् ।
भ्रातुरानयने यातं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

हर्ष और आनन्दमें भरी हुई वह सेना भाईको बुलानेके लिये प्रस्थित हुए कैकेयीकुमार भ्रातृवत्सल भरतके पीछे-पीछे चलने लगी ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः ।
समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ १९ ॥

इस प्रकार रथ, पालकी, घोड़े और हाथियोंके द्वारा बहुत दूरतकका मार्ग तय कर लेनेके बाद वे सब लोग शृङ्गवेरपुरमें गङ्गाजीके तटपर जा पहुँचे ॥ १९ ॥

यत्र रामसखा वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।
निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका सखा वीर निषादराज गुह सावधानीके साथ उस देशकी रक्षा करता हुआ अपने भाई-बन्धुओंके साथ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।
व्यवतिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

चक्रवाकोंसे अलंकृत गङ्गातटपर पहुँचकर भरतका अनुसरण करनेवाली वह सेना ठहर गयी ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुत्थितां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।
भरतः सचिवान् सर्वानब्रवीद् वाक्यकोविदः ॥ २२ ॥

पुण्यसलिला भागीरथीका दर्शन करके अपनी उस सेनाको शिथिल हुई देख बातचीत करनेकी कलामें कुशल भरतने समस्त सचिवोंसे कहा—॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।
विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इमां सागरङ्गमाम् ॥ २३ ॥

'आपलोग मेरे सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार यहाँ सब ओर ठहरा दीजिये । आज रातमें विश्राम कर लेनेके बाद हम सब लोग कल सबेरे इन सागर-गामिनी नदी गङ्गाजीको पार करेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।
और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्योदकं नदीम् ॥ २४ ॥

'यहाँ ठहरनेका एक और प्रयोजन है—मैं चाहता हूँ कि गङ्गाजीमें उतरकर स्वर्गीय महाराजके पारलौकिक कल्याणके लिये जलाञ्जलि दे दूँ' ॥ २४ ॥

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।
न्यवेशयंस्तांश्छन्देन स्वेन स्वेन पृथक् पृथक् ॥ २५ ॥

उनके इस प्रकार कहनेपर सभी मन्त्रियोंने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और समस्त सैनिकोंको उनकी इच्छाके अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानोंपर ठहरा दिया ॥ २५ ॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं
चमूं विधानैः परिबर्हशोभिनीम् ।
उवास रामस्य तदा महात्मनो
विचिन्तमानो भरतो निवर्तनम् ॥ २६ ॥

महानदी गङ्गाके तटपर खेमे आदिसे सुशोभित होनेवाली उस सेनाको व्यवस्थापूर्वक ठहराकर भरतने महात्मा श्रीरामके लौटनेके विषयमें विचार करते हुए उस समय वहीं निवास किया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यशीतितमः सर्गः ॥ ८३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८३ ॥

चतुरशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहका अपने बन्धुओंको नदीकी रक्षा करते हुए युद्धके लिये तैयार रहनेका आदेश दे भेंटकी सामग्री ले भरतके पास जाना और उनसे आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये अनुरोध करना

ततो निविष्टां ध्वजिनीं गङ्गामन्वाश्रितां नदीम्।
निषादराजो दृष्ट्वैव ज्ञातीन् स परितोऽब्रवीत्॥ १॥

उधर निषादराज गुहने गङ्गा नदीके तटपर ठहरी हुई भरतकी सेनाको देखकर सब ओर बैठे हुए अपने भाई-बन्धुओंसे कहा—॥ १॥

महतीयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते।
नास्यान्तमवगच्छामि मनसापि विचिन्तयन्॥ २॥

'भाइयो! इस ओर जो यह विशाल सेना ठहरी हुई है समुद्रके समान अपार दिखायी देती है, मैं मनसे बहुत सोचनेपर भी इसका पार नहीं पाता हूँ॥ २॥

यदा तु खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः।
स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे॥ ३॥

'निश्चय ही इसमें स्वयं दुर्बुद्धि भरत भी आया हुआ है; यह कोविदारके चिह्नवाली विशाल ध्वजा उसीके रथपर फहरा रही है॥ ३॥

बन्धयिष्यति वा पाशैरथ वास्मान् वधिष्यति।
अनु दाशरथिं रामं पित्रा राज्याद् विवासितम्॥ ४॥

'मैं समझता हूँ कि यह अपने मन्त्रियोंद्वारा पहले हम लोगोंको पाशोंसे बँधवायेगा अथवा हमारा वध कर डालेगा; तत्पश्चात् जिन्हें पिताने राज्यसे निकाल दिया है, उन दशरथनन्दन श्रीरामको भी मार डालेगा॥ ४॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम्।
भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं समधिगच्छति॥ ५॥

'कैकेयीका पुत्र भरत राजा दशरथकी सम्पन्न एवं सुदुर्लभ राजलक्ष्मीको अकेला ही हड़प लेना चाहता है, इसीलिये वह श्रीरामचन्द्रजीको वनमें मार डालनेके लिये जा रहा है॥ ५॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम।
तस्यार्थकामाः संनद्धा गङ्गानूपेऽत्र तिष्ठत॥ ६॥

'परंतु दशरथकुमार श्रीराम मेरे स्वामी और सखा हैं, इसलिये उनके हितकी कामना रखकर तुमलोग अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो यहाँ गङ्गाके तटपर मौजूद रहो॥ ६॥

तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम्।
बलयुक्ता नदीरक्षा मांसमूलफलाशनाः॥ ७॥

'सभी मल्लाह सेनाके साथ नदीकी रक्षा करते हुए गङ्गाके तटपर ही खड़े रहें और नावपर रखे हुए फल-मूल आदिका आहार करके ही आजकी रात बितावें॥ ७॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम्।
संनद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत्॥ ८॥

'हमारे पास पाँच सौ नावें हैं, उनमेंसे एक-एक नावपर मल्लाहोंके सौ-सौ जवान युद्ध-सामग्रीसे लैस होकर बैठे रहें।' इस प्रकार गुहने उन सबको आदेश दिया॥ ८॥

यदि तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति।
इयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति॥ ९॥

उसने फिर कहा कि 'यदि यहाँ भरतका भाव श्रीरामके प्रति संतोषजनक होगा, तभी उनकी यह सेना आज कुशलपूर्वक गङ्गाके पार जा सकेगी'॥ ९॥

इत्युक्त्वोपायनं गृह्य मत्स्यमांसमधूनि च।
अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः॥ १०॥

यों कहकर निषादराज गुह मत्स्यण्डी[1] (मिश्री), फलके गुदे और मधु आदि भेंटकी सामग्री लेकर भरतके पास गया॥ १०॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान्।
भरतायाचचक्षेऽथ समयज्ञो विनीतवत्॥ ११॥

उसे आते देख समयोचित कर्तव्यको समझनेवाले प्रतापी सूतपुत्र सुमन्त्रने विनीतकी भाँति भरतसे कहा—॥ ११॥

एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः परिवारितः।
कुशलो दण्डकारण्ये वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा॥ १२॥
तस्मात् पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ॥ १३॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! यह बूढ़ा निषादराज गुह अपने सहस्रों भाई-बन्धुओंके साथ यहाँ निवास करता है। यह तुम्हारे बड़े भाई श्रीरामका सखा है। इसे दण्डकारण्यके मार्गकी विशेष जानकारी है। निश्चय ही इसे पता होगा कि दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण कहाँ हैं, अतः निषादराज गुह यहाँ आकर तुमसे मिलें इसके लिये अवसर दो'॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद् भरतः शुभम्।
उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति॥ १४॥

सुमन्त्रके मुखसे यह शुभ वचन सुनकर भरतने कहा—'निषादराज गुह मुझसे शीघ्र मिलें—इसकी व्यवस्था की जाय'॥ १४॥

लब्ध्वानुज्ञां सम्प्रहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः।
आगम्य भरतं प्रह्वो गुहो वचनमब्रवीत्॥ १५॥

---

१. यहाँ मूलमें 'मत्स्य' शब्द 'मत्स्यण्डी' अर्थात् मिश्रीका वाचक है। 'मत्स्यण्डी' इस नामका एक अंश 'मत्स्य' है, अतः नामके एक अंशके ग्रहणसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण किया गया है।

मिलनेकी अनुमति पाकर गुह अपने भाई-बन्धुओंके साथ वहाँ प्रसन्नतापूर्वक आया और भरतसे मिलकर बड़ी नम्रताके साथ बोला—॥ १५ ॥

निष्कुटश्चैव देशोऽयं वञ्चिताश्चापि ते वयम्।
निवेदयाम ते सर्वं स्वके दासगृहे वस ॥ १६ ॥

'यह वन-प्रदेश आपके लिये घरमें लगे हुए बगीचेके समान है। आपने अपने आगमनकी सूचना न देकर हमें धोखेमें रख दिया—हम आपके स्वागतकी कोई तैयारी न कर सके। हमारे पास जो कुछ है, वह सब आपकी सेवामें अर्पित है। यह निषादोंका घर आपका ही है, आप यहाँ सुखपूर्वक निवास करें ॥ १६ ॥

अस्ति मूलफलं चैतन्निषादैः स्वयमर्जितम्।
आर्द्रं शुष्कं तथा मांसं वन्यं चोच्चावचं तथा ॥ १७ ॥

'यह फल-मूल आपकी सेवामें प्रस्तुत है। इसे निषाद लोग स्वयं तोड़कर लाये हैं। इनमेंसे कुछ फल तो अभी हरे ताजे हैं और कुछ सूख गये हैं। इनके साथ तैयार किया हुआ फलका गूदा भी है। इन सबके सिवा नाना प्रकारके दूसरे-दूसरे वन्य पदार्थ भी हैं। इन सबको ग्रहण करें ॥ १७ ॥

आशंसे स्वाशिता सेना वत्स्यत्येनां विभावरीम्।
अर्चितो विविधैः कामैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि ॥ १८ ॥

'हम आशा करते हैं कि यह सेना आजकी रात यहीं ठहरेगी और हमारा दिया हुआ भोजन स्वीकार करेगी। नाना प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुओंसे आज हम सेनासहित आपका सत्कार करेंगे; फिर कल सवेरे आप अपने सैनिकोंके साथ यहाँसे अन्यत्र जाइयेगा' ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरशीतितमः सर्गः ॥ ८४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौरासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८४ ॥

पञ्चाशीतितमः सर्गः

गुह और भरतकी बातचीत तथा भरतका शोक

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम्।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥ १ ॥

निषादराज गुहके ऐसा कहनेपर महाबुद्धिमान् भरतने युक्ति और प्रयोजनयुक्त वचनोंमें उसे इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १ ॥

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे।
यो मे त्वमीदृशीं सेनामभ्यर्चयितुमिच्छसि ॥ २ ॥

'भैया! तुम मेरे बड़े भाई श्रीरामके सखा हो। मेरी इतनी बड़ी सेनाका सत्कार करना चाहते हो, यह तुम्हारा मनोरथ बहुत ही ऊँचा है। तुम उसे पूर्ण ही समझो—तुम्हारी श्रद्धासे ही हम सब लोगोंका सत्कार हो गया' ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा स महातेजा गुहं वचनमुत्तमम्।
अब्रवीद् भरतः श्रीमान् पन्थानं दर्शयन् पुनः ॥ ३ ॥

यह कहकर महातेजस्वी श्रीमान् भरतने गन्तव्य मार्गको हाथके संकेतसे दिखाते हुए पुनः गुहसे उत्तम वाणीमें पूछा—॥ ३ ॥

कतरेण गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं यथा।
गहनोऽयं भृशं देशो गङ्गानूपो दुरत्ययः ॥ ४ ॥

'निषादराज! इन दो मार्गोंमेंसे किसके द्वारा मुझे भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाना होगा? गङ्गाके किनारेका यह प्रदेश तो बड़ा गहन मालूम होता है। इसे लाँघकर आगे बढ़ना कठिन है' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

बुद्धिमान् राजकुमार भरतका यह वचन सुनकर वनमें विचरनेवाले गुहने हाथ जोड़कर कहा—॥ ५ ॥

दाशास्त्वनुगमिष्यन्ति देशज्ञाः सुसमाहिताः।
अहं चानुगमिष्यामि राजपुत्र महाबल ॥ ६ ॥

'महाबली राजकुमार! आपके साथ बहुत-से मल्लाह जायँगे, जो इस प्रदेशसे पूर्ण परिचित तथा भलीभाँति सावधान रहनेवाले हैं। इनके सिवा मैं भी आपके साथ चलूँगा ॥ ६ ॥

कच्चिन्न दुष्टो व्रजसि रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

'परंतु एक बात बताइये, अनायास ही महान् पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके प्रति आप कोई दुर्भावना लेकर तो नहीं जा रहे हैं? आपकी यह विशाल सेना मेरे मनमें शङ्का-सी उत्पन्न कर रही है' ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः।
भरतः श्लक्ष्णया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

ऐसी बात कहते हुए गुहसे आकाशके समान निर्मल भरतने मधुर वाणीमें कहा—॥ ८ ॥

मा भूत् स कालो यत् कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥

'निषादराज ! ऐसा समय कभी न आये । तुम्हारी बात सुनकर मुझे बड़ा कष्ट हुआ । तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये । श्रीरघुनाथजी मेरे बड़े भाई हैं । मैं उन्हें पिताके समान मानता हूँ ॥ ९ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।
बुद्धिरन्या न मे कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम वनमें निवास करते हैं, अतः उन्हें लौटा लानेके लिये जा रहा हूँ । गुह ! मैं तुमसे सच कहता हूँ । तुम्हें मेरे विषयमें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।
पुनरेवाब्रवीद् वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरतकी बात सुनकर निषादराजका मुँह प्रसन्नतासे खिल उठा । वह हर्षसे भरकर पुनः भरतसे बोला—

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।
अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

'आप धन्य हैं, जो बिना प्रयत्नके हाथमें आये हुए राज्यको त्याग देना चाहते हैं । आपके समान धर्मात्मा मुझे इस भूमण्डलमें कोई नहीं दिखायी देता ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननु चरिष्यति ।
यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

'कष्टप्रद वनमें निवास करनेवाले श्रीरामको जो आप लौटा लाना चाहते हैं, इससे समस्त लोकोंमें आपकी अक्षय कीर्तिका प्रसार होगा' ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा ।
बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥

जब गुह भरतसे इस प्रकारकी बातें कह रहा था, उसी समय सूर्यदेवकी प्रभा अदृश्य हो गयी और रातका अन्धकार सब ओर फैल गया ॥ १४ ॥

संनिवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः ।
शत्रुघ्नेन समं श्रीमाञ्छयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुहके बर्तावसे श्रीमान् भरतको बड़ा संतोष हुआ और वे सेनाको विश्राम करनेकी आज्ञा दे शत्रुघ्नके साथ शयन करनेके लिये गये ॥ १५ ॥

रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः ।
उपस्थितो ह्यनर्हस्य धर्मप्रेक्षस्य तादृशः ॥ १६ ॥

धर्मपर दृष्टि रखनेवाले महात्मा भरत शोकके योग्य नहीं थे तथापि उनके मनमें श्रीरामचन्द्रजीके लिये चिन्ताके कारण ऐसा शोक उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

अन्तर्दाहेन दहनः संतापयति राघवम् ।
वनदाहाग्निसंतप्तं गूढोऽग्निरिव पादपम् ॥ १७ ॥

जैसे वनमें फैले हुए दावानलसे संतप्त हुए वृक्षको उसके खोखलेमें छिपी हुई आग और भी अधिक जलाती है, उसी प्रकार दशरथ-मरणजन्य चिन्ताकी आगसे संतप्त हुए रघुकुलनन्दन भरतको वह राम-वियोगसे उत्पन्न हुई शोकाग्नि और भी जलाने लगी ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम् ।
यथा सूर्यांशुसंतप्तो हिमवान् प्रस्रुतो हिमम् ॥ १८ ॥

जैसे सूर्यकी किरणोंसे तपा हुआ हिमालय अपनी पिघली हुई बर्फको बहाने लगता है, उसी प्रकार भरत शोकाग्निसे संतप्त होनेके कारण अपने सम्पूर्ण अङ्गोंसे पसीना बहाने लगे ॥ १८ ॥

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना ।
दैन्यपादपसंघेन शोकायासाधिशृङ्गिणा ॥ १९ ॥
प्रमोहानन्तसत्त्वेन संतापौषधिवेणुना ।
आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैकयीसुतः ॥ २० ॥

उस समय कैकेयीकुमार भरत दुःखके विशाल पर्वतसे आक्रान्त हो गये थे । श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान ही उसमें छिद्ररहित शिलाओंका समूह था । दुःखपूर्ण उच्छ्वास ही गैरिक आदि धातुका स्थान ले रहा था । दीनता (इन्द्रियोंकी अपने विषयोंसे विमुखता) ही वृक्षसमूहोंके रूपमें प्रतीत होती थी । शोकजनित आयास ही उस दुःखरूपी पर्वतके ऊँचे शिखर थे । अतिशय मोह ही उसमें अनन्त प्राणी थे । बाहर-भीतरकी इन्द्रियोंमें होनेवाले संताप ही उस पर्वतकी ओषधियाँ तथा बाँसके वृक्ष थे ॥ १९-२० ॥

विनिःश्वसन् वै भृशदुर्मनास्ततः
प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः ।
शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो
नरर्षभो यूथहतो यथार्षभः ॥ २१ ॥

उनका मन बहुत दुखी था । वे लंबी साँस खींचते हुए सहसा अपनी सुध-बुध खोकर बड़ी भारी आपत्तिमें पड़ गये । मानसिक चिन्तासे पीड़ित होनेके कारण नरश्रेष्ठ भरतको शान्ति नहीं मिलती थी । उनकी दशा अपने झुंडसे बिछुड़े हुए वृषभकी-सी हो रही थी ॥ २१ ॥

गुहेन सार्धं भरतः समागतो
महानुभावः सजनः समाहितः ।
सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुन-
र्गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥

परिवारसहित एकाग्रचित्त महानुभाव भरत जब गुहसे मिले, उस समय उनके मनमें बड़ा दुःख था। वे अपने बड़े भाईके लिये चिन्तित थे, अतः गुहने उन्हें पुनः आश्वासन दिया ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥ ८५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८५ ॥

षडशीतितमः सर्गः

निषादराज गुहके द्वारा लक्ष्मणके सद्भाव और विलापका वर्णन

आचचक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः।
भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥

वनचारी गुहने अप्रमेय शक्तिशाली भरतसे महात्मा लक्ष्मणके सद्भावका इस प्रकार वर्णन किया—॥ १ ॥

तं जाग्रतं गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम्।
भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रुवम् ॥ २ ॥

"लक्ष्मण अपने भाईकी रक्षाके लिये श्रेष्ठ धनुष और बाण धारण किये अधिक कालतक जागते रहे। उस समय उन सद्गुणशाली लक्ष्मणसे मैंने इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

इयं तात सुखा शय्या त्वदर्थमुपकल्पिता।
प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन ॥ ३ ॥
उचितोऽयं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः।
धर्मात्मंस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

"तात रघुकुलनन्दन! मैंने तुम्हारे लिये यह सुखदायिनी शय्या तैयार की है। तुम इसपर सुखपूर्वक सोओ और भलीभाँति विश्राम करो। यह (मैं) सेवक तथा इसके साथके सब लोग वनवासी होनेके कारण दुःख सहन करनेके योग्य हैं (क्योंकि हम सबको कष्ट सहनेका अभ्यास है); परंतु तुम सुखमें ही पले होनेके कारण उसीके योग्य हो। धर्मात्मन्! हमलोग श्रीरामचन्द्रजीकी रक्षाके लिये रातभर जागते रहेंगे ॥

नहि रामात् प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन।
मोत्सुको भूर्ब्रवीम्येतदथ सत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

"मैं तुम्हारे सामने सत्य कहता हूँ कि इस भूमण्डलमें मुझे श्रीरामसे बढ़कर प्रिय दूसरा कोई नहीं है; अतः तुम इनकी रक्षाके लिये उत्सुक न होओ ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन् सुमहद् यशः।
धर्मावाप्तिं च विपुलामर्थकामौ च केवलौ ॥ ६ ॥

"इन श्रीरघुनाथजीके प्रसादसे ही मैं इस लोकमें महान् यश, प्रचुर धर्मलाभ तथा विशुद्ध अर्थ एवं भोग्य-वस्तु पानेकी आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया।
रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह ॥ ७ ॥

"अतः मैं अपने समस्त बन्धु-बान्धवोंके साथ हाथमें धनुष लेकर सीताके साथ सोये प्रिय सखा श्रीरामकी (सब प्रकारसे) रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

नहि मेऽविदितं किंचिद् वनेऽस्मिंश्चरतः सदा।
चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

"इस वनमें सदा विचरते रहनेके कारण मुझसे यहाँकी कोई बात छिपी नहीं है। हमलोग यहाँ युद्धमें शत्रुकी चतुरङ्गिणी सेनाका भी अच्छी तरह सामना कर सकते हैं" ॥

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना।
अनुनीता वयं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥

"हमारे इस प्रकार कहनेपर धर्मपर ही दृष्टि रखनेवाले महात्मा लक्ष्मणने हम सब लोगोंसे अनुनयपूर्वक कहा—॥ ९ ॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया।
शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितानि सुखानि वा ॥ १० ॥

"निषादराज! जब दशरथनन्दन श्रीराम देवी सीताके साथ भूमिपर शयन कर रहे हैं, तब मेरे लिये उत्तम शय्यापर सोकर नींद लेना, जीवन-धारणके लिये स्वादिष्ट अन्न खाना अथवा दूसरे-दूसरे सुखोंको भोगना कैसे सम्भव हो सकता है!॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि।
तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥

"गुह! देखो, सम्पूर्ण देवता और असुर मिलकर भी युद्धमें जिनके वेगको नहीं सह सकते, वे ही श्रीराम इस समय सीताके साथ तिनकोंपर सो रहे हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः।
एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ १२ ॥
अस्मिन् प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

"महान् तप और नाना प्रकारके परिश्रमसाध्य उपायोंद्वारा जो यह महाराज दशरथको अपने समान उत्तम लक्षणोंसे युक्त ज्येष्ठ पुत्रके रूपमें प्राप्त हुए हैं, उन्हीं इन श्रीरामके वनमें आ जानेसे राजा दशरथ अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकेंगे। जान पड़ता है निश्चय ही यह पृथ्वी अब शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १२-१३ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः।
निर्घोषो विरतो नूनमद्य राजनिवेशने ॥ १४ ॥

"अवश्य ही अब रनवासकी स्त्रियाँ बड़े जोरसे आर्तनाद करके अधिक श्रमके कारण अब चुप हो गयी होंगी और राजमहलका वह हाहाकार इस समय शान्त हो गया होगा ॥ १४ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम।
नाशंसे यदि ते सर्वे जीवेयुः शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥

"महारानी कौसल्या, राजा दशरथ तथा मेरी माता सुमित्रा—ये सब लोग आजकी इस राततक जीवित रह सकेंगे या नहीं; यह मैं नहीं कह सकता ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया।
दुःखिता या हि कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १६ ॥

"शत्रुघ्नकी बाट देखनेके कारण सम्भव है, मेरी माता सुमित्रा जीवित रह जायँ; परंतु पुत्रके विरहसे दुःखमें डूबी हुई वीर-जननी कौसल्या अवश्य नष्ट हो जायँगी ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम्।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

"(महाराजकी इच्छा थी कि श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करूँ) अपने उस मनोरथको न पाकर श्रीरामको राज्यपर स्थापित किये बिना ही 'हाय ! मेरा सब कुछ नष्ट हो गया ! नष्ट हो गया !!' ऐसा कहते हुए मेरे पिताजी अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे ॥ १७ ॥

सिद्धार्थाः पितरं वृत्तं तस्मिन् काले ह्युपस्थिते।
प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

"उनकी उस मृत्युका समय उपस्थित होनेपर जो लोग वहाँ रहेंगे और मेरे मरे हुए पिता महाराज दशरथका सभी प्रेतकार्योंमें संस्कार करेंगे, वे ही सफलमनोरथ और भाग्यशाली हैं ॥ १८ ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम्।
हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ १९ ॥
गजाश्वरथसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम्।
सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥
आरामोद्यानसम्पूर्णां समाजोत्सवशालिनीम्।
सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

"(यदि पिताजी जीवित रहे तो) रमणीय चबूतरों और चौराहोंके सुन्दर स्थानोंसे युक्त, पृथक्-पृथक बने हुए विशाल राजमार्गोंसे अलंकृत, धनिकोंकी अट्टालिकाओं और देवमन्दिरों एवं राजभवनोंसे सम्पन्न, सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, हाथियों, घोड़ों और रथोंके आवागमनसे भरी हुई, विविध वाद्योंकी ध्वनियोंसे निनादित, समस्त कल्याणकारी वस्तुओंसे भरपूर, हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे व्याप्त, पुष्पवाटिकाओं और उद्यानोंसे परिपूर्ण तथा सामाजिक उत्सवोंसे सुशोभित हुई मेरे पिताकी राजधानी अयोध्यापुरीमें जो लोग विचरेंगे, वास्तवमें वे ही सुखी हैं ॥ १९—२१ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम्।
निवृत्ते समये ह्यस्मिन् सुखिताः प्रविशेमहि ॥ २२ ॥

"क्या वनवासकी इस अवधिके समाप्त होनेपर सकुशल लौटे हुए सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामके साथ हमलोग अयोध्यापुरीमें प्रवेश कर सकेंगे" ॥ २२ ॥

परिदेवयमानस्य तस्यैवं हि महात्मनः।
तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २३ ॥

"इस प्रकार विलाप करते हुए महामनस्वी राजकुमार लक्ष्मणकी वह सारी रात जागते ही बीती ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ।
अस्मिन् भागीरथीतीरे सुखं संतारितौ मया ॥ २४ ॥

"प्रातःकाल निर्मल सूर्योदय होनेपर मैंने भागीरथीके तटपर (वटके दूधसे) उन दोनोंके केशोंको जटाका रूप दिलवाया और उन्हें सुखपूर्वक पार उतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ द्रुमचीरवाससौ
महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ।
वरेषुधीचापधरौ परंतपौ
व्यपेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

"सिरपर जटा धारण करके वल्कल एवं चीर-वस्त्र पहने हुए, महाबली, शत्रुसंतापी श्रीराम और लक्ष्मण दो गज-यूथपतियोंके समान शोभा पाते थे। वे सुन्दर तरकस और धनुष धारण किये इधर-उधर देखते हुए सीताके साथ चले गये" ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडशीतितमः सर्गः ॥ ८६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८६ ॥

सप्ताशीतितमः सर्गः

भरतकी मूर्च्छासे गुह, शत्रुघ्न और माताओंका दुखी होना, होशमें आनेपर भरतका गुहसे श्रीराम आदिके भोजन और शयन आदिके विषयमें पूछना और गुहका उन्हें सब बातें बताना

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम्।
ध्यानं जगाम तत्रैव यत्र तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

गुहका श्रीरामके जटाधारण आदिसे सम्बन्ध रखनेवाला अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर भरत चिन्तामग्न हो गये।

जिन श्रीरामके विषयमें उन्होंने अप्रिय बात सुनी थी, उन्हींका वे चिन्तन करने लगे (उन्हें यह चिन्ता हो गयी कि अब मेरा मनोरथ पूर्ण न हो सकेगा। श्रीरामने जब जटा धारण कर ली, तब वे शायद ही लौटें) ॥ १ ॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥
प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः।
ससाद सहसा तोत्रैर्हृदि विद्ध इव द्विपः ॥ ३ ॥

भरत सुकुमार होनेके साथ ही महान् बलशाली थे, उनके कंधे सिंहके समान थे, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र विकसित कमलके सदृश सुन्दर थे। उनकी अवस्था तरुण थी और वे देखनेमें बड़े मनोरम थे। उन्होंने गुहकी बात सुनकर दो घड़ीतक किसी प्रकार धैर्य धारण किया, फिर उनके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे अंकुशसे विद्ध हुए हाथीके समान अत्यन्त व्यथित होकर सहसा दुःखसे शिथिल एवं मूर्च्छित हो गये ॥ २-३ ॥

भरतं मूर्च्छितं दृष्ट्वा विवर्णवदनो गुहः।
बभूव व्यथितस्तत्र भूमिकम्पे यथा द्रुमः ॥ ४ ॥

भरतको मूर्च्छित हुआ देख गुहके चेहरेका रंग उड़ गया। वह भूकम्पके समय मथित हुए वृक्षकी भाँति वहाँ व्यथित हो उठा ॥ ४ ॥

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽनन्तरस्थितः।
परिष्वज्य रुरोदोच्चैर्विसंज्ञः शोककर्शितः ॥ ५ ॥

शत्रुघ्न भरतके पास ही बैठे थे। वे उनकी वैसी अवस्था देख उन्हें हृदयसे लगाकर जोर-जोरसे रोने लगे और शोकसे पीड़ित हो अपनी सुध-बुध खो बैठे ॥ ५ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः।
उपवासकृशा दीना भर्तृव्यसनकर्शिताः ॥ ६ ॥

तदनन्तर भरतकी सभी माताएँ वहाँ आ पहुँचीं। वे पतिवियोगके दुःखसे दुखी, उपवास करनेके कारण दुर्बल और दीन हो रही थीं ॥ ६ ॥

ताश्च तं पतितं भूमौ रुदत्यः पर्यवारयन्।
कौसल्या त्वनुसृत्यैनं दुर्मना परिषस्वजे ॥ ७ ॥

भूमिपर पड़े हुए भरतको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया और सब-की-सब रोने लगीं। कौसल्याका हृदय तो दुःखसे और भी कातर हो उठा। उन्होंने भरतके पास जाकर उन्हें अपनी गोदमें चिपका लिया ॥ ७ ॥

वत्सला स्वं यथा वत्समुपगुह्य तपस्विनी।
परिपप्रच्छ भरतं रुदती शोकलालसा ॥ ८ ॥

जैसे वत्सला गौ अपने बछड़ेको गलेसे लगाकर चाटती है, उसी तरह शोकसे व्याकुल हुई तपस्विनी कौसल्याने भरतको गोदमें लेकर रोते-रोते पूछा— ॥ ८ ॥

पुत्र व्याधिर्न ते कच्चिच्छरीरं प्रति बाधते।
अस्य राजकुलस्याद्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ९ ॥

'बेटा! तुम्हारे शरीरको कोई रोग तो कष्ट नहीं पहुँचा रहा है? अब इस राजवंशका जीवन तुम्हारे ही अधीन है ॥

त्वां दृष्ट्वा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते।
वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ १० ॥

'वत्स! मैं तुम्हींको देखकर जी रही हूँ। श्रीराम लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये और महाराज दशरथ स्वर्गवासी हो गये; अब एकमात्र तुम्हीं हमलोगोंके रक्षक हो ॥ १० ॥

कच्चिन्न लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किंचिदप्रियम्।
पुत्रे वा ह्येकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते ॥ ११ ॥

'बेटा! सच बताओ, तुमने लक्ष्मणके सम्बन्धमें अथवा मुझ एक ही पुत्रवाली माके बेटे वनमें सीतासहित गये हुए श्रीरामके विषयमें कोई अप्रिय बात तो नहीं सुनी है?' ॥ ११ ॥

स मुहूर्तं समाश्वस्य रुदन्नेव महायशाः।
कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥ १२ ॥

दो ही घड़ीमें जब महायशस्वी भरतका चित्त स्वस्थ हुआ, तब उन्होंने रोते-रोते ही कौसल्याको सान्त्वना दी (और कहा—'मा! घबराओ मत, मैंने कोई अप्रिय बात नहीं सुनी है')। फिर निषादराज गुहसे इस प्रकार पूछा— ॥ १२ ॥

भ्राता मे क्वावसद् रात्रौ क्व सीता क्व च लक्ष्मणः।
अस्वपच्छयने कस्मिन् किं भुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १३ ॥

'गुह! उस दिन रातमें मेरे भाई श्रीराम कहाँ ठहरे थे? सीता कहाँ थीं? और लक्ष्मण कहाँ रहे? उन्होंने क्या भोजन करके कैसे बिछौनेपर शयन किया था? ये सब बातें मुझे बताओ' ॥ १३ ॥

सोऽब्रवीद् भरतं हृष्टो निषादाधिपतिर्गुहः।
यद्विधं प्रतिपेदे च रामे प्रियहितेऽतिथौ ॥ १४ ॥

ये प्रश्न सुनकर निषादराज गुह बहुत प्रसन्न हुआ और उसने अपने प्रिय एवं हितकारी अतिथि श्रीरामके आनेपर उनके प्रति जैसा बर्ताव किया था, वह सब बताते हुए भरतसे कहा— ॥ १४ ॥

अन्नमुच्चावचं भक्ष्याः फलानि विविधानि च।
रामायाभ्यवहारार्थं बहुशोऽपहृतं मया ॥ १५ ॥

'मैंने भाँति-भाँतिके अन्न, अनेक प्रकारके खाद्य पदार्थ और कई तरहके फल श्रीरामचन्द्रजीके पास भोजनके लिये प्रचुर मात्रामें पहुँचाये ॥ १५ ॥

तत् सर्वं प्रत्यनुज्ञासीद् रामः सत्यपराक्रमः।
न हि तत् प्रत्यगृह्णात् स क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥ १६ ॥

'सत्यपराक्रमी श्रीरामने मेरी दी हुई सब वस्तुएँ स्वीकार तो कीं; किंतु क्षत्रियधर्मका स्मरण करते हुए उनको ग्रहण नहीं किया—मुझे आदरपूर्वक लौटा दिया ॥ १६ ॥

नह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा।
इति तेन वयं सर्वे अनुनीता महात्मना ॥ १७ ॥

'फिर उन महात्माने हम सब लोगोंको समझाते हुए कहा—'सखे ! हम-जैसे क्षत्रियोंको किसीसे कुछ लेना नहीं चाहिये; अपितु सदा देना ही चाहिये' ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन यदानीतं पीतं वारि महात्मना।
औपवास्यं तदाकार्षीद् राघवः सह सीतया ॥ १८ ॥

'सीतासहित श्रीरामने उस रातमें उपवास ही किया। लक्ष्मण जो जल ले आये थे, केवल उसीको उन महात्माने पीया ॥ १८ ॥

ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत् तदा।
वाग्यतास्ते त्रयः संध्यां समुपासन्त संहिताः ॥ १९ ॥

'उनके पीनेसे बचा हुआ जल लक्ष्मणने ग्रहण किया। (जलपानके पहले) उन तीनोंने मौन एवं एकाग्रचित्त होकर संध्योपासना की थी ॥ १९ ॥

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत् स्वास्तरं शुभम्।
स्वयमानीय बर्हीषि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥ २० ॥

'तदनन्तर लक्ष्मणने स्वयं कुश लाकर श्रीरामचन्द्रजीके लिये शीघ्र ही सुन्दर बिछौना बिछाया ॥ २० ॥

तस्मिन् समाविशद् रामः स्वास्तरे सह सीतया।
प्रक्षाल्य च तयोः पादौ व्यपाक्रामत् सलक्ष्मणः ॥ २१ ॥

'उस सुन्दर बिस्तरपर जब सीताके साथ श्रीराम विराजमान हुए, तब लक्ष्मण उन दोनोंके चरण पखारकर वहाँसे दूर हट आये ॥ २१ ॥

एतत् तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत् तृणम्।
यस्मिन् रामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥ २२ ॥

'यही वह इङ्गुदी वृक्षकी जड़ है और यही वह तृण है, जहाँ श्रीराम और सीता—दोनोंने रात्रिमें शयन किया था ॥

नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवान्-
शरैः सुपूर्णाविषुधी परंतपः।
महद्धनुः सज्जमुपोह्य लक्ष्मणो
निशामतिष्ठत् परितोऽस्य केवलम् ॥ २३ ॥

'शत्रुसंतापी लक्ष्मण अपनी पीठपर बाणोंसे भरे दो तरकस बाँधे, दोनों हाथोंकी अंगुलियोंमें दस्ताने पहने और महान् धनुष चढ़ाये श्रीरामके चारों ओर घूमकर केवल पहरा देते हुए रातभर खड़े रहे ॥ २३ ॥

ततस्त्वहं चोत्तमबाणचापभृत्
स्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः।
अतन्द्रितैर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकै-
र्महेन्द्रकल्पं परिपालयंस्तदा ॥ २४ ॥

तदनन्तर, मैं भी उत्तम बाण और धनुष लेकर वहीं आ खड़ा हुआ, जहाँ लक्ष्मण थे। उस समय अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ, जो निद्रा और आलस्यका त्याग करके धनुष-बाण लिये सदा सावधान रहे, मैं देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी श्रीरामकी रक्षा करता रहा' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताशीतितमः सर्गः ॥ ८७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सतासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८७ ॥

अष्टाशीतितमः सर्गः

श्रीरामकी कुश-शय्या देखकर भरतका शोकपूर्ण उद्गार तथा स्वयं भी वल्कल और जटाधारण करके वनमें रहनेका विचार प्रकट करना

तच्छ्रुत्वा निपुणं सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः।
इङ्गुदीमूलमागम्य रामशय्यामवेक्षत ॥ १ ॥

'निषादराजकी सारी बातें ध्यानसे सुनकर मन्त्रियोंसहित भरतने इङ्गुदी वृक्षकी जड़के पास आकर श्रीरामचन्द्रजीकी शय्याका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तस्य महात्मनः।
शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

फिर उन्होंने समस्त माताओंसे कहा—'यहीं महात्मा श्रीरामने भूमिपर शयन करके रात्रि व्यतीत की थी। यही वह कुशसमूह है, जो उनके अङ्गोंसे विमर्दित हुआ था ॥२॥

महाराजकुलीनेन महाभागेन धीमता।
जातो दशरथेनोर्व्यां न रामः स्वप्तुमर्हति ॥ ३ ॥

'महाराजोंके कुलमें उत्पन्न हुए परम बुद्धिमान् महाभाग राजा दशरथने जिन्हें जन्म दिया है, वे श्रीराम इस तरह भूमिपर शयन करनेके योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंचये।
शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥

'जो पुरुषसिंह श्रीराम मुलायम मृगचर्मकी विशेष चादरसे ढके हुए तथा अच्छे-अच्छे बिछौनोंके समूहसे सजे हुए पलंगपर सदा सोते आये हैं, वे इस समय पृथ्वीपर कैसे शयन करते होंगे ! ॥ ४ ॥

प्रासादाग्रविमानेषु वलभीषु च सर्वदा।

हैमराजतभौमेषु वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥
पुष्पसंचयचित्रेषु चन्दनागुरुगन्धिषु ।
पाण्डुराभ्रप्रकाशेषु शुकसंघरुतेषु च ॥ ६ ॥
प्रासादवरवर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।
उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

'जो सदा विमानाकार प्रासादोंके श्रेष्ठ भवनों और अट्टालिकाओंमें सोते आये हैं तथा जिनकी फर्श सोने और चाँदीकी बनी हुई है, जो अच्छे बिछौनोंसे सुशोभित हैं, पुष्पराशिसे विभूषित होनेके कारण जिनकी विचित्र शोभा होती है, जिनमें चन्दन और अगुरुकी सुगन्ध फैली रहती है, जो श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल कान्ति धारण करते हैं, जिनमें शुकसमूहोंका कलरव होता रहता है, जो शीतल हैं एवं कपूर आदिकी सुगन्धसे व्याप्त होते हैं, जिनकी दीवारोंपर सुवर्णका काम किया गया है तथा जो ऊँचाईमें मेरु पर्वतके समान जान पड़ते हैं, ऐसे सर्वोत्तम राजमहलोंमें जो निवास कर चुके हैं, वे श्रीराम वनमें पृथ्वीपर कैसे सोते होंगे ? ॥ ५—७ ॥

गीतवादित्रनिर्घोषैर्वराभरणनिःस्वनैः ।
मृदङ्गवरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥
वन्दिभिर्वन्दितः काले बहुभिः सूतमागधैः ।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परंतपः ॥ ९ ॥

'जो गीतों और वाद्योंकी ध्वनियोंसे, श्रेष्ठ आभूषणोंकी झनकारोंसे तथा मृदङ्गोंके उत्तम शब्दोंसे सदा जगाये जाते थे, बहुत-से वन्दीगण समय-समयपर जिनकी वन्दना करते थे, सूत और मागध अनुरूप गाथाओं और स्तुतियोंसे जिनको जगाते थे, वे शत्रुसंतापी श्रीराम अब भूमिपर कैसे शयन करते होंगे ? ॥ ८-९ ॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मा ।
मुह्यते खलु मे भावः स्वप्नोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

'यह बात जगत्‌में विश्वासके योग्य नहीं है। मुझे यह सत्य नहीं प्रतीत होती । मेरा अन्तःकरण अवश्य ही मोहित हो रहा है। मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह कोई स्वप्न है ॥ १० ॥

न नूनं दैवतं किंचित् कालेन बलवत्तरम् ।
यत्र दाशरथी रामो भूमावेवमशेत सः ॥ ११ ॥

'निश्चय ही कालके समान प्रबल कोई दूसरा देवता नहीं है, जिसके प्रभावसे दशरथनन्दन श्रीरामको भी इस प्रकार भूमिपर सोना पड़ा ॥ ११ ॥

यस्मिन् विदेहराजस्य सुता च प्रियदर्शना ।
दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥

'उस कालके ही प्रभावसे विदेहराजकी परम सुन्दरी पुत्री और महाराज दशरथकी प्यारी पुत्रवधू सीता भी पृथ्वीपर शयन करती हैं ॥ १२ ॥

इयं शय्या मम भ्रातुरिदमावर्तितं शुभम् ।
स्थण्डिले कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम् ॥ १३ ॥

'यही मेरे बड़े भाईकी शय्या है । यहीं उन्होंने करवटें बदली थीं । इस कठोर वेदीपर उनका शुभ शयन हुआ था, जहाँ उनके अङ्गोंसे कुचला गया सारा तृण अभीतक पड़ा है ॥ १३ ॥

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिञ्शयने शुभा ।
तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकबिन्दवः ॥ १४ ॥

'जान पड़ता है, शुभलक्षणा सीता शय्यापर आभूषण पहने ही सोयी थीं; क्योंकि यहाँ यत्र-तत्र सुवर्णके कण सटे दिखायी देते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा ।
तथा ह्येते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥ १५ ॥

'यहाँ उस समय सीताकी चादर उलझ गयी थी, यह साफ दिखायी दे रहा है; क्योंकि यहाँ सटे हुए ये रेशमके तागे चमक रहे हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शय्या येन बाला तपस्विनी ।
सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

'मैं समझता हूँ कि पतिकी शय्या कोमल हो या कठोर, साध्वी स्त्रियोंके लिये वही सुखदायिनी होती है, तभी तो वह तपस्विनी एवं सुकुमारी बाला सती-साध्वी मिथिलेशकुमारी सीता यहाँ दुःखका अनुभव नहीं कर रही हैं ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम।
ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

'हाय ! मैं मर गया—मेरा जीवन व्यर्थ है । मैं बड़ा क्रूर हूँ, जिसके कारण सीतासहित श्रीरामको अनाथकी भाँति ऐसी शय्यापर सोना पड़ता है ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकसुखावहः ।
सर्वप्रियकरस्त्यक्त्वा राज्यं प्रियमनुत्तमम् ॥ १८ ॥
कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः ।
सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥ १९ ॥

'जो चक्रवर्ती सम्राट्‌के कुलमें उत्पन्न हुए हैं, समस्त लोकोंको सुख देनेवाले हैं तथा सबका प्रिय करनेमें तत्पर रहते हैं, जिनका शरीर नीले कमलके समान श्याम, आँखें लाल और दर्शन सबको प्रिय लगनेवाला है तथा जो सुख भोगनेके ही योग्य हैं, दुःख भोगनेके कदापि योग्य नहीं हैं, वे ही श्रीरघुनाथजी परम उत्तम प्रिय राज्यका परित्याग करके इस समय पृथ्वीपर शयन करते हैं ॥ १८-१९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भ्रातरं विषमे काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

'उत्तम लक्षणोंवाले लक्ष्मण ही धन्य एवं बड़भागी हैं, जो संकटके समय बड़े भाई श्रीरामके साथ रहकर उनकी सेवा करते हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पतिं यानुगता वनम्।
वयं संशयिताः सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

'निश्चय ही विदेहनन्दिनी सीता भी कृतार्थ हो गयीं, जिन्होंने पतिके साथ वनका अनुसरण किया है। हम सब लोग उन महात्मा श्रीरामसे बिछुड़कर संशयमें पड़ गये हैं (हमें यह संदेह होने लगा है कि श्रीराम हमारी सेवा स्वीकार करेंगे या नहीं) ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति मे।
गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

'महाराज दशरथ स्वर्गलोकको गये और श्रीराम वनवासी हो गये, ऐसी दशामें यह पृथ्वी बिना नाविककी नौकाके समान मुझे सूनी-सी प्रतीत हो रही है ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसापि वसुंधराम्।
वने निवसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

'वनमें निवास करनेपर भी उन्हीं श्रीरामके बाहुबलसे सुरक्षित हुई इस वसुन्धराको कोई शत्रु मनसे भी नहीं लेना चाहता है ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् ।
अनावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥
अप्रहृष्टबलां शून्यां विषमस्थामनावृताम्।
शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ २५ ॥

'इस समय अयोध्याकी चहारदीवारीकी सब ओरसे रक्षाका कोई प्रबन्ध नहीं है, हाथी और घोड़े बँधे नहीं रहते हैं—खुले विचरते हैं, नगरद्वारका फाटक खुला ही रहता है, सारी राजधानी अरक्षित है, सेनामें हर्ष और उत्साहका अभाव है, समस्त नगरी रक्षकोंसे सूनी-सी जान पड़ती है, सङ्कटमें पड़ी हुई है, रक्षकोंके अभावसे आवरणरहित हो गयी है, तो भी शत्रु विषमिश्रित भोजनकी भाँति इसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते हैं। श्रीरामके बाहुबलसे ही इसकी रक्षा हो रही है ॥ २४-२५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा।
फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥ २६ ॥

'आजसे मैं भी पृथ्वीपर अथवा तिनकोंपर ही सोऊँगा, फल-मूलका ही भोजन करूँगा और सदा वल्कल वस्त्र तथा जटा धारण किये रहूँगा ॥ २६ ॥

तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने।
तत् प्रतिश्रुतमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

'वनवासके जितने दिन बाकी हैं, उतने दिनोंतक मैं ही वहाँ सुखपूर्वक निवास करूँगा, ऐसा होनेसे आर्य श्रीरामकी की हुई प्रतिज्ञा झूठी नहीं होगी ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति।
लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति ॥ २८ ॥

'भाईके लिये वनमें निवास करते समय शत्रुघ्न मेरे साथ रहेंगे और मेरे बड़े भाई श्रीराम लक्ष्मणको साथ लेकर अयोध्याका पालन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः।
अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

'अयोध्यामें ब्राह्मणलोग ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामका अभिषेक करेंगे। क्या देवता मेरे इस मनोरथको सत्य (सफल) करेंगे ? ॥ २९ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं
बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते।
ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं
वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

'मैं उनके चरणोंपर मस्तक रखकर उन्हें मनानेकी चेष्टा करूँगा। यदि मेरे बहुत कहनेपर भी वे लौटनेको राजी न होंगे तो उन वनवासी श्रीरामके साथ मैं भी दीर्घकालतक वहीं निवास करूँगा। वे मेरी उपेक्षा नहीं करेंगे' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाशीतितमः सर्गः ॥ ८८ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८८ ॥

एकोननवतितमः सर्गः

भरतका सेनासहित गङ्गा पार करके भरद्वाजके आश्रमपर जाना

व्युष्य रात्रिं तु तत्रैव गङ्गाकूले स राघवः।
कल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

शृङ्गवेरपुरमें ही गङ्गाके तटपर रात्रि बिताकर रघुकुल-नन्दन भरत प्रातःकाल उठे और शत्रुघ्नसे इस प्रकार बोले— ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपतिं गुहम्।
शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥

'शत्रुघ्न ! उठो, क्या सो रहे हो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम निषादराज गुहको शीघ्र बुला लाओ, वही हमें गङ्गाके पार उतारेगा' ॥ २ ॥

जागर्मि नाहं स्वपिमि तथैवार्यं विचिन्तयन्।
इत्येवमब्रवीद् भ्राता शत्रुघ्नो विप्रचोदितः ॥ ३ ॥

उनसे इस प्रकार प्रेरित होनेपर शत्रुघ्नने कहा—'भैया ! मैं भी आपकी ही भाँति आर्य श्रीरामका चिन्तन करता हुआ जाग रहा हूँ, सोता नहीं हूँ' ॥ ३ ॥

इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः।
आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वे दोनों पुरुषसिंह जब इस प्रकार परस्पर बातचीत कर रहे थे, उसी समय गुह उपयुक्त वेलामें आ पहुँचा और हाथ जोड़कर बोला—॥ ४ ॥

कच्चित् सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम्।
कच्चिच्च सहसैन्यस्य तव नित्यमनामयम् ॥ ५ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण भरतजी ! इस नदीके तटपर आप रातमें सुखसे रहे हैं न ? सेनासहित आपको यहाँ कोई कष्ट तो नहीं हुआ है ? आप सर्वथा नीरोग हैं न ?' ॥ ५ ॥

गुहस्य तत् तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम्।
रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुहके स्नेहपूर्वक कहे गये इस वचनको सुनकर श्रीरामके अधीन रहनेवाले भरतने यों कहा—॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी धीमन् पूजिताश्चापि ये वयम्।
गङ्गां तु नौभिर्बह्वीभिर्दाशाः संतारयन्तु नः ॥ ७ ॥

'बुद्धिमान् निषादराज ! हम सब लोगोंकी रात बड़े सुखसे बीती है। तुमने हमारा बड़ा सत्कार किया। अब ऐसी व्यवस्था करो, जिससे तुम्हारे मल्लाह बहुत-सी नौकाओं-द्वारा हमें गङ्गाके पार उतार दें' ॥ ७ ॥

ततो गुहः संत्वरितः श्रुत्वा भरतशासनम्।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

भरतका यह आदेश सुनकर गुह तुरंत अपने नगरमें गया और भाई-बन्धुओंसे बोला—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु हि वः सदा।
नावः समुपकर्षध्वं तारयिष्यामि वाहिनीम् ॥ ९ ॥

'उठो, जागो, सदा तुम्हारा कल्याण हो। नौकाओंको खींचकर घाटपर ले आओ। भरतकी सेनाको गङ्गाजीके पार उतारूँगा' ॥ ९ ॥

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात्।
पञ्च नावां शतान्येव समानिन्युः समन्ततः ॥ १० ॥

गुहके इस प्रकार कहनेपर अपने राजाकी आज्ञासे सभी मल्लाह शीघ्र ही उठ खड़े हुए और चारों ओरसे पाँच सौ नौकाएँ एकत्र कर लाये ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरावराः।
शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ॥ ११ ॥

इन सबके अतिरिक्त कुछ स्वस्तिक नामसे प्रसिद्ध नौकाएँ थीं, जो स्वस्तिकके चिह्नोंसे अलंकृत होनेके कारण उन्हीं चिह्नोंसे पहचानी जाती थीं। उनपर ऐसी पताकाएँ फहरा रही थीं, जिनमें बड़ी-बड़ी घण्टियाँ लटक रही थीं। स्वर्ण आदिके बने हुए चित्रोंसे उन नौकाओंकी विशेष शोभा हो रही थी। उनमें नौका खेनेके लिये बहुत-से डाँड लगे हुए थे तथा चतुर नाविक उन्हें चलानेके लिये तैयार बैठे थे। वे सभी नौकाएँ बड़ी मजबूत बनी थीं ॥ ११ ॥

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम्।
सनन्दिघोषां कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥ १२ ॥

उन्हींमेंसे एक कल्याणमयी नाव गुह स्वयं लेकर आया, जिसमें श्वेत कालीन बिछे हुए थे तथा उस स्वस्तिक नामवाली नावपर माङ्गलिक शब्द हो रहा था ॥ १२ ॥

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महाबलः।
कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या राजयोषितः ॥ १३ ॥
पुरोहितश्च तत् पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये।
अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

उसपर सबसे पहले पुरोहित, गुरु और ब्राह्मण बैठे। तत्पश्चात् उसपर भरत, महाबली शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा राजा दशरथकी जो अन्य रानियाँ थीं, वे सब सवार हुईं। तदनन्तर राजपरिवारकी दूसरी स्त्रियाँ बैठीं। गाड़ियाँ तथा क्रय-विक्रयकी सामग्रियाँ दूसरी-दूसरी नावोंपर लादी गयीं ॥ १३-१४ ॥

आवासमादीपयतां तीर्थं चाप्यवगाहताम्।
भाण्डानि चाददानानां घोषस्तु दिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

कुछ सैनिक बड़ी-बड़ी मशालें जलाकर* अपने खेमोंमें छूटी हुई वस्तुओंको सम्हालने लगे। कुछ लोग शीघ्रतापूर्वक घाटपर उतरने लगे तथा बहुत-से सैनिक अपने-अपने सामानको 'यह मेरा है, यह मेरा है' इस तरह पहचान-कर उठाने लगे। उस समय जो महान् कोलाहल मचा, वह आकाशमें गूँज उठा ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः।
वहन्त्यो जनमारूढं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

उन सभी नावोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं। सबके ऊपर खेनेवाले कई मल्लाह बैठे थे। वे सब नौकाएँ उस समय चढ़े हुए मनुष्योंको तीव्रगतिसे पार ले जाने लगीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णास्तु काश्चित् काश्चित् तु वाजिनाम्।
काश्चित् तत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं महाधनम् ॥ १७ ॥

* यहाँ 'आवासमादीपयताम्' का अर्थ कुछ टीकाकारोंने यह किया है कि 'वे अपने आवासस्थानमें आग लगाने लगे।' आवश्यक वस्तुओंको लाद लेनेके बाद जो मामूली झोंपड़े और नगण्य वस्तुएँ शेष रह जाती हैं, उनमें छावनी उखाड़ते समय आग लगा देना—यह सेनाका धर्म बताया गया है। इसके दो रहस्य हैं, किसी शत्रुपक्षीय व्यक्तिके लिये अपना कोई निशान न छोड़ना—यह सैनिक नीति है। दूसरा यह है कि इस तरह आग लगाकर जानेसे विजय-लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है—ऐसा उनका परम्परागत विश्वास है।

कितनी ही नौकाएँ केवल स्त्रियोंसे भरी थीं, कुछ नावोंपर घोड़े थे तथा कुछ नौकाएँ गाड़ियों, उनमें जोते जानेवाले घोड़े, खच्चर, बैल आदि वाहनों तथा बहुमूल्य रत्न आदिको ढो रही थीं ॥ १७ ॥

तास्तु गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम्।
निवृत्ताः काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः ॥ १८ ॥

वे दूसरे तटपर पहुँचकर वहाँ लोगोंको उतारकर जब लौटीं, उस समय मल्लाहबन्धु जलमें उनकी विचित्र गतियोंका प्रदर्शन करने लगे ॥ १८ ॥

सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहैः प्रचोदिताः।
तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सपक्षा इव पर्वताः ॥ १९ ॥

वैजयन्ती पताकाओंसे सुशोभित होनेवाले हाथी महावतोंसे प्रेरित होकर स्वयं ही नदी पार करने लगे। उस समय वे पंखधारी पर्वतोंके समान प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

नावश्चारुरुहुस्त्वन्ये प्लवैस्तेरुस्तथापरे।
अन्ये कुम्भघटैस्तेरुरन्ये तेरुश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कितने ही मनुष्य नावोंपर बैठे थे और कितने ही बाँस तथा तिनकोंसे बने हुए बेड़ोंपर सवार थे। कुछ लोग बड़े-बड़े कलशों, कुछ छोटे घड़ों और कुछ अपनी बाहुओंसे ही तैरकर पार हो रहे थे ॥ २० ॥

सा पुण्या ध्वजिनी गङ्गां दाशैः संतारिता स्वयम्।
मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् [1] ॥ २१ ॥

इस प्रकार मल्लाहोंकी सहायतासे वह सारी पवित्र सेना गङ्गाके पार उतारी गयी। फिर वह स्वयं मैत्र नामक मुहूर्तमें उत्तम प्रयागवनकी ओर प्रस्थित हो गयी ॥ २१ ॥

आश्वासयित्वा च चमूं महात्मा
निवेशयित्वा च यथोपजोषम्।
द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-
मृत्विक्सदस्यैर्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

वहाँ पहुँचकर महात्मा भरत सेनाको सुखपूर्वक विश्रामकी आज्ञा दे उसे प्रयागवनमें ठहराकर स्वयं ऋत्विजों तथा राजसभाके सदस्योंके साथ ऋषिश्रेष्ठ भरद्वाजका दर्शन करनेके लिये गये ॥ २२ ॥

स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य
महात्मनो देवपुरोहितस्य।
ददर्श रम्योटजवृक्षदेशं
महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

देवपुरोहित महात्मा ब्राह्मण भरद्वाज मुनिके आश्रमपर पहुँचकर भरतने उन विप्रशिरोमणिके रमणीय एवं विशाल वनको देखा, जो मनोहर पर्णशालाओं तथा वृक्षावलियोंसे सुशोभित था ॥ २३ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोननवतितमः सर्गः ॥ ८९ ॥
इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवासीवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८९ ॥

नवतितमः सर्गः

भरत और भरद्वाज मुनिकी भेंट एवं बातचीत तथा मुनिका अपने आश्रमपर ही ठहरनेका आदेश देना

भरद्वाजाश्रमं गत्वा क्रोशादेव नरर्षभः।
जनं सर्वमवस्थाप्य जगाम सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥
पद्भ्यामेव तु धर्मज्ञो न्यस्तशस्त्रपरिच्छदः।
वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोहितम् ॥ २ ॥

धर्मके ज्ञाता नरश्रेष्ठ भरतने भरद्वाज-आश्रमके पास पहुँचकर अपने साथके सब लोगोंको आश्रमसे एक कोस इधर ही ठहरा दिया था और अपने भी अस्त्र-शस्त्र तथा राजोचित वस्त्र उतारकर वहीं रख दिये थे। केवल दो रेशमी वस्त्र धारण करके पुरोहितको आगे किये वे मन्त्रियोंके साथ पैदल ही वहाँ गये ॥ १-२ ॥

ततः संदर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः।
मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

आश्रममें प्रवेश करके जहाँ दूरसे ही मुनिवर भरद्वाजका दर्शन होने लगा, वहीं उन्होंने उन मन्त्रियोंको खड़ा कर दिया और पुरोहित वसिष्ठजीको आगे करके वे पीछे-पीछे ऋषिके पास गये ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्ट्वैव भरद्वाजो महातपाः।
संचचालासनात् तूर्णं शिष्यानर्घ्यमिति ब्रुवन् ॥ ४ ॥

महर्षि वसिष्ठको देखते ही महातपस्वी भरद्वाज आसनसे

---

१. दो-दो घड़ी (दण्ड) का एक मुहूर्त होता है। दिनमें कुल पंद्रह मुहूर्त बीतते हैं। इनमेंसे तीसरे मुहूर्तको 'मैत्र' कहते हैं। बृहस्पतिने पंद्रह मुहूर्तोंके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—रौद्र, सार्प, मैत्र, पैत्र, वासव, आप्य, वैश्व, ब्राह्म, प्राज, ऐश, ऐन्द्र, ऐन्द्राग्न, नैर्ऋत, वारुणार्यमण तथा भगी। जैसा कि वचन है—

रौद्रः सार्पस्तथा मैत्रः पैत्रो वासव एव च। आप्यो वैश्वस्तथा ब्राह्मः प्राजेशैन्द्रास्तथैव च ॥
ऐन्द्राग्नो नैर्ऋतश्चैव वारुणार्यमणो भगी। एतेऽह्नि क्रमशो ज्ञेया मुहूर्ता दश पञ्च च ॥

उठ खड़े हुए और शिष्योंसे शीघ्रतापूर्वक अर्घ्य ले आनेको कहा ॥ ४ ॥

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः ।
अबुध्यत महातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

फिर वे वसिष्ठसे मिले । तत्पश्चात् भरतने उनके चरणोंमें प्रणाम किया । महातेजस्वी भरद्वाज समझ गये कि ये राजा दशरथके पुत्र हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्घ्यं च पाद्यं च दत्त्वा पश्चात् फलानि च ।
आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः पप्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥

धर्मज्ञ ऋषिने क्रमशः वसिष्ठ और भरतको अर्घ्य, पाद्य तथा फल आदि निवेदन करके उन दोनोंके कुलका कुशल-समाचार पूछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु ।
जानन् दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

इसके बाद अयोध्या, सेना, खजाना, मित्रवर्ग तथा मन्त्रिमण्डलका हाल पूछा । राजा दशरथकी मृत्युका वृत्तान्त वे जानते थे; इसलिये उनके विषयमें उन्होंने कुछ नहीं पूछा ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं पप्रच्छतुरनामयम् ।
शरीरेऽग्निषु शिष्येषु वृक्षेषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

वसिष्ठ और भरतने भी महर्षिके शरीर, अग्निहोत्र, शिष्यवर्ग, पेड़-पत्ते तथा मृग-पक्षी आदिका कुशल-समाचार पूछा ॥ ८ ॥

तथेति तु प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महायशाः ।
भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहबन्धनात् ॥ ९ ॥

महायशस्वी भरद्वाज 'सब ठीक है' ऐसा कहकर श्रीरामके प्रति स्नेह होनेके कारण भरतसे इस प्रकार बोले—॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।
एतदाचक्ष्व सर्वं मे न हि मे शुध्यते मनः ॥ १० ॥

तुम तो राज्य कर रहे हो न ? तुम्हें यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ गयी ? यह सब मुझे बताओ, क्योंकि मेरा मन तुम्हारी ओर शुद्ध नहीं हो रहा है—मेरा विश्वास तुमपर नहीं जमता है ॥ १० ॥

सुषुवे यममित्रघ्नं कौसल्याऽऽनन्दवर्धनम् ।
भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रव्राजितो वनम् ॥ ११ ॥
नियुक्तः स्त्रीनिमित्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः ।
वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥
कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।
अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

'जो शत्रुओंका नाश करनेवाला है, जिस आनन्दवर्धक पुत्रको कौसल्याने जन्म दिया है तथा तुम्हारे पिताने स्त्रीके कारण जिस महायशस्वी पुत्रको चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेकी आज्ञा देकर उसे भाई और पत्नीके साथ दीर्घकालके लिये वनमें भेज दिया है, उस निरपराध श्रीराम और उसके छोटे भाई लक्ष्मणका तुम अकण्टक राज्य भोगनेकी इच्छासे कोई अनिष्ट तो नहीं करना चाहते हो ?' ॥ ११–१३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ।
पर्यश्रुनयनो दुःखात् वाचा संसज्जमानया ॥ १४ ॥

भरद्वाजजीके ऐसा कहनेपर दुःखके कारण भरतकी आँखें डबडबा आयीं । वे लड़खड़ाती हुई वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ १४ ॥

हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि मन्यते ।
मत्तो न दोषमाशङ्के मैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

'भगवन् ! यदि आप पूज्यपाद महर्षि भी मुझे ऐसा समझते हैं, तब तो मैं हर तरहसे मारा गया । यह मैं निश्चित-रूपसे जानता हूँ कि श्रीरामके वनवासमें मेरी ओरसे कोई अपराध नहीं हुआ है, अतः आप मुझसे ऐसी कठोर बात न कहें ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे ।
नाहमेतेन तुष्टश्च न तद्वचनमाददे ॥ १६ ॥

'मेरी आड़ लेकर मेरी माताने जो कुछ कहा या किया है, यह मुझे अभीष्ट नहीं है । मैं इससे संतुष्ट नहीं हूँ और न माताकी उस बातको स्वीकार ही करता हूँ ॥ १६ ॥

अहं तु तं नरव्याघ्रमुपयातः प्रसादकः ।
प्रतिनेतुमयोध्यायां पादौ चास्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

'मैं तो उन पुरुषसिंह श्रीरामको प्रसन्न करके अयोध्यामें लौटा लाने और उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिये जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

तं मामेवंगतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
शंस मे भगवन् रामः क्व सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

'इसी उद्देश्यसे मैं यहाँ आया हूँ । ऐसा समझकर आपको मुझपर कृपा करनी चाहिये । भगवन् ! आप मुझे बताइये कि इस समय महाराज श्रीराम कहाँ हैं ?' ॥

वसिष्ठादिभिर्ऋत्विग्भिर्याचितो भगवांस्ततः ।
उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद् भरतं वचः ॥ १९ ॥

इसके बाद वसिष्ठ आदि ऋत्विजोंने भी यह प्रार्थना की कि भरतका कोई अपराध नहीं है । आप इनपर प्रसन्न हों । तब भगवान् भरद्वाजने प्रसन्न होकर भरतसे कहा—॥ १९ ॥

त्वय्येतत् पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।
गुरुवृत्तिर्दमश्चैव साधूनां चानुयायिता ॥ २० ॥

'पुरुषसिंह ! तुम रघुकुलमें उत्पन्न हुए हो। तुममें गुरुजनोंकी सेवा, इन्द्रियसंयम तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुसरणका भाव होना उचित ही है ॥ २० ॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते दृढीकरणमस्त्विति ।
अपृच्छं त्वां तवात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥

'तुम्हारे मनमें जो बात है, उसे मैं जानता हूँ; तथापि मैंने इसलिये पूछा है कि तुम्हारा यह भाव और भी दृढ़ हो जाय तथा तुम्हारी कीर्तिका अधिकाधिक विस्तार हो ॥ २१ ॥

जाने च रामं धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।
अयं वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥

'मैं सीता और लक्ष्मणसहित धर्मज्ञ श्रीरामका पता जानता हूँ। ये तुम्हारे भ्राता श्रीरामचन्द्र महापर्वत चित्रकूटपर निवास करते हैं ॥ २२ ॥

श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः ।
एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं कामार्थकोविद ॥ २३ ॥

'अब कल तुम उस स्थानकी यात्रा करना। आज अपने मन्त्रियोंके साथ इस आश्रममें ही रहो। महाबुद्धिमान् भरत ! तुम मेरी इस अभीष्ट वस्तुको देनेमें समर्थ हो, अतः मेरी यह अभिलाषा पूर्ण करो' ॥ २३ ॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः
प्रतीतरूपो भरतोऽब्रवीद् वचः ।
चकार बुद्धिं च तदाश्रमे तदा
निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

तब जिनके स्वरूप एवं स्वभावका परिचय मिल गया था, उस उदार दृष्टिवाले भरतने 'तथास्तु' कहकर मुनिकी आज्ञा शिरोधार्य की तथा उन राजकुमारने उस समय रातको उस आश्रममें ही निवास करनेका विचार किया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवतितमः सर्गः ॥ ९० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नब्बेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९० ॥

एकनवतितमः सर्गः

भरद्वाज मुनिके द्वारा सेनासहित भरतका दिव्य सत्कार

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।
भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥

जब भरतने उस आश्रममें ही निवासका दृढ़ निश्चय कर लिया, तब मुनिने कैकेयीकुमार भरतको अपना आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये न्योता दिया ॥ १ ॥

अब्रवीद् भरतस्त्वेतं नन्विदं भवता कृतम् ।
पाद्यमर्घ्यमथातिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

यह सुनकर भरतने उनसे कहा—'मुने ! वनमें जैसा आतिथ्य-सत्कार सम्भव है, वह तो आप पाद्य, अर्घ्य और फल-मूल आदि देकर कर ही चुके' ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव ।
जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येन केनचित् ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर भरद्वाजजी भरतसे हँसते हुए-से बोले—'भरत ! मैं जानता हूँ, मेरे प्रति तुम्हारा प्रेम है; अतः मैं तुम्हें जो कुछ दूँगा, उसीसे तुम संतुष्ट हो जाओगे ॥ ३ ॥

सेनायास्तु तवैवास्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्हो मनुजर्षभ ॥ ४ ॥

'किंतु इस समय मैं तुम्हारी सेनाको भोजन कराना चाहता हूँ। नरश्रेष्ठ ! इससे मुझे प्रसन्नता होगी और जिस तरह मुझे प्रसन्नता हो, वैसा कार्य तुम्हें अवश्य करना चाहिये ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः ।
कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

'पुरुषप्रवर ! तुम अपनी सेनाको किसलिये इतनी दूर छोड़कर यहाँ आये हो, सेनासहित यहाँ क्यों नहीं आये ?' ॥५॥

भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।
न सैन्येनोपयातोऽस्मि भगवन् भगवद्भयात् ॥ ६ ॥

तब भरतने हाथ जोड़कर उन तपोधन मुनिको उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं आपके ही भयसे सेनाके साथ यहाँ नहीं आया ॥ ६ ॥

राज्ञा हि भगवन् नित्यं राजपुत्रेण वा तथा ।
यत्नतः परिहर्तव्या विषयेषु तपस्विनः ॥ ७ ॥

'प्रभो ! राजा और राजपुत्रको चाहिये कि वे सभी देशोंमें प्रयत्नपूर्वक तपस्वीजनोंको दूर छोड़कर रहें (क्योंकि उनके द्वारा उन्हें कष्ट पहुँचनेकी सम्भावना रहती है) ॥ ७ ॥

वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः ।
प्रच्छाद्य भगवन् भूमिं महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥

'भगवन् ! मेरे साथ बहुत-से अच्छे-अच्छे घोड़े, मनुष्य और मतवाले गजराज हैं, जो बहुत बड़े भूभाग को ढककर मेरे पीछे-पीछे चलते हैं ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषूटजांस्तथा ।
न हिंस्युरिति तेनाहमेक एवागतस्ततः ॥ ९ ॥

'वे आश्रमके वृक्ष, जल, भूमि और पर्णशालाओंको हानि न पहुँचायें, इसलिये मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ' ॥ ९ ॥

आनीयतामितः सेनेत्याज्ञप्तः परमर्षिणा ।
तथानुचक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तदनन्तर उन महर्षिने आज्ञा दी कि 'सेनाको यहीं ले आओ ।' तब भरतने सेनाको वहीं बुलवा लिया ॥ १० ॥

अग्निशालां प्रविश्याथ पीत्वापः परिमृज्य च ।
आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ ११ ॥

इसके बाद मुनिवर भरद्वाजने अग्निशालामें प्रवेश करके जलका आचमन किया और ओठ पोंछकर भरतके आतिथ्य-सत्कारके लिये विश्वकर्मा आदिका आवाहन किया ॥ ११ ॥

आह्वये विश्वकर्माणमहं त्वष्टारमेव च ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १२ ॥

वे बोले—'मैं विश्वकर्मा त्वष्टा देवताका आवाहन करता हूँ। मेरे मनमें सेनासहित भरतका आतिथ्य-सत्कार करनेकी इच्छा हुई है । इसमें मेरे लिये वे आवश्यक प्रबन्ध करें ॥ १२ ॥

आह्वये लोकपालांस्त्रीन् देवान् शक्रपुरोगमान् ।
आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १३ ॥

'जिनके अगुआ इन्द्र हैं, उन तीन लोकपालोंका (अर्थात् इन्द्रसहित यम, वरुण और कुबेर नामक देवताओंका) मैं आवाहन करता हूँ । इस समय भरतका आतिथ्य-सत्कार करना चाहता हूँ, इसमें मेरे लिये वे लोग आवश्यक प्रबन्ध करें ॥ १३ ॥

प्राक्स्रोतसश्च या नद्यस्तिर्यक्स्रोतस एव च ।
पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥

'पृथिवी और आकाशमें जो पूर्व एवं पश्चिमकी ओर प्रवाहित होनेवाली नदियाँ हैं, उनका भी मैं आवाहन करता हूँ; वे सब आज यहाँ पधारें ॥ १४ ॥

अन्याः स्रवन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् ।
अपराश्चोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥ १५ ॥

'कुछ नदियाँ मैरेय प्रस्तुत करें । दूसरी अच्छी तरह तैयार की हुई सुरा ले आवें तथा अन्य नदियाँ ईखके पोरुओंमें होनेवाले रसकी भाँति मधुर एवं शीतल जल तैयार करके रखें ॥ १५ ॥

आह्वये देवगन्धर्वान् विश्वावसुहहाहुहून् ।
तथैवाप्सरसो देवगन्धर्वैश्चापि सर्वशः ॥ १६ ॥

'मैं विश्वावसु, हाहा और हूहू आदि देव-गन्धर्वोंका तथा उनके साथ समस्त अप्सराओंका भी आवाहन करता हूँ ॥ १६ ॥

घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुषाम् ।
नागदत्तां च हेमां च सोमामद्रिकृतस्थलीम् ॥ १७ ॥

'घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलम्बुषा, नागदत्ता, हेमा, सोमा तथा अद्रिकृतस्थली (अथवा पर्वतपर निवास करनेवाली सोमा) का भी मैं आवाहन करता हूँ ॥ १७ ॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च भामिनीः ।
सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाह्वये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

'जो अप्सराएँ इन्द्रकी सभामें उपस्थित होती हैं तथा जो देवाङ्गनाएँ ब्रह्माजीकी सेवामें जाया करती हैं, उन सबका मैं तुम्बुरुके साथ आवाहन करता हूँ । वे अलङ्कारों तथा नृत्य-गीतके लिये अपेक्षित अन्यान्य उपकरणोंके साथ यहाँ पधारें ॥ १८ ॥

वनं कुरुषु यद् दिव्यं वासोभूषणपत्रवत् ।
दिव्यनारीफलं शश्वत् तत्कौबेरमिहैव तु ॥ १९ ॥

'उत्तर कुरुवर्षमें जो दिव्य चैत्ररथ नामक वन है, जिसमें दिव्य वस्त्र और आभूषण ही वृक्षोंके पत्ते हैं और दिव्य नारियाँ ही फल हैं, कुबेरका वह सनातन दिव्य वन यहीं आ जाय ॥ १९ ॥

इह मे भगवान् सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् ।
भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं बहु ॥ २० ॥

'यहाँ भगवान् सोम मेरे अतिथियोंके लिये उत्तम अन्न, नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्यकी प्रचुर मात्रामें व्यवस्था करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च माल्यानि पादपप्रच्युतानि च ।
सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥ २१ ॥

'वृक्षोंसे तुरंत चुने गये नाना प्रकारके पुष्प, मधु आदि पेय पदार्थ तथा नाना प्रकारके फलोंके गूदे भी भगवान् सोम यहाँ प्रस्तुत करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिना युक्तस्तेजसाप्रतिमेन च ।
शिक्षास्वरसमायुक्तं सुव्रतश्चाब्रवीन्मुनिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार उत्तम व्रतका पालन करनेवाले भरद्वाज मुनिने एकाग्रचित्त और अनुपम तेजसे सम्पन्न हो शिक्षा (शिक्षाशास्त्रमें बतायी गयी उच्चारणविधि) और (व्याकरण-शास्त्रोक्त प्रकृति-प्रत्ययसम्बन्धी) स्वरसे युक्त वाणीमें उन सबका आवाहन किया ॥ २२ ॥

मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः ।
आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक् पृथक् ॥ २३ ॥

इस तरह आवाहन करके मुनि पूर्वाभिमुख हो हाथ जोड़े मन-ही-मन ध्यान करने लगे । उनके स्मरण करते ही वे सभी देवता एक-एक करके वहाँ आ पहुँचे ॥ २३ ॥

मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोऽनिलः ।
उपस्पृश्य ववौ युक्त्या सुप्रियात्मा सुखं शिवः ॥ २४ ॥

फिर तो वहाँ मलय और दर्दुर नामक पर्वतोंका स्पर्श करके बहनेवाली अत्यन्त प्रिय और सुखदायिनी हवा धीरे-

धीरे चलने लगी, जो स्पर्शमात्रसे शरीरके पसीनेको सुखा देनेवाली थी ॥ २४ ॥

ततोऽभ्यवर्षन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।
देवदुन्दुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रुवे ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् मेघगण दिव्य पुष्पोंकी वर्षा करने लगे । सम्पूर्ण दिशाओंमें देवताओंकी दुन्दुभियोंका मधुर शब्द सुनायी देने लगा ॥ २५ ॥

प्रववुश्चोत्तमा वाता ननृतुश्चाप्सरोगणाः ।
प्रजगुर्देवगन्धर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥ २६ ॥

उत्तम वायु चलने लगी । अप्सराओंके समुदायोंका नृत्य होने लगा । देवगन्धर्व गाने लगे और सब ओर वीणाओंकी स्वरलहरियाँ फैल गयीं ॥ २६ ॥

स शब्दो द्यां च भूमिं च प्राणिनां श्रवणानि च ।
विवेशोच्चावचः श्लक्ष्णः समो लयगुणान्वितः ॥ २७ ॥

सङ्गीतका वह शब्द पृथ्वी, आकाश तथा प्राणियोंके कर्णकुहरोंमें प्रविष्ट होकर गूँजने लगा । आरोह-अवरोहसे युक्त वह शब्द कोमल एवं मधुर था, समतालसे विशिष्ट और लयगुणसे सम्पन्न था ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेवंगते शब्दे दिव्ये श्रोतसुखे नृणाम् ।
ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

इस प्रकार मनुष्योंके कानोंको सुख देनेवाला वह दिव्य शब्द हो ही रहा था कि भरतकी सेनाको विश्वकर्माका निर्माणकौशल दिखायी पड़ा ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात् पञ्चयोजनम् ।
शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैदूर्यसंनिभैः ॥ २९ ॥

चारों ओर पाँच योजनतककी भूमि समतल हो गयी । उसपर नीलम और वैदूर्य मणिके समान नाना प्रकारकी घनी घास छा रही थी ॥ २९ ॥

तस्मिन् बिल्वाः कपित्थाश्च पनसा बीजपूरकाः ।
आमलक्यो बभूवुश्च चूताश्च फलभूषिताः ॥ ३० ॥

स्थान-स्थानपर बेल, कैथ, कटहल, आँवला, बिजौरा तथा आमके वृक्ष लगे थे, जो फलोंसे सुशोभित हो रहे थे ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् ।
आजगाम नदी सौम्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

उत्तर कुरुवर्षसे दिव्य भोगसामग्रियोंसे सम्पन्न चैत्ररथ नामक वन वहाँ आ गया । साथ ही वहाँकी रमणीय नदियाँ भी आ पहुँची, जो बहुसंख्यक तटवर्ती वृक्षोंसे घिरी हुई थीं ॥ ३१ ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् ।
हर्म्यप्रासादसंयुक्ततोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥

उज्ज्वल, चार-चार कमरोंसे युक्त गृह (अथवा गृहयुक्त चबूतरे) तैयार हो गये । हाथी और घोड़ोंके रहनेके लिये शालाएँ बन गयीं । अट्टालिकाओं तथा सतमंजिले महलोंसे युक्त सुन्दर नगरद्वार भी निर्मित हो गये ॥ ३२ ॥

सितमेघनिभं चापि राजवेश्म सुतोरणम् ।
शुक्लमाल्यकृताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम् ॥ ३३ ॥

राजपरिवारके लिये बना हुआ सुन्दर द्वारसे युक्त दिव्य भवन श्वेत बादलोंके समान शोभा पा रहा था । उसे सफेद फूलोंकी मालाओंसे सजाया और दिव्य सुगन्धित जलसे सींचा गया था ॥ ३३ ॥

चतुरस्रमसम्बाधं शयनासनयानवत् ।
दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं दिव्यभोजनवस्त्रवत् ॥ ३४ ॥

वह महल चौकोना तथा बहुत बड़ा था—उसमें संकीर्णताका अनुभव नहीं होता था । उसमें सोने, बैठने और सवारियोंके रहनेके लिये अलग-अलग स्थान थे । वहाँ सब प्रकारके दिव्य रस, दिव्य भोजन और दिव्य वस्त्र प्रस्तुत थे ॥ ३४ ॥

उपकल्पितसर्वान्नं धौतनिर्मलभाजनम् ।
क्लृप्तसर्वासनं श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

सब तरहके अन्न और धुले हुए स्वच्छ पात्र रखे गये थे । उस सुन्दर भवनमें कहीं बैठनेके लिये सब प्रकारके आसन उपस्थित थे और कहीं सोनेके लिये सुन्दर शय्याएँ बिछी थीं ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महाबाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।
वेश्म तद् रत्नसम्पूर्णं भरतः कैकयीसुतः ॥ ३६ ॥
अनुजग्मुश्च ते सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।
बभूवुश्च मुदा युक्तास्तं दृष्ट्वा वेश्मसंविधिम् ॥ ३७ ॥

महर्षि भरद्वाजकी आज्ञासे कैकेयीपुत्र महाबाहु भरतने नाना प्रकारके रत्नोंसे भरे हुए उस महलमें प्रवेश किया । उनके साथ-साथ पुरोहित और मन्त्री भी उसमें गये । उस भवनका निर्माणकौशल देखकर उन सब लोगोंको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३६-३७ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।
भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तत राजवत् ॥ ३८ ॥

उस भवनमें भरतने दिव्य राजसिंहासन, चँवर और छत्र भी देखे तथा वहाँ राजा श्रीरामकी भावना करके मन्त्रियोंके साथ उन समस्त राजभोग्य वस्तुओंकी प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।
वालव्यजनमादाय न्यषीदत् सचिवासने ॥ ३९ ॥

सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजी महाराज विराजमान हैं, ऐसी धारणा बनाकर उन्होंने श्रीरामको प्रणाम किया और उस सिंहासनकी भी पूजा की । फिर अपने हाथमें चँवर ले, वे मन्त्रीके आसनपर जा बैठे ॥ ३९ ॥

आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः।
ततः सेनापतिः पश्चात् प्रशास्ता च न्यषीदत ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् पुरोहित और मन्त्री भी क्रमशः अपने योग्य आसनोंपर बैठे; फिर सेनापति और प्रशास्ता (छावनीकी रक्षा करनेवाले) भी बैठ गये ॥ ४० ॥

ततस्तत्र मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः।
उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

तदनन्तर वहाँ दो ही घड़ीमें भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे भरतकी सेवामें नदियाँ उपस्थित हुईं, जिनमें कीचके स्थानमें खीर भरी थी ॥ ४१ ॥

आसामुभयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः।
रम्याश्चावसथा दिव्या ब्राह्मणस्य प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

उन नदियोंके दोनों तटोंपर ब्रह्मर्षि भरद्वाजकी कृपासे दिव्य एवं रमणीय भवन प्रकट हो गये थे, जो चूनेसे पुते हुए थे ॥ ४२ ॥

तेनैव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः।
आगुर्विंशतिसाहस्रा ब्रह्मणा प्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उसी मुहूर्तमें ब्रह्माजीकी भेजी हुई दिव्य आभूषणोंसे विभूषित बीस हजार दिव्याङ्गनाएँ वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥

सुवर्णमणिमुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः।
आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥
याभिर्गृहीतः पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते।

इसी तरह सुवर्ण, मणि, मुक्ता और मूँगोंके आभूषणोंसे सुशोभित, कुबेरकी भेजी हुई बीस हजार दिव्य महिलाएँ भी वहाँ उपस्थित हुईं, जिनका स्पर्श पाकर पुरुष उन्माद-ग्रस्त-सा दिखायी देता है ॥ ४४½ ॥

आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥
नारदस्तुम्बुरुर्गोपः प्रभया सूर्यवर्चसः।
एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

इनके सिवा नन्दनवनसे बीस हजार अप्सराएँ भी आयीं। नारद, तुम्बुरु और गोप अपनी कान्तिसे सूर्यके समान प्रकाशित होते थे। ये तीनों गन्धर्वराज भरतके सामने गीत गाने लगे ॥ ४५-४६ ॥

अलम्बुषा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना।
उपानृत्यन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और वामना—ये चार अप्सराएँ भरद्वाज मुनिकी आज्ञासे भरतके समीप नृत्य करने लगीं ॥ ४७ ॥

यानि माल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने।
प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४८ ॥

जो फूल देवताओंके उद्यानोंमें और जो चैत्ररथ वनमें हुआ करते हैं, वे महर्षि भरद्वाजके प्रतापसे प्रयागमें दिखायी देने लगे ॥ ४८ ॥

बिल्वा मार्दङ्गिका आसञ् शम्याग्राहा बिभीतकाः।
अश्वत्था नर्तकाश्चासन् भरद्वाजस्य तेजसा ॥ ४९ ॥

भरद्वाज मुनिके तेजसे बेलके वृक्ष मृदङ्ग बजाते, बहेड़े-के पेड़ शम्या नामक ताल देते और पीपलके वृक्ष वहाँ नृत्य करते थे ॥ ४९ ॥

ततः सरलतालाश्च तिलकाः सतमालकाः।
प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुब्जा भूत्वाथ वामनाः ॥ ५० ॥

तदनन्तर देवदारु, ताल, तिलक और तमाल नामक वृक्ष कुबड़े और बौने बनकर बड़े हर्षके साथ भरतकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ५० ॥

शिंशपाऽऽमलकी जम्बूर्याश्चान्याः कानने लताः।
मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः।
प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन् ॥ ५१ ॥

शिंशपा, आमलकी और जम्बू आदि स्त्रीलिङ्ग वृक्ष तथा मालती, मल्लिका और जाति आदि वनकी लताएँ नारीका रूप धारण करके भरद्वाज मुनिके आश्रममें आ बसीं ॥ ५१ ॥

सुरां सुरापाः पिबत पायसं च बुभुक्षिताः।
मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति ॥ ५२ ॥

(वे भरतके सैनिकोंको पुकार-पुकारकर कहती थीं—) 'मधुका पान करनेवाले लोगो ! लो, यह मधु पान कर लो। तुममेंसे जिन्हें भूख लगी हो, वे सब लोग यह खीर खाओ और परम पवित्र फलोंके गूदे भी प्रस्तुत हैं, इनका आस्वादन करो। जिसकी जो इच्छा हो, वही भोजन करो' ॥ ५२ ॥

उच्छोद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वल्गुषु।
अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ॥ ५३ ॥

सात-आठ तरुणी स्त्रियाँ मिलकर एक-एक पुरुषको नदी-के मनोहर तटोंपर उबटन लगा-लगाकर नहलाती थीं ॥ ५३ ॥

संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो विपुललोचनाः।
परिमृज्य तदान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ॥ ५४ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंवाली सुन्दरी रमणियाँ अतिथियोंका पैर दबानेके लिये आयी थीं। वे उनके भीगे हुए अङ्गोंको वस्त्रोंसे पोंछकर शुद्ध वस्त्र धारण कराकर उन्हें स्वादिष्ट पेय (दूध आदि) पिलाती थीं ॥ ५४ ॥

हयान् गजान् खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः सुतान्।
अभोजयन् वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ॥ ५५ ॥

तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न वाहनोंकी रक्षामें नियुक्त मनुष्योंने हाथी, घोड़े, गधे, ऊँट और बैलोंको भलीभाँति दाना-घास आदिका भोजन कराया ॥ ५५ ॥

इक्षूंश्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म वाहनान्।
इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ॥ ५६ ॥

इक्ष्वाकुकुलके श्रेष्ठ योद्धाओंकी सवारीमें आनेवाले वाहनोंको वे महाबली वाहन-रक्षक (जिन्हें महर्षिने सेवाके लिये नियुक्त किया था) प्रेरणा दे-देकर गन्नेके टुकड़े और मधुमिश्रित लावे खिलाते थे ॥ ५६ ॥

नाश्वबन्धोऽश्वमाजानान्न गजं कुञ्जरग्रहः ।
मत्तप्रमत्तमुदिता सा चमूस्तत्र सम्बभौ ॥ ५७ ॥

घोड़े बाँधनेवाले सईसको अपने घोड़ेका और हाथीवान-को अपने हाथीका कुछ पता नहीं था । सारी सेना वहाँ मत्त-प्रमत्त और आनन्दमग्न प्रतीत होती थी ॥ ५७ ॥

तर्पिताः सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः ।
अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदीरयन् ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंसे तृप्त होकर लाल चन्दनसे चर्चित हुए सैनिक अप्सराओंका संयोग पाकर निम्नाङ्कित बातें कहने लगे—॥ ५८ ॥

नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ।
कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ॥ ५९ ॥

'अब हम अयोध्या नहीं जायँगे, दण्डकारण्यमें भी नहीं जायँगे । भरत सकुशल रहें (जिनके कारण हमें इस भूतलपर स्वर्गका सुख मिला) तथा श्रीरामचन्द्रजी भी सुखी रहें (जिनके दर्शनके लिये आनेपर हमें इस दिव्य सुखकी प्राप्ति हुई)' ॥ ५९ ॥

इति पादातयोधाश्च हस्त्यश्वारोहबन्धकाः ।
अनाथास्तं विधिं लब्ध्वा वाचमेतामुदीरयन् ॥ ६० ॥

इस प्रकार पैदल सैनिक तथा हाथीसवार, घुड़सवार, सईस और महावत आदि उस सत्कारको पाकर स्वच्छन्द हो उपर्युक्त बातें कहने लगे ॥ ६० ॥

सम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते नरास्तत्र सहस्रशः ।
भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ॥ ६१ ॥

भरतके साथ आये हुए हजारों मनुष्य वहाँका वैभव देखकर हर्षके मारे फूले नहीं समाते थे और जोर-जोरसे कहते थे—यह स्थान स्वर्ग है ॥ ६१ ॥

नृत्यन्तश्च हसन्तश्च गायन्तश्चैव सैनिकाः ।
समन्तात् परिधावन्तो माल्योपेताः सहस्रशः ॥ ६२ ॥

सहस्रों सैनिक फूलोंके हार पहनकर नाचते, हँसते और गाते हुए सब ओर दौड़ते फिरते थे ॥ ६२ ॥

ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम् ।
दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यांस्तानभवद् भक्षणे मतिः ॥ ६३ ॥

उस अमृतके समान स्वादिष्ट अन्नका भोजन कर चुकनेपर भी उन दिव्य भक्ष्य पदार्थोंको देखकर उन्हें पुनः भोजन करनेकी इच्छा हो जाती थी ॥ ६३ ॥

प्रेष्याश्चेट्यश्च वध्यश्च बलस्थाश्चापि सर्वशः ।
बभूवुस्ते भृशं प्रीताः सर्वे चाहतवाससः ॥ ६४ ॥

दास-दासियाँ, सैनिकोंकी स्त्रियाँ और सैनिक सब-के-सब नूतन वस्त्र धारण करके सब प्रकारसे अत्यन्त प्रसन्न हो गये थे ॥ ६४ ॥

कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोऽश्वाश्च मृगपक्षिणः ।
बभूवुः सुभृतास्तत्र नातो ह्यन्यमकल्पयत् ॥ ६५ ॥

हाथी, घोड़े, गदहे, ऊँट, बैल, मृग तथा पक्षी भी वहाँ पूर्ण तृप्त हो गये थे; अतः कोई दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता था ॥ ६५ ॥

नाशुक्लवासास्तत्रासीत् क्षुधितो मलिनोऽपि वा ।
रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ॥ ६६ ॥

उस समय वहाँ कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं दिखायी देता था, जिसके कपड़े सफेद न हों, जो भूखा या मलिन रह गया हो, अथवा जिसके केश धूलसे धूसरित हो गये हों ॥ ६६ ॥

आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः ।
फलनिर्यूहसंसिद्धैः सूपैर्गन्धरसान्वितैः ॥ ६७ ॥
पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः ।
ददृशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ॥ ६८ ॥

अजवाइन मिलाकर बनाये गये, वराही कन्दसे तैयार किये गये तथा आम आदि फलोंके गरम किये हुए रसमें पकाये गये उत्तमोत्तम व्यञ्जनोंके संग्रहों, सुगन्धयुक्त रसवाली दालों तथा श्वेत रंगके भातोंसे भरे हुए सहस्रों सुवर्ण आदिके पात्र वहाँ सब ओर रखे हुए थे, जिन्हें फूलोंकी ध्वजाओंसे सजाया गया था । भरतके साथ आये हुए सब लोगोंने उन पात्रोंको आश्चर्यचकित होकर देखा ॥ ६७-६८ ॥

बभूवुर्वनपार्श्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ।
ताश्च कामदुघा गावो द्रुमाश्चासन् मधुश्च्युतः ॥ ६९ ॥

वनके आस-पास जितने कुएँ थे, उन सबमें गाढ़ी स्वादिष्ट खीर भरी हुई थी । वहाँकी गौएँ कामधेनु (सब प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाली) हो गयी थीं और उस दिव्य वनके वृक्ष मधुकी वर्षा करते थे ॥ ६९ ॥

वाप्यो मैरेयपूर्णाश्च मृष्टमांसचयैर्वृताः ।
प्रतप्तपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौक्कुटैः ॥ ७० ॥

भरतकी सेनामें आये हुए निषाद आदि निम्नवर्गके लोगोंकी तृप्तिके लिये वहाँ मधुसे भरी हुई बावड़ियाँ प्रकट हो गयी थीं तथा उनके तटोंपर तपे हुए पिठर (कुण्ड) में पकाये गये मृग, मोर और मुर्गोंके स्वच्छ मांस भी ढेर-के-ढेर रख दिये गये थे ॥ ७० ॥

पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां नियुतानि च ।
न्यर्बुदानि च पात्राणि शातकुम्भमयानि च ॥ ७१ ॥

वहाँ सहस्रों सोनेके अन्नपात्र, लाखों व्यञ्जनपात्र और लगभग एक अरब थालियाँ संगृहीत थीं ॥ ७१ ॥

स्थाल्यः कुम्भ्यः करम्भ्यश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृताः ।
यौवनस्थस्य गौरस्य कपित्थस्य सुगन्धिनः ॥ ७२ ॥

ह्रदाः पूर्णा रसालस्य दध्नः श्वेतस्य चापरे।
बभूवुः पायसस्यान्ये शर्कराणां च संचयाः॥ ७३॥

पिठर, छोटे-छोटे घड़े तथा मटके दहीसे भरे हुए थे और उनमें दहीको सुस्वादु बनानेवाले सोंठ आदि मसाले पड़े हुए थे। एक पहर पहलेके तैयार किये हुए केसरमिश्रित पीतवर्णवाले सुगन्धित तक्रके कई तालाब भरे हुए थे। जीरा आदि मिलाये हुए तक्र (रसाल), सफेद दही तथा दूधके भी कई कुण्ड पृथक्-पृथक् भरे हुए थे। शक्करोंके कई ढेर लगे थे॥ ७२-७३॥

कल्कांश्चूर्णकषायांश्च स्नानानि विविधानि च।
ददृशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः॥ ७४॥

स्नान करनेवाले मनुष्योंको नदीके घाटोंपर भिन्न-भिन्न पात्रोंमें पीसे हुए आँवले, सुगन्धित चूर्ण तथा और भी नाना प्रकारके स्नानोपयोगी पदार्थ दिखायी देते थे॥ ७४॥

शुक्लानंशुमतश्चापि दन्तधावनसंचयान्।
शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च समुद्गेष्ववतिष्ठतः॥ ७५॥

साथ ही ढेर-के-ढेर दाँतन, जो सफेद कूँचेवाले थे, वहाँ रखे हुए थे। सम्पुटोंमें घिसे हुए सफेद चन्दन विद्यमान थे। इन सब वस्तुओंको लोगोंने देखा॥ ७५॥

दर्पणान् परिमृष्टांश्च वाससां चापि संचयान्।
पादुकोपानहं चैव युग्मान्यत्र सहस्रशः॥ ७६॥

इतना ही नहीं, वहाँ बहुत-से स्वच्छ दर्पण, ढेर-के-ढेर वस्त्र और हजारों जोड़े खड़ाऊँ और जूते भी दिखायी देते थे॥

आञ्जनीः कङ्कतान् कूर्चांश्छत्राणि च धनूंषि च।
मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च॥ ७७॥

काजलोंसहित कजरौटे, कंघे, कूर्च (थकरी या ब्रश), छत्र, धनुष, मर्मस्थानोंकी रक्षा करनेवाले कवच आदि तथा विचित्र शय्या और आसन भी वहाँ दृष्टिगोचर होते थे॥

प्रतिपानह्रदान् पूर्णान् खरोष्ट्रगजवाजिनाम्।
अवगाह्यसुतीर्थांश्च ह्रदान् सोत्पलपुष्करान्।
आकाशवर्णप्रतिमान् स्वच्छतोयान् सुखाप्लवान्॥ ७८॥

गधे, ऊँट, हाथी और घोड़ोंके पानी पीनेके लिये कई जलाशय भरे थे, जिनके घाट बड़े सुन्दर और सुखपूर्वक उतरनेयोग्य थे। उन जलाशयोंमें कमल और उत्पल शोभा पा रहे थे। उनका जल आकाशके समान स्वच्छ था तथा उनमें सुखपूर्वक तैरा जा सकता था॥ ७८॥

नीलवैदूर्यवर्णांश्च मृदून् यवससंचयान्।
निर्वापार्थं पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः॥ ७९॥

पशुओंके खानेके लिये वहाँ सब ओर नील वैदूर्यमणिके समान रंगवाली हरी एवं कोमल घासकी ढेरियाँ लगी थीं। उन सब लोगोंने वे सारी वस्तुएँ देखीं॥ ७९॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम्।
दृष्ट्वाऽऽतिथ्यं कृतं तादृग् भरतस्य महर्षिणा॥ ८०॥

महर्षि भरद्वाजके द्वारा सेनासहित भरतका किया हुआ वह अनिर्वचनीय आतिथ्य-सत्कार अद्भुत और स्वप्नके समान था। उसे देखकर वे सब मनुष्य आश्चर्यचकित हो उठे॥

इत्येवं रममाणानां देवानामिव नन्दने।
भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिर्व्यत्यवर्तत॥ ८१॥

जैसे देवता नन्दनवनमें विहार करते हैं, उसी प्रकार भरद्वाज मुनिके रमणीय आश्रममें यथेष्ट क्रीड़ा-विहार करते हुए उन लोगोंकी वह रात्रि बड़े सुखसे बीती॥ ८१॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम्।
भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः॥ ८२॥

तत्पश्चात् वे नदियाँ, गन्धर्व और समस्त सुन्दरी अप्सराएँ भरद्वाजजीकी आज्ञा ले जैसे आयी थीं, उसी प्रकार लौट गयीं॥ ८२॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नरा-
स्तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः।
तथैव दिव्या विविधाः स्रगुत्तमाः
पृथग्विकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः॥ ८३॥

सवेरा हो जानेपर भी लोग उसी प्रकार मधुपानसे मत्त एवं उन्मत्त दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंपर दिव्य अगुरु-युक्त चन्दनका लेप ज्यों-का-त्यों दृष्टिगोचर हो रहा था। मनुष्योंके उपभोगमें लाये गये नाना प्रकारके दिव्य उत्तम पुष्पहार भी उसी अवस्थामें पृथक्-पृथक् बिखरे पड़े थे॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकनवतितमः सर्गः॥ ९१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ९१॥

द्विनवतितमः सर्गः

भरतका भरद्वाज मुनिसे जानेकी आज्ञा लेते हुए श्रीरामके आश्रमपर जानेका मार्ग जानना और मुनिको अपनी माताओंका परिचय देकर वहाँसे चित्रकूटके लिये सेनासहित प्रस्थान करना

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः।
कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम ह॥ १॥

परिवारसहित भरत इच्छानुसार मुनिका आतिथ्य ग्रहण करके रातभर आश्रममें ही रहे। फिर सवेरे जानेकी आज्ञा लेनेके लिये वे महर्षि भरद्वाजके पास गये॥ १॥

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्रेक्ष्य प्राञ्जलिमागतम्।
हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत॥ २॥

पुरुषसिंह भरतको हाथ जोड़े अपने पास आया देख भरद्वाजजी अग्निहोत्रका कार्य करके उनसे बोले—॥ २॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता।

समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

'निष्पाप भरत ! क्या हमारे इस आश्रममें तुम्हारी यह रात सुखसे बीती है ? क्या तुम्हारे साथ आये हुए सब लोग इस आतिथ्यसे संतुष्ट हुए हैं ? यह बताओ' ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।
आश्रमादुपनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

तब भरतने आश्रमसे बाहर निकले हुए उन उत्तम तेजस्वी महर्षिको प्रणाम करके उनसे हाथ जोड़कर कहा—॥

सुखोषितोऽस्मि भगवन् समग्रबलवाहनः ।
बलवत्तर्पितश्चाहं बलवान् भगवंस्त्वया ॥ ५ ॥

'भगवन् ! मैं सम्पूर्ण सेना और सवारीके साथ यहाँ सुखपूर्वक रहा हूँ तथा सैनिकोंसहित मुझे पूर्णरूपसे तृप्त किया गया है ॥ ५ ॥

अपेतक्लमसंतापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः ।
अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥

'सेवकोंसहित हम सब लोग ग्लानि और संतापसे रहित हो उत्तम अन्न-पान ग्रहण करके सुन्दर गृहोंका आश्रय ले बड़े सुखसे यहाँ रातभर रहे हैं ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन् कामं त्वामृषिसत्तम ।
समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मुनिश्रेष्ठ ! अब मैं अपनी इच्छाके अनुसार आपसे आज्ञा लेने आया हूँ और अपने भाईके समीप प्रस्थान कर रहा हूँ; आप मुझे स्नेहपूर्ण दृष्टिसे देखिये ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।
आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

'धर्मज्ञ मुनीश्वर ! बताइये, धर्मपरायण महात्मा श्रीरामका आश्रम कहाँ है ? कितनी दूर है ? और वहाँ पहुँचनेके लिये कौन-सा मार्ग है ? इसका भी मुझसे स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये'॥

इति पृष्टस्तु भरतं भ्रातुर्दर्शनलालसम् ।
प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर महातपस्वी, महातेजस्वी भरद्वाजमुनिने भाईके दर्शनकी लालसावाले भरतको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ९ ॥

भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने ।
चित्रकूटगिरिस्तत्र रम्यनिर्झरकाननः ॥ १० ॥

'भरत ! यहाँसे ढाई योजन (दस कोस)* की दूरी-पर एक निर्जन वनमें चित्रकूटनामक पर्वत है, जहाँके झरने और वन बड़े ही रमणीय हैं (प्रयागसे चित्रकूटकी आधुनिक दूरी लगभग २८ कोस है) ॥ १० ॥

उत्तरं पार्श्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।
पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥
अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटं च पर्वतम् ।
तयोः पर्णकुटीं तात तत्र तौ वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

'उसके उत्तरी किनारेसे मन्दाकिनी नदी बहती है, जो फूलोंसे लदे सघन वृक्षोंसे आच्छादित रहती है, उसके आस-पासका वन बड़ा ही रमणीय और नाना प्रकारके पुष्पोंसे सुशोभित है । उस नदीके उस पार चित्रकूट पर्वत है । तात ! वहाँ पहुँचकर तुम नदी और पर्वतके बीचमें श्रीरामकी पर्णकुटी देखोगे । वे दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण निश्चय ही उसीमें निवास करते हैं ॥ ११-१२ ॥

दक्षिणेन च मार्गेण सव्यदक्षिणमेव च ।
गजवाजिसमाकीर्णां वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥
वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ।

'सेनापते ! तुम यहाँसे हाथी-घोड़ोंसे भरी हुई अपनी सेना लेकर पहले यमुनाके दक्षिणी किनारेसे जो मार्ग गया है, उससे जाओ । आगे जाकर दो रास्ते मिलेंगे, उनमेंसे जो रास्ता बायें दाबकर दक्षिण दिशाकी ओर गया है, उसीसे सेनाको ले जाना । महाभाग ! उस मार्गसे चलकर तुम शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन पा जाओगे ॥ १३½ ॥

प्रयाणमिति च श्रुत्वा राजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥
हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् ।

'अब यहाँसे प्रस्थान करना है'—यह सुनकर महाराज दशरथकी स्त्रियाँ जो सवारीपर ही रहने योग्य थीं, सवारियोंको छोड़कर ब्रह्मर्षि भरद्वाजको प्रणाम करनेके लिये उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़ी हो गयीं ॥ १४½ ॥

वेपमाना कृशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥
कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ।

उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दीन हुई देवी कौसल्याने, जो काँप रही थीं, सुमित्रा देवीके साथ अपने दोनों हाथोंसे भरद्वाज मुनिके पैर पकड़ लिये ॥

असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥
कैकेयी तत्र जग्राह चरणौ सव्यपत्रपा ।
तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥
अदूराद् भरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।

तत्पश्चात् जो अपनी असफल कामनाके कारण सब लोगोंके लिये निन्दित हो गयी थी, उस कैकेयीने लज्जित होकर वहाँ मुनिके चरणोंका स्पर्श किया और उन महामुनि भगवान् भरद्वाजकी परिक्रमा करके वह दीनचित्त हो उस समय भरतके ही पास आकर खड़ी हो गयी ॥ १६—१७½ ॥

तत्र पप्रच्छ भरतं भरद्वाजो महामुनिः ॥ १८ ॥

---

* सर्ग ५४ के श्लोक २८ में मूल ग्रन्थमें दस कोसकी दूरी लिखी है और यहाँ ढाई योजन । दोनों स्थलोंमें दस कोसका ही संकेत है । रामायणशिरोमणि नामक व्याख्यामें दोनों जगह कपि-जलाधिकरणन्यायसे अथवा एकशेषके द्वारा यह दूरी तिगुनी करके दिखायी गयी है । प्रयागसे चित्रकूटकी दूरी लगभग २८ कोसकी मानी जाती है । रामायणशिरोमणि-कारकी मान्यताके अनुसार ३० कोसकी दूरीमें और इस दूरीमें अधिक अन्तर नहीं है । मीलका माप पुराने कोश-मानकी अपेक्षा छोटा है, इसलिये ८० मीलकी यह दूरी मानी जाती है ।

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातृणां तव राघव ।

तब महामुनि भरद्वाजने वहाँ भरतसे पूछा—'रघुनन्दन ! तुम्हारी इन माताओंका विशेष परिचय क्या है ? यह मैं जानना चाहता हूँ' ॥ १८½ ॥

एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥
उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा वाक्यं वचनकोविदः ।

भरद्वाजके इस प्रकार पूछनेपर बोलनेकी कलामें कुशल धर्मात्मा भरतने हाथ जोड़कर कहा—॥ १९½ ॥

यामिमां भगवन् दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥ २० ॥
पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ।
एषां तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥
कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदितिर्यथा ।

'भगवन् ! आप जिन्हें शोक और उपवासके कारण अत्यन्त दुर्बल एवं दुखी देख रहे हैं, जो देवी-सी दृष्टिगोचर हो रही हैं, ये मेरे पिताकी सबसे बड़ी महारानी कौसल्या हैं । जैसे अदितिने धाता नामक आदित्यको उत्पन्न किया था, उसी प्रकार इन कौसल्या देवीने सिंहके समान पराक्रमसूचक गतिसे चलनेवाले पुरुषसिंह श्रीरामको जन्म दिया है ॥ २०–२१½ ॥

अस्या वामभुजं श्लिष्टा या सा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥
इयं सुमित्रा दुःखार्ता देवी राज्ञश्च मध्यमा ।
कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ॥ २३ ॥
एतस्यास्तौ सुतौ देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ।
उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ॥ २४ ॥

'इनकी बायीं बाँहसे सटकर जो उदास मनसे खड़ी हैं तथा दुःखसे आतुर हो रही हैं और आभूषणशून्य होनेसे वनके भीतर झड़े हुए पुष्पवाली कनेरकी डालके समान दिखायी देती हैं, ये महाराजकी मझली रानी देवी सुमित्रा हैं । सत्यपराक्रमी वीर तथा देवताओंके तुल्य कान्तिमान् वे दोनों भाई—राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न इन्हीं सुमित्रा देवीके पुत्र हैं ॥ २२–२४ ॥

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ।
राजा पुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ॥ २५ ॥
क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम् ।
ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यामार्यरूपिणीम् ॥ २६ ॥
ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ।
यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ॥ २७ ॥

'और जिसके कारण पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण यहाँसे प्राण-सङ्कटकी अवस्था (वनवास) में जा पहुँचे हैं तथा राजा दशरथ पुत्रवियोगका कष्ट पाकर स्वर्गवासी हुए हैं, जो स्वभावसे ही क्रोध करनेवाली, अशिक्षित बुद्धिवाली, गर्वीली, अपने-आपको सबसे अधिक सुन्दरी और भाग्यवती समझनेवाली तथा राज्यका लोभ रखनेवाली है, जो शक्ल-सूरतसे आर्या होनेपर भी वास्तवमें अनार्या है, इस कैकेयीको मेरी माता समझिये । यह बड़ी ही क्रूर और पापपूर्ण विचार रखनेवाली है । मैं अपने ऊपर जो महान् संकट आया हुआ देख रहा हूँ, इसका मूल कारण यही है' ॥ २५–२७ ॥

इत्युक्त्वा नरशार्दूलो बाष्पगद्गदया गिरा ।
विनिःश्वस्य स ताम्राक्षः क्रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २८ ॥

अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार कहकर लाल आँखें किये पुरुषसिंह भरत रोषसे भरकर फुफकारते हुए सर्पकी भाँति लंबी साँस खींचने लगे ॥ २८ ॥

भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तदा ।
प्रत्युवाच महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवित् ॥ २९ ॥

उस समय ऐसी बातें कहते हुए भरतसे श्रीरामावतारके प्रयोजनको जाननेवाले महाबुद्धिमान् महर्षि भरद्वाजने उनसे यह बात कही—॥ २९ ॥

न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ।
रामप्रव्राजनं ह्येतत् सुखोदर्कं भविष्यति ॥ ३० ॥

'भरत ! तुम कैकेयीके प्रति दोष-दृष्टि न करो । श्रीरामका यह वनवास भविष्यमें बड़ा ही सुखद होगा ॥ ३० ॥

देवानां दानवानां च ऋषीणां भावितात्मनाम् ।
हितमेव भविष्यद्धि रामप्रव्राजनादिह ॥ ३१ ॥

'श्रीरामके वनमें जानेसे देवताओं, दानवों तथा परमात्माका चिन्तन करनेवाले महर्षियोंका इस जगत्में हित ही होनेवाला है' ॥ ३१ ॥

अभिवाद्य तु संसिद्धः कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ।
आमन्त्र्य भरतः सैन्यं युज्यतामिति चाब्रवीत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामका पता जानकर और मुनिका आशीर्वाद पाकर कृतकृत्य हुए भरतने मुनिको मस्तक झुका उनकी प्रदक्षिणा करके जानेकी आज्ञा ले सेनाको कूचके लिये तैयार होनेका आदेश दिया ॥ ३२ ॥

ततो वाजिरथान् युक्त्वा दिव्यान् हेमविभूषितान् ।
अध्यारोहत् प्रयाणार्थं बहून् बहुविधो जनः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर अनेक प्रकारकी वेष-भूषावाले लोग बहुत-से दिव्य घोड़ों और दिव्य रथोंको, जो सुवर्णसे विभूषित थे, जोतकर यात्राके लिये उनपर सवार हुए ॥ ३३ ॥

गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः पताकिनः ।
जीमूता इव घर्मान्ते सघोषाः सम्प्रतस्थिरे ॥ ३४ ॥

बहुत-सी हथिनियाँ और हाथी, जो सुनहरे रस्सोंसे

कसे गये थे और जिनके ऊपर पताकाएँ फहरा रही थीं, वर्षा-कालके गरजते हुए मेघोंके समान घण्टानाद करते हुए वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ ३४ ॥

विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ।
प्रययुः सुमहार्हाणि पादैरपि पदातयः ॥ ३५ ॥

नाना प्रकारके छोटे-बड़े बहुमूल्य वाहनोंपर सवार हो उनके अधिकारी चले और पैदल सैनिक अपने पैरोंसे ही यात्रा करने लगे ॥ ३५ ॥

अथ यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः ।
रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ॥ ३६ ॥

तत्पश्चात् कौसल्या आदि रानियाँ उत्तम सवारियोंपर बैठकर श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी अभिलाषासे प्रसन्नता-पूर्वक चलीं ॥ ३६ ॥

चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिबिकां शुभाम् ।
आस्थाय प्रययौ श्रीमान् भरतः सपरिच्छदः ॥ ३७ ॥

इसी प्रकार श्रीमान् भरत नवोदित चन्द्रमा और सूर्यके समान कान्तिमती शिबिकामें बैठकर आवश्यक साम-ग्रियोंके साथ प्रस्थित हुए । उस शिबिकाको कहारोंने अपने कंधोंपर उठा रखा था ॥ ३७ ॥

सा प्रयाता महासेना गजवाजिसमाकुला ।
दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवोत्थितः ॥ ३८ ॥

हाथी-घोड़ोंसे भरी हुई वह विशाल वाहिनी दक्षिण दिशाको घेरकर उमड़ी हुई महामेघोंकी घटाके समान चल पड़ी ॥ ३८ ॥

वनानि च व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।
गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वथ नदीष्वपि ॥ ३९ ॥

गङ्गाके उस पार पर्वतों तथा नदियोंके निकटवर्ती वनोंको, जो मृगों और पक्षियोंसे सेवित थे, लाँघकर वह आगे बढ़ गयी ॥ ३९ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियूथा
वित्रासयन्ती मृगपक्षिसंघान् ।
महद्वनं तत् प्रविगाहमाना
रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ४० ॥

उस सेनाके हाथी और घोड़ोंके समुदाय बड़े प्रसन्न थे । जंगलके मृगों और पक्षिसमूहोंको भयभीत करती हुई भरतकी वह सेना उस विशाल वनमें प्रवेश करके वहाँ बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्विनवतितमः सर्गः ॥ ९२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९२ ॥

त्रिनवतितमः सर्गः

सेनासहित भरतकी चित्रकूट-यात्राका वर्णन

तया महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्प्रदुद्रुवुः ॥ १ ॥

यात्रा करनेवाली उस विशाल वाहिनीसे पीड़ित हो वनवासी यूथपति मतवाले हाथी आदि अपने यूथोंके साथ भाग चले ॥ १ ॥

ऋक्षाः पृषतमुख्याश्च रुरवश्च समन्ततः ।
दृश्यन्ते वनवाटेषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

रीछ, चितकबरे मृग तथा रुरु नामक मृग वनप्रदेशोंमें, पर्वतोंमें और नदियोंके तटोंपर चारों ओर उस सेनासे पीड़ित दिखायी देते थे ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दाशरथात्मजः ।
वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्गया ॥ ३ ॥

महान् कोलाहल करनेवाली उस विशाल चतुरंगिणी सेनासे घिरे हुए धर्मात्मा दशरथनन्दन भरत बड़ी प्रसन्नताके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ ३ ॥

सागरौघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः ।
महीं संछादयामास प्रावृषि द्यामिवाम्बुदः ॥ ४ ॥

जैसे वर्षा-ऋतुमें मेघोंकी घटा आकाशको ढक लेती है, उसी प्रकार महात्मा भरतकी समुद्र-जैसी उस विशाल सेनाने दूरतकके भूभागको आच्छादित कर लिया था ॥ ४ ॥

तुरंगौघैरवतता वारणैश्च महाबलैः ।
अनालक्ष्याचिरं कालं तस्मिन् काले बभूव सा ॥ ५ ॥

घोड़ोंके समूहों तथा महाबली हाथियोंसे भरी और दूरतक फैली हुई वह सेना उस समय बहुत देरतक दृष्टिमें ही नहीं आती थी ॥ ५ ॥

स गत्वा दूरमध्वानं सम्परिश्रान्तवाहनः ।

उवाच वचनं श्रीमान् वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥

दूरतकका रास्ता तै कर लेनेपर जब भरतकी सवारियाँ बहुत थक गयीं, तब श्रीमान् भरतने मन्त्रियोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीसे कहा— ॥ ६ ॥

यादृशं लक्ष्यते रूपं यथा चैव मया श्रुतम्।
व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! मैंने जैसा सुन रखा था और जैसा इस देशका स्वरूप दिखायी देता है, इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि भरद्वाजजीने जहाँ पहुँचनेका आदेश दिया था, उस देशमें हमलोग आ पहुँचे हैं ॥ ७ ॥

अयं गिरिश्चित्रकूटस्तथा मन्दाकिनी नदी।
एतत् प्रकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥

'जान पड़ता है यही चित्रकूट पर्वत है तथा वह मन्दाकिनी नदी बह रही है। यह पर्वतके आस-पासका वन दूरसे नील मेघके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति।
वारणैरवमृद्यन्ते मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

'इस समय मेरे पर्वताकार हाथी चित्रकूटके रमणीय शिखरोंका अवमर्दन कर रहे हैं ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु।
नीला इवातपापाये तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

'ये वृक्ष पर्वतशिखरोंपर उसी प्रकार फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं, जैसे वर्षाकालमें नील जलधर मेघ उनपर जलकी वृष्टि करते हैं' ॥ १० ॥

किंनराचरितं देशं पश्य शत्रुघ्न पर्वते।
हयैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

(इसके बाद भरत शत्रुघ्नसे कहने लगे—) 'शत्रुघ्न ! देखो, इस पर्वतकी उपत्यकामें जो देश है, जहाँपर किन्नर विचरा करते हैं, वही प्रदेश हमारी सेनाके घोड़ोंसे व्याप्त होकर मगरोंसे भरे हुए समुद्रके समान प्रतीत होता है ॥ ११ ॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः।
वायुप्रविद्धाः शरदि मेघजाला इवाम्बरे ॥ १२ ॥

'सैनिकोंके खदेड़े हुए ये मृगोंके झुंड तीव्र वेगसे भागते हुए वैसी ही शोभा पा रहे हैं, जैसे शरत्-कालके आकाशमें हवासे उड़ाये गये बादलोंके समूह सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति कुसुमापीडाञ्छिरःसु सुरभीनमी।
मेघप्रकाशैः फलकैर्दाक्षिणात्या नरा यथा ॥ १३ ॥

'ये सैनिक अथवा वृक्ष मेघके समान कान्तिवाली ढालोंसे उपलक्षित होनेवाले दक्षिण भारतीय मनुष्योंके समान अपने मस्तकों अथवा शाखाओंपर सुगन्धित पुष्प-गुच्छमय आभूषणों-को धारण करते हैं ॥ १३ ॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं घोरप्रदर्शनम्।
अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

'यह वन जो पहले जनरव-शून्य होनेके कारण अत्यन्त भयंकर दिखायी देता था, वही इस समय हमारे साथ आये हुए लोगोंसे व्याप्त होनेके कारण मुझे अयोध्या-पुरीके समान प्रतीत होता है ॥ १४ ॥

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति।
तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

'घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई धूल आकाशको आच्छादित करके स्थित होती है, परंतु उसे हवा मेरा प्रिय करती हुई-सी शीघ्र ही अन्यत्र उड़ा ले जाती है ॥ १५ ॥

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान् सूतमुख्यैरधिष्ठितान्।
एतान् सम्पततः शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

शत्रुघ्न ! देखो, इस वनमें घोड़ोंसे जुते हुए और श्रेष्ठ सारथियोंद्वारा संचालित हुए ये रथ कितनी शीघ्रतासे आगे बढ़ रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान् वित्रासितान् पश्य बर्हिणः प्रियदर्शनान्।
एवमापततः शैलमधिवासं पतत्रिणः ॥ १७ ॥

'जो देखनेमें बड़े प्यारे लगते हैं उन मोरोंको तो देखो। ये हमारे सैनिकोंके भयसे कितने डरे हुए हैं। इसी प्रकार अपने आवास-स्थान पर्वतकी ओर उड़ते हुए अन्य पक्षियोंपर भी दृष्टिपात करो ॥ १७ ॥

अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मे।
तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथोऽनघ ॥ १८ ॥

'निष्पाप शत्रुघ्न ! यह देश मुझे बड़ा ही मनोहर प्रतीत होता है। तपस्वी जनोंका यह निवासस्थान वास्तवमें स्वर्गीय पथ है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृषता वने।
मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥ १९ ॥

'इस वनमें मृगियोंके साथ विचरनेवाले बहुत-से चित-कबरे मृग ऐसे मनोहर दिखायी देते हैं, मानो इन्हें फूलोंसे चित्रित—सुसज्जित किया गया हो ॥ १९ ॥

साधु सैन्याः प्रतिष्ठन्तां विचिन्वन्तु च काननम्।
यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

मेरे सैनिक यथोचित रूपसे आगे बढ़ें और वनमें सब ओर खोजें, जिससे उन दोनों पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणका पता लग जाय' ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।
विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरतका यह वचन सुनकर बहुत-से शूरवीर पुरुषोंने हाथोंमें हथियार लेकर उस वनमें प्रवेश किया। तदनन्तर आगे जानेपर उन्हें कुछ दूरपर ऊपरको धुआँ उठता दिखायी दिया ॥ २१ ॥

ते समालोक्य धूमाग्रमूचुर्भरतमागताः ।
नामनुष्ये भवत्यग्निर्व्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धूमशिखाको देखकर वे लौट आये और भरतसे बोले—'प्रभो ! जहाँ कोई मनुष्य नहीं होता, वहाँ आग नहीं होती। अतः श्रीराम और लक्ष्मण अवश्य यहीं होंगे ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परंतपौ ।
अन्ये रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

'यदि शत्रुओंको संताप देनेवाले पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण यहाँ न हों तो भी श्रीराम-जैसे तेजस्वी दूसरे कोई तपस्वी तो अवश्य ही होंगे' ॥ २३ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम् ।
सैन्यानुवाच सर्वांस्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

उनकी बातें श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा मानने योग्य थीं, उन्हें सुनकर शत्रुसेनाका मर्दन करनेवाले भरतने उन समस्त सैनिकोंसे कहा— ॥ २४ ॥

यत्ता भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।
अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो धृतिरेव च ॥ २५ ॥

'तुम सब लोग सावधान होकर यहीं ठहरो ! यहाँसे आगे न जाना। अब मैं ही वहाँ जाऊँगा। मेरे साथ सुमन्त्र और धृति भी रहेंगे' ॥ २५ ॥

एवमुक्तास्ततः सैन्यास्तत्र तस्थुः समन्ततः ।
भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र दृष्टिं समादधत् ॥ २६ ॥

उनकी ऐसी आज्ञा पाकर समस्त सैनिक वहीं सब ओर फैलकर खड़े हो गये और भरतने जहाँ धुआँ उठ रहा था, उस ओर अपनी दृष्टि स्थिर की ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमू-
र्निरीक्षमाणापि च भूमिमग्रतः ।
बभूव हृष्टा नचिरेण जानती
प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

भरतके द्वारा वहाँ ठहरायी गयी वह सेना आगेकी भूमिका निरीक्षण करती हुई भी वहाँ हर्षपूर्वक खड़ी रही; क्योंकि उस समय उसे मालूम हो गया था कि अब शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीसे मिलनेका अवसर आनेवाला है ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिनवतितमः सर्गः ॥ ९३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तिरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९३ ॥

चतुर्नवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताको चित्रकूटकी शोभा दिखाना

दीर्घकालोषितस्तस्मिन् गिरौ गिरिवरप्रियः ।
वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन् स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥ १ ॥
अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत् ।
भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरंदरः ॥ २ ॥

गिरिवर चित्रकूट श्रीरामको बहुत ही प्रिय लगता था। वे उस पर्वतपर बहुत दिनोंसे रह रहे थे। एक दिन अमर-तुल्य तेजस्वी दशरथनन्दन श्रीराम विदेहराजकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे तथा अपने मनको भी बहलानेके लिये अपनी भार्याको विचित्र चित्रकूटकी शोभाका दर्शन कराने लगे, मानो देवराज इन्द्र अपनी पत्नी शचीको पर्वतीय सुषमाका दर्शन करा रहे हों ॥ १-२ ॥

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभवः ।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

(वे बोले—) 'भद्रे ! यद्यपि मैं राज्यसे भ्रष्ट हो गया हूँ तथा मुझे अपने हितैषी सुहृदोंसे विलग होकर रहना पड़ता है, तथापि जब मैं इस रमणीय पर्वतकी ओर देखता हूँ, तब

मेरा सारा दुःख दूर हो जाता है—राज्यका न मिलना और सुहृदोंका विछोह होना भी मेरे मनको व्यथित नहीं कर पाता है ॥ ३ ॥

पश्येममचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम्।
शिखरैः खमिवोद्विद्धैर्धातुमद्भिर्विभूषितम् ॥ ४ ॥

'कल्याणि ! इस पर्वतपर दृष्टिपात तो करो, नाना प्रकारके असंख्य पक्षी यहाँ कलरव कर रहे हैं। नाना प्रकारके धातुओंसे मण्डित इसके गगन-चुम्बी शिखर मानो आकाशको बेध रहे हैं। इन शिखरोंसे विभूषित हुआ यह चित्रकूट कैसी शोभा पा रहा है ! ॥ ४ ॥

केचिद् रजतसंकाशाः केचित् क्षतजसंनिभाः।
पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥
पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतीरसप्रभाः।
विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

'विभिन्न धातुओंसे अलंकृत अचलराज चित्रकूटके प्रदेश कितने सुन्दर लगते हैं। इनमेंसे कोई तो चाँदीके समान चमक रहे हैं। कोई लोहूकी लाल आभाका विस्तार करते हैं। किन्हीं प्रदेशोंके रंग पीले और मंजिष्ठ वर्णके हैं। कोई श्रेष्ठ मणियोंके समान उद्भासित होते हैं। कोई पुखराजके समान, कोई स्फटिकके सदृश और कोई केवड़ेके फूलके समान कान्तिवाले हैं तथा कुछ प्रदेश नक्षत्रों और पारेके समान प्रकाशित होते हैं ॥ ५-६ ॥

नानामृगगणैर्द्वीपितरक्ष्वृक्षगणैर्वृतः।
अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसमाकुलः ॥ ७ ॥

'यह पर्वत बहुसंख्यक पक्षियोंसे व्याप्त है तथा नाना प्रकारके मृगों, बड़े-बड़े व्याघ्रों, चीतों और रीछोंसे भरा हुआ है। वे व्याघ्र आदि हिंसक जन्तु अपने दुष्टभावका परित्याग करके यहाँ रहते हैं और इस पर्वतकी शोभा बढ़ाते हैं ॥ ७ ॥

आम्रजम्ब्वसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः।
अङ्कोलैर्भव्यतिनिशैर्बिल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥
काश्मर्यरिष्टवरणैर्मधूकैस्तिलकैरपि।
बदर्यामलकैर्नीपैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥
पुष्पवद्भिः फलोपेतैश्छायावद्भिर्मनोरमैः।
एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्यत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

'आम, जामुन, असन, लोध, प्रियाल, कटहल, धव, अंकोल, भव्य, तिनिश, बेल, तिन्दुक, बाँस, काश्मरी (मधुपर्णिका), अरिष्ट (नीम), वरण, महुआ, तिलक, बेर, आँवला, कदम्ब, बेत, धन्वन (इन्द्रजौ), बीजक (अनार) आदि घनी छायावाले वृक्षोंसे, जो फूलों और फलोंसे लदे होनेके कारण मनोरम प्रतीत होते थे, व्याप्त हुआ यह पर्वत अनुपम शोभाका पोषण एवं विस्तार कर रहा है ॥ ८—१० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान् कामहर्षणान्।
किंनरान् द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान् मनस्विनः ॥ ११ ॥

'इन रमणीय शैलशिखरोंपर उन प्रदेशोंको देखो, जो प्रेम-मिलनकी भावनाका उद्दीपन करके आन्तरिक हर्षको बढ़ानेवाले हैं। वहाँ मनस्वी किन्नर दो-दो एक साथ होकर टहल रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावसक्तान् खड्गांश्च प्रवराण्यम्बराणि च।
पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान् मनोरमान् ॥ १२ ॥

'इन किन्नरोंके खड्ग पेड़ोंकी डालियोंमें लटक रहे हैं। इधर विद्याधरोंकी स्त्रियोंके मनोरम क्रीड़ास्थलों तथा वृक्षोंकी शाखाओंपर रखे हुए उनके सुन्दर वस्त्रोंकी ओर भी देखो ॥ १२ ॥

जलप्रपातैरुद्भेदैर्निष्पन्दैश्च क्वचित् क्वचित्।
स्रवद्भिर्भात्ययं शैलः स्रवन्मद इव द्विपः ॥ १३ ॥

'इसके ऊपर कहीं ऊँचेसे झरने गिर रहे हैं, कहीं जमीनके भीतरसे सोते निकले हैं और कहीं-कहीं छोटे-छोटे स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। इन सबके द्वारा यह पर्वत मदकी धारा बहानेवाले हाथीके समान शोभा पाता है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धान् नानापुष्पभवान् बहून्।
घ्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

'गुफाओंसे निकली हुई वायु नाना प्रकारके पुष्पोंकी प्रचुर गन्ध लेकर नासिकाको तृप्त करती हुई किस पुरुषके पास आकर उसका हर्ष नहीं बढ़ा रही है ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते।
लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मा शोकः प्रधर्षति ॥ १५ ॥

'सती-साध्वी सीते ! यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ मैं यहाँ अनेक वर्षोंतक रहूँ तो भी नगरत्यागका शोक मुझे कदापि पीड़ित नहीं करेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते।
विचित्रशिखरे ह्यस्मिन् रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

'भामिनि ! बहुतेरे फूलों और फलोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके पक्षियोंसे सेवित इस विचित्र शिखरवाले रमणीय पर्वतपर मेरा मन बहुत लगता है ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मम प्राप्तं फलद्वयम् ।
पितुश्चानृण्यता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

'प्रिये ! इस वनवाससे मुझे दो फल प्राप्त हुए हैं—दो लाभ हुए हैं—एक तो धर्मानुसार पिताकी आज्ञाका पालन रूप ऋण चुक गया और दूसरा भाई भरतका प्रिय हुआ ॥ १७ ॥

वैदेहि रमसे कच्चिच्चित्रकूटे मया सह ।
पश्यन्ती विविधान् भावान् मनोवाक्काय सम्मतान् ॥ १८ ॥

'विदेहकुमारी ! क्या चित्रकूट पर्वतपर मेरे साथ मन, वाणी और शरीरको प्रिय लगनेवाले भाँति-भाँतिके पदार्थोंको देखकर तुम्हें आनन्द प्राप्त होता है ? ॥ १८ ॥

इदमेवामृतं प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे ।
वनवासं भवार्थाय प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

'रानी ! मेरे प्रपितामह मनु आदि उत्कृष्ट राजर्षियोंने नियमपूर्वक किये गये इस वनवासको ही अमृत बतलाया है; इससे शरीरत्यागके पश्चात् परम कल्याणकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः ।
बहुला बहुलैर्वर्णैर्नीलपीतसितारुणैः ॥ २० ॥

'चारों ओर इस पर्वतकी सैकड़ों विशाल शिलाएँ शोभा पा रही हैं, जो नीले, पीले, सफेद और लाल आदि विविध रंगोंसे अनेक प्रकारकी दिखायी देती हैं ॥ २० ॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव ।
ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्म्या भ्राजमानाः सहस्रशः ॥ २१ ॥

'रातमें इस पर्वतराजके ऊपर उगी हुई सहस्रों ओषधियाँ अपनी प्रभासम्पत्तिसे प्रकाशित होती हुई अग्नि-शिखाके समान उद्भासित होती हैं ॥ २१ ॥

केचित् क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसंनिभाः ।
केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥ २२ ॥

'भामिनि ! इस पर्वतके कई स्थान घरकी भाँति दिखायी देते हैं (क्योंकि वे वृक्षोंकी घनी छायासे अच्छादित हैं) और कई स्थान चम्पा, मालती आदि फूलोंकी अधिकताके कारण उद्यानके समान सुशोभित होते हैं तथा कितने ही स्थान ऐसे हैं जहाँ बहुत दूरतक एक ही शिला फैली हुई है इन सबकी बड़ी शोभा होती है ॥ २२ ॥

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः समुत्थितः ।
चित्रकूटस्य कूटोऽयं दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

'ऐसा जान पड़ता है कि यह चित्रकूट पर्वत पृथ्वीको फाड़कर ऊपर उठ आया है । चित्रकूटका यह शिखर सब ओरसे सुन्दर दिखायी देता है ॥ २३ ॥

कुष्ठस्थगरपुंनागभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् ।
कामिनां स्वास्तरान् पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥ २४ ॥

'प्रिये ! देखो, ये विलासियोंके बिस्तर हैं, जिनपर उत्पल, पुत्रजीवक, पुन्नाग और भोजपत्र—इनके पत्ते ही चादरका काम देते हैं तथा इनके ऊपर सब ओरसे कमलोंके पत्ते बिछे हुए हैं ॥ २४ ॥

मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्रजः ।
कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

'प्रियतमे ! ये कमलोंकी मालाएँ दिखायी देती हैं, जो विलासियोंद्वारा मसलकर फेंक दी गयी हैं । उधर देखो, वृक्षोंमें नाना प्रकारके फल लगे हुए हैं ॥ २५ ॥

वस्वौकसारां नलिनीमतीत्यैवोत्तरान् कुरून् ।
पर्वतश्चित्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥ २६ ॥

'बहुत-से फल, मूल और जलसे सम्पन्न यह चित्रकूट पर्वत कुबेर-नगरी वस्वौकसारा (अलका), इन्द्रपुरी नलिनी (अमरावती अथवा नलिनी नामसे प्रसिद्ध कुबेरकी सौगन्धिक कमलोंसे युक्त पुष्करिणी) तथा उत्तर कुरुको भी अपनी शोभासे तिरस्कृत कर रहा है ॥ २६ ॥

इमं तु कालं वनिते विजह्रिवां-
स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन ।
रतिं प्रपत्स्ये कुलधर्मवर्धिनीं
सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

'प्राणवल्लभे सीते ! अपने उत्तम नियमोंका पालन करते हुए सन्मार्गपर स्थित रहकर यदि तुम्हारे और लक्ष्मणके साथ यह चौदह वर्षोंका समय मैं सानन्द व्यतीत कर लूँगा तो मुझे वह सुख प्राप्त होगा जो कुलधर्मको बढ़ानेवाला है' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्नवतितमः सर्गः ॥ ९४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें

चौरानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९४ ॥

पञ्चनवतितमः सर्गः

श्रीरामका सीताके प्रति मन्दाकिनी नदीकी शोभाका वर्णन

अथ शैलाद् विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः ।
अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

तदनन्तर उस पर्वतसे निकलकर कोसलनरेश श्रीरामचन्द्रजीने मिथिलेशकुमारी सीताको पुण्यसलिला रमणीय मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराया ॥ १ ॥

अब्रवीच्च वरारोहां चन्द्रचारुनिभाननाम् ।
विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥

और उस समय कमलनयन श्रीरामने चन्द्रमाके समान मनोहर मुख तथा सुन्दर कटिप्रदेशवाली विदेहराजनन्दिनी सीतासे इस प्रकार कहा—॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।
कुसुमैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

'प्रिये ! अब मन्दाकिनी नदीकी शोभा देखो; हंस और सारसोंसे सेवित होनेके कारण यह कितनी सुन्दर जान पड़ती है। इसका किनारा बड़ा ही विचित्र है। नाना प्रकारके पुष्प इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः ।
राजन्तीं राजराजस्य नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

'फल और फूलोंके भारसे लदे हुए नाना प्रकारके तटवर्ती वृक्षोंसे घिरी हुई यह मन्दाकिनी कुबेरके सौगन्धिक सरोवरकी भाँति सब ओरसे सुशोभित हो रही है ॥ ४ ॥

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम् ।
तीर्थानि रमणीयानि रतिं संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

'हरिनोंके झुंड पानी पीकर इस समय यद्यपि यहाँका जल गँदला कर गये हैं तथापि इसके रमणीय घाट मेरे मनको बड़ा आनन्द दे रहे हैं ॥ ५ ॥

जटाजिनधराः काले वल्कलोत्तरवाससः ।
ऋषयस्त्ववगाहन्ते नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

'प्रिये ! वह देखो, जटा, मृगचर्म और वल्कलका उत्तरीय धारण करनेवाले महर्षि उपयुक्त समयमें आकर इस मन्दाकिनी नदीमें स्नान कर रहे हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादूर्ध्वबाहवः ।
एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः ॥ ७ ॥

'विशाललोचने ! ये दूसरे मुनि, जो कठोर व्रतका पालन करनेवाले हैं, नैत्यिक नियमके कारण दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सूर्यदेवका उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

मारुतोद्धूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।
पादपैः पुष्पपत्राणि सृजद्भिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

'हवाके झोंकेसे जिनकी शिखाएँ झूम रही हैं, अतएव जो मन्दाकिनी नदीके उभय तटोंपर फूल और पत्ते बिखेर रहे हैं, उन वृक्षोंसे उपलक्षित हुआ यह पर्वत मानो नृत्य-सा करने लगा है ॥ ८ ॥

क्वचिन्मणिनिकाशोदां क्वचित् पुलिनशालिनीम् ।
क्वचित् सिद्धजनाकीर्णां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥

'देखो ! मन्दाकिनी नदीकी कैसी शोभा है; कहीं तो इसमें मोतियोंके समान स्वच्छ जल बहता दिखायी देता है, कहीं यह ऊँचे कगारोंसे ही शोभा पाती है (वहाँका जल कगारोंमें छिप जानेके कारण दिखायी नहीं देता है) और कहीं सिद्धजन इसमें अवगाहन कर रहे हैं तथा यह उनसे व्याप्त दिखायी देती है ॥ ९ ॥

निर्धूतान् वायुना पश्य विततान् पुष्पसंचयान् ।
पोप्लूयमानानपरान् पश्य त्वं तनुमध्यमे ॥ १० ॥

'सूक्ष्म कटिप्रदेशवाली सुन्दरि ! देखो, वायुके द्वारा उड़ाकर लाये हुए ये ढेर-के-ढेर फूल किस तरह मन्दाकिनीके दोनों तटोंपर फैले हुए हैं और वे दूसरे पुष्पसमूह कैसे पानीपर तैर रहे हैं ॥ १० ॥

पश्यैतद्वल्गुवचसो रथाङ्गाह्वयना द्विजाः ।
अधिरोहन्ति कल्याणि निष्कूजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥

'कल्याणि ! देखो तो सही, ये मीठी बोली बोलनेवाले चक्रवाक पक्षी सुन्दर कलरव करते हुए किस तरह नदीके तटोंपर आरूढ़ हो रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।
अधिकं पुरवासाच्च मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

'शोभने ! यहाँ जो प्रतिदिन चित्रकूट और मन्दाकिनीका दर्शन होता है, वह नित्य-निरन्तर तुम्हारा दर्शन होनेके कारण अयोध्यानिवासकी अपेक्षा भी अधिक सुखद जान पड़ता है ॥

विधूतकल्मषैः सिद्धैस्तपोदमशमान्वितैः ।
नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥

'इस नदीमें प्रतिदिन तपस्या, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रहसे सम्पन्न निष्पाप सिद्ध महात्माओंके अवगाहन करनेसे इसका जल विक्षुब्ध होता रहता है। चलो, तुम भी मेरे साथ इसमें स्नान करो ॥ १३ ॥

सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् ।
कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि च भामिनि ॥ १४ ॥

'भामिनि सीते ! एक सखी दूसरी सखीके साथ जैसे क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार तुम मन्दाकिनी नदीमें उतरकर

इसके लाल और श्वेत कमलोंको जलमें डुबोती हुई इसमें स्नान-क्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

त्वं पौरजनवद् व्यालानयोध्यामिव पर्वतम् ।
मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

'प्रिये ! तुम इस वनके निवासियोंको पुरवासी मनुष्योंके समान समझो, चित्रकूट पर्वतको अयोध्याके तुल्य मानो और इस मन्दाकिनी नदीको सरयूके सदृश जानो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चैव धर्मात्मा मन्निदेशे व्यवस्थितः ।
त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयती मम ॥ १६ ॥

विदेहनन्दिनि ! धर्मात्मा लक्ष्मण सदा मेरी आज्ञाके अधीन रहते हैं और तुम भी मेरे मनके अनुकूल ही चलती हो; इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुमूलफलाशनः ।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहये च त्वया सह ॥ १७ ॥

'प्रिये ! तुम्हारे साथ तीनों काल स्नान करके मधुर फल-मूलका आहार करता हुआ मैं न तो अयोध्या जानेकी इच्छा रखता हूँ और न राज्य पानेकी ही ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां गजयूथलोडितां
निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।
सुपुष्पितां पुष्पभरैरलंकृतां
न सोऽस्ति यः स्यान्न गतक्लमः सुखी ॥ १८ ॥

'जिसे हाथियोंके समूह मथ डालते हैं तथा सिंह और वानर जिसका जल पिया करते हैं, जिसके तटपर सुन्दर पुष्पोंसे लदे वृक्ष शोभा पाते हैं तथा जो पुष्पसमूहोंसे अलंकृत है, ऐसी इस रमणीय मन्दाकिनी नदीमें स्नान करके जो ग्लानिरहित और सुखी न हो जाय—ऐसा मनुष्य इस संसारमें नहीं है' ॥ १८ ॥

इतीव रामो बहुसंगतं वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १९ ॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी मन्दाकिनी नदीके प्रति ऐसी अनेक प्रकारकी सुसंगत बातें कहते हुए नील-कान्तिवाले रमणीय चित्रकूटपर्वतपर अपनी प्रिया पत्नी सीताके साथ विचरने लगे ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चनवतितमः सर्गः ॥ ९५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंचानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९५ ॥

षण्णवतितमः सर्गः

वन-जन्तुओंके भागनेका कारण जाननेके लिये श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका शाल-वृक्षपर चढ़कर भरतकी सेनाको देखना और उनके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट करना

तां तदा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।
निषसाद गिरिप्रस्थे सीतां मांसेन छन्दयन् ॥ १ ॥

इस प्रकार मिथिलेशकुमारी सीताको मन्दाकिनी नदीका दर्शन कराकर उस समय श्रीरामचन्द्रजी पर्वतके समतल प्रदेशमें उनके साथ बैठ गये और तपस्वी जनोंके उपभोगमें आने योग्य फल-मूलके गूदेसे उनकी मानसिक प्रसन्नताको बढ़ाने—उनका लालन करने लगे ॥ १ ॥

इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना ।
एवमास्ते स धर्मात्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

धर्मात्मा रघुनन्दन सीताजीके साथ इस प्रकारकी बातें कर रहे थे—'प्रिये ! यह फल परम पवित्र है। यह बहुत स्वादिष्ट है तथा इस कन्दको अच्छी तरह आगपर सेका गया है' ॥ २ ॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः ।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभस्पृशौ ॥ ३ ॥

इस प्रकार वे उस पर्वतीय प्रदेशमें बैठे हुए ही थे कि उनके पास आनेवाली भरतकी सेनाकी धूल और कोलाहल दोनों एक साथ प्रकट हुए और आकाशमें फैलने लगे ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाद् दुद्रुवुर्दिशः ॥ ४ ॥

इसी बीचमें सेनाके महान् कोलाहलसे भयभीत एवं पीड़ित हो हाथियोंके कितने ही मतवाले यूथपति अपने यूथोंके साथ सम्पूर्ण दिशाओंमें भागने लगे ॥ ४ ॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।
तांश्च विप्रद्रुतान् सर्वान् यूथपानन्ववैक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने सेनासे प्रकट हुए उस महान् कोलाहलको सुना तथा भागे जाते हुए उन समस्त यूथपतियोंको भी देखा ॥

तांश्च विप्रद्रुतान् दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा महास्वनम् ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीप्ततेजसम् ॥ ६ ॥

उन भागे हुए हाथियोंको देखकर और उस महाभयंकर शब्दको सुनकर श्रीरामचन्द्रजी उद्दीप्त तेजवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले—॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया।
भीमस्तनितगम्भीरं तुमुलः श्रूयते स्वनः॥ ७॥

'लक्ष्मण! इस जगत्‌में तुमसे ही माता सुमित्रा श्रेष्ठ पुत्रवाली हुई हैं। देखो तो सही—यह भयंकर गर्जनाके साथ कैसा गम्भीर तुमुल नाद सुनायी देता है॥ ७॥

...गनि वारण्ये महिषा वा महावने।
वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रद्रुता दिशः॥ ८॥
राजा वा राजपुत्रो वा मृगयामटते वने।
अन्यद्वा श्वापदं किंचित् सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि॥ ९॥

'सुमित्रानन्दन! पता तो लगाओ, इस विशाल वनमें ये जो हाथियोंके झुंड अथवा भैंसे या मृग जो सहसा सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर भाग चले हैं, इसका क्या कारण है? इन्हें सिंहोंने तो नहीं डरा दिया है अथवा कोई राजा या राजकुमार इस वनमें आकर शिकार तो नहीं खेल रहा है या दूसरा कोई हिंसक जन्तु तो नहीं प्रकट हो गया है?॥ ८-९॥

सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण।
सर्वमेतद् यथातत्त्वमभिज्ञातुमिहार्हसि॥ १०॥

'लक्ष्मण! इस पर्वतपर अपरिचित पक्षियोंका आना-जाना भी अत्यन्त कठिन है (फिर यहाँ किसी हिंसक जन्तु वा राजाका आक्रमण कैसे सम्भव है)। अतः इन सारी बातोंकी ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करो'॥ १०॥

स लक्ष्मणः संत्वरितः सालमारुह्य पुष्पितम्।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमवैक्षत॥ ११॥

भगवान् श्रीरामकी आज्ञा पाकर लक्ष्मण तुरंत ही फूलोंसे भरे हुए एक शाल-वृक्षपर चढ़ गये और सम्पूर्ण दिशाओंकी ओर देखते हुए उन्होंने पूर्व दिशाकी ओर दृष्टिपात किया॥

उदङ्मुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम्।
गजाश्वरथसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः॥ १२॥

तत्पश्चात् उत्तरकी ओर मुँह करके देखनेपर उन्हें एक विशाल सेना दिखायी दी, जो हाथी, घोड़े और रथोंसे परिपूर्ण तथा प्रयत्नशील पैदल सैनिकोंसे संयुक्त थी॥ १२॥

तामश्वरथसम्पूर्णां रथध्वजविभूषिताम्।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत्॥ १३॥

घोड़ों और रथोंसे भरी हुई तथा रथकी ध्वजासे विभूषित उस सेनाकी सूचना उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको दी और यह बात कही—॥ १३॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम्।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा॥ १४॥

'आर्य! अब आप आग बुझा दें (अन्यथा धुआँ देखकर यह सेना यहीं चली आयगी); देवी सीता गुफामें जा बैठें। आप अपने धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा लें और बाण तथा कवच धारण कर लें॥ १४॥

तं रामः पुरुषव्याघ्रो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह।
अङ्गावेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम्॥ १५॥

यह सुनकर पुरुषसिंह श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—'प्रिय सुमित्राकुमार! अच्छी तरह देखो तो सही, तुम्हारी समझमें यह किसकी सेना हो सकती है?'॥ १५॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत्।
दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा॥ १६॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर लक्ष्मण रोषसे प्रज्वलित हुए अग्निदेवकी भाँति उस सेनाकी ओर इस तरह देखने लगे, मानो उसे जलाकर भस्म कर देना चाहते हों और इस प्रकार बोले—॥ १६॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम्।
आवां हन्तुं समभ्येति कैकेय्या भरतः सुतः॥ १७॥

'भैया! निश्चय ही यह कैकेयीका पुत्र भरत है, जो अयोध्यामें अभिषिक्त होकर अपने राज्यको निष्कण्टक बनानेकी इच्छासे हम दोनोंको मार डालनेके लिये यहाँ आ रहा है॥

एष वै सुमहाञ्छ्रीमान् विटपी सम्प्रकाशते।
विराजत्युज्ज्वलस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे॥ १८॥

'सामनेकी ओर यह जो बहुत बड़ा शोभासम्पन्न वृक्ष दिखायी देता है, उसके समीप जो रथ है, उसपर उज्ज्वल तनेसे युक्त कोविदार वृक्षसे चिह्नित ध्वज शोभा पा रहा है॥

भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्य शीघ्रगान्।
एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्य सादिनः॥ १९॥

'ये घुड़सवार सैनिक इच्छानुसार शीघ्रगामी घोड़ोंपर आरूढ़ हो इधर ही आ रहे हैं और ये हाथीसवार भी बड़े हर्षसे हाथियोंपर चढ़कर आते हुए प्रकाशित हो रहे हैं॥ १९॥

गृहीतधनुषावावां गिरिं वीर श्रयावहे।
अथवेहैव तिष्ठावः संनद्धावुद्यतायुधौ॥ २०॥

'वीर! हम दोनोंको धनुष लेकर पर्वतके शिखरपर चलना चाहिये अथवा कवच बाँधकर अस्त्र-शस्त्र धारण किये यहीं डटे रहना चाहिये॥ २०॥

अपि नौ वशमागच्छेत् कोविदारध्वजो रणे।
अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत्॥ २१॥
त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा।
यन्निमित्तं भवान् राज्याच्च्युतो राघव शाश्वतात्॥

'रघुनन्दन! आज यह कोविदारके चिह्नसे युक्त ध्वजवाला रथ रणभूमिमें हम दोनोंके अधिकारमें आ जायगा और आज मैं अपनी इच्छाके अनुसार उस भरतको भी सामने देखूँगा कि जिसके कारण आपको, सीताको और मुझे भी महान् संकटका सामना करना पड़ा है तथा जिसके कारण आप ... सनातन राज्यसे वञ्चित किये गये हैं॥

सम्प्राप्तोऽयमरिर्वीर भरतो वध्य एव हि।
भरतस्य वधे दोषं नाहं पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

'वीर रघुनाथजी ! यह भरत हमारा शत्रु है और सामने आ गया है; अतः वधके ही योग्य है। भरतका वध करनेमें मुझे कोई दोष नहीं दिखायी देता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणं हत्वा न ह्यधर्मेण युज्यते।
पूर्वापकारी भरतस्त्यागेऽधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन ! जो पहलेका अपकारी रहा हो, उसको मारकर कोई अधर्मका भागी नहीं होता है। भरतने पहले हमलोगोंका अपकार किया है, अतः उसे मारनेमें नहीं, जीवित छोड़ देनेमें ही अधर्म है ॥ २४ ॥

एतस्मिन् निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुंधराम्।
अद्य पुत्रं हतं संख्ये कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥
मया पश्येत् सुदुःखार्ता हस्तिभिन्नमिव द्रुमम्।

'इस भरतके मारे जानेपर आप समस्त वसुधाका शासन करें। जैसे हाथी किसी वृक्षको तोड़ डालता है, उसी प्रकार राज्यका लोभ करनेवाली कैकेयी आज अत्यन्त दुःखसे आर्त हो इसे मेरे द्वारा युद्धमें मारा गया देखे ॥ २५½ ॥

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां सबान्धवाम् ॥ २६ ॥
कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम्।

मैं कैकेयीका भी उसके सगे-सम्बन्धियों एवं बन्धु-बान्धवोंसहित वध कर डालूँगा। आज यह पृथ्वी कैकेयीरूप महान् पापसे मुक्त हो जाय ॥ २६½ ॥

अद्येमं संयतं क्रोधमसत्कारं च मानद ॥ २७ ॥
मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु कक्षेष्विव हुताशनम्।

'मानद ! आज मैं अपने रोके हुए क्रोध और तिरस्कारको शत्रुकी सेनाओंपर उसी प्रकार छोड़ूँगा, जैसे सूखे घास-फूँसके ढेरमें आग लगा दी जाय ॥ २७½ ॥

अद्यैव चित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥
छिन्दञ्छत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम्।

'अपने तीखे बाणोंसे शत्रुओंके शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े करके मैं अभी चित्रकूटके इस वनको रक्तसे सींच दूँगा ॥

शरैर्निर्भिन्नहृदयान् कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ॥ २९ ॥
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान् मया।

'मेरे बाणोंसे विदीर्ण हुए हृदयवाले हाथियों और घोड़ोंको तथा मेरे हाथसे मारे गये मनुष्योंको भी गीदड़ आदि मांसभक्षी जन्तु इधर-उधर घसीटें ॥ २९½ ॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मिन् महावने।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

'इस महान् वनमें सेनासहित भरतका वध करके मैं धनुष और बाणके ऋणसे उऋण हो जाऊँगा—इसमें संशय नहीं है' ॥ ३० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षण्णवतितमः सर्गः ॥ ९६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छियानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९६ ॥

सप्तनवतितमः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणके रोषको शान्त करके भरतके सद्भावका वर्णन करना, लक्ष्मणका लज्जित हो श्रीरामके पास खड़ा होना और भरतकी सेनाका पर्वतके नीचे छावनी डालना

सुसंरब्धं तु भरतं लक्ष्मणं क्रोधमूर्च्छितम्।
रामस्तु परिसान्त्व्याथ वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण भरतके प्रति रोषावेशके कारण क्रोधवश अपना विवेक खो बैठे थे, उस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया और इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा।
महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

'लक्ष्मण ! महाबली और महान् उत्साही भरत जब स्वयं यहाँ आ गये हैं, तब इस समय यहाँ धनुष अथवा ढाल-तलवारसे क्या काम है ? ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे।
किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

'लक्ष्मण ! पिताके सत्यकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा करके यदि मैं युद्धमें भरतको मारकर उनका राज्य छीन लूँ तो संसारमें मेरी कितनी निन्दा होगी, फिर उस कलंकित राज्यको लेकर मैं क्या करूँगा ? ॥ ३ ॥

यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत्।
नाहं तत् प्रति गृह्णीयां भक्ष्यान् विषकृतानिव ॥ ४ ॥

'अपने बन्धु-बान्धवों या मित्रोंका विनाश करके जिस धनकी प्राप्ति होती हो, वह तो विषमिश्रित भोजनके समान सर्वथा त्याग देने योग्य है; उसे मैं कदापि ग्रहण नहीं करूँगा ॥ ४ ॥

धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥

लक्ष्मण ! मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि—धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वीका राज्य भी मैं तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥

सुमित्राकुमार ! मैं भाइयोंके संग्रह और सुखके लिये ही राज्यकी भी इच्छा करता हूँ और इस बातकी सच्चाईके लिये मैं अपना धनुष छूकर शपथ खाता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा।
नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

'सौम्य लक्ष्मण ! समुद्रसे घिरी हुई यह पृथिवी मेरे लिये दुर्लभ नहीं है, परंतु मैं अधर्मसे इन्द्रका पद पानेकी भी इच्छा नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
भवेन्मम सुखं किंचिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

'मानद ! भरतको, तुमको और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसे अग्निदेव जलाकर भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम ॥ १० ॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः ॥ ११ ॥

'वीर ! पुरुषप्रवर ! भरत बड़े भ्रातृभक्त हैं। वे मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। मुझे तो ऐसा मालूम होता है, भरतने अयोध्यामें आनेपर जब सुना है कि मैं तुम्हारे और जानकीके साथ जटा-वल्कल धारण करके वनमें आ गया हूँ, तब उनकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल हो उठी हैं और वे कुलधर्मका विचार करके स्नेहयुक्त हृदयसे हम लोगोंसे मिलने आये हैं। इन भरतके आगमनका इसके सिवा दूसरा कोई उद्देश्य नहीं हो सकता ॥ ९-११ ॥

अम्बां च कैकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

'माता कैकेयीके प्रति कुपित हो, उन्हें कठोर वचन सुनाकर और पिताजीको प्रसन्न करके श्रीमान् भरत मुझे राज्य देनेके लिये आये हैं ॥ १२ ॥

[illegible]कालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति।
[illegible] मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत् ॥ १३ ॥

पितामहोंके रो[illegible] हमलोगोंसे मिलनेके लिये आना सर्वथा [illegible] हमसे मिलनेके योग्य है। हमलोगोंका कोई अहित करनेका विचार तो वे कभी मनमें भी नहीं ला सकते ॥ १३ ॥

विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम्।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे ॥ १४ ॥

'भरतने तुम्हारे प्रति पहले कब कौन-सा अप्रिय बर्ताव किया है, जिससे आज तुम्हें उनसे ऐसा भय लग रहा है और तुम उनके विषयमें इस तरहकी आशङ्का कर रहे हो ? ॥ १४ ॥

नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

'भरतके आनेपर तुम उनसे कोई कठोर या अप्रिय वचन न बोलना। यदि तुमने उनसे कोई प्रतिकूल बात कही तो वह मेरे ही प्रति कही हुई समझी जायगी ॥ १५ ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात् सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥

'सुमित्रानन्दन ! कितनी ही बड़ी आपत्ति क्यों न आ जाय, पुत्र अपने पिताको कैसे मार सकते हैं ? अथवा भाई अपने प्राणोंके समान प्रिय भाईकी हत्या कैसे कर सकता है ? ॥ १६ ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

'यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो मैं भरतसे मिलनेपर उन्हें कह दूँगा कि तुम यह राज्य लक्ष्मणको दे दो ॥ १७ ॥

उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते ॥ १८ ॥

'लक्ष्मण ! यदि मैं भरतसे यह कहूँ कि 'तुम राज्य इन्हें दे दो' तो वे 'बहुत अच्छा' कहकर अवश्य मेरी बात मान लेंगे' ॥ १८ ॥

तथोक्तो धर्मशीलेन भ्रात्रा तस्य हिते रतः।
लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

अपने धर्मपरायण भाईके ऐसा कहनेपर उन्हींके हितमें तत्पर रहनेवाले लक्ष्मण लज्जावश मानो अपने अङ्गोंमें ही समा गये—लाजसे गड़ गये ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह।
त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

श्रीरामका पूर्वोक्त वचन सुनकर लज्जित हुए लक्ष्मणने कहा—'भैया ! मैं समझता हूँ, हमारे पिता महाराज दशरथ स्वयं ही आपसे मिलने आये हैं' ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं दृष्ट्वा राघवः प्रत्युवाच ह।
एष मन्ये महाबाहुरिहास्मान् द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मणको लज्जित हुआ देख श्रीरामने उत्तर दिया—'मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि हमारे महाबाहु पिताजी ही हमलोगोंसे मिलने आये हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ।
वनवासमनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

'अथवा मैं ऐसा समझता हूँ कि हमें सुख भोगनेके योग्य मानते हुए पिताजी वनवासके कष्टका विचार करके हम दोनोंको निश्चय ही घर लौटा ले जायँगे ॥ २२ ॥

इमां चाप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम्।
पिता मे राघवः श्रीमान् वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥

'मेरे पिता रघुकुलतिलक श्रीमान् महाराज दशरथ अत्यन्त सुखका सेवन करनेवाली इन विदेहराजनन्दिनी सीताको भी वनसे साथ लेकर ही घरको लौटेंगे ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ।
वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

'अच्छे घोड़ोंके कुलमें उत्पन्न हुए ये ही वे दोनों वायुके समान वेगशाली, शीघ्रगामी, वीर एवं मनोरम अपने उत्तम घोड़े चमक रहे हैं ॥ २४ ॥

स एष सुमहाकायः कम्पते वाहिनीमुखे।
नागः शत्रुंजयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

'परम बुद्धिमान् पिताजीकी सवारीमें रहनेवाला यह वही विशालकाय शत्रुंजय नामक बूढ़ा गजराज है, जो सेनाके मुहानेपर झूमता हुआ चल रहा है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकविश्रुतम्।
पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

'महाभाग ! परंतु इसके ऊपर पिताजीका वह विश्वविख्यात दिव्य श्वेतछत्र मुझे नहीं दिखायी देता है—इससे मेरे मनमें संशय उत्पन्न होता है ॥ २६ ॥

वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥
अवतीर्य तु सालाग्रात् तस्मात् स समितिंजयः।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥ २८ ॥

'लक्ष्मण ! अब मेरी बात मानो और पेड़से नीचे उतर आओ ।' धर्मात्मा श्रीरामने सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे जब ऐसी बात कही, तब युद्धमें विजय पानेवाले लक्ष्मण उस शाल वृक्षके अग्रभागसे उतरे और श्रीरामके पास हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ २७-२८ ॥

भरतेनाथ संदिष्टा सम्मर्दो न भवेदिति।
समन्तात् तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

उधर भरतने सेनाको आज्ञा दी कि 'यहाँ किसीको हमलोगोंके द्वारा बाधा नहीं पहुँचनी चाहिये ।' उनका यह आदेश पाकर समस्त सैनिक पर्वतके चारों ओर नीचे ही ठहर गये ॥ २९ ॥

अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्योजनं पर्वतस्य ह।
पार्श्वे न्यविशदावृत्य गजवाजिनराकुला ॥ ३० ॥

उस समय हाथी, घोड़े और मनुष्योंसे भरी हुई इक्ष्वाकुवंशी नरेशकी वह सेना पर्वतके आस-पासकी डेढ़ योजन (छः कोस) भूमि घेरकर पड़ाव डाले हुए थी ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटे भरतेन सेना
धर्मं पुरस्कृत्य विधूय दर्पम्।
प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य
विरोचते नीतिमता प्रणीता ॥ ३१ ॥

नीतिज्ञ भरत धर्मको सामने रखते हुए गर्वको त्यागकर रघुकुलनन्दन श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये जिसे अपने साथ ले आये थे, वह सेना चित्रकूट पर्वतके समीप बड़ी शोभा पा रही थी ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्तानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमः सर्गः

भरतके द्वारा श्रीरामके आश्रमकी खोजका प्रबन्ध तथा उन्हें आश्रमका दर्शन

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्भ्यां पादवतां वरः।
अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तकम् ॥ १ ॥
निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोद्देशं विनीतवत्।
भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

इस प्रकार सेनाको ठहराकर जंगम प्राणियोंमें श्रेष्ठ एवं प्रभावशाली भरतने गुरुसेवापरायण (एवं पिताके आज्ञापालक) श्रीरामचन्द्रजीके पास जानेका विचार किया । जब सारी सेना विनीत भावसे यथास्थान ठहर गयी, तब भरतने अपने भाई शत्रुघ्नसे इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

क्षिप्रं वनमिदं सौम्य नरसंघैः समन्ततः।
लुब्धैश्च सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ३ ॥

'सौम्य ! बहुत-से मनुष्योंके साथ इन निषादोंको भी साथ लेकर तुम्हें शीघ्र ही इस वनमें चारों ओर श्रीरामचन्द्रजीकी खोज करनी चाहिये ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिपाणिना ।
समन्वेषतु काकुत्स्थावस्मिन् परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

'निषादराज गुह स्वयं भी धनुष-बाण और तलवार धारण करनेवाले अपने सहस्रों बन्धु-बान्धवोंसे घिरे हुए जायँ और इस वनमें ककुत्स्थवंशी श्रीराम और लक्ष्मणका अन्वेषण करें ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पौरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।
सह सर्वं चरिष्यामि पद्भ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

'मैं स्वयं भी मन्त्रियों, पुरवासियों, गुरुजनों तथा ब्राह्मणोंके साथ उन सबसे घिरा रहकर पैदल ही सारे वनमें विचरण करूँगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महाबलम् ।
वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

'जबतक श्रीराम, महाबली लक्ष्मण अथवा महाभागा विदेहराजकुमारी सीताको न देख लूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसंकाशं तद् द्रक्ष्यामि शुभाननम् ।
भ्रातुः पद्मविशालाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

जबतक अपने पूज्य भ्राता श्रीरामके कमलदलके सदृश विशाल नेत्रोंवाले सुन्दर मुखचन्द्रका दर्शन न कर लूँगा, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ ७ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रिर्यश्चन्द्रविमलोपमम् ।
मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षं महाद्युति ॥ ८ ॥

'निश्चय ही सुमित्राकुमार लक्ष्मण कृतार्थ हो गये, जो श्रीरामचन्द्रजीके उस कमल-सदृश नेत्रवाले महातेजस्वी मुखका निरन्तर दर्शन करते हैं, जो चन्द्रमाके समान निर्मल एवं आह्लाद प्रदान करनेवाला है ॥ ८ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।
शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

'जबतक भाई श्रीरामके राजोचित लक्षणोंसे युक्त चरणारविन्दोंको अपने सिरपर नहीं रक्खूँगा, तबतक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी ॥ ९ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।
अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ १० ॥

जबतक राज्यके सच्चे अधिकारी आर्य श्रीराम पिता-पितामहोंके राज्यपर प्रतिष्ठित हो अभिषेकके जलसे आर्द्र नहीं हो जायँगे, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं प्राप्त होगी ॥ १० ॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।
भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति ॥ ११ ॥

'जो समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी अपने पतिदेव श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करती हैं; वे जनककिशोरी विदेहराजनन्दिनी महाभागा सीता अपने इस सत्कर्मसे कृतार्थ हो गयीं ॥ ११ ॥

सुशुभश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजसमो गिरिः ।
यस्मिन् वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

'जैसे नन्दनवनमें कुबेर निवास करते हैं, उसी प्रकार जिसके वनमें ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी विराज रहे हैं, वह चित्रकूट परम मङ्गलकारी तथा गिरिराज हिमालय एवं वेंकटाचलके समान श्रेष्ठ पर्वत है ॥ १२ ॥

कृतकार्यमिदं दुर्गवनं व्यालनिषेवितम् ।
यदध्यास्ते महाराजो रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १३ ॥

'यह सर्पसेवित दुर्गम वन भी कृतार्थ हो गया, जहाँ शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ महाराज श्रीराम निवास करते हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुर्भरतः पुरुषर्षभः ।
पद्भ्यामेव महातेजाः प्रविवेश महद् वनम् ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी पुरुषप्रवर महाबाहु भरतने उस विशाल वनमें पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु ।
पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतां वरः ॥ १५ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत पर्वतशिखरोंपर उत्पन्न हुए वृक्षसमूहोंके, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे भरे थे, बीचसे निकले ॥ १५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमारुह्य सत्वरम् ।
रामाश्रमगतस्याग्नेर्ददर्श ध्वजमुच्छ्रितम् ॥ १६ ॥

आगे जाकर वे बड़ी तेजीसे चित्रकूटपर्वतके एक शालवृक्षपर चढ़ गये और वहाँसे उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके आश्रमपर सुलगती हुई आगका ऊपर उठता हुआ धुआँ देखा ॥ १६ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमान् मुमोद सहबान्धवः ।
अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ १७ ॥

उस धूमको देखकर श्रीमान् भरतको अपने भाई शत्रुघ्नसहित बड़ी प्रसन्नता हुई और 'यहीं श्रीराम हैं' यह जानकर उन्हें अथाह जलसे पार हो जानेके समान संतोष प्राप्त हुआ ॥ १७ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य
रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम्।
गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम
पुनर्निवेश्यैव चमूं महात्मा ॥ १८ ॥

इस प्रकार चित्रकूट पर्वतपर पुण्यात्मा महर्षियोंसे युक्त श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम देखकर महात्मा भरतने ढूँढ़नेके लिये आयी हुई सेनाको पुनः पूर्वस्थानपर ठहरा दिया और वे स्वयं गुहके साथ शीघ्रतापूर्वक आश्रमकी ओर चल दिये ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टनवतितमः सर्गः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठानवेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९८ ॥

नवनवतितमः सर्गः

भरतका शत्रुघ्न आदिके साथ श्रीरामके आश्रमपर जाना, उनकी पर्णशालाको देखना तथा रोते-रोते उनके चरणोंमें गिर जाना, श्रीरामका उन सबको हृदयसे लगाना और मिलना

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्ततः।
जगाम भ्रातरं द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

सेनाके ठहर जानेपर भाईके दर्शनके लिये उत्कण्ठित होकर भरत अपने छोटे भाई शत्रुघ्नको आश्रमके चिह्न दिखाते हुए उसकी ओर चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं संदिश्य मातॄर्मे शीघ्रमानय।
इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

गुरुभक्त भरत महर्षि वसिष्ठको यह संदेश देकर कि आप मेरी माताओंको साथ लेकर शीघ्र ही आइये, तुरंत आगे बढ़ गये ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत।
रामदर्शनजस्तर्षो भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

सुमन्त्र भी शत्रुघ्नके समीप ही पीछे-पीछे चल रहे थे। उन्हें भी भरतके समान ही श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी तीव्र अभिलाषा थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम्।
भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च ददर्श ह ॥ ४ ॥

चलते-चलते ही श्रीमान् भरतने तपस्वीजनोंके आश्रमोंके समान प्रतिष्ठित हुई भाईकी पर्णकुटी और झोंपड़ी देखी ॥ ४ ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या ददर्श भरतस्तदा।
काष्ठानि चावभग्नानि पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

उस पर्णशालाके सामने भरतने उस समय बहुत-से कटे हुए काष्ठके टुकड़े देखे, जो होमके लिये संगृहीत थे। साथ ही वहाँ पूजाके लिये संचित किये हुए फूल भी दृष्टि-गोचर हुए ॥ ५ ॥

स लक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शाश्रममीयुषः।
कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः क्वचित् क्वचित् ॥ ६ ॥

आश्रमपर आने-जानेवाले श्रीराम और लक्ष्मणके द्वारा निर्मित मार्गबोधक चिह्न भी उन्हें वृक्षोंमें लगे दिखायी दिये, जो कुशों और चीरोंद्वारा तैयार करके कहीं-कहीं वृक्षोंकी शाखाओंमें लटका दिये गये थे ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तस्मिन् महतः संचयान् कृतान्।
मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

उस वनमें शीत-निवारणके लिये मृगोंकी लेंडी और भैंसोंके सूखे हुए गोबरके ढेर एकत्र करके रखे गये थे, जिन्हें भरतने अपनी आँखों देखा ॥ ७ ॥

गच्छन्नेव महाबाहुर्द्युतिमान् भरतस्तदा।
शत्रुघ्नं चाब्रवीद्धृष्टस्तानमात्यांश्च सर्वशः ॥ ८ ॥

उस समय चलते-चलते ही परम कान्तिमान् महाबाहु भरतने शत्रुघ्न तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंसे अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत्।
नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

'जान पड़ता है कि महर्षि भरद्वाजने जिस स्थानका पता बताया था, वहाँ हमलोग आ गये हैं। मैं समझता हूँ मन्दाकिनी नदी यहाँसे अधिक दूर नहीं है ॥ ९ ॥

उच्चैर्बद्धानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम्।
अभिज्ञानकृतः पन्था विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥

'वृक्षोंमें ऊँचे बँधे हुए ये चीर दिखायी दे रहे हैं। अतः समय-बेसमय जल आदि लानेके निमित्त बाहर जानेकी इच्छावाले लक्ष्मणने जिसकी पहचानके लिये यह चिह्न बनाया है, वह आश्रमको जानेवाला मार्ग यही हो सकता है ॥ १० ॥

इतश्चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम्।
शैलपार्श्वे परिक्रान्तमन्योन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

'इधरसे बड़े-बड़े दाँतवाले वेगशाली हाथी निकलकर एक-दूसरेके प्रति गर्जना करते हुए इस पर्वतके पार्श्वभागमें

चक्कर लगाते रहते हैं (अतः उधर जानेसे रोकनेके लिये लक्ष्मणने ये चिह्न बनाये होंगे) ॥ ११ ॥

यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं वने।
तस्यासौ दृश्यते धूमः संकुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥

'वनमें तपस्वी मुनि सदा जिनका आधान करना चाहते हैं, उन अग्निदेवका यह अति सघन धूम दृष्टिगोचर हो रहा है ॥ १२ ॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसत्कारकारिणम्।
आर्यं द्रक्ष्यामि संहृष्टं महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥

'यहाँ मैं गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले पुरुषसिंह आर्य रघुनन्दनका सदा आनन्दमग्न रहनेवाले महर्षिकी भाँति दर्शन करूँगा' ॥ १३ ॥

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः
मन्दाकिनीमनु प्राप्तस्तं जनं चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर रघुकुलभूषण भरत दो ही घड़ीमें मन्दाकिनीके तटपर विराजमान चित्रकूटके पास जा पहुँचे और अपने साथवाले लोगोंसे इस प्रकार बोले—॥ १४ ॥

जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासने रतः।
जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥ १५ ॥

'अहो! मेरे ही कारण पुरुषसिंह महाराज श्रीरामचन्द्र इस निर्जन वनमें आकर खुली पृथ्वीके उपर वीरासनसे बैठते हैं; अतः मेरे जन्म और जीवनको धिक्कार है ॥ १५ ॥

मत्कृते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः।
सर्वान् कामान् परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

'मेरे ही कारण महातेजस्वी लोकनाथ रघुनाथ भारी संकटमें पड़कर समस्त कामनाओंका परित्याग करके वनमें निवास करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन्।
रामं तस्य पतिष्यामि सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ १७ ॥

'इसलिये मैं सब लोगोंके द्वारा निन्दित हूँ, अतः मेरे जन्मको धिक्कार है! आज मैं श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये उनके चरणोंमें गिर जाऊँगा। सीता और लक्ष्मणके भी पैरों पड़ूँगा' ॥ १७ ॥

एवं स विलपंस्तस्मिन् वने दशरथात्मजः।
ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस तरह विलाप करते हुए दशरथकुमार भरतने उस वनमें एक बड़ी पर्णशाला देखी, जो परम पवित्र और मनोरम थी ॥ १८ ॥

सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्बहुभिरावृताम्।
विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुशैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

वह साल, ताल और अश्वकर्ण नामक वृक्षोंके बहुत-से पत्तोंद्वारा छायी हुई थी; अतः यज्ञशालामें जिसपर कोमल कुश बिछाये गये हों, उस लंबी-चौड़ी वेदीके समान शोभा पा रही थी ॥ १९ ॥

शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः।
रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुबाधकैः ॥ २० ॥

वहाँ इन्द्रधनुषके समान बहुत-से धनुष रखे गये थे, जो गुरुतर कार्य-साधनमें समर्थ थे। जिनके पृष्ठभाग सोनेसे मढ़े गये थे और जो बहुत ही प्रबल तथा शत्रुओंको पीड़ा देनेवाले थे। उनसे उस पर्णकुटीकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २० ॥

अर्करश्मिप्रतीकाशैर्घोरैस्तूणगतैः शरैः।
शोभितां दीप्तवदनैः सर्पैर्भोगवतीमिव ॥ २१ ॥

वहाँ तरकसोंमें बहुत-से बाण भरे थे, जो सूर्यकी किरणोंके समान चमकीले और भयङ्कर थे। उन बाणोंसे वह पर्णशाला उसी प्रकार सुशोभित होती थी, जैसे दीप्तिमान् मुखवाले सर्पोंसे भोगवती पुरी शोभित होती है ॥ २१ ॥

महारजतवासोभ्यामसिभ्यां च विराजिताम्।
रुक्मबिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥२२॥

सोनेकी म्यानोंमें रखी हुई दो तलवारें और स्वर्णमय बिन्दुओंसे विभूषित दो विचित्र ढालें भी उस आश्रमकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलित्रैरासक्तैश्चित्रकाञ्चनभूषितैः।
अरिसंघैरनाधृष्यां मृगैः सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ गोहके चमड़ेके बने हुए बहुत-से सुवर्णजटित दस्ताने भी टँगे हुए थे। जैसे मृग सिंहकी गुफापर आक्रमण नहीं कर सकते, उसी प्रकार वह पर्णशाला शत्रुसमूहोंके लिये अगम्य एवं अजेय थी ॥ २३ ॥

प्रागुदक्प्रवणां वेदिं विशालां दीप्तपावकाम्।
ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥

श्रीरामके उस निवासस्थानमें भरतने एक पवित्र एवं विशाल वेदी भी देखी, जो ईशानकोणकी ओर कुछ नीची थी। उसपर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम्।
उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥
कृष्णाजिनधरं तं तु चीरवल्कलवाससम्।
ददर्श राममासीनमभितः पावकोपमम् ॥ २६ ॥

पर्णशालाकी ओर थोड़ी देरतक देखकर भरतने कुटियामें बैठे हुए अपने पूजनीय भ्राता श्रीरामको देखा, जो सिरपर जटामण्डल धारण किये हुए थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें कृष्णमृगचर्म तथा चीर एवं वल्कल वस्त्र धारण कर रखे थे। भरतको दिखायी दिया कि श्रीराम पास ही बैठे हैं और

प्रज्वलित अग्निके समान अपनी दिव्य प्रभा फैला रहे हैं ॥ २५-२६ ॥

सिंहस्कन्धं महाबाहुं पुण्डरीकनिभेक्षणम् ।
पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥
उपविष्टं महाबाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।
स्थण्डिले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

समुद्रपर्यन्त पृथ्वीके स्वामी, धर्मात्मा, महाबाहु श्रीराम सनातन ब्रह्माकी भाँति कुश बिछी हुई वेदीपर बैठे थे। उनके कंधे सिंहके समान, भुजाएँ बड़ी-बड़ी और नेत्र प्रफुल्ल कमलके समान थे। उस वेदीपर वे सीता और लक्ष्मणके साथ विराजमान थे ॥ २७-२८ ॥

तं दृष्ट्वा भरतः श्रीमाञ्शोकमोहपरिप्लुतः ।
अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैकयीसुतः ॥ २९ ॥

उन्हें इस अवस्थामें देख धर्मात्मा श्रीमान् कैकेयीकुमार भरत शोक और मोहमें डूब गये तथा बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

दृष्ट्वैव विललापार्तो बाष्पसंदिग्धया गिरा ।
अशक्नुवन् वारयितुं धैर्याद् वचनमब्रवन् ॥ ३० ॥

भाईकी ओर दृष्टि पड़ते ही भरत आर्तभावसे विलाप करने लगे। वे अपने शोकके आवेगको धैर्यसे रोक न सके और आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले—॥ ३० ॥

यः संसदि प्रकृतिभिर्भवेद् युक्त उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरुपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

'हाय ! जो राजसभामें बैठकर प्रजा और मन्त्रिवर्गके द्वारा सेवा तथा सम्मान पानेके योग्य हैं, वे ही ये मेरे बड़े भ्राता श्रीराम यहाँ जंगली पशुओंसे घिरे हुए बैठे हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुसाहस्रैर्यो महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

'जो महात्मा पहले कई सहस्र वस्त्रोंका उपयोग करते थे, वे अब धर्माचरण करते हुए यहाँ केवल दो मृगचर्म धारण करते हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद् यो विविधाश्चित्राः सुमनसः सदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

'जो सदा नाना प्रकारके विचित्र फूलोंको अपने सिरपर धारण करते थे, वे ही ये श्रीरघुनाथजी इस समय इस जटा-भारको कैसे सहन करते हैं ? ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञैर्यथादिष्टैर्युक्तो धर्मस्य संचयः ।
शरीरक्लेशसम्भूतं स धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥

'जिनके लिये शास्त्रोक्त यज्ञोंके अनुष्ठानद्वारा धर्मका संग्रह करना उचित है, वे इस समय शरीरको कष्ट देनेसे प्राप्त होनेवाले धर्मका अनुसंधान कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महार्हेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।
मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

'जिनके अङ्गोंकी बहुमूल्य चन्दनसे सेवा होती थी, उन्हीं मेरे पूज्य भ्राताका यह शरीर कैसे मलसे सेवित हो रहा है ॥ ३५ ॥

मन्निमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।
धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥ ३६ ॥

'हाय ! जो सर्वथा सुख भोगनेके योग्य हैं, वे श्रीराम मेरे ही कारण ऐसे दुःखमें पड़ गये हैं ! ओह ! मैं कितना क्रूर हूँ ! मेरे इस लोकनिन्दित जीवनको धिक्कार है !' ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन् दीनः प्रस्विन्नमुखपङ्कजः ।
पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते-करते भरत अत्यन्त दुखी हो गये। उनके मुखारविन्दपर पसीनेकी बूँदें दिखायी देने लगीं। वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंतक पहुँचनेके पहले ही पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ ३७ ॥

दुःखाभितप्तो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।
उक्त्वाऽऽर्येति सकृद्दीनं पुनर्नोवाच किंचन ॥ ३८ ॥

अत्यन्त दुःखसे संतप्त होकर महाबली राजकुमार भरतने एक बार दीनवाणीमें 'आर्य' कहकर पुकारा। फिर वे कुछ न बोल सके ॥ ३८ ॥

बाष्पैः पिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् ।
आर्येत्येवाभिसंक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत् ततः ॥ ३९ ॥

आँसुओंसे उनका गला रुँध गया था। यशस्वी श्रीराम-की ओर देख वे 'हा ! आर्य' कहकर चीख उठे। इससे आगे उनसे कुछ बोला न जा सका ॥ ३९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणौ रुदन् ।
तावुभौ च समालिङ्ग्य रामोऽप्यश्रूण्यवर्तयत् ॥ ४० ॥

फिर शत्रुघ्नने भी रोते-रोते श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। श्रीरामने उन दोनोंको उठाकर छातीसे लगा लिया। फिर वे भी नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहाने लगे ॥ ४० ॥

ततः सुमन्त्रेण गुहेन चैव
समीयतू राजसुतावरण्ये ।
दिवाकरश्चैव निशाकरश्च
यथाम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥ ४१ ॥

तत्पश्चात् राजकुमार श्रीराम तथा लक्ष्मण उस वनमें सुमन्त्र और निषादराज गुहसे मिले, मानो आकाशमें सूर्य और चन्द्रमा, शुक्र और बृहस्पतिसे मिल रहे हों ॥ ४१ ॥

तान् पार्थिवान् वारणयूथपार्हान्
समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।
वनौकसस्तेऽभिसमीक्ष्य सर्वे
त्वश्रूण्यमुञ्चन् प्रविहाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

यूथपति गजराजपर बैठकर यात्रा करनेयोग्य उन चारों राजकुमारोंको उस विशाल वनमें आया देख समस्त वनवासी हर्ष छोड़कर शोकके आँसू बहाने लगे ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें निन्यानबेवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९९ ॥

शततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको कुशल-प्रश्नके बहाने राजनीतिका उपदेश करना

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।
ददर्श रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥
कथंचिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।
भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह पाणिना ॥ २ ॥
आघ्राय रामस्तं मूर्ध्नि परिष्वज्य च राघवम् ।
अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत सादरम् ॥ ३ ॥

जटा और चीर-वस्त्र धारण किये भरत हाथ जोड़कर पृथ्वीपर पड़े थे, मानो प्रलयकालमें सूर्यदेव धरतीपर गिर गये हों। उनको उस अवस्थामें देखना किसी भी स्नेही सुहृद्के लिये अत्यन्त कठिन था। श्रीरामने उन्हें देखा और जैसे-तैसे किसी तरह पहचाना। उनका मुख उदास हो गया था। वे बहुत दुर्बल हो गये थे। श्रीरामने भाई भरतको अपने हाथसे पकड़कर उठाया और उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। इसके बाद रघुकुलभूषण भरतको गोदमें बिठाकर श्रीरामने बड़े आदरसे पूछा—॥ १-३ ॥

क्व नु तेऽभूत् पिता तात यदरण्यं त्वमागतः ।
न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

'तात! पिताजी कहाँ थे कि तुम इस वनमें आये हो? उनके जीते-जी तो तुम वनमें नहीं आ सकते थे ॥ ४ ॥

चिरस्य बत पश्यामि दूराद् भरतमागतम् ।
दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन् किं तात वनमागतः ॥ ५ ॥

'मैं दीर्घकालके बाद दूरसे (नानाके घरसे) आये हुए भरतको आज इस वनमें देख रहा हूँ; परंतु इनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। तात! तुम क्यों वनमें आये हो? ॥

कच्चिन्नु धरते तात राजा यत् त्वमिहागतः ।
कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

'भाई! महाराज जीवित हैं न? कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि वे अत्यन्त दुःखी होकर सहसा परलोकवासी हो गये हों और इसीलिये तुम्हें स्वयं यहाँ आना पड़ा हो? ॥ ६ ॥

कच्चित् सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।
कच्चिच्छुश्रूषसे तात पितुः सत्यपराक्रम ॥ ७ ॥

'सौम्य! तुम अभी बालक हो, इसलिये परम्परासे चला आता हुआ तुम्हारा राज्य नष्ट तो नहीं हो गया? सत्यपराक्रमी तात भरत! तुम पिताजीकी सेवा-शुश्रूषा तो करते हो न? ॥ ७ ॥

कच्चिद् दशरथो राजा कुशली सत्यसंगरः ।
राजसूयाश्वमेधानामाहर्ता धर्मनिश्चितः ॥ ८ ॥

'जो धर्मपर अटल रहनेवाले हैं तथा जिन्होंने राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया है, वे सत्यप्रतिज्ञ महाराज दशरथ सकुशल तो हैं न? ॥ ८ ॥

स कच्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः ।
इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत् तात पूज्यते ॥ ९ ॥

'तात! क्या तुम सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले, विद्वान्, ब्रह्मवेत्ता और इक्ष्वाकुकुलके आचार्य महातेजस्वी वसिष्ठजीकी यथावत् पूजा करते हो? ॥ ९ ॥

तात कच्चिच्च कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।
सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दति कैकयी ॥ १० ॥

'भाई! क्या माता कौसल्या सुखसे हैं? उत्तम संतानवाली सुमित्रा प्रसन्न हैं और आर्या कैकेयी देवी भी आनन्दित हैं? ॥

कच्चित् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ।
अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ११ ॥

जो उत्तम कुलमें उत्पन्न, विनयसम्पन्न, बहुश्रुत, किसीके दोष न देखनेवाले तथा शास्त्रोक्त धर्मोंपर निरन्तर दृष्टि रखनेवाले हैं, उन पुरोहितजीका तुमने पूर्णतः सत्कार किया है? ॥ ११ ॥

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ १२ ॥

'हवनविधिके ज्ञाता, बुद्धिमान् और सरल स्वभाववाले जिन ब्राह्मण देवताको तुमने अग्निहोत्र-कार्यके लिये नियुक्त किया है, वे सदा ठीक समयपर आकर क्या तुम्हें यह सूचित करते हैं कि इस समय अग्निमें आहुति दे दी गयी और अब अमुक समयमें हवन करना है? ॥ १२ ॥

कच्चिद् देवान् पितॄन् भृत्यान् गुरून् पितृसमानपि ।
वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥

'तात! क्या तुम देवताओं, पितरों, भृत्यों, गुरुजनों, पिताके समान आदरणीय वृद्धों, वैद्यों और ब्राह्मणोंका सम्मान करते हो? ॥ १३ ॥

इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित् त्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥

'भाई ! जो मन्त्ररहित श्रेष्ठ बाणोंके प्रयोग तथा मन्त्रसहित उत्तम अस्त्रोंके प्रयोगके ज्ञानसे सम्पन्न और अर्थशास्त्र (राजनीति) के अच्छे पण्डित हैं, उन आचार्य सुधन्वाका क्या तुम समादर करते हो ? ॥ १४ ॥

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः ।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥

'तात ! क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाहरी चेष्टाओंसे ही मनकी बात समझ लेनेवाले सुयोग्य व्यक्तियोंको ही मन्त्री बनाया है ? ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव ।
सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः ॥ १६ ॥

'रघुनन्दन ! अच्छी मन्त्रणा ही राजाओंकी विजयका मूलकारण है। वह भी तभी सफल होती है, जब नीतिशास्त्रनिपुण मन्त्रिशिरोमणि अमात्य उसे सर्वथा गुप्त रक्खें ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् कालेऽवबुध्यसे ।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम् ॥ १७ ॥

'भरत ! तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते ? समयपर जाग जाते हो न ? रातके पिछले पहरमें अर्थसिद्धिके उपायपर विचार करते हो न ? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह ।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥

'(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है; छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ—) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते ? अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो ? ॥

कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम् ।
क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

'रघुनन्दन ! जिसका साधन बहुत छोटा और फल बहुत-बड़ा हो, ऐसे कार्यका निश्चय करनेके बाद तुम उसे शीघ्र प्रारम्भ कर देते हो न ? उसमें विलम्ब तो नहीं करते ? ॥१९॥

कच्चिन्नु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।
विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः ॥ २० ॥

'तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जानेपर अथवा पूरे होनेके समीप पहुँचनेपर ही दूसरे राजाओंको ज्ञात होते हैं न ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारे भावी कार्यक्रमको वे पहले ही जान लेते हों ? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः ।
त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥

'तात ! तुम्हारे निश्चित किये हुए विचारोंको तुम्हारे मन्त्रियोंके प्रकट न करनेपर भी दूसरे लोग तर्क और युक्तिके द्वारा जान तो नहीं लेते हैं ? (तथा तुमको और तुम्हारे अमात्योंको दूसरोंके गुप्त विचारोंका पता लगता रहता है न ?)॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत् ॥ २२ ॥

'क्या तुम सहस्रों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही अपने पास रखनेकी इच्छा रखते हो ? क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

'यदि राजा हजार या दस हजार मूर्खोंको अपने पास रख ले तो भी उनसे अवसरपर कोई अच्छी सहायता नहीं मिलती ॥ २३ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः ।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

'यदि एक मन्त्री भी मेधावी, शूरवीर, चतुर एवं नीतिज्ञ हो तो वह राजा या राजकुमारको बहुत बड़ी सम्पत्तिकी प्राप्ति करा सकता है ॥ २४ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः ॥ २५ ॥

'तात ! तुमने प्रधान व्यक्तियोंको प्रधान, मध्यम श्रेणीके मनुष्योंको मध्यम और छोटी श्रेणीके लोगोंको छोटे ही कामोंमें नियुक्त किया है न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

जो घूस न लेते हों अथवा निश्छल हों, बाप-दादोंके समयसे ही काम करते आ रहे हों तथा बाहर-भीतरसे पवित्र एवं श्रेष्ठ हों, ऐसे अमात्योंको ही तुम उत्तम कार्योंमें नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः ।
राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

'कैकेयीकुमार ! तुम्हारे राज्यकी प्रजा कठोर दण्डसे अत्यन्त उद्विग्न होकर तुम्हारे मन्त्रियोंका तिरस्कार तो नहीं करती ? ॥ २७ ॥

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

'जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका तथा स्त्रियाँ कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ? ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं भृत्यसंदूषणे रतम्।
शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति न स हन्यते ॥ २९ ॥

'जो साम-दाम आदि उपायोंके प्रयोगमें कुशल, राजनीति शास्त्रका विद्वान्, विश्वासी भृत्योंको फोड़नेमें लगा हुआ, शूर (मरनेसे न डरनेवाला) तथा राजाके राज्यको हड़प लेनेकी इच्छा रखनेवाला है—ऐसे पुरुषको जो राजा नहीं मार डालता है, वह स्वयं उसके हाथसे मारा जाता है ॥ २९ ॥

कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

'क्या तुमने सदा संतुष्ट रहनेवाले, शूर-वीर, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले, रणकर्मदक्ष पुरुषको ही सेनापति बनाया है ? ॥ ३० ॥

बलवन्तश्च कच्चित् ते मुख्या युद्धविशारदाः।
दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ३१ ॥

'तुम्हारे प्रधान-प्रधान योद्धा (सेनापति) बलवान्, युद्ध-कुशल और पराक्रमी तो हैं न ? क्या तुमने उनके शौर्यकी परीक्षा कर ली है ? तथा क्या वे तुम्हारे द्वारा सत्कारपूर्वक सम्मान पाते रहते हैं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

'सैनिकोंको देनेके लिये नियत किया हुआ समुचित वेतन और भत्ता तुम समयपर दे देते हो न ? देनेमें विलम्ब तो नहीं करते ? ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः।
भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः ॥ ३३ ॥

'यदि समय बिताकर भत्ता और वेतन दिये जाते हैं तो सैनिक अपने स्वामीपर भी अत्यन्त कुपित हो जाते हैं और इसके कारण बड़ा भारी अनर्थ घटित हो जाता है ॥ ३३ ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

'क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि समस्त प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे लिये एक-चित्त होकर अपने प्राणोंका त्याग करनेके लिये उद्यत रहते हैं ? ॥

कच्चिज्जानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान्।
यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

'भरत ! तुमने जिसे राजदूतके पदपर नियुक्त किया है, वह पुरुष अपने ही देशका निवासी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभाशाली और जैसा कहा जाय, वैसी ही बात दूसरेके सामने कहनेवाला और सदसद्विवेकयुक्त है न ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

'क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह और अपने पक्षके पंद्रह तीर्थोंकी तीन-तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३६ ॥

कच्चिद् व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा।
दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

'शत्रुसूदन ! जिन शत्रुओंको तुमने राज्यसे निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते हैं तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे।
अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

'तात ! तुम कभी नास्तिक ब्राह्मणोंका संग तो नहीं करते हो ? क्योंकि वे बुद्धिको परमार्थकी ओरसे विचलित करनेमें कुशल होते हैं तथा वास्तवमें अज्ञानी होते हुए भी अपनेको बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

'उनका ज्ञान वेदके विरुद्ध होनेके कारण दूषित होता है और वे प्रमाणभूत प्रधान-प्रधान धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी तार्किक बुद्धिका आश्रय लेकर व्यर्थ बकवाद किया करते हैं ॥

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसंकुलाम् ॥ ४० ॥
ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा।
जितेन्द्रियैर्महोत्साहैर्वृतामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनका व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये। मतान्तरसे ये अठारह तीर्थ इस प्रकार हैं—मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तःपुराध्यक्ष, कारागाराध्यक्ष, धनाध्यक्ष, राजाकी आज्ञासे सेवकोंको काम बतानेवाला, वादी-प्रतिवादीसे मामलेकी पूछ-ताछ करनेवाला, प्राड्विवाक (वकील), धर्मासनाधिकारी (न्यायाधीश), व्यवहार निर्णेता, सभ्य, सेनाको जीविका-निर्वाहके लिये धन देनेका अधिकारी (सेनानायक), कर्मचारियोंको काम पूरा होनेपर वेतन देनेके लिये राजासे धन लेनेवाला, (नगराध्यक्ष, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक), दुष्टोंको दण्ड देनेका अधिकारी तथा जल, पर्वत, वन एवं दुर्गम भूमिकी रक्षा करनेवाला—इनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये।

२. उपर्युक्त अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं।

प्रासादैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम्।
कच्चित् समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे ॥ ४२ ॥

'तात ! अयोध्या हमारे वीर पूर्वजोंकी निवासभूमि है; उसका जैसा नाम है, वैसा ही गुण है। उसके दरवाजे सब ओरसे सुदृढ़ हैं। वह हाथी, घोड़े और रथोंसे परिपूर्ण है। अपने-अपने कर्मोंमें लगे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सहस्रोंकी संख्यामें वहाँ सदा निवास करते हैं। वे सब-के-सब महान् उत्साही, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ हैं। नाना प्रकारके राजभवन और मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते हैं। वह नगरी बहुसंख्यक विद्वानोंसे भरी है। ऐसी अभ्युदयशील और समृद्धिशालिनी नगरी अयोध्याकी तुम भलीभाँति रक्षा तो करते हो न ? ॥

कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः।
सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः ॥ ४४ ॥
अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः।
परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥
विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः।
कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

'रघुनन्दन भरत ! जहाँ नाना प्रकारके अश्वमेध आदि महायज्ञोंके बहुत-से चयन-प्रदेश (अनुष्ठानस्थल) शोभा पाते हैं, जिसमें प्रतिष्ठित मनुष्य अधिक संख्यामें निवास करते हैं, अनेकानेक देवस्थान, पौंसले और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहाँके स्त्री-पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं, जो सामाजिक उत्सवोंके कारण सदा शोभासम्पन्न दिखायी देता है, जहाँ खेत जोतनेमें समर्थ पशुओंकी अधिकता है, जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती, जहाँ खेतीके लिये वर्षाके जलपर निर्भर नहीं रहना पड़ता (नदियोंके जलसे ही सिंचाई हो जाती है), जो बहुत ही सुन्दर और हिंसक पशुओंसे रहित है, जहाँ किसी तरहका भय नहीं है, नाना प्रकारकी खानें जिसकी शोभा बढ़ाती हैं, जहाँ पापी मनुष्योंका सर्वथा अभाव है तथा हमारे पूर्वजोंने जिसकी भलीभाँति रक्षा की है, वह अपना कोसल देश धन-धान्यसे सम्पन्न और सुखपूर्वक बसा हुआ है न ? ॥

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ४७ ॥

'तात ! कृषि और गोरक्षासे आजीविका चलानेवाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीतिपात्र हैं न ? क्योंकि कृषि और व्यापार आदिमें संलग्न रहनेपर ही यह लोक सुखी एवं उन्नतिशील होता है ॥ ४७ ॥

तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित् ते भरणं कृतम्।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

'उन वैश्योंको इष्टकी प्राप्ति कराकर और उनके अनिष्टका निवारण करके तुम उन सब लोगोंका भरण-पोषण तो करते हो न ? क्योंकि राजाको अपने राज्यमें निवास करनेवाले सब लोगोंका धर्मानुसार पालन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित् तास्ते सुरक्षिताः।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥

'क्या तुम अपनी स्त्रियोंको संतुष्ट रखते हो ? क्या वे तुम्हारे द्वारा भलीभाँति सुरक्षित रहती हैं ? तुम उनपर अधिक विश्वास तो नहीं करते ? उन्हें अपनी गुप्त बात तो नहीं कह देते ? ॥

कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित् ते सन्ति धेनुकाः।
कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि ॥ ५० ॥

'जहाँ हाथी उत्पन्न होते हैं, वे जंगल तुम्हारे द्वारा सुरक्षित हैं न ? तुम्हारे पास दूध देनेवाली गौएँ तो अधिक संख्यामें हैं न ? (अथवा हाथियोंको फँसानेवाली हथिनियोंकी तो तुम्हारे पास कमी नहीं है ?) तुम्हें हथिनियों, घोड़ों और हाथियोंके संग्रहसे कभी तृप्ति तो नहीं होती ? ॥ ५० ॥

कच्चिद् दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम्।
उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे ॥ ५१ ॥

'राजकुमार ! क्या तुम प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो प्रधान सड़कपर जा-जाकर नगरवासी मनुष्योंको दर्शन देते हो ? ॥ ५१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्कया।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥ ५२ ॥

'काम-काजमें लगे हुए सभी मनुष्य निडर होकर तुम्हारे सामने तो नहीं आते ? अथवा वे सब सदा तुमसे दूर तो नहीं रहते ? क्योंकि कर्मचारियोंके विषयमें मध्यम स्थितिका अवलम्बन करना ही अर्थसिद्धिका कारण होता है ॥ ५२ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।
यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पधनुर्धरैः ॥ ५३ ॥

'क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी तथा धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं ? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः।
अपात्रेषु न ते कच्चित् कोषो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥

'रघुनन्दन ! क्या तुम्हारी आय अधिक और व्यय बहुत कम है ? तुम्हारे खजानेका धन अपात्रोंके हाथमें तो नहीं चला जाता ? ॥ ५४ ॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च।
योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चित् गच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥

'देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा तथा मित्रोंके लिये ही तो तुम्हारा धन खर्च होता है न ? ॥ ५५ ॥

कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥

कभी ऐसा तो नहीं होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुषपर भी दोष लगा दे तथा शास्त्रज्ञानमें कुशल विद्वानोंद्वारा उसके विषयमें विचार कराये बिना ही लोभवश उसे आर्थिक दण्ड दे दिया जाता हो ? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ ॥ ५७ ॥

'नरश्रेष्ठ ! जो चोरीमें पकड़ा गया हो, जिसे किसीने चोरी करते समय देखा हो, पूछ-ताछसे भी जिसके चोर होनेका प्रमाण मिल गया हो तथा जिसके विरुद्ध (चोरीका माल बरामद होना आदि) और भी बहुत-से कारण (सबूत) हों ऐसे चोरको भी तुम्हारे राज्यमें धनके लालचसे छोड़ तो नहीं दिया जाता है ? ॥ ५७ ॥

व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

'रघुकुलभूषण ! यदि धनी और गरीबमें कोई विवाद छिड़ा हो और वह राज्यके न्यायालयमें निर्णयके लिये आया हो तो तुम्हारे बहुज्ञ मन्त्री धन आदिके लोभको छोड़कर उस मामलेपर विचार करते हैं न ? ॥ ५८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव ।
तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

'रघुनन्दन ! निरपराध होनेपर भी जिन्हें मिथ्या दोष लगाकर दण्ड दिया जाता है, उन मनुष्योंकी आँखोंसे जो आँसू गिरते हैं, वे पक्षपातपूर्ण शासन करनेवाले राजाके पुत्र और पशुओंका नाश कर डालते हैं ॥ ५९ ॥

कच्चिद् वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान् मुख्यांश्च राघव ।
दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे ॥ ६० ॥

'राघव ! क्या तुम वृद्ध पुरुषों, बालकों और प्रधान-प्रधान वैद्योंका आन्तरिक अनुराग, मधुर वचन और धन-दान—इन तीनोंके द्वारा सम्मान करते हो ? ॥ ६० ॥

कच्चिद् गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान् देवतातिथीन् ।
चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥ ६१ ॥

'गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, देवताओं, अतिथियों, चैत्य वृक्षों और समस्त पूर्णकाम ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हो न ? ॥ ६१ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्ममर्थं धर्मेण वा पुनः ।
उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन न विबाधसे ॥ ६२ ॥

'तुम अर्थके द्वारा धर्मको अथवा धर्मके द्वारा अर्थको हानि तो नहीं पहुँचाते ? अथवा आसक्ति और लोभरूप कामके द्वारा धर्म और अर्थ दोनोंमें बाधा तो नहीं आने देते ? ॥ ६२ ॥

कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे ॥ ६३ ॥

'विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ, समयोचित कर्तव्यके ज्ञाता तथा दूसरोंको वर देनेमें समर्थ भरत ! क्या तुम समयका विभाग करके धर्म, अर्थ और कामका योग्य समयमें सेवन करते हो ? ॥ ६३ ॥

कच्चित् ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।
आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

'महाप्राज्ञ ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाले ब्राह्मण पुरवासी और जनपदवासी मनुष्योंके साथ तुम्हारे कल्याणकी कामना करते हैं न ? ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ।
कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥

'नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषोंका संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियोंके वशीभूत होना, राजकार्योंके विषयमें अकेले ही विचार करना, प्रयोजनको न समझनेवाले विपरीतदर्शी मूर्खोंसे सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्योंका शीघ्र प्रारम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, माङ्गलिक आदि कार्योंका अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओंपर एक ही साथ चढ़ाई कर देना—ये राजाके चौदह दोष हैं। तुम इन दोषोंका सदा परित्याग करते हो न ? ॥ ६५—६७ ॥

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव ॥ ६८ ॥
इन्द्रियाणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम् ।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी संधिविग्रहौ ।
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

'महाप्राज्ञ भरत ! दशवर्ग[1], पञ्चवर्ग[2], चतुर्वर्ग[3], सप्तवर्ग[4], अष्टवर्ग[5], त्रिवर्ग[6], तीन विद्याएँ[7], बुद्धिके द्वारा इन्द्रियोंको जीतना, छः गुण[8], दैवी[9] और मानुषी बाधाएँ, राजाके नीतिपूर्ण कार्य[10], विंशतिवर्ग[11], प्रकृतिमण्डल[12], यात्रा (शत्रु-पर आक्रमण), दण्डविधान (व्यूहरचना) तथा दो-दो गुणोंकी[13] योनिभूत संधि और विग्रह—इन सबकी ओर तुम यथार्थ रूपसे ध्यान देते हो न ? इनमेंसे त्यागनेयोग्य दोषोंको त्यागकर ग्रहण करनेयोग्य गुणोंको ग्रहण करते हो न ? ॥ ६८—७० ॥

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ।
कच्चित् समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे बुध ॥ ७१ ॥

'विद्वन् ! क्या तुम नीतिशास्त्रकी आज्ञाके अनुसार चार या तीन मन्त्रियोंके साथ—सबको एकत्र करके अथवा सबसे अलग-अलग मिलकर सलाह करते हो ? ॥ ७१ ॥

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलाः क्रियाः ।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम् ॥ ७२ ॥

'क्या तुम वेदोंकी आज्ञाके अनुसार काम करके उन्हें सफल करते हो ? क्या तुम्हारी क्रियाएँ सफल (उद्देश्यकी सिद्धि करनेवाली) हैं ? क्या तुम्हारी स्त्रियाँ भी सफल (संतानवती) हैं ? और क्या तुम्हारा शास्त्रज्ञान भी विनय आदि गुणोंका उत्पादक होकर सफल हुआ है ? ॥ ७२ ॥

---

१. कामसे उत्पन्न होनेवाले दस दोषोंको दसवर्ग कहते हैं । ये राजाके लिये त्याज्य हैं । मनुजीने उनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—आखेट, जुआ, दिनमें सोना, दूसरोंकी निन्दा करना, स्त्रीमें आसक्त होना, मद्यपान, नाचना, गाना, बाजा बजाना और व्यर्थ घूमना । २. जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ईरिणदुर्ग और धन्वदुर्ग—ये पाँच प्रकारके दुर्ग पञ्चवर्ग कहलाते हैं । इनमें आरम्भके तीन तो प्रसिद्ध ही हैं । जहाँ किसी प्रकारकी खेती नहीं होती, ऐसे प्रदेशको ईरिण कहते हैं । बालूसे भरी मरुभूमिको धन्व कहते हैं । गर्मीके दिनोंमें वह शत्रुओंके लिये दुर्गम होती है । इन सब दुर्गोंका यथासमय उपयोग करके राजाको आत्मरक्षा करनी चाहिये । ३. साम, दान, भेद और दण्ड—इन चार प्रकारकी नीतिको चतुर्वर्ग कहते हैं । ४. राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्रवर्ग—ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्यके सात अङ्ग हैं । इन्हींको सप्तवर्ग कहा गया है । ५. चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता और दण्डकी कठोरता—ये क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोष अष्टवर्ग माने गये हैं । किसी-किसीके मतमें खेतीकी उन्नति करना, व्यापारको बढ़ाना, दुर्ग बनवाना, पुल निर्माण कराना, जंगलसे हाथी पकड़कर मँगवाना, खानोंपर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओंसे कर लेना और निर्जन प्रदेशको आबाद करना—ये राजाके लिये उपादेय आठ गुण ही अष्टवर्ग हैं । ६. धर्म, अर्थ और कामको अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभुशक्ति तथा मन्त्रशक्तिको त्रिवर्ग कहते हैं । ७. त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये तीन विद्याएँ हैं । इनमें तीनों वेदोंको त्रयी कहते हैं । कृषि और गोरक्षा आदि वार्ताके अन्तर्गत हैं तथा नीतिशास्त्रका नाम दण्डनीति है । ८. संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं । इनमें शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है । ९. आग लगना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारीका प्रकोप होना—ये पाँच दैवी बाधाएँ हैं । राज्यके अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं और राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे तथा स्वयं राजाके लोभसे जो भय प्राप्त होता है, उसे मानवी बाधा कहते हैं ।

१०. शत्रु राजाओंके सेवकोंमेंसे जिनको वेतन न मिला हो, जो अपमानित किये गये हों, जो अपने मालिकके किसी बर्तावसे कुपित हों तथा जिन्हें भय दिखाकर डराया गया हो, ऐसे लोगोंको मनचाही वस्तु देकर फोड़ लेना राजाका कृत्य (नीतिपूर्ण कार्य) माना गया है । ११. बालक, वृद्ध, दीर्घकालका रोगी, जातिच्युत, डरपोक, भीरु मनुष्योंको साथ रखनेवाला, लोभी-लालची लोगोंको आश्रय देनेवाला, मन्त्री, सेनापति आदि प्रकृतियोंको असंतुष्ट रखनेवाला, विषयोंमें आसक्त, चञ्चलचित्त मनुष्योंसे सलाह लेनेवाला, देवता और ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाला, दैवका मारा हुआ, भाग्यके भरोसे पुरुषार्थ न करनेवाला, दुर्भिक्षसे पीड़ित, सैनिक कष्टसे युक्त (सेनारहित), स्वदेशमें न रहनेवाला, अधिक शत्रुओंवाला, अकाल (क्रूर ग्रहदशा आदिसे युक्त) और सत्यधर्मसे रहित—ये बीस प्रकारके राजा संधिके योग्य नहीं माने गये हैं । इन्हींको विंशतिवर्गके नामसे कहा गया है । १२. राज्यके स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—राज्यके इन सात अङ्गोंको ही प्रकृतिमण्डल कहते हैं । किसी-किसीके मतमें मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना और दण्ड—ये पाँच प्रकृतियाँ अलग हैं और बारह राजाओंके समूहको मण्डल कहा है । १३. द्वैधीभाव और समाश्रय—ये इनकी योनिसंधि हैं और यान तथा आसन इनकी योनिविग्रह हैं, अर्थात् प्रथम दो संधिमूलक और अन्तिम दो विग्रहमूलक हैं ।

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथोक्ता मम राघव।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥ ७३ ॥

'रघुनन्दन ! मैंने जो कुछ कहा है, तुम्हारी बुद्धिका भी ऐसा ही निश्चय है न ? क्योंकि यह विचार आयु और यशको बढ़ानेवाला तथा धर्म, काम और अर्थकी सिद्धि करनेवाला है ॥ ७३ ॥

यां वृत्तिं वर्तते यातो यां च नः प्रपितामहः।
तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद् या च सत्पथगा शुभा ॥ ७४ ॥

'हमारे पिताजी जिस वृत्तिका आश्रय लेते हैं, हमारे प्रपितामहोंने जिस आचरणका पालन किया है, सत्पुरुष भी जिसका सेवन करते हैं और जो कल्याणका मूल है, उसीका तुम पालन करते हो न ? ॥ ७४ ॥

कच्चित् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव।
कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥ ७५ ॥

'रघुनन्दन ! तुम स्वादिष्ट अन्न अकेले ही तो नहीं खा जाते ? उसकी आशा रखनेवाले मित्रोंको भी देते हो न ? ॥ ७५ ॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा
महीपतिर्दण्डधरः प्रजानाम्।
अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-
दितश्च्युतः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

'इस प्रकार धर्मके अनुसार दण्ड धारण करनेवाला विद्वान् राजा प्रजाओंका पालन करके समूची पृथ्वीको यथावत्रूपसे अपने अधिकारमें कर लेता है तथा देहत्याग करनेके पश्चात् स्वर्गलोकमें जाता है' ॥ ७६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०० ॥

एकाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतसे वनमें आगमनका प्रयोजन पूछना, भरतका उनसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना और श्रीरामका उसे अस्वीकार कर देना

तं तु रामः समाज्ञाय भ्रातरं गुरुवत्सलम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने अपने गुरुभक्त भाई भरतको अच्छी तरह समझाकर अथवा उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर उनसे इस प्रकार पूछना आरम्भ किया—॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया।
यस्मात् त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥
यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

'भाई ! तुम राज्य छोड़कर वल्कल, कृष्णमृगचर्म और जटा धारण करके जो इस देशमें आये हो, इसका क्या कारण है ? जिस निमित्तसे इस वनमें तुम्हारा प्रवेश हुआ है, यह मैं तुम्हारे मुँहसे सुनना चाहता हूँ। तुम्हें सब कुछ साफ-साफ बताना चाहिये' ॥ २-३ ॥

इत्युक्तः केकयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना।
प्रगृह्य बलवद् भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

ककुत्स्थवंशी महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर भरतने बलपूर्वक आन्तरिक शोकको दबा पुनः हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ ४ ॥

आर्य तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम्।
गतः स्वर्गं महाबाहुः पुत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

'आर्य ! हमारे महाबाहु पिता अत्यन्त दुष्कर कर्म करके पुत्रशोकसे पीड़ित हो हमें छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

स्त्रिया नियुक्तः कैकेय्या मम मात्रा परंतप।
चकार सा महत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनन्दन ! अपनी स्त्री एवं मेरी माता कैकेयीकी प्रेरणासे ही विवश हो पिताजीने ऐसा कठोर कार्य किया था। मेरी माँने अपने सुयशको नष्ट करनेवाला यह बड़ा भारी पाप किया है ॥ ६ ॥

सा राज्यफलमप्राप्य विधवा शोककर्शिता।
पतिष्यति महाघोरे नरके जननी मम ॥ ७ ॥

'अतः वह राज्यरूपी फल न पाकर विधवा हो गयी। अब मेरी माता शोकसे दुर्बल हो महाघोर नरकमें पड़ेगी ॥ ७ ॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि।
अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मघवानिव ॥ ८ ॥

'अब आप अपने दासस्वरूप मुझ भरतपर कृपा कीजिये और इन्द्रकी भाँति आज ही राज्य ग्रहण करनेके लिये अपना अभिषेक कराइये ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मातरश्च याः।
त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

'ये सारी प्रकृतियाँ (प्रजा आदि) और सभी विधवा माताएँ आपके पास आयी हैं। आप इन सबपर कृपा करें ॥ ९ ॥

तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद।
राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले रघुवीर! आप ज्येष्ठ होनेके नाते राज्य-प्राप्तिके क्रमिक अधिकारसे युक्त हैं, न्यायतः आपको ही राज्य मिलना उचित है; अतः आप धर्मानुसार राज्य ग्रहण करें और अपने सुहृदोंको सफलमनोरथ बनावें ॥ १० ॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया।
शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

'आप-जैसे पतिसे युक्त हो यह सारी वसुधा वैधव्यरहित हो जाय और निर्मल चन्द्रमासे सनाथ हुई शरत्कालकी रात्रिके समान शोभा पाने लगे ॥ ११ ॥

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया।
भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

'मैं इन समस्त सचिवोंके साथ आपके चरणोंमें मस्तक रखकर यह याचना करता हूँ कि आप राज्य ग्रहण करें। मैं आपका भाई, शिष्य और दास हूँ। आप मुझपर कृपा करें ॥ १२ ॥

तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं सचिवमण्डलम्।
पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥

'पुरुषसिंह! यह सारा मन्त्रिमण्डल अपने यहाँ कुलपरम्परासे चला आ रहा है। ये सभी सचिव पिताजीके समयमें भी थे। हम सदासे इनका सम्मान करते आये हैं, अतः आप इनकी प्रार्थना न ठुकरायें' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः।
रामस्य शिरसा पादौ जग्राह भरतः पुनः ॥ १४ ॥

ऐसा कहकर कैकेयीपुत्र महाबाहु भरतने नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए पुनः श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंसे माथा टेक दिया ॥ १४ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

उस समय वे मतवाले हाथीके समान बारंबार लंबी साँस खींचने लगे, तब श्रीरामने भाई भरतको उठाकर हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा— ॥ १५ ॥

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥ १६ ॥

'भाई! तुम्हीं बताओ। उत्तम कुलमें उत्पन्न, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी और श्रेष्ठ व्रतोंका पालन करनेवाला मेरे-जैसा मनुष्य राज्यके लिये पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घनरूप पाप कैसे कर सकता है? ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन।
न चापि जननीं बाल्यात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

'शत्रुसूदन! मैं तुम्हारे अंदर थोड़ा-सा भी दोष नहीं देखता। अज्ञानवश तुम्हें अपनी माताकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ १७ ॥

कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ।
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

'निष्पाप महाप्राज्ञ! गुरुजनोंका अपनी अभीष्ट स्त्रियों और प्रिय पुत्रोंपर सदा पूर्ण अधिकार होता है। वे उन्हें चाहे जैसी आज्ञा दे सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

'सौम्य! माताओंसहित हम भी इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुषों-द्वारा महाराजके स्त्री-पुत्र और शिष्य कहे गये हैं, अतः हमें भी उनको सब तरहकी आज्ञा देनेका अधिकार था। इस बातको तुम भी समझने योग्य हो ॥ १९ ॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम्।
राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥ २० ॥

'सौम्य! महाराज मुझे वल्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण कराकर वनमें ठहरावें अथवा राज्यपर बिठावें—इन दोनों बातोंके लिये वे सर्वथा समर्थ थे ॥ २० ॥

यावत् पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते।
तावद् धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥

'धर्मज्ञ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरत! मनुष्यकी विश्व-वन्द्य पितामें जितनी गौरव-बुद्धि होती है, उतनी ही मातामें भी होनी चाहिये ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत् समाचरे ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन! इन धर्मशील माता और पिता दोनोंने जब मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है, तब मैं उनकी आज्ञाके विपरीत दूसरा कोई बर्ताव कैसे कर सकता हूँ? ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम्।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥ २३ ॥

'तुम्हें अयोध्यामें रहकर समस्त जगत्के लिये आदरणीय राज्य प्राप्त करना चाहिये और मुझे वल्कल वस्त्र धारण करके दण्डकारण्यमें रहना चाहिये ॥

एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ।
व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

'क्योंकि महाराज दशरथ बहुत लोगोंके सामने हम दोनोंके लिये इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो आज्ञाएँ देकर स्वर्गको सिधारे हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव।
पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ २५ ॥

'इस विषयमें लोकगुरु धर्मात्मा राजा ही तुम्हारे लिये प्रमाणभूत हैं—उन्हींकी आज्ञा तुम्हें माननी चाहिये और पिताने तुम्हारे हिस्सेमें जो कुछ दिया है, उसीका तुम्हें यथावत् रूपसे उपभोग करना चाहिये ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

'सौम्य ! चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहनेके बाद ही महात्मा पिताके दिये हुए राज्य-भागका मैं उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम् ॥ २७ ॥

'मनुष्यलोकमें सम्मानित और देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वनवासकी आज्ञा दी है, उसीको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ । उनकी आज्ञाके विरुद्ध सर्वलोकेश्वर ब्रह्माका अविनाशी पद भी मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है' ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ एकवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०१ ॥*

द्व्यधिकशततमः सर्गः

भरतका पुनः श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेका अनुरोध करके उनसे पिताकी मृत्युका समाचार बताना

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह ।
किं मे धर्माद् विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी बात सुनकर भरतने इस प्रकार उत्तर दिया—'भैया ! मैं राज्यका अधिकारी न होनेके कारण उस राजधर्मके अधिकारसे रहित हूँ, अतः मेरे लिये यह राजधर्मका उपदेश किस काम आयगा ? ॥ १ ॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।
ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान् भवेन्नृपः ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ ! हमारे यहाँ सदासे ही इस शाश्वत धर्मका पालन होता आया है कि ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ॥ २ ॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव ।
अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय नः ॥ ३ ॥

'अतः रघुनन्दन ! आप मेरे साथ समृद्धिशालिनी अयोध्यापुरीको चलिये और हमारे कुलके अभ्युदयके लिये राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये ॥ ३ ॥

राजानं मानुषं प्राहुर्देवत्वे सम्मतो मम ।
यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥ ४ ॥

'यद्यपि सब लोग राजाको मनुष्य कहते हैं, तथापि मेरी रायमें वह देवत्वपर प्रतिष्ठित है; क्योंकि उसके धर्म और अर्थयुक्त आचारको साधारण मनुष्यके लिये असम्भावित बताया गया है ॥ ४ ॥

केकयस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते ।
धीमान् स्वर्गं गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥

'जब मैं केकयदेशमें था और आप वनमें चले आये थे, तब अश्वमेध आदि यज्ञोंके कर्ता और सत्पुरुषोंद्वारा सम्मानित बुद्धिमान् महाराज दशरथ स्वर्गलोकको चले गये ॥ ५ ॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे ।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमभ्यगात् ॥ ६ ॥

'सीता और लक्ष्मणके साथ आपके राज्यसे निकलते ही दुःख-शोकसे पीड़ित हुए महाराज स्वर्गलोकको चल दिये ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः ।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥

'पुरुषसिंह ! उठिये और पिताको जलाञ्जलि दान कीजिये । मैं और यह शत्रुघ्न—दोनों पहले ही उनके लिये जलाञ्जलि दे चुके हैं ॥ ७ ॥

प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव ।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

'रघुनन्दन ! कहते हैं, प्रिय पुत्रका दिया हुआ जल आदि पितृलोकमें अक्षय होता है और आप पिताके परम प्रिय पुत्र हैं ॥ ८ ॥

* कुछ प्रतियोंमें यह सर्ग १०४ वें सर्गके रूपमें वर्णित है । १०० वें सर्गके बादके तीन सर्गोंके बाद इसका उल्लेख हुआ है ।

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेप्सु-
स्त्वय्येव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम्।
त्वया विहीनस्तव शोकरुग्ण-
स्त्वां संस्मरन्नेव गतः पिता ते ॥ ९ ॥

'आपके पिता आपसे विलग होते ही शोकके कारण रुग्ण हो गये और आपके ही शोकमें मग्न हो, आपको ही देखनेकी इच्छा रखकर, आपमें ही लगी हुई बुद्धिको आपकी ओरसे न हटाकर, आपका ही स्मरण करते हुए स्वर्गको चले गये' ॥ ९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्व्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दोवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०२ ॥

त्र्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका विलाप, पिताके लिये जलाञ्जलि-दान, पिण्डदान और रोदन

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम्।
राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः ॥ १ ॥

भरतकी कही हुई पिताकी मृत्युसे सम्बन्ध रखनेवाली करुणाजनक बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी दुःखके कारण अचेत हो गये ॥ १ ॥

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा।
वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परंतपः ॥ २ ॥
प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पिताङ्ग इव द्रुमः।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥

भरतके मुखसे निकला हुआ वह वचन वज्र-सा लगा, मानो दानवशत्रु इन्द्रने युद्धस्थलमें वज्रका प्रहार-सा कर दिया हो। मनको प्रिय न लगनेवाले उस वाग्वज्रको सुनकर शत्रुओं-को संताप देनेवाले श्रीराम दोनों भुजाओंको ऊपर उठाकर जिसकी डालियाँ खिली हुई हों, वनमें कुल्हाड़ीसे कटे हुए उस वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े (भरतके दर्शनसे श्रीरामको हर्ष हुआ था, पिताकी मृत्युके संवादसे दुःख; अतः उन्हें खिले और कटे हुए पेड़की उपमा दी गयी है)॥

तथा हि पतितं रामं जगत्यां जगतीपतिम्।
कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥
भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्शितम्।
रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिचुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥

पृथ्वीपति श्रीराम इस प्रकार पृथ्वीपर गिरकर नदीके तटको दाँतोंसे विदीर्ण करनेके परिश्रमसे थककर सोये हुए हाथीके समान प्रतीत होते थे। शोकके कारण दुर्बल हुए उन महाधनुर्धर श्रीरामको सब ओरसे घेरकर सीतासहित रोते हुए वे तीनों भाई आँसुओंके जलसे भिगोने लगे ॥ ४-५ ॥

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामश्रुमुत्सृजन्।
उपाक्रामत काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥ ६ ॥

थोड़ी देर बाद पुनः होशमें आनेपर नेत्रोंसे अश्रुवर्षा करते हुए ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने अत्यन्त दीन वाणीमें विलाप आरम्भ किया ॥ ६ ॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम्।
उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७ ॥

पृथ्वीपति महाराज दशरथको स्वर्गगामी हुआ सुनकर धर्मात्मा श्रीरामने भरतसे यह धर्मयुक्त बात कही—॥ ७ ॥

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८ ॥

'भैया ! जब पिताजी परलोकवासी हो गये, तब अयोध्या-में चलकर अब मैं क्या करूँगा ? उन राजशिरोमणि पितासे हीन हुई उस अयोध्याका अब कौन पालन करेगा ? ॥ ८ ॥

किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः।
यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः ॥ ९ ॥

'हाय ! जो पिताजी मेरे ही शोकसे मृत्युको प्राप्त हुए, उन्हींका मैं दाहसंस्कारतक न कर सका। मुझ जैसे व्यर्थ जन्म लेनेवाले पुत्रसे उन महात्मा पिताका कौन-सा कार्य सिद्ध हुआ ? ॥ ९ ॥

अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥ १० ॥

'निष्पाप भरत ! तुम्हीं कृतार्थ हो, तुम्हारा अहोभाग्य है, जिससे तुमने और शत्रुघ्नने सभी प्रेतकार्यों (पारलौकिक कृत्यों) में संस्कार-कर्मके द्वारा महाराजका पूजन किया है ॥

निष्प्रधानामनेकाग्रां नरेन्द्रेण विना कृताम्।
निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

'महाराज दशरथसे हीन हुई अयोध्या अब प्रधान शासकसे रहित हो अस्वस्थ एवं आकुल हो उठी है; अतः वनवाससे लौटनेपर भी मेरे मनमें अयोध्या जानेका उत्साह नहीं रह गया है ॥ ११ ॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप।
कोऽनुशासिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥ १२ ॥

'परंतप भरत ! वनवासकी अवधि समाप्त करके यदि मैं अयोध्यामें जाऊँ तो फिर कौन मुझे कर्तव्यका उपदेश देगा; क्योंकि पिताजी तो परलोकवासी हो गये ॥ १२ ॥

पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन्।
वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम्॥१३॥

'पहले जब मैं उनकी किसी आज्ञाका पालन करता था, तब वे मेरे सद्व्यवहारको देखकर मेरा उत्साह बढ़ानेके लिये जो-जो बातें कहा करते थे, कानोंको सुख पहुँचानेवाली उन बातोंको अब मैं किसके मुखसे सुनूँगा' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वाथ भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः।
उवाच शोकसंतप्तः पूर्णचन्द्रनिभाननाम्॥१४॥

भरतसे ऐसा कहकर शोकसंतप्त श्रीरामचन्द्रजी पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली अपनी पत्नीके पास आकर बोले—॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते श्वशुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतेः॥१५॥

'सीते! तुम्हारे श्वशुर चल बसे। लक्ष्मण! तुम पितृहीन हो गये। भरत पृथ्वीपति महाराज दशरथके स्वर्गवासका दुःखदायी समाचार सुना रहे हैं' ॥ १५ ॥

ततो बहुगुणं तेषां बाष्पं नेत्रेष्वजायत।
तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम्॥१६॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर उन सभी यशस्वी कुमारोंके नेत्रोंमें बहुत अधिक आँसू उमड़ आये ॥ १६ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य दुःखितम्।
अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः॥१७॥

तदनन्तर सभी भाइयोंने दुखी हुए श्रीरामचन्द्रजीको सान्त्वना देते हुए कहा—'भैया! अब पृथ्वीपति पिताजीके लिये जलाञ्जलि दान कीजिये' ॥ १७ ॥

सा सीता स्वर्गतं श्रुत्वा श्वशुरं तं महानृपम्।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां न शशाकेक्षितुं प्रियम्॥१८॥

अपने श्वशुर महाराज दशरथके स्वर्गवासका समाचार सुनकर सीताके नेत्रोंमें आँसू भर आये। वे अपने प्रियतम श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देख न सकीं ॥ १८ ॥

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदतीं जनकात्मजाम्।
उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः॥१९॥

तदनन्तर रोती हुई जनककुमारीको सान्त्वना देकर दुःखमग्न श्रीरामने अत्यन्त दुखी हुए लक्ष्मणसे कहा—॥

आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम्।
जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः॥२०॥

'भाई! तुम इङ्गुदीका पिसा हुआ फल और चीर एवं उत्तरीय ले आओ। मैं महात्मा पिताको जलदान देनेके लिये चलूँगा ॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद् व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज।
अहं पश्चाद् गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा॥२१॥

'सीता आगे-आगे चलें। इनके पीछे तुम चलो और तुम्हारे पीछे मैं चलूँगा। शोकके समयकी यही परिपाटी है, जो अत्यन्त दारुण होती है' ॥ २१ ॥

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महामतिः।
मृदुर्दान्तश्च कान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान्॥२२॥
सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम्।
अवतारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम्॥२३॥

तत्पश्चात् उनके कुलके परम्परागत सेवक, आत्मज्ञानी, परम बुद्धिमान्, कोमल स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, तेजस्वी और श्रीरामके सुदृढ़ भक्त सुमन्त्र समस्त राजकुमारोंके साथ श्रीरामको धैर्य बँधाकर उन्हें हाथका सहारा दे कल्याणमयी मन्दाकिनीके तटपर ले गये ॥ २२-२३ ॥

ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपगम्य यशस्विनः।
नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम्॥२४॥
शीघ्रस्रोतसमासाद्य तीर्थं शिवमकर्दमम्।
सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत एतद् भवत्विति॥२५॥

वे यशस्वी राजकुमार सदा पुष्पित काननसे सुशोभित, शीघ्र गतिसे प्रवाहित होनेवाली और उत्तम घाटवाली रमणीय नदी मन्दाकिनीके तटपर कठिनाईसे पहुँचे तथा उसके पङ्करहित, कल्याणप्रद, तीर्थभूत जलको लेकर उन्होंने राजाके लिये जल दिया। उस समय वे बोले—'पिताजी! यह जल आपकी सेवामें उपस्थित हो' ॥ २४-२५ ॥

प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम्।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत्॥२६॥
एतत् ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम्।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु॥२७॥

पृथ्वीपालक श्रीरामने जलसे भरी हुई अञ्जलि ले दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके रोते हुए इस प्रकार कहा—'मेरे पूज्य पिता राजशिरोमणि महाराज दशरथ! आज मेरा दिया हुआ यह निर्मल जल पितृलोकमें गये हुए आपको अक्षयरूपसे प्राप्त हो'॥

ततो मन्दाकिनीतीरं प्रत्युत्तीर्य स राघवः।
पितुश्चकार तेजस्वी निर्वापं भ्रातृभिः सह॥२८॥

इसके बाद मन्दाकिनीके जलसे निकलकर किनारेपर आकर तेजस्वी श्रीरघुनाथजीने अपने भाइयोंके साथ मिलकर पिताके लिये पिण्डदान किया ॥ २८ ॥

ऐङ्गुदं बदरैर्मिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे।
न्यस्य रामः सुदुःखार्तो रुदन् वचनमब्रवीत्॥२९॥

उन्होंने इङ्गुदीके गूदेमें बेर मिलाकर उसका पिण्ड तैयार किया और बिछे हुए कुशोंपर उसे रखकर अत्यन्त दुःखसे आर्त हो रोते हुए यह बात कही—॥ २९ ॥

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम्।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥

महाराज ! प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन स्वीकार कीजिये; क्योंकि आजकल यही हमलोगोंका आहार है। मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, वही उसके देवता भी ग्रहण करते हैं' ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युत्तीर्य सरित्तटात्।
आरुरोह नरव्याघ्रो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥
ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः।
परिजग्राह पाणिभ्यामुभौ भरतलक्ष्मणौ ॥ ३२ ॥

इसके बाद उसी मार्गसे मन्दाकिनीतटके ऊपर आकर पृथ्वीपालक पुरुषसिंह श्रीराम सुन्दर शिखरवाले चित्रकूट पर्वतपर चढ़े और पर्णकुटीके द्वारपर आकर भरत और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर रोने लगे ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात् प्रतिशब्दोऽभवद् गिरौ।
भ्रातॄणां सह वैदेह्या सिंहानां नर्दतामिव ॥ ३३ ॥

सीतासहित रोते हुए उन चारों भाइयोंके रुदन-शब्दसे उस पर्वतपर गरजते हुए सिंहोंके दहाड़नेके समान प्रतिध्वनि होने लगी ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः।
विज्ञाय तुमुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥
अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः संगतो ध्रुवम्।
तेषामेव महाञ्शब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

पिताको जलाञ्जलि देकर रोते हुए उन महाबली भाइयोंके रोदनका तुमुलनाद सुनकर भरतके सैनिक किसी भयकी आशङ्कासे डर गये। फिर उसे पहचानकर वे एक-दूसरेसे बोले—'निश्चय ही भरत श्रीरामचन्द्रजीसे मिले हैं। अपने परलोकवासी पिताके लिये शोक करनेवाले उन चारों भाइयोंके रोनेका ही यह महान् शब्द है' ॥ ३४-३५ ॥

अथ वाहान् परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम्।
अप्येकमनसो जग्मुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥ ३६ ॥

यों कहकर उन सबने अपनी सवारियोंको तो वहीं छोड़ दिया और जिस स्थानसे वह आवाज आ रही थी, उसी ओर मुँह किये एकचित्त होकर वे दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः।
सुकुमारास्तथैवान्ये पद्भिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनसे भिन्न जो सुकुमार मनुष्य थे, उनमेंसे कुछ लोग घोड़ोंसे, कुछ हाथियोंसे और कुछ सजे-सजाये रथोंसे ही आगे बढ़े। कितने ही मनुष्य पैदल ही चल दिये ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा।
द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाश्रमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्रजीको परदेशमें आये अभी थोड़े ही दिन हुए थे, तथापि लोगोंको ऐसा जान पड़ता था कि मानो वे दीर्घकालसे परदेशमें रह रहे हैं; अतः सब लोग उनके दर्शनकी इच्छासे सहसा आश्रमकी ओर चल दिये ॥ ३८ ॥

भ्रातॄणां त्वरितास्ते तु द्रष्टुकामाः समागमम्।
ययुर्बहुविधैर्यानैः खुरनेमिसमाकुलैः ॥ ३९ ॥

वे लोग चारों भाइयोंका मिलन देखनेकी इच्छासे खुरों एवं पहियोंसे युक्त नाना प्रकारकी सवारियोंद्वारा बड़ी उतावलीके साथ चले ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यानै रथनेमिसमाहता।
मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥

अनेक प्रकारकी सवारियों तथा रथकी पहियोंसे आक्रान्त हुई वह भूमि भयंकर शब्द करने लगी; ठीक उसी तरह जैसे मेघोंकी घटा घिर आनेपर आकाशमें गड़गड़ाहट होने लगती है ॥ ४० ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः।
आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस तुमुलनादसे भयभीत हुए हाथी हथिनियोंसे घिरकर मदकी गन्धसे उस स्थानको सुवासित करते हुए वहाँसे दूसरे वनमें भाग गये ॥ ४१ ॥

वराहवृकसिंहाश्च महिषाः सृमरास्तथा।
व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेसुः पृषतैः सह ॥ ४२ ॥

वराह, भेड़िये, सिंह, भैंसे, सृमर (मृगविशेष), व्याघ्र, गोकर्ण (मृगविशेष) और गवय (नीलगाय), चितकबरे हरिणोंसहित संत्रस्त हो उठे ॥ ४२ ॥

रथाह्वहंसानत्यूहाः प्लवाः कारण्डवाः परे।
तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥ ४३ ॥

चक्रवाक, हंस, जलकुक्कुट, बक, कारण्डव, नरकोकिल और क्रौञ्च पक्षी होश-हवाश खोकर विभिन्न दिशाओंमें उड़ गये ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम्।
मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रबभौ तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्दसे डरे हुए पक्षी आकाशमें छा गये और नीचेकी भूमि मनुष्योंसे भर गयी। इस प्रकार उन दोनोंकी समानरूपसे शोभा होने लगी ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्मषम्।
आसीनं स्थण्डिले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

लोगोंने सहसा पहुँचकर देखा—यशस्वी, पापरहित, पुरुषसिंह श्रीराम वेदीपर बैठे हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं मन्थरासहितामपि।
अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

श्रीरामके पास जानेपर सबके मुख आँसुओंसे भीग गये और सब लोग मन्थरासहित कैकेयीकी निन्दा करने लगे ॥

तान् नरान् बाष्पपूर्णाक्षान् समीक्ष्याथ सुदुःखितान्।
पर्यष्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥ ४७ ॥

उन सब लोगोंके नेत्र आँसुओंसे भरे हुए थे और वे सब-के-सब अत्यन्त दुखी हो रहे थे। धर्मज्ञ श्रीरामने उन्हें देखकर पिता-माताकी भाँति हृदयसे लगाया ॥ ४७ ॥

स तत्र कांश्चित् परिषस्वजे नरान्
नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन्।
चकार सर्वान् सवयस्यबान्धवान्
यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

श्रीरामने कुछ मनुष्योंको वहाँ छातीसे लगाया तथा कुछ लोगोंने पहुँचकर वहाँ उनके चरणोंमें प्रणाम किया। राजकुमार श्रीरामने उस समय वहाँ आये हुए सभी मित्रों और बन्धु-बान्धवोंका यथायोग्य सम्मान किया ॥ ४८ ॥

ततः स तेषां रुदतां महात्मनां
भुवं च खं चानुविनादयन् स्वनः।
गुहा गिरीणां च दिशश्च संततं
मृदङ्गघोषप्रतिमो विशुश्रुवे ॥ ४९ ॥

उस समय वहाँ रोते हुए उन महात्माओंका वह रोदन-शब्द पृथ्वी, आकाश, पर्वतोंकी गुफा और सम्पूर्ण दिशाओंको निरन्तर प्रतिध्वनित करता हुआ मृदङ्गकी ध्वनिके समान सुनायी पड़ता था ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्र्यधिकशततमः सर्गः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तीनवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०३ ॥

चतुरधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके साथ आती हुई कौसल्याका मन्दाकिनीके तटपर सुमित्रा आदिके समक्ष दुःखपूर्ण उद्गार, श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके द्वारा माताओंकी चरणवन्दना तथा वसिष्ठजीको प्रणाम करके श्रीराम आदिका सबके साथ बैठना

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान् दशरथस्य च।
अभिचक्राम तं देशं रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥

महर्षि वसिष्ठजी महाराज दशरथकी रानियोंको आगे करके श्रीरामचन्द्रजीको देखनेकी अभिलाषा लिये उस स्थानकी ओर चले, जहाँ उनका आश्रम था ॥ १ ॥

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति।
ददृशुस्तत्र तत् तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥

राजरानियाँ मन्द गतिसे चलती हुई जब मन्दाकिनीके तटपर पहुँचीं, तब उन्होंने वहाँ श्रीराम और लक्ष्मणके स्नान करनेका घाट देखा ॥ २ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता।
सुमित्रामब्रवीद् दीनां याश्चान्या राजयोषितः ॥ ३ ॥

इस समय कौसल्याके मुँहपर आँसुओंकी धारा बह चली। उन्होंने सूखे एवं उदास मुखसे दीन सुमित्रा तथा अन्य राजरानियोंसे कहा—॥ ३ ॥

इदं तेषामनाथानां क्लिष्टमक्लिष्टकर्मणाम्।
वने प्राकलनं तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

'जो राज्यसे निकाल दिये गये हैं तथा जो दूसरोंको क्लेश न देनेवाले कार्य ही करते हैं, उन मेरे अनाथ बच्चोंका यह वनमें दुर्गम तीर्थ है, जिसे इन्होंने पहले-पहल स्वीकार किया है ॥ ४ ॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते सदा जलमतन्द्रितः।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥

'सुमित्रे ! आलस्यरहित तुम्हारे पुत्र लक्ष्मण स्वयं आकर सदा यहींसे मेरे पुत्रके लिये जल ले जाया करते हैं ॥ ५ ॥

जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान् न तु गर्हितः।
भ्रातुर्यदर्थरहितं सर्वं तद् गर्हितं गुणैः ॥ ६ ॥

'यद्यपि तुम्हारे पुत्रने छोटे-से-छोटा सेवाकार्य भी स्वीकार किया है, तथापि इससे वे निन्दित नहीं हुए हैं; क्योंकि सद्गुणोंसे युक्त ज्येष्ठ भाईके प्रयोजनसे रहित जो कार्य होते हैं, वे ही सब निन्दित माने गये हैं ॥ ६ ॥

अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः।
नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुञ्चतु ॥ ७ ॥

'तुम्हारा यह पुत्र भी उन क्लेशोंके योग्य नहीं है, जिन्हें आजकल वह सहन करता है। अब श्रीराम लौट चलें और निम्न श्रेणीके पुरुषोंके योग्य जो दुःखजनक कार्य उसके सामने प्रस्तुत है, उसे वह छोड़ दे—उसे करनेका अवसर ही उसके लिये न रह जाय' ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा ददर्श महीतले।
पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

आगे जाकर विशाललोचना कौसल्याने देखा कि श्रीरामने पृथ्वीपर बिछे हुए दक्षिणाग्र कुशोंके ऊपर

अपने पिताके लिये पिसे हुए इङ्गुदीके फलका पिण्ड रख छोड़ा है ॥ ८ ॥

तं भूमौ पितुरार्तेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा ।
उवाच देवी कौसल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

दुखी रामके द्वारा पिताके लिये भूमिपर रखे हुए उस पिण्डको देखकर देवी कौसल्याने दशरथकी सब रानियोंसे कहा— ॥ ९ ॥

इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।
राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद् यथाविधि ॥ १० ॥

'बहनो ! देखो, श्रीरामने इक्ष्वाकुकुलके स्वामी रघुकुलभूषण महात्मा पिताके लिये यह विधिपूर्वक पिण्डदान किया है ॥ १० ॥

तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।
नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥

'देवताके समान तेजस्वी वे महामना भूपाल नाना प्रकारके उत्तम भोग भोग चुके हैं । उनके लिये यह भोजन मैं उचित नहीं मानती ॥ ११ ॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसदृशो भुवि ।
कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुङ्क्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

'जो चारों समुद्रोंतककी पृथ्वीका राज्य भोगकर भूतलपर देवराज इन्द्रके समान प्रतापी थे, वे भूपाल महाराज दशरथ पिसे हुए इङ्गुदी-फलका पिण्ड कैसे खा रहे होंगे ? ॥ १२ ॥

अतो दुःखतरं लोके न किंचित् प्रतिभाति मे ।
यत्र रामः पितुर्दद्यादिङ्गुदीक्षोदमृद्धिमान् ॥ १३ ॥

संसारमें इससे बढ़कर महान् दुःख मुझे और कोई नहीं प्रतीत होता है, जिसके अधीन होकर श्रीराम समृद्धिशाली होते हुए भी अपने पिताको इङ्गुदीके पिसे हुए फलका पिण्ड दें ॥ १३ ॥

रामेणेङ्गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।
कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥

'श्रीरामने अपने पिताको इङ्गुदीका पिण्याक (पिसा हुआ फल) प्रदान किया है—यह देखकर दुःखसे मेरे हृदयके सहस्रों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते हैं ? ॥ १४ ॥

श्रुतिस्तु खल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मे ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ १५ ॥

'यह लौकिकी श्रुति (लोकविख्यात कहावत) निश्चय ही मुझे सत्य प्रतीत हो रही है कि मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, उसके देवता भी उसी अन्नको ग्रहण करते हैं' ॥ १५ ॥

एवमार्तां सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।
ददृशुश्चाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार शोकसे आर्त हुई कौसल्याको उस समय उनकी सौतें समझा-बुझाकर उन्हें आगे ले गयीं । आश्रमपर पहुँचकर उन सबने श्रीरामको देखा, जो स्वर्गसे गिरे हुए देवताके समान जान पड़ते थे ॥ १६ ॥

तं भोगैः सम्परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।
आर्ता मुमुचुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥

भोगोंका परित्याग करके तपस्वी जीवन व्यतीत करनेवाले श्रीरामको देखकर उनकी माताएँ शोकसे कातर हो गयीं और आर्तभावसे फूट-फूटकर रोती हुई आँसू बहाने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाम्बुजान् ।
मातॄणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसंगरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ नरश्रेष्ठ श्रीराम माताओंको देखते ही उठकर खड़े हो गये और बारी-बारीसे उन सबके चरणारविन्दोंका स्पर्श किया ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृद्वङ्गुलितलैः शुभैः ।
प्रममार्जू रजः पृष्ठाद् रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

विशाल नेत्रोंवाली माताएँ स्नेहवश जिनकी अंगुलियाँ कोमल और स्पर्श सुखद था, उन सुन्दर हाथोंसे श्रीरामकी पीठसे धूल पोंछने लगीं ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातॄः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।
अभ्यवादयदासक्तं शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

श्रीरामके बाद लक्ष्मण भी उन सभी दुखिया माताओंको देखकर दुखी हो गये और उन्होंने स्नेहपूर्वक धीरे-धीरे उनके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन् सर्वा ववृतिरे स्त्रियः ।
वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

उन सब माताओंने श्रीरामके साथ जैसा बर्ताव किया था, वैसे ही उत्तम लक्षणोंसे युक्त दशरथनन्दन लक्ष्मणके साथ भी किया ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सम्बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर आँसूभरे नेत्रोंवाली दुःखिनी सीता भी सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आगे खड़ी हो गयी ॥ २२ ॥

तां परिष्वज्य दुःखार्ता माता दुहितरं यथा ।
वनवासकृशां दीनां कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तब दुःखसे पीड़ित हुई कौसल्याने जैसे माता अपनी बेटीको हृदयसे लगा लेती है, उसी प्रकार वनवासके कारण दीन (दुर्बल) हुई सीताको छातीसे चिपका लिया और इस प्रकार कहा— ॥ २३ ॥

वैदेहराजन्यसुता स्नुषा दशरथस्य च।
रामपत्नी कथं दुःखं सम्प्राप्ता विजने वने ॥ २४ ॥

'विदेहराज जनककी पुत्री, राजा दशरथकी पुत्रवधू तथा श्रीरामकी पत्नी इस निर्जन वनमें क्यों दुःख भोग रही है ? ॥ २४ ॥

पद्ममातपसंतप्तं परिक्लिष्टमिवोत्पलम्।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्लिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥ २५ ॥

'बेटी ! तुम्हारा मुख धूपसे तपे हुए कमल, कुचले हुए उत्पल, धूलसे ध्वस्त हुए सुवर्ण और बादलोंसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति श्रीहीन हो रहा है ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्यग्निरिवाश्रयम्।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

'विदेहनन्दिनि ! जैसे आग अपने उत्पत्तिस्थान काष्ठको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार तुम्हारे इस मुखको देखकर मेरे मनमें संकटरूपी अरणिसे उत्पन्न हुआ यह शोकानल मुझे जलाये देता है' ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

शोकाकुल हुई माता जब इस प्रकार विलाप कर रही थी, उसी समय भरतके बड़े भाई श्रीरामने वसिष्ठजीके चरणोंमें पड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे पकड़ लिया ॥ २७ ॥

पुरोहितस्याग्निसमस्य तस्य वै
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः।
प्रगृह्य पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

जैसे देवराज इन्द्र बृहस्पतिके चरणोंका स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार अग्निके समान बढ़े हुए तेजवाले पुरोहित वसिष्ठजीके दोनों पैर पकड़कर श्रीरामचन्द्रजी उनके साथ ही पृथ्वीपर बैठ गये ॥ २८ ॥

ततो जघन्यं सहितैः स्वमन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च तथैव सैनिकैः।
जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवा-
नुपोपविष्टो भरतस्तदाग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत एक साथ आये हुए अपने सभी मन्त्रियों, प्रधान-प्रधान पुरवासियों, सैनिकों तथा परम धर्मज्ञ पुरुषोंके साथ अपने बड़े भाईके पास उनके पीछे जा बैठे ॥ २९ ॥

उपोपविष्टस्तु तदातिवीर्यवां-
स्तपस्विवेषेण समीक्ष्य राघवम्।
श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलि-
र्यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामके आसनके समीप बैठे हुए अत्यन्त पराक्रमी भरतने दिव्य दीप्तिसे प्रकाशित होनेवाले श्रीरघुनाथजीको तपस्वीके वेशमें देखकर उनके प्रति उसी प्रकार हाथ जोड़ लिये जैसे देवराज इन्द्र प्रजापति ब्रह्माके समक्ष विनीतभावसे हाथ जोड़ते हैं ॥ ३० ॥

किमेष वाक्यं भरतोऽद्य राघवं
प्रणम्य सत्कृत्य च साधु वक्ष्यति।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो
बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके हृदयमें यथार्थ रूपसे यह उत्तम कौतूहल-सा जाग उठा कि देखें ये भरतजी श्रीरामचन्द्रजीको सत्कारपूर्वक प्रणाम करके आज उत्तम रीतिसे उनके समक्ष क्या कहते हैं ? ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः।
वृताः सुहृद्भिश्च विरेजिरेऽध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्रयोऽग्नयः॥ ३२ ॥

वे सत्यप्रतिज्ञ श्रीराम, महानुभाव लक्ष्मण तथा धर्मात्मा भरत—ये तीनों भाई अपने सुहृदोंसे घिरकर यज्ञशालामें सदस्योंद्वारा घिरे हुए त्रिविध अग्नियोंके समान शोभा पा रहे थे ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुरधिकशततमः सर्गः ॥ १०४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ चारवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०४ ॥

पञ्चाधिकशततमः सर्गः

भरतका श्रीरामको अयोध्यामें चलकर राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना, श्रीरामका जीवनकी अनित्यता बताते हुए पिताकी मृत्युके लिये शोक न करनेका भरतको उपदेश देना और पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही राज्य ग्रहण न करके वनमें रहनेका ही दृढ़ निश्चय बताना

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः।
शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः।
मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥

अपने सुहृदोंसे घिरकर बैठे हुए पुरुषसिंह श्रीराम आदि भाइयोंकी वह रात्रि पिताकी मृत्युके दुःखसे शोक करते हुए ही व्यतीत हुई। सबेरा होनेपर भरत आदि तीनों भाई सुहृदों-के साथ ही मन्दाकिनीके तटपर गये और स्नान, होम एवं जप आदि करके पुनः श्रीरामके पास लौट आये ॥ १-२ ॥

तूष्णीं ते समुपासीना न कश्चित् किंचिदब्रवीत्।
भरतस्तु सुहृन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वहाँ आकर सभी चुपचाप बैठ गये। कोई कुछ नहीं बोल रहा था। तब सुहृदोंके बीचमें बैठे हुए भरतने श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

सान्त्विता मामिका माता दत्तं राज्यमिदं मम।
तद् ददामि तवैवाहं भुङ्क्ष्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥

'भैया! पिताजीने वरदान देकर मेरी माताको संतुष्ट कर दिया और माताने यह राज्य मुझे दे दिया। अब मैं अपनी ओरसे यह अकण्टक राज्य आपकी ही सेवामें समर्पित करता हूँ। आप इसका पालन एवं उपभोग कीजिये ॥ ४ ॥

महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे।
दुरावरं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥

'वर्षाकालमें जलके महान् वेगसे टूटे हुए सेतुकी भाँति इस विशाल राज्यखण्डको सँभालना आपके सिवा दूसरेके लिये अत्यन्त कठिन है ॥ ५ ॥

गतिं खर इवाश्वस्य ताक्ष्र्यस्येव पतत्त्रिणः।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥

'पृथ्वीनाथ! जैसे गदहा घोड़ेकी और अन्य साधारण पक्षी गरुड़की चाल नहीं चल सकते, उसी प्रकार मुझमें आपकी गतिका—आपकी पालन-पद्धतिका अनुसरण करनेकी शक्ति नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते।
राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

'श्रीराम! जिसके पास आकर दूसरे लोग जीवन-निर्वाह करते हैं, उसीका जीवन उत्तम है और जो दूसरोंका आश्रय लेकर जीवन-निर्वाह करता है, उसका जीवन दुःखमय है (अतः आपके लिये राज्य करना ही उचित है) ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः।
ह्रस्वकेन दुरारोहो रूढस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥
स यदा पुष्पितो भूत्वा फलानि न विदर्शयेत्।
स तां नानुभवेत् प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥
एषोपमा महाबाहो तदर्थं वेत्तुमर्हसि।
यत्रत्वमस्मान् वृषभो भर्ता भृत्यान् न शाधि हि ॥ १० ॥

'जैसे फलकी इच्छा रखनेवाले किसी पुरुषने एक वृक्ष लगाया, उसे पाल-पोसकर बड़ा किया; फिर उसके तने मोटे हो गये और वह ऐसा विशाल वृक्ष हो गया कि किसी नाटे कदके पुरुषके लिये उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन था। उस वृक्षमें जब फूल लग जायँ, उसके बाद भी यदि वह फल न दिखा सके तो जिसके लिये उस वृक्षको लगाया गया था, वह उद्देश्य पूरा न हो सका। ऐसी स्थितिमें उसे लगानेवाला पुरुष उस प्रसन्नताका अनुभव नहीं करता, जो फलकी प्राप्ति होनेसे सम्भावित थी। महाबाहो! यह एक उपमा है, इसका अर्थ आप स्वयं समझ लें (अर्थात् पिताजीने आप-जैसे सर्व-सद्गुणसम्पन्न पुत्रको लोकरक्षाके लिये उत्पन्न किया था। यदि आपने राज्यपालनका भार अपने हाथमें नहीं लिया तो उनका वह उद्देश्य व्यर्थ हो जायगा)। इस राज्यपालनके अवसरपर आप श्रेष्ठ एवं भरण-पोषणमें समर्थ होकर भी यदि हम भृत्योंका शासन नहीं करेंगे तो पूर्वोक्त उपमा ही आपके लिये लागू होगी ॥ ८–१० ॥

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिंदमम् ॥ ११ ॥

'महाराज! विभिन्न जातियोंके सङ्घ और प्रधान-प्रधान पुरुष आप शत्रुदमन नरेशको सब ओर तपते हुए सूर्यकी भाँति राज्यसिंहासनपर विराजमान देखें ॥ ११ ॥

तथानुयाने काकुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः।
अन्तःपुरगता नार्यो नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! इस प्रकार आपके अयोध्याको लौटते समय मतवाले हाथी गर्जना करें और अन्तःपुरकी स्त्रियाँ एकाग्रचित्त होकर प्रसन्नतापूर्वक आपका अभिनन्दन करें' ॥ १२ ॥

तस्य साध्वनुमन्यन्त नागरा विविधा जनाः।
भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीरामसे राज्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना करते हुए भरतजीकी बात सुनकर नगरके भिन्न-भिन्न मनुष्योंने उसका भलीभाँति अनुमोदन किया ॥ १३ ॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम्।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥

तब शिक्षित बुद्धिवाले अत्यन्त धीर भगवान् श्रीरामने यशस्वी भरतको इस तरह दुखी हो विलाप करते देख उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ १४ ॥

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥

'भाई! यह जीव ईश्वरके समान स्वतन्त्र नहीं है, अतः कोई यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता। काल इस पुरुषको इधर-उधर खींचता रहता है ॥ १५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥ १६ ॥

'समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है । लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है । संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है ॥ १६ ॥

यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम् ।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम् ॥ १७ ॥

'जैसे पके हुए फलोंको पतनके सिवा और किसीसे भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्यको मृत्युके सिवा और किसीसे भय नहीं है ॥ १७ ॥

यथाऽऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति ।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः ॥ १८ ॥

'जैसे सुदृढ़ खम्भेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं ॥ १८ ॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम् ॥ १९ ॥

'जो रात बीत जाती है, वह लौटकर फिर नहीं आती है । जैसे यमुना जलसे भरे हुए समुद्रकी ओर जाती ही है, उधरसे लौटती नहीं ॥ १९ ॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥

'दिन-रात लगातार बीत रहे हैं और इस संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं । ठीक वैसे ही जैसे सूर्यकी किरणें ग्रीष्म ऋतुमें जलको शीघ्रतापूर्वक सोखती रहती हैं ॥ २० ॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च ॥ २१ ॥

'तुम अपने ही लिये चिन्ता करो, दूसरेके लिये क्यों बार-बार शोक करते हो । कोई इस लोकमें स्थित हो या अन्यत्र गया हो, जिस किसीकी भी आयु तो निरन्तर क्षीण ही हो रही है ॥ २१ ॥

सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति ।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते ॥ २२ ॥

'मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और बहुत बड़े मार्गकी यात्रामें भी साथ ही जाकर वह मनुष्यके साथ ही लौटती है ॥ २२ ॥

गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः ।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥ २३ ॥

'शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिरके बाल सफेद हो गये । फिर जरावस्थासे जीर्ण हुआ मनुष्य कौन-सा उपाय करके मृत्युसे बचनेके लिये अपना प्रभाव प्रकट कर सकता है ? ॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि ।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥

'लोग सूर्योदय होनेपर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते हैं; किंतु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश हो रहा है ॥ २४ ॥

हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम् ।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥ २५ ॥

'किसी ऋतुका प्रारम्भ देखकर मानो वह नयी-नयी आयी हो (पहले कभी आयी ही न हो) ऐसा समझकर लोग हर्षसे खिल उठते हैं, परंतु यह नहीं जानते कि इन ऋतुओंके परिवर्तनसे प्राणियोंके प्राणोंका (आयुका) क्रमशः क्षय हो रहा है ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन ॥ २६ ॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥ २७ ॥

'जैसे महासागरमें बहते हुए दो काठ कभी एक दूसरेसे मिल जाते हैं और कुछ कालके बाद अलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं; क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है ॥ २६-२७ ॥

नात्र कश्चिद् यथाभावं प्राणी समतिवर्तते ।
तेन तस्मिन् न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥

'इस संसारमें कोई भी प्राणी यथासमय प्राप्त होनेवाले जन्म-मरणका उल्लङ्घन नहीं कर सकता । इसलिये जो किसी मरे हुए व्यक्तिके लिये बारंबार शोक करता है, उसमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपनी ही मृत्युको टाल सके ॥२८॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात् कश्चित् पथि स्थितः ।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पैतृपितामहैर्ध्रुवः ।
तमापन्नः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ३० ॥

'जैसे आगे जाते हुए यात्रियों अथवा व्यापारियोंके समुदायसे रास्तेमें खड़ा हुआ पथिक यों कहे कि मैं भी आप लोगोंके पीछे-पीछे आऊँगा और तदनुसार वह उनके पीछे-पीछे जाय, उसी प्रकार हमारे पूर्वज पिता-पितामह आदि जिस मार्गसे गये हैं, जिसपर जाना अनिवार्य है तथा जिससे बचनेका कोई उपाय नहीं है, उसी मार्गपर स्थित हुआ मनुष्य किसी औरके लिये शोक कैसे करे ? ॥ २९-३० ॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः ।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥ ३१ ॥

'जैसे नदियोंका प्रवाह पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार दिन-दिन ढलती हुई अवस्था फिर नहीं लौटती है। उसका क्रमशः नाश हो रहा है, यह सोचकर आत्माको कल्याणके साधनभूत धर्ममें लगावे; क्योंकि सभी लोग अपना कल्याण चाहते हैं ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२ ॥

'तात! हमारे पिता धर्मात्मा थे। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणाएँ देकर प्रायः सभी परम शुभकारक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। उनके सारे पाप धुल गये थे। अतः वे महाराज स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३२ ॥

भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात्।
अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥ ३३ ॥

'वे भरण-पोषणके योग्य परिजनोंका भरण करते थे। प्रजाजनोंका भलीभाँति पालन करते थे और प्रजाजनोंसे धर्मके अनुसार कर आदिके रूपमें धन लेते थे—इन सब कारणोंसे हमारे पिता उत्तम स्वर्गलोकमें पधारे हैं ॥ ३३ ॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३४ ॥

'सर्वप्रिय शुभ कर्मों तथा प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंके अनुष्ठानोंसे हमारे पिता पृथ्वीपति महाराज दशरथ स्वर्गलोकमें गये हैं ॥ ३४ ॥

इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान्।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ ३५ ॥

'उन्होंने नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषकी आराधना की, प्रचुर भोग प्राप्त किये और उत्तम आयु पायी थी, इसके बाद वे महाराज यहाँसे स्वर्गलोकको पधारे हैं ॥ ३५ ॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः।
न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥३६॥

'तात! अन्य राजाओंकी अपेक्षा उत्तम आयु और श्रेष्ठ भोगोंको पाकर हमारे पिता सदा सत्पुरुषोंके द्वारा सम्मानित हुए हैं; अतः स्वर्गवासी हो जानेपर भी वे शोक करनेयोग्य नहीं हैं ॥ ३६ ॥

स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ ३७ ॥

'हमारे पिताने जराजीर्ण मानव-शरीरका परित्याग करके दैवी सम्पत्ति प्राप्त की है, जो ब्रह्मलोकमें विहार करानेवाली है ॥

तं तु नैवंविधः कश्चित् प्राज्ञः शोचितुमर्हसि।
त्वद्विधो मद्विधश्चापि श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः ॥ ३८ ॥

'कोई भी ऐसा विद्वान्, जो तुम्हारे और मेरे समान शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न एवं परम बुद्धिमान् है, पिताजीके लिये शोक नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तदा।
वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९ ॥

'धीर एवं प्रज्ञावान् पुरुषको सभी अवस्थाओंमें ये नाना प्रकारके शोक, विलाप तथा रोदन त्याग देने चाहिये ॥३९॥

स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम्।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिनां वदतां वर ॥ ४० ॥

'इसलिये तुम स्वस्थ हो जाओ, तुम्हारे मनमें शोक नहीं होना चाहिये। वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत! तुम यहाँसे जाकर अयोध्यापुरीमें निवास करो; क्योंकि मनको वशमें रखनेवाले पूज्य पिताजीने तुम्हारे लिये यही आदेश दिया है ॥ ४० ॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

'उन पुण्यकर्मा महाराजने मुझे भी जहाँ रहनेकी आज्ञा दी है, वहीं रहकर मैं उन पूज्य पिताके आदेशका पालन करूँगा ॥ ४१ ॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिंदम।
स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता ॥ ४२ ॥

'शत्रुदमन भरत! पिताकी आज्ञाकी अवहेलना करना मेरे लिये कदापि उचित नहीं है। वे तुम्हारे लिये भी सर्वदा सम्मानके योग्य हैं; क्योंकि वे ही हमलोगोंके हितैषी बन्धु और जन्मदाता थे ॥ ४२ ॥

तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम्।
कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥ ४३ ॥

'रघुनन्दन! मैं इस वनवासरूपी कर्मके द्वारा पिताजीके ही वचनका, जो धर्मात्माओंको भी मान्य है, पालन करूँगा ॥

धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥ ४४ ॥

'नरश्रेष्ठ! परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको धार्मिक, क्रूरतासे रहित और गुरुजनोंका आज्ञापालक होना चाहिये ॥ ४४ ॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥ ४५ ॥

'मनुष्योंमें श्रेष्ठ भरत! हमारे पूज्य पिता दशरथके शुभ आचरणोंपर दृष्टिपात करके तुम अपने धार्मिक स्वभावके द्वारा आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करो' ॥ ४५ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम्।
यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च
प्रभुर्मुहूर्ताद् विरराम रामः ॥ ४६ ॥

सर्वशक्तिमान् महात्मा श्रीराम एक मुहूर्ततक अपने छोटे भाई भरतसे पिताकी आज्ञाका पालन कराने- के उद्देश्यसे ये अर्थयुक्त वचन कहकर चुप हो गये ॥ ४६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चाधिकशततमः सर्गः ॥ १०५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०५ ॥

षडधिकशततमः सर्गः

भरतकी पुनः श्रीरामसे अयोध्या लौटने और राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना

एवमुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत्।
ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥
उवाच भरतश्चित्रं धार्मिको धार्मिकं वचः।
को हि स्यादीदृशो लोके यादृशस्त्वमरिंदम ॥ २ ॥

ऐसा अर्थयुक्त वचन कहकर जब श्रीराम चुप हो गये, तब धर्मात्मा भरतने मन्दाकिनीके तटपर प्रजा-वत्सल धर्मात्मा श्रीरामसे यह विचित्र बात कही—'शत्रुदमन रघुवीर! इस जगत्में जैसे आप हैं, वैसा दूसरा कौन हो सकता है? ॥ १-२ ॥

न त्वां प्रव्यथयेद् दुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत्।
सम्मतश्चापि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥

'कोई भी दुःख आपको व्यथित नहीं कर सकता। कितनी ही प्रिय बात क्यों न हो, वह आपको हर्षोत्फुल्ल नहीं कर सकती। वृद्ध पुरुषोंके सम्माननीय होकर भी आप उनसे संदेहकी बातें पूछते हैं ॥ ३ ॥

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथा सति।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात् परितप्येत केन सः ॥ ४ ॥

'जैसे मरे हुए जीवका अपने शरीर आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार जीते-जी भी वह उनके सम्बन्धसे रहित है। जैसे वस्तुके अभावमें उसके प्रति राग-द्वेष नहीं होता, वैसे ही उसके रहनेपर भी मनुष्यको राग-द्वेषसे शून्य होना चाहिये। जिसे ऐसी विवेकयुक्त बुद्धि प्राप्त हो गयी है, उसको संताप क्यों होगा? ॥ ४ ॥

परावरज्ञो यश्च स्याद् यथा त्वं मनुजाधिप।
स एव व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥ ५ ॥

'नरेश्वर! जिसे आपके समान आत्मा और अनात्माका ज्ञान है, वही संकटमें पड़नेपर भी विषाद नहीं कर सकता ॥ ५ ॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ॥ ६ ॥

'रघुनन्दन! आप देवताओंकी भाँति सत्त्वगुणसे सम्पन्न, महात्मा, सत्यप्रतिज्ञ, सर्वज्ञ, सबके साक्षी और बुद्धिमान् हैं ॥ ६ ॥

न त्वामेवंगुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम्।
अविषह्यतमं दुःखमासादयितुमर्हति ॥ ७ ॥

'ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त और जन्म-मरणके रहस्यको जाननेवाले आपके पास असह्य दुःख नहीं आ सकता ॥ ७ ॥

प्रोषिते मयि यत् पापं मात्रा मत्कारणात् कृतम्।
क्षुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान् मम ॥ ८ ॥

'जब मैं परदेशमें था, उस समय नीच विचार रखनेवाली मेरी माताने मेरे लिये जो पाप कर डाला, वह मुझे अभीष्ट नहीं है; अतः आप उसे क्षमा करके मुझपर प्रसन्न हों ॥ ८ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम्।
हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डार्हां पापकारिणीम् ॥ ९ ॥

'मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, इसीलिये इस पाप करने-वाली एवं दण्डनीय माताको मैं कठोर दण्ड देकर मार नहीं डालता ॥ ९ ॥

कथं दशरथाज्जातः शुभाभिजनकर्मणः।
जानन् धर्ममधर्मं च कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ॥ १० ॥

'जिनके कुल और कर्म दोनों ही शुभ थे, उन महाराज दशरथसे उत्पन्न होकर धर्म और अधर्मको जानता हुआ भी मैं मातृवधरूपी लोकनिन्दित कर्म कैसे करूँ! ॥ १० ॥

गुरुः क्रियावान् वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च।
तातं न परिगर्हेऽहं दैवतं चेति संसदि ॥ ११ ॥

'महाराज मेरे गुरु, श्रेष्ठ यज्ञकर्म करनेवाले, बड़े-बूढ़े, राजा, पिता और देवता रहे हैं और इस समय परलोकवासी हो चुके हैं, इसीलिये इस भरी सभामें मैं उनकी निन्दा नहीं करता हूँ ॥ ११ ॥

को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्बिषम्।
स्त्रियः प्रियचिकीर्षुः सन् कुर्याद् धर्मज्ञ धर्मवित् ॥ १२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन! कौन ऐसा मनुष्य है, जो धर्मको जानते हुए भी स्त्रीका प्रिय करनेकी इच्छासे ऐसा धर्म और अर्थसे हीन कुत्सित कर्म कर सकता है? ॥ १२ ॥

अन्तकाले हि भूतानि मुह्यन्तीति पुरा श्रुतिः।
राज्ञैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षा सा श्रुतिः कृता ॥ १३ ॥

'लोकमें एक प्राचीन किंवदन्ती है कि अन्तकालमें सब प्राणी मोहित हो जाते हैं—उनकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। राजा दशरथने ऐसा कठोर कर्म करके उस किंवदन्तीकी सत्यताको प्रत्यक्ष कर दिखाया ॥ १३ ॥

साध्वर्थमभिसंधाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात्।
तातस्य यदतिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद् भवान् ॥ १४ ॥

'पिताजीने क्रोध, मोह और साहसके कारण ठीक समझकर जो धर्मका उल्लङ्घन किया है, उसे आप पलट दें—उसका संशोधन कर दें ॥ १४ ॥

पितुर्हि समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते।
तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १५ ॥

'जो पुत्र पिताकी की हुई भूलको ठीक कर देता है, वही लोकमें उत्तम संतान माना गया है। जो इसके विपरीत बर्ताव करता है, वह पिताकी श्रेष्ठ संतति नहीं है ॥ १५ ॥

तदपत्यं भवानस्तु मा भवान् दुष्कृतं पितुः।
अति यत् तत् कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ॥ १६ ॥

'अतः आप पिताकी योग्य संतान ही बने रहें। उनके अनुचित कर्मका समर्थन न करें। उन्होंने इस समय जो कुछ किया है, वह धर्मकी सीमासे बाहर है। संसारमें धीर पुरुष उसकी निन्दा करते हैं ॥ १६ ॥

कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः।
पौरजानपदान् सर्वांस्त्रातुं सर्वमिदं भवान् ॥ १७ ॥

'कैकेयी, मैं, पिताजी, सुहृद्गण, बन्धु-बान्धव, पुरवासी तथा राष्ट्रकी प्रजा—इन सबकी रक्षाके लिये आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करें ॥ १७ ॥

क्व चारण्यं क्व च क्षात्रं क्व जटाः क्व च पालनम्।
ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

'कहाँ वनवास और कहाँ क्षात्रधर्म ? कहाँ जटा-धारण और कहाँ प्रजाका पालन ? ऐसे परस्परविरोधी कर्म आपको नहीं करने चाहिये ॥ १८ ॥

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम्।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम् ॥ १९ ॥

'महाप्राज्ञ ! क्षत्रियके लिये पहला धर्म यही है कि उसका राज्यपर अभिषेक हो, जिससे वह प्रजाका भलीभाँति पालन कर सके ॥ १९ ॥

कश्च प्रत्यक्षमुत्सृज्य संशयस्थमलक्षणम्।
आयतिस्थं चरेद् धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ॥ २० ॥

'भला कौन ऐसा क्षत्रिय होगा, जो प्रत्यक्ष सुखके साधनभूत प्रजापालनरूप धर्मका परित्याग करके संशयमें स्थित, सुखके लक्षणसे रहित, भविष्यमें फल देनेवाले अनिश्चित धर्मका आचरण करेगा ? ॥ २० ॥

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि।
धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि ॥ २१ ॥

'यदि आप क्लेशसाध्य धर्मका ही आचरण करना चाहते हैं तो धर्मानुसार चारों वर्णोंका पालन करते हुए ही कष्ट उठाइये ॥ २१ ॥

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि ॥ २२ ॥

'धर्मज्ञ रघुनन्दन ! धर्मके ज्ञाता पुरुष चारों आश्रमोंमें गार्हस्थ्यको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं, फिर आप उसका परित्याग क्यों करना चाहते हैं ? ॥ २२ ॥

श्रुतेन बालः स्थानेन जन्मना भवतो ह्यहम्।
स कथं पालयिष्यामि भूमिं भवति तिष्ठति ॥ २३ ॥

'मैं शास्त्रज्ञान और जन्मजात अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे आपकी अपेक्षा बालक हूँ, फिर आपके रहते हुए मैं वसुधाका पालन कैसे करूँगा ? ॥ २३ ॥

हीनबुद्धिगुणो बालो हीनस्थानेन चाप्यहम्।
भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे ॥ २४ ॥

'मैं बुद्धि और गुण दोनोंसे हीन हूँ; बालक हूँ तथा मेरा स्थान आपसे बहुत छोटा है; अतः मैं आपके बिना जीवन-धारण भी नहीं कर सकता, राज्यका पालन तो दूरकी बात है ॥ २४ ॥

इदं निखिलमप्यग्र्यं राज्यं पित्र्यमकण्टकम्।
अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ॥ २५ ॥

'धर्मज्ञरघुनन्दन ! पिताका यह सारा राज्य श्रेष्ठ और निष्कण्टक है, अतः आप बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वधर्मानुसार इसका पालन कीजिये ॥ २५ ॥

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह।
ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः ॥ २६ ॥

'मन्त्रज्ञ रघुवीर ! मन्त्रोंके ज्ञाता महर्षि वसिष्ठ आदि सभी ऋत्विज तथा मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि सारी प्रकृतियाँ यहाँ उपस्थित हैं। ये सब लोग यहीं आपका राज्याभिषेक करें ॥ २६ ॥

अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज।
विजित्य तरसा लोकान् मरुद्भिरिव वासवः ॥ २७ ॥

'हमलोगोंके द्वारा अभिषिक्त होकर आप मरुद्गणोंसे अभिषिक्त हुए इन्द्रकी भाँति वेगपूर्वक सब लोकोंको जीतकर प्रजाका पालन करनेके लिये अयोध्याको चलें ॥ २७ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन्।
सुहृदस्तर्पयन् कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ॥ २८ ॥

'वहाँ देवता, ऋषि और पितरोंका ऋण चुकायें दुष्ट शत्रुओंका भलीभाँति दमन करें तथा मित्रोंको उनके

इच्छानुसार वस्तुओंद्वारा तृप्त करते हुए आप ही अयोध्यामें मुझे धर्मकी शिक्षा देते रहें ॥ २८ ॥

अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ।
अद्य भीताः पलायन्तु दुष्प्रदास्ते दिशो दश ॥ २९ ॥

'आर्य ! आपका अभिषेक सम्पन्न होनेपर सुहृद्गण प्रसन्न हों और दुःख देनेवाले आपके शत्रु भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग जायँ ॥ २९ ॥

आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ।
अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्बिषात् ॥ ३० ॥

'पुरुषप्रवर ! आज आप मेरी माताके कलङ्कको धो-पोंछकर पूज्य पिताजीको भी निन्दासे बचाइये ॥ ३० ॥

शिरसा त्वाभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि ।
बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥ ३१ ॥

'मैं आपके चरणोंमें माथा टेककर याचना करता हूँ । आप मुझपर दया कीजिये । जैसे महादेवजी सब प्राणियोंपर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आप भी अपने बन्धु-बान्धवों-पर कृपा कीजिये ॥ ३१ ॥

अथवा पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।
गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥ ३२ ॥

'अथवा यदि आप मेरी प्रार्थनाको ठुकराकर यहाँसे वनको ही जायँगे तो मैं भी आपके साथ जाऊँगा' ॥ ३२ ॥

तथाभिरामो भरतेन ताम्यता
प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।
न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान्
मतिं पितुस्तद् वचने प्रतिष्ठितः ॥ ३३ ॥

ग्लानिमें पड़े हुए भरतने मनोभिराम राजा श्रीरामको उनके चरणोंमें माथा टेककर प्रसन्न करनेकी चेष्टा की तथापि उन सत्त्वगुणसम्पन्न रघुनाथजीने पिताकी आज्ञामें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अयोध्या जानेका विचार नहीं किया ॥ ३३ ॥

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।
न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी वह अद्भुत दृढ़ता देखकर सब लोग एक ही साथ दुखी भी हुए और हर्षको भी प्राप्त हुए । ये अयोध्या नहीं जा रहे हैं—यह सोचकर वे दुखी हुए और प्रतिज्ञा-पालनमें उनकी दृढ़ता देखकर उन्हें हर्ष हुआ ॥ ३४ ॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभा-
स्तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।
तथा ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः
प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥

उस समय ऋत्विज, पुरवासी, भिन्न-भिन्न समुदायके नेता और माताएँ अचेत-सी होकर आँसू बहाती हुई पूर्वोक्त बातें कहनेवाले भरतकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगीं और सबने उनके साथ ही योग्यतानुसार श्रीरामजीके सामने विनीत होकर उनसे अयोध्या लौट चलनेकी याचना की ॥ ३५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षडधिकशततमः सर्गः ॥ १०६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ १०६ ॥

सप्ताधिकशततमः सर्गः

श्रीरामका भरतको समझाकर उन्हें अयोध्या जानेका आदेश देना

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।
प्रत्युवाच ततः श्रीमाञ्ज्ञातिमध्ये सुसत्कृतः ॥ १ ॥

जब भरत पुनः इस प्रकार प्रार्थना करने लगे, तब कुटुम्बीजनोंके बीचमें सत्कारपूर्वक बैठे हुए लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् रामचन्द्रजीने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया—॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यस्त्वमेवमभाषथाः ।
जातः पुत्रो दशरथात् कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥ २ ॥

'भाई ! तुम नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथके द्वारा केकयराज-कन्या माता कैकेयीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो; अतः तुमने जो ऐसे उत्तम वचन कहे हैं, वे सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं ॥ २ ॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

'भैया ! आजसे बहुत पहलेकी बात है—पिताजीका जब तुम्हारी माताजीके साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नानासे कैकेयीके पुत्रको राज्य देनेकी उत्तम शर्त कर ली थी ॥ ३ ॥

देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥

'इसके बाद देवासुर-संग्राममें तुम्हारी माताने प्रभावशाली महाराजकी बड़ी सेवा की; इससे संतुष्ट होकर राजाने उन्हें वरदान दिया ॥ ४ ॥

ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥ ५ ॥

'उसीकी पूर्तिके लिये प्रतिज्ञा कराकर तुम्हारी श्रेष्ठ वर्णवाली यशस्विनी माताने उन नरश्रेष्ठ पिताजीसे दो वर माँगे ॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा।
तच्च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरम् ॥ ६ ॥

'पुरुषसिंह ! एक वरके द्वारा इन्होंने तुम्हारे लिये राज्य माँगा और दूसरेके द्वारा मेरा वनवास। इनसे इस प्रकार प्रेरित होकर राजाने वे दोनों वर इन्हें दे दिये ॥ ६ ॥

तेन पित्राहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

'पुरुषप्रवर ! इस प्रकार उन पिताजीने वरदानके रूपमें मुझे चौदह वर्षोंतक वनवासकी आज्ञा दी है ॥ ७ ॥

सोऽयं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

यही कारण है कि मैं सीता और लक्ष्मणके साथ इस निर्जन वनमें चला आया हूँ। यहाँ मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। मैं यहाँ पिताजीके सत्यकी रक्षामें स्थित रहूँगा ॥ ८ ॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम्।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषिञ्चनात् ॥ ९ ॥

'राजेन्द्र ! तुम भी उनकी आज्ञा मानकर शीघ्र ही राज्यपदपर अपना अभिषेक करा लो और पिताको सत्यवादी बनाओ—यही तुम्हारे लिये उचित है ॥ ९ ॥

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥ १० ॥

'धर्मज्ञ भरत ! तुम मेरे लिये पूज्य पिता राजा दशरथको कैकेयीके ऋणसे मुक्त करो, उन्हें नरकमें गिरनेसे बचाओ और माताका भी आनन्द बढ़ाओ ॥ १० ॥

श्रूयते धीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन् प्रति ॥ ११ ॥

'तात ! सुना जाता है कि बुद्धिमान्, यशस्वी राजा गयने गय देशमें ही यज्ञ करते हुए पितरोंके प्रति एक कहावत कही थी ॥ ११ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ १२ ॥

'(वह इस प्रकार है—) बेटा पुत् नामक नरकसे पिताका उद्धार करता है, इसलिये वह पुत्र कहा गया। वही पुत्र है, जो पितरोंकी सब ओरसे रक्षा करता है ॥ १२ ॥

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥

'बहुत-से गुणवान् और बहुश्रुत पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये। सम्भव है कि प्राप्त हुए उन पुत्रोंमेंसे कोई एक भी गयाकी यात्रा करे ? ॥ १३ ॥

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन।
तस्मात् त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात् प्रभो ॥ १४ ॥

'रघुनन्दन ! नरश्रेष्ठ भरत ! इस प्रकार सभी राजर्षियोंने पितरोंके उद्धारका निश्चय किया है, अतः प्रभो ! तुम भी अपने पिताका नरकसे उद्धार करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥

'वीर भरत ! तुम शत्रुघ्न तथा समस्त ब्राह्मणोंको साथ लेकर अयोध्याको लौट जाओ और प्रजाको सुख दो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन्।
आभ्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

'वीर ! अब मैं भी लक्ष्मण और सीताके साथ शीघ्र ही दण्डकारण्यमें प्रवेश करूँगा ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम्।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य सम्प्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

'भरत ! तुम स्वयं मनुष्योंके राजा बनो और मैं जंगली पशुओंका सम्राट् बनूँगा। अब तुम अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रेष्ठ नगर अयोध्याको जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दण्डकवनमें प्रवेश करूँगा ॥ १७ ॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम्।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां
छायां तामतिशयिनीं शनैः श्रयिष्ये ॥ १८ ॥

'भरत ! सूर्यकी प्रभाको तिरोहित कर देनेवाला छत्र तुम्हारे मस्तकपर शीतल छाया करे। अब मैं भी धीरे-धीरे इन जंगली वृक्षोंकी घनी छायाका आश्रय लूँगा ॥ १८ ॥

शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः
सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम्।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद ॥ १९ ॥

'भरत ! अतुलित बुद्धिवाले शत्रुघ्न तुम्हारी सहायतामें रहें और सुविख्यात सुमित्राकुमार लक्ष्मण मेरे प्रधान मित्र (सहायक) हैं; हम चारों पुत्र अपने पिता राजा दशरथके सत्यकी रक्षा करें। तुम विषाद मत करो' ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्ताधिकशततमः सर्गः ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०७ ॥

अष्टाधिकशततमः सर्गः

जाबालिका नास्तिकोंके मतका अवलम्बन करके श्रीरामको समझाना

आश्वासयन्तं भरतं जाबालिर्ब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मापेतमिदं वचः ॥ १ ॥

जब धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजी भरतको इस प्रकार समझा-बुझा रहे थे, उसी समय ब्राह्मणशिरोमणि जाबालिने उनसे यह धर्मविरुद्ध वचन कहा—॥ १ ॥

साधु राघव मा भूत् ते बुद्धिरेवं निरर्थिका ।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेस्तपस्विनः ॥ २ ॥

'रघुनन्दन ! आपने ठीक कहा, परंतु आप श्रेष्ठ बुद्धि-वाले और तपस्वी हैं; अतः आपको गँवार मनुष्यकी तरह ऐसा निरर्थक विचार मनमें नहीं लाना चाहिये ॥ २ ॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।
एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥

'संसारमें कौन पुरुष किसका बन्धु है और किससे किसको क्या पाना है ? जीव अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही नष्ट हो जाता है ॥ ३ ॥

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।
उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्धि कस्यचित् ॥ ४ ॥

'अतः श्रीराम ! जो मनुष्य माता या पिता समझकर किसीके प्रति आसक्त होता है, उसे पागलके समान समझना चाहिये; क्योंकि यहाँ कोई किसीका कुछ भी नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन् नरः कश्चिद् बहिर्वसेत् ।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥
एवमेव मनुष्याणां पिता माता गृहं वसु ।
आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

'जैसे कोई मनुष्य दूसरे गाँवको जाते समय बाहर किसी धर्मशालामें एक रातके लिये ठहर जाता है और दूसरे दिन उस स्थानको छोड़कर आगेके लिये प्रस्थित हो जाता है, इसी प्रकार पिता, माता, घर और धन—ये मनुष्योंके आवासमात्र हैं । ककुत्स्थकुलभूषण ! इनमें सज्जन पुरुष आसक्त नहीं होते हैं ॥ ५-६ ॥

पित्र्यं राज्यं समुत्सृज्य स नार्हसि नरोत्तम ।
आस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ ! आपको पिताका राज्य छोड़कर इस दुःखमय, नीचे-ऊँचे तथा बहुकण्टकाकीर्ण वनके कुत्सित मार्गपर नहीं चलना चाहिये ॥ ७ ॥

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।
एकवेणीधरा हि त्वा नगरी सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

'आप समृद्धिशालिनी अयोध्यामें राजाके पदपर अपना अभिषेक कराइये । वह नगरी प्रोषितभर्तृका नारीकी भाँति एक वेणी धारण करके आपकी प्रतीक्षा करती है ॥ ८ ॥

राजभोगाननुभवन् महार्हान् पार्थिवात्मज ।
विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

'राजकुमार ! जैसे देवराज इन्द्र स्वर्गमें विहार करते हैं, उसी प्रकार आप बहुमूल्य राजभोगोंका उपभोग करते हुए अयोध्यामें विहार कीजिये ॥ ९ ॥

न ते कश्चिद् दशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन ।
अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात् कुरु यदुच्यते ॥ १० ॥

'राजा दशरथ आपके कोई नहीं थे और आप भी उनके कोई नहीं हैं । राजा दूसरे थे और आप भी दूसरे हैं; इसलिये मैं जो कहता हूँ, वही कीजिये ॥ १० ॥

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च ।
संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥

'पिता जीवके जन्ममें निमित्तकारणमात्र होता है । वास्तवमें ऋतुमती माताके द्वारा गर्भमें धारण किये हुए वीर्य और रजका परस्पर संयोग होनेपर ही पुरुषका यहाँ जन्म होता है ॥ ११ ॥

गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे ॥ १२ ॥

'राजाको जहाँ जाना था, वहाँ चले गये । यह प्राणियोंके लिये स्वाभाविक स्थिति है । आप तो व्यर्थ ही मारे जाते (कष्ट उठाते) हैं ॥ १२ ॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्शोचामि नेतरान् ।
ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य लेभिरे ॥ १३ ॥

'जो-जो मनुष्य प्राप्त हुए अर्थका परित्याग करके धर्म-परायण हुए हैं, उन्हीं-उन्हींके लिये मैं शोक करता हूँ, दूसरोंके लिये नहीं । वे इस जगत्‌में धर्मके नामपर केवल दुःख भोगकर मृत्युके पश्चात् नष्ट हो गये हैं ॥ १३ ॥

अष्टकापितृदैवत्यमित्ययं प्रसृतो जनः ।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

'अष्टका आदि जितने श्राद्ध हैं, उनके देवता पितर हैं—श्राद्धका दान पितरोंको मिलता है । यही सोचकर लोग श्राद्धमें प्रवृत्त होते हैं; किंतु विचार करके देखिये तो इसमें अन्नका नाश ही होता है । भला, मरा हुआ मनुष्य क्या खायेगा ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।
दद्यात् प्रवसतां श्राद्धं न तत् पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥

'यदि यहाँ दूसरेका खाया हुआ अन्न दूसरेके शरीरमें

चला जाता हो तो परदेशमें जानेवालोंके लिये श्राद्ध ही कर देना चाहिये; उनको रास्तेके लिये भोजन देना उचित नहीं है ॥

दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः कृताः।
यजस्व देहि दीक्षस्व तपस्तप्यस्व संत्यज ॥ १६ ॥

'देवताओंके लिये यज्ञ और पूजन करो, दान दो, यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करो, तपस्या करो और घर-द्वार छोड़कर संन्यासी बन जाओ इत्यादि बातें बतानेवाले ग्रन्थ बुद्धिमान् मनुष्योंने दानकी ओर लोगोंकी प्रवृत्ति करानेके लिये ही बनाये हैं ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येतत् कुरु बुद्धिं महामते।
प्रत्यक्षं यत् तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

'अतः महामते ! आप अपने मनमें यह निश्चय कीजिये कि इस लोकके सिवा कोई दूसरा लोक नहीं है (अतः वहाँ फल भोगनेके लिये धर्म आदिके पालनकी आवश्यकता नहीं है)। जो प्रत्यक्ष राज्यलाभ है, उसका आश्रय लीजिये, परोक्ष (पारलौकिक लाभ) को पीछे ढकेल दीजिये ॥ १७ ॥

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम्।
राज्यं स त्वं निगृह्णीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

'सत्पुरुषोंकी बुद्धि, जो सब लोगोंके लिये राह दिखानेवाली होनेके कारण प्रमाणभूत है, आगे करके भरतके अनुरोधसे आप अयोध्याका राज्य ग्रहण कीजिये' ॥ १८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाधिकशततमः सर्गः ॥ १०८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०८ ॥

नवाधिकशततमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा जाबालिके नास्तिक मतका खण्डन करके आस्तिक मतका स्थापन

जाबालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः।
उवाच परया सूक्त्या बुद्ध्याविप्रतिपन्नया ॥ १ ॥

जाबालिका यह वचन सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीने अपनी संशयरहित बुद्धिके द्वारा श्रुतिसम्मत सदुक्तिका आश्रय लेकर कहा—॥ १ ॥

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान्।
अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसंनिभम् ॥ २ ॥

'विप्रवर ! आपने मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे यहाँ जो बात कही है, वह कर्तव्य-सी दिखायी देती है; किंतु वास्तवमें करनेयोग्य नहीं है । वह पथ्य-सी दीखनेपर भी वास्तवमें अपथ्य है ॥ २ ॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥

'जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाको त्याग देता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है । उसके आचार और विचार दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं; इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता है ॥ ३ ॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम् ॥ ४ ॥

'आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ है और कौन अधम कुलमें, कौन वीर है और कौन व्यर्थ ही अपनेको पुरुष मानता है तथा कौन पवित्र है और कौन अपवित्र ? ॥ ४ ॥

अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥

'आपने जो आचार बताया है, उसे अपनानेवाला पुरुष श्रेष्ठ-सा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें अनार्य होगा । बाहरसे पवित्र दीखनेपर भी भीतरसे अपवित्र होगा । उत्तम लक्षणोंसे युक्त-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें उसके विपरीत होगा तथा शीलवान्-सा दीखनेपर भी वस्तुतः वह दुःशील ही होगा ॥

अधर्मं धर्मवेषेण यद्यहं लोकसंकरम्।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम् ॥ ६ ॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥

'आपका उपदेश चोला तो धर्मका पहने हुए है, किंतु वास्तवमें अधर्म है । इससे संसारमें वर्णसंकरताका प्रचार होगा। यदि मैं इसे स्वीकार करके वेदोक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान छोड़ दूँ और विधिहीन कर्मोंमें लग जाऊँ तो कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान रखनेवाला कौन समझदार मनुष्य मुझे श्रेष्ठ समझकर आदर देगा ? उस दशामें तो मैं इस जगत्‌में दुराचारी तथा लोकको कलङ्कित करनेवाला समझा जाऊँगा ॥ ६-७ ॥

कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम्।
अनया वर्तमानोऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

'जहाँ अपनी की हुई प्रतिज्ञा तोड़ दी जाती है, उस वृत्तिके अनुसार बर्ताव करनेपर मैं किस साधनसे स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा तथा आपने जिस आचारका उपदेश दिया है, वह किसका है, जिसका मुझे अनुसरण करना होगा; क्योंकि आपके कथनानुसार मैं पिता आदिमेंसे किसीका कुछ भी नहीं हूँ ॥ ८ ॥

कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते।

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः। ९।

'आपके बताये हुए मार्गसे चलनेपर पहले तो मैं स्वेच्छाचारी हूँगा। फिर यह सारा लोक स्वेच्छाचारी हो जायगा; क्योंकि राजाओंके जैसे आचरण होते हैं, प्रजा भी वैसा ही आचरण करने लगती है ॥ ९ ॥

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः॥ १० ॥

'सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है—सनातन आचार है, अतः राज्य सत्यस्वरूप है। सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥ ११ ॥

'ऋषियों और देवताओंने सदा सत्यका ही आदर किया है। इस लोकमें सत्यवादी मनुष्य अक्षय परम धाममें जाता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

'झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे सब लोग उसी तरह डरते हैं, जैसे साँपसे। संसारमें सत्य ही धर्मकी पराकाष्ठा है और वही सबका मूल कहा जाता है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥ १३ ॥

'जगत्में सत्य ही ईश्वर है। सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है। सत्य ही सबकी जड़ है। सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई परम पद नहीं है ॥ १३ ॥

दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥

'दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आधार सत्य ही है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये ॥ १४ ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम्।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥ १५ ॥

'एक मनुष्य सम्पूर्ण जगत्का पालन करता है, एक समूचे कुलका पालन करता है, एक नरकमें डूबता है और एक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम् ॥ १६ ॥

'मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ और सत्यकी शपथ खाकर पिताके सत्यका पालन स्वीकार कर चुका हूँ; ऐसी दशामें मैं पिताके आदेशका किस लिये पालन नहीं करूँ ? ॥ १६ ॥

नैव लोभान्न मोहाद् वा न चाज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

पहले सत्यपालनकी प्रतिज्ञा करके अब लोभ, मोह अथवा अज्ञानसे विवेकशून्य होकर मैं पिताके सत्यकी मर्यादा भङ्ग नहीं करूँगा ॥ १७ ॥

असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

'हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उस चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हव्य-कव्यको देवता और पितर नहीं स्वीकार करते हैं ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम्।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते ॥ १९ ॥

'मैं इस सत्यरूपी धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये हितकर और सब धर्मोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ। सत्पुरुषोंने जटा-वल्कल आदिके धारणरूप तापस धर्मका पालन किया है, इसलिये मैं भी उसका अभिनन्दन करता हूँ ॥ १९ ॥

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम्।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

'जो धर्मयुक्त प्रतीत हो रहा है, किंतु वास्तवमें अधर्मरूप है, जिसका नीच, क्रूर, लोभी और पापाचारी पुरुषोंने सेवन किया है, ऐसे क्षात्रधर्मका (पिताकी आज्ञा भङ्ग करके राज्य ग्रहण करनेका) मैं अवश्य त्याग करूँगा (क्योंकि वह न्याययुक्त नहीं है) ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत्।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥ २१ ॥

'मनुष्य अपने शरीरसे जो पाप करता है, उसे पहले मनके द्वारा कर्तव्यरूपसे निश्चित करता है। फिर जिह्वाकी सहायतासे उस अनृत कर्म (पाप) को वाणीद्वारा दूसरोंसे कहता है, तत्पश्चात् औरोंके सहयोगसे उसे शरीरद्वारा सम्पन्न करता है। इस तरह एक ही पातक कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकारका होता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः ॥ २२ ॥

'पृथ्वी, कीर्ति, यश और लक्ष्मी—ये सब-की-सब सत्यवादी पुरुषको पानेकी इच्छा रखती हैं और शिष्ट पुरुष सत्यका ही अनुसरण करते हैं, अतः मनुष्यको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये ॥ २२ ॥

श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद् यद् भवानवधार्य माम्।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह ॥ २३ ॥

'आपने उचित सिद्ध करके तर्कपूर्ण वचनोंके द्वारा

मुझसे जो यह कहा है कि राज्य ग्रहण करनेमें ही कल्याण है; अतः इसे अवश्य स्वीकार करो । आपका यह आदेश श्रेष्ठ-सा प्रतीत होनेपर भी सज्जन पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाने योग्य नहीं है (क्योंकि इसे स्वीकार करनेसे सत्य और न्यायका उल्लङ्घन होता है) ॥ २३ ॥

कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः ।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

'मैं पिताजीके सामने इस तरह वनमें रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ । अब उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मैं भरतकी बात कैसे मान लूँगा ॥ २४ ॥

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसंनिधौ ।
प्रहृष्टमानसा देवी कैकेयी चाभवत् तदा ॥ २५ ॥

'गुरुके समीप की हुई मेरी वह प्रतिज्ञा अटल है— किसी तरह तोड़ी नहीं जा सकती । उस समय जब कि मैंने प्रतिज्ञा की थी, देवी कैकेयीका हृदय हर्षसे खिल उठा था ॥ २५ ॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।
मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन् ॥ २६ ॥

'मैं वनमें ही रहकर बाहर-भीतरसे पवित्र हो नियमित भोजन करूँगा और पवित्र फल, मूल एवं पुष्पोंद्वारा देवताओं और पितरोंको तृप्त करता हुआ प्रतिज्ञाका पालन करूँगा ॥ २६ ॥

संतुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये ।
अकुहः श्रद्दधानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः ॥ २७ ॥

'क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इसका निश्चय मैं कर चुका हूँ । अतः फल-मूल आदिसे पाँचों इन्द्रियोंको संतुष्ट करके निश्छल, श्रद्धापूर्वक लोकयात्रा (पिताकी आज्ञाके पालनरूप व्यवहार) का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम् ।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥ २८ ॥

'इस कर्मभूमिको पाकर जो शुभ कर्म हो, उसका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि अग्नि, वायु तथा सोम भी कर्मोंके ही फलसे उन-उन पदोंके भागी हुए हैं ॥ २८ ॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः ।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः ॥ २९ ॥

'देवराज इन्द्र सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं । महर्षियोंने भी उग्र तपस्या करके दिव्य लोकोंमें स्थान प्राप्त किया है' ॥ २९ ॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहेतुम् ।
अथाब्रवीत् तं नृपतेस्तनूजो
विगर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

उग्र तेजस्वी राजकुमार श्रीराम परलोककी सत्ताका खण्डन करनेवाले जाबालिके पूर्वोक्त वचनोंको सुनकर उन्हें सहन न कर सकनेके कारण उन वचनोंकी निन्दा करते हुए पुनः उनसे बोले—॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

'सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, सबसे प्रिय वचन बोलना तथा देवताओं, अतिथियों और ब्राह्मणोंकी पूजा करना—इन सबको साधु पुरुषोंने स्वर्गलोकका मार्ग बताया है ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-
मेकोदयं सम्प्रतिपद्य विप्राः ।
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्
काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ताः ॥ ३२ ॥

'सत्पुरुषोंके इस वचनके अनुसार धर्मका स्वरूप जानकर तथा अनुकूल तर्कसे उसका यथार्थ निर्णय करके एक निश्चयपर पहुँचे हुए सावधान ब्राह्मण भलीभाँति धर्माचरण करते हुए उन-उन उत्तम लोकोंको प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ३२ ॥

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिम् ।
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥

'आपकी बुद्धि विषम मार्गमें स्थित है—आपने वेद-विरुद्ध मार्गका आश्रय ले रखा है । आप घोर नास्तिक और धर्मके रास्तेसे कोसों दूर हैं । ऐसी पाखण्डमयी बुद्धिके द्वारा अनुचित विचारका प्रचार करनेवाले आपको मेरे पिताजीने जो अपना याजक बना लिया, उनके इस कार्यकी मैं निन्दा करता हूँ ॥ ३३ ॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि ।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
स नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

'जैसे चोर दण्डनीय होता है, उसी प्रकार (वेदविरोधी) बुद्ध (बौद्धमतावलम्बी) भी दण्डनीय है । तथागत (नास्तिकविशेष) और नास्तिक (चार्वाक) को भी यहाँ इसी कोटिमें समझना चाहिये । इसलिये प्रजापर अनुग्रह करनेके लिये राजाद्वारा जिस नास्तिकको दण्ड दिलाया जा सके, उसे तो चोरके समान दण्ड दिलाया ही जाय; परंतु जो वशके बाहर हो,

उस नास्तिकके प्रति विद्वान् ब्राह्मण कभी उन्मुख न हो—उससे वार्तालापतक न करे ॥ ३४ ॥

त्वत्तो जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।
छित्त्वा सदेमं च परं च लोकं
तस्माद् द्विजाः स्वस्ति कृतं हुतं च ॥

'आपके सिवा पहलेके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने इहलोक और परलोककी फल-कामनाका परित्याग करके वेदोक्त धर्म समझकर सदा ही बहुत-से शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है । अतः जो भी ब्राह्मण हैं, वे वेदोंको ही प्रमाण मानकर स्वस्ति (अहिंसा और सत्य आदि), कृत (तप, दान और परोपकार आदि) तथा हुत (यज्ञ-याग आदि) कर्मोंका सम्पादन करते हैं ॥ ३५ ॥

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

'जो धर्ममें तत्पर रहते हैं, सत्पुरुषोंका साथ करते हैं, तेजसे सम्पन्न हैं, जिनमें दानरूपी गुणकी प्रधानता है, जो कभी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करते तथा जो मल-संसर्गसे रहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनि ही संसारमें पूजनीय होते हैं' ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं
रामं महात्मानमदीनसत्त्वम् ।
उवाच पथ्यं पुनरास्तिकं च
सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

महात्मा श्रीराम स्वभावसे ही दैन्यभावसे रहित थे । उन्होंने जब रोषपूर्वक पूर्वोक्त बात कही, तब ब्राह्मण जाबालिने विनयपूर्वक यह आस्तिकतापूर्ण सत्य एवं हितकर वचन कहा—॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं
न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किंचन ।
समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽभवं
भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

'रघुनन्दन ! न तो मैं नास्तिक हूँ और न नास्तिकोंकी बात ही करता हूँ । परलोक आदि कुछ भी नहीं है, ऐसा मेरा मत नहीं है । मैं अवसर देखकर फिर आस्तिक हो गया और लौकिक व्यवहारके समय आवश्यकता होनेपर पुनः नास्तिक हो सकता हूँ—नास्तिकोंकी-सी बातें कर सकता हूँ ॥ ३८ ॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनै-
र्यथा मया नास्तिकवागुदीरिता ।
निवर्तनार्थं तव राम कारणात्
प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

'इस समय ऐसा अवसर आ गया था, जिससे मैंने धीरे-धीरे नास्तिकोंकी-सी बातें कह डालीं । श्रीराम ! मैंने जो यह बात कही, इसमें मेरा उद्देश्य यही था कि किसी तरह आपको राजी करके अयोध्या लौटनेके लिये तैयार कर लूँ' ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवाधिकशततमः सर्गः ॥ १०९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ नौवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १०९ ॥

दशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीका सृष्टिपरम्पराके साथ इक्ष्वाकुकुलकी परम्परा बताकर ज्येष्ठके ही राज्याभिषेकका औचित्य सिद्ध करना और श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेके लिये कहना

क्रुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।
जाबालिरपि जानीते लोकस्यास्य गतागतिम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीको रुष्ट जानकर महर्षि वसिष्ठजीने उनसे कहा—'रघुनन्दन ! महर्षि जाबालि भी यह जानते हैं कि इस लोकके प्राणियोंका परलोकमें जाना और आना होता रहता है (अतः ये नास्तिक नहीं हैं) ॥ १ ॥

निवर्तयितुकामस्तु त्वामेतद् वाक्यमब्रवीत् ।
इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निबोध मे ॥ २ ॥

'जगदीश्वर ! इस समय तुम्हें लौटानेकी इच्छासे ही इन्होंने यह नास्तिकतापूर्ण बात कही थी । तुम मुझसे इस लोककी उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत् पृथिवी तत्र निर्मिता ।
ततः समभवद् ब्रह्मा स्वयंभूर्दैवतैः सह ॥ ३ ॥

'सृष्टिके प्रारम्भकालमें सब कुछ जलमय ही था । उस जलके भीतर ही पृथ्वीका निर्माण हुआ । तदनन्तर देवताओंके साथ स्वयंभू ब्रह्मा प्रकट हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुंधराम् ।
असृजच्च जगत् सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

'इसके बाद उन भगवान् विष्णुस्वरूप ब्रह्माने ही वराहरूपसे प्रकट होकर जलके भीतरसे इस पृथ्वीको निकाला और अपने कृतात्मा पुत्रोंके साथ इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की ॥ ४ ॥

आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ।
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

'आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ है, जो नित्य, सनातन एवं अविनाशी हैं। उनसे मरीचि उत्पन्न हुए और मरीचिके पुत्र कश्यप हुए ॥ ५ ॥

विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्वयम् ।
स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

'कश्यपसे विवस्वान्का जन्म हुआ। विवस्वान्के पुत्र साक्षात् वैवस्वत मनु हुए; जो पहले प्रजापति थे। मनुके पुत्र इक्ष्वाकु हुए ॥ ६ ॥

यस्येयं प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही ।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

'जिन्हें मनुने सबसे पहले इस पृथ्वीका समृद्धिशाली राज्य सौंपा था, उन राजा इक्ष्वाकुको तुम अयोध्याका प्रथम राजा समझो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः ।
कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुक्षिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

'इक्ष्वाकुके पुत्र श्रीमान् कुक्षिके नामसे विख्यात हुए। कुक्षिके वीर पुत्र विकुक्षि हुए ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान् ।
बाणस्य च महाबाहुरनरण्यो महातपाः ॥ ९ ॥

'विकुक्षिके महातेजस्वी प्रतापी पुत्र बाण हुए। बाणके महाबाहु पुत्र अनरण्य हुए, जो बड़े भारी तपस्वी थे ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्बभूवास्मिन् न दुर्भिक्षः सतां वरे ।
अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन ॥ १० ॥

'सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज अनरण्यके राज्यमें कभी अनावृष्टि नहीं हुई, अकाल नहीं पड़ा और कोई चोर भी नहीं उत्पन्न हुआ ॥ १० ॥

अनरण्यान्महाराज पृथू राजा बभूव ह ।
तस्मात् पृथोर्महातेजास्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥

'महाराज ! अनरण्यसे राजा पृथु हुए। उन पृथुसे महातेजस्वी त्रिशंकुकी उत्पत्ति हुई ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद् वीरः सशरीरो दिवं गतः ।
त्रिशङ्कोरभवत् सूनुर्धुन्धुमारो महायशाः ॥ १२ ॥

'वे वीर त्रिशंकु विश्वामित्रके सत्य वचनके प्रभावसे सदेह स्वर्गलोकको चले गये थे। त्रिशंकुके महायशस्वी धुन्धुमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।
युवनाश्वसुतः श्रीमान् मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

'धुन्धुमारसे महातेजस्वी युवनाश्वका जन्म हुआ। युवनाश्वके पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसंधिरुदपद्यत ।
सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

'मान्धाताके महान् तेजस्वी पुत्र सुसंधि हुए। सुसंधिके दो पुत्र हुए—ध्रुवसंधि और प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो रिपुसूदनः ।
भरतात् तु महाबाहोरसितो नाम जायत ॥ १५ ॥

'ध्रुवसंधिके यशस्वी पुत्र शत्रुसूदन भरत थे। महाबाहु भरतसे असित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशबिन्दवः ॥ १६ ॥

'जिसके शत्रुभूत प्रतिपक्षी राजा ये हैहय, तालजंघ और शूर शशबिन्दु उत्पन्न हुए थे ॥ १६ ॥

तांस्तु सर्वान् प्रतिव्यूह्य युद्धे राजा प्रवासितः ।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

'उन सबका सामना करनेके लिये सेनाका व्यूह बनाकर युद्धके लिये डटे रहनेपर भी शत्रुओंकी संख्या अधिक होनेके कारण राजा असितको हारकर परदेशकी शरण लेनी पड़ी। वे रमणीय शैल-शिखरपर प्रसन्नतापूर्वक रहकर मुनिभावसे परमात्माका मनन-चिन्तन करने लगे ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ १८ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षिणी पुत्रमुत्तमम् ।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै गरलं ददौ ॥ १९ ॥

'सुना जाता है कि असितकी दो पत्नियाँ गर्भवती थीं। उनमेंसे एक महाभागा कमललोचना राजपत्नीने उत्तम पुत्र पानेकी अभिलाषा रखकर देवतुल्य तेजस्वी भृगुवंशी च्यवन मुनिके चरणोंमें वन्दना की और दूसरी रानीने अपनी सौतके गर्भका विनाश करनेके लिये उसे जहर दे दिया ॥ १८-१९ ॥

भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ २० ॥

'उन दिनों भृगुवंशी च्यवन मुनि हिमालयपर रहते थे। राजा असितकी कालिन्दी नामवाली पत्नीने ऋषिके चरणोंमें पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया ॥ २० ॥

स तामभ्यवदत् प्रीतो वरेप्सुं पुत्रजन्मनि ।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २१ ॥

ध[illegible]कश्च सुभीमश्च वंशकर्तारिसूदनः।

'मुनिने प्रसन्न होकर पुत्रकी उत्पत्तिके लिये वरदान चाहनेवाली रानीसे इस प्रकार कहा—'देवि ! तुम्हें एक महामनस्वी लोकविख्यात पुत्र प्राप्त होगा, जो धर्मात्मा, शत्रुओंके लिये अत्यन्त भयंकर, अपने वंशको चलानेवाला और शत्रुओंका संहारक होगा' ॥ २१½ ॥

श्रुत्वा प्रदक्षिणं कृत्वा मुनिं तमनुमान्य च ॥ २२ ॥
पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम्।
ततः सा गृहमागम्य पत्नी पुत्रमजायत ॥ २३ ॥

'यह सुनकर रानीने मुनिकी परिक्रमा की और उनसे विदा लेकर वहाँसे अपने घर आनेपर उस रानीने एक पुत्रको जन्म दिया, जिसकी कान्ति कमलके भीतरी भागके समान सुन्दर थी और नेत्र कमलदलके समान मनोहर थे ॥ २२-२३ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया।
गरेण सह तेनैव तस्मात् स सगरोऽभवत् ॥ २४ ॥

'सौतने उसके गर्भको नष्ट करनेके लिये जो गर (विष) दिया था, उस गरके साथ ही वह बालक प्रकट हुआ; इसलिये सगर नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत्।
इष्ट्वा पर्वणि वेगेन त्रासयान इमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

'राजा सगर वे ही हैं, जिन्होंने पर्वके दिन यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करके खुदाईके वेगसे इन समस्त प्रजाओंको भयभीत करते हुए अपने पुत्रोंद्वारा समुद्रको खुदवाया था ॥ २५ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत् सगरस्येति नः श्रुतम्।
जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २६ ॥

'हमारे सुननेमें आया है कि सगरके पुत्र असमञ्ज हुए, जिन्हें पापकर्ममें प्रवृत्त होनेके कारण पिताने जीते-जी ही राज्यसे निकाल दिया था ॥ २६ ॥

अंशुमानपि पुत्रोऽभूदसमञ्जस्य वीर्यवान्।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २७ ॥

'असमञ्जके पुत्र अंशुमान् हुए, जो बड़े पराक्रमी थे। अंशुमान्के दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए ॥२७॥

भगीरथात् ककुत्स्थश्च काकुत्स्था येन तु स्मृताः।
ककुत्स्थस्य तु पुत्रोऽभूद् रघुर्येन तु राघवाः ॥ २८ ॥

'भगीरथसे ककुत्स्थका जन्म हुआ, जिनसे उनके वंशवाले 'काकुत्स्थ' कहलाते हैं। ककुत्स्थके पुत्र रघु हुए जिनसे उस वंशके लोग 'राघव' कहलाये ॥ २८ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः।
कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २९ ॥

'रघुके तेजस्वी पुत्र कल्माषपाद हुए, जो बड़े होनेपर शापवश कुछ वर्षोंके लिये नरभक्षी राक्षस हो गये थे। इस पृथ्वीपर सौदास नामसे विख्यात थे ॥ २९ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्खणस्त्विति नः श्रुतम्।
यस्तु तद्वीर्यमासाद्य सहसैन्यो व्यनीनशत् ॥ ३० ॥

'कल्माषपादके पुत्र शङ्खण हुए, यह हमारे सुननेमें आया है, जो युद्धमें सुप्रसिद्ध पराक्रम प्राप्त करके भी सेनासहित नष्ट हो गये थे ॥ ३० ॥

शङ्खणस्य तु पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान् सुदर्शनः।
सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३१ ॥

शङ्खणके शूरवीर पुत्र श्रीमान् सुदर्शन हुए। सुदर्शनके पुत्र अग्निवर्ण और अग्निवर्णके पुत्र शीघ्रग थे ॥ ३१ ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुवः।
प्रशुश्रुवस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महामतिः ॥ ३२ ॥

'शीघ्रगके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रशुश्रुव तथा प्रशुश्रुवके महाबुद्धिमान पुत्र अम्बरीष हुए ॥ ३२ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषः सत्यविक्रमः।
नहुषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३३ ॥

'अम्बरीषके पुत्र सत्यपराक्रमी नहुष थे। नहुषके पुत्र नाभाग हुए, जो बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३३ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ।
अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३४ ॥

नाभागके दो पुत्र हुए—अज और सुव्रत। अजके धर्मात्मा पुत्र राजा दशरथ थे ॥ ३४ ॥

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो राम इत्यभिविश्रुतः।
तद् गृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जगन्नृप ॥ ३५ ॥

दशरथके ज्येष्ठ पुत्र तुम हो; जिसकी 'श्रीराम' के नामसे प्रसिद्धि है। नरेश्वर ! यह अयोध्याका राज्य तुम्हारा है; इसे ग्रहण करो और इसकी देख-भाल करते रहो ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ॥ ३६ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशियोंके यहाँ ज्येष्ठ पुत्र ही राजा होता आया है। ज्येष्ठके होते हुए छोटा पुत्र राजा नहीं होता है। ज्येष्ठ पुत्रका ही राजाके पदपर अभिषेक होता है ॥ ३६ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः
सनातनं नाद्य विहन्तुमर्हसि।
प्रभूतरत्नामनुशाधि मेदिनीं
प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशः ॥ ३७ ॥

'महायशस्वी श्रीराम ! रघुवंशियोंका जो अपना सनातन कुलधर्म है, उसको आज तुम नष्ट न करो। बहुत-से अवान्तर देशोंवाली तथा प्रचुर रत्नराशिसे सम्पन्न इस वसुधाका पिताकी भाँति पालन करो ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११० ॥

एकादशाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठजीके समझानेपर भी श्रीरामको पिताकी आज्ञाके पालनसे विरत होते न देख भरतका धरना देनेको तैयार होना तथा श्रीरामका उन्हें समझाकर अयोध्या लौटनेकी आज्ञा देना

वसिष्ठः स तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः।
अब्रवीद् धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

उस समय राजपुरोहित वसिष्ठने पूर्वोक्त बातें कहकर पुनः श्रीरामसे दूसरी धर्मयुक्त बातें कहीं—॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरवः सदा।
आचार्यश्चैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

'रघुनन्दन ! ककुत्स्थकुलभूषण ! इस संसारमें उत्पन्न हुए पुरुषके सदा तीन गुरु होते हैं—आचार्य, पिता और माता ॥ २ ॥

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ।
प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात् स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

पुरुषप्रवर ! पिता पुरुषके शरीरको उत्पन्न करता है, इसलिये गुरु है और आचार्य उसे ज्ञान देता है, इसलिये गुरु कहलाता है ॥ ३ ॥

स तेऽहं पितुराचार्यस्तव चैव परंतप।
मम त्वं वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुवीर ! मैं तुम्हारे पिताका और तुम्हारा भी आचार्य हूँ; अतः मेरी आज्ञाका पालन करनेसे तुम सत्पुरुषोंके पथका त्याग करनेवाले नहीं समझे जाओगे ॥ ४ ॥

इमा हि ते परिषदो ज्ञातयश्च नृपास्तथा।
एषु तात चरन् धर्मं नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

'तात ! ये तुम्हारे सभासद्, बन्धु-बान्धव तथा सामन्त राजा पधारे हुए हैं, इनके प्रति धर्मानुकूल बर्ताव करनेसे भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गका उल्लङ्घन नहीं होगा ॥ ५ ॥

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम्।
अस्या हि वचनं कुर्वन् नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

अपनी धर्मपरायणा बूढ़ी माताकी बात तो तुम्हें कभी टालनी ही नहीं चाहिये। इनकी आज्ञाका पालन करके तुम श्रेष्ठ पुरुषोंके आश्रयभूत धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं माने जाओगे ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन् याचमानस्य राघव।
आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

'सत्य, धर्म और पराक्रमसे सम्पन्न रघुनन्दन ! भरत अपने आत्मस्वरूप तुमसे राज्य ग्रहण करने और अयोध्या लौटनेकी प्रार्थना कर रहे हैं, उनकी बात मान लेनेसे भी तुम धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नहीं कहलाओगे' ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तः स गुरुणा राघवः स्वयम्।
प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

गुरु वसिष्ठने सुमधुर वचनोंमें जब इस प्रकार कहा तब साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्रने वहाँ बैठे हुए वसिष्ठजीको यों उत्तर दिया—॥ ८ ॥

यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत् तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥
यथाशक्तिप्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

'माता और पिता पुत्रके प्रति जो सर्वदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करते हैं, अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम खाद्य पदार्थ देने, अच्छे बिछौनेपर सुलाने, उबटन आदि लगाने, सदा मीठी बातें बोलने तथा पालन-पोषण करने आदिके द्वारा माता और पिताने जो उपकार किया है, उसका बदला सहज ही नहीं चुकाया जा सकता ॥ ९-१० ॥

स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम।
आज्ञापयन्मां यत् तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥

'अतः मेरे जन्मदाता पिता महाराज दशरथने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी' ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम्।
उवाच विपुलोरस्कः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके ऐसा कहनेपर चौड़ी छातीवाले भरतजीका मन बहुत उदास हो गया। वे पास ही बैठे हुए सूत सुमन्त्रसे बोले—॥ १२ ॥

इह तु स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे।
आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे सम्प्रसीदति ॥ १३ ॥

निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः ।
शये पुरस्ताच्छालायां यावन्मां प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

'सारथे ! आप इस वेदीपर शीघ्र ही बहुत-से कुश बिछा दीजिये । जबतक आर्य मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं यहीं इनके पास धरना दूँगा । जैसे साहूकार या महाजनके द्वारा निर्धन किया हुआ ब्राह्मण उसके घरके दरवाजेपर मुँह ढककर बिना खाये-पिये पड़ा रहता है, उसी प्रकार मैं भी उपवासपूर्वक मुखपर आवरण डालकर इस कुटियाके सामने लेट जाऊँगा । जबतक मेरी बात मानकर ये अयोध्याको नहीं लौटेंगे, तबतक मैं इसी तरह पड़ा रहूँगा' ॥ १३-१४ ॥

स तु राममवेक्षन्तं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।
कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्थितः स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुनकर सुमन्त्र श्रीरामचन्द्रजीका मुँह ताकने लगे । उन्हें इस अवस्थामें देख भरतके मनमें बड़ा दुःख हुआ और वे स्वयं ही कुशकी चटाई बिछाकर जमीनपर बैठ गये ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसे ॥ १६ ॥

तब महातेजस्वी राजर्षिशिरोमणि श्रीरामने उनसे कहा—'तात भरत ! मैं तुम्हारी क्या बुराई करता हूँ, जो मेरे आगे धरना दोगे ?' ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हति ।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

'ब्राह्मण एक करवटसे सोकर—धरना देकर मनुष्योंको अन्यायसे रोक सकता है, परंतु राजतिलक ग्रहण करनेवाले क्षत्रियोंके लिये इस प्रकार धरना देनेका विधान नहीं है ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद् दारुणं व्रतम् ।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

'अतः नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! इस कठोर व्रतका परित्याग करके उठो और यहाँसे शीघ्र ही अयोध्यापुरीको जाओ' ॥ १८ ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।
उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

यह सुनकर भरत वहाँ बैठे-बैठे ही सब ओर दृष्टि डालकर नगर और जनपदके लोगोंसे बोले—'आपलोग भैयाको क्यों नहीं समझाते हैं ?' ॥ १९ ॥

ते तदोचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।
काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग् वदति राघवः ॥ २० ॥

तब नगर और जनपदके लोग महात्मा भरतसे बोले—'हम जानते हैं, काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्रजीके प्रति आप रघुकुल-तिलक भरतजी ठीक ही कहते हैं ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति ।
अत एव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा ॥ २१ ॥

'परंतु ये महाभाग श्रीरामचन्द्रजी भी पिताकी आज्ञाके पालनमें लगे हैं, इसलिये यह भी ठीक ही है । अतएव हम इन्हें सहसा उस ओरसे लौटानेमें असमर्थ हैं' ॥ २१ ॥

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।
एवं निबोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥

उन पुरवासियोंके वचनका तात्पर्य समझकर श्रीरामने भरतसे कहा—'भरत ! धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सुहृदोंके इस कथनको सुनो और समझो ॥ २२ ॥

एतच्चैवोभयं श्रुत्वा सम्यक् सम्पश्य राघव ।
उत्तिष्ठ त्वं महाबाहो मां च स्पृश तथोदकम् ॥ २३ ॥

'रघुनन्दन ! मेरी और इनकी दोनों बातोंको सुनकर उनपर सम्यक् रूपसे विचार करो । महाबाहो ! अब शीघ्र उठो तथा मेरा और जलका स्पर्श करो' ॥ २३ ॥

अथोत्थाय जलं स्पृष्ट्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।
शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः शृणुयुस्तथा ॥ २४ ॥
न याचे पितरं राज्यं नानुशासामि मातरम् ।
एवं परमधर्मज्ञं नानुजानामि राघवम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर भरत उठकर खड़े हो गये और श्रीराम एवं जलका स्पर्श करके बोले—'मेरे सभासद् और मन्त्री सब लोग सुनें—न तो मैंने पिताजीसे राज्य माँगा था और न मातासे ही कभी इसके लिये कुछ कहा था । साथ ही, परम धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीके वनवासमें भी मेरी कोई सम्मति नहीं है ॥ २४-२५ ॥

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।
अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश वने समाः ॥ २६ ॥

'फिर भी यदि इनके लिये पिताजीकी आज्ञाका पालन करना और वनमें रहना अनिवार्य है तो इनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा' ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य सत्येन भ्रातुर्वाक्येन विस्मितः ।
उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

भाई भरतकी इस सत्य बातसे धर्मात्मा श्रीरामको बड़ा विस्मय हुआ और उन्होंने पुरवासी तथा राज्यनिवासी लोगोंकी ओर देखकर कहा—॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत् पित्रा जीवता मम ।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

'पिताजीने अपने जीवनकालमें जो वस्तु बेंच दी है, या धरोहर रख दी है अथवा खरीदी है, उसे मैं अथवा भरत कोई भी पलट नहीं सकता ॥ २८ ॥

प्रतिनिधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

'मुझे वनवासके लिये किसीको प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिये; क्योंकि सामर्थ्य रहते हुए प्रतिनिधिसे काम लेना लोकमें निन्दित है। कैकेयीने उचित माँग ही प्रस्तुत की थी और मेरे पिताजीने उसे देकर पुण्य कर्म ही किया था ॥ २९ ॥

जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम्।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसंधे महात्मनि ॥ ३० ॥

'मैं जानता हूँ, भरत बड़े क्षमाशील और गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले हैं, इन सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण मौजूद हैं ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥ ३१ ॥

चौदह वर्षोंकी अवधि पूरी करके जब मैं वनसे लौटूँगा, तब अपने इन धर्मशील भाईके साथ इस भूमण्डलका श्रेष्ठ राजा होऊँगा ॥ ३१ ॥

वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम्।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

'कैकेयीने राजासे वर माँगा और मैंने उसका पालन स्वीकार कर लिया, अतः भरत! अब तुम मेरा कहना मानकर उस वरके पालनद्वारा अपने पिता महाराज दशरथको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो' ॥ ३२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशाधिकशततमः सर्गः ॥ १११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १११ ॥

द्वादशाधिकशततमः सर्गः

ऋषियोंका भरतको श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार लौट जानेकी सलाह देना, भरतका पुनः श्रीरामके चरणोंमें गिरकर चलनेकी प्रार्थना करना, श्रीरामका उन्हें समझाकर अपनी चरणपादुका देकर उन सबको विदा करना

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम्।
विस्मिताः संगमं प्रेक्ष्य समुपेता महर्षयः ॥ १ ॥

उन अनुपम तेजस्वी भ्राताओंका वह रोमाञ्चकारी समागम देख वहाँ आये हुए महर्षियोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥ १ ॥

अन्तर्हिता मुनिगणाः स्थिताश्च परमर्षयः।
तौ भ्रातरौ महाभागौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥

अन्तरिक्षमें अदृश्य भावसे खड़े हुए मुनि तथा वहाँ प्रत्यक्षरूपमें बैठे हुए महर्षि उन महान् भाग्यशाली ककुत्स्थवंशी बन्धुओंकी इस प्रकार प्रशंसा करने लगे—॥

सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।
श्रुत्वा वयं हि सम्भाषामुभयोः स्पृहयामहे ॥ ३ ॥

'ये दोनों राजकुमार सदा श्रेष्ठ, धर्मके ज्ञाता और धर्ममार्गपर ही चलनेवाले हैं। इन दोनोंकी बातचीत सुनकर हमें उसे बारंबार सुनते रहनेकी ही इच्छा होती है' ॥ ३ ॥

ततस्त्वृषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः।
भरतं राजशार्दूलमित्यूचुः संगता वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर दशग्रीव रावणके वधकी अभिलाषा रखनेवाले ऋषियोंने मिलकर राजसिंह भरतसे तुरंत ही यह बात कही—॥ ४ ॥

कुले जात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः।
ग्राह्यं रामस्य वाक्यं ते पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

'महाप्राज्ञ! तुम उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए हो। तुम्हारा आचरण बहुत उत्तम और यश महान् है। यदि तुम अपने पिताकी ओर देखो—उन्हें सुख पहुँचाना चाहो तो तुम्हें श्रीरामचन्द्रजीकी बात मान लेनी चाहिये ॥ ५ ॥

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः।
अनृणत्वाच्च कैकेय्याः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

'हमलोग इन श्रीरामको पिताके ऋणसे सदा उऋण देखना चाहते हैं। कैकेयीका ऋण चुका देनेके कारण ही राजा दशरथ स्वर्गमें पहुँचे हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समहर्षयः।
राजर्षयश्चैव तथा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

इतना कहकर वहाँ आये हुए गन्धर्व, महर्षि और राजर्षि सब अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ ७ ॥

ह्लादितस्तेन वाक्येन शुशुभे शुभदर्शनः।
रामः संहृष्टवदनस्तानृषीनभ्यपूजयत्॥ ८॥

जिनके दर्शनसे जगत्का कल्याण हो जाता है, वे भगवान् श्रीराम महर्षियोंके वचनसे बहुत प्रसन्न हुए। उनका मुख हर्षोल्लाससे खिल उठा, इससे उनकी बड़ी शोभा हुई और उन्होंने उन महर्षियोंकी सादर प्रशंसा की॥ ८॥

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया।
कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत्॥ ९॥

परंतु भरतका सारा शरीर थर्रा उठा। वे लड़खड़ाती हुई जबानसे हाथ जोड़कर श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—॥ ९॥

राम धर्ममिमं प्रेक्ष्य कुलधर्मानुसंततम्।
कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ मम मातुश्च याचनाम्॥ १०॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीराम! हमारे कुलधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला जो ज्येष्ठ पुत्रका राज्यग्रहण और प्रजापालनरूप धर्म है, उसकी ओर दृष्टि डालकर आप मेरी तथा माताकी याचना सफल कीजिये॥ १०॥

रक्षितुं सुमहद् राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे।
पौरजानपदांश्चापि रक्तान् रञ्जयितुं तदा॥ ११॥

'मैं अकेला ही इस विशाल राज्यकी रक्षा नहीं कर सकता तथा आपके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले इन पुरवासी तथा जनपदवासी लोगोंको भी आपके बिना प्रसन्न नहीं रख सकता॥ ११॥

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः॥ १२॥

'जैसे किसान मेघकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, उसी प्रकार हमारे बन्धु-बान्धव, योद्धा, मित्र और सुहृद् सब लोग आपकी ही बाट जोहते हैं॥ १२॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय प्रतिपद्य हि।
शक्तिमान् स हि काकुत्स्थ लोकस्य परिपालने॥ १३॥

'महाप्राज्ञ! आप इस राज्यको स्वीकार करके दूसरे किसीको इसके पालनका भार सौंप दीजिये। वही पुरुष आपके प्रजावर्ग अथवा लोकका पालन करनेमें समर्थ हो सकता है'॥

एवमुक्त्वापतद् भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा।
भृशं सम्प्रार्थयामास राघवेऽतिप्रियं वदन्॥ १४॥

ऐसा कहकर भरत अपने भाईके चरणोंपर गिर पड़े। उस समय उन्होंने श्रीरघुनाथजीसे अत्यन्त प्रिय वचन बोलकर उनसे राज्यग्रहण करनेके लिये बड़ी प्रार्थना की॥ १४॥

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत्।
श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरः स्वयम्॥ १५॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने श्यामवर्ण कमलनयन भाई भरतको उठाकर गोदमें बिठा लिया और मदमत्त हंसके समान मधुर स्वरमें स्वयं यह बात कही—॥ १५॥

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि॥ १६॥

'तात! तुम्हें जो यह स्वाभाविक विनयशील बुद्धि प्राप्त हुई है इस बुद्धिके द्वारा तुम समस्त भूमण्डलकी रक्षा करनेमें भी पूर्णरूपसे समर्थ हो सकते हो॥ १६॥

अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय॥ १७॥

'इसके सिवा अमात्यों, सुहृदों और बुद्धिमान् मन्त्रियोंसे सलाह लेकर उनके द्वारा सब कार्य, वे कितने ही बड़े क्यों न हों, करा लिया करो॥ १७॥

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद् वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः॥ १८॥

'चन्द्रमासे उसकी प्रभा अलग हो जाय, हिमालय हिमका परित्याग कर दे, अथवा समुद्र अपनी सीमाको लाँघकर आगे बढ़ जाय, किंतु मैं पिताकी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता॥ १८॥

कामाद् वा तात लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्॥ १९॥

'तात! माता कैकेयीने कामनासे अथवा लोभवश तुम्हारे लिये जो कुछ किया है, उसको मनमें न लाना और उसके प्रति सदा वैसा ही बर्ताव करना जैसा अपनी पूजनीया माताके प्रति करना उचित है'॥ १९॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत्।
तेजसाऽऽदित्यसंकाशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम्॥ २०॥

जो सूर्यके समान तेजस्वी हैं तथा जिनका दर्शन प्रतिपदा (द्वितीया) के चन्द्रमाकी भाँति आह्लादजनक है, उन कौसल्यानन्दन श्रीरामके इस प्रकार कहनेपर भरत उनसे यों बोले—॥ २०॥

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते।
एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः॥ २१॥

'आर्य! ये दो सुवर्णभूषित पादुकाएँ आपके चरणोंमें अर्पित हैं, आप इनपर अपने चरण रखें। ये ही सम्पूर्ण जगत्‌के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी'॥ २१॥

सोऽधिरुह्य नरव्याघ्रः पादुके व्यवमुच्य च।
प्रायच्छत् सुमहातेजा भरताय महात्मने॥ २२॥

तब महातेजस्वी पुरुषसिंह श्रीरामने उन पादुकाओंपर चढ़कर उन्हें फिर अलग कर दिया और महात्मा भरतको सौंप दिया॥ २२॥

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥
फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।
तवागमनमाकाङ्क्षन् वसन् वै नगराद् बहिः ॥ २४ ॥
तव पादुकयोर्न्यस्य राज्यतन्त्रं परंतप ।

उन पादुकाओंको प्रणाम करके भरतने श्रीरामसे कहा—'वीर रघुनन्दन ! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका भोजन करता हुआ आपके आगमनकी प्रतीक्षामें नगरसे बाहर ही रहूँगा । परंतप ! इतने दिनोंतक राज्यका सारा भार आपकी इन चरणपादुकाओंपर ही रखकर मैं आपकी बाट जोहता रहूँगा ॥ २३-२४½ ॥

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥
न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

'रघुकुलशिरोमणे ! यदि चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर नूतन वर्षके प्रथम दिन ही मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा' ॥ २५½ ॥

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥
शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत् ।

श्रीरामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कहकर स्वीकृति दे दी और बड़े आदरके साथ भरतको हृदयसे लगाया । तत्पश्चात् शत्रुघ्नको भी छातीसे लगाकर यह बात कही—॥ २६½ ॥

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन ।
इत्युक्त्वाश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विससर्ज ह ॥ २८ ॥

'रघुनन्दन ! मैं तुम्हें अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना—इतना कहते-कहते उनकी आँखोंमें आँसू उमड़ आये । उन्होंने व्यथित हृदयसे भाई शत्रुघ्नको विदा किया ॥ २७-२८ ॥

स पादुके ते भरतः स्वलंकृते
महोज्ज्वले सम्परिगृह्य धर्मवित् ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं
चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

धर्मज्ञ भरतने भलीभाँति अलंकृत की हुई उन परम उज्ज्वल चरणपादुकाओंको लेकर श्रीरामचन्द्रजीकी परिक्रमा की तथा उन पादुकाओंको राजाकी सवारीमें आनेवाले सर्वश्रेष्ठ गजराजके मस्तकपर स्थापित किया ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्या प्रतिपूज्य तं जनं
गुरूंश्च मन्त्रीन् प्रकृतीस्तथानुजौ ।
व्यसर्जयद् राघववंशवर्धनः
स्थितः स्वधर्मे हिमवानिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर अपने धर्ममें हिमालयकी भाँति अविचल भावसे स्थित रहनेवाले रघुवंशवर्धन श्रीरामने क्रमशः वहाँ आये हुए जनसमुदाय, गुरु, मन्त्री, प्रजा तथा दोनों भाइयोंका यथायोग्य सत्कार करके उन्हें विदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो बाष्पगृहीतकण्ठ्यो
दुःखेन नामन्त्रयितुं हि शेकुः ।
स चैव मातॄरभिवाद्य सर्वा
रुदन् कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

उस समय कौसल्या आदि सभी माताओंका गला आँसुओंसे रुँध गया था । वे दुःखके कारण श्रीरामको सम्बोधित भी न कर सकीं । श्रीराम भी सब माताओंको प्रणाम करके रोते हुए अपनी कुटियामें चले गये ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११२ ॥

त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका भरद्वाजसे मिलते हुए अयोध्याको लौट आना

ततः शिरसि कृत्वा तु पादुके भरतस्तदा ।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नसहितस्तदा ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी दोनों चरणपादुकाओंको अपने मस्तकपर रखकर भरत शत्रुघ्नके साथ प्रसन्नतापूर्वक रथपर बैठे ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिश्च दृढव्रतः ।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वसिष्ठ, वामदेव तथा दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाले जाबालि आदि सब मन्त्री, जो उत्तम मन्त्रणा देनेके कारण सम्मानित थे, आगे-आगे चले ॥ २ ॥

मन्दाकिनीं नदीं रम्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा ।
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

वे सब लोग चित्रकूट नामक महान् पर्वतकी परिक्रमा करते हुए परम रमणीय मन्दाकिनी नदीको पार करके पूर्व-दिशाकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ३ ॥

पश्यन् धातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।

प्रययौ तस्य पार्श्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

उस समय भरत अपनी सेनाके साथ सहस्रों प्रकारके रमणीय धातुओंको देखते हुए चित्रकूटके किनारेसे होकर निकले ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा।
आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

चित्रकूटसे थोड़ी ही दूर जानेपर भरतने वह आश्रम देखा, जहाँ मुनिवर भरद्वाजजी निवास करते थे * ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य वीर्यवान्।
अवतीर्य रथात् पादौ ववन्दे कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

अपने कुलको आनन्दित करनेवाले पराक्रमी भरत महर्षि भरद्वाजके उस आश्रमपर पहुँचकर रथसे उतर पड़े और उन्होंने मुनिके चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत्।
अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

उनके आनेसे महर्षि भरद्वाजको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने भरतसे पूछा—'तात ! क्या तुम्हारा कार्य सम्पन्न हुआ ? क्या श्रीरामचन्द्रजीसे भेंट हुई ?' ॥ ७ ॥

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता।
प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो धर्मवत्सलः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाजजीके इस प्रकार पूछनेपर धर्मवत्सल भरतने उन्हें इस प्रकार उत्तर दिया— ॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणा मया च दृढविक्रमः।
राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

'मुने ! भगवान् श्रीराम अपने पराक्रमपर दृढ़ रहनेवाले हैं। मैंने उनसे बहुत प्रार्थना की। गुरुजीने भी अनुरोध किया। तब उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर गुरुदेव वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा— ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः।
चतुर्दश हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

'मैं चौदह वर्षोंतक वनमें रहूँ, इसके लिये मेरे पिताजीने जो प्रतिज्ञा कर ली थी, उनकी उस प्रतिज्ञाका ही मैं यथार्थ-रूपसे पालन करूँगा' ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह।
वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

'उनके ऐसा कहनेपर बातके मर्मको समझनेवाले महाज्ञानी वसिष्ठजीने बातचीत करनेमें कुशल श्रीरघुनाथजीसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही— ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते।
अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरो भव ॥ १२ ॥

'महाप्राज्ञ ! तुम प्रसन्नतापूर्वक ये स्वर्णभूषित पादुकाएँ अपने प्रतिनिधिके रूपमें भरतको दे दो और इन्हींके द्वारा अयोध्याके योगक्षेमका निर्वाह करो' ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राङ्मुखः स्थितः।
पादुके हेमविकृते मम राज्याय ते ददौ ॥ १३ ॥

'गुरु वसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर पूर्वाभिमुख खड़े हुए श्रीरघुनाथजीने अयोध्याके राज्यका संचालन करनेके लिये ये दोनों स्वर्णभूषित पादुकाएँ मुझे दे दीं ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना।
अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

'तत्पश्चात् मैं महात्मा श्रीरामकी आज्ञा पाकर लौट आया हूँ और उनकी इन मङ्गलमयी चरणपादुकाओंको लेकर अयोध्याको ही जा रहा हूँ' ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः।
भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुदाहरत् ॥ १५ ॥

महात्मा भरतका यह शुभ वचन सुनकर भरद्वाज मुनिने यह परम मङ्गलमय बात कही— ॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ्रे शीलवृत्तविदां वरे।
यदार्यं त्वयि तिष्ठेत्तु निम्नोत्सृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

'भरत ! तुम मनुष्योंमें सिंहके समान वीर तथा शील और सदाचारके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ हो। जैसे जल नीची भूमिवाले जलाशयमें सब ओरसे बहकर चला आता है, उसी प्रकार तुममें सारे श्रेष्ठ गुण स्थित हों—यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ १६ ॥

अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव।
यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

'तुम्हारे पिता महाबाहु राजा दशरथ सब प्रकारसे उऋण हो गये जिनके तुम-जैसा धर्मप्रेमी एवं धर्मात्मा पुत्र है' ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महाप्राज्ञमुक्तवाक्यं कृताञ्जलिः।
आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥ १८ ॥

---

* यह आश्रम यमुनासे दक्षिण दिशामें चित्रकूटके कुछ निकट था। गङ्गा और यमुनाके बीच प्रयागवाला आश्रम, जहाँ वनमें जाते समय श्रीरामचन्द्रजी तथा भरत आदिने विश्राम किया था, इससे भिन्न जान पड़ता है। तभी इस आश्रमपर भरद्वाजसे मिलनेके बाद भरत आदिके यमुना पार करनेका उल्लेख मिलता है—'ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम्।' इस द्वितीय आश्रमसे श्रीराम और भरतके समागमका समाचार शीघ्र प्राप्त हो सकता था; इसीलिये भरद्वाजजी भरतके लौटनेके समय यहाँ मौजूद थे।

उन महाज्ञानी महर्षिके ऐसा कहनेपर भरतने हाथ जोड़कर उनके चरणोंका स्पर्श किया; फिर वे उनसे जानेकी आज्ञा लेनेको उद्यत हुए ॥ १८ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः।
भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् भरत बारंबार भरद्वाज मुनिकी परिक्रमा करके मन्त्रियोंसहित अयोध्याकी ओर चल दिये ॥ १९ ॥

यानैश्च शकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः।
पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

फिर वह विस्तृत सेना रथों, छकड़ों, घोड़ों और हाथियोंके साथ भरतका अनुसरण करती हुई अयोध्याको लौटी ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम्।
ददृशुस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शिवजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् आगे जाकर उन सब लोगोंने तरंग-मालाओंसे सुशोभित दिव्य नदी यमुनाको पार करके पुनः शुभसलिला गङ्गाजीका दर्शन किया ॥ २१ ॥

तां रम्यजलसम्पूर्णां संतीर्य सहबान्धवः।
शृङ्गवेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥ २२ ॥

फिर बन्धु-बान्धवों और सैनिकोंके साथ मनोहर जलसे भरी हुई गङ्गाको भी पार होकर वे परम रमणीय शृङ्गवेरपुरमें जा पहुँचे ॥ २२ ॥

शृङ्गवेरपुराद् भूय अयोध्यां संददर्श ह।
अयोध्यां तु तदा दृष्ट्वा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥ २३ ॥
भरतो दुःखसंतप्तः सारथिं चेदमब्रवीत्।

शृङ्गवेरपुरसे प्रस्थान करनेपर उन्हें पुनः अयोध्यापुरीका दर्शन हुआ, जो उस समय पिता और भाई दोनोंसे विहीन थी। उसे देखकर भरतने दुःखसे संतप्त हो सारथिसे इस प्रकार कहा—॥ २३½ ॥

सारथे पश्य विध्वस्ता अयोध्या न प्रकाशते ॥ २४ ॥
निराकारा निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वना ॥ २५ ॥

'सारथि सुमन्त्रजी! देखिये, अयोध्याकी सारी शोभा नष्ट हो गयी है; अतः यह पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं होती है। इसका वह सुन्दर रूप, वह आनन्द जाता रहा। इस समय यह अत्यन्त दीन और नीरव हो रही है' ॥ २४-२५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११३ ॥

चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः

भरतके द्वारा अयोध्याकी दुरवस्थाका दर्शन तथा अन्तःपुरमें प्रवेश करके भरतका दुखी होना

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान् प्रभुः।
अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥

इसके बाद प्रभावशाली महायशस्वी भरतने स्निग्ध, गम्भीर घरघर घोषसे युक्त रथके द्वारा यात्रा करके शीघ्र ही अयोध्यामें प्रवेश किया ॥ १ ॥

बिडालोलूकचरितामालीननरवारणाम्।
तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥

उस समय वहाँ बिलाव और उल्लू विचर रहे थे। घरोंके किवाड़ बंद थे। सारे नगरमें अन्धकार छा रहा था। प्रकाश न होनेके कारण वह पुरी कृष्ण-पक्षकी काली रातके समान जान पड़ती थी ॥ २ ॥

राहुशत्रोः प्रियां पत्नीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम्।
ग्रहेणाभ्युदितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥

जैसे चन्द्रमाकी प्रिय पत्नी और अपनी शोभासे प्रकाशित कान्तिवाली रोहिणी उदित हुए राहु नामक ग्रहके द्वारा अपने पतिके ग्रस लिये जानेपर अकेली असहाय हो जाती है, उसी प्रकार दिव्य ऐश्वर्यसे प्रकाशित होनेवाली अयोध्या राजाके कालकवलित हो जानेके कारण पीड़ित एवं असहाय हो रही थी ॥ ३ ॥

अल्पोष्णक्षुब्धसलिलां घर्मतप्तविहंगमाम्।
लीनमीनझषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥

वह पुरी उस पर्वतीय नदीकी भाँति कृशकाय दिखायी देती थी, जिसका जल सूर्यकी किरणोंसे तपकर कुछ गरम और गँदला हो रहा हो, जिसके पक्षी धूपसे संतप्त होकर भाग गये हों तथा जिसके मीन, मत्स्य और ग्राह गहरे जलमें छिप गये हों ॥ ४ ॥

विधूमामिव हेमाभां शिखामग्नेः समुत्थिताम्।
हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां विप्रलयं गताम् ॥ ५ ॥

जो अयोध्या पहले धूमरहित सुनहरी कान्तिवाली प्रज्वलित अग्निशिखाके समान प्रकाशित होती थी, वही श्रीरामवनवासके बाद हवनीय दुग्धसे सींची गयी अग्निकी ज्वालाके समान बुझकर विलीन-सी हो गयी है ॥ ५ ॥

विध्वस्तकवचां रुग्णगजवाजिरथध्वजाम्।
हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥

उस समय अयोध्या महासमरमें संकटग्रस्त हुई उस सेनाके समान प्रतीत होती थी, जिसके कवच कटकर गिर गये हों, हाथी, घोड़े, रथ और ध्वजा छिन्न-भिन्न हो गये हों और मुख्य-मुख्य वीर मार डाले गये हों ॥ ६ ॥

सफेनां सस्वनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम्।
प्रशान्तमारुतोद्धूतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥

प्रबल वायुके वेगसे फेन और गर्जनाके साथ उठी हुई समुद्रकी उत्ताल तरंग सहसा वायुके शान्त हो जानेपर जैसे शिथिल और नीरव हो जाती है, उसी प्रकार कोलाहलपूर्ण अयोध्या अब शब्दशून्य-सी जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः।
सुत्याकाले सुनिर्वृत्ते वेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥

यज्ञकाल समाप्त होनेपर 'स्फय' आदि यज्ञसम्बन्धी आयुधों तथा श्रेष्ठ याजकोंसे सूनी हुई वेदी जैसे मन्त्रोच्चारणकी ध्वनिसे रहित हो जाती है, उसी प्रकार अयोध्या सुनसान दिखायी देती थी ॥ ८ ॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तामचरन्तीं नवं तृणम्।
गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥

जैसे कोई गाय साँड़के साथ समागमके लिये उत्सुक हो, उसी अवस्थामें उसे साँड़से अलग कर दिया गया हो और वह नूतन घास चरना छोड़कर आर्त भावसे गोष्ठमें बँधी हुई खड़ी हो, उसी तरह अयोध्यापुरी भी आन्तरिक वेदनासे पीड़ित थी ॥ ९ ॥

प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्भिरिवोत्तमैः।
वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥

श्रीराम आदिसे रहित हुई अयोध्या मोतियोंकी उस नूतन मालाके समान श्रीहीन हो गयी थी, जिसकी अत्यन्त चिकनी-चमकीली, उत्तम तथा अच्छी जातिकी पद्मराग आदि मणियाँ उससे निकालकर अलग कर दी गयी हों ॥ १० ॥

सहसाचरितां स्थानान्महीं पुण्यक्षयाद् गताम्।
संहृतद्युतिविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥ ११ ॥

जो पुण्य-क्षय होनेके कारण सहसा अपने स्थानसे भ्रष्ट हो पृथ्वीपर आ पहुँची हो, अतएव जिसकी विस्तृत प्रभा क्षीण हो गयी हो, आकाशसे गिरी हुई उस तारिकाकी भाँति अयोध्या शोभाहीन हो गयी थी ॥ ११ ॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तभ्रमरशालिनीम्।
द्रुतदावाग्निविप्लुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥ १२ ॥

जो ग्रीष्म ऋतुमें पहले फूलोंसे लदी हुई होनेके कारण मतवाले भ्रमरोंसे सुशोभित होती रही हो और फिर सहसा दावानलके लपेटमें आकर मुरझा गयी हो, वनकी उस लताके समान पहलेकी उल्लासपूर्ण अयोध्या अब उदास हो गयी थी ॥

सम्मूढनिगमां सर्वां संक्षिप्तविपणापणाम्।
प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्युताम् ॥ १३ ॥

वहाँके व्यापारी वणिक् शोकसे व्याकुल होनेके कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे, बाजार-हाट और दूकानें बहुत कम खुली थीं। उस समय सारी पुरी उस आकाशकी भाँति शोभाहीन हो गयी थी, जहाँ बादलोंकी घटाएँ घिर आयी हों और तारे तथा चन्द्रमा ढक गये हों ॥ १३ ॥

क्षीणपानोत्तमैर्भग्नैः शरावैरभिसंवृताम्।
हतशौण्डामिव ध्वस्तां पानभूमिमसंस्कृताम् ॥ १४ ॥

(उन दिनों अयोध्यापुरीकी सड़कें झाड़ी-बुहारी नहीं गयी थीं, इसलिये यत्र-तत्र कूड़े-करकटके ढेर पड़े थे। उस अवस्थामें) वह नगरी उस उजड़ी हुई पानभूमि (मधुशाला) के समान श्रीहीन दिखायी देती थी, जिसकी सफाई न की गयी हो, जहाँ मधुसे खाली टूटी-फूटी प्यालियाँ पड़ी हों और जहाँके पीनेवाले भी नष्ट हो गये हों ॥ १४ ॥

वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृताम्।
उपयुक्तोदकां भग्नां प्रपां निपतितामिव ॥ १५ ॥

उस पुरीकी दशा उस पौसलेकी-सी हो रही थी, जो खम्भोंके टूट जानेसे ढह गया हो, जिसका चबूतरा छिन्न भिन्न हो गया हो, भूमि नीची हो गयी हो, पानी चुक गया हो और जलपात्र टूट-फूटकर इधर-उधर सब ओर बिखरे पड़े हों ॥

विपुलां विततां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम्।
भूमौ बाणैर्विनिष्कृत्तां पतितां ज्यामिवायुधात् ॥ १६ ॥

जो विशाल और सम्पूर्ण धनुषमें फैली हुई हो, उसकी दोनों कोटियों (किनारों) में बाँधनेके लिये जिसमें रस्सी जुड़ी हुई हो, किंतु वेगशाली वीरोंके बाणोंसे कटकर धनुषसे पृथ्वीपर गिर पड़ी हो, उस प्रत्यञ्चाके समान ही अयोध्यापुरी भी स्थानभ्रष्ट हुई-सी दिखायी देती थी ॥ १६ ॥

सहसा युद्धशौण्डेन हयारोहेण वाहिताम्।
निहतां प्रतिसैन्येन वडवामिव पातिताम् ॥ १७ ॥

जिसपर युद्धकुशल घुड़सवारने सवारी की हो और जिसे शत्रुपक्षकी सेनाने सहसा मार गिराया हो, युद्धभूमिमें पड़ी हुई उस घोड़ीकी जो दशा होती है, वही उस समय अयोध्यापुरीकी भी थी (कैकेयीके कुचक्रसे उसके संचालक नरेशका स्वर्गवास और युवराजका वनवास हो गया था) ॥ १७ ॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्श्रीमान् दशरथात्मजः।
वाहयन्तं रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

रथपर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरतने उस समय श्रेष्ठ रथका संचालन करनेवाले सारथि सुमन्त्रसे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्च्छितो न निशाम्यते ।
यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

'अब अयोध्यामें पहलेकी भाँति सब ओर फैला हुआ गाने-बजानेका गम्भीर नाद नहीं सुनायी पड़ता; यह कितने कष्टकी बात है ! ॥ १९ ॥

वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्च्छितः ।
चन्दनागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥

'अब चारों ओर वारुणी (मधु) की मादक गन्ध, व्याप्त हुई फूलोंकी सुगन्ध तथा चन्दन और अगुरुकी पवित्र गन्ध नहीं फैल रही है ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च सुस्निग्धहयनिःस्वनः ।
प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिःस्वनः ॥ २१ ॥

'अच्छी-अच्छी सवारियोंकी आवाज, घोड़ोंके हींसनेका सुस्निग्ध शब्द, मतवाले हाथियोंका चिग्घाड़ना तथा रथोंकी घर्घराहटका महान् शब्द—ये सब नहीं सुनायी दे रहे हैं ॥

नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां रामे विवासिते ।
चन्दनागुरुगन्धांश्च महार्हाश्च वनस्रजः ॥ २२ ॥
गते रामे हि तरुणाः संतप्ता नोपभुञ्जते ।
बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके निर्वासित होनेके कारण ही इस पुरीमें इस समय इन सब प्रकारके शब्दोंका श्रवण नहीं हो रहा है । श्रीरामके चले जानेसे यहाँके तरुण बहुत ही संतप्त हैं । वे चन्दन और अगुरुकी सुगन्धका सेवन नहीं करते तथा बहुमूल्य वनमालाएँ भी नहीं धारण करते । अब इस पुरीके लोग विचित्र फूलोंके हार पहनकर बाहर घूमनेके लिये नहीं निकलते हैं ॥ २२-२३ ॥

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकार्दिते पुरे ।
सा हि नूनं मम भ्रात्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥

'श्रीरामके शोकसे पीड़ित हुए इस नगरमें अब नाना प्रकारके उत्सव नहीं हो रहे हैं । निश्चय ही इस पुरीकी वह सारी शोभा मेरे भाईके साथ ही चली गयी ॥ २४ ॥

नहि राजत्ययोध्येयं सासारेवार्जुनी क्षपा ।
कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ॥ २५ ॥
जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः ।

'जैसे वेगयुक्त वर्षाके कारण शुक्लपक्षकी चाँदनी रात भी शोभा नहीं पाती है, उसी प्रकार नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई यह अयोध्या भी शोभित नहीं हो रही है । अब कब मेरे भाई महोत्सवकी भाँति अयोध्यामें पधारेंगे और ग्रीष्म-ऋतुमें प्रकट हुए मेघकी भाँति सबके हृदयमें हर्षका संचार करेंगे ॥ २५½ ॥

तरुणैश्चारुवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः ॥ २६ ॥
सम्पतद्भिरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः ।

'अब अयोध्याकी बड़ी-बड़ी सड़कें हर्षसे उछलकर चलते हुए मनोहर वेषधारी तरुणोंके शुभागमनसे शोभा नहीं पा रही हैं' ॥ २६½ ॥

इति ब्रुवन् सारथिना दुःखितो भरतस्तदा ॥ २७ ॥
अयोध्यां सम्प्रविश्यैव विवेश वसतिं पितुः ।
तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २८ ॥

इस प्रकार सारथिके साथ बातचीत करते हुए दुखी भरत उस समय सिंहसे रहित गुफाकी भाँति राजा दशरथसे हीन पिताके निवासस्थान राजमहलमें गये ॥ २७-२८ ॥

तदा तदन्तःपुरमुज्झितप्रभं
सुरैरिवोत्कृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वत्र विभक्तमात्मवान्
मुमोच बाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २९ ॥

जैसे सूर्यके छिप जानेसे दिनकी शोभा नष्ट हो जाती है और देवता शोक करने लगते हैं, उसी प्रकार उस समय वह अन्तःपुर शोभाहीन हो गया था और वहाँके लोग शोकमग्न थे । उसे सब ओरसे स्वच्छता और सजावटसे हीन देख भरत धैर्यवान् होनेपर भी अत्यन्त दुखी हो आँसू बहाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११४ ॥

पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः

भरतका नन्दिग्राममें जाकर श्रीरामकी चरणपादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन्हें निवेदनपूर्वक राज्यका सब कार्य करना

ततो निक्षिप्य मातस्ता अयोध्यायां दृढव्रतः।
भरतः शोकसंतप्तो गुरूनिदमथाब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर सब माताओंको अयोध्यामें रखकर दृढ़-प्रतिज्ञ भरतने शोकसे संतप्त हो गुरुजनोंसे इस प्रकार कहा—॥ १॥

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽत्र वः।
तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना॥ २॥

'अब मैं नन्दिग्रामको जाऊँगा, इसके लिये आप सब लोगोंकी आज्ञा चाहता हूँ। वहाँ श्रीरामके बिना प्राप्त होनेवाले इस सारे दुःखको सहन करूँगा॥ २॥

गतश्चाहो दिवं राजा वनस्थः स गुरुर्मम।
रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः॥ ३॥

'अहो! महाराज (पूज्य पिताजी) तो स्वर्गको सिधारे और वे मेरे गुरु (पूजनीय भ्राता) श्रीरामचन्द्रजी वनमें विराज रहे हैं। मैं इस राज्यके लिये वहाँ श्रीरामकी प्रतीक्षा करता रहूँगा; क्योंकि वे महायशस्वी श्रीराम ही हमारे राजा हैं'॥ ३॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः।
अब्रुवन् मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः॥ ४॥

महात्मा भरतका यह शुभ वचन सुनकर सब मन्त्री और पुरोहित वसिष्ठजी बोले—॥ ४॥

सुभृशं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया।
वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत्॥ ५॥

'भरत! भ्रातृभक्तिसे प्रेरित होकर तुमने जो बात कही है, वह बहुत ही प्रशंसनीय है। वास्तवमें वह तुम्हारे ही योग्य है॥ ५॥

नित्यं ते बन्धुलुब्धस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे।
मार्गमार्यं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान्॥ ६॥

'तुम अपने भाईके दर्शनके लिये सदा लालायित रहते हो और भाईके ही सौहार्द (हितसाधन) में संलग्न हो। साथ ही श्रेष्ठ मार्गपर स्थित हो, अतः कौन पुरुष तुम्हारे विचारका अनुमोदन नहीं करेगा'॥ ६॥

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाभिलषितं प्रियम्।
अब्रवीत् सारथिं वाक्यं रथो मे युज्यतामिति॥ ७॥

मन्त्रियोंका अपनी रुचिके अनुरूप प्रिय वचन सुनकर भरतने सारथिसे कहा—'मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाय'॥ ७॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातः समभिभाष्य च।
आरुरोह रथं श्रीमाञ्शत्रुघ्नेन समन्वितः॥ ८॥

फिर उन्होंने प्रसन्नवदन होकर सब माताओंसे बातचीत करके जानेकी आज्ञा ली। इसके बाद शत्रुघ्नके सहित श्रीमान् भरत रथपर सवार हुए॥ ८॥

आरुह्य तु रथं क्षिप्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ।
ययतुः परमप्रीतौ वृतौ मन्त्रिपुरोहितैः॥ ९॥

रथपर आरूढ़ होकर परम प्रसन्न हुए भरत और शत्रुघ्न दोनों भाई मन्त्रियों तथा पुरोहितोंसे घिरकर शीघ्रतापूर्वक वहाँसे प्रस्थित हुए॥ ९॥

अग्रतो गुरवः सर्वे वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः।
प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतो भवेत्॥ १०॥

आगे-आगे वसिष्ठ आदि सभी गुरुजन एवं ब्राह्मण चल रहे थे। उन सब लोगोंने अयोध्यासे पूर्वाभिमुख होकर यात्रा की और उस मार्गको पकड़ा, जो नन्दिग्रामकी ओर जाता था॥ १०॥

बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसंकुलम्।
प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः॥ ११॥

भरतके प्रस्थित होनेपर हाथी, घोड़े और रथोंसे भरी हुई सारी सेना भी बिना बुलाये ही उनके पीछे-पीछे चल दी और समस्त पुरवासी भी उनके साथ हो लिये॥ ११॥

रथस्थः स तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः।
नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्याधाय पादुके॥ १२॥

धर्मात्मा भ्रातृवत्सल भरत अपने मस्तकपर भगवान् श्रीरामकी चरणपादुका लिये रथपर बैठकर बड़ी शीघ्रतासे नन्दिग्रामकी ओर चले॥ १२॥

भरतस्तु ततः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः।
अवतीर्य रथात् तूर्णं गुरूनिदमभाषत॥ १३॥

नन्दिग्राममें शीघ्र पहुँचकर भरत तुरंत ही रथसे उतर पड़े और गुरुजनोंसे इस प्रकार बोले—॥ १३॥

एतद् राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं संन्यासमुत्तमम् ।
योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥

'मेरे भाईने यह उत्तम राज्य मुझे धरोहरके रूपमें दिया है, उनकी ये सुवर्णविभूषित चरणपादुकाएँ ही सबके योगक्षेमका निर्वाह करनेवाली हैं' ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा संन्यासं पादुके ततः ।
अब्रवीद् दुःखसंतप्तः सर्वं प्रकृतिमण्डलम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् भरतने मस्तक झुकाकर उन चरणपादुकाओंके प्रति उस धरोहररूप राज्यको समर्पित करके दुःखसे संतप्त हो समस्त प्रकृतिमण्डल (मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि) से कहा—॥ १५ ॥

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।
आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥ १६ ॥

'आप सब लोग इन चरणपादुकाओंके ऊपर छत्र धारण करें। मैं इन्हें आर्य रामचन्द्रजीके साक्षात् चरण मानता हूँ। मेरे गुरुकी इन चरणपादुकाओंसे ही इस राज्यमें धर्मकी स्थापना होगी ॥ १६ ॥

भ्राता तु मयि संन्यासो निक्षिप्तः सौहृदादयम् ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥

'मेरे भाईने प्रेमके कारण ही यह धरोहर मुझे सौंपी है, अतः मैं उनके लौटनेतक इसकी भलीभाँति रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादुकौ ॥ १८ ॥

'इसके बाद मैं स्वयं इन पादुकाओंको पुनः शीघ्र ही श्रीरघुनाथजीके चरणोंसे संयुक्त करके इन पादुकाओंसे सुशोभित श्रीरामके उन युगल चरणोंका दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥

ततो निक्षिप्तभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवर्तिताम् ॥ १९ ॥

'श्रीरघुनाथजीके आनेपर उनसे मिलते ही मैं अपने उन गुरुदेवको यह राज्य समर्पित करके उनकी आज्ञाके अधीन हो उन्हींकी सेवामें लग जाऊँगा। राज्यका यह भार उनपर डालकर मैं हलका हो जाऊँगा ॥ १९ ॥

राघवाय च संन्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।
राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापो भवाम्यहम् ॥ २० ॥

'मेरे पास धरोहररूपमें रखे हुए इस राज्यको, अयोध्याको तथा इन श्रेष्ठ पादुकाओंको श्रीरघुनाथजीकी सेवामें समर्पित करके मैं सब प्रकारके पाप-तापसे मुक्त हो जाऊँगा ॥ २० ॥

अभिषिक्ते तु काकुत्स्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।
प्रीतिर्मम यशश्चैव भवेद् राज्याच्चतुर्गुणम् ॥ २१ ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामका अयोध्याके राज्यपर अभिषेक हो जानेपर जब सब लोग हर्ष और आनन्दमें निमग्न हो जायँगे, तब मुझे राज्य पानेकी अपेक्षा चौगुनी प्रसन्नता और चौगुने यशकी प्राप्ति होगी' ॥ २१ ॥

एवं तु विलपन् दीनो भरतः स महायशाः ।
नन्दिग्रामेऽकरोद् राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ २२ ॥

इस प्रकार दीनभावसे विलाप करते हुए दुःखमग्न महायशस्वी भरत मन्त्रियोंके साथ नन्दिग्राममें रहकर राज्यका शासन करने लगे ॥ २२ ॥

स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।
नन्दिग्रामेऽवसद् धीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

सेनासहित प्रभावशाली धीर-वीर भरतने उस समय वल्कल और जटा धारण करके मुनिवेषधारी हो नन्दिग्राममें निवास किया ॥ २३ ॥

रामागमनमाकाङ्क्षन् भरतो भ्रातृवत्सलः ।
भ्रातुर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तदा ।
पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसत् तदा ॥ २४ ॥

भाईकी आज्ञाका पालन और प्रतिज्ञाके पार जानेकी इच्छा करनेवाले भ्रातृवत्सल भरत श्रीरामचन्द्रजीके आगमनकी आकाङ्क्षा रखते हुए उनकी चरणपादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके उन दिनों नन्दिग्राममें रहने लगे ॥ २४ ॥

सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ।
भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां निवेदयन् ॥ २५ ॥

भरतजी राज्य-शासनका समस्त कार्य भगवान् श्रीरामकी चरणपादुकाओंको निवेदन करके करते थे तथा स्वयं ही उनके ऊपर छत्र लगाते और चँवर डुलाते थे ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।
तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

श्रीमान् भरत बड़े भाईकी उन पादुकाओंको राज्यपर अभिषिक्त करके सदा उनके अधीन रहकर उन दिनों राज्यका सब कार्य मन्त्री आदिसे कराते थे ॥ २६ ॥

तदा हि यत् कार्यमुपैति किंचि-
दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।
स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य
चकार पश्चाद् भरतो यथावत् ॥ २७ ॥

उस समय जो कोई भी कार्य उपस्थित होता, जो भी बहुमूल्य भेंट आती, वह सब पहले उन पादुकाओंको निवेदन करके पीछे भरतजी उसका यथावत् प्रबन्ध करते थे ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११५ ॥

षोडशाधिकशततमः सर्गः

वृद्ध कुलपतिसहित बहुत-से ऋषियोंका चित्रकूट छोड़कर दूसरे आश्रममें जाना

प्रतियाते तु भरते वसन् रामस्तदा वने।
लक्षयामास सोद्वेगमथौत्सुक्यं तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरतके लौट जानेपर श्रीरामचन्द्रजी उन दिनों जब वनमें निवास करने लगे, तब उन्होंने देखा कि वहाँके तपस्वी उद्विग्न हो वहाँसे अन्यत्र चले जानेके लिये उत्सुक हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात् तापसाश्रमे।
राममाश्रित्य निरतास्तानलक्षयदुत्सुकान् ॥ २ ॥

पहले चित्रकूटके उस आश्रममें जो तपस्वी श्रीरामका आश्रय लेकर सदा आनन्दमग्न रहते थे, उन्हींको श्रीरामने उत्कण्ठित देखा (मानो वे कहीं जानेके विषयमें कुछ कहना चाहते हों) ॥ २ ॥

नयनैर्भ्रुकुटीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः।
अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुर्मिथः कथाः ॥ ३ ॥

नेत्रोंसे, भौंहें टेढ़ी करके, श्रीरामकी ओर संकेत करके मन-ही-मन शङ्कित हो आपसमें कुछ सलाह करते हुए वे तपस्वी मुनि धीरे-धीरे परस्पर वार्तालाप कर रहे थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि शङ्कितः।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

उनकी उत्कण्ठा देख श्रीरामचन्द्रजीके मनमें यह शङ्का हुई कि मुझसे कोई अपराध तो नहीं बन गया। तब वे हाथ जोड़कर वहाँके कुलपति महर्षिसे इस प्रकार बोले—॥ ४ ॥

न कच्चिद् भगवन् किंचित् पूर्ववृत्तमिदं मयि।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्विनः ॥ ५ ॥

'भगवन्! क्या मुझमें पूर्ववर्ती राजाओंका-सा कोई बर्ताव नहीं दिखायी देता अथवा मुझमें कोई विकृत भाव दृष्टिगोचर होता है, जिससे यहाँके तपस्वी मुनि विकारको प्राप्त हो रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रमादाच्चरितं किंचित् कच्चिन्नावरजस्य मे।
लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपं महात्मनः ॥ ६ ॥

'क्या मेरे छोटे भाई महात्मा लक्ष्मणका प्रमादवश किया हुआ कोई ऐसा आचरण ऋषियोंने देखा है, जो उसके योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

कच्चिच्छुश्रूषमाणा वः शुश्रूषणपरा मयि।
प्रमदाभ्युचितां वृत्तिं सीता युक्तां न वर्तते ॥ ७ ॥

'अथवा क्या जो अर्घ्य-पाद्य आदिके द्वारा सदा आपलोगोंकी सेवा करती रही है, वह सीता इस समय मेरी सेवामें लग जानेके कारण एक गृहस्थकी सती नारीके अनुरूप ऋषियोंकी समुचित सेवा नहीं कर पाती है?' ॥ ७ ॥

अथर्षिर्जरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः।
वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

'श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर एक महर्षि जो जरावस्थाके कारण तो वृद्ध थे ही, तपस्याद्वारा भी वृद्ध हो गये थे, समस्त प्राणियोंपर दया करनेवाले श्रीरामसे काँपते हुए-से बोले—॥ ८ ॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः कल्याणाभिरतेः सदा।
चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥

'तात! जो स्वभावसे ही कल्याणमयी है और सदा सबके कल्याणमें ही रत रहती है, वह विदेहनन्दिनी सीता विशेषतः तपस्वीजनोंके प्रति बर्ताव करते समय अपने कल्याणमय स्वभावसे विचलित हो जाय, यह कैसे सम्भव है? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत् तापसान् प्रति वर्तते।
रक्षोभ्यस्तेन संविग्नाः कथयन्ति मिथः कथाः ॥ १० ॥

'आपके ही कारण तापसोंपर यह राक्षसोंकी ओरसे भय उपस्थित होनेवाला है, उससे उद्विग्न हुए ऋषि आपसमें कुछ बातें (कानाफूसी) कर रहे हैं ॥ १० ॥

रावणावरजः कश्चित् खरो नामेह राक्षसः ।
उत्पाट्य तापसान् सर्वाञ्जनस्थाननिवासिनः ॥ ११ ॥
धृष्टश्च जितकाशी च नृशंसः पुरुषादकः ।
अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

'तात ! यहाँ वनप्रान्तमें रावणका छोटा भाई खर नामक राक्षस है, जिसने जनस्थानमें रहनेवाले समस्त तापसोंको उखाड़ फेंका है। वह बड़ा ही ढीठ, विजयोन्मत्त, क्रूर, नरभक्षी और घमंडी है। वह आपको भी सहन नहीं कर पाता है ॥ ११-१२ ॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे।
तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

'तात ! जबसे आप इस आश्रममें रह रहे हैं, तबसे सब राक्षस तापसोंको विशेषरूपसे सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि बीभत्सैः क्रूरैर्भीषणकैरपि ।
नानारूपैर्विरूपैश्च रूपैरसुखदर्शनैः ॥ १४ ॥
अप्रशस्तैरशुचिभिः सम्प्रयुज्य च तापसान् ।
प्रतिघ्नन्त्यपरान् क्षिप्रमनार्याः पुरतः स्थितान् ॥ १५ ॥

'वे अनार्य राक्षस बीभत्स (घृणित), क्रूर और भीषण, नाना प्रकारके विकृत एवं देखनेमें दुःखदायक रूप धारण करके सामने आते हैं और पापजनक अपवित्र पदार्थोंसे तपस्वियोंका स्पर्श कराकर अपने सामने खड़े हुए अन्य ऋषियोंको भी पीड़ा देते हैं ॥ १४-१५ ॥

तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धमवलीय च ।
रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः ॥ १६ ॥

'वे उन-उन आश्रमोंमें अज्ञातरूपसे आकर छिप जाते हैं और अल्पज्ञ अथवा असावधान तापसोंका विनाश करते हुए वहाँ सानन्द विचरते रहते हैं ॥ १६ ॥

अवक्षिपन्ति स्रुग्भाण्डानग्नीन् सिञ्चन्ति वारिणा ।
कलशांश्च प्रमर्दन्ति हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

'होमकर्म आरम्भ होनेपर वे स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञसामग्रियोंको इधर-उधर फेंक देते हैं। प्रज्वलित अग्निमें पानी डाल देते हैं और कलशोंको फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिराविष्टानाश्रमान् प्रजिहासवः ।
गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृषयोऽद्य माम् ॥ १८ ॥

'उन दुरात्मा राक्षसोंसे आविष्ट हुए आश्रमोंको त्याग देनेकी इच्छा रखकर ये ऋषिलोग आज मुझे यहाँसे अन्य स्थानमें चलनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं ॥ १८ ॥

तत् पुरा राम शारीरीमुपहिंसां तपस्विषु ।
दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥ १९ ॥

'श्रीराम ! वे दुष्ट राक्षस तपस्वियोंकी शारीरिक हिंसाका प्रदर्शन करें, इसके पहले ही हम इस आश्रमको त्याग देंगे ॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् ।
अश्वस्याश्रममेवाहं श्रयिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

'यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक विचित्र वन है, जहाँ फल-मूलकी अधिकता है। वहीं अश्वमुनिका आश्रम है, अतः ऋषियोंके समूहको साथ लेकर मैं पुनः उसी आश्रमका आश्रय लूँगा ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा राम प्रवर्तते ।
सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

'श्रीराम ! खर आपके प्रति भी कोई अनुचित बर्ताव करे, उसके पहले ही यदि आपका विचार हो तो हमारे साथ ही यहाँसे चल दीजिये ॥ २१ ॥

सकलत्रस्य संदेहो नित्यं युक्तस्य राघव ।
समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाद्य ते ॥ २२ ॥

'रघुनन्दन ! यद्यपि आप सदा सावधान रहनेवाले तथा राक्षसोंके दमनमें समर्थ हैं, तथापि पत्नीके साथ आजकल उस आश्रममें आपका रहना संदेहजनक एवं दुःखदायक है' ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।
न शशाकोत्तरैर्वाक्यैरवबद्धुं समुत्सुकम् ॥ २३ ॥

ऐसी बात कहकर अन्यत्र जानेके लिये उत्कण्ठित हुए उन तपस्वी मुनिको राजकुमार श्रीराम सान्त्वनाजनक उत्तर-वाक्योंद्वारा वहाँ रोक नहीं सके ॥ २३ ॥

अभिनन्द्य समापृच्छ्य समाधाय च राघवम् ।
स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् वे कुलपति महर्षि श्रीरामचन्द्रजीका अभिनन्दन करके उनसे पूछकर और उन्हें सान्त्वना देकर इस आश्रमको छोड़ वहाँसे अपने दलके ऋषियोंके साथ चले गये ॥ २४ ॥

रामः संसाध्य ऋषिगणमनुगमनाद्
देशात् तस्मात् कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।
सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः
पुण्यं वासाय स्वनिलयमुपसम्पेदे ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्रजी वहाँसे जानेवाले ऋषियोंके पीछे-पीछे जाकर उन्हें विदा दे कुलपति ऋषिको प्रणाम करके परम प्रसन्न हुए उन ऋषियोंकी अनुमति ले उनके दिये हुए

कर्तव्यविषयक उपदेशको सुनकर लौटे और निवास करनेके लिये अपने पवित्र आश्रममें आये ॥ २५ ॥

आश्रममृषिविरहितं प्रभुः
क्षणमपि न जहौ स राघवः ।
राघवं हि सततमनुगता-
स्तापसाश्चार्षचरिते धृतगुणाः ॥ २६ ॥

उन ऋषियोंसे रहित हुए आश्रमको भगवान् श्रीरामने एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ा। जिनका ऋषियोंके समान ही चरित्र था, उन श्रीरामचन्द्रजीमें निश्चय ही ऋषियोंकी रक्षाकी शक्तिरूप गुण विद्यमान है। ऐसा विश्वास रखनेवाले कुछ तपस्वीजनोंने सदा श्रीरामका ही अनुसरण किया। वे दूसरे किसी आश्रममें नहीं गये ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११६ ॥

सप्तदशाधिकशततमः सर्गः

श्रीराम आदिका अत्रिमुनिके आश्रमपर जाकर उनके द्वारा सत्कृत होना तथा अनसूयाद्वारा सीताका सत्कार

राघवस्त्वपयातेषु सर्वेष्वनुविचिन्तयन् ।
न तत्रारोचयद् वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥

उन सब ऋषियोंके चले जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने जब बारंबार विचार किया, तब उन्हें बहुत-से ऐसे कारण ज्ञात हुए, जिनसे उन्होंने स्वयं भी वहाँ रहना उचित न समझा ॥ १ ॥

इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः ।
सा च मे स्मृतिरन्वेति तान् नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥

उन्होंने मन-ही-मन सोचा, 'इस आश्रममें मैं भरतसे, माताओंसे तथा पुरवासी मनुष्योंसे मिल चुका हूँ।' वह स्मृति मुझे बराबर बनी रहती है और मैं प्रतिदिन उन सब लोगोंका चिन्तन करके शोकमग्न हो जाता हूँ ॥ २ ॥

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।
हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥

'महात्मा भरतकी सेनाका पड़ाव पड़नेके कारण हाथी और घोड़ोंकी लीदोंसे यहाँकी भूमि अधिक अपवित्र कर दी गयी है ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति संचिन्त्य राघवः ।
प्रातिष्ठत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च संगतः ॥ ४ ॥

अतः हमलोग भी अन्यत्र चले जायँ' ऐसा सोचकर श्रीरघुनाथजी सीता और लक्ष्मणके साथ वहाँसे चल दिये ॥

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं ववन्दे महायशाः ।
तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत् प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥

वहाँसे अत्रिके आश्रमपर पहुँचकर महायशस्वी श्रीरामने उन्हें प्रणाम किया तथा भगवान् अत्रिने भी उन्हें अपने पुत्र-की भाँति स्नेहपूर्वक अपनाया ॥ ५ ॥

स्वयमातिथ्यमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।
सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत ॥ ६ ॥

उन्होंने स्वयं ही श्रीरामका सम्पूर्ण आतिथ्य-सत्कार करके महाभाग लक्ष्मण और सीताको भी सत्कारपूर्वक संतुष्ट किया ॥ ६ ॥

पत्नीं च तमनुप्राप्तां वृद्धामामन्त्र्य सत्कृताम् ।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥
अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
प्रतिगृह्णीष्व वैदेहीमब्रवीदृषिसत्तमः ॥ ८ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले धर्मज्ञ मुनिश्रेष्ठ अत्रिने अपने समीप आयी हुई सबके द्वारा सम्मानित तापसी एवं धर्मपरायणा बूढ़ी पत्नी महाभागा अनसूयाको सम्बोधित करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा संतुष्ट किया और कहा—'देवि ! विदेहराजनन्दिनी सीताको सत्कारपूर्वक हृदयसे लगाओ' ॥ ७-८ ॥

रामाय चाचचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥
यया मूलफले सृष्टे जाह्नवी च प्रवर्तिता ।
उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥
दश वर्षसहस्राणि यया तप्तं महत् तपः ।
अनसूयाव्रतैस्तात प्रत्यूहाश्च निवर्हिताः ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको धर्मपरायणा तपस्विनी अनसूयाका परिचय देते हुए कहा—'एक समय दस वर्षोंतक वृष्टि नहीं हुई, उस समय जब सारा जगत् निरन्तर दग्ध होने लगा, तब जिन्होंने उग्र तपस्यासे युक्त तथा कठोर नियमोंसे अलंकृत होकर अपने तपके प्रभावसे यहाँ फल-मूल उत्पन्न

किये और मन्दाकिनीकी पवित्र धारा बहायी तथा तात ! जिन्होंने दस हजार वर्षोंतक बड़ी भारी तपस्या करके अपने उत्तम व्रतोंके प्रभावसे ऋषियोंके समस्त विघ्नोंका निवारण किया था, वे ही यह अनसूया देवी हैं ॥ ९–११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यया संत्वरमाणया ।
दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

'निष्पाप श्रीराम ! इन्होंने देवताओंके कार्यके लिये अत्यन्त उतावली होकर दस रातके बराबर एक ही रात बनायी थी; वे ही ये अनसूया देवी तुम्हारे लिये माताकी भाँति पूजनीया हैं ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां तपस्विनीम् ।
अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥

'ये सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये वन्दनीया तपस्विनी हैं । क्रोध तो इन्हें कभी छू भी नहीं सका है । विदेहनन्दिनी सीता इन वृद्धा अनसूया देवीके पास जायँ' ॥ १३ ॥

एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः ।
सीतामालोक्य धर्मज्ञामिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

ऐसी बात कहते हुए अत्रि मुनिसे 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामचन्द्रजीने धर्मज्ञा सीताकी ओर देखकर यह बात कही—॥ १४ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम् ।
श्रेयोऽर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १५ ॥

'राजकुमारी ! महर्षि अत्रिके वचन तो तुमने सुन ही लिये; अब अपने कल्याणके लिये तुम शीघ्र ही इन तपस्विनी देवीके पास जाओ' ॥ १५ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता ।
तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

'जो अपने सत्कर्मोंसे संसारमें अनसूयाके नामसे विख्यात हुई हैं, वे तपस्विनी देवी तुम्हारे आश्रय लेने योग्य हैं, तुम शीघ्र उनके पास जाओ' ॥ १६ ॥

सीता त्वेतद् वचः श्रुत्वा राघवस्य यशस्विनी ।
तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर यशस्विनी मिथिलेश-कुमारी सीता धर्मको जाननेवाली अत्रिपत्नी अनसूयाके पास गयीं ॥ १७ ॥

शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् ।
सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदलीमिव ॥ १८ ॥

अनसूया वृद्धावस्थाके कारण शिथिल हो गयी थीं; उनके शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयी थीं तथा सिरके बाल सफेद हो गये थे । अधिक हवा चलनेपर हिलते हुए कदली-वृक्षके समान उनके सारे अङ्ग निरन्तर काँप रहे थे ॥ १८ ॥

तां तु सीता महाभागामनसूयां पतिव्रताम् ।
अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरत् ॥ १९ ॥

सीताने निकट जाकर शान्तभावसे अपना नाम बताया और उन महाभागा पतिव्रता अनसूयाको प्रणाम किया ॥१९॥

अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तां दमान्विताम् ।
बद्धाञ्जलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥

उन संयमशीला तपस्विनीको प्रणाम करके हर्षसे भरी हुई सीताने दोनों हाथ जोड़कर उनका कुशल-समाचार पूछा ॥

ततः सीतां महाभागां दृष्ट्वा तां धर्मचारिणीम् ।
सान्त्वयन्त्यब्रवीद् वृद्धा दिष्ट्या धर्ममवेक्षसे ॥ २१ ॥

धर्मका आचरण करनेवाली महाभागा सीताको देखकर बूढ़ी अनसूया देवी उन्हें सान्त्वना देती हुई बोलीं—'सीते ! सौभाग्यकी बात है कि तुम धर्मपर ही दृष्टि रखती हो ॥२१॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते मानवृद्धिं च मानिनि ।
अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥ २२ ॥

'मानिनी सीते ! बन्धु-बान्धवोंको छोड़कर और उनसे प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठाका परित्याग करके तुम वनमें भेजे हुए श्रीरामका अनुसरण कर रही हो—यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥ २३ ॥

'अपने स्वामी नगरमें रहें या वनमें, भले हों या बुरे, जिन स्त्रियोंको वे प्रिय होते हैं, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।
स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ॥ २४ ॥

'पति बुरे स्वभावका, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो, वह उत्तम स्वभाववाली नारियोंके लिये श्रेष्ठ देवताके समान है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।
सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपःकृतमिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

'विदेहराजनन्दिनि ! मैं बहुत विचार करनेपर भी पतिसे बढ़कर कोई हितकारी बन्धु नहीं देखती । अपनी की हुई तपस्याके अविनाशी फलकी भाँति वह इस लोकमें और पर-लोकमें सर्वत्र सुख पहुँचानेमें समर्थ होता है ॥ २५ ॥

न त्वेवमनुगच्छन्ति गुणदोषमसत्स्त्रियः ।
कामवक्तव्यहृदया भर्तृनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥

'जो अपने पतिपर भी शासन करती हैं, वे कामके अधीन चित्तवाली असाध्वी स्त्रियाँ इस प्रकार पतिका अनुसरण नहीं करतीं। उन्हें गुण-दोषोंका ज्ञान नहीं होता; अतः वे इच्छानुसार इधर-उधर विचरती रहती हैं ॥ २६ ॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्चैव धर्मभ्रंशं च मैथिलि।
अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥ २७ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! ऐसी नारियाँ अवश्य ही अनुचित कर्ममें फँसकर धर्मसे भ्रष्ट हो जाती हैं और संसारमें उन्हें अपयशकी प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्टलोकपरावराः।
स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा पुण्यकृतस्तथा ॥ २८ ॥

'किंतु जो तुम्हारे समान लोक-परलोकको जाननेवाली साध्वी स्त्रियाँ हैं, वे उत्तम गुणोंसे युक्त होकर पुण्यकर्मोंमें संलग्न रहती हैं; अतः वे दूसरे पुण्यात्माओंकी भाँति स्वर्ग-लोकमें विचरण करेंगी ॥ २८ ॥

तदेवमेतं त्वमनुव्रता सती
पतिप्रधाना समयानुवर्तिनी।
भव स्वभर्तुः सहधर्मचारिणी
यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

अतः तुम इसी प्रकार अपने इन पतिदेव श्रीरामचन्द्रजी-की सेवामें लगी रहो—सतीधर्मका पालन करो, पतिको प्रधान देवता समझो और प्रत्येक समय उनका अनुसरण करती हुई अपने स्वामीकी सहधर्मिणी बनो, इससे तुम्हें सुयश और धर्म दोनोंकी प्राप्ति होगी' ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११७॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११७ ॥

अष्टादशाधिकशततमः सर्गः

सीता-अनसूया-संवाद, अनसूयाका सीताको प्रेमोपहार देना तथा अनसूयाके पूछनेपर सीताका उन्हें अपने स्वयंवरकी कथा सुनाना

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

तपस्विनी अनसूयाके इस प्रकार उपदेश देनेपर किसीके प्रति दोषदृष्टि न रखनेवाली विदेहराजकुमारी सीताने उनके वचनोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके धीरे-धीरे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे।
विदितं तु ममाप्येतद् यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

'देवि ! आप संसारकी स्त्रियोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। आपके मुँहसे ऐसी बातोंका सुनना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नारीका गुरु पति ही है, इस विषयमें जैसा आपने उपदेश किया है, यह बात मुझे भी पहलेसे ही विदित है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद् भर्ता अनार्यो वृत्तिवर्जितः।
अद्वैधमत्र वर्तव्यं तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

'मेरे पतिदेव यदि अनार्य (चरित्रहीन) तथा जीविकाके साधनोंसे रहित (निर्धन) होते तो भी मैं बिना किसी दुविधाके इनकी सेवामें लगी रहती ॥ ३ ॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

'फिर जब कि ये अपने गुणोंके कारण ही सबकी प्रशंसाके पात्र हैं, तब तो इनकी सेवाके लिये कहना ही क्या है। ये श्रीरघुनाथजी परम दयालु, जितेन्द्रिय, दृढ़ अनुराग रखनेवाले, धर्मात्मा तथा माता-पिताके समान प्रिय हैं ॥ ४ ॥

यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः।
तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

'महाबली श्रीराम अपनी माता कौसल्याके प्रति जैसा बर्ताव करते हैं वैसा ही महाराज दशरथकी दूसरी रानियोंके साथ भी करते हैं ॥ ५ ॥

सकृद् दृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः।
मातृवद् वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

'महाराज दशरथने एक बार भी जिन स्त्रियोंको प्रेमदृष्टिसे देख लिया है, उनके प्रति भी ये पितृवत्सल धर्मज्ञ वीर श्रीराम मान छोड़कर माताके समान ही बर्ताव करते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्च विजनं वनमेवं भयावहम्।
समाहितं हि मे श्वश्र्वा हृदये यत् स्थिरं मम ॥ ७ ॥

'जब मैं पतिके साथ निर्जन वनमें आने लगी, उस समय मेरी सास कौसल्याने मुझे जो कर्तव्यका उपदेश

दिया था, वह मेरे हृदयमें ज्यों-का-त्यों स्थिरभावसे अङ्कित है ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यत् पुरा त्वग्निसंनिधौ।
अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

'पहले मेरे विवाह-कालमें अग्निके समीप माताने मुझे जो शिक्षा दी थी, वह भी मुझे अच्छी तरह याद है ॥ ८ ॥

न विस्मृतं तु मे सर्वं वाक्यैः स्वैर्धर्मचारिणि।
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद् विधीयते ॥ ९ ॥

'धर्मचारिणि ! इसके सिवा मेरे अन्य स्वजनोंने अपने वचनोंद्वारा जो-जो उपदेश किया है, वह भी मुझे भूला नहीं है। स्त्रीके लिये पतिकी सेवाके अतिरिक्त दूसरे किसी तपका विधान नहीं है ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते।
तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

'सत्यवान्‌की पत्नी सावित्री पतिकी सेवा करके ही स्वर्गलोकमें पूजित हो रही हैं। उन्हींके समान बर्ताव करनेवाली आप (अनसूया देवी) ने भी पतिकी सेवाके ही प्रभावसे स्वर्गलोकमें स्थान प्राप्त कर लिया है ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता।
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि दृश्यते ॥ ११ ॥

'सम्पूर्ण स्त्रियोंमें श्रेष्ठ यह स्वर्गकी देवी रोहिणी पति-सेवाके प्रभावसे ही एक मुहूर्तके लिये भी चन्द्रमासे विलग होती नहीं देखी जातीं ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भर्तृदृढव्रताः।
देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

'इस प्रकार दृढ़तापूर्वक पातिव्रत्य धर्मका पालन करनेवाली बहुत-सी साध्वी स्त्रियाँ अपने पुण्यकर्मके बलसे देवलोकमें आदर पा रही हैं' ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः।
शिरस्याघ्राय चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

तदनन्तर सीताके कहे हुए वचन सुनकर अनसूयाको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने उनका मस्तक सूँघा और फिर उन मिथिलेशकुमारीका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

नियमैर्विविधैराप्तं तपो हि महदस्ति मे।
तत् संश्रित्य बलं सीते छन्दये त्वां शुचिव्रते ॥ १४ ॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाली सीते ! मैंने अनेक प्रकारके नियमोंका पालन करके बहुत बड़ी तपस्या संचित की है। उस तपोबलका ही आश्रय लेकर मैं तुमसे इच्छानुसार वर माँगनेके लिये कहती हूँ ॥ १४ ॥

उपपन्नं च युक्तं च वचनं तव मैथिलि।
प्रीता चास्म्युचितां सीते करवाणि प्रियं च किम् ॥ १५ ॥

'मिथिलेशकुमारी सीते ! तुमने बहुत ही युक्तियुक्त और उत्तम वचन कहा है। उसे सुनकर मुझे बड़ा संतोष हुआ है, अतः बताओ मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?' ॥ १५ ॥

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया।
कृतमित्यब्रवीत् सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

उनका यह कथन सुनकर सीताको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे तपोबलसम्पन्न अनसूयासे मन्द-मन्द मुसकराती हुई बोलीं—आपने अपने वचनोंद्वारा ही मेरा सारा प्रिय कार्य कर दिया, अब और कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है' ॥ १६ ॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराभवत्।
सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥

सीताके ऐसा कहनेपर धर्मज्ञ अनसूयाको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे बोलीं—'सीते ! तुम्हारी निर्लोभतासे जो मुझे विशेष हर्ष हुआ है (अथवा तुममें जो लोभहीनताके कारण सदा आनन्दोत्सव भरा रहता है), उसे मैं अवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च।
अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम् ॥ १८ ॥
मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्।
अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥

'यह सुन्दर दिव्य हार, यह वस्त्र, ये आभूषण, यह अङ्गराग और बहुमूल्य अनुलेपन मैं तुम्हें देती हूँ। विदेहनन्दिनि सीते ! मेरी दी हुई ये वस्तुएँ तुम्हारे अङ्गोंकी शोभा बढ़ायेंगी। ये सब तुम्हारे ही योग्य हैं और सदा उपयोगमें लायी जानेपर निर्दोष एवं निर्विकार रहेंगी ॥ १८-१९ ॥

अङ्गरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे।
शोभयिष्यसि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥ २० ॥

'जनककिशोरी ! इस दिव्य अङ्गरागको अङ्गोंमें लगाकर तुम अपने पतिको उसी प्रकार सुशोभित करोगी, जैसे लक्ष्मी अविनाशी भगवान् विष्णुकी शोभा बढ़ाती हैं' ॥ २० ॥

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि स्रजस्तथा।
मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

प्रतिगृह्य च तत् सीता प्रीतिदानं यशस्विनी।
श्लिष्टाञ्जलिपुटा धीरा समुपास्त तपोधनाम् ॥ २२ ॥

अनसूयाकी आज्ञासे धीरस्वभाववाली यशस्विनी मिथिलेशकुमारी सीताने उस वस्त्र, अङ्गराग, आभूषण और हारको उनकी प्रसन्नताका परम उत्तम उपहार समझकर ले लिया। उस प्रेमोपहारको ग्रहण करके वे दोनों हाथ जोड़कर उन तपोधना अनसूयाकी सेवामें बैठी रहीं ॥ २१-२२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता।
वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इस प्रकार अपने निकट बैठी हुई सीतासे दृढ़तापूर्वक उत्तम व्रतका पालन करनेवाली अनसूयाने कोई परम प्रिय कथा सुनानेके लिये इस प्रकार पूछना आरम्भ किया—॥ २३ ॥

स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना।
राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

'सीते ! इन यशस्वी राघवेन्द्रने तुम्हें स्वयंवरमें प्राप्त किया था, यह बात मेरे सुननेमें आयी है ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि।
यथाभूतं च कार्त्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

'मिथिलेशनन्दिनि ! मैं उस वृत्तान्तको विस्तारके साथ सुनना चाहती हूँ। अतः जो कुछ जिस प्रकार हुआ, वह सब पूर्णरूपसे मुझे बताओ' ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तापसीं धर्मचारिणीम्।
श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

उनके इस प्रकार आज्ञा देनेपर सीताने उन धर्मचारिणी तापसी अनसूयासे कहा—'माताजी ! सुनिये।' ऐसा कहकर उन्होंने उस कथाको इस प्रकार कहना आरम्भ किया—॥ २६ ॥

मिथिलाधिपतिर्वीरो जनको नाम धर्मवित्।
क्षत्रकर्मण्यभिरतो न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥

'मिथिला जनपदके वीर राजा 'जनक' नामसे प्रसिद्ध हैं। वे धर्मके ज्ञाता हैं, अतः क्षत्रियोचित कर्ममें तत्पर रहकर न्यायपूर्वक पृथ्वीका पालन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कृषतः क्षेत्रमण्डलम्।
अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८ ॥

'एक समयकी बात है, वे यज्ञके योग्य क्षेत्रको हाथमें हल लेकर जोत रहे थे; इसी समय मैं पृथ्वीको फाड़कर प्रकट हुई। इतनेमात्रसे ही मैं राजा जनककी पुत्री हुई ॥ २८ ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विस्मितो जनकोऽभवत् ॥ २९ ॥

'वे राजा उस क्षेत्रमें ओषधियोंको मुट्ठीमें लेकर बो रहे थे। इतनेहीमें उनकी दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी। मेरे सारे अङ्गोंमें धूल लिपटी हुई थी। उस अवस्थामें मुझे देखकर राजा जनकको बड़ा विस्मय हुआ ॥ २९ ॥

अनपत्येन च स्नेहादङ्कमारोप्य च स्वयम्।
ममेयं तनयेत्युक्त्वा स्नेहो मयि निपातितः ॥ ३० ॥

'उन दिनों उनके कोई दूसरी संतान नहीं थी, इसलिये स्नेहवश उन्होंने स्वयं मुझे गोदमें ले लिया और 'यह मेरी बेटी है' ऐसा कहकर मुझपर अपने हृदयका सारा स्नेह उड़ेल दिया ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ता प्रतिमामानुषी किल।
एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥

'इसी समय आकाशवाणी हुई, जो स्वरूपतः मानवी भाषामें कही गयी थी (अथवा मेरे विषयमें प्रकट हुई वह वाणी अमानुषी—दिव्य थी)। उसने कहा—'नरेश्वर ! तुम्हारा कथन ठीक है, यह कन्या धर्मतः तुम्हारी ही पुत्री है' ॥ ३१ ॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः।
अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः ॥ ३२ ॥

'यह आकाशवाणी सुनकर मेरे धर्मात्मा पिता मिथिला-नरेश बड़े प्रसन्न हुए। मुझे पाकर उन नरेशने मानो कोई बड़ी समृद्धि पा ली थी ॥ ३२ ॥

दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे।
तया सम्भाविता चास्मि स्निग्धया मातृसौहृदात् ॥ ३३ ॥

'उन्होंने पुण्यकर्मपरायणा बड़ी रानीको, जो उन्हें अधिक प्रिय थीं, मुझे दे दिया। उन स्नेहमयी महारानीने मातृ-समुचित सौहार्दसे मेरा लालन-पालन किया ॥ ३३ ॥

पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता।
चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥ ३४ ॥

'जब पिताने देखा कि मेरी अवस्था विवाहके योग्य हो गयी, तब इसके लिये वे बड़ी चिन्तामें पड़े। जैसे कमाये हुए धनका नाश हो जानेसे निर्धन मनुष्यको बड़ा दुःख होता है, उसी प्रकार वे मेरे विवाहकी चिन्तासे बहुत दुखी हो गये ॥ ३४ ॥

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्।
प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि ॥ ३५ ॥

'संसारमें कन्याके पिताको, वह भूतलपर इन्द्रके ही तुल्य क्यों न हो, वरपक्षके लोगोंसे, वे अपने समान या अपनेसे

छोटी हैसियतके ही क्यों न हों, प्रायः अपमान उठाना पड़ता है ॥ ३५ ॥

तां धर्षणामदूरस्थां संदृश्यात्मनि पार्थिवः ।
चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाप्लवो यथा ॥ ३६ ॥

'वह अपमान सहन करनेकी घड़ी अपने लिये बहुत समीप आ गयी है, यह देखकर राजा चिन्ताके समुद्रमें डूब गये । जैसे नौकारहित मनुष्य पार नहीं पहुँच पाता, उसी प्रकार मेरे पिता भी चिन्ताका पार नहीं पा रहे थे ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छत् स चिन्तयन् ।
सदृशं चाभिरूपं च महीपालः पतिं मम ॥ ३७ ॥

'मुझे अयोनिजा कन्या समझकर वे भूपाल मेरे लिये योग्य और परम सुन्दर पतिका विचार करने लगे; किन्तु किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सके ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य संततम् ।
स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धर्मतः ॥ ३८ ॥

'सदा मेरे विवाहकी चिन्तामें पड़े रहनेवाले उन महाराजके मनमें एक दिन यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं धर्मतः अपनी पुत्रीका स्वयंवर करूँगा ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।
दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षय्यसायकौ ॥ ३९ ॥

'उन्हीं दिनों उनके एक महान् यज्ञमें प्रसन्न होकर महात्मा वरुणने उन्हें एक श्रेष्ठ दिव्य धनुष तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस दिये ॥ ३९ ॥

असंचाल्यं मनुष्यैश्च यत्नेनापि च गौरवात् ।
तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

'वह धनुष इतना भारी था कि मनुष्य पूरा प्रयत्न करनेपर भी उसे हिला भी नहीं पाते थे । भूमण्डलके नरेश स्वप्नमें भी उस धनुषको झुकानेमें असमर्थ थे ॥ ४० ॥

तद्धनुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना ।
समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

'उस धनुषको पाकर मेरे सत्यवादी पिताने पहले भूमण्डलके राजाओंको आमन्त्रित करके उन नरेशोंके समूहमें यह बात कही—॥ ४१ ॥

इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः ।
तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥

'जो मनुष्य इस धनुषको उठाकर इसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा, मेरी पुत्री सीता उसीकी पत्नी होगी; इसमें संशय नहीं है' ॥ ४२ ॥

तच्च दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवाद् गिरिसंनिभम् ।
अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥ ४३ ॥

'अपने भारीपनके कारण पहाड़-जैसे प्रतीत होनेवाले उस श्रेष्ठ धनुषको देखकर वहाँ आये हुए राजा जब उसे उठानेमें समर्थ न हो सके, तब उसे प्रणाम करके चले गये ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः ।
विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।
विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

'तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् ये महातेजस्वी रघुकुलनन्दन सत्यपराक्रमी श्रीराम अपने भाई लक्ष्मणको साथ ले विश्वामित्रजीके साथ मेरे पिताका यज्ञ देखनेके लिये मिथिलामें पधारे । उस समय मेरे पिताने धर्मात्मा विश्वामित्र मुनिका बड़ा आदर-सत्कार किया ॥ ४४-४५ ॥

प्रोवाच पितरं तत्र राघवौ रामलक्ष्मणौ ।
सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ।
धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४६ ॥

'तब वहाँ विश्वामित्रजी मेरे पितासे बोले—'राजन् ! ये दोनों रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मण महाराज दशरथके पुत्र हैं और आपके उस दिव्य धनुषका दर्शन करना चाहते हैं । आप अपना वह देवप्रदत्त धनुष राजकुमार श्रीरामको दिखाइये' ॥ ४६ ॥

इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद् धनुः समुपानयत् ।
तद् धनुर्दर्शयामास राजपुत्राय दैविकम् ॥ ४७ ॥

'विप्रवर विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर पिताजीने उस दिव्य धनुषको मँगवाया और राजकुमार श्रीरामको उसे दिखाया ॥ ४७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।
ज्यां समारोप्य झटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

'महाबली और परम पराक्रमी श्रीरामने पलक मारते-मारते उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी और उसे तुरंत कानतक खींचा ॥ ४८ ॥

तेनापूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः ।
तस्य शब्दोऽभवद् भीमः पतितस्याशनेर्यथा ॥ ४९ ॥

'उनके वेगपूर्वक खींचते समय वह धनुष बीचसे ही टूट गया और उसके दो टुकड़े हो गये । उसके टूटते समय ऐसा भयंकर शब्द हुआ मानो वहाँ वज्र टूट पड़ा हो ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसंधिना ।
उद्यता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

'तब मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिताने जलका उत्तम पात्र लेकर श्रीरामके हाथमें मुझे दे देनेका उद्योग किया ॥ ५० ॥

...मानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥

'उस समय अपने पिता अयोध्यानरेश महाराज दशरथके अभिप्रायको जाने विना श्रीरामने राजा जनकके देनेपर भी मुझे नहीं ग्रहण किया ॥ ५ ॥

ततः श्वशुरमामन्त्र्य वृद्धं दशरथं नृपम्।
मम पित्रा त्वहं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥

'तदनन्तर मेरे बूढ़े श्वशुर राजा दशरथकी अनुमति लेकर पिताजीने आत्मज्ञानी श्रीरामको मेरा दान कर दिया ॥ ५२ ॥

मम चैवानुजा साध्वी ऊर्मिला शुभदर्शना।
भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

'तत्पश्चात् पिताजीने स्वयं ही मेरी छोटी बहिन सती-साध्वी परम सुन्दरी ऊर्मिलाको लक्ष्मणकी पत्नीरूपसे उनके हाथमें दे दिया ॥ ५३ ॥

एवं दत्तास्मि रामाय तथा तस्मिन् स्वयंवरे।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

'इस प्रकार उस स्वयंवरमें पिताजीने श्रीरामके हाथमें मुझको सौंपा था। मैं धर्मके अनुसार अपने पति बलवानोंमें श्रेष्ठ श्रीराममें सदा अनुरक्त रहती हूँ' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशाधिकशततमः सर्गः ॥ ११८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११८ ॥

एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः

अनसूयाकी आज्ञासे सीताका उनके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको धारण करके श्रीरामजीके पास आना तथा श्रीराम आदिका रात्रिमें आश्रमपर रहकर प्रातःकाल अन्यत्र जानेके लिये ऋषियोंसे विदा लेना

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महतीं कथाम्।
पर्यष्वजत बाहुभ्यां शिरस्याघ्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली अनसूयाने उस लंबी कथाको सुनकर मिथिलेशकुमारी सीताको अपनी दोनों भुजाओंसे अङ्कमें भर लिया और उनका मस्तक सूँघकर कहा—॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं भाषितं मधुरं त्वया।
यथा स्वयंवरं वृत्तं तत् सर्वं च श्रुतं मया ॥ २ ॥

'बेटी! तुमने सुस्पष्ट अक्षरवाले शब्दोंमें यह विचित्र एवं मधुर प्रसङ्ग सुनाया। तुम्हारा स्वयंवर जिस प्रकार हुआ था, वह सब मैंने सुन लिया ॥ २ ॥

रमेयं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि।
रविरस्तं गतः श्रीमानुपोह्य रजनीं शुभाम् ॥ ३ ॥
दिवसं परिकीर्णानामाहारार्थं पतत्रिणाम्।
संध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥

'मधुरभाषिणी सीते! तुम्हारी इस कथामें मेरा मन बहुत लग रहा है; तथापि तेजस्वी सूर्यदेव रजनीकी शुभ वेला-को निकट पहुँचाकर अस्त हो गये। जो दिनमें चारा चुगनेके लिये चारों ओर छिटके हुए थे, वे पक्षी अब संध्याकालमें नींद लेनेके लिये अपने घोंसलोंमें आकर छिप गये हैं; उनकी यह ध्वनि सुनायी दे रही है ॥ ३-४ ॥

एते चाप्यभिषेकार्द्रा मुनयः कलशोद्यताः।
सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः ॥ ५ ॥

'ये जलसे भीगे हुए वल्कल धारण करनेवाले मुनि, जिनके शरीर स्नानके कारण आर्द्र दिखायी देते हैं, जलसे भरे कलश उठाये एक साथ आश्रमकी ओर लौट रहे हैं ॥

अग्निहोत्रे च ऋषिणा हुते च विधिपूर्वकम्।
कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥

'महर्षि (अत्रि) ने विधिपूर्वक अग्निहोत्र-सम्बन्धी होमकर्म सम्पन्न कर लिया है, अतः वायुके वेगसे ऊपरको उठा हुआ यह कबूतरके कण्ठकी भाँति श्यामवर्णका धूम दिखायी दे रहा है ॥ ६ ॥

अल्पवर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः।
विप्रकृष्टेन्द्रिये देशे न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

'अपनी इन्द्रियोंसे दूर देशमें चारों ओर जो वृक्ष दिखायी देते हैं, वे थोड़े पत्तेवाले होनेपर भी अन्धकारसे व्याप्त हो घनीभूत हो गये हैं; अतएव दिशाओंका भान नहीं हो रहा है ॥

रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः।
तपोवनमृगा ह्येते वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

'रातको विचरनेवाले प्राणी (उल्लू आदि) सब ओर विचरण कर रहे हैं तथा ये तपोवनके मृग पुण्यक्षेत्रस्वरूप आश्रमके वेदी आदि विभिन्न प्रदेशोंमें सो रहे हैं ॥ ८ ॥

सम्प्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता।
ज्योत्स्नाप्रावरणश्चन्द्रो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

'सीते! अब रात हो गयी, वह नक्षत्रोंसे सज गयी है।

आकाशमें चन्द्रदेव चाँदनीकी चादर ओढ़े उदित दिखायी देते हैं ॥ ९ ॥

गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव।
कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाहमपि तोषिता ॥ १० ॥

'अतः अब जाओ, मैं तुम्हें जानेकी आज्ञा देती हूँ। जाकर श्रीरामचन्द्रजीकी सेवामें लग जाओ। तुमने अपनी मीठी-मीठी बातोंसे मुझे भी बहुत संतुष्ट किया है ॥ १० ॥

अलं कुरु च तावत् त्वं प्रत्यक्षं मम मैथिलि।
प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालंकारशोभिनी ॥ ११ ॥

'बेटी! मिथिलेशकुमारी! पहले मेरी आँखोंके सामने अपने आपको अलंकृत करो। इन दिव्य वस्त्र और आभूषणों-को धारण करके इनसे सुशोभित हो मुझे प्रसन्न करो' ॥ ११ ॥

सा तदा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा।
प्रणम्य शिरसा पादौ रामं त्वभिमुखी ययौ ॥ १२ ॥

यह सुनकर देवकन्याके समान सुन्दरी सीताने उस समय उन वस्त्राभूषणोंसे अपना शृङ्गार किया और अनसूयाके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करनेके अनन्तर वे श्रीरामके सम्मुख गयीं ॥ १२ ॥

तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतां वरः।
राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥ १३ ॥

श्रीरामने जब इस प्रकार सीताको वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित देखा, तब तपस्विनी अनसूयाके उस प्रेमोपहारके दर्शनसे वक्ताओंमें श्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

न्यवेदयत् ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली।
प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्रजाम् ॥ १४ ॥

उस समय मिथिलेशकुमारी सीताने तपस्विनी अनसूयाके हाथसे जिस प्रकार वस्त्र, आभूषण और हार आदिका प्रेमो-पहार प्राप्त हुआ था, वह सब श्रीरामचन्द्रजीसे कह सुनाया ॥

प्रहृष्टस्त्वभवद् रामो लक्ष्मणश्च महारथः।
मैथिल्याः सत्क्रियां दृष्ट्वा मानुषेषु सुदुर्लभाम् ॥ १५ ॥

भगवान् श्रीराम और महारथी लक्ष्मण सीताका वह सत्कार जो मनुष्योंके लिये सर्वथा दुर्लभ है, देखकर बहुत प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

ततः स शर्वरीं प्रीतः पुण्यां शशिनिभाननाम्।
अर्चितस्तापसैः सर्वैरुवास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर समस्त तपस्विजनोंसे सम्मानित हुए रघुकुल-नन्दन श्रीरामने अनसूयाके दिये हुए पवित्र अलंकार आदिसे अलंकृत चन्द्रमुखी सीताको देखकर बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ रात्रिभर निवास किया ॥ १६ ॥

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामभिषिच्य हुताग्निकान्।
आपृच्छेतां नरव्याघ्रौ तापसान् वनगोचरान् ॥ १७ ॥

वह रात बीतनेपर जब सभी वनवासी तपस्वी मुनि स्नान करके अग्निहोत्र कर चुके, तब पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मणने उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी ॥ १७ ॥

तावूचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः।
वनस्य तस्य संचारं राक्षसैः समभिप्लुतम् ॥ १८ ॥
रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव।
वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥ १९ ॥

तब वे धर्मपरायण वनवासी तपस्वी उन दोनों भाइयोंसे इस प्रकार बोले—'रघुनन्दन! इस वनका मार्ग राक्षसोंसे आक्रान्त है—यहाँ उनका उपद्रव होता रहता है। इस विशाल वनमें नानारूपधारी नरभक्षी राक्षस तथा रक्तभोजी हिंसक पशु निवास करते हैं ॥ १८-१९ ॥

उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं ब्रह्मचारिणम्।
अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान् निवारय राघव ॥ २० ॥

राघवेन्द्र! जो तपस्वी और ब्रह्मचारी यहाँ अपवित्र अथवा असावधान अवस्थामें मिल जाता है, उसे वे राक्षस और हिंसक जन्तु इस महान् वनमें खा जाते हैं; अतः आप उन्हें रोकिये—यहाँसे मार भगाइये ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्याहरतां वने।
अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

'रघुकुलभूषण! यही वह मार्ग है, जिससे महर्षिलोग वनके भीतर फल-मूल लेनेके लिये जाते हैं। आपको भी इसी मार्गसे इस दुर्गम वनमें प्रवेश करना चाहिये' ॥ २१ ॥

इतीरितः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-
र्द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परंतपः।
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्यइवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

तपस्वी ब्राह्मणोंने हाथ जोड़कर जब ऐसी बातें कहीं और उनकी मङ्गलयात्राके लिये स्वस्तिवाचन किया, तब शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीरामने अपनी पत्नी और भाई लक्ष्मणके साथ उस वनमें प्रवेश किया, मानो सूर्यदेव मेघोंकी घटाके भीतर घुस गये हों ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशत्यधिकशततमः सर्गः ॥ ११९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११९ ॥

अयोध्याकाण्डं सम्पूर्णम्